बाबू छोटेलाल जैन स्मृति ग्रंथ

सम्पादक मराडल :

पं० चैनसुखदास न्यायतीर्थ
जयपुर

डा० ए. एन. उपाध्ये
कोल्हापुर

पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री
वाराणसी

श्री अगरचन्द नाहटा
बीकानेर

डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल
जयपुर

डा० सत्यरंजन बनर्जी
कलकत्ता

पं० भंवरलाल पोल्याका जैनदर्शनाचार्य
जयपुर

प्रकाशक :

बाबू छोटेलाल जैन अभिनन्दन समिति

कलकत्ता

सन् १९६७] [मूल्य २० रुपये

अनुक्रमणिका

हिन्दी भाग

प्रथम खण्ड

(व्यक्तित्व, कृतित्व, संस्मरण एवं श्रद्धाञ्जलियाँ)

द्वितीय खण्ड

(इतिहास, पुरातत्व एवं शोध)

तृतीय खण्ड

(साहित्य, धर्म और दर्शन)

प्राक्कथन

अभिनन्दन एवं स्मृतिग्रन्थों की प्रकाशन परम्परा इस युग का एक महत्त्वपूर्ण आयोजन है। जिन्होंने अपने मानव-जीवन को ज्ञानाराधना, आत्म-साधना, साहित्यसेवा, परोपकार, दया और सहानुभूति आदि लोकहितकारी कार्यों से पुनीत एवं अनुकरणीय बना दिया है उनका सत्कार-समादर तो ऐसे आयोजनों से होता ही है किन्तु उनसे एक लाभ और भी है। ऐसे प्रकाशनों से दर्शन, पुरातत्त्व, इतिहास, समाजशास्त्र, राजनीति, अर्थशास्त्र, धर्म एव विभिन्न कलाओं पर भिन्न-भिन्न लेखकों द्वारा लिखे हुए लेख एक ही जगह अनायास ही उपलब्ध हो जाते हैं। पाठकों को अपना ज्ञान भण्डार भरने के लिए यह उपलब्धि वस्तुतः असाधारण है। इससे नये एवं उदीयमान लेखकों को प्रोत्साहन एवं प्रेरणा भी मिलती है। यह लाभ भी कम नहीं है।

जहां तक मेरा ख्याल है हिन्दी में इस परम्परा का श्री गणेश हिन्दी के परम उन्नायक स्व० श्री महावीर प्रसाद द्विवेदी के अभिनन्दन ग्रन्थ से प्रारम्भ हुआ। जिन लोक हितैषियों का अपने जीवन काल में अभिनन्दन नहीं हो सका उनका उनकी मृत्यु के बाद ऐसे प्रकाशनों द्वारा समादर किया गया और अब तो यह परम्परा बड़ी तेजी से पल्लवित हो रही है और ऐसे लोगों के अभिनन्दन एवं स्मृति ग्रन्थ भी प्रकाशित हुए हैं जो उनके योग्य नहीं थे। फिर भी सब मिलाकर यह कहना होगा कि यह परम्परा ज्ञानाराधना आदि की दृष्टि से वास्तव में उपादेय ही है।

जैन समाज में भी ऐसे अनेक उल्लेखनीय ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। ऐसा याद पड़ता है कि सबसे पहिले प्रख्यात इतिहासज्ञ स्व० श्री नाथूरामजी प्रेमी का अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित हुआ था। इसके बाद श्री वर्णी अभिनन्दन ग्रन्थ, श्री चन्दाबाई अभिनन्दन ग्रन्थ, श्री महात्मा हजारीलाल अभिनन्दन ग्रन्थ, विजयवल्लभ सूरि स्मारक ग्रन्थ, श्री रजिकसूरि स्मारक ग्रन्थ, तुलसी अभिनन्दन ग्रन्थ, कानजी स्वामी अभिनन्दन ग्रन्थ आदि अनेकों अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित हुए जो अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण और संग्रह योग्य हैं।

एक लम्बे अर्से से मेरा विचार था कि बाबू छोटेलालजी का भी एक ऐसा ही अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित किया जाय। यह विचार मैंने मेरे प्रिय शिष्य श्री बंशीधर शास्त्री एम० ए० के सामने रखा और उन्होंने इस विचार को आगे बढ़ाया। इसके फलस्वरूप कलकत्ते में श्री छोटेलाल अभिनन्दन समिति

का निर्माण किया गया और अभिनन्दन ग्रन्थ की सारी अर्थ-व्यवस्था का भार श्रीमान् सेठ जुगमंदिर लालजी जैन ने अपने ऊपर लिया। एक सम्पादक मण्डल चुना गया। हिन्दी और अंग्रेजी में अधिकारी विद्वानों से लेख मंगाये गये। लेख और संस्मरण एकत्रित हो जाने के बाद यह प्रश्न सामने आया कि उसका प्रकाशन कलकत्ता, जयपुर या वाराणसी इन तीन स्थानों में से कहां करवाया जाय इस उधेड़-बुन ने काफी समय ले लिया। मैं बारबार तकाजा करता रहा कि अभिनन्दन ग्रन्थ के प्रकाशन में विलम्ब करना ठीक नहीं है किन्तु मेरे तकाजों का कोई फल नहीं निकला। उनका स्वास्थ्य दिनों दिन गिरता जारहा था। मैं ही नहीं अनेक दूसरे सज्जन भी उनके स्वास्थ्य के विषय में चिंतित थे। वे तो चिर रोगी थे। एकाएक रोग का प्रकोप बढ़ा और उसने उनके जीवन को सदा के लिए अस्त कर दिया। यह समाचार सभी ने मर्मान्तिक वेदना के साथ सुना। इस घटना ने अभिनन्दन की सारी योजना को अस्त-व्यस्त कर दिया। कितना अच्छा होता कि उनके जीवनकाल में यह अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित हो जाता। किन्तु स्वामी समन्तभद्र के शब्दों में "अलंध्यशक्तिर्भवितव्यतेयम्" के अनुसार होता वही है जो होना होता है। भवितव्य के विधान को कौन टाल सकता है। ऐसी स्थिति में हमारे सामने इसके सिवाय दूसरा कोई विकल्प ही नहीं रह गया था कि उनके इस अभिनन्दन ग्रन्थ को उनके स्मृतिग्रन्थ के रूप में प्रकाशित किया जाय। उनके अनुकरणीय जीवन से हमें उनके देहावसान के बाद भी प्रेरणा मिलती रहे यही इस स्मृति ग्रन्थ के प्रकाशन का उद्देश्य है।

इस प्रसंग में उनके महान् व्यक्तित्व के विषय में भी यहां हम दो शब्द लिख देना अपना कर्त्तव्य समझते हैं।

बाबूजी वस्तुतः परहितनिरतवृत्ति थे। वे सहानुभूति, सेवा और सहयोग के मूर्तिमान समन्वय थे। उनकी इस समन्वयता का पता उनके जीवन के अध्ययन से चलता है।

वास्तव में तो मनुष्य अज्ञेय है। इसका कारण यह है कि वह अनन्त चित्तवृत्तियों का केन्द्र है और वे चित्तवृत्तियां अत्यन्त परोक्ष होने के कारण औरों की कौन कहे स्वयं मनुष्य की अनुभूति में भी नहीं आतीं। जब वे कदाचित जागृत होती हैं तब उसको उनका अनुभव होता है; किन्तु अधिकांश मनोभाव तो अबुद्ध ही रहते हैं। जो चित्तवृतियां जागृत होकर मनुष्य की अनुभूति में आ जाती हैं उन्हें बहुत बार वह माया का आश्रय लेकर बाहर नहीं आने देता; इसलिए कि उसकी कमजोरी का दूसरों को पता न लग जाय, और वह अपरिज्ञेय ही बना रहता है। यह सच है कि मनुष्य जितना मनुष्य से डरता है उतना दूसरे किसी से भी नहीं डरता इसलिए उसके सामने वह अपने असली रूप में बहुत कम आता है। कोई भी मनुष्य किसी दूसरे मनुष्य के बाह्य कार्यों को देख कर ही उसके प्रशस्त एवं अप्रशस्त होने का अनुमान करता है, इस का निष्कर्ष यह है कि मनुष्य में यदि माया का बाहुल्य हो तो उसका ठीक रूप से अध्ययन करना बहुत कठिन हो जाता है। कारण यह है कि उस पर लोकैषणा का भूत बुरी तरह सवार रहता है।

यह छोटी सी भूमिका हमें इस संस्मरण को ठीक समझने में सहायता देगी। कहना यह है कि बाबू छोटेलालजी में मैंने जो सब से बड़ी बात देखी वह है उनकी निःशल्यवृत्ति। मैं इसे ही मनुष्यता की

कसौटी समझता हूँ। जैन-दर्शन की भी यही मान्यता है। शल्य का अर्थ है माया। जहां माया है वहां सचाई की थाह पाना मुश्किल है। मैंने बाबूजी को इस कसौटी पर कसा था। उनमें जो दया और करुणा का स्रोत बहता था उसमें प्रदर्शन का स्वाँग नहीं था। वे मुझे बाहर भीतर एक से जान पड़े। दुनियां में विद्वानों की कमी नहीं, दानियों की भी विकलता नहीं और कार्यक्षम लोग भी यत्र-तत्र बहुत हैं। ये सारी चीजें प्रदर्शन को आधार बनाकर भी दुनियां की आंखों में धूल झोंक सकती हैं; इसलिए इनसे कभी मानवता नहीं निखर सकती।

बाबूजी को मैंने काफी निकट से देखा था। वे दो बार जयपुर आये। दूसरी बार तो केवल तीन दिन ही रहे; किन्तु जब वे पहली बार चिकित्सा के लिए यहां आये तो एक लम्बे अर्से तक ठहरे। इसके पहले 'वीरवाणी' के प्रकाशन के बाद व्यक्तिगत पत्रों के माध्यम से आपके साथ मेरा संपर्क स्थापित हो गया था; किन्तु कभी साक्षात्कार नहीं हुआ था। बाबूजी जब मुझे पहली बार मिले तो उनके व्यक्तित्व का मुझ पर काफी प्रभाव पड़ा। जयपुर में कुछ दिन चिकित्सा करा लेने के बाद स्वर्गीय सेठ भदीचंदजी जयपुर द्वारा निर्मापित वेदी की प्रतिष्ठा के अवसर पर जब वे महावीरजी गये तब हम करीब पांच दिन एक ही जगह रहे, एक ही जगह खाया-पिया, उठे बैठे और सोए; एक ही साथ कार में गये और एक ही साथ वहां से वापिस आये। उस समय सामाजिक एवं दूसरे विषयों पर उनसे मेरी खुलकर बातें होती थीं। उस प्रसंग में मैं उनके व्यक्तित्व का अविकल रूप से अध्ययन कर सका था।

बाबूजी वस्तुतः साहित्यिक, पुरातत्व प्रेमी, सेवाभावी एवं सामाजिक कार्यकर्ता थे। जयपुर मे चिकित्सा के दौरान भी मैंने देखा कि वे स्वास्थ्य की बिना परवाह किये घण्टों तक अविरत भाव से काम करते रहते थे। जयपुर के शास्त्र भण्डारों के उल्लेखनीय प्राचीन एवं सचित्र ग्रन्थों को मंगाकर वे देखते, उनके फोटो लिवाने का प्रबन्ध करते और ऐसे ही पुनीत प्रयत्नों में वे लगे रहते। मैं बीमारी के समय इतना अधिक काम करने के लिए उन्हें मना करता पर उन्होंने इस ओर कभी ध्यान ही नहीं दिया। जैन साहित्य एवं पुरातत्व के प्रचार के लिए ऐसी लगन, ऐसी श्रद्धा और आस्था मैंने अन्यत्र कहीं नहीं देखी। एक धनी कुल में उत्पन्न एवं संपन्न व्यक्ति में ज्ञानोपासना के प्रति इतनी लगन होने के उदाहरण हमारे देश में कम ही मिलेंगे।

बाबूजी ने यहां की कुछ संस्थाओं और वीरवाणी को अपने जयपुर प्रवास के समय कितनी आर्थिक सहायता दी, इसका उल्लेख यहां नहीं करूंगा; किन्तु मैं इस प्रसंग में उनकी एक उल्लेखनीय मानव वृत्ति के उपस्थित करने का लोभ संवरण नहीं कर सकता। जब बाबूजी अपनी चिकित्सा के लिए यहां आये तब पुरातत्व प्रेमी एवं अनुसंधानप्रिय स्थानीय विद्वान श्री श्रीप्रकाश शास्त्री क्षय रोग से ग्रस्त थे। बाबूजी वीरवाणी में प्रकाशित उनके खोजपूर्ण लेखों से प्रभावित थे। जब उन्हें इनके रोगग्रस्त होने का पता चला तो बाबूजी बहुत चिंतित हुए और मुझे कहने लगे कि इस होनहार युवक को जैसे हो वैसे बचाइये। इन्हें सैनीटोरियम में भर्ती करा दीजिए। वहां का सारा खर्चा मैं देता रहूंगा। बाबूजी ने अपनी बात अन्त तक निभाई किन्तु विधि के विधान को कौन टाल सकता है? सैनीटोरियम की चिकित्सा से कोई लाभ नहीं हुआ और एक लम्बी अवधि के बाद उनका देहान्त हो गया।

मैंने देखा कि बाबूजी में धर्म के मानव रूप का प्रकाश जल रहा था। उनकी कृपा जहां भी प्रस्फुटित होती कुछ करके ही विश्राम लेती। उनकी दया भी दान रहित नहीं होती थी। वे अनुकंपा

का निर्माण किया गया और अभिनन्दन ग्रन्थ की सारी अर्थ-व्यवस्था का भार श्रीमान् सेठ जुगमंदिर दासजी जैन ने अपने ऊपर लिया। एक सम्पादक मण्डल चुना गया। हिन्दी और अंग्रेजी में अधिकारी विद्वानों से लेख मगाये गये। लेख और संस्मरण एकत्रित हो जाने के बाद यह प्रश्न सामने आया कि उनका प्रकाशन कलकत्ता, जयपुर या वाराणसी इन तीन स्थानों में से कहां करवाया जाय इस उधेड़-बुन ने काफी समय ले लिया। मैं बारबार तकाजा करता रहा कि अभिनन्दन ग्रन्थ के प्रकाशन में विलम्ब करना ठीक नहीं है किन्तु मेरे तकाजों का कोई फल नहीं निकला। उनका स्वास्थ्य दिनों दिन गिरता जा रहा था। मैं ही नहीं अनेक दूसरे सज्जन भी उनके स्वास्थ्य के विषय में चिंतित थे। वे तो चिर रोगी थे। एकाएक रोग का प्रकोप बढ़ा और उसने उनके जीवन को सदा के लिए अस्त कर दिया। यह समाचार सभी ने मर्मान्तिक वेदना के साथ सुना। इस घटना ने अभिनन्दन की सारी योजना को अस्त-व्यस्त कर दिया। कितना अच्छा होता कि उनके जीवनकाल में यह अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित हो जाता। किन्तु स्वामी समन्तभद्र के शब्दों में "अलंव्यशक्तिर्भवितव्यतेयम्" के अनुसार होता वही है जो होना होता है। भवितव्य के विधान को कौन टाल सकता है। ऐसी स्थिति में हमारे सामने इसके सिवाय दूसरा कोई विकल्प ही नहीं रह गया था कि उनके इस अभिनन्दन ग्रन्थ को उनके स्मृतिग्रन्थ के रूप में प्रकाशित किया जाय। उनके अनुकरणीय जीवन से हमें उनके देहावसान के बाद भी प्रेरणा मिलती रहे यही इस स्मृति ग्रन्थ के प्रकाशन का उद्देश्य है।

इस प्रसंग में उनके महान् व्यक्तित्व के विषय में भी यहां हम दो शब्द लिख देना अपना कर्त्तव्य समझते हैं।

बाबूजी वस्तुतः परहितनिरतवृत्ति थे। वे सहानुभूति, सेवा और सहयोग के मूर्तिमान समन्वय थे। उनकी इस समन्वयता का पता उनके जीवन के अध्ययन से चलता है।

वास्तव में तो मनुष्य अज्ञेय है। इसका कारण यह है कि वह अनन्त चित्तवृत्तियों का केन्द्र है और वे चित्तवृत्तियां अत्यन्त परोक्ष होने के कारण औरों की कौन कहे स्वयं मनुष्य की अनुभूति में भी नहीं आतीं। जब वे कदाचित जागृत होती हैं तब उसको उनका अनुभव होता है; किन्तु अधिकांश मनो-भाव तो प्रसुप्त ही रहते हैं। जो चित्तवृत्तियां जागृत होकर मनुष्य की अनुभूति में आ जाती हैं उन्हें बहुत बार वह माया का आश्रय लेकर बाहर नहीं आने देता; इसलिए कि उसकी कमजोरी का दूसरों को पता न लग जाय, और वह अपरिज्ञेय ही बना रहता है। यह सच है कि मनुष्य जितना मनुष्य से डरता है उतना शायद किसी से भी नहीं डरता इसलिए उनके सामने वह अपने असली रूप में बहुत कम आता है। [illegible] मनुष्य किसी दूसरे मनुष्य के बाह्य कार्यों को देख कर ही उसके प्रशस्त एवं अप्रशस्त होने का अनुमान करता है, इस का निष्कर्ष यह है कि मनुष्य में यदि माया का बाहुल्य हो तो उसका ठीक रूप से [illegible] करना बहुत कठिन हो जाता है। कारण यह है कि उस पर लोकैषणा का भूत बुरी तरह सवार रहता है।

[illegible] छोटी सी भूमिका हमें इस संस्मरण को ठीक समझने में सहायता देगी। कहना यह है कि [illegible] जो [illegible] से बड़ी बात देखी वह है उनकी निःशल्यवृत्ति। मैं इसे ही मनुष्यता की

कसौटी समझता हूँ। जैन-दर्शन की भी यही मान्यता है। शल्य का अर्थ है माया। जहां माया है वहां सचाई की थाह पाना मुश्किल है। मैंने बाबूजी को इस कसौटी पर कसा था। उनमें जो दया और करुणा का स्रोत बहता था उसमें प्रदर्शन का स्वाँग नहीं था। वे मुझे बाहर भीतर एक से जान पड़े। दुनियां में विद्वानों की कमी नहीं, दानियों की भी विकलता नहीं और कार्यक्षम लोग भी यत्र-तत्र बहुत हैं। ये सारी चीजें प्रदर्शन को आधार बनाकर भी दुनियां की आंखों में धूल झोंक सकती हैं; इसलिए इनसे कभी मानवता नहीं निखर सकती।

बाबूजी को मैंने काफी निकट से देखा था। वे दो बार जयपुर आये। दूसरी बार तो केवल तीन दिन ही रहे; किन्तु जब वे पहली बार चिकित्सा के लिए यहां आये तो एक लम्बे अर्से तक ठहरे। इसके पहले 'वीरवाणी' के प्रकाशन के बाद व्यक्तिगत पत्रों के माध्यम से आपके साथ मेरा संपर्क स्थापित हो गया था; किन्तु कभी साक्षात्कार नहीं हुआ था। बाबूजी जब मुझे पहली बार मिले तो उनके व्यक्तित्व का मुझ पर काफी प्रभाव पड़ा। जयपुर में कुछ दिन चिकित्सा करा लेने के बाद स्वर्गीय सेठ भदीचंदजी जयपुर द्वारा निर्मापित वेदी की प्रतिष्ठा के अवसर पर जब वे महावीरजी गये तब हम करीब पांच दिन एक ही जगह रहे, एक ही जगह खाया-पिया, उठे बैठे और सोए; एक ही साथ कार में गये और एक ही साथ वहां से वापिस आये। उस समय सामाजिक एवं दूसरे विषयों पर उनसे मेरी खुलकर बातें होती थीं। उस प्रसंग में मैं उनके व्यक्तित्व का अविकल रूप से अध्ययन कर सका था।

बाबूजी वस्तुतः साहित्यिक, पुरातत्व प्रेमी, सेवाभावी एवं सामाजिक कार्यकर्ता थे। जयपुर मे चिकित्सा के दौरान भी मैंने देखा कि वे स्वास्थ्य की बिना परवाह किये घण्टों तक अविरत भाव से काम करते रहते थे। जयपुर के शास्त्र भण्डारों के उल्लेखनीय प्राचीन एवं सचित्र ग्रन्थों को मंगाकर वे देखते, उनके फोटो लिवाने का प्रबन्ध करते और ऐसे ही पुनीत प्रयत्नों में वे लगे रहते। मैं बीमारी के समय इतना अधिक काम करने के लिए उन्हें मना करता पर उन्होंने इस ओर कभी ध्यान ही नहीं दिया। जैन साहित्य एवं पुरातत्व के प्रचार के लिए ऐसी लगन, ऐसी श्रद्धा और आस्था मैंने अन्यत्र कहीं नहीं देखी। एक धनी कुल में उत्पन्न एवं संपन्न व्यक्ति में ज्ञानोपासना के प्रति इतनी लगन होने के उदाहरण हमारे देश में कम ही मिलेंगे।

बाबूजी ने यहां की कुछ संस्थाओं और वीरवाणी को अपने जयपुर प्रवास के समय कितनी आर्थिक सहायता दी, इसका उल्लेख यहां नहीं करूंगा; किन्तु मैं इस प्रसंग में उनकी एक उल्लेखनीय मानव वृत्ति के उपस्थित करने का लोभ संवरण नहीं कर सकता। जब बाबूजी अपनी चिकित्सा के लिए यहां आये तब पुरातत्व प्रेमी एवं अनुसंधानप्रिय स्थानीय विद्वान श्री श्रीप्रकाश शास्त्री क्षय रोग से ग्रस्त थे। बाबूजी वीरवाणी में प्रकाशित उनके खोजपूर्ण लेखों से प्रभावित थे। जब उन्हें इनके रोगग्रस्त होने का पता चला तो बाबूजी बहुत चिंतित हुए और मुझे कहने लगे कि इस होनहार युवक को जैसे हो वैसे बचाइये। इन्हें सैनीटोरियम में भर्ती करा दीजिए। वहां का सारा खर्चा मैं देता रहूंगा। बाबूजी ने अपनी बात अन्त तक निभाई किन्तु विधि के विधान को कौन टाल सकता है ? सैनीटोरियम की चिकित्सा से कोई लाभ नहीं हुआ और एक लम्बी अवधि के बाद उनका देहान्त हो गया।

मैंने देखा कि बाबूजी में धर्म के मानव रूप का प्रकाश जल रहा था। उनकी कृपा जहां भी प्रस्फुटित होती कुछ करके ही विश्राम लेती। उनकी दया भी दान रहित नहीं होती थी। वे अनुकंपा

प्रकाशकीय वक्तव्य



सुप्रसिद्ध समाज सेवी, पुरातत्ववेत्ता, उदारमना बाबू छोटेलालजी जैन समाज के प्रमुख व्यक्ति थे। उन्होंने समाज संगठन और सुधार तथा संस्कृति के संरक्षण में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। भारत की राजधानी देहली स्थित वीर सेवा मंदिर उनके अथक श्रम एवं पुरातत्व प्रेम का प्रतीक है। उनका साहित्य प्रेम एवं विद्वानों के प्रति श्रद्धाभाव अनुकरणीय है। वे अपने व्यापारिक कार्यों का उत्तरदायित्व निभाते हुए निरंतर अस्वस्थता के काल में भी समाज सेवा, संस्कृति, पुरातत्व, व्यावसायिक संगठनों आदि के लिए अपना महत्त्वपूर्ण योगदान देते रहते थे।

अनेक मित्र आप जैसे समाज सेवी का अभिनन्दन करने का विचार प्रकट करते रहते थे किंतु आपने अभिनन्दन कराना कभी स्वीकार नहीं किया क्योंकि आप विज्ञापन के बिना सेवा में ज्यादा विश्वास करते थे।

श्रद्धेय पं० चैनसुखदासजी अध्यक्ष जैन संस्कृत कालेज, जयपुर मुझे उनके अभिनन्दन के लिए प्रेरणा करते रहते थे लेकिन बाबूजी से जब कभी इसकी चर्चा छेड़ता वे ऐसा विरोध करते कि कई दिन तक इस विचार को पुनः उठाने का साहस ही नहीं होता था।

सन् ६४ की रक्षा बंधन के पावन दिवस पर हम कुछ मित्रों ने बाबूजी की अस्वस्थता एवं वार्द्धक्य को लक्ष्य में रखकर उनके अभिनन्दन का निश्चय किया और उस निश्चय को उनकी जानकारी बिना ही क्रियान्वित करना प्रारम्भ कर दिया।

इस कार्य के लिए श्री छोटेलाल जैन अभिनन्दन समिति का गठन किया गया (जिसकी सदस्य सूची आगे दी गई है) समाज के प्रमुख व्यक्तियों ने बाबूजी का अभिनन्दन करने के निश्चय की प्रशंसा की एवं अपना सहयोग देने का आश्वासन दिया।

समिति की प्रथम बैठक २८ फरवरी सन् ६५ को बेलगछिया उपवन में उद्योग पति श्री मिश्रीलालजी जैन की अध्यक्षता में हुई। समिति ने बाबूजी के अभिनन्दन के प्रतीक स्वरूप अभिनन्दन ग्रंथ

समर्पण करने का निश्चय किया। ग्रंथ के संपादनार्थ निम्नलिखित विद्वानों का संपादक मण्डल गठित किया गया :—

श्री पं० चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ, जयपुर।

,, डा० ए० एन० उपाध्याय, कोल्हापुर।

,, पं० कैलाशचन्दजी शास्त्री; वाराणसी।

,, अगरचन्दजी नाहटा; बीकानेर।

डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल; जयपुर।

डा० सत्यरंजन बनर्जी; कलकत्ता।

कालीदास नाग।

ग्रंथ में हिन्दी एवं अंग्रेजी के लेख रखना स्वीकार किया गया।

खेद है कि इनमें से श्री कालीदास नाग का देहावसान होगया।

समिति ने निश्चय किया कि ग्रन्थ के मुद्रण आदि का कार्य पं० चैनसुखदास जी के सान्निध्य में जयपुर में ही हो। एतदर्थ एक ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता अनुभव की गई जो प्रूफ रीडिंग आदि एवं अन्य कार्यों में उन्हें सहयोग दे सके और जो संस्कृत, अंग्रेजी का विद्वान् हो। अतः एतदर्थ पं० भँवरलालजी पोल्याका, जैनदर्शनाचार्य, की नियुक्ति की गई और उन्होंने यह कार्य करना स्वीकार कर लिया। फलस्वरूप श्री नाग के स्थान पर उनका सहवरण किया गया।

उक्त निश्चयानुसार अभिनन्दन ग्रंथ की तैयारी की जाने लगी। पं० चैनसुखदासजी एवं डा० उपाध्यायजी ने क्रमशः हिन्दी, एवं अंग्रेजी के लेखों का संपादन किया है। संपादक मण्डल के अन्य सदस्यों ने यथावसर सहयोग दिया है। इसके लिए समिति इन विद्वानों के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करती है। जिन विद्वानों एवं महानुभावों ने ग्रन्थ के लिए लेखादि देकर सहयोग दिया उनकी भी समिति बहुत आभारी है।

श्रेयस्कर है। मेरा भी अभिनन्दन या जो कुछ करना हो मेरी मृत्यु के बाद करना।" उनकी हार्दिक भावना पूरी हुई और हमारा अभिनन्दन न लेते हुए वे २६ जनवरी ६६ के दिन हमसे हमेशा के लिए बिछुड़ गए।

इस योजना में सहयोग देने वाले सभी धीमानों एवं श्रीमानों के प्रति समिति आभार प्रकट करती हुई कामना करती है कि बाबूजी की आत्मा समाज की भावी पीढी के पथप्रदर्शन के लिए प्रकाश स्तम्भ का कार्य करती रहे।



सदस्य-सूची

१. साहू शांतिप्रसादजी जैन कलकत्ता
२. श्री विजयसिंहजी नाहर ,,
३. ,, सोहनलालजी दूगड़ ,,
४. ,, नरेन्द्रसिंहजी सिंघी ,,
५. ,, यशपालजी जैन देहली
६. ,, जुगलकिशोरजी मुख्तार ,,
७. ,, जुगमंदिरदासजी जैन कलकत्ता
८. ,, प्रेमचन्दजी जैन देहली
९. ,, जैनेन्द्रकुमारजी ,,
१०. ,, पं० चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ, जयपुर
११. ,, मूलचन्द किसनदास कापड़िया सूरत
१२. ,, धर्मचन्दजी सरावगी कलकत्ता
१३. ,, इन्द्र दूगड़, ,,
१४. ,, श्रीचन्दजी रामपुरिया ,,
१५. ,, गोपीचन्दजी चौपड़ा ,,
१६. ,, सत्यभक्तजी, वर्धा
१७. ,, नवरतनमलजी सुराणा कलकत्ता
१८. श्री लाभचन्दजी सुराणा ,,
१९. ,, मिश्रीलालजी ,,
२०. ,, नथमलजी सेठी ,,
२१. ,, मोहनलालजी साह ,,
२२. डा० ए० एन उपाध्याय, कोल्हापुर
२३. श्रीमती चंदाबाई जी आरा
२४. डा० नेमीचंदजी जैन, आरा
२५. पं० कैलाशचन्दजी शास्त्री, वाराणसी
२६. पं० जगमोहनलालजी कटनी
२७. श्री भगवतरायजी जैन देहली
२८. ,, अगरचन्दजी नाहटा बीकानेर
२९. ,, नथमलजी टांटिया वैशाली
३०. ,, बाबूलालजी जैन कलकत्ता
३१. ,, लक्ष्मीचन्दजी जैन ,,
३२. ,, डा० कस्तूरचंदजी कासलीवाल जयपुर
३३. ,, वंशीधर शास्त्री कलकत्ता
३४. ,, गजराजजी गंगवाल कलकत्ता

समर्पण करने का निश्चय किया। ग्रंथ के संपादनार्थ निम्नलिखित विद्वानों का संपादक मण्डल गठित किया गया :—

श्री पं० चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ, जयपुर।
,, डा० ए० एन० उपाध्याय, कोल्हापुर।
,, पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री; वाराणसी।
,, अगरचन्दजी नाहटा; बीकानेर।
डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल; जयपुर।
डा० सत्यरंजन बनर्जी; कलकत्ता।
कालीदास नाग।

ग्रंथ में हिन्दी एवं अंग्रेजी के लेख रखना स्वीकार किया गया।

खेद है कि इनमें से श्री कालीदास नाग का देहावसान होगया।

समिति ने निश्चय किया कि ग्रन्थ के मुद्रण आदि का कार्य पं० चैनसुखदास जी के सान्निध्य में जयपुर में ही हो। एतद्धेतु एक ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता अनुभव की गई जो प्रूफ रीडिंग आदि एवं अन्य कार्यों में उन्हें सहयोग दे सके और जो संस्कृत, अंग्रेजी का विद्वान् हो। अतः एतदर्थ पं० भँवरलालजी पोल्याका, जैनदर्शनाचार्य, की नियुक्ति की गई और उन्होंने यह कार्य करना स्वीकार कर लिया। फलस्वरूप श्री नाग के स्थान पर उनका सहवरण किया गया।

उक्त निश्चयानुसार अभिनन्दन ग्रंथ की तैयारी की जाने लगी। पं० चैनसुखदासजी एवं डा० उपाध्यायजी ने क्रमशः हिन्दी, एवं अंग्रेजी के लेखों का संपादन किया है। संपादक मण्डल के अन्य सदस्यों ने यथाशक्य सहयोग दिया है। इसके लिए समिति इन विद्वानों के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करती है। जिन विद्वानों एवं महानुभावों ने ग्रन्थ के लिए लेखादि देकर सहयोग दिया उनकी भी समिति बहुत आभारी है।

अभिनन्दन ग्रन्थ की सामग्री के संकलन एवं संपादन हो जाने के बाद भी किन्हीं कारणों से उसका प्रकाशन प्रारम्भ नहीं हुआ था कि बाबूजी का स्वास्थ्य अचानक अधिक खराब हो गया और उन्हें ११ दिसम्बर सन् ६५ को अस्पताल में ले जाया गया। वहां कभी उनके पुनः स्वस्थ होने की आशा दिखती और कभी वह आशा क्षीण होती थी। वे उस अवस्था में भी साहित्य एवं समाज तथा विद्वानों की चर्चा में पूर्ण रस लेते थे।

मृत्यु से १० दिन पूर्व उन्होंने कहा था "देखो! पं० लालबहादुर शास्त्री की मृत्यु के बाद ही राष्ट्रपति ने उनको भारतरत्न की उपाधि दी है। व्यक्ति की मृत्यु के बाद ही उसका अभिनन्दन होना

श्रेयस्कर है। मेरा भी अभिनन्दन या जो कुछ करना हो मेरी मृत्यु के बाद करना।" उनकी हार्दिक भावना पूरी हुई और हमारा अभिनन्दन न लेते हुए वे २६ जनवरी ६६ के दिन हमसे हमेशा के लिए बिछुड़ गए।

इस योजना में सहयोग देने वाले सभी धीमानों एवं श्रीमानों के प्रति समिति आभार प्रकट करती हुई कामना करती है कि बाबूजी की आत्मा समाज की भावी पीढी के पथप्रदर्शन के लिए प्रकाश स्तम्भ का कार्य करती रहे।



सदस्य-सूची

१. साहू शांतिप्रसादजी जैन कलकत्ता
२. श्री विजयसिंहजी नाहर ,,
३. ,, सोहनलालजी दूगड़ ,,
४. ,, नरेन्द्रसिंहजी सिंघी ,,
५. ,, यशपालजी जैन देहली
६. ,, जुगलकिशोरजी मुख्तार ,,
७. ,, जुगमंदिरदासजी जैन कलकत्ता
८. ,, प्रेमचन्दजी जैन देहली
९. ,, जैनेन्द्रकुमारजी ,,
१०. ,, पं० चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ, जयपुर
११. ,, मूलचन्द किसनदास कापड़िया सूरत
१२. ,, धर्मचन्दजी सरावगी कलकत्ता
१३. ,, इन्द्र दूगड़, ,,
१४. ,, श्रीचन्दजी रामपुरिया ,,
१५. ,, गोपीचन्दजी चोपड़ा ,,
१६. ,, सत्यभक्तजी, वर्धा
१८. श्री लाभचन्दजी सुराणा ,,
१९. ,, मिश्रीलालजी ,,
२०. ,, नथमलजी सेठी ,,
२१. ,, मोहनलालजी साह ,,
२२. डा० ए० एन उपाध्याय, कोल्हापुर
२३. श्रीमती चंदाबाई जी आरा
२४. डा० नेमीचंदजी जैन, आरा
२५. पं० कैलाशचन्दजी शास्त्री, वाराणसी
२६. पं० जगमोहनलालजी कटनी
२७. श्री भगवतरायजी जैन देहली
२८. ,, अगरचन्दजी नाहटा बीकानेर
२९. ,, नथमलजी टांटिया वैशाली
३०. ,, बाबूलालजी जैन कलकत्ता
३१. ,, लक्ष्मीचन्दजी जैन ,,
३२. ,, डा० कस्तूरचंदजी कासलीवाल जयपुर
३३. ,, वंशीधर शास्त्री कलकत्ता

३५. श्री धर्मचन्दजी पहाड़िया कलकत्ता
३६. ,, मदनलालजी काला ,,
३७. ,, मदनलालजी पाण्ड्या ,,
३८. ,, हिम्मतसिंहजी जैन ,,
३९. ,, बाबूलालजी पाटणी ,,
४०. ,, विमलचन्दजी पहाड़िया ,,
४१. ,, किशनलालजी काला ,,
४२. ,, इन्द्रचंदजी पाटणी ,,
४३. प्रो० कल्याणचन्दजी लोढ़ा ,,
४४. श्री सुरजमलजी [illegible] ,,
४५. ,, गजानन्दजी पांड्या गया
४६. रा० ब० हरखचंदजी रांची
४७. श्री मोहनलालजी पाटणी कलकत्ता
४८. ,, जगन्नाथजी पाण्ड्या कोडरमा
४९. ,, सागरमलजी गिरड़ी
५०. ,, नेमीचन्दजी पांड्या गोहाटी
५१. ,, चांदमलजी पांड्या ,,
५२. श्री भँवरलालजी बाकलीवाल मनीपुर
५३. ,, भागचन्दजी सोनी अजमेर
५४. ,, राजकुमार सिंहजी इंदौर
५५. ,, मटरूमलजी बैनाड़ा आगरा
५६. ,, महेन्द्रजी आगरा
५७. ,, अनलसिंहजी ,,
५८. ,, छिदामीलालजी फीरोजाबाद
५९. ,, विमलचन्दजी खरखरी
६०. ,, बद्रीप्रसादजी सरावगी पटना
६१. ,, दीपचन्दजी नाहटा कलकत्ता
६२. ,, सुबोधकुमारजी आरा
६३. ,, सीतारामजी सेकसरिया कलकत्ता
६४. ,, रामेश्वरजी टाँटिया ,,
६५. डा० बनारसीदासजी केड़िया ,,
६६. श्री नन्दलालजी ,,
६७. ,, बजरंगलालजी जैन ,,

बन्शीधर शास्त्री
संयोजक
श्री छोटेलाल जैन अभिनन्दन समिति

सम्पादकीय

जिनके जीवन में करुणा, अनुकंपा एवं सहानुभूति आदि अनेक मानवीय सद्वृत्तियों की अजस्र धारा बहती रहती है वे सभी के लिए अनुकरणीय होते हैं। ऐसा जीवन हर एक के लिए प्रेरणा का स्रोत बन सकता है और उसकी विशेषताएँ वर्तमान एवं अनागत मनुष्य के जीवन निर्माण के लिए सहायक हो सकती हैं। स्वर्गीय बाबू छोटेलालजी जैन कलकत्ता ऐसे ही मानवोचित गुणों के धनी थे अतः उनके प्रति सामूहिक कृतज्ञता प्रकट करने के लिए इस स्मृति ग्रंथ का प्रकाशित करना अत्यन्त आवश्यक था। इस स्मृतिग्रंथ में उनके जीवन परिचय एवं संस्मरण और श्रद्धांजलियों के अतिरिक्त अनेक महत्वपूर्ण निबन्ध भी हैं जो पाठकों को विभिन्न विषयों के ज्ञानार्जन में सहायक सिद्ध होंगे।

इस ग्रंथ में चार खण्ड हैं।

इस स्मृति ग्रंथ के प्रथम खण्ड मे स्वर्गीय बाबू छोटेलालजी जैन के प्रेरणास्पद व्यक्तित्व की झांकी प्रस्तुत करने के साथ साथ उनके भावभरे संस्मरण और विनम्र श्रद्धांजलियां हैं द्वितीय खण्ड में इतिहास, पुरातत्त्व एवं शोध सम्बन्धी सामग्री है। तृतीय खण्ड में साहित्य, धर्म और दर्शन सम्बन्धी लेख हैं। चतुर्थ खण्ड में अंग्रेजी में लिखे हुए गवेषणा पूर्ण लेख हैं। पाठकों की सुविधा हेतु प्रथमखण्ड को छोड़कर शेष खण्डों की सामग्री की संक्षिप्त सी सूचना यहां दी जा रही है।

'प्राचीन भारतीय वस्त्र और वेशभूषा" के लेखक श्री गोकुलचन्द्र जैन हैं। आपने आचार्य सोमदेव कृत 'यशस्तिलक चम्पू' जो दसवीं शताब्दी की असाधारण, महत्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय रचना है, के आधार पर तत्कालीन भारतीय वस्त्र एवं वेशभूषा पर प्रकाश डाला है। लेख में सामान्य वस्त्रों का ही नहीं सिले हुए वस्त्रों का भी वर्णन है। लेख मे केवल तत्कालीन भारतीय और विदेशी वस्त्रों और वेशभूषा का ही ज्ञान नहीं होता अपितु उस समय के वस्त्रोद्योग और भारत के विदेशों के साथ सम्बन्धों का भी परिचय मिलता है।

"बप्पभट्टि चरित् : ऐतिहासिक महत्त्व" कुरुक्षेत्र विश्व विद्यालय के इतिहास विभाग के अध्यक्ष श्री हरिअनन्त फड़के की कृति है। 'बप्पभट्टि चरित्' आचार्य प्रभाचन्द्र के 'प्रभावक चरित' का एक अंश है। ग्रंथ की रचना समाप्ति ई० स० १२७७ में हुई थी। लेखक के अनुसार उसमें राजा आम-नागावलोक के सभा पंडित आचार्य बप्पभट्टि का जो जीवन-चरित है उसका केवल धार्मिक ही नहीं अपितु ऐतिहासिक महत्त्व भी है। 'बप्पभट्टि चरित्' में वर्णित ऐतिहासिक

इतिवृत्त का समर्थन अन्य प्रमाणों से भी होता है। लेख इतिहास के विद्वानों और छात्रों के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

"महाकवि रइधू युगीन अग्रवालों की साहित्य सेवा' डा० राजाराम जैन एम. ए. पी. एच. डी. की रचना है। इसमें अग्रवाल जातीय महाकवि रइधू और उनके समसामयिक अग्रवाल बन्धुओं की साहित्यसेवा का वर्णन किया गया है। लेख से अग्रवाल जाति के इतिहास के एक परिच्छेद का परिचय प्राप्त होता है।" वास्तव में जैन ग्रंथों की प्रशस्तियाँ केवल जैन इतिहास के लिए ही नहीं भारतीय इतिहास के लिये भी महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करती हैं और उनके अध्ययन से इतिहास को कई विलुप्त कड़ियां जोड़ी जा सकती हैं। लेख संग्रह योग्य है।

"हिन्दी आदिकाल के जैन प्रबन्ध काव्य" के रचनाकार श्री श्याम वर्मा, एम. एस. सी. एम. ए. (संस्कृत, अंग्रेजी एवं हिन्दी) हैं। प्रस्तुत निबन्ध में विक्रम की आठवीं शताब्दी से लेकर चौदहवीं शताब्दी तक के जैन प्रबन्ध काव्यों का संक्षिप्त पर्यालोचन किया गया है। लेखक ने महाकवि स्वयंभूदेव, महाकवि पुष्पदन्त, और हरिभद्रसूरि की रचनाओं पर एक आलोचनात्मक दृष्टि डालते हुए कहा है कि इनकी विधाओं, शैलियों, काव्यरूढ़ियों आदि की पूर्व परम्परा और परवर्ती काव्य पर प्रभाव विस्तृत अध्ययन के विषय हैं। हिन्दी साहित्य के इतिहास के अध्येताओं के लिए निबन्ध का महत्त्व स्पष्ट है।

"जैन संस्कृति में नारी के विविध रूप" श्री प्रेमसुमन एम. ए. रिसर्चस्कालर की रचना है जिसमें जैन संस्कृति में नारी की स्थिति, वैवाहिक परम्परा, बौद्धिक नारियां, कलाविशारद, वीरांगना, सती प्रथा, विधवा विवाह, बहुपत्नीत्व प्रथा, पर्दाप्रथा, गणिकाएं, साध्वी नारियां, एवं स्त्रियों की निन्दा और प्रशंसा आदि विषयों पर विविध रूपों और दृष्टिकोणों से नारी का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

'जैन समाज के आन्दोलन" में सत्यसमाज के संस्थापक स्वामी सत्यभक्त ने जैनसमाज के पिछले साठ सत्तर वर्षों के आन्दोलनों का एक विहंगम सिंहावलोकन प्रस्तुत करते हुए अपने साथ बाबू छोटेलालजी के सम्बन्धों पर प्रकाश डाला है।

"मथुरा की प्राचीन कला में समन्वयभावना" के लेखक श्री कृष्णदत्त वाजपेयी हैं। लेख में लेखक ने मथुरा से प्राप्त प्राचीन ऐतिहासिक सामग्री का विवेचन प्रस्तुत करते हुए निष्कर्ष निकाला है कि यहां के कुशल कलाकार अनेक देशी और विदेशी तत्वों तथा भारतीय धर्म एवं दर्शन की विविध धाराओं का समन्वित रूप प्रस्तुत करने में सफल हुए हैं। पुरातत्व प्रेमियों और शोधकर्त्ताओं के लिए लेख का महत्व स्पष्ट है।

"भट्टारक युगीन जैन संस्कृत साहित्य की प्रवृत्तियां"-लेखक—डा० नेमीचन्द्र शास्त्री, एम. ए. डी. लिट्. आरा हैं। अध्ययनशील और विद्वान लेखक ने इस निबन्ध में १३वीं शती से १८वीं शती तक के भट्टारक युगीन 'पौराणिक चरितकाव्य," "लघुप्रबन्धकाव्य," "संदेश या दूतकाव्य" आदि पन्द्रह प्रमुख साहित्यिक प्रवृत्तियों के विकास आदि पर मनन करने योग्य एवं

गवेषणापूर्ण विचार किया है। वास्तव में लेखक का यह कथन कि ग्रन्थबाहुल्य की दृष्टि से तो इस युग का महत्व है ही, पर विविध विषयक रचनाओं की दृष्टि से भी इस युग का कम महत्व नहीं है, अक्षरशः सत्य है।

'पंच कल्याणक तिथियां और नक्षत्र' लेखक–श्री मिलापचन्द कटारिया, केकड़ी। प्रस्तुत निबंध में लेखक ने उत्तरपुराण, अपभ्रंश महापुराण और कल्याण माला इन तीनों ग्रंथों की पंचकल्याणक तिथियों के मतभेद को ज्योतिषशास्त्र के प्रमाणानुसार शुद्ध करके समन्वित किया है और अन्त में पंचकल्याणकों की शुद्ध तिथियों और नक्षत्रों का एक चार्ट दिया है। लेखक की युक्तियां अकाट्य मालूम होती हैं और एतद् सम्बन्धी विवाद को समाप्त करने में सक्षम हैं। लेखक ने यह लेख बड़े अध्ययन और परिश्रम से लिखा है।

"जैन ग्रंथों में राष्ट्रकूटों का इतिहास' लेखक—श्री रामबल्लभ सौमानी। जैन ग्रन्थों की प्रशस्तियाँ ऐतिहासिक दृष्टि से बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं। यदि इनका परिश्रम पूर्वक अध्ययन किया जावे तो भारत के इतिहास की कई विलुप्त कड़ियां सहज ही जोड़ी जा सकती हैं। प्रस्तुत लेख में लेखक ने जैन ग्रंथों से राष्ट्रकूटों के इतिहास का वर्णन किया है जो श्लाघनीय है।

"भारतीय साहित्य में सीता हरण प्रसंग" लेखक–डा० छोटेलाल शर्मा एम. ए. पी. एच. डी.। प्रस्तुत लेख में भारतीय वाङ्मय में सीता हरण प्रसंग से सम्बन्धित जितने भी प्रकार की धाराएं उपलब्ध होती हैं उन सबका विवेचन किया गया है।

"आचार्य हेमचन्द्र की दृष्टि में भारतीय समाज" लेखक—डॉ० जयशंकर मिश्र एम. ए. पी. एच. डी. प्रस्तुत निबंध में आचार्य हेमचन्द्र के ग्रंथों के आधार पर भारतीय समाज सम्बन्धी उल्लेखों का विश्लेषण और मूल्यांकन किया गया है। वर्णव्यवस्था कैसी थी, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्रों का समाज में क्या स्थान था, शूद्रों की उत्पत्ति कैसे हुई, आदि विषयों द्वारा तद्युगीन समाज के स्वरूप को समझने में लेख से बड़ी सहायता मिलती है।

"५वीं शती के प्राकृत ग्रन्थ वसुदेव हिन्डी की रामकथा"–लेखक श्री अगरचन्द नाहटा। प्रस्तुत लेख में लेखक ने यह सिद्ध किया है कि सीता रावण की पुत्री थी अथवा जनक की, एतद् सम्बन्धी विवाद भारत में ५वीं शती से भी प्राचीनतर है। ग्रंथ के नाम के साथ जो हिन्डी शब्द लगा है हमारे विचार मे वह हिन्दी का ही पूर्व रूप है। वसुदेव हिन्डी अर्थात् वसुदेव भाषा अथवा हिन्दी भाषा में वसुदेव चरित्र। अगर हमारा यह विचार सत्य है तो हिन्दी शब्द और हिन्दी भाषा का प्रादुर्भाव ५वीं शती से भी अधिक पूर्व में चला जाता है। भाषा सम्बन्धी शोध कर्त्ताओं के लिये 'वसुदेव हिन्डी' वास्तव में एक महत्त्वपूर्ण कड़ी सिद्ध हो सकता है।

'अग्रवालों का जैन धर्म में योगदान' लेखक–श्री परमानन्द शास्त्री। प्रस्तुत लेख में बारहवीं शताब्दी से लेकर आज तक अग्रवाल जाति का जैन धर्म के प्रचार और विकास में क्या और कितना योग रहा है इस पर ऐतिहासिक दृष्टि से संक्षिप्त विवेचन किया है। अग्रवाल जाति का यदि इतिहास लिखा जावे तो यह निबन्ध लेखक को महत्त्वपूर्ण सूचनाएं प्रदान करने में समर्थ है।

'हिन्दी का आदिकाल और जैन साहित्य' लेखक–डा० छविनाथ त्रिपाठी एम. ए. पी. एच. डी.। आदिकालीन जैन साहित्य की उपेक्षा कर हिन्दी साहित्य के आदिकाल के स्वरूप और

उसके सर्वांगीण महत्त्व का आकलन कर पाना संभव नहीं है, यह है वह निष्कर्ष जो लेखक ने हिन्दी के आदिकाल के जैन ग्रंथों का रासक, मुक्तक आदि शीर्षकों के अन्तर्गत परिचय दे निकाला है। लेखक ने जो कुछ कहा है उसके विषय में दो मत नहीं हो सकते। खेद है कि इधर इस सम्बन्धी शोध कार्य बहुत कम हुआ है। जब तक तत्कालीन प्राप्त जैन ग्रन्थों का इस दृष्टि से अध्ययन न किया जावे हिन्दी साहित्य के आदिकाल के इतिहास के पन्ने भरे नहीं जा सकते।

'दो ऐतिहासिक रचनाएं' लेखक–श्री भंवरलाल नाहटा। इस लेख में 'श्री पूज्य श्री चिन्तामणिजी जन्मोत्पत्ति स्वाध्याय, तथा 'गणनायक श्री खेमकरणजी जन्मोत्पत्ति संथारा विधि' नामक दो रचनाओं का परिचय दिया गया है जो १८वीं शताब्दी की हैं और अब तक अप्रकाशित हैं।

"राष्ट्रीय संग्रहालय में मध्यकालीन जैन प्रस्तर प्रतिमाएँ" लेखक–श्री बृजेन्द्रनाथ शर्मा एम. ए.। प्रस्तुत निबन्ध में राष्ट्रीय संग्रहालय में संगृहीत कतिपय जैन प्रस्तर प्रतिमाओं का, जो मध्यकालीन हैं, परिचय दिया गया है। जिनका परिचय प्रस्तुत लेख में है वे प्रतिमाएँ ऋषभनाथ, सुपार्श्वनाथ, पार्श्वनाथ, पार्श्वनाथ, तीर्थंकर, गोमेध और अम्बिका, तथा अम्बिका की हैं। लेख सचित्र है।

"आचार्य जिनेश्वर और खरतरगच्छ" लेखक–साहित्य महोपाध्याय श्री विनयसागरजी। इस लेख में खरतरगच्छ के उद्भावक आचार्य जिनेश्वर सूरि के जीवन दर्शन पर विवेचन करते हुए खरतर गच्छ शब्द पर विचार किया गया है तथा खरतर गच्छ का उत्पत्ति काल सं० १०६६ से १०७८ के मध्य महाराजा दुर्लभराज के राज्यकाल में सिद्ध किया है।

"जैनधर्म की प्राचीनता एवं सार्वभौमिकता" लेखक–डा० देवेन्द्रकुमार शास्त्री। लेख में अनेक पुष्ट प्रमाणों और युक्तियों द्वारा जैन धर्म को प्राचीन और सार्वभौम प्रमाणित किया गया है। लेख परिश्रम पूर्वक लिखा गया है और जैन इतिहास का अध्ययन करने वालों के लिए इसकी महत्ता स्वयंसिद्ध है।

"बीसवीं सदी विक्रमी के जैनसंत योगी श्रीमद्राजचन्द्रजी" लेखक–श्री कस्तूरमल बाँठिया। श्रीमद्राजचन्द्र से प्रायः प्रत्येक स्वाध्याय प्रेमी पाठक परिचित होगा। श्रीमद् का प्रभाव गांधीजी ने स्वयं अपने ऊपर होना स्वीकार किया था। लेख पाठक को सदाचार की प्रेरणा देता है।

जैन ज्योतिष के प्राचीनतमत्व पर संक्षिप्त विवेचन" लेखक–वैद्य प्रकाशचन्द पांड्या आयुर्वेदाचार्य। जैसा कि लेख के शीर्षक से स्वयं प्रकट है प्रस्तुत लेख में जैन ज्योतिष को प्राचीनतम सिद्ध किया गया है। इस विषय में रुचि रखने वाले विद्वानों के लिये लेख महत्त्वपूर्ण है और परिश्रम पूर्वक लिखा गया है।

"जैन दर्शन के प्रमुख प्रवक्ता आचार्य समन्तभद्र" लेखक–प्रो० उदयचन्द जैन एम. ए.। उक्त लेख में आचार्य समन्तभद्र के दार्शनिक विचारों पर प्रकाश डाला गया है। दर्शन का क्या

अर्थ है ? जैन दर्शन के इतिहास में समन्तभद्र का क्या स्थान है ? उनके समय की दार्शनिक विचारधारा क्या थी ? उन्होंने सर्वज्ञ और वस्तु में उत्पाद व्यय ध्रौव्य की सिद्धि किस प्रकार की है ? आदि विषयों का विवेचन है जिससे पाठक को समन्तभद्र की दार्शनिक विचारधारा का तो भान होता ही है, साथ ही जैन दर्शन की मुख्य-मुख्य बातों का भी ज्ञान हो जाता है ।

"प्रातः स्मरणीय सन्त गणेश वर्णी" लेखक–नीरज जैन । नीरजजी हिन्दी के जाने माने लेखक हैं । गणेशप्रसादजी वर्णी के नाम से भी शायद ही कोई जैन अपरिचित हो । उन जैसे सरल स्वभावी साधु कम ही देखने में आते हैं ।

"आगमों व त्रिपिटकों के संदर्भ में अभयकुमार" लेखक मुनि श्री नगराज जी । श्रेणिक के पुत्र अभयकुमार का वर्णन जैन और बौद्ध दोनों ही साहित्य में आया है किन्तु उसका जीवन वृत्तान्त भिन्न-भिन्न प्रकार से वर्णित है । मुनि श्री ने प्रमाण सहित सिद्ध किया है कि जैन और बौद्ध अभयकुमार एक ही व्यक्ति न होकर दो पृथक-पृथक व्यक्ति हैं । लेख की अपनी ऐतिहासिक विशेषता है ।

"भारत की जैन जातियां" लेखक–भंवरलाल पोल्याका । प्रस्तुत लेख में लेखक ने विभिन्न सूचियों के आधार से ३५० से भी अधिक जातियों के नाम गिनाये हैं जब कि प्रचलित जन श्रुति के अनुसार इनकी संख्या ८४ ही कही जाती है प्रत्येक सूचिकार ने भी यह संख्या ८४ ही रखी है । लेख में कुछ जातियों के प्राप्त प्राचीनतम उल्लेखों का भी वर्णन है । लेख खोज पूर्ण है ।

तृतीय खण्ड

"जैन दर्शन, पाश्चात्य दर्शन और विज्ञान में आकाश और काल" लेखक–मुनि महेन्द्रकुमार जी द्वितीय । प्रस्तुत लेख में आकाश और काल सम्बन्धी जैन और पाश्चात्य दर्शनों एवं वैज्ञानिक मान्यताओं का तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया गया है और अन्त में निष्कर्ष निकाला गया है कि वैज्ञानिक आपेक्षिकता का सिद्धान्त आकाश और काल सम्बन्धी जिन धारणाओं को उपस्थित करता है उनकी सत्यता असंदिग्ध एवं उनका दार्शनिक प्रतिपादन सर्व-सम्मत नहीं है । आकाश, काल और विश्व की गतिस्थिति सम्बन्धी समस्याओं का हल करने वाले जैन दर्शन के सिद्धांत एक सम्यक् दार्शनिक प्रणाली आज के वैज्ञानिकों के समक्ष उपस्थित करते हैं । मुनि श्री स्वयं बी. एस. सी हैं अतः उनका विवेचन वैज्ञानिक एवं अधिकृत है । आज इस ही प्रकार के वैज्ञानिक दृष्टिकोण से जैनदर्शन के सिद्धान्त विश्व के समक्ष रखने की महती आवश्यकता है ।

"भूधरदास कृत पार्श्वपुराण और उसमें पशु-पक्षि वर्णन" लेखक– डा. महेन्द्रसागर प्रचंडिया एम. ए. पी एच. डी. । लेख में कवि भूधरदास ने अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति हेतु पार्श्वपुराण में जिन पशु-पक्षियों का आधार लिया है उनका अध्ययन करते हुए निष्कर्ष निकाला गया है कि यद्यपि कवि का जीवन धार्मिक मर्यादाओं में नियमित और सीमित था तथापि उन्होंने जीवन की अनेक स्थिति–परिस्थितियों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म ज्ञान था ।

"समाधियोग" लेखक—आचार्य श्री रजनीश । लेखक के अनुसार सत्य की खोज के दो मार्ग हैं । एक वैचारिक और दूसरा दार्शनिक । वैचारिक मार्ग तर्क पर आधारित होने से

उसके सर्वांगीण महत्त्व का आकलन कर पाना संभव नहीं है, यह है वह निष्कर्ष जो लेखक ने हिन्दी के आदिकाल के जैन ग्रंथों का रासक, मुक्तक आदि शीर्षकों के अन्तर्गत परिचय दे निकाला है। लेखक ने जो कुछ कहा है उसके विषय में दो मत नहीं हो सकते। खेद है कि इधर इस सम्बन्धी शोध कार्य बहुत कम हुआ है। जब तक तत्कालीन प्राप्त जैन ग्रन्थों का इस दृष्टि से अध्ययन न किया जावे हिन्दी साहित्य के आदिकाल के इतिहास के पन्ने भरे नहीं जा सकते।

'दो ऐतिहासिक रचनाएं' लेखक-श्री भंवरलाल नाहटा। इस लेख में 'श्री पूज्य श्री चिन्तामणिजी जन्मोत्पत्ति स्वाध्याय, तथा 'गणनायक श्री खेमकरणजी जन्मोत्पत्ति संथारा विधि' नामक दो रचनाओं का परिचय दिया गया है जो १८वीं शताब्दी की हैं और अब तक अप्रकाशित हैं।

"राष्ट्रीय संग्रहालय में मध्यकालीन जैन प्रस्तर प्रतिमाएँ" लेखक-श्री बृजेन्द्रनाथ शर्मा एम. ए.। प्रस्तुत निबन्ध में राष्ट्रीय संग्रहालय में संगृहीत कतिपय जैन प्रस्तर प्रतिमाओं का, जो मध्यकालीन हैं, परिचय दिया गया है। जिनका परिचय प्रस्तुत लेख में है वे प्रतिमाएँ ऋषभनाथ, सुपार्श्वनाथ, पार्श्वनाथ, पार्श्वनाथ, तीर्थंकर, गोमेध और अम्बिका, तथा अम्बिका की हैं। लेख सचित्र है।

"आचार्य जिनेश्वर और खरतरगच्छ" लेखक-साहित्य महोपाध्याय श्री विनयसागरजी। इस लेख में खरतरगच्छ के उद्भावक आचार्य जिनेश्वर सूरि के जीवन दर्शन पर विवेचन करते हुए खरतर गच्छ शब्द पर विचार किया गया है तथा खरतर गच्छ का उत्पत्ति काल सं० १०६६ से १०७८ के मध्य महाराजा दुर्लभराज के राज्यकाल में सिद्ध किया है।

"जैनधर्म की प्राचीनता एवं सार्वभौमिकता" लेखक-डा० देवेन्द्रकुमार शास्त्री। लेख में अनेक पुष्ट प्रमाणों और युक्तियों द्वारा जैन धर्म को प्राचीन और सार्वभौम प्रमाणित किया गया है। लेख परिश्रम पूर्वक लिखा गया है और जैन इतिहास का अध्ययन करने वालों के लिए इसकी महत्ता स्वयंसिद्ध है।

"बीसवीं सदी विक्रमी के जैनसंत योगी श्रीमद्राजचन्द्रजी" लेखक-श्री कस्तूरमल बाँठिया। श्रीमद्राजचन्द्र से प्रायः प्रत्येक स्वाध्याय प्रेमी पाठक परिचित होगा। श्रीमद् का प्रभाव गांधीजी ने स्वयं अपने ऊपर होना स्वीकार किया था। लेख पाठक को सदाचार की प्रेरणा देता है।

'जैन ज्योतिष के प्राचीनतमत्व पर संक्षिप्त विवेचन" लेखक-वैद्य प्रकाशचन्द पांड्या आयुर्वेदाचार्य। जैसा कि लेख के शीर्षक से स्वयं प्रकट है प्रस्तुत लेख में जैन ज्योतिष को प्राचीनतम सिद्ध किया गया है। इस विषय में रुचि रखने वाले विद्वानों के लिये लेख महत्वपूर्ण है और परिश्रम पूर्वक लिखा गया है।

"जैन दर्शन के प्रमुख प्रवक्ता आचार्य समन्तभद्र" लेखक-प्रो० उदयचन्द्र जैन एम. ए.। उक्त लेख में आचार्य समन्तभद्र के दार्शनिक विचारों पर प्रकाश डाला गया है। दर्शन का क्या

अर्थ है ? जैन दर्शन के इतिहास में समन्तभद्र का क्या स्थान है ? उनके समय की दार्शनिक विचारधारा क्या थी ? उन्होंने सर्वज्ञ और वस्तु में उत्पाद व्यय ध्रौव्य की सिद्धि किस प्रकार की है ? आदि विषयों का विवेचन है जिससे पाठक को समन्तभद्र की दार्शनिक विचारधारा का तो भान होता ही है, साथ ही जैन दर्शन की मुख्य-मुख्य बातों का भी ज्ञान हो जाता है।

"प्रातः स्मरणीय सन्त गणेश वर्णी" लेखक-नीरज जैन। नीरजजी हिन्दी के जाने माने लेखक हैं। गणेशप्रसादजी वर्णी के नाम से भी शायद ही कोई जैन अपरिचित हो। उन जैसे सरल स्वभावी साधु कम ही देखने में आते हैं।

"आगमों व त्रिपिटकों के संदर्भ में अभयकुमार" लेखक मुनि श्री नगराज जी। श्रेणिक के पुत्र अभयकुमार का वर्णन जैन और बौद्ध दोनों ही साहित्य में आया है किन्तु उसका जीवन वृत्तान्त भिन्न-भिन्न प्रकार से वर्णित है। मुनि श्री ने प्रमाण सहित सिद्ध किया है कि जैन और बौद्ध अभयकुमार एक ही व्यक्ति न होकर दो पृथक-पृथक व्यक्ति हैं। लेख की अपनी ऐतिहासिक विशेषता है।

"भारत की जैन जातियां" लेखक-भंवरलाल पोल्याका। प्रस्तुत लेख में लेखक ने विभिन्न सूचियों के आधार से ३५० से भी अधिक जातियों के नाम गिनाये हैं जब कि प्रचलित जन श्रुति के अनुसार इनकी संख्या ८४ ही कही जाती है प्रत्येक सूचिकार ने भी यह संख्या ८४ ही रखी है। लेख में कुछ जातियों के प्राप्त प्राचीनतम उल्लेखों का भी वर्णन है। लेख खोज पूर्ण है।

तृतीय खण्ड

"जैन दर्शन, पाश्चात्य दर्शन और विज्ञान में आकाश और काल" लेखक-मुनि महेन्द्रकुमार जी द्वितीय। प्रस्तुत लेख में आकाश और काल सम्बन्धी जैन और पाश्चात्य दर्शनों एवं वैज्ञानिक मान्यताओं का तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया गया है और अन्त में निष्कर्ष निकाला गया है कि वैज्ञानिक आपेक्षिकता का सिद्धान्त आकाश और काल सम्बन्धी जिन धारणाओं को उपस्थित करता है उनकी सत्यता असंदिग्ध एवं उनका दार्शनिक प्रतिपादन सर्व-सम्मत नहीं है। आकाश, काल और विश्व की गतिस्थिति सम्बन्धी समस्याओं का हल करने वाले जैन दर्शन के सिद्धांत एक सम्यक् दार्शनिक प्रणाली आज के वैज्ञानिकों के समक्ष उपस्थित करते हैं। मुनि श्री स्वयं बी. एस. सी हैं अतः उनका विवेचन वैज्ञानिक एवं अधिकृत है। आज इस ही प्रकार के वैज्ञानिक दृष्टिकोण से जैनदर्शन के सिद्धान्त विश्व के समक्ष रखने की महती आवश्यकता है।

"भूधरदास कृत पार्श्वपुराण और उसमें पशु-पक्षि वर्णन" लेखक—डा. महेन्द्रसागर प्रचंडिया एम. ए. पी एच. डी.। लेख में कवि भूधरदास ने अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति हेतु पार्श्वपुराण में जिन पशु-पक्षियों का आधार लिया है उनका अध्ययन करते हुए निष्कर्ष निकाला गया है कि यद्यपि कवि का जीवन धार्मिक मर्यादाओं में नियमित और सीमित था तथापि उन्होंने जीवन की अनेक स्थिति-परिस्थितियों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म ज्ञान था।

'समाधियोग" लेखक—आचार्य श्री रजनीश। लेखक के अनुसार सत्य की खोज के दो मार्ग हैं। एक वैचारिक और दूसरा दार्शनिक। वैचारिक मार्ग तर्क पर आधारित होने से

मिथ्या और दिशा भ्रामक है और उसमे सत्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। तत्व चिन्तन ग्रन्थों द्वारा प्रकाश की विचार और विवेचना है जब कि योग स्वयं को आंखें देता है और सत्य के दर्शन की सामर्थ्य और पात्रता उत्पन्न करता है। चित्त की शून्य और पूर्ण जागृत अवस्था ही समाधि है। समाधि सत्य की चक्षु है। सच्चिदानन्द स्वरूप की अनुभूति ही वास्तविक जीवन है। उसके पूर्व मानव मृतक के समान है।

"आचार्य सोमदेव और उनका यशस्तिलक चम्पू" लेखक—मुनि श्री विद्यानन्दजी महाराज। प्रस्तुत लेख में मुनि श्री ने आचार्य सोमदेव के व्यक्तित्व और उनकी बहुचर्चित कृति यशस्तिलक चम्पू का अध्ययन करते हुए यह परिणाम निकाला है कि आचार्य सोमदेव लोक व्यवहार के प्रबल पक्षपाती थे और इसी व्यवहार मार्ग से निश्चय मार्ग की ओर अग्रसर होना उन्हें अभीष्ट था। वास्तव में जैसा कि लेखक महोदय ने कहा है इस दृष्टि से आचार्य के कृतित्व का मूल्यांकन निःसंदेह अपेक्षित है।

"जैन साहित्य में शान्त रस" लेखक—डा० नरेन्द्र भानावत एम.ए. पी.एच.डी.। "जैन धर्म और दर्शन का मूल स्वर आत्मा पर पड़े हुए विभिन्न कर्म पुद्गलों का आवरण हटा कर उसे अपने विशुद्ध सहज रूप मे देखना है। यही मनोभूमि उसे साहित्य सर्जन की ओर प्रेरित करती है। यही कारण है कि जैन साहित्य में जीवन के विभिन्न पक्षों का निरूपण होते हुए भी उसकी अन्तिम परिणति शांतरसात्मक है ...." इस पृष्ठ भूमि में लेखक ने साहित्य में रस शब्द के विभिन्न प्रयोगो का दिग्दर्शन कराते हुए जैन दृष्टिकोण से शांत रस की प्रमुखता सिद्ध करते हुए एवं रस सम्बन्धी नवीन दृष्टिकोण से विचार करते हुए शांत रस का रसराजत्व प्रमाणित किया है तथा जैन साहित्य में शांतरस की प्रमुखता देखकर जो लोग इसे वर्तमान जीवन के लिये अनुपयोगी मानते हैं और उसे सामाजिक हित में बाधक मानते हैं; क्योंकि उनके अनुसार शांतरस की प्रमुखता जीवन को निराशा की ओर ले जाती है और अभिव्यक्ति को अकर्मण्य बना देती है, उनकी इस मान्यता का युक्तिपुरस्सरपूर्वक खण्डन किया है।

"साहित्य, व्युत्पत्ति और परिभाषा" लेखक—श्री रवीन्द्र कुमार जैन, एम.ए. पी.एच.डी.। प्रस्तुत लेख में लेखक ने साहित्य शब्द की व्युत्पत्ति और परिभाषा का भारतीय, पाश्चात्य एवं उर्दू भाषा के विभिन्न दृष्टिकोणों से अध्ययन करते हुए स्थापना की है कि साहित्य अन्ततोगत्वा सम्पूर्ण मानव जगत को उसकी विविधताओं में देखते हुए भी उसे एक मैत्रीपूर्ण सहअस्तित्व के सूत्र में आबद्ध करना चाहता है। लेखक के इस विचार से कि साहित्य मूलतः जीवन निष्ठा के प्रकाशनार्थ होना चाहिए असहमत होना कठिन है।

"फागु काव्य की नवोपलब्ध कृतियाँ" लेखक—डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल एम.ए. पी.एच.डी.। रास, बेलि आदि की भाँति ही फागु भी प्राचीन साहित्य का एक काव्य रूप रहा है। प्रस्तुत लेख में लेखक ने अपने शोध संदर्भ में उपलब्ध छह नवीन फागु काव्यों का विवरण प्रस्तुत कर प्राप्त फागु काव्यों की संख्या में वृद्धि की है।

"जैन दर्शन में अर्थाधिगम चिन्तन" लेखक—श्री दरबारीलाल जी कोठिया। जैनदर्शन में अर्थ के अधिगम का साधन प्रमाण और नय को स्वीकार किया गया है जबकि जैनेतर दर्शनों

हो रहा है। भारतीय जीवन महानद के दोनों किनारों को पुष्ट करने के बजाय हम उनक कमजोर करने में लगे हैं। इस वस्तु-स्थिति को जितनी जल्दी समझा जावेगा, उतना ही हमार कल्याण सुनिश्चित और सुरक्षित है। आशा है समाज के नेता, विद्वान् और धर्म के ठेकेदा स्वर्गीय आत्मा की इस चेतावनी को सुनेंगे।

"अपभ्रंश साहित्य और मणिधारी श्री जिनचन्द्र सूरि कृत व्यवस्था-शिक्षा-कुलकम्', । लेखक—डा० हीरालाल माहेश्वरी, एम.ए. पी-एच डी. एल.एल.बी. डि-फिल, प्राध्यापक राजस्था विश्वविद्यालय। 'व्यवस्था शिक्षा कुलकम्' मणिधारी श्री जिनचन्द्र सूरि की अपभ्रंश भाषा व उपदेश प्रधान मुक्तक रचना है। रचनाकाल विक्रम को तेरहवीं शताब्दी है। इसी रचना व विवेचन लेख का विषय है। लेख परिश्रम से लिखा गया है।

'संस्कृत के जैन संदेश काव्य" लेखक—श्री गोपीलाल अमर, एम.ए. साहित्यरत्न जैन संदेश काव्यों की इतर संदेश काव्यों से विशेषता बताते हुए लेखक ने पार्श्वभ्युदय, नेमिदूत जैन मेघदूत, शीलदूत, पवनदूत, चेतोदूत, इन्दुदूत, मेघदूत समस्या लेख इन आठ संदेश काव्यों क विस्तार से वर्णन बताते हुए इन्दुदूत, चन्द्रदूत, चन्द्रदूत, मनोदूत और मयूरदूत इन पाँच सन्दे काव्यों का केवल नाम मात्र ही उल्लेख किया है। जैन सन्देश काव्यों का परिचय प्रस्तुत करन लेखक का उद्देश्य रहा है।

"वाग्भटालंकार : एक परिशीलन" लेखक—श्री अमृतलाल शास्त्री। संस्कृत अलंका ग्रन्थों में वाग्भटालंकार का अपना एक विशेष स्थान है। यद्यपि प्राप्त अलङ्कार ग्रन्थों में यह सबसे छोटा है किन्तु अलङ्कार सम्बन्धी सम्पूर्ण विषयों की जानकारी प्रस्तुत ग्रन्थ से हो जात है। ग्रन्थ का रचना काल विक्रम को १२वीं शताब्दी है। लेखक ने इस लेख में उक्त ग्रंथ का परिशीलन किया है।

'सिद्धसेन का अभेदवाद और दिगम्बर परम्परा" लेखक-सिद्धांताचार्य पं० कैलाश चन्द्र जी शास्त्री। केवली के ज्ञानोपयोग को लेकर जैनाचार्यों मे मतभेद है। एक मत के अनुसार दर्शनोपयोग पूर्वक ही ज्ञानोपयोग होता है। दूसरे मत के अनुसार दोनों उपयोग युगपत् होते है। तीसरे मत के अनुसार ज्ञान और दर्शन में कोई भेद ही नहीं है। यह तीसरा मत है सन्मति तर्क के कर्ता आचार्य सिद्धसेन का। लेखक ने जो इस विषय के अधिकारी विद्वान् हैं सिद्धसेन की उन तमाम युक्तियों का जो कि उन्होंने प्रथम दोनों मतों के खण्डन में दी है, दिग्दर्शन कराते हुए द्वितीय मत के साथ उसका समन्वय किया है और बतलाया है कि द्वितीय मत में निश्चय दृष्टि से केवली के ज्ञान और दर्शन अभिन्न है जबकि सिद्धसेन की तार्किक दृष्टि में अभिन्न है। केवल दृष्टिकोण का ही अन्तर इन दोनों में है। इसीलिये सिद्धसेन के अभेदवाद का द्वितीय मत के अनुयायियों की परम्परा में प्रबल विरोध नही मिलता, अपितु प्रकारान्तर से समर्थन ही मिलता है। कहना नहीं होगा कि लेखक ने इस सम्बन्ध में नया दृष्टिकोण विद्वानों के समक्ष उपस्थित किया है जो विचारणीय और मननीय है।

"हिन्दी जैन भक्त कवियों की मधुर भावना" लेखक—श्री रंजन सूरि देव, पटना। लेखक ने उदाहरणपूर्वक बताया है कि जैन कवियों ने दाम्पत्य रति को भौतिक धरातल पर

नहीं उतारा क्योंकि जैन कवि गृहस्थ होते हुए भी आचरण में साधु ही के समान होते थे। अतः जो कुछ उन्होंने कहा वह आध्यात्मिक स्तर पर ही कहा। उन्होंने अपनी कविता को विलासिता के स्तर से परे ही रखा। उनकी दृष्टि में विलासिता या मधुर भावना ही अशांति का कारण है। फिर भी जैन कवि मधुर भावना से सर्वथा अछूते रहे ऐसा भी नहीं कहा जा सकता।

'निसीहिया या नशियां" लेखक-- श्री हीरालालजी सिद्धान्त शास्त्री, ब्यावर। भारत में बहुत से नगर एवं ग्राम ऐसे हैं जिनके बाहर जैन मंदिर बने हुए हैं जो नशियां कहलाते हैं। इन मंदिरों में पर्याप्त ऐसा स्थान होता है जहां साधु सन्त आदि रह सकें। यह नशियां शब्द कैसे बना, इसका पूर्व रूप क्या था आदि पर विचार करना ही इस लेख का विषय है। लेखक ने कई प्रमाणों और युक्तियों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि नशियां निसिहियां का ही बिगड़ा हुवा रूप है। "ऊँ जय जय जय, निस्सही निस्सही निस्सही, नमोऽस्तु नमोऽस्तु नमोऽस्तु" पाठ का जो अर्थ वर्तमान में प्रायः प्रचलित है लेखक ने उससे भी अपना विरोध प्रकट किया है और उन्होंने सयुक्तिक बतलाया है कि यह पाठ अशुद्ध है। शुद्ध पाठ 'निषीधिकायै नमोऽस्तु', अथवा 'णमोत्थु णिसीहियाए" होना चाहिये। लेखक की युक्तियां विद्वानों के लिये विचारणीय हैं।

चतुर्थ खण्ड

"Jainism as I understand." लेखक-श्री नरेन्द्रसिंह सिंघी। प्रस्तुत लेख में लेखक ने जैन धर्म में ईश्वर, जैन साधु और गृहस्थों का आचार, धर्म एवं विभिन्न देशों में रहने वाले जैनों को एकता में बांधने वाले साधनों आदि की अति संक्षिप्त जानकारी दी है जिससे जैनधर्म के मोटे २ सिद्धांतों का ज्ञान पाठक प्राप्त कर सकता है।

"Jainism in the eye of Swami Vivekanand." लेखक-श्री समरेश बंदोपाध्याय, एम. ए.। वर्तमान युग के प्रसिद्ध वेदान्ती सन्त स्वामी विवेकानन्द का जैनधर्म के सम्बन्ध में क्या विचार था, यह इस लेख के पढ़ने से ज्ञात होता है। यद्यपि जैन वेदों को प्रमाण और ईश्वरकृत नहीं मानते तथापि वे हिन्दू हैं ऐसी स्वामीजी की मान्यता थी।

"Ahimsa in Indian Thought." लेखक-डा० सुकुमार सेन। अहिंसा सिद्धांत भारतीय धर्मों का प्राण है। प्रायः सभी धर्मों ने इस पर जोर दिया है। इतना होने पर भी जैन, बौद्ध और हिन्दू इन तीन प्रमुख धर्मों के अहिंसा सम्बन्धी दृष्टिकोण में मौलिक अन्तर है। इस अन्तर को संक्षेप में स्पष्ट करना ही इस लेख का उद्देश्य है जिसमें लेखक सफल हुआ है।

"Place of Jain Philosophy in Indian Thought." लेखक-महामहोपाध्याय डा० उमेश मिश्रा। सर्वोच्च सत्य अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति के उपाय की खोज करना प्रायः सब ही भारतीय धर्मों का मूल उद्देश्य रहा है। विभिन्न ऋषि महर्षियों ने विभिन्न उपायों की खोज की है अथवा यों कहें कि उद्देश्य तो सबका एक है किन्तु उसकी प्राप्ति के मार्ग सबके भिन्न भिन्न हैं। जैनों का भी अपना एक मार्ग है। भारतीय दर्शनों में जैन धर्म की स्थिति और

महत्त्व को स्पष्ट करना ही लेख का विषय है। लेख निष्पक्ष दृष्टि से लिखा गया है और पठनीय है।

'The Bold Jaina Conception of the Nature of Reality" के लेखक डा. भक्ती भट्टाचार्य एम.ए. पी. एच. डी. हैं। सत्य का स्थापन अनुभवों की भित्ति पर होता है। कोई भी बात केवल इसलिये सत्य नहीं है कि शास्त्रों में ऐसा लिखा है अथवा परम्परा से ऐसा चला आ रहा है अपितु अनुभव से भी वह बात सत्य भासित होनी चाहिये और वह अनुभव तर्क की कसौटी पर खरा उतरना चाहिये। जैन दर्शन की इस विशेषता पर प्रकाश डालते हुए पदार्थ अनेक धर्मात्मक है, वह उत्पाद, व्यय और उभयात्मक है, परस्पर तीन और छह का विरोध रखने वाले धर्म भी एक ही पदार्थ में एक ही समय विभिन्न दृष्टि कोणों से रह सकते हैं, जैन दर्शन के इस अनेकान्त वाद का प्रतिपादन लेखक ने बड़े ही सुन्दर और रुचिपूर्ण ढंग से इस लेख में किया है। जैन दर्शन के इस वाद जो कि केवल उसकी ही धरोहर है, को समझाने में लेख पूर्णतः सक्षम है।

"The Basic Idea of God" लेखक– डा. हरीश भट्टाचार्य, एम. ए. बी. एल., पी. एच. डी.। विश्व के जितने भी वर्तमान और भूतकालिक धर्म हैं उनकी ईश्वर संबंधी मान्यता अलग अलग हैं। कोई एक ईश्वर मानता है कोई दो और कोई इससे भी अधिक, कोई ईश्वर को सृष्टि कर्ता बताता है तो कोई इसका खण्डन करता है। किन्तु वह सर्वशक्तिमान है, पूर्ण ज्ञानी है, सम्पूर्ण रूप से सुखी है और निर्भय है ईश्वर के इस स्वरूप पर सब एक मत हैं। लेखक ने ईश्वर संबंधी विभिन्न मान्यताओं का दिग्दर्शन कराते हुए बताया है कि किस प्रकार जैन ईश्वर के सर्वमान्य स्वरूप से सहमत होते हुए भी उनसे इस विषय में असहमत हैं कि वह एक है, सृष्टि कर्ता है और सुख दुख का देने वाला है। जैन प्रत्येक आत्मा में ईश्वर होने की शक्ति मानता है। चार घातिया कर्मों के नष्ट होने पर उसमें वे चारों शक्तियां आ जाती हैं जो ईश्वरत्व के आवश्यक गुण हैं। इसे ही जैनी अनन्त चतुष्टय की प्राप्ति कहते हैं।

'Omniscience, a Fiction or a Fact" लेखक– प्रोफेसर जी. आर. जैन। जैन मान्यताओं के अनुसार प्रदेश की अवगाहना शक्ति और वैज्ञानिक आदम्स और एडिंग्टन की मान्यताओं की एक रूपता, पदार्थ और उसकी शक्ति के सम्बन्ध में आईस्टीन के सिद्धान्त के साथ जैनों के बताए हुए पदार्थ के स्थूलत्व सूक्ष्मत्व आदि गुणों के साथ समता, पुद्गल की पूरयन्ति और गालयन्ति क्रिया का वर्तमान पदार्थ विज्ञान के साथ समत्व बताते हुए बताया है कि एटम बम पुद्गल की गालयन्ति क्रिया का और हाईड्रोजन बम पूरयन्ति क्रिया का उदाहरण है। परमाणु की वैद्युतिक शक्ति के सम्बंध में भी जैनियों को ज्ञान था। जैनियों के परमाणु में माने हुए स्निग्धत्व और रूक्षत्व गुण वर्तमान में वैज्ञानिकों द्वारा विद्युत में मानी हुई ऋण और धन शक्तियां ही हैं। विश्व की स्थिति, उसकी परिमिति के सम्बन्ध में जैन मान्यता और वर्तमान में वैज्ञानिक मान्यता की परिवर्तनशीलता बताते हुए प्रसिद्ध वैज्ञानिक दीपक वसु के मत का उल्लेख किया है जिसके अनुसार विज्ञान विश्व की स्थिति, निर्माण आदि के सम्बन्ध में उस ही परिणाम पर पहुंचेगा जिस पर कि जैन पहुंचे थे। जैनों के धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय के साथ वैज्ञानिकों के ईथर और फील्ड की तुलना करते हुए तर्कानुसार जैन

मान्यता का मण्डन किया है। इस प्रकार जैनों की छह मान्यताओं का वैज्ञानिक सिद्धान्तों के साथ मेल बैठाते हुए लेखक ने पाठकों से यह निर्णय मांगा है कि आज के वैज्ञानिक असंख्य धनराशि खर्च करके एवं दिन रात परिश्रम करके जिन सिद्धान्तों का निर्माण कर रहे हैं वे जैन तीर्थंकरों ने पहले ही आज से हजारों वर्ष पूर्व स्थापित कर दिये थे। ऐसी अवस्था में वे केवलज्ञानी थे या नहीं अथवा जैनों का केवलज्ञान केवल एक ढकोसला ही है? लेखक ने अपने लेख की स्वस्थ आलोचना भी आमंत्रित की है। आज वास्तव में ऐसे ही लेखों की आवश्यकता है। किन्तु खेद है कि इधर जैनों का ध्यान ही नहीं है। जैन प्रति वर्ष लाखों रुपया मेलों-ठेलों में खर्च करते हैं किन्तु अभी तक भी किसी धनी मानी का ध्यान इस ओर नहीं गया कि एक ऐसी वैज्ञानिक प्रयोग-शाला की स्थापना की जाय जहाँ प्रयोगों द्वारा जैन मान्यताओं को कसा जावे और वर्तमान वैज्ञानिक अनुसंधानों के साथ उनके साम्य और वैषम्य का पता लगाया जावे। यदि हमें विश्व में जैनधर्म का प्रचार करना है और दुनिया को यह बता देना है कि जैन धर्म पूर्ण रूप से एक वैज्ञानिक धर्म है तो हमें एक न एक दिन ऐसा करना ही होगा। यह कार्य जितना शीघ्र हो सके उतना ही हितकर है।

"Essentials of Jaina Metaphysics and Epistemology" लेखक-श्री हरिमोहन भट्टाचार्य, एम.ए. (दर्शन एवं संस्कृत)। पदार्थ विज्ञान और अध्यात्म विज्ञान का वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने के लिये केवल स्याद्वाद अथवा अनेकान्त ही सक्षम है यह लेखक ने बड़े ही तार्किक ढंग से सिद्ध किया है। जैसा कि लेखक ने स्वयं ही कहा है और हम भी उससे सहमत हैं लेखक का इस विषय के अध्ययन और मनन में पर्याप्त शक्ति और समय व्यय हुआ है।

"The Jaina Architecture-Ancient and Mediaeval" लेखक-डा० ज्योति प्रसाद जैन, एम.ए., एल.एल.बी., पी-एच.डी.। प्राच्य और मध्यकालीन जैन शिल्पकला, स्तूप, गुफा और मन्दिर आदि का अति संक्षिप्त परिचय देते हुए लेखक ने बताया है कि जैनों ने केवल निर्माण ही नहीं किया अपितु इस विषय के ग्रंथ भी लिखे। अर्थात् शिल्पकला के व्यावहारिक और भौतिक दोनों ही पक्षों को जैनों ने समृद्ध किया यह दिग्दर्शन कराना ही लेख का उद्देश्य है।

"Religious Syncretism as Revealed in the Jaina Sculpture Art of the Eastern India." लेखक-श्री डी. के. चक्रवर्ती एम.ए.। पूर्वीय भारत की जैन मूर्तिकला के उदाहरण देकर लेखक ने सिद्ध किया है कि प्राचीन समय में भारत में धार्मिक सहिष्णुता अपने चरमोत्कर्ष पर थी और विभिन्न सम्प्रदायों की मान्यताओं का प्रभाव जैन मूर्ति कला पर भी पड़ा है। लेख चिंतनपूर्ण है और अपने विषय पर पर्याप्त प्रकाश डालता है। लेखक स्वयं पश्चिम बंगाल सरकार के अधीन आर्किओलोजिकल विभाग के अध्यक्ष हैं अतः इस विषय पर उनके निष्कर्ष एक अधिकृत व्यक्ति के निष्कर्ष हैं।

'Mathura-The Centre of Jaina Art." लेखक-श्री मिहिर मोहन मुखो-पाध्याय। मथुरा से प्राप्त जैनकला अवशेषों का परिचय देते हुए लेखक ने बताया है कि

और हिन्दुओं के समान ही जैनों की भी कला के क्षेत्र में एक बहुत बड़ी देन है और जैन कला अपनी एक अलग विशेषता रखती है।

"The Early Phase of Jaina Iconography." लेखक- श्री आर. सी. शर्मा। लेखक स्टेट म्यूजियम, लखनऊ के क्यूरेटर हैं। वराहमिहर द्वारा प्रतिपादित जैन मूर्तियों की विशेषताओं का वर्णन करते हुए लेखक ने ऐतिहासिक दृष्टि से जैन मूर्तिपूजा का आविर्भाव काल खोजने का प्रयत्न किया है। वर्तमान में प्राप्य अवशेषों के अनुसार यदि लोहानीपुर पटना से प्राप्त नग्न प्रतिमा के भाग को जैन सन्यासी की प्रतिमा मानी जावे तो यह काल ईसा पूर्व द्वितीय तृतीय शताब्दी माना जा सकता है किन्तु इसका क्रमिक इतिहास ईसा की प्रथम शताब्दी से चालू होता है। डा० स्मिथ के मत का उल्लेख करते हुए लेखक ने बताया है कि मथुरा का देवनिर्मित स्तूप भारत के ज्ञात भवनों में प्राचीनतम है। जैन मूर्तिकला के विकास का अध्ययन करने वालों के लिये लेख की उपादेयता स्वीकार्य है।

'The Iconography of Sacciya Devi." लेखक-M.A. Dhaky। सच्चिया देवी ओसवाल जैनो की गृह देवता है। वे प्रत्येक शुभ कार्य के आरम्भ में उसकी पूजा करते हैं। लेखक के मतानुसार उक्त देवी की पूजा ब्राह्मण भी करते हैं। आपने हेमाचार्य के शिष्य रत्न प्रभुसूरि के कथानक पर विस्तार से दृष्टिक्षेप करते हुए सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि ओसिया, जहाँ से कि ओसवालों का निकास हुआ है, में स्थित सच्चिया देवी की मूर्ति का पूर्व रूप परिवर्तित किया हुआ है। लेखक ने कथानक के अतिरिक्त अपने मत के प्रतिपादन में शिलालेख एवं अन्य तर्क भी प्रस्तुत किये हैं। लेख गवेषणापूर्ण है किन्तु उसमें प्रस्तुत तर्क विचारणीय हैं।

"A Jaina Cameo at Chittoregarh." लेखक-श्री आहृशबनर्जी। चित्तौड़गढ़ अपने यहाँ समय समय पर हुए युद्धों और जौहर के लिये ही प्रसिद्ध नहीं है अपितु यह विभिन्न सम्प्रदायों का संगम स्थल भी रहा है। यहाँ पर स्थित शैव वैष्णव, जैन, सौर और बौद्ध मंदिर इसके प्रमाण हैं। लेख में 'शृङ्गार चँवरी" नामक जैन मन्दिर की कला और निर्माण शैली का जिसमें अब प्रतिमा नहीं है किन्तु जो कला की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है और जिसका निर्माण महाराणा कुम्भा के समय में पन्द्रहवीं शताब्दी में हुआ था, विस्तृत वर्णन है।

"An Introduction to the Iconography of Padmawati, The Jain Sasandevata" लेखक—श्री ए. के. भट्टाचार्य, एम. ए. पी. आर. एस. ए. एम. ए. (लण्डन)। पद्मावती प्रारंभ में यद्यपि २३ वें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ से संबंधित शासन देवता रही है किन्तु कालान्तर में किस प्रकार वह एक विषहारी एवं मारण उच्चाटन आदि कार्यों के लिए स्वतन्त्र देवता के रूप में पूजी जाने लगी इसका क्रमिक इतिहास तथा उसका प्राचीन नाग पूजा एवं हिन्दू देवी सरस्वती, लक्ष्मी एवं बौद्ध देवी तारा से उसका संबंध आदि विषयों पर महत्व पूर्ण प्रकाश इस लेख में डाला गया है। लेख में स्थापित तथ्य तर्कों और प्रमाणों की भित्ती पर आधारित हैं और इस विषय में रुचि रखने वाले विद्वानों के लिये वह महत्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करता है।

"Jain Art of Mathura." लेखक—डा० वी. एस. अग्रवाल। मथुरा जैन कला का केन्द्र रहा है प्रस्तुत लेख मथुरा में प्राप्त जैन कला के भग्नावशेषों पर एक संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करता है।

"The Image of Heaven in the Ceiling of the Adinath Temple at Ranakpur," लेखक—डा० Klans Fisher, Bonn. प्रस्तुत लेखमें भारत प्रसिद्ध राणकपुर के आदिनाथ जैन मंदिर को वास्तुकला, खुदाई कला आदि पर कला की दृष्टि से महत्वपूर्ण प्रकाश डाला गया है। लेख का महत्व इस कारण भी है कि वह एक विदेशी विद्वान द्वारा लिखा गया है।

"Gandhawal-A Rare Jaina Site of Malva." लेखक-श्री एस.पी. गुप्ता। मध्य प्रदेश के देवास जिले की तहसील सोनकछ में गंधावल एक छोटा सा गांव है जहां बहुमूल्य मूर्तिकला का खजाना है किन्तु अब तक यह गाँव सरकार और विद्वान् दोनों की ओर से प्रायः उपेक्षित रहा है। यहाँ प्राप्त मूर्तियां कला की दृष्टि से ग्वालियर के अन्य स्थानों में प्राप्य ९ वीं १० वीं शताब्दी की मूर्तियों से साम्य रखती हैं। प्रस्तुत लेख में वहाँ से प्राप्त कतिपय मूर्तियों की कला दृष्टि से विवेचना करते हुए सचित्र झाँकी प्रस्तुत की गई है।

"Temples of Orissa and Bundelkhand." लेखक—पद्मभूषण श्री टी. एन. रामचन्द्रन। लेख में जैसा कि शीर्षक से प्रकट है उड़ीसा और बुन्देलखण्ड के कोणार्क और खजुराहों के मंदिरों की कला की समीक्षा करते हुए नागर शैली के क्रमिक विकास पर विचार किया गया है।

"Nayanar Temple." लेखक—श्री जीवबंधु श्रीपाल। जैसा कि लेखक ने स्वयं कहा है, प्रसिद्ध ग्रंथ थिरुकुरल के लेखक की स्मृति में मद्रास. माइलापुर में स्थित एक प्राचीन जैन मंदिर का इतिहास प्रस्तुत लेख में चित्रित किया गया है। लेख खोजपूर्ण है।

"Some Thoughts on Jain Wall Paintings." लेखक-डा. एस. परमाशिवन्, एम० ए० डी० एस० सी०। प्रस्तुत लेख में सित्तनवासल के जैन मंदिर, अलौरा की गुफाओं, तरुमलई के जैन मंदिर और तीरू परुट्टी कुन्रम् के जैन मंदिर के भित्ति चित्रों का कला दृष्टि से मूलाङ्कन करते हुए उनकी दीर्घकाल तक स्थिति रह सके इसके लिए वैज्ञानिक उपायों पर विचार प्रस्तुत किया गया है। कलात्मक चित्रों को दीर्घकाल तक ठीक अवस्था में रखने की एक विकट समस्या है जिस पर आधुनिक वैज्ञानिक विचार कर रहे हैं और इटली आदि में एतद्संबंधी प्रयोग हुए हैं। लेखक की दृष्टि में इसके लिये Stripping and mounting की विधि श्रेष्ठ है। अन्य वैज्ञानिकों को इस पर विचार करना चाहिये और ऐसी विधि खोजने का प्रयत्न करना चाहिये जिससे कला की ऐसी अमूल्य निधियां काल के थपेडों से सुरक्षित रह सकें।

"Jain Mythology and Rituals." लेखक-प्रो० चिन्ताहरण चक्रवर्ती. एम. ए. काव्यतीर्थ। जैन रामायण और हिन्दू रामायण में राक्षसों वानरों आदि के संबंध में दृष्टिभेद,

रक्षाबंधन और दीवाली के प्रसिद्ध त्यौहारों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में हिन्दू और जैन कथानकों में भेद, जैनों के दैनिक षडावश्यक और हिन्दुओं के पांच महायज्ञ की समानता आदि पर संक्षिप्त चर्चा की गई है।

"The Sociological Approach of the Jain Ritualistic study......" लेखक–श्री एल० के० भारतीय, एम० ए०। "पुराण और धार्मिक साहित्य जहां उनको मानने वाली जाति विशेष में एकत्व स्थापित करते हैं वहां वे अन्य जातियों के साथ जो उस साहित्य को नहीं मानते अनैक्य भी फैलाते हैं," यह बताते हुए लेखक ने जैनों की मंत्र विद्या, मूर्ति पूजा, यज्ञोपवीत, छट्ठीपूजा, वैवाहिक संस्कार, ईश्वर संबंधी मान्यता, आदि धार्मिक और सामाजिक रीतिरिवाजों का वर्णन किया है और आगे बताया है कि इन सबसे भी महत्वपूर्ण बात जैनों की यह है कि वे चारित्र पर सर्वाधिक बल देते हैं। लेखक के विचार से आज जो जैन केवल व्यापारिक समाज के रूप में ही रह गये है उसका भी एक कारण यह है कि जैन अपनी धर्म पुस्तकों में बताये हुए आचार विचार को केवल व्यापार करते हुए ही सुरक्षित रख सकते हैं योद्धा बन कर नहीं। अन्त में यह निष्कर्ष लेखक का है कि अहिंसा और समत्व की निर्माण शक्ति तब तक फलीभूत नहीं हो सकती जब तक कि एक सम्प्रदाय विशेष की सीमा में वह कैद है क्योंकि ऐसी स्थिति में मानव मात्र उसका पालन नहीं कर सकता। लेखक के कुछ विचारों से किसी का विरोध हो सकता है किन्तु उसने जो निष्कर्ष निकाला है वह ध्यान देने योग्य है।

"Jaina Tradition Regarding Yasovarman's Lineage." लेखक–श्री डी० एस० सरकार। ७२८ से ७५३ ईस्वी तक कन्नौज पर राज्य करने वाले प्रतापी राजा यशो-वर्मन के वंश के सम्बन्ध में इतिहासकारों में मतभेद चला आरहा है। लेखक ने जैन और जैनेतर प्रमाणों से सिद्ध किया है कि वह मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त का वंशज था। लेख ऐतिहासिक महत्त्व का है।

'Simapati plates of Chahaman Prince Jayatsiha–Smvt. 1238" लेखक—श्री के० वी० सौन्दरराजन्, एम० ए० सुप०–आर्किओलोजीकल सर्वे आफ इण्डिया। राजस्थान के पाली जिले के नादोल ग्राम से लेखक को प्राप्त दो ताम्र पत्रों का विवरण प्रस्तुत लेख में है। ताम्रपत्र सम्वत् १२३८ की वैशाख ७, शनिवार का है जो २५ अप्रेल सन् ११८१ के समकक्ष है। ताम्रपत्र अनलपुरा के पार्श्वनाथ मंदिर को ४ स्थानीय व्यक्तियों द्वारा दिये गये दान से सम्बन्धित है। लेख के अन्त में दोनों ताम्र पत्रों की रोमन लिपि में नकल भी है। लेख से सीमापटी ग्राम और चौहान (चहमान) राजा जयतसिंह के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण ऐतिहासिक जानकारी प्राप्त होती है।

"Jainism in Bengal." लेखिका—श्रीमती वन्दना सरस्वती, एम० ए०। श्री रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर प्रसिद्ध ऐतिहासिक विद्वान का मत है कि बंगाल पहले आर्य क्षेत्र में नहीं था किन्तु वह जैनों के अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर और अन्य जैन विद्वानों और साधुओं द्वारा अपने धर्म के प्रचारार्थ वहां विहार करने के फलस्वरूप बाद में आर्य क्षेत्र में सम्मिलित किया गया था। विद्वान लेखिका ने ऐतिहासिक और पौराणिक प्रमाणों के आधार पर भण्डारकर के इस मत को सही प्रमाणित किया है। लेख पठनीय है।

"Cultural Heritage of Bengal in Relation to Jainism." लेखक–डा० एस० सी० मुकर्जी। जैनधर्म से सम्बन्धित जो विरासत बंगाल को मिली है उसकी महत्वपूर्ण जानकारी प्रदान कराना ही इस लेख का उद्देश्य है जिसमें लेखक पर्याप्त सीमा तक सफल हुआ है।

"Social and Cultural Glimpses from the Kuvalayamala." लेखक–प्रो० डा० ए० एन० उपाध्ये। कुवलयमाला श्री उद्योतन सूरी की प्राकृत भाषा की एक रचना है। इस रचना का महत्व इस कारण से बढ़ जाता है कि इसके अध्ययन से तत्कालीन सामाजिक और सांस्कृतिक गतिविधियों, रीति रिवाजों आदि का वर्णन मिलता है। इसके अध्ययन से कई रोचक बातों का पता चलता है। उदाहरणतः उस समय सोप्पार्य नामक नगर में व्यापारियों का एक क्लब था जहां विदेशी व्यापारी अपनी यात्रा के अनुभव व वृत्तान्त दूसरे व्यापारियों को सुनाते थे और वे इस प्रकार की जानकारी भी दूसरों को प्रदान करते थे कि विभिन्न स्थानों पर क्या क्या वस्तुएं प्राप्य हैं और कौन वस्तु किस जगह अधिक मूल्य पर बेची जा सकती है जैसे :— पलास के फूलों की एवज स्वर्ण द्वीप से सोना मिल सकता था। नीम की पत्तियां बेच कर रत्न द्वीप से रत्न प्राप्त किये जा सकते थे। आदि।

"Jainism in Kongunadu." लेखक–श्री वी० एन० श्रीनिवास एम०ए०, वी० ए० (आनर्स)। इस में दक्षिण के कोंगूनाडू प्रदेश से संबंधित जैन इतिहास की महत्वपूर्ण सामग्री की चर्चा करते हुए यह सिद्ध किया गया है कि कोंगूनाडू जो कि वर्तमान कोयम्बटूर जिले का ही एक भाग है ईस्वी सन् से तीन शताब्दी पूर्व भी जैन धर्म का एक महत्वपूर्ण केन्द्र स्थल था। इतिहास के विद्वानों के लिये लेख महत्वपूर्ण जानकारी प्रदान करता है।

'A Note on Jainism in Orissa." लेखक–श्री K.S. Behira। लेखक उत्कल यूनिवर्सिटी के इतिहास विभाग की स्नातकोत्तर कक्षाओं के व्याख्याता हैं अतः उनके निष्कर्ष एक अधिकृत व्यक्ति के निष्कर्ष हैं। लेखक के मतानुसार उड़ीसा में जैन धर्म का अस्तित्व भगवान् महावीर से भी पहले कमसे कम ईसा से आठ शताब्दी पूर्व तक था और वहां इस धर्म को कई बार उत्थान और पतन का सामना करना पड़ा तथा जैन धर्म की उड़ीसा को धर्म, कला, भवन निर्माण, भाषा और साहित्य के क्षेत्र में बड़ी महत्वपूर्ण देन है।

"The Electro Magnetic Field in Man." लेखक–श्री ज्ञानचन्द जैन, एम० ए०। जैन सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक सांसारिक प्राणी के भौतिक शरीर के अतिरिक्त तैजस और कार्माण ये दो शरीर और होते हैं। कार्माण शरीर में आकर्षण शक्ति होती है जो अपने कार्यों से भावी जीवन के लिये पुद्गलों का आकर्षण करता रहता है और तैजस शरीर का कार्य जीवन शक्ति प्रदान करना है। लेख में डा० कासवीवाल के मत की आलोचना करते हुए वर्तमान वैज्ञानिक आधार पर जैन धर्म के इस सिद्धान्त की पुष्टि की है। लेख वैज्ञानिक महत्व का है और वैज्ञानिकों को शोध के लिये एक नई दिशा प्रदान करता है। ऐसे लेखों से पता चलता है कि जैनधर्म के सिद्धान्त कितने वैज्ञानिक हैं।

"Growth and Development of Urban life in Rajasthan." लेखक– डा० कैलाशचन्द जैन, एम. ए. पी. एच. डी. डी. लिट्। राजस्थान में नागरिक जीवन के विकास-क्रम का अध्ययन करते हुए लेखक ने बताया है कि राजस्थान के विभिन्न नगरों के नामकरण के आधार भिन्न भिन्न हैं। जैसे चित्तौड़, विशालपुर, अजमेर आदि का नाम उन नगरों की स्थापना करने वाले राजाओं के नाम पर है। आमेर शाकम्भरी आदि नगर किसी देवी अथवा देवता के मंदिरों के चारों ओर बस गए और उनका नाम करण उस देवी अथवा देवता के नाम पर ही होगया। माण्डव्यपुर (मण्डौर) और वशिष्ठपुर आदि ग्राम वहां रहने वाले सन्तों के नाम से हैं। कुछ नगर जातियों के नाम से भी हैं—जैसे भीलमाल, (भीलों का), नागौर (नागों का), तक्षकगढ़ (तक्षकों का) आदि। कुछ नगरों के प्रारम्भिक नाम अपभ्रंश में थे किन्तु बाद में विद्वानों ने उन्हें संस्कृत रूप दे दिया। यद्यपि लेख केवल राजस्थान के नगरों को दृष्टि में रख कर ही लिखा गया है किन्तु हमारा विश्वास है कि जो कारण लेखक ने राजस्थान के ग्रामों के नामकरण के संबंध में गिनाए हैं वे सारे भारत के नगरों के संबंध में पूर्णतः लागू होते हैं।

"Salient Common Features between Jainism and Buddhism" लेखक-- डा० बी० एच० कापडिया। श्री कापडिया सरदार वल्लभ भाई विद्यापीठ में संस्कृत के रीडर हैं। जैसा कि लेख के शीर्षक से विदित है जैन और बौद्ध धर्मों के सिद्धान्त और आचार विचार में जो साम्य है उसका सविस्तार परिचय इसमें है।

"Gujarati Society and the Jainas." लेखक-- डा० एम. आर. मजूमदार एम० ए० पी. एच. डी., एम० ए० एल० एल० बी०। योग्य व्यापारी, वित्तीय बुद्धि के धनी, मुद्रा विनिमय में उनका नेतृत्व, मध्यकाल, लोककथाओं में व्यापारी राजा, विदेशी व्यापारियों के साथ उनका व्यवहार, धार्मिक सहिष्णुता और समानता, गुजरात में महाजनों का प्रभाव, धनी, गरीब और मध्यम वर्ग, उनका साहित्य और संगीत, गुजरात की उन्नति में जैन धर्म का योगदान, आदि शीर्षकों के अन्तर्गत गुजराती समाज का अध्ययन करते हुए लेखक ने बताया है गुजराती प्रधानतः आर्थिक दृष्टिकोण वाले, विशाल हृदय वाले और पड़ौसियों से मेलजोल रखने वाले होते हैं। यही कारण है कि गुजराती सभ्यता ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्यों की सभ्यता न होकर भारतीय सभ्यता है और भारतीय होते हुए भी उसमें विश्वमैत्री के गुण हैं।

"Some Forms of the Obligatory Participle in Prakrit." लेखक–श्री L. A. Schwrizschild, Australia। एक विदेशी विद्वान् द्वारा लिखे गये इस लेख में प्राकृत भाषा में विधिवाचक कृदन्त शब्दों के विकास पर महत्वपूर्ण शोध सामग्री प्रस्तुत की गई है जो स्तुत्य और स्पृहणीय है।

"Jaina Arungalam in Tamil Literature." लेखक--श्री के. जी. कृष्णन्, एम० ए०, सुप. फार ईपीग्राफी ऊटकमाण्ड। मद्रास के उत्तरी अर्काट जिले के वान्दीवास तालुके के सियामंगलम् ग्राम के स्थम्भेश्वर मंदिर से उत्तर पश्चिम की तरफ दो फर्लांग दूर एक शिलालेख है। जैनों में अरुंगलान्वय भी एक अन्वय है। लेखक की कल्पना अनुसार गुण-

सागर के शिष्य अमित सागर जिन्होंने तामिल भाषा के दो महत्वपूर्ण ग्रंथों की (यप्प रुंगलम् और यप्पमंगलकारिकै) रचना की वे इसी अन्वय के थे। लेखक की युक्तियां अन्य विद्वानों के लिये विचारणीय हैं।

"Jaina Philosophy of Nonabsolutism and Omniscience." लेखक—प्रोफेसर रामजीसिंह। लेखक भागलपुर यूनिवर्सिटी में दर्शन विभाग के प्रोफेसर हैं। लेखक ने बड़े ही विद्वत्तापूर्ण ढंग से स्याद्वाद और सर्वज्ञता में भेद बताते हुए वेदान्तियों के उच्चतर और निम्नतर ज्ञान से तुलना करते हुए बताया है कि यद्यपि बहुत सी बातों में दोनो सिद्धान्तों में साम्य है किन्तु एक बहुत बड़ा मतभेद भी है। लेख बड़े परिश्रम से लिखा गया है और इस विषय पर जैनदर्शन और वेदान्तदर्शन के तुलनात्मक अध्ययन के लिये पर्याप्त सामग्री प्रस्तुत करता है।

"An Analysis of the Contents of the Kalkacharya Kathanak." लेखक-डा० बी० एन० मुकर्जी। लेखक ने कालकाचार्य कथानक की ऐतिहासिक दृष्टि से विवेचना करते हुए स्थापना की है कि उसमें वर्णित लोअर इण्डस के पश्चिमी किनारे पर शक बस्ती का अस्तित्व, उस प्रान्त पर पार्थियन्स का अधिकार और सुराष्ट्र में शकों की हलचल तो ऐतिहासिक तथ्य माने जा सकते है किन्तु सुराष्ट्र में शकों की हलचल से जैनाचार्य कालक का कोई सम्बन्ध था या नहीं यह संदिग्ध है। विद्वानों को लेखक की इस स्थापना पर गम्भीरता से विचारना चाहिये।

"The Conception of Dravyas in Jain Philosophy." लेखक-डा० कमलचंद सौगाणी। लेखक उदयपुर यूनिवर्सिटी में दर्शन विषय के व्याख्याता हैं। जैन दर्शन में जो जीवादि ६ द्रव्य माने गये हैं उन पर उन्होंने जैन दृष्टिकोण से गहन चिंतन कर अपने विचार प्रस्तुत किये हैं।

"The Nasal's Influence upon the Neighbouring Syllables." लेखक-डा० एस. एन. घोषाल, व्याख्याता कलकत्ता यूनिवर्सिटी। अनुनासिक वर्ण का अपने समीपस्थ वर्ण के उच्चारण पर क्या प्रभाव पड़ता है इस पर सोदाहरण विस्तार से विचार करते हुए जेकोबी के मत की समीक्षा की गई है, जो तर्कपूर्ण है।

"The Spirit of Jaina Prayaschitta." लेखक-श्री Colette Caillat पेरिस। इस लेख द्वारा जैनों में प्रायश्चित की जो प्रवृत्ति है और उसके पीछे जो मूल भावना है उससे यह ठीक ही अनुमानित किया गया है कि जैन प्रारम्भ से ही अपने दोषों की ओर दृष्टिपात करके उनको दूर करने के लिये और आध्यात्मिक उन्नति के लिये प्रयत्नशील रहे हैं। वास्तव में प्रायश्चित के मूल में अपराधी को दण्ड देने की भावना उतनी नहीं है जितनी कि अपने अपराध को स्वीकार कर भविष्य में उसे न दुहराने की।

"On the Jaina School of Mathematics." लेखक-श्री एल० सी० जैन। लेखक गवर्नमेंट कालेज सीहोर में गणित विभाग के प्रोफेसर और हैड़ हैं। जैन गणित के सम्बन्ध में बड़े परिश्रम से लिखा गया यह लेख बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। पीथागोरीय गणित और

जैन गणित के तुलनात्मक अध्ययन से यह निष्कर्ष सहज ही निकाला जा सकता है कि जैन पीथागोरस के गणित सिद्धान्त से परिचित थे अथवा सम्भव है पीथागोरस ने यह ज्ञान जैनों से ही लिया हो। भगवान् महावीर और पीथागोरस के काल में बहुत कम अन्तर है। लेखक के अनुसार या तो दोनों समकालीन थे या महावीर पीथागोरस से कुछ ही पहले हुए थे। कुछ भी हो लेख गणित विषय में बड़े ही रोचक तथ्य उपस्थित करता है और गणित विषयक अनुसंधित्सुओं के लिये बड़े काम का है।

अन्त में दो शब्द ग्रन्थ की छपाई आदि के बारे में भी कहना है। छपाई करते समय कहीं कहीं कुछ टाइप टूट जाने से कई स्थानों पर वे अक्षर छपने में नहीं आए हैं। अंग्रेजी के कुछ लेखों में चिन्हित टाइप की प्रेस में कमी हो जाने से कहीं कहीं वे टाइप ही नहीं लगाये जा सके हैं और साधारण टाइप लगा कर ही वहाँ काम चलाया गया है। विशेषकर 'The Nasal's Influence upon the Neighbouring syllables' में ऐसा हुआ है। कई लेखों की टाइप कापियों में spelling की पर्याप्त अशुद्धियाँ थीं जिन्हें ठीक करने पर भी कुछ अशुद्धियाँ रह ही गई हैं। प्रूफ पढ़ने में असावधानी के कारण भी कुछ अशुद्धियाँ रही हैं। समयाभाव से और ग्रन्थ शीघ्र पाठकों के हाथ पहुंच सके इस विचार से क्योंकि पहले ही पर्याप्त विलम्ब हो चुका है, ग्रन्थ के साथ शुद्धि-पत्र नहीं लगाया जा सका है। इस सबके लिये हम पाठकों से क्षमाप्रार्थी हैं।

जयपुर
३१ अक्टूबर, १९६७

—चैनसुखदास

बाबू छोटेलाल जैन स्मृतिग्रंथ





व्यक्तित्व
कृतित्व, संस्मरण
एवं श्रद्धांजलियां

णमो अरिहंताणं

णमो सिद्धाणं

णमो आइरियाणं

णमो उवज्झायाणं

णमो लोएसव्वसाहूणं

ऐसे उपकारी जीवन को श्रद्धा सहित प्रणाम

ले० कल्याण कुमार जैन 'शशि' रामपुर

दिया राष्ट्र सेवाओं में, अर्जित, बहुचर्चित योग ।
दिया सतत् साहित्योन्नति में हितकारी सहयोग ।
ओझल रखा दृष्टि से, फल की इच्छा का विनियोग ।
गौण समझते रहे स्वयम् का, शारीरिक सुख-भोग ।

अपने श्रम से दिया निरंतर औरों को विश्राम ।
ऐसे उपकारी जीवन को श्रद्धा सहित प्रणाम ।

कोटि कोटि विपदाओं में भी दिखे नहीं भयभीत ।
कर्मठता से भरा पुरा, सहकारी रहा अतीत ।
स्वार्थ रहित सक्रिय जीवन से, बनता प्राण पुनीत ।
हित चिन्तन के दृष्टि कोण से, जीवन किया व्यतीत ।

करते रहे समस्याओं से, जीवन भर संग्राम ।
ऐसे उपकारी जीवन को, श्रद्धा सहित प्रणाम ।

हर सुधार आन्दोलन में, नित रहा प्रमुखतर हाथ ।
बढ़ते रहे सदा सक्रिय पग, नई प्रगति के साथ ।
शुभाचरण के पालन में, दीखे नित उन्नत माथ ।
यहां अनेकों भटके जीवन, बनते रहे सनाथ ।

जीवन वह है जोकि अकारण आये सबके काम ।
ऐसे उपकारी जीवन को, श्रद्धा सहित प्रणाम ।

बढ़ा प्रयत्नों द्वारा इनके पुरातत्व का मान ।
पुरातत्व ही संस्कृतियों का उज्ज्वल गौरव-गान ।
शोध कार्य में किया इस तरह अपना योग प्रदान ।
जिसके द्वारा बढ़ा रुका पग नूतन अनुसन्धान ।

जीवन वह जो आदर्शों पर बढ़े नित्य अविराम ।
ऐसे उपकारी जीवन को श्रद्धा सहित प्रणाम ।

उदारमना श्री बाबू छोटेलाल जी जैन

ले० वंशीधर शास्त्री

१९६६ का जनवरी मास भारतीय इतिहास में अशुभ माह समझा जावेगा। जिसमें डा० भाभा जैसे महान अणु वैज्ञानिक एवं श्री लाल बहादुर जी शास्त्री जैसे प्रधानमंत्री आकस्मिक मृत्यु के शिकार बने। इनकी क्षति पूर्ति होना निकट भविष्य में संभव नहीं लगता। यह माह जैन समाज के लिए भी विशेष तौर पर अशुभ रहा जिसमें २६ जनवरी को प्रातः श्री छोटेलाल जी जैन जैसे पुरातत्व संस्कृति के प्रेमी एवं निर्भीक कार्यकर्ता का देहावासन हो गया।

उन जैसे विविध प्रवृत्तियों में लीन व्यक्ति की जीवन गाथा आने वाली पीढ़ी के लिए हमेशा प्रेरणा स्पद रहेगी। वे वास्तव में महान थे। वे व्यापार व्यवसाय में व्यस्त रहते हुए भी पुरातत्व, शिक्षा, साहित्य, संस्कृति, समाज सुधार संगठन तथा अभावग्रस्त एवं पीड़ित मानवों की सेवा आदि में अपना महत्वपूर्ण योगदान देते रहते थे।

श्री छोटे लाल जी जैन का परिचित वर्ग उन्हें "बाबू जी," "जैन जी," "सरावगीजी" आदि नामों से पुकारता है, किन्तु इन नामों में उनका 'बाबू जी' नाम ही अधिक प्रचलित है।

आपके पूर्वज राजस्थान के फतहपुर (सीकर-जयपुर) से आए थे। आपके पिता श्री रामजीवन दास सरावगी कलकत्ता जैन समाज के प्रतिष्ठित व्यक्तियों में से थे। वे दीन दुखियों की गुप्त रीति से सहायता करते थे। वे मन्दिर जी में प्रातः और सायं नियमित रूप से शास्त्र सभा में उपस्थित रहते थे। उन्होंने हमेशा सादा जीवन और उच्च विचार को अपना मूल मंत्र रखा। कलकत्ता जैसे बड़े शहर में रहते हुए भी साबुन और बर्फ जैसी वस्तुओं का भी उन्होंने उपयोग नहीं किया, अन्य वस्तुओं की तो बात ही क्या। वे बाजार में बनी हुई चीज कभी नहीं खाते थे, चाहे भयंकर गर्मी ही क्यों न हो पानी भी बाजार में न पीकर घर में ही आकर पीते थे।

आप प्रारम्भ से ही बोरा के व्यापार में लगे, जहां आपने अपने बुद्धि कौशल से धन कमाने के साथ-साथ अपने सहज निर्मल व्यवहार से प्रतिष्ठा भी अर्जित की। उस समय बोरा बाजार में अंग्रेज, मारवाड़ी, गुजराती, नाखुदा तथा बंगाली आदि विभिन्न जातियों के व्यापारी थे, किन्तु वे सब उनको अत्यन्त सम्मान देते थे। उनकी जैन समाज में भी बहुत प्रतिष्ठा थी, वे कई दिगम्बर जैन मन्दिरों के ट्रस्टी थे। वे आवश्यकता पड़ने पर अपने प्राणों की परवाह न करते हुए मन्दिरों की रक्षा में तत्पर रहते थे। एक बार हिन्दू-मुस्लिम दंगे के समय नया मन्दिर की स्थिति बहुत भयावह हो गई थी, वहां भय के कारण कोई भी नहीं जाना चाहता था; किन्तु वे सब के मना करने पर भी वहां गये और मन्दिर की सुरक्षा की पूर्ण व्यवस्था करके ही लौटे। इस पर भी जैनी भाई वहां पूजन प्रक्षाल के लिए जाने में डरने लगे तब श्री रामजीवनदास जी स्वयं अपने दोनों पुत्रों को लेकर वहां गए जिनमें श्री छोटेलाल जी भी थे। वहां पूजन प्रक्षाल की समुचित व्यवस्था करवाई।

कलकत्ता जैन समाज के प्रमुख व्यक्ति होने के कारण उनका भारत के प्रमुख जैन बंधुओं से परिचय था। वे संस्थाओं के पैसे को निजी काम के लिए कभी उपयोग में नहीं लाते थे। यहां तक कि मन्दि के कोष से अपने रुपये खुदरा कराना भी पा समझते थे।

ऐसे आदर्श, सात्त्विक वृत्ति वाले श्री रामजीवनदास जी के शिखर चन्द, फूलचन्द, गुलजारी लाल, दीनानाथ, छोटेलाल, नन्दलाल, लालचन्द और दुलीचन्द (जिनका १७ वर्ष की अवस्था में ही देहावसान हो गया था) नामक ८ पुत्र तथा रतन बाई एवं नानीबाई नामक दो पुत्रियां हुईं। इस प्रकार अपने सहोदरों में श्री छोटेलाल जी का ५ वां स्थान था।

अब इन दस भाई बहनों में श्री नन्दलाल जी एवं दो बहनें ही जीवित हैं।

बाबू जी का जन्म ७० वर्ष पूर्व १९ फरवरी सन् १८९६ तदनुसार फाल्गुन शुक्ला २ वि० सं० १९५२ को हुआ था। आप बचपन से ही अपने पिता जी के अधिक सम्पर्क में रहे थे। पिता जी के पास आने वाले व्यापारियों एवं विद्वानों की चर्चा आप रुचिपूर्वक सुना करते थे एवं कभी कभी आप चर्चा में भाग भी लेते थे। इन सबका परिणाम यह हुआ कि बाबू जी प्रारम्भ से ही सार्वजनिक व सामाजिक क्षेत्र में अभिरुचि लेने लगे। इस अभिरुचि ने ही इन्हें मूक सेवक बनने की प्रेरणा दी।

आपकी प्रारम्भिक शिक्षा स्थानीय दिगम्बर जैन पाठशाला में हुई। यहां पं० कलाधर जी ने आप को अक्षराभ्यास कराया। आपके साथ ही कलकत्ता के सुप्रसिद्ध पं जयदेव जी भी पढ़ते थे। आपने मैट्रिक परीक्षा श्री विशुद्धानन्द सरस्वती विद्यालय से पास की। तत्पश्चात् कालेज में पढ़ना जारी किया, किन्तु कुछ विशेष कारणों से आप अध्ययन छोड़कर व्यापार में लग गये।

आपका विवाह १४-१५ वर्ष की अल्पायु में ही सेठ खेतसीदास जी अग्रवाल की सुपुत्री मूंगा बाई से हुआ था। आप की धर्म पत्नी हमेशा पतिभक्ति को सर्वोच्चस्थान देती रहीं। बाबू जी के यहां प्रायः अतिथियों का नियमित रूप से आगमन होता रहता था। आप उनकी सेवा में उत्साह पूर्वक लगी रहती थीं। आप १९३९ ई० में बीमार हुईं। यह बीमारी धीरे-धीरे बढ़ती गयी। अनेकानेक उपचार किये गए किन्तु सफलता नहीं मिली। अन्त में १९-८-४० को वह काल-कवलित हो गईं।

बाबू जी १४-१५ वर्ष की उम्र से ही सामाजिक कार्यों में रुचि लेने लगे थे। वे कलकत्ता के सुप्रसिद्ध रथयात्रा की व्यवस्था हेतु स्वयंसेवक के रूप में भाग लेते थे। जिस समय का उपयोग धनिकों के पुत्र प्रायः खेल कूद, सिनेमा, नाटक आदि में व्यतीत कर दिया करते हैं उसी समय का उपयोग बाबू जी समाज हित में करते थे। आपने व्यवसाय से सन् १९५२ के दिसम्बर में ही निवृत्तिलेली थी। तबसे आप अपना पूर्ण समय साहित्य, पुरातत्व एवं समाज सेवा में देने लगे। जब किसी असहाय व्यक्ति के बीमार होने का समाचार मिलता तो बाबू जी के पिताश्री स्वयं जाकर उसकी सेवा सुश्रुषा की व्यवस्था करते थे, वे अपने अन्य पुत्रों के साथ बाबू जी को भी रोगी के पास ले जाते थे। आप की निस्वार्थ सेवा से रोगी अपनी बीमारी के सारे दुख भूल जाता था। आप बीमार के मल-मूत्रादि साफ करने में भी नहीं हिचकते थे।

स्वर्गीय कुमार देवेन्द्र प्रसाद जी से बाबू जी का घनिष्ट सम्बन्ध था। कुमारजी जब भी कलकत्ता आते थे इन्हीं के यहां ठहरते थे। वे एक बार इनके घर पर आकर बीमार पड़ गये। उनका ज्वर बढ़ता ही गया, जो अन्त में भयंकर चेचक के रूप में परिवर्तित हो गया। उनके सारे शरीर पर चेचक के दाग हो गए। बाबू जी व उनके भाइयों ने उनकी चिकित्सा विशेषज्ञों से कराई। किन्तु इस चिकित्सा से भी बढ कर बाबू जी ने उनकी जो परिचर्या की वह चिरस्मरणीय रहेगी। बाबू जी उनको लेटे-लेटे ही पाखाना और पेशाब करवा कर अपने हाथों फेंकते रहे और वैद्यों द्वारा रोग को घोर संक्रामक बताने पर भी उनकी सेवा वे ही नहीं उनके सारे भाई भी करते रहे। आरा से कुमार जी के माता



स्व० श्रीमती मूंगाबाई, धर्मपत्नी बाबू छोटेलाल जी

जी, मामा जी आदि परिजन भी आ गये। इन भाइयों की निस्वार्थ सेवा वृत्ति से वे बहुत ही प्रभावित हुए। अंतिम दिन उनके मामा के सुपुत्र भी आ गए। जब वे कुमार साहब से मिलने कमरे के भीतर जाने लगे तो बदबू के मारे उनका जी घबरा गया और वे उनके शरीर की भयंकर स्थिति देख कर बाहर ही रह गए तथा उनसे मिले भी नहीं। ऐसी परिस्थिति में भी बाबू जी उनकी अथक परिचर्या यथावत करते रहे।

इसी प्रकार बिहार भूषण, दयानिधि, राय-बहादुर बाबू सखीचन्द्र जी की भी, हैजा होने पर, पांच दिन तक बाबू जी अनवरत सेवा करते रहे। इन्होंने उनकी विष्ठा, पेशाब आदि साफ करने में भी संकोच नहीं किया।

इस प्रकार की परिचर्या बाबू जी केवल सम्बन्धी या परिचित की ही करते हों, ऐसा नहीं था। सन् १९१८ दिसम्बर में कलकत्ता में हुए इन्फ्लूएन्जा के समय बड़ा बाजार में गरीबों को ढूंढ़ २ कर बाबू जी उनकी चिकित्सा, पथ्य आदि की व्यवस्था करवाते थे। उन्होंने कलकत्ता कारपोरेशन से लिखा पढ़ी कर एक चिकित्सक की व्यवस्था कराई। इस प्रकार रोगाक्रांत मानवों की सेवा में आप एक माह तक लगे रहे।

आप प्रारम्भ से ही सेठ पद्मराज जी रानी वालों के सम्पर्क में आए। उनके पिता सेठ फूलचन्द जी से आपके पिता जी का घनिष्ठ सम्बन्ध था, इसलिए आपका उनके यहाँ बराबर आना जाना बना रहता था। आप उनकी समाज सुधार एवं राजनैतिक विचारधारा से बहुत प्रभावित थे। सिद्धांत भवन आरा के बाबू करोड़ीचन्द जी कलकत्ता आते रहते थे। वे रानी वालों के यहां ठहरते थे अतः बाबू जी का भी उनसे परिचय हुआ जो आगे चलकर घनिष्ठता में परिवर्तित हो गया। आपमें पुरातत्त्व एवं साहित्य के प्रति रुचि जागृत करते में श्री करोड़ीचन्द जी का बहुत बड़ा हाथ था। यह रुचि आपके जीवन का मुख्य अंग बन गई।

आप कलकत्ता—जैन समाज की ही नहीं अपितु बाहर की अनेक सार्वजनिक संस्थाओं में भी सक्रिय भाग लेते रहे थे जिनमें से कुछ का संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है :—

१—वे स्थानीय महावीर दि० जैन विद्यालय के २५-३० वर्ष तक मन्त्री रहे। आप अपने कार्य-काल में बच्चों की धार्मिक शिक्षा एवं संस्कारों पर विशेष जोर देते थे। जैन बच्चों के लिए धार्मिक विषय में सफल होना अनिवार्य रखते थे, जिनका परिणाम हुआ कि उस काल के विद्यालयों के विद्यार्थियों में धार्मिक रुचि अधिक थी।

२—अपने पिता श्री के ट्रस्टी होने के कारण आप भी प्रारम्भ ही से दिगम्बर जैन मन्दिरों की व्यवस्था आदि में सक्रिय भाग लेते रहे। जीवन के अन्त तक वे दिगम्बर जैन मन्दिरों एवं रथ यात्रा कमेटी के ट्रस्टी रहे।

३—आपने जैन भवन के निर्माण में प्रमुख भाग लिया।

४—वे अहिंसा प्रचार समिति के संस्थापकों में से थे एवं उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सक्रिय भाग लेते रहे।

५—कलकत्ता में सन् १९४४ में वीर शासन जयन्ती महोत्सव विशाल स्तर पर मनाया गया। उस समय वीर शासन संघ एवं विद्वत् परिषद् की स्थापना आप ही के प्रयत्नों से हुई थी।

६—आप कलकत्ता में श्वेताम्बर व दिगम्बर समाजों को संयुक्त रूप से महावीर जयन्ती मनाने के पक्ष में प्रारम्भ से ही रहे। आप जैन समाज के सभी सम्प्रदायों में ऐक्य चाहते थे। जैसे आप दिगम्बर समाज में प्रिय एवं सम्मानित थे वैसे ही श्वेताम्बर समाज में भी थे। आप जैन समाज की एकता की प्रतीक जैन सभा कलकत्ता में कार्य करते रहे। आप

१९४७-४८ में इसके सभापति चुने गए थे। आपके कार्य काल में सभा की ओर से राजगृह में औषधालय की स्थापना की गई। इसी वर्ष में सभा की ओर से महावीर जयन्ती उत्सव मनाया गया जिसमें जैन एवं जैनेतर समाजों के उच्च कोटि के विद्वान् सम्मिलित हुए थे। उसके बाद से सभा की कार्य समिति में आप बराबर रहे। आपने सदैव जैन समाज की सभी शाखाओं की एकता पर बल दिया।

७—श्री दिगम्बर जैन युवक समिति कलकत्ता की एक महत्त्वपूर्ण संस्था है। इसकी स्थापना एवं प्रारम्भिक कार्यो में बाबू जी का विशेष हाथ रहा है। इस समिति की ओर से महावीर पुस्तकालय संचालित होता है, उसमें आपने अपनी संग्रहीत बहुमूल्य पुस्तकें दी थी। समिति की ओर से सन् १९२१ में जैन विजय नामक पत्र प्रकाशित हुआ था, उसमें आप सहायक संपादक नियुक्त किए गए थे। सन् १९२२ में बाढ़ पीड़ितों की सहायता के लिए जो चन्दा हुआ उसके लिए भी आपने प्रयत्न किया था।

८—सन् १९१७ में सेठ पद्मराजजी रानी वालों एवं बाबू जी के प्रयत्नों से जैन समाज की एकता व उन्नति के लिए श्री महावीर जैन समिति की स्थापना की गई, जिसके सभापति उक्त रानी वाले एवं मन्त्री बाबू जी थे। समिति की ओर से मासिक सभा आयोजित करने तथा विशेषतः स्त्रियों में विद्या का प्रचार करने आदि का तय किया गया। समिति की ओर से १९१७ में जैन धर्म भूषण स्वर्गीय ब्र० शीतलप्रसाद जी के सभापतित्व में भारत जैन महामन्डल का अधिवेशन हुआ, जिसमें प्रायः सभी प्रान्तों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया था। समिति की ओर से कांग्रेस अधिवेशन के समय २७-१२-१७ को All India Jain Association व Political Jain Conference का भी आयोजन किया गया था, जिसमें लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक व देशपूज्य दादासाहब खापर्डे भी सम्मिलित हुए थे। दादा साहब खापर्डे जैन पोलिटिकल कान्फ्रेंस के सभापति थे। लोकमान्य तिलक ने कहा था कि "स्वराज्य आन्दोलन के साथ ही मेरा दूसरा कार्य पण्डित अर्जुनलाल जी सेठी को छुड़ाना होगा।"

समिति १९१७ में कांग्रेस द्वारा Affiliated हो गई थी और उस को प्रतिनिधि भेजने का अधिकार मिल गया था। बाबू जी भी अनेक वर्षो तक कांग्रेस के प्रतिनिधि नियुक्त होते रहे थे।

९—बंगाल, बिहार एवं उड़ीसा दिगम्बर जैन तीर्थ क्षेत्र कमेटी के अनेक वर्षों तक मन्त्री रहे। बिहार प्रान्तीय दिगम्बर जैन तीर्थ क्षेत्र कमेटी की एवं अखिल भारतीय दि० जैन तीर्थ क्षेत्र कमेटी की प्रबन्धकारिणियों में अनेक वर्षों तक वे सम्मानित सदस्य के रूप में रहे थे।

१०—आपने खण्डगिरि, उदयगिरि का इतिहास समाज के सामने रखा। भ० महावीर के फूफा जितारी का निर्वाण स्थल सिद्ध कर इसे सिद्धक्षेत्र घोषित किया। इस क्षेत्र को प्रसिद्धि में लाने का श्रेय आपको ही है।

११—आप कलकत्ता के गनी ट्रेड एसोसिएशन के स्थापनाकाल (सन् १९२५) से ही सक्रिय कार्यकर्त्ता रहे। आप ३२ वर्ष तक इसकी कार्य कारिणी समिति के सदस्य रहे। दस वर्ष तक अवैतनिक संयुक्त मंत्री के पद को सुशोभित करते रहे। तीन वर्ष तक आप एसोसिएशन के उप-प्रधान एवं दो वर्ष तक प्रधान पद पर भी आसीन रहे। अपनी निष्पक्षता के आधार पर आपने जो ख्याति प्राप्त कर ली थी, उसके कारण आपका निर्णय सहर्ष स्वीकार होता था। आपके मंत्रित्व काल में एसोसिएशन को व्यापारिक कार्यो के अतिरिक्त जन-कल्याण की ओर भी प्रवृत्त किया गया, जिसमें लगभग पांच लाख रुपए खर्च किए गए। आप इस एसोसिएशन की ओर से अनेक व्यापारिक संस्थाओं के प्रतिनिधि भी रहे थे।

१२—आप जैन संस्कृति की सुरक्षा एवं उत्थान के लिए हमेशा अग्रसर रहते थे। आप पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार की लेखनी से प्रभावित हुए। उनके कार्यो के प्रकाशन आदि के लिए हजारों रुपये दान में देते रहते थे। वीर सेवा मन्दिर को सरसावा जैसी छोटी जगह से लाकर देहली जैसे केन्द्रीय स्थान में लाने का श्रेय आप ही को है। आपने स्वयं व औरों से हजारों रुपया दिला कर इस संस्था को स्थायित्व प्रदान किया। मन्दिर का अपना भवन बना जो आने वाली पीढ़ियों के लिए प्रेरणा स्रोत एवं जैन इतिहास व संस्कृति के विद्यार्थियों के लिए महत्त्वपूर्ण केन्द्र सिद्ध होगा। आपने इस संस्था की ओर से प्रकाशित "अनेकांत" पत्र को महत्त्वपूर्ण सहयोग दिया। आप अपनी रुग्णावस्था में भी इस पत्र के लिए चिंतित रहते थे एवं इसे समय पर निकालने की आवश्यक व्यवस्था भी करते थे। लेखादि के लिए विद्वानों को प्रेरित करते थे।

१३—साहू शांतिप्रसाद जी ने साहित्यिक विकास उन्नयन एवं सांस्कृतिक अनुसंधान तथा प्रकाशन के उद्देश्य से सन् १९४४ में भारतीय ज्ञानपीठ की स्थापना की। इसकी स्थापा की प्रेरणाना में भी बाबूजी का प्रमुख हाथ था। आप इसके ट्रस्टी एवं संचालन समिति के सदस्य थे। आप इसके जैन प्रकाशनों के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण सुझाव देते रहते थे। स्वर्गीय पं० नाथूराम जी प्रेमी के अनुरोध पर आपने ही माणिकचन्द्र ग्रंथ माला का कार्य भार ज्ञानपीठ को स्वीकार करने की प्रेरणा दी थी।

१४—आप स्वामी सत्य भक्तजी एवं ब्र० शीतल प्रसाद जी से बहुत प्रभावित थे। आप ने सत्य भक्त जी के आश्रम के संचालन एवं साहित्य प्रकाशन के लिए हजारों रुपया दान दिया था। आप शीतल प्रसाद जी की धर्मप्रचार-भावना एवं साहित्य-सृजन की अथक वृत्ति से बहुत प्रभावित थे। आप उन्हें हर प्रकार का सहयोग देते रहते थे।

१५—आप जैन संस्कृति के पुरातत्व विभाग से प्रेम रखते थे, इसलिए पुरातन जैन सामग्री की खोज में विभिन्न स्थानों पर जाते रहते थे। आप वहाँ से सामग्री भी एकत्रित करते थे। आप के पास पुरातत्व की दुर्लभ सामग्री के अनेक बहुमूल्य चित्र थे जिनमें से कुछ को विस्तृत करा कर स्थानीय बेलगछिया उपवन के हाल में सर्व साधारण के प्रदर्शनार्थ रख दिया गया है। आप की इच्छा पूरे हाल में ऐसे चित्र लगाने की थी जिससे कि दर्शनार्थी जैन संस्कृति के प्राचीन गौरव से परिचित हो सकें। किन्तु खेद है कि अपनी अस्वस्थता के कारण आपके जीवन काल में उनकी यह इच्छा पूर्ण न हो सकी। आप के पास २५००-३००० के लगभग बहुमूल्य पुस्तकें थीं। आपका पुरातत्व के अनेक विशेषज्ञों एवं अधिकारियों से घनिष्ट संपर्क था। आप यथावसर जैन पुरातत्व पर लेख भी लिखते थे। आपने कलकत्ता के जैन मन्दिरों की मूर्तियों और यंत्रों के लेखों को भी पुस्तकाकार प्रकाशित कराया था। आपने जैन बिबियोलोजी का प्रथम भाग प्रकाशित कराया था। आप दूसरा भाग तैयार कर रहे थे जो लगभग प्रायः पूर्ण हो चुका था किन्तु आपकी निरंतर बीमारी के कारण वह उनके जीवन काल में प्रकाशित नहीं हो सका। आशा है वह अब प्रकाशित हो सकेगी।

आप का विद्वानों के प्रति अपार प्रेम-भाव रहता था। आप युवकों के प्रति असीम स्नेह रखते थे। उनके पथ प्रदर्शन एवं सहायता के लिए आप सब कुछ करने को तैयार रहते थे। इन पंक्तियों के लेखक ने गत १० वर्षों में उनसे जो असीम स्नेह पाया उसका वर्णन नहीं किया जा सकता।

आप रायल एसियाटिक सोसाइटी के सम्मानित सदस्य थे। आप इसके प्रतिनिधि के रूप में हिस्ट्री कांग्रेस में भी कई बार गए थे। आप कु० चन्दाबाई जी के जैन-बाल-विश्राम आरा से भी सम्बन्धित रहे हैं। आप वहां की व्यवस्था, शिक्षा आदि से बहुत प्रभावित थे। किसी भी कन्या की पढ़ाई का जिक्र

आने पर आप उसे आरा भिजवाने का परामर्श देते थे।

आप आल इण्डिया ह्यूमैनिटेरियन लीग आगरा की प्रवन्ध कारिणी कमेटी के उपसभापति व सदस्य अनेक वर्षों तक थे।

अपराधियों की देखभाल कर उन्हें सुमार्ग पर लाने वाली Bengal Aftercare Association कमेटी के आप सक्रिय सदस्य थे। इस संस्था के प्रधान संरक्षक भारत के राष्ट्रपति थे एवं बंगाल के अनेक मुख्याधिकारी इसके सदस्य रहते थे।

आप सन् ४३ में भारतीय जैन परिषद् कलकत्ता के मन्त्री चुने गए थे। इस संस्था का मुख्य उद्देश्य जैन साहित्य और संस्कृति का प्रचार व प्रसार करना था। इसके तत्त्वावधान में अनेक विद्वानों के साप्ताहिक, मासिक सभाओं में भाषण होते थे, जिन्हें आप प्रकाशित भी कराते थे। Jain System of Education और Theory of Non-Absolusion नामक संग्रह प्रकाशित किए गए थे।

आप आल इण्डिया दिगम्बर जैन परिषद की प्रबन्ध कारिणी समिति के सदस्य रहे एवं आल इण्डिया म्यूजिक कान्फ्रेंस, कलकत्ता के उपसभापति रहे।

आप Indian Association of Mental Hygiene के १९४४ से ४७ तक कोषाध्यक्ष तथा १९३९ में इन्डियन रिसर्च इन्स्टीट्यूट के सदस्य रहे।

आप सन् ५० से ५७ तक प्राकृत टेक्सट सोसायटी के सदस्य रहे। इस संस्था के संरक्षक डा० राजेन्द्रप्रसाद जी थे। उन्होंने इस संस्था के लिए बहुत प्रयत्न किये थे। इस संस्था का कार्य करते हुए बाबू जी राजेन्द्र बाबू के सम्पर्क में आए। आप कलकत्ता की मारवाड़ी रिलीफ सोसाइटी, पिंजरापोल सोसाइटी आदि अनेक सर्व हितकारी संस्थाओं के सदस्य रहे। कलकत्ता दि० जैन समाज की प्रायः सभी संस्थाओं के महत्वपूर्ण आयोजनों में आपका योगदान किसी न किसी रूप में अवश्य रहता था।

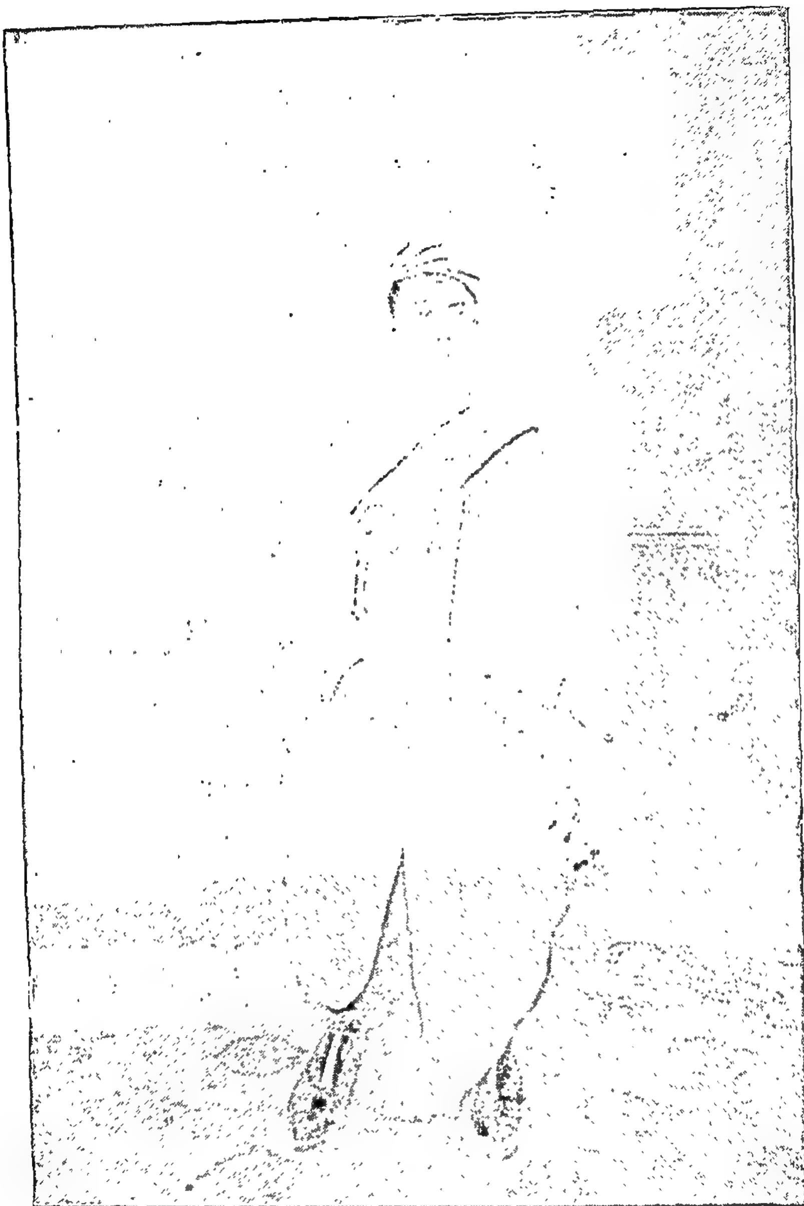
आपने जैन समाज की अनेक समस्याओं को सुलझाने में सहयोग दिया। बयाना (भरतपुर-राजस्थान) में रथ यात्रा का हिन्दू समाज द्वारा विरोध होने पर आपने डटकर उसका सामना किया एवं हिन्दू सभा के नेताओं से मिलकर स्थिति को सुधारने एवं जैन समाज को शांतिपूर्वक रथ यात्रा निकलवाने में अपना योग दान दिया। आपने अप्रामाणिक जैन ग्रन्थों का विरोध किया था। आप विदेश यात्रा एवं विजातीय विवाह आदि के पक्ष में थे। जब जब पुरातन पंथियों द्वारा इनका विरोध किया गया, आपने शांतिपूर्ण ढंग से प्रतिरोध किया। अब तो विरोध करने वाले स्वयं इन कार्यों का समर्थन करने लगे हैं। इस प्रकार आप जीवनभर जैन समाज की सेवा करते रहे।

श्री दिगम्बर जैन प्रान्तिक सभा बम्बई के मुख पत्र जैन मित्र के हीरक जयन्ती उत्सव का २ अप्रेल ६० को आपने उद्‌घाटन किया था।

आपने अपने उद्‌घाटन भाषण में जैन मित्र का इतिहास संक्षिप्त में प्रस्तुत कर दिया था।

श्री जैन सिद्धात भवन आरा के २८-१२-६३ को हुए हीरक जयन्ती महोत्सव के आप स्वागताध्यक्ष थे। इस अवसर पर जैन साहित्य एवं पुरातत्व के सेवकों को जो सिद्धान्ताचार्य की उपाधि देकर सम्मानित किया गया था, उसकी मूल प्रेरणा में आपका भी हाथ था।

१७—आपके पुरातत्व विशेषज्ञों यथा—डा० वी० सी० छाबड़ा M.A.M.O.2 श्री एच० एल० श्रीवास्तव, पण्डित माधोस्वरूप वत्स, अशोक कुमार भट्टाचार्य, श्री शिवराम मूर्ति, श्री टी० एन० रामचन्द्रन आदि से बहुत मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध थे। ये सब पुरातत्व विभाग में उच्च पदों पर आसीन थे। इन



बाबू छोटेलाल जी

(नवम्बर सन् १९१३, श्री नन्दलाल जी के विवाह में, छपरा में)

सब के जरिये आप जैन सामग्री प्राप्त करने के लिए हमेशा प्रयत्नशील रहते थे। आपकी पुरातत्व की अभिरुचि एवं सेवाओं के सम्मानार्थ भारत सरकार ने आपको सन् १९५२ में पुरातत्त्व विभाग का अवैतनिक Correspondent बनाया था।

आपने जैन युवकों को पुरातत्त्व की ओर अभिरुचि लेने के लिए प्रेरित किया था। एक बार सन् १९२३ में आपने हजारों पत्र लिख कर जैन पंचायतों को हस्तलिखित जैन ग्रन्थों की सूची तैयार करने की प्रेरणा दी थी।

१८–आप देश-विदेश के जैन-अजैन विद्वानों को जैन साहित्य एवं संस्कृति सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण सामग्री देते रहते थे एवं उन्हें जैन विषयों को प्रकाश में लाने के लिए प्रेरित भी करते रहते थे। डा० विन्टर निट्ज, डा० ग्लासिनव, श्री आर डी० वनर्जी, राय वहादुर आर० पी० वनर्जी, श्री एन० जी० वनर्जी० श्री एन० जी० मजुमदार, श्री के० एन० दीक्षित, अमूल्यचन्द्र विद्याभूषण, डा० विभूतिभूषण दत्त, डा० ए० आर० वनर्जी, डा० ए० आर० भट्टाचार्य, डा० कालिदास नाग आदि अनेक विद्वान जैन विषयों पर आपसे जानकारी प्राप्त करते रहे।

आपका जैन विद्वानों से तो वहुत ही निकट का सम्वन्ध रहता था। आप उनकी सेवा एवं सम्मान का कोई अवसर हाथ से नहीं जाने देते थे। आपका पं० नाथूराम जी प्रेमी, पण्डित जुगलकिशोर जी मुख्तार ब्र० शीतलप्रसाद जी, वैरिस्टर चम्पत राय जी, पण्डित महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य, डा० हीरालाल जी जैन, डा० ए० एन० उपाध्याय, प्रो० चक्रवर्ती, पण्डित कैलाशचन्द जी, पण्डित चैनसुख दास जी न्यायतीर्थ आदि से नियमित एवं मधुर सम्पर्क रहता था।

वावू जी जहाँ पुरातत्त्व, संस्कृति और शिक्षा के प्रेमी थे वहाँ दीन दुखियों के दुखों से जल्दी ही द्रवित हो जाते थे। धनी होते हुए भी वे उनके दुखों और अभावों की अनुभूति अन्तः करण से करते थे इसलिये हमेशा उनके दुखों को दूर करने के लिए तन, मन, धन से तत्पर रहते थे।

वावूजी ने स्वयं बंगाल के प्रसिद्ध ४२-४३ के अकाल में पीड़ित अभावग्रस्त गरीबों की सहायता की। वे गनी ट्रेड एसोसियेशन की तरफ से मारवाड़ी रिलीफ सोसाइटी के तत्वावधान में बंगाल के नोआखाली काण्ड के समय हिन्दूओं की सहायतार्थ वहाँ गए थे। वहाँ महीनों रह कर असहाय अल्प संख्यकों की हर प्रकार से सहायता करते रहे। वे निर्भीक होकर मुसलमानी मुहल्लों व गांवों में पहुँच जाते थे एवं असहाय और लीगी नादिरशाही के शिकार अल्प-संख्यकों की सहायता एवं रक्षा कर के कृतकृत्य होते थे।

आप जैसे दीन दुखी सेवकों के कारण जैन समाज ही नहीं अपितु प्रत्येक भारतीय का सिर गौरव से ऊँचा हो उठता है। ऐसे निःस्वार्थ सेवक की याद हमेशा बनी रहेगी।

लक्षाधिक दान देकर भी आप अपनी विज्ञापनबाजी से हमेशा दूर रहे। आप हमेशा कृत्य को प्रधानता देते थे, नाम की कभी चिन्ता नहीं करते थे। आपने दान कभी प्रचार की भावना से नहीं दिया था क्योंकि आप मानते थे कि 'परिग्रह पाप है' उस पाप का प्रायश्चित दान है किन्तु यह दान ख्याति लाभ पूजा के लिये नहीं होना चाहिए। प्रायश्चित की दृष्टि अपने पाप का संशोधन अथवा अपराध का परिमार्जन करके आत्म शुद्धि करने की ओर होती है।

आप अनेक संस्थाओं में विभिन्न पदों पर रहे। आपका सभी प्रकार के वर्गों से नियमित सम्पर्क रहता था किन्तु आपने स्वाभिमान को हमेशा प्रमुखता दी। किसी धनी या वड़े आदमी के सामने कभी नहीं झुके, इन्हें ठकुर सुहाती कहना या सुनना पसन्द नहीं था, किन्तु साथ ही योग्य पात्रों के

स्वागत के लिए वे तन, मन, धन से तैयार रहते थे।

आप स्पष्टवादिता में भी अपूर्व थे। आपका चाहे कोई कितना ही निकट का क्यों न हो, आप उसके दोष देखने पर उसे कहने में नहीं हिचकते थे। अपने मतभेद को प्रकट करने में संकोच नहीं करते थे, इसी कारण कई व्यक्ति इनसे सन्तुष्ट नहीं रह पाते थे। ये अपने विरोधी को भी आवश्यकता पड़ने पर सहयोग देने में आनाकानी नहीं करते थे।

आप प्रेमी जी एवं मुख्तार सा० जैसे परीक्षा प्रधानी साहित्यान्वेषियों के मंतव्यों से परिचित थे इसलिए आप प्रत्येक क्रिया की भूमिका, आधार का पूरा अध्ययन कर ही उसकी विधेयता या अविधेयता स्वीकार करते थे। आप कभी गलतरूढ़ि को स्वीकार नहीं करते थे। जो भी रूढ़ि या अंधश्रद्धा जनित मूर्खतापूर्ण कार्य करता उसका आप विरोध करते थे। आप कभी दूसरों की प्रसन्नता की खातिर अपने सिद्धांत की बलि नहीं करते थे। आपने जैन समाज के सुधारकों की यथा संभव सहायता कर सुधार का मार्ग प्रशस्त किया था।

आप नवयुवकों का हमेशा पथ प्रदर्शन करते थे। किसी भी नवयुवक को सुमार्ग में लगाने, उसे व्यवसाय साधन जुटाने में हमेशा सहायता करते थे। आप विद्यार्थियों एवं विद्वानों को अध्ययन की प्रेरणा देते रहते थे। वे स्वयं रुग्णावस्था में भी थोड़ी सी शांति होने पर अध्ययन में लग जाते थे। आपने कितने ही व्यक्तियों को नव-साहित्य सृजन की प्रेरणा दी और उनकी रचनाओं के प्रकाशन में भी सहयोग दिया।

आपको जैन संस्कृति के संरक्षण एवं विकास की हमेशा चिन्तायनी रहती थी। आप विद्वानों नेताओं एवं समाज के कार्यकर्त्ताओं से अपनी चिंता व्यक्त करते रहते थे। इसके लिए उन्होंने अपने ढंग से अनेक कार्य किए। आप पुरातत्त्व सामग्री का स्लाइडलेम्प से प्रदर्शन भी यथावसर करते थे। आपने कलकत्ता, देहली आदि केन्द्रीय स्थानों पर जैन कला एवं संस्कृति की प्रदर्शनियां भी लगाई थी जिसकी सभी ने मुक्त कंठ से प्रशंसा की थी।

ऐसे निर्भीक समाज सेवी का अभिनंदन करने की योजना चल ही रही थी कि कराल काल ने उन्हें हमेशा के लिए छीन लिया। वे हमेशा अभिनन्दन का विरोध करते रहते थे। उन्होंने कहा कि हमने जो कुछ भी किया था सेवा व कर्त्तव्य समझ कर किया था उसके लिए सम्मान या अभिनन्दन कैसा? ऐसे मूक सेवक, निरभिमानी दानी, उदारमना बाबूजी को अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करना अपना परम कर्तव्य समझता हूँ।

गत नवम्बर-दिसम्बर माह में आप विशेष रूप से पीड़ित रहे। दिसम्बर के द्वितीय सप्ताह में स्थानीय मारवाड़ी रिलीफ सोसाइटी के अस्पताल में आप को भर्ती कराया गया था। आप इतनी भयंकर बीमारी में भी सांस्कृतिक व साहित्य की चर्चा में रुचि लेते थे। आपने इस रुग्णशय्या पर रहते हुए भी वीर शासन संघ की ओर से प्रकाशित होने वाली जैन निबंध रत्नावली का प्रकाशकीय वक्तव्य लिखवाया जो आपका अंतिम वक्तव्य कहा जा सकता है।

इस रुग्ण शय्या पर ही आपने श्री अगरचन्द जी नाहटा के निबंधों को प्रकाशित करने की योजना बनाई थी।

प्रेरणादीप बा० छोटेलालजी

डॉ० ज्योति प्रसाद जैन
एम.ए., एल.एल.बी., पी.एच डी., लखनऊ

कलकत्ता निवासी आदरणीय बाबू छोटेलाल जी जैन अखिल भारतवर्षीय जैन समाज के तो एक अमूल्य रत्न थे ही, वे सम्पूर्ण राष्ट्र के भी एक प्रतिष्ठित नागरिक एवं महान सेवाभावी सज्जन थे। मेरा सम्पर्क श्रद्धेय पं० जुगल किशोरजी मुख्तार तथा उनके वीर सेवा मन्दिर सरसावा एवं अनेकान्त मासिक पत्र के साथ लगभग तीस वर्ष पूर्व हुआ और इन्हीं के द्वारा शनैः शनै बाबूजी के साथ भी परोक्ष सम्पर्क स्थापित होने लगा। मुख्तार साहब की प्रेरणा और बाबूजी के सत्प्रयत्नों एवं अदम्य उत्साह से १९४४ में राजगृह के पुनीत विपुलाचल पर्वत पर वीर शासन का सार्द्ध-द्वि सहस्त्राब्दी महोत्सव बड़ी धूमधाम से मनाया गया और उसी अवसर पर वीर शासन संघ की स्थापना हुई। यह मात्र एक संस्था न थी वरन् इसके पीछे ए॰ महत्त्वपूर्ण योजना थी जिसके लिये बाबूजी ने बड़े प्रयत्नपूर्वक लगभग दस लाख रुपयों की सहायता के वचन विभिन्न धर्म प्रेमी श्रीमानों से प्राप्त कर लिये। संघ का केन्द्र कलकत्ता महानगरी निश्चित हुई और उसका कार्य प्रारम्भ करने के लिये उपयुक्त व्यक्ति की खोज होने लगी। अन्ततः श्रद्धेय मुख्तार साहब के परामर्श से बाबूजी ने इस कार्य के लिये मुझे चुना। विद्याव्यसन तो था ही, संस्कृति सेवा की भी आकांक्षा थी और कुछ यौवनावस्था का उत्साह था, अस्तु किंचित ऊहापोह के उपरान्त मैंने स्वीकृति दे दी और सन् १९४५ के अक्तूबर मास में एक दिन में हावड़ा स्टेशन आ पहुंचा। ट्रेन से उतरते ही टोपी, बन्द गले के कोट और धोती में एक शान्त भव्य मूर्ति के दर्शन हुए। मैंने बाबूजी को पहले कभी नहीं देखा था, न उन्होंने ही मुझे देखा था, तथापि एक ने दूसरे को सहसा पहिचान लिया-मात्र दो शब्द 'ज्योतिप्रसादजी है ?' उन्होंने कहे और साक्षात् परिचय हो गया। स्टेशन से बाहर निकलकर अपनी गाड़ी में लेकर जैन भवन पहुँचे, मेरे ठहरने आदि की व्यवस्था की और चले गये। फिर तो नित्य उनसे भेंट होती, घंटों विचार विनिमय भी होता उनके स्वयं के निवास स्थान पर भी, व्यावसायिक दफ्तर और जैन भवन के मेरे कमरे में भी। एक-डेढ़ मास में वहाँ उनके सर्वथा निकट आत्मीय की भाँति ही रहा। अपने साथ वे मुझे अपने सहयोगियों यथा-स्व० बाबू निर्मल कुमार जी, स्व० सेठ बलदेवदासजी सरावगी, आदि से मिलाने के लिये भी जब तब ले जाते। शीघ्र ही कार्तिक महोत्सव का अवसर था जिसे देखने के लिये बंगाल के तत्कालीन अंग्रेज गवर्नर तथा अन्य उच्च पदाधिकारी आमन्त्रित किये गये थे। बाबूजी की प्रेरणा पर मैंने उक्त महोत्सव की एक छोटी सी सचित्र विवरणिका अंग्रेजी में तैयार की, जो मुद्रित होकर विशिष्ट आमन्त्रित अजैन एवं विदेशी दर्शकों में वितरित हुई।

बाबूजी का स्वास्थ्य उस समय भी अच्छा नहीं रहता था। महोत्सव के कुछ ही दिनों बाद कलकत्ता में भयंकर दंगा हुआ और उस दंगे के बीच ही मुख्तार साहब भी वहाँ जा पहुँचे। उनके आगमन का उद्देश्य भी संघ की व्यवस्था के सम्बन्ध में सन्तोष प्राप्त करना था। उस दंगे के समय गोलियों की बौछार से बचते हुए मुख्तार साहब को स्टेशन लिवा लाने के लिये जाने का रोमांचक प्रसंग यहाँ वर्णन नहीं करूँगा। अनेक कारणों से वीर शासन संघ का कार्य

प्रारम्भ नहीं हो पा रहा था। मुख्तार साहब असन्तुष्ट होकर चले आये। मैं दस पांच दिन और वहीं रहा और तदनन्तर लखनऊ वापस चला आया।

किन्तु उस प्रवास में बाबू छोटेलाल जी को जितना निकट से देखने व समझने का अवसर मिला उतना फिर नहीं मिला। मुझे तो यही लगा कि इस भद्र पुरुष में मनस्विता है, समाजहित और संस्कृति संरक्षण की उत्कट लगन है, उपयुक्त योजनायें बनाने और उनका ॐ नमः करने की निपुणता है, दूसरों में उत्साह फूंकने और प्रेरणा देने की भी क्षमता है, किन्तु कुछ अपनी स्थायी अस्वस्थता एवं तज्जन्य मानसिक उद्विग्नता के कारण तथा बहुत कुछ सहयोगियों एवं मित्रों की उपेक्षा एवं ढील से शीघ्र ही असन्तुष्ट हो जाने की प्रवृत्ति के कारण उनकी अनेक महत्वपूर्ण योजनायें कार्यान्वित न हो सकीं। आशा और निराशा के बीच उन्हें बहुत झूलना पड़ा तथापि अपनी शक्ति, समय और प्रभाव का उपयोग वे यथाशक्य समाज और संस्कृति के हित में निरन्तर करते ही रहे।

उक्त कलकत्ता प्रवास के पश्चात् बाबूजी से पत्र-व्यवहार चलता रहा। कभी-कभी वे किंचित् रुष्ट और असन्तुष्ट भी प्रतीत हुए-विशेषकर प्रारम्भ में, उक्त योजना के सफल न हो पाने के कारण, किन्तु दो तीन वर्ष बाद से फिर उनका स्नेह एवं सद्भाव पूर्व की अपेक्षा भी कुछ अधिक अनुभूत हुआ। सन् १९६३ के दिसम्बर में जैन सिद्धान्त भवन आरा की हीरक जयन्ती के अवसर पर उनसे फिर साक्षात्कार एवं वार्तालाप हुआ जिसने उनके सौजन्य एवं स्नेह भाव की मधुर छाप नये सिरे से हृदय पर छोड़ी।

बाबू छोटेलाल जी जैसे विद्वत्प्रेमी, संस्कृति प्रभावक एवं समाजसेवी, धर्म और देश के बन्धु के प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ।

विणएण विप्पहूणस्स हवदि सिक्खा णिरत्थिया सव्वा।
विणओ सिक्खाए फलं विणयफलं सव्वकल्लाणं॥

विनय रहित मनुष्य की सारी शिक्षा निरर्थक है। विनय शिक्षा का फल है और विनय के फल सारे कल्याण हैं।

ज्ञान का महत्त्व

णाणुज्जोवो जोवो णाणुज्जोवस्स णत्थि पडिघादो।
दीवेइ खेत्तमप्पं सूरो णाणं जगमसेसं॥

ज्ञान का उद्योत ही सच्चा उद्योत है; क्योंकि उसके उद्योत की कहीं रुकावट नहीं है। सूरज भी उसकी समता नहीं कर सकता क्योंकि वह अल्पक्षेत्र को प्रकाशित करता है, किन्तु ज्ञान सम्पूर्ण जगत को।

बाबू छोटेलाल जी : मूक साधक

डॉ० प्रेमसागर जैन
अध्यक्ष : हिन्दी विभाग, दि० जैन कॉलिज, बड़ौत

आज से वर्षों-पूर्व की बात है। जर्मनी के प्रसिद्ध विद्वान डॉ० विण्टरनित्स कलकत्ता विश्वविद्यालय में ठहरे थे। उस समय 'हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर' की रचना का कार्य चल रहा था। एक दिन कलकत्ता का एक युवा जैन उनसे मिलने आया। उसने बातचीत के सिलसिले में ओजस्विता-पूर्वक कहा कि भारतीय इतिहास के प्रत्येक पहलू में जैनों का महत्त्वपूर्ण योगदान है, उस पर लिखे बिना आपका यह ग्रन्थ अधूरा ही रहेगा। डॉक्टर साहब ने उसी तेजी के साथ उत्तर दिया कि जैन लोग अपने साहित्य को छिपाये रहते हैं, दिखाते नहीं, उस पर हम कैसे लिख सकते हैं। नौजवान कुछ क्षण मौन खड़ा रहा, फिर एक सप्ताह बाद मिलने का वायदा कर शीघ्रता से चला गया। यथा समय वह लौटा, उसके हाथ में कागजों का एक बण्डल था। डॉ० विण्टरनित्स की ओर फेंकते हुए उसने कहा कि इस आधार पर आप अपने इतिहास का 'जैन खण्ड' पूरा कर सकेंगे, और ओठों पर मुस्कान लिये विदा हो गया। डॉक्टर महोदय आश्चर्यान्वित हो उसे देखते रहे। आश्वस्त हो बण्डल उठाया। 'हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर' के तीसरे खण्ड का जैनधर्म-सम्बन्धी विभाग, जिसमें लगभग २५० पृष्ठ हैं, अनेक पौर्वात्य और पाश्चात्य विद्वानों ने पढ़ा है। मेरी दृष्टि में जैन साहित्य का वैसा इतिहास कोई जैन विद्वान नहीं लिख सका। वह अपने में पूरा प्रामाणिक और अनूठा है। आज डॉ० विण्टरनित्स को समूचा विश्व जानता है, किन्तु उस नौजवान को कोई नहीं, जिसने वह सामग्री संजोयी थी। उसका नाम था बाबू छोटेलाल जैन। आज कौन जानता है कि इसके पश्चात् डॉ० ग्लासिनव, श्री आर० डी० बनर्जी, रायबहादुर आर० पी० चन्द्रा, श्री एन० सी० मजूमदार, डॉ० ए० आर० भट्टाचार्य, डॉ० एस० आर० बनर्जी और अमूल्यचन्द्र विद्याभूषण आदि के जैन साहित्य और पुरातत्त्व सम्बन्धी अनुष्ठान में बाबू छोटेलाल जी ने महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। उन्होंने अपनी सहायता का उल्लेख तक नहीं किया। नाम के पीछे मतवाला आज का विद्वज्जगत, उनकी इस मौन साधना का सही आकलन कर सके, ऐसा मैं चाहता हूँ।

आज से ४० वर्ष पूर्व के कलकत्ता के निवासी एक ऐसे युवा व्यापारी से परिचित थे, जो दिन-रात वहाँ की 'पब्लिक लायब्रेरी' में पड़ा रहता था। उसने शतशः नहीं सहस्रशः ग्रन्थ और पत्र-पत्रिकाओं को लौटा-पलटा। उनसे जैन साहित्य, इतिहास और पुरातत्त्व-परक उद्धरण संकलित किये। उन्हें व्यवस्थित और सम्पादित किया। उनका एक अंश जैन बिब्लियोग्राफी के पहले खण्ड में प्रकाशित हो चुका है। विश्व के ख्याति-प्राप्त विद्वानों ने इस पुस्तक की प्रशंसा की है। रायल एशियाटिक सोसाइटी की एक बैठक में अनेक विद्वानों ने इसके दूसरे खण्ड के शीघ्र प्रकाश में आने का आग्रह किया था। दूसरा खण्ड भी रफ पेपर्स पर लिखा पड़ा है, उसको व्यवस्थित करना-भर है। किन्तु बाबू जी के अत्यधिक अस्वास्थ्य के कारण यह कार्य पूरा नहीं हो सका। एक ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता है, जो यह काम कर सके। कोई आँग्लभाषा का जानकार जैन निष्ठावान व्यक्ति अभी तक प्राप्त नहीं हुआ। काश, ऐसा हो सके। बाबू जी का यह जैन-संकलन-कार्य इतना महत्त्वपूर्ण है कि उसे उनकी जीवन-

साधना कहें तो अनुपयुक्त न होगा। इसके लिए उन्हें बड़े-बड़े मूल्य चुकाने पड़े हैं। उनमें पत्नी का दिवावसान और व्यापार की क्षति मुख्य है। घर वालों का रोष भी अपना एक स्थान रखता है। उस दिन वीर-सेवा-मन्दिर, दिल्ली के एक कक्ष में, मैंने उन्हें अपनी पत्नी की अन्तिम अस्वस्थ दशा की स्मृति में हिलते देखा था। वर्षों-पूर्व का एक दृश्य उनकी आँखों में बार-बार तरल हो उठता था। उन्होंने कहा कि जैन बिब्लियोग्राफी के कार्य में मैं इतना संलग्न रहता था कि अपनी पत्नी के स्वास्थ्य पर ठीक ध्यान न दे पाया। उस मानवी ने इसकी एक क्षण को भी शिकायत न की। मरते समय भी उसने यह ही चाहा कि मेरी साधना पूरी हो और मैं आनन्द तथा सुख का अनुभव कर सकूँ। भारतीय नारी की यह प्रतिमा और किस देश में उपलब्ध होगी। यदि बाबूजी उसके ध्यान में द्रवित हो उठते थे तो यह उनका मानवीय रूप ही था। यदि कोई साधक मानव नहीं तो उसकी साधना पक्षाघात से प्रपीड़ित रहेगी। जैनधर्म इसी कारण मानव को मोक्ष पाने के योग्य मानता है और किसी को नहीं। साहित्य साधना के मूल गुण भी मानव की मूल वृत्तियों से ही सम्बद्ध हैं। 'ब्रह्मानन्द' और 'ब्रह्मानन्द सहोदर' एक ही आधार पर टिके हैं। दोनों का मूल एक ही है। बाबूजी ने उसे समझा और अनुभव किया था।

भारतीय पुरातत्त्व विश्व का एक मूल्यवान अध्याय है। अनेक विदेशी पुरातत्त्वज्ञों ने उसे समीप से देखा और परखा है। वे उसकी प्रशंसा करने से अपने को रोक नहीं सके। उनका मत है कि यदि उसमें से जैन खण्ड पृथक कर दें तो उसका महत्त्व अधूरा रह जायगा। बाबू छोटेलाल जी जैन पुरातत्त्व के प्रिय विद्यार्थी थे। अन्त तक उनके प्रति उनकी जिज्ञासा सतत जागृत रही इसीलिए विद्यार्थी शब्द का प्रयोग किया, अन्यथा मैंने अपनी आँखों से भारत के सर्वोत्कृष्ट पुरातत्त्वज्ञों को उनकी पाद-वन्दना करते देखा है! अभी उस दिन मैं उनके साथ दिल्ली के नेशनल म्यूजियम में चला गया। उसकी इमारत दिल्ली की शान के अनुरूप ही है। अनेक मूर्ति और स्तम्भों को पार करते हम एक कक्ष में पहुँचे। नितांत सादगी देखी वहाँ और एक बड़ी मेज के सामने कुर्सी पर बैठे सादा मानव के दर्शन किये। खद्दर के कपड़े, बाल उड़ते हुए, भाल पर आड़ा तिलक, कुछ स्थूल शरीर। हम लोगों को देखते ही उनका शरीर अविलम्ब हिला और उन्होंने बाबूजी के चरणस्पर्श किये। परिचय के उपरान्त विदित हुआ कि वे ही वे शिवराम मूर्ति हैं, जिनके पुरातात्त्विक निबन्ध 'एनसाइक्लोपिडिया ऑव वर्ल्ड आर्कियोलाजी' में प्रकाशित हुए हैं। दुनियाँ के चोटी के विद्वानों ने उन्हें पुनः-पुनः पढ़ा है। मैं आश्चर्य-चकित था। जैन चैत्यों के सम्बन्ध में कुछ पुरातात्त्विक जानकारी बढ़ाने गया था वहाँ। जो कुछ जाना वह मेरे आगामी निबन्ध में प्रकाशित होगा। दो घण्टे वहाँ रहा, अभिभूत-सा, एक विनीत विद्यार्थी-सा। भारतीय ज्ञान का वह प्रकाश स्तम्भ कितना अनूठा और विस्मयकारी था। उनकी यह विनम्र स्वीकारोक्ति उनके सरल हृदय की प्रतीक ही थी कि बाबूजी (छोटेलालजी) के ठोस ज्ञान से बहुत कुछ सीख कर ही मैं इस दिशा में आगे बढ़ सका हूँ। तो फिर समीप बैठा दुबला पतला व्यक्तित्व मेरे हृदय में प्रेरणा-पुञ्ज-सा समाहित हो उठा। बाबूजी किसी म्यूजियम के क्यूरेटर नहीं बने; किन्तु न जाने कितने क्यूरेटर्स उनके आशीर्वाद के अभिलाषी रहे हैं। इसे शायद बहुत से लोग न जानते हों।

इसी भाँति भारत के प्रसिद्ध पुरातत्त्वज्ञ टी० रामचन्द्र बाबूजी के प्रति श्रद्धा ही नहीं, भक्ति-भाव संजोये रहते हैं। मैंने उन्हें दिल्ली में बाबूजी को सदैव श्रद्धानवत हो प्रणाम करते देखा है। टी० रामचन्द्र, एक जंचता हुआ व्यक्तित्व, शोध-खोजों में तपा-निखरा साधक दिख कर कौन प्रभावित न हो। प्रतिभा और परिश्रम की सजीव कहानी हैं वे।

भारतीय धरा ऐसे नर रत्न सदैव उगलती रही है। ऐसे ही लोगों को प्राचीन युग में मन्त्र-द्रष्टा कहा जाता था। उनके जैन विषयों से सम्बन्धित निबन्ध यदि एक ओर अनुसन्धान-परक हैं तो दूसरी ओर निष्पक्ष हृदय के द्योतक। वे बाबू छोटेलालजी को उच्चकोटि का पुरातत्त्वज्ञ मानते थे। बम्बई के नेशनल म्यूजियम के चीफ क्यूरेटर डॉ० मोतीचन्द्र तो यदि दिल्ली या कलकत्ता आयें और वहाँ बाबू छोटेलालजी हों तो उनसे अवश्य मिलते थे। डॉ० मोतीचन्द्र ने अनेक ग्रन्थों की रचना की है। हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय बम्बई से प्रकाशित उनका 'शृंगार हाट' एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। प्राचीन पाषाणों में सजा यह 'शृंगार हाट' भारतीय संस्कृति के मध्यरात्रि के बाजारों की कहानी है। साहित्य और पुरातत्त्व का ऐसा अनूठा समन्वय अन्यत्र देखने को नहीं मिलता। डॉ० मोतीचन्द्र भी साहित्य और पुरातत्त्व के समन्वित रूप हैं, साथ-ही-साथ मानव प्रवृत्तियों के पारखी। उनकी श्रद्धा सस्ती नहीं हो सकती। जिसके प्रति सँजोयेंगे, वह उनकी कसौटी पर पहले ही खरा उतर चुका होगा। बाबू छोटेलालजी उनके श्रद्धास्पद थे।

बाबूजी को जैन पुरातत्त्व का असीम ज्ञान था। कुछ वर्ष पहले दिल्ली में एक विशाल जैन म्यूजियम स्थापित करने का आयोजन किया गया। भारत के राष्ट्रपति के पद पर आसीन होते ही डॉ० राधाकृष्णन से उसके उद्घाटन की बात भी सोच ली गई। भारतीय पुरातत्त्व के एक विशेषज्ञ, जिन्हें डायरेक्टर के रूप में नियुक्त किया था, राजस्थान और मध्यप्रदेश से जैन पुरातात्त्विक सामग्री ले आये। उस सामग्री से सजे भवन का निरीक्षण करने पहुँचे बाबू छोटेलालजी। मैंने देखा कि उन्होंने एक-के-बाद-एक दस अशुद्धियाँ बताईं, जिनका समाधान डायरेक्टर महोदय न कर सके। सामग्री के सस्ते रूप को देख कर आयोजन रोक दिया गया। उस समय मैंने बाबूजी के सूक्ष्मावलोकन को साक्षात् देखा। कुछ वर्ष पूर्व मोहनजोदड़ो की खुदाइयों में प्राप्त शिव की मूर्तियाँ भगवान ऋषभदेव की मान ली गईं। वे जैनों के प्रथम तीर्थंकर हैं। बनारस विश्वविद्यालय के डॉ० प्राणनाथ ने उन मूर्तियों पर 'जिनाय नमः' पढ़ा और उसी आधार पर उपर्युक्त मान्यता चल पड़ी। बाबू छोटेलालजी ने उसका सप्रामाणिक खण्डन किया। मुझे जहाँ तक स्मरण है, उनके कथन को किसी ने चुनौती नहीं दी। विद्वानों के मध्य बाबू छोटेलालजी के पुरातात्त्विक निबन्धों की सदैव प्रतिष्ठा हुई है। सन् १९२३ में उनकी एक छोटी-सी पुस्तक 'जैन प्रतिमा-यंत्र लेख संग्रह' कलकत्ता की 'पुरातत्त्वान्वेषिणी परिषद्' से प्रकाशित हुई थी। इसमें बाबूजी ने कलकत्ता के मन्दिरों में विराजमान प्रतिमाओं और यन्त्रों पर खुदे लेखों का संकलन और सम्पादन किया था। इस विषय पर कार्य करने वालों को संस्कृत का ज्ञान अत्यावश्यक होता है। बाबूजी उसमें पीछे नहीं थे। इस पुस्तक ने अनेक विद्वानों का मार्ग दर्शन किया। आज विविध पत्र-पत्रिकाओं में जो यंत्र और प्रतिमा-लेख संग्रह प्रकाशित होते हैं, उनके पीछे बाबूजी की प्रेरणा ही थी। उन्होंने पं० परमानन्द शास्त्री को दिल्ली के मन्दिरों के मूर्ति और यन्त्र-लेखों को संकलित कर अनेकान्त में प्रकाशित करने का आदेश दिया था। इस विषय में बाबूजी की तीव्र रुचि और वैज्ञानिक जानकारी सुविदित है।

सन् १९६२ में बाबूजी वीर-सेवा-मन्दिर में ठहरे थे। 'अनेकान्त' के पुनः प्रकाशन का विचार उठा, तो प्रारम्भ कर दिया। किसी पत्र का निकालना आसान कार्य नहीं है और विशेषकर तब, जब वह एक शोध पत्र हो। बाबूजी ने अकेले ही, अस्वस्थ दशा में सब कुछ किया। सब कुछ का अर्थ है-अर्थ का प्रबन्ध, सामग्री का संकलन, सम्पादन, प्रकाशन, प्रूफ-रीडिंग और फिर यथा-स्थान भेजना, ग्राहक बनाना, चन्दा इकट्ठा करना। एक या दो अंक उपरान्त मुझे बुलाया। सचिन्त

होकर कहा कि मैं अब कलकत्ता जाना चाहता हूँ, कोई 'अनेकान्त' के सम्पादन का उत्तरदायित्व ले तो मुझे शान्ति मिले। ग्रीष्मावकाश हो चुका था, मैं वीर-सेवा-मन्दिर में जाकर ठहर गया। उन्होंने मुझे कार्य समझाया। कुछ विद्वानों के निबन्ध प्रकाशन हेतु आये हुए थे। बाबूजी के साथ विचार-विनिमय होता था। तब मैंने जाना कि उनकी पकड़ कितनी पैनी है और विद्वत्ता के क्षेत्र में कितनी सूक्ष्म पेंठ है। सस्ती विद्वत्ता उन्हें कभी नहीं रुचती। कलकत्ता जाने के उपरान्त भी उनकी सम्मतियाँ और निर्देशन सतत मिलते रहे। बाबूजी की तीव्र अभिलाषा थी कि अनेकान्त एक उत्तम शोध पत्रिका के रूप में प्रकाशित हो, किन्तु उसके साथ कुछ ऐसी परिस्थितियाँ सम्बद्ध थीं जिनसे बाबूजी विवश थे और मैं तो नितांत परवश हूँ। बाबूजी ने बाबू जयभगवान जी, जो उस समय वीर-सेवा-मन्दिर के सेक्रेटरी थे, को लिखा था कि डॉ० प्रेमसागर के साथ विचार-विमर्श कर 'अनेकान्त' को एक श्रेष्ठ पत्रिका का रूप दें। उसी समय के आस-पास बाबू जयभगवान के दिवावसान से वह कार्य सम्पन्न न हो सका। 'अनेकान्त' जैसे रूप में चल रहा था, बाबूजी उससे सन्तुष्ट नहीं थे। उसे एक उत्तम रूप प्राप्त हो, मेरी भी अभिलाषा है, मेरे ठोस सुझाव हैं, जिन्हें बाबूजी ठीक मानते थे, किन्तु उनके कार्यान्वयन में विचित्र कठिनाइयाँ हैं, अतः एक हुमस-भरी विवशता है। फिर भी 'अनेकान्त' में प्रकाशित मैटर से विद्वान सन्तुष्ट हैं और अनुसन्धित्सुओं को पर्याप्त सामग्री उपलब्ध हो जाती है। इसी कारण बाबूजी उसके संचालन से सहमत थे और 'अनेकान्त' निकल रहा है। इस अनुच्छेद का तात्पर्य इतना ही है कि बाबूजी 'अनेकान्त' को जैनशोध का एक रोचक पत्र बनाना चाहते थे। उनकी यह भावना जैन शोध-खोज में सतत लगे रहने का परिणाम थी।

•

भारतीय ज्ञानपीठ, काशी के डायरेक्टर्स में बाबू छोटेलालजी का नाम सबसे ऊपर था। मूलतः भारतीय ज्ञानपीठ की स्थापना, जैन साहित्य की शोध-खोज, सम्पादन और प्रकाशन के लिए ही हुई थी। ज्ञानपीठ ने वर्षों इस कर्त्तव्य का निर्वाह ईमानदारी से किया। स्वर्गीय पं० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य के निर्देशन में जो कार्य हुआ, उसका अपना एक पृथक महत्त्व है। श्री अयोध्याप्रसादजी गोयलीय भी इस दिशा में सजग, सावधान और रुचि-सम्पन्न बने रहे। किन्तु जैन ग्रन्थों के विक्रय की विकट समस्या ने भारतीय ज्ञानपीठ के जैन वाङ्मय के प्रकाशन तक ही सीमित रहने के संकल्प को डिगा दिया। श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन के सेक्रेटरी बनते ही लोकोदय ग्रन्थमाला का जन्म हुआ। उससे नई विधाओं और विचारों को संजोये हिन्दी का सृजनात्मक साहित्य प्रकाशित हो उठा। एकांकी नाटक, छोटी-छोटी कहानियाँ, उपन्यास और कविता-संकलन धड़ल्ले से निकले। उनकी बिक्री होती है। अब ज्ञानपीठ हिन्दी साहित्य और साहित्यकारों की एक प्रमुख संस्था है। मुझे या किसी जैन विद्वान को उसके ऐसा होने में कोई आपत्ति नहीं है। किन्तु साथ ही उसका मूल उद्देश्य भी धूमिल नहीं होना चाहिए। अब देखा जाता है कि जैन-ग्रन्थों के प्रति न वह रुचि है और न सजगता। मैंने बाबू छोटेलालजी को एकाधिक बार भारतीय ज्ञानपीठ की इस प्रवृत्ति के प्रति गम्भीर रूप से सचिन्त होते देखा है। अभी दो-चार वर्षों में भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित कतिपय ऐसे जैन ग्रन्थ हैं जिनके लिये यदि बाबूजी का कड़ा आदेश न होता तो शायद वहाँ से प्रकाशित ही न हो पाते। बाबूजी चाहते थे कि भारतीय ज्ञानपीठ केवल भारत में ही नहीं, अपितु समस्त एशिया महाद्वीप में जैन साहित्य का मानस्तम्भ बन सके। मुझे पूरा विश्वास है कि यदि वे आज इस संसार में होते तो उसे इस रूप में परिणत कर ही दम लेते। यदि भारतीय ज्ञानपीठ के सेक्रेटरी महोदय हिन्दी साहित्य और जैन साहित्य के मध्य अपनी रुचि निष्पक्ष भाव से सन्तुलित रख सकें तो भी बाबूजी की अभिलाषा के पूर्ण होने के चिन्ह



गनी ट्रेडर्स अप्तोसिएशन, कलकत्ता द्वारा बाबू जी के अभिनन्दन समारोह के अवसर पर आयोजित टी पार्टी का एक दृश्य।

(११-१०-१९५८)

दृष्टिगोचर हो सकते हैं। मैं भारतीय ज्ञानपीठ के संचालक साहू शान्तिप्रसाद जी के विचारों से परिचित हूँ, वे उसे लेकर कोई व्यापार नहीं करना चाहते और न उसे आय का साधन समझते हैं। फिर तो हिन्दी साहित्य से प्राप्त आय जैन साहित्य में खपाई जा सकती है। यहाँ मेरा उद्देश्य बाबू छोटेलालजी की, जैन साहित्य के संशोधन, सम्पादन और विश्वव्यापी प्रकाशन के प्रति बलवती आकांक्षा को प्रगट करना ही है।

मनुष्य स्वयं विद्वान बन सकता है और विद्वत्ता के उत्तुंग शृंग पर भी चढ़ सकता है, क्योंकि यह उसके निज से सम्बन्धित बात है, किन्तु दूसरों को बनाना और उन्हें आगे बढ़ाना आसान कार्य नहीं है। यह वे ही कर सकते हैं, जो महासत्त्व हैं, जिनका दिल 'सत्त्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदम्' से बना है। आज जैन समाज में अनेक विद्वान हैं, जिनकी विद्वत्ता और ख्याति की तह में बाबूजी की प्रेरणा और सहायता के ही दर्शन होते हैं। बाबूजी ने कभी उसका उल्लेख भी नहीं किया। उल्लेख तो तब करते जब उन्होंने यह कार्य अपने नाम के लिए किया होता। उनका यह स्वभाव था। स्वभाव-वशात् ही वे ऐसा करते थे। सौभाग्य से उनके पिता ने उनके इस स्वभाव को निखारने के अवसर भी दिये। बाबूजी ने मुझे सुनाया "जब भी कोई विद्वान कलकत्ता आता तो मेरे पिताजी मुझे उस विद्वान को कलकत्ता घुमाने के लिए भेज देते। इस भांति प्रारम्भ से ही मैंने विद्वानों के प्रति श्रद्धा-भाव सँजोया है।" इसी भाव ने उन्हें स्वयं विद्वत्ता की ओर उन्मुख किया। विद्वत्ता उपार्जित कर भी वह श्रद्धा-भाव तदवस्थ बना रहा। इसी भाव के कारण अपने से छोटे युवा विद्वानों के प्रति उनका श्रद्धा-गर्भित प्रेम उमड़ उठता था। ये विद्वान प्रायः ऐसे होते कि उनके कदम लड़खड़ाते, दिल कांपता और कुछ परिस्थितियों से विवश से हुए जारहे होते। बाबूजी का अगाध स्नेह और प्रत्येक प्रकार का सहाय्य उन्हें मजबूत बना देता। अभी विगत वर्ष ही दिल्ली में 'International oriental conference' का आयोजन था। वीर-सेवा-मन्दिर की तीसरी मंजिल के एक कक्ष में कलकत्ता के एक युवा विद्वान ठहरे थे। परिचय हुआ तो बाबूजी के स्नेह का स्मरण कर गद्गद् हो उठे, कण्ठ अवरुद्ध हो गया। केवल वे ही नहीं उस समय वहाँ ठहरे दक्षिण के एक वृद्ध भट्टारक, डॉ० ए० एन० उपाध्ये, डॉ० कैलाशचन्द्र, डॉ० कमलचन्द सोगानी, बाबू जयभगवान जी आदि सभी एक-ही स्नेह-सूत्र में बंधे थे। सभी के हृदय बाबूजी के पावन स्मरण से ओत-प्रोत थे। मैं औरों को छोड़ अपनी कहता हूँ। सन् १९६१ के जून के मध्यान्ह में मैंने सब से पहली बार बाबूजी के दर्शन वीर-सेवा-मन्दिर दिल्ली के मुख्य भवन में किये। मेरे हाथ में अपने शोध-प्रबन्ध 'हिन्दी के भक्ति काव्य में जैन साहित्यकारों का योगदान।' की पाण्डुलिपि थी। उन्होंने उसे पढ़ा और सराहा। तुरन्त भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशन-हेतु स्वीकार कर लिया। मेरी एक बहुत बड़ी समस्या हल होगई। आज वह ग्रन्थ 'जैन भक्ति काव्य की पृष्ठ भूमि' और 'हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि' शीर्षक से प्रकाशित हो चुका है। प्रकाशन के समय इस ग्रन्थ के संशोधन में बाबू जी के ठोस सुझाव कार्यान्वित किये गये हैं। यह उनका स्नेह ही था। उनका स्नेह यहाँ तक बढ़ा कि जब वे कलकत्ता गये तो पूरे वीर-सेवा-मन्दिर की देखभाल और 'अनेकान्त' की जिम्मेदारी मुझे सौंप गये। मैं उनका विश्वास प्राप्त कर सका, इससे गौरवान्वित हूँ। उनकी सतत प्रेरणा से प्रेरित होकर ही जैन शोध के क्षेत्र में मेरी रुचि बढ़ती गई और मैं उस पथ पर अग्रसर हूँ।

वीर-सेवा-मन्दिर बाबू छोटेलाल जी की मूक साधना का प्रतीक है। यद्यपि इस मन्दिर की स्थापना बाबू जुगलकिशोर जी मुख्तार ने सरसावा में की थी, किन्तु उसे पल्लवित और पुष्पित करने का समूचा श्रेय बाबू छोटेलाल जी को ही है। इस संस्था को उन्होंने विपुल आर्थिक सहायता स्वयं दी और दिलवाई। अनेकान्त के संचालन का समूचा श्रेय उन्हीं

को दिया जा सकता है। पहले भी उन्होंने इसको जन्म दिया था और अब भी उन्होंने इसको पुनः प्रारम्भ किया। पहले तो वे इसके सम्पादक भी रहे और अनेक शोध-खोज पूर्ण निबन्ध इसमें प्रकाशित हुए। पैसा उन्होंने दिया और सम्पादन, निबन्ध लेखन सब कुछ भी उन्होंने किया। कभी ख्याति की आकांक्षा नहीं की। ख्याति उन्हें मिली भी नहीं, वह किसी और को उपलब्ध होती रही। किन्तु बाबू जी को इससे हार्दिक प्रसन्नता मिली, वे ऐसा ही चाहते थे। इस बार 'अनेकान्त' का संचालन उनके अद्वितीय साहस और लगन शील हृदय का प्रतीक था, उन्होंने विद्वान लेखकों की सूची बनाई, उनसे सम्बन्ध स्थापित किया, श्रीमन्त सेठों को दान के लिए अनुप्राणित किया, ग्राहक बनाये, प्रेस तै किया, मुख पृष्ठ की रूपरेखा स्वयं बनाई। संकलित लेखों को पढ़ा और सम्पादित किया। समूची प्रूफ-रीडिंग की। जब छपकर आया तो अपने हाथ से डिसपैच किया। लेई से कागज तक चिपकाये। यह सब कार्य उस समय किया जब कि वे अस्वस्थ थे। इस पर भी न तो वे प्रकाशक थे और न उनका नाम सम्पादक मण्डल में था। दूसरे अंक के पश्चात् जब वे कलकत्ता चले गये तो एक सज्जन यह कहते सुने गये "नौकर तक के काम उन्होंने खुद अपने हाथ से किये इनकी क्या जरूरत थी, फिर कहते हैं कि मैंने इतना काम किया, उतना काम किया।" मैं उनकी बात सुन 'भिन्न रुचिर्हि लोकः' पर विचार करता रहा। भला वे सज्जन कैसे सोच सकते थे उस भाव भीने प्रेम और उत्तरदायित्व को जो उनके दिल में 'अनेकान्त' के प्रति भरा था। इस बार भी सम्पादक मण्डल में बाबूजी का नाम नहीं था। किन्तु उनके सुझाव और निर्देशन इतने ठोस होते थे कि कोई भी सम्पादक बिना विरोध के उन्हें कार्य-रूप में परिणत करने को उद्यत हो जाता। मुझे जहाँ तक स्मरण है, उन्होंने अपना कोई सुझाव थोपा नहीं और न 'अनेकान्त' की गति में कोई हस्तक्षेप किया। 'अनेकान्त' एक उत्तम पत्रिका बन सकता है, यदि 'अनेकान्त' से सम्बन्धित व्यक्ति बाबूजी की आत्मा को समझ सकें।

विद्वत्ता के परिप्रेक्ष्य में बाबूजी का यह संक्षिप्त आकलन है। विद्वान विद्वद्मन्य: हो जाते हैं, अहंकार उनका सहचर बन जाता है। बाबूजी इन दोनों ही से मुक्त रहे। अन्त तक वे अपने को न कुछ मानते हुए विद्वानों का आदर-सम्मान करते रहे। विद्वानों में सबसे बड़ा दुर्गुण होता है यशः कांक्षा। वे इसके लोलुप होते हैं, धनिकों के धन से भी अधिक। बाबूजी यश के समूचे स्थल उदारता-पूर्वक दूसरों को देते रहे। यश मिला उन्हें भी, किन्तु उसकी गति धीमी और ठोस है। यदि हम मि० स्टीवेन्सन के शब्दों में कहें तो उनकी 'पोपुलरिटी' 'इन्टीमेट' है 'लोंग' नहीं। अर्थात् समाचार पत्रों में अपना नाम, ग्रन्थों पर नाम और व्याख्यानों के लिए अपने नाम की इच्छा उन्हें कभी नहीं हुई। इन आधारों पर नाम कमाने की उन्होंने कभी चेष्टा भी नहीं की। जो भी व्यक्ति उनके पास जाकर रहा, वह अवश्य ही यह प्रभाव लेकर गया कि हमने एक विद्वान के दर्शन किये और उससे भी पूर्व एक मानव के। मानवता के शवों पर उगने वाली विद्वत्ता को ही मि० स्टीवेन्सन ने 'लोंग पोपुलरिटी' की संज्ञा से अभिहित किया था। बाबूजी की मूक साधना ने उन्हें 'इन्टीमेट पोपुलरिटी' का प्रतीक ही बना दिया। उनमें विद्वत्ता और मानवता का अद्भुत समन्वय था।

चमन में इनसे इबरत है

नेमीचन्द्र शास्त्री, एम.ए., पी.एच.डी.,
प्राध्यापक एच. डी. जैन कॉलेज, आरा (मगध विश्वविद्यालय)

दिन आते हैं और चले जाते हैं, पर वे अपनी मधुर स्मृतियाँ मानस-पटल पर सदा के लिए अंकित कर जाते हैं। जो घटना मर्म को छू जाती है, वह सर्वदा के लिए टंकोत्कीर्ण हो जाती है। आदरणीय श्री बाबू छोटेलालजी का प्रथम दर्शन आज से २२ वर्ष पूर्व हुआ था, पर उनके प्रथम साक्षात्कार का प्रभाव आज भी तदवस्थ है। बाबूजी का व्यक्तित्व वस्त्र, वायु, वाक्, विद्या और विभूति रूप पञ्चवकार से नहीं आँका जा सकता है, बल्कि अहर्निश की प्रत्येक कार्यवाही उनके व्यक्तित्व की महत्ता सूचक है। जीवन के प्रतिपल की प्रत्येक घटना दीपावली की विद्युत्वल्लरी के समान अपने आलोक की स्निग्धकिरणों को विकीर्ण करती है। समाज, सँस्कृति, साहित्य और धर्मोत्थान की भावना बाबूजी में पूर्णतया व्याप्त थी। उनका व्यक्तित्व हिमालय की हिमधवल गगनस्पर्शी चोटियों के समान उन्नत और श्रद्धास्पद था। हिमालय की करुणा जिस प्रकार अगणित निर्झरों और सरिताओं के रूप में विगलित होती है, उसी प्रकार बाबूजी की करुणा भी असहाय और निराश्रयों को आजीविका दिलाने में। बाबूजी के व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि उन्होंने दीपशिखा की भाँति अपने जीवन को तिल-तिल कर जलाया था, मात्र इसलिए कि साहित्य, संस्कृति, कला और समाज का उत्थान हो। उनमें दया, क्षमा, शालीनता, नम्रता और सहन शीलता आदि गुण वर्तमान थे। जीवन भर रोगों से जूझने पर भी कार्य करने की क्षमता ज्यों की त्यों थी। उनका अदम्य उत्साह कास और श्वांस के प्रबल वेग से भी धूमिल न हो सका था। वे जीवन का एक-एक क्षण सरस्वती की आराधना में समर्पित करते थे। यद्यपि उन्होंने मुक्त हस्त से समाज और साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों में लाखों रुपयों का दान दिया था, पर वे नामाङ्कन से सदा दूर रहे। विश्व में ऐसी विभूतियाँ कम ही परिलक्षित होती हैं, जिसमें सरस्वती और लक्ष्मी का एक साथ समवाय पाया जाय। यह सत्य है कि बाबूजी का तन, मन और धन दूसरों की सेवा के लिए सदा प्रस्तुत रहता था। वे साहित्यिक, विचारक और सार्वजनिक कार्यकर्त्ता होने के साथ २ वदान्य-वरेण्य भी थे, जो व्यक्ति जिस साध या इच्छा को लेकर उनके समक्ष उपस्थित होता, उसकी वह साध या इच्छा अवश्य पूर्ण हो जाती। उदार चेता बाबूजी का घर विद्वानों के लिए अनलस अतिथि-शाला था, बिना सूचना के पहुँच जाने पर भी समुचित अतिथिसत्कार प्राप्त होता था। बाबूजी दुर्दान्त दमे से मल्लयुद्ध करते हुए अतिथि को समस्त सुख-सुविधाएँ पहुँचाने का प्रयास करते थे। भोजन, स्नान प्रभृति समस्त आवश्यकताओं को वे स्वयं ही आगे आकर पूर्ण करते थे। उनका सौजन्यमय व्यवहार प्रत्येक अतिथि को मुग्ध कर देता था।

हाँ, तो मैं अपने प्रथम साक्षात्कार के प्रभाव का अंकन करने का आभास कर रहा हूँ। संभवतः सन् १९४३ का जुलाई मास था। नया सत्र आरम्भ हो चुका था। विद्यार्थीगण महत्त्वाकांक्षाओं के कुहासे से घिरे हुए अपनी २ कक्षा में प्रविष्ट हो रहे थे। मैं जैन बालाविश्राम आरा में धर्म-संस्कृताध्यापक था। सहसा एक दिन ज्ञात हुआ कि कल इस संस्था के सभापति कलकत्ता निवासी दानवीर बाबूजी श्री छोटेलालजी आने वाले हैं। सर्वत्र एक

नयी चहल-पहल थी। सफाई-स्वच्छता के निर्देशों के साथ छात्राओं को सावधानी सम्बन्धी अन्य प्रकार के निर्देश भी दिये जा चुके थे।

प्रातः कालीन कक्षाएँ चल रही थीं, जिनमें प्रमेयकमल मार्त्तण्ड, अष्टसहस्त्री और गोम्मटसार के अध्यापन की व्यवस्था थी। मैं न्यायतीर्थ परीक्षा में प्रविष्ट होने वाली छात्राओं को 'मार्त्तण्ड' पढ़ा रहा था कि एक गौरवर्ण, क्षीणकाय, मध्यमकद, उन्नतललाट, आजानबाहु और दूध जैसी धवल वेष-भूषा से विभूषित व्यक्ति ने प्रवेश किया। शिष्टाचार प्रदर्शन के अनन्तर वे बैठ गये और मुझे पाठ चालू रखने का आदेश दिया। प्रकरण कारक साकल्य का चल रहा था। कुछ पंक्तियों के अध्यापन के पश्चात् उन्होंने छात्राओं से पूछा—'नैयायिकादि के यहाँ प्रमा में किस वस्तु को साधकतम माना गया है? छात्राओं द्वारा इन्द्रिय और सन्निकर्ष के उत्तर दिये जाने पर उन्होंने उनकी अप्रमाणता सिद्ध करने के लिए आदेश दिया, पर जब छात्राएँ मौन दिखलायी पड़ीं तो बाबूजी ने बतलाया कि जानना या प्रमारूप क्रिया के चेतन होने से साधकतम ज्ञान ही हो सकता है, अचेतन सन्निकर्षादि नहीं। सन्निकर्षादि के रहने पर भी ज्ञान उत्पन्न नहीं होता और सन्निकर्षादि के अभाव में भी ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। अतएव जानने रूप क्रिया का साक्षात् अव्यवहित कारण ज्ञान ही है, सन्निकर्षादि नहीं। प्रमिति या प्रमा अज्ञान निवृत्तिरूप होती है और इस अज्ञान निवृत्ति में अज्ञान का विरोधी ज्ञान ही कारण हो सकता है, जैसे अन्धकार की निवृत्ति में अन्धकार का विरोधी प्रकाश। इन्द्रिय, सन्निकर्षादि स्वयं अचेतन हैं, अतः अज्ञान रूप होने के कारण प्रमिति में साक्षात्कारण नहीं हैं। यद्यपि कहीं-कहीं सन्निकर्षादि ज्ञान की उत्पादक सामग्री में सम्मिलित हैं, पर सार्वत्रिक और सार्वकालीन अन्वयव्यतिरेक न मिलने से उनकी कारणता अव्याप्त हो जाती है। ज्ञान का सामान्य धर्म अपने स्वरूप को जानते हुए पर पदार्थ को जानना है। वह अवस्था विशेष में पर को जाने या न जाने पर अपने स्वरूप को हर स्थिति में जानता है। स्वसंवेदी होना ज्ञान का स्वभाव है। इस प्रकार अपने जानने रूप क्रिया में साधकतमता—अव्यवहितकारणता ज्ञान को ही प्रतिपादित है।

आयोजित सभा में शिक्षा के सम्बन्ध में विचार व्यक्त करते हुए उन्होंने कहा—"वर्तमान में हमारे विद्यालयों का पठन क्रम सदोष है। अध्ययन और अध्यापन ग्रन्थानुसार किया जाता है, जिससे एक ही विषय कई बार पुनरावृत्त होता है, फलतः छात्रों का सर्वाङ्गीण विकास नहीं होता। आचार्यों ने ग्रन्थों का प्रणयन स्वाध्याय के हेतु किया है, पाठ्य क्रम को दृष्टि में रखकर ग्रन्थ नहीं लिखे गये हैं, अतः जैन विद्यालयों में विषयानुसार कतिपय शीर्षक निश्चित कर धर्म और न्याय की शिक्षा दी जानी चाहिए। प्रवेशिका प्रथम खण्ड से लेकर शास्त्रीय परीक्षा के अन्तिम खण्ड तक धर्म और न्याय के अनेक विषय बार-बार दोहराये जाते हैं, अतएव भा० दि० जैन परीक्षालय को अपने पाठ्यक्रम को ठोस और व्यापक बनाना चाहिए। धार्मिक शिक्षा जीवन विकास की दृष्टि से अत्यावश्यक है, इसकी उपेक्षा करने से समाज की उन्नति नहीं हो सकती। अतः धन के बिना भी मनुष्य उठ सकता है, विद्या के बिना भी बड़ा बन सकता है, पर चरित्र बल के बिना मनुष्य सर्वथा हीन और पंगु है। आचरणहीन ज्ञान पाखण्ड है। नैतिक व्यक्ति ही अपने प्रति सच्चा एवं ईमानदार हो सकता है। अतएव कॉलेज और स्कूलों में भी धर्म शिक्षा का प्रबन्ध होना चाहिए। मुझे यह जानकर प्रसन्नता है कि यहाँ की छात्राएँ प्रमेय-कमल मार्त्तण्ड और अष्ट सहस्त्री जैसे उच्चकोटि के ग्रन्थों का अध्ययन करती हैं। आदरणीय बाईजी (ब्र० पं० चन्दाबाईजी) ने दासत्व की शृंखला में जकड़ी, घूँघट में छिपी, अज्ञान और कुरीतियों से प्रताड़ित नारी को आत्मबोध ही नहीं कराया,



गनी ट्रेडर्स एसोसियेशन, कलकत्ता द्वारा बाबू जी के अभिनन्दन समारोह के अवसर पर आयोजित टीपार्टी (११-१०-१९५६) का एक दूसरा दृश्य ।

बल्कि उसके लिए उच्चशिक्षा का प्रबन्ध कर उसे उच्च पद पर प्रतिष्ठित किया है। चन्दना, चेलना और सीता जैसी सती नारियाँ ज्ञान के क्षेत्र में आशातीत उन्नति कर रही हैं। मेरा तो यह दृढमत है कि नारियाँ ही देश के कलेवर का परिष्कार कर सकती हैं। वह समाज, जो अपनी नारियों को प्रतिष्ठित करने की बात नहीं सोच सकता, कभी भी विकास की ओर नहीं बढ सकता। मैं बाईजी के कार्यों की पुनः पुनः प्रशंसा करता हूँ।"

सभा में आपने पुरातत्त्व और इतिहास की महत्ता पर भी प्रकाश डाला। कलापूर्ण मूर्तियों और मन्दिरों के चित्र भी दिखलाये। आपका मत है कि अतीत के गौरव की गन्ध ही समाज को उत्तेजित करती है और इसी गन्ध की मस्ती उसे नया जीवन दान देती है। प्राचीन खंडहरों में हमारा अतीत छिपा है, हमें उसे ढ़ूंढ कर अपने भविष्य को स्वर्णमय बनाना है। अभी तक जैन साहित्य का इतिहास नहीं लिखा गया है। दिगम्बर जैन साहित्य भण्डारों में उद्धारकों की प्रतीक्षा कर रहा है। सहस्त्रों ग्रन्थ नष्ट हो चुके हैं, अतएव हमें इस ओर भी ध्यान देना है वस्तुतः साहित्य जीवन की सतत गतिशील प्रेरणाओं में से एक है। समाज का अस्तित्त्व साहित्य पर ही अवलम्बित है।

प्रथम साक्षात्कार के पश्चात् तो बाबूजी के निकट सम्पर्क में आने का अनेक बार अवसर मिला। वे अत्यन्त कर्मठ, परोपकारी, सेवाभावी एवं समाज और साहित्य के लिए सतत चिन्तित रहते थे। जब कोई भी विद्वान् उनके पास पहुँचता, तो वे घण्टों बैठकर उसके साथ समाज और साहित्योत्थान की चर्चा करते रहते। विद्वान् के पहुँचने से उन्हें अपूर्व प्रसन्नता होती। शास्त्रीय और ऐतिहासिक चर्चा में उन्हें इतना रस आता कि चर्चा के समय में उनका चिर सहचर दमा भी न मालूम कहाँ चला जाता। श्री जैनसिद्धान्त भवन आरा के हीरक जयन्ती महोत्सव के बाबूजी स्वागताध्यक्ष होकर पधारे थे। जब आप आरा में आये तो दमा से पीड़ित थे, खाँसी बहुत परेशान कर रही थी; पर आश्चर्य की बात यह थी कि उत्सव आरम्भ होते ही आपका दमा न मालूम कहाँ चला गया। आप सभाओं में तीन-चार घण्टे लगातार बैठे रहते थे, पर एक बार भी खाँसी नहीं आती थी। ऐसा मालूम पड़ता था मानो आपने किसी योग क्रिया के बल से दमा को जीत लिया हो। आपकी लगन, तत्परता और प्रत्येक कार्य को सुन्दर ढंग से सम्पादन करने की क्षमता दर्शनीय थी। जिस स्थान पर विद्वान ठहरे हुए थे, उस स्थान पर आप कई बार पधारे और उन से मिलकर एवं चर्चा कर बड़े प्रसन्न हुए।

उत्सव समाप्त होने के अनन्तर आप जैन सिद्धान्त भवन की उन्नति के हेतु कई दिनों तक चर्चा करते रहे। समाज और साहित्य के कार्यो में आप विशेष रुचि लेते थे तथा छोटे-बड़े सभी प्रकार के लेखकों को उत्साहित करते थे। आपकी प्रेरणा से कलकत्ता में कितने ही विद्वान् जैन साहित्य के अध्येता बन गये हैं। वीर-शासन-जयन्ती महोत्सव को सम्पन्न करने में आपने जो अथक परिश्रम किया था, उसे समाज सदैव याद रखेगा। इतने बड़े उत्सव की सफलता का श्रेय बाबूजी को ही था। आपकी बहुमुखी प्रतिभा, दूसरों के सुख के लिए सर्वस्व वितरण करने की भावना, राष्ट्र और देश सेवा का संकल्प एवं परोपकार करने की सत्-बुद्धि ऐसे गुण थे, जिनके कारण आपकी गणना विश्व के महान् व्यक्तियों में की जा सकती है। बाबू छोटेलालजी जैसे लाल किसी भी समाज को बड़े पुण्योदय से ही प्राप्त होते हैं। आपकी सत्-प्रेरणा से अनेक जैनेतर विद्वान् और श्रीमान् जैन साहित्य के मणि-माणिक्यों से परिचित हो गये हैं। कलकत्ता में गया बाहर का कोई भी जैन आपके पास पहुँच कर सुखसुविधाएँ तो प्राप्त करता ही, उसे रोजी-रोटी दिलाने में भी आप पूर्ण सहायता करते। आपका जीवन वास्तव में आदर्श, अनुकरणीय एवं अभिनंदनीय था।

साथ भेजी गई थी। बाबू जी के स्नेह और ममता की मिठास का स्वाद उन ग्रामों में हम लोग लेते रहे। आत्मीयता की यह अथाह गहराई? सोचता हूँ शब्दों की पतवार के सहारे इसे नापना क्या मूर्खता नहीं है?

पूज्य वर्णी जी के अन्त समय में बाबू जी के साथ में भी लगभग बीस दिन वहाँ रहा। इस बीच बाबू जी की अनेक विशेषताएँ देखने-जानने को मिलीं। वर्णी जी के प्रति उनकी दृढ़ और गहन आस्था, समाधि-मरण के समय अन्तिम क्षणों तक वर्णी जी की सेवा-सम्हाल, और भारी भीड़ में उनकी प्रबन्ध-पटुता, बीच बीच में विद्वानों से चर्चा के समय उनका गहन गम्भीर ज्ञान और कतिपय अवांछनीय प्रसंगों पर उनका माध्यस्थ तथा हम सबके प्रति उनकी ममता और अनेक विशेषताओं का आगार उनका सम्मोहक व्यक्तित्व प्रायः प्रत्येक उस व्यक्ति पर जो बाबू जी के सम्पर्क में आया, एक अमिट छाप छोड़ता है

बाबू जी अपने आप में एक सम्पूर्ण संस्था थे। जैन पुरातत्त्व की अनगिनत अनजानी निधियों को प्रकाश में लाने की दिशा में उन्होंने जो श्रम-साध्य साधना की है तथा उस दिशा में उनकी जो उपलब्धियां है उनका मूल्यांकन करने के प्रयास अभी आरम्भ नहीं हुये। देश के वर्तमान गण्यमान्य पुरातत्त्व विशारदों से उनकी घनिष्टता के फलस्वरूप अनेक पूर्वाग्रहों और कदाग्रहों का आवरण चीर कर हमारे प्राचीन वैभव के कलापक्ष की जो मान्यताएं स्थापित हो सकी हैं वे हमारी पीढ़ियों को सीढ़ियों का काम देंगी। उनकी निरन्तर और बलवती प्रेरणा से इस दिशा में टी० एन० रामचन्द्रन् और श्री ० सी० शिवराम मूर्ति जैसे कतिपय विद्वानों द्वारा जो साहित्य प्रस्तुत हुआ है वह जैन-कला के अनुसन्धान पथ पर प्रकाश स्तम्भ बन कर रहेगा। उन्होंने स्वयं भी जो लिखा है वह यद्यपि बहुत अधिक नहीं है तथापि उनके ज्ञान और अनुभव का परिचायक है। उनके द्वारा संयोजित "जैन बिबलियोग्राफी" का दूसरा भाग यदि प्रकाशित होकर सामने आ सका तो वह उनकी दीर्घ, एकान्त, मौन साधना का प्रमाण होगा। वीर सेवा मन्दिर के प्रति उनका योगदान तथा वीर शासन संघ के प्रति उनकी सेवाएं उनकी यश-पताका का मेरु-दण्ड बनकर बहुत समय तक हमारे बीच रहने वाली हैं। वे स्वयं महान थे और अनेक महान कार्यों का सम्पादन उनके प्रयास से, उनके वित्त से और उनकी लगन से हुआ है। आने वाले कल के लिये कुछेक बहुत उपयोगी और महत्वपूर्ण योजनाओं की संभावनाएं अभी उनके सपनों में तैर रही थी कि काल-चक्र ने उनका आसन छीन लिया। हमारी कामना है कि उनके जीवन से प्रेरणा लेकर हम उनके कार्यान्वयन का शीघ्र ही प्रयास करें।

सब लोगों की औचित्य की धारणा एक सी नहीं होती।

\+ \+ \+

घटना का जो पहलू बाहर से दिखाई देता है वही उसका पूर्ण रूप नहीं होता।

\+ \+ \+

विपत्ति में राहगीर को भी आश्रय दिया जाता है।

श्रद्धास्पद बाबू जी

नीरज जैन

सात आठ वर्ष पहले की बात है। पूज्य वर्णी जी की जयन्ती पर उनकी चरण रज लेने हम लोग ईसरी गये थे। जब तक बाबा जी ईसरी आश्रम में रहे तब तक प्रतिवर्ष उनके जन्म दिन पर एक अच्छा खासा मेला वहाँ लग जाता था। उस वर्ष भी भक्तों की भीड़भाड़ खूब थी और एक बड़े तथा सज्जित पण्डाल में सभा का आयोजन था।

रात्रि में उसी स्थान पर जैन तीर्थों के सिनेमा स्लाइड दिखाये जाने की योजना की गई और उसी कार्यक्रम में सर्वप्रथम श्रीमान बाबू छोटेलाल जी का दर्शन मुझे प्राप्त हुआ। वे प्रोजेक्टर पर स्लाइड दिखलाते थे और उनका विवरण ध्वनि-विस्तारक पर प्रस्तुत करते जाते थे। देश के अनेक प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध तीर्थस्थानों की सुन्दर और महत्त्वपूर्ण विविध शिल्प सामग्री की एक संक्षिप्त परन्तु अवि-स्मरणीय झाँकी उस दिन देखने को मिली। बाबू छोटेलाल जी की प्रसिद्धि और उनके नाम के "बाबू" शब्द का आधार लेकर उनकी बहुत 'टिप-टाप' और भारी-भरकम शरीर की कल्पना मैंने कर रखी थी, पर उनके एकदम विपरीत इकहरी देह पर साधारण धोती कमीज का पहिरावा और अगाध ज्ञान-गरिमा के बावजूद अत्यन्त सहज और नम्रता भरा व्यवहार पाकर मुझे कुछ और ही अनुभव हुआ। उस वर्ष उनकी व्यस्तता (या अपनी संकोचशीलता) के कारण यद्यपि वह परिचय परोक्ष ही रहा परन्तु श्रद्धास्पद व्यक्तियों की तालिका जो मेरे मानस-पटल पर थी उसमें यह एक नाम और उस दिन सम्मिलित हो गया।

सतना [illegible] आश्रम के संस्थापक [illegible] के सुपुत्र पुरातत्त्वान्वेषक बाबू शारदा प्रसाद जी से जब इसकी चर्चा हुई तब बाबू छोटेलाल जी का मानों एक नया ही परिचय मुझे मिला। इसी बीच भाई अमरचन्द के माध्यम से कुछ और उन्हें जाना और कलकत्ता में जब पहली बार उनके घर जाने का अवसर मिला उसके पूर्व ही उनके स्नेह की धारा का प्रवाह मेरे मन को छू चुका था। स्नेह की यह सरिता बाबू जी के पास से धारा-प्रवाह होकर बहती ही रहती थी। न जाने कितना गम्भीर था वह अजस्र स्रोत जो इतनी आत्मीयता, अनुकम्पा और सद्भाव का उद्गम बना उनकी दूबरी देह के किसी कोने में छिपा था। उसके माधुर्य का, उसकी शीतलता का अनुभव मेरे जैसे अनेक कृपा पात्रों को समय-समय पर होता रहता था।

पूज्य वर्णी जी के अवसान के कुछ समय पूर्व रक्षा-बन्धन के दिन की बात है। मैं सकुटुम्ब ईसरी में था। बाबू जी पहिले से वहाँ बाबा जी की सेवा में संलग्न थे। बच्चों ने सावन का पर्व मनाया और बिटिया की एक राखी मेरी कलाई तक पहुंच गई। हम सब मगन थे पर मेरी पत्नी कुछ न्यूनता का अनुभव कर रही थी। बाबू जी की अनुभवी दृष्टि से उसकी वह उदासी छिपी न रह सकी और एक प्यार भरा आदेश देकर तत्काल उन्होंने मेरी पत्नी से न केवल राखी बंधवाई वरन् उचित सम्बोधन देकर उसकी अनमनस्कता भी दो ही क्षण में दूर करदी। एक बार भाई अमरचन्द सतना आ रहे थे। उनके हाथ बाबू जी ने हम लोगों के लिये कलकत्ता से कुछ आम भेजे। बताया गया कि बड़ी रुचि पूर्वक दो तीन प्रकार के आम स्वयं पसन्द करके उन्होंने खरीदे थे और न केवल उन आमों के नाम वरन् उनके पकने के हिसाब से उन्हें उपयोग में लाने के लिये दिन तथा तारीखों तक की हिदायत उनके

२—आपने जैन एवं अजैन श्रीमानों, धीमानों, नेताओं, पदाधिकारियों, वकील-वैरिस्टरों और सम्पादकों से हमारा सम्बन्ध स्थापित कराकर उन्हें हमें सहयोग देने को बाध्य किया।

३—भरतपुर राज्य के दीवान साहब की सेवा में जैन-अजैनों की तरफ से काफ़ी संख्या में स्थान स्थान से तार एवं महत्त्वपूर्ण पत्र भिजवाये।

४—हिन्दी, उर्दू और अंग्रेजी के अनेकों पत्रों में आपने रथोत्सव को विरोधियों द्वारा रोके जाने पर इसके विरोध में अनेकों जैन-अजैन विद्वानों, नेताओं एवं पदाधिकारियों द्वारा लेखादि प्रकाशित कराये।

५—हिन्दू महासभा के कार्यकर्ताओं से सम्पर्क स्थापित करके आपने हमारे इस रथोत्सव के सम्बन्ध में एक महान महत्त्वपूर्ण और उपयोगी प्रस्ताव हिन्दू महासभा के सूरत अधिवेशन में पास कराया।

६—हजारों की संख्या में "बयाना कांड" नामक एक महान महत्त्वपूर्ण और सफलताप्रद ट्रैक्ट छपवाकर विरोधियों में वँटवाया।

७—भरतपुर राज्य के दीवान साहब से मिलने के लिये जैन समाज के श्रीमन्तों व विद्वान वैरिस्टरों का एक शिष्ट-मण्डल तैयार कराया।

८—हमारे इस मुकदमे सम्बन्धी समस्त कागजात श्रीमान् बाबू अजीतप्रसादजी वकील लखनऊ एवं विद्या वारिधि जैन दर्शन दिवाकर वैरिस्टर चम्पतरायजी साहब के पास भिजवाये। जिनको देखकर दोनों महानुभावों ने हमें मुकदमा लड़ने के बारे में उचित परामर्श दिया।

९—हजारों की संख्या में प्रभावशाली पैम्फलेट छपवाकर विरोधियों में समय समय पर वितरण करवाये।

१०—श्रीमान् वैरिस्टर चम्पतरायजी, श्री राम स्वरूपजी भारतीय एवं अन्य नेताओं के साथ स्वयं भरतपुर एवं बयाना आये और इस मुकदमे के सम्बन्ध में समस्त जानकारी प्राप्त की।

आपने हमारे यहाँ के रथोत्सव निकलवाने के सम्बन्ध में जो प्रयत्न किये व परिश्रम किया एवं हमें तन-मन-धन से जो सहयोग दिया वह कहने और लिखने में आने वाली बात नहीं है। समय समय पर आपके हमें अनेकों पत्र प्राप्त हुये जिनमें कुछ पत्रों का संक्षिप्त सार मैं इसलिये दे रहा हूँ कि लोग यह जान जांय कि आपका धर्म व समाज के प्रति कितना अगाध प्रेम व सेवा भाव था तथा मैंने ऊपर जो कुछ भी आपके विषय में लिखा है वह कहाँ तक उचित है।

दिनांक १९-२-२९ के पत्र में आपने हमें लिखा—"रथोत्सव स्थगित होने के मर्म भेदी समाचारों के बारे में मैंने आपसे आवश्यक बातें पूछीं थीं। निहायत खेद की बात है कि अभी तक आपका किसी प्रकार का उत्तर नहीं मिला है। कई पत्रों में लेख निकल चुके हैं और प्रयत्न करने से जैन जीवन पर यह घोर कलंक दूर हो सकता है।"

दिनांक २०-२-२९—"प्रताप कानपुर, जैन मित्र, कृष्ण सन्देश आदि आदि पत्रों में प्रथम लेख प्रकाशित कराया गया है। हम आपके सहयोग से और प्रबल आन्दोलन कर सकेंगे। इस सम्बन्ध में कौन ऐसा जैनी होगा जिसका हृदय दुख से न भरा हो। इस राष्ट्रीयता और संगठनवाद के युग में जैन जनता पर यह अत्याचार दूर करने में यदि ढील की जायगी तो भारी अप्रभावना का कारण होगा। मामला केवल बयाना का नहीं किन्तु सारी भरतपुर स्टेट और अन्य द्वेष भरे स्थानों में जैन जाति के धार्मिक स्वत्व रक्षा से सम्बन्ध रखता है। यह कलंक बयाना के सिर पर न रहे-इसके लिये आप चिन्ताशील हैं यह जानकर सन्तोष है। इस सम्बन्ध में हम सब प्रकार की शक्ति भर सेवा करने को तैयार हैं।"

बयाना जैन समाज को बाबूजी का अपूर्व सहयोग

कपूरचन्द्र नरपत्येला

सन् १६२८ ई० में बयाना जैन समाज दिनांक ६-१२-२८ से ६-१२-२८ तक "रथोत्सव मेला" करने की भरतपुर सरकार से स्वीकृति प्राप्त कर चुका था। मेले की समस्त तैयारियाँ बड़े समारोह और धूमधाम से की जा चुकी थीं। किन्तु समाज विरोधी तत्वों के कारण इसमें सफलता नहीं मिल सकी थी।

मेला न होने से हमारी पाँवों तले जमीन खिसक गई। हम किंकर्त्तव्य विमूढ़ हो गये। हमारा समस्त उत्साह एक उफान की तरह थोड़ी ही देर में ठंडा हो गया। हमें चारों ओर घोर अन्धकार ही अन्धकार दिखाई देने लगा। हमारे लिये अपने इस घोर अपमान को बर्दाश्त करना असह्य हो गया और इसलिये तत्काल ही हमने रथोत्सव न होने देने वाली घटना को धर्म और समाज पर कलंक लगना समझ कर मुकदमा लड़ने का निश्चय कर लिया। लेकिन मुकदमा दायर करने के पश्चात् हमें मालूम पड़ा कि हमारी परिस्थिति बड़ी ही कमजोर और दयनीय है। जैनेतर समाज के सम्मुख सफलता मिलना आकाश कुसुम तोड़ना है। जैसे मुख के अन्दर बत्तीस दाँतों से घिरी हुई जीभ रहती है उसी प्रकार हम भी उन के बीच में घिरे हुए थे। हम अपने कमजोर पैरों को देख कर बुरी तरह घबड़ा गये। अन्तिम हमने समस्त जैन समाज के कर्णधारों से सहायता [illegible] अपील की तथा समाज से सहयोग देने की मांग की। लेकिन विपत्ति में कौन किसका साथी होता है। हमें कहीं से भी सहयोग न मिला। [illegible] [illegible] हो रहे थे। किन्तु अचानक ही डूबते को तिनके के सहारे के समान बंगाल-बिहार-उड़ीसा दिगम्बर जैन तीर्थ क्षेत्र कमेटी के मंत्री श्रीमान् बाबू छोटे लाल जी जैन कलकत्ता का तन-मन-धन से पूर्ण सहयोग देने का आश्वासन प्राप्त हुआ। इस आश्वासन के प्राप्त होते ही हम लोगों में उसी प्रकार शक्ति जागृत हो गई जैसे कि लक्ष्मण जी में विशल्या के स्पर्श से हुई थी।

अब क्या था हम श्रीमान् छोटेलालजी कलकत्ता के इस असाधारण बल और सहयोग को पाकर मुकदमा लड़ने में पूर्ण रूप से जुट पड़े। कलकत्ता और बयाना के बीच बड़ा फासला है। मगर बाबूजी ने इस फासले को मिटा दिया। उनके और हमारे बीच प्रति दिन-तारों, पत्रों, रजिस्टर्ड पत्रों और पार्सलों एवं समाचार पत्रों द्वारा वार्तालाप होता था। हमें यही मालूम न पड़ा कि बाबूजी हमारे पास न होकर कलकत्ता में रह रहे हैं। आपने हमें यह पूर्ण विश्वास दिला दिया कि यह विपत्ति मानों हम पर न आकर स्वयं बाबूजी ही पर आई है।

हम अपने साथ ऐसे उदार-त्यागी-कर्मठ-सेवाभावी, परदुःखहर्ता, परम विद्वान, धर्मात्मा-कर्मवीर और महान उत्साही व्यक्ति को पाकर निहाल हो गये।

आपने इस मुकदमे के सम्बन्ध में हमें जो सहायता दी वह निम्न प्रकार है :—

१—दुःख और निराशा के भयंकर गर्त से हमें निकाल कर आपने समय समय पर हमारा उत्साह वर्द्धन किया एवं हमें अपनी अमूल्य सम्मति देते रहने की महान कृपा की।

इस सम्बन्ध में आप शीघ्र कार्यवाही करें और हमें तुरन्त अपने विचार से सूचित करें।"

दिनांक १०-८-२६—"कृपा कर २७ तारीख तक रोजाना एक लिफाफा भेजते रहिये, जिसमें नित्य का समाचार मालूम होता रहे। यहां इंगलिश का बंगाली एक प्रसिद्ध दैनिक पत्र है। सरकार भी इस पत्र का ख्याल करती है। इसमें बयाने के सम्बन्ध में लेख छपा है। सम्पादक ने भी टिप्पणी लिखी है। सो आपके पास भेजते हैं।

१५ तारीख के लीडर ने भी इस सम्बन्ध में "जैनियों का दुःख" शीर्षक सम्वाद छापा है।"

दिनांक १७-८-२६—"आज बुक पोस्ट से २५ व अनरजिस्टर्ड पार्सल से १०० ट्रैक्ट रवाना किये जाते हैं। खास खास विरोधियों के घरों में, दूकानों में जहाँ मिले जल्दी से जल्दी पहुँचा दें।"

दिनांक २०-८-२६—"२०० कापियाँ कल दिन रजिस्टर्ड पार्सल से और भेजी हैं। हमने काफी संख्या में छपाई हैं, सो अच्छी तरह बांटियेगा। एक भी विरोधी ऐसा न रहना चाहिये जिस तक इसकी प्रति न पहुँचे।"

दिनांक २२-८-२६—"आज बुक पोस्ट से २०० विज्ञापन भेजे हैं। ट्रैक्ट आपने बँटवा दिये होंगे। न बँटवाये हों तो तुरन्त बँटवा दीजिये और उनके बँट जाने के १०-१२ घन्टे बाद यह नोटिस भी जरूर जरूर भिजवा दें।

प्रसिद्ध पत्र इंगलिश मैन ने भी हाल छापा है। कटिंग भेजते हैं।"

दिनांक २६-८-२६—"नजीरें दिखाने के लिये हमने एक स्थानीय बैरिस्टर से तय कर लिया है, आपको लिखेंगे। जो लोग विरोध को पहुँचे हों वे वे ही होने चाहियें जो समय समय पर आपको धमकी देते रहे होंगे और जिनसे अपने को खतरा हो सकता है। सालभर इन लोगों की नेक चलनी के राज मुचलके ले ले, ऐसी दरख्वास्त फौजदारी अदालत में आपको कर देनी चाहिये।"

दिनांक ६-६-२६—"श्री चाँदकरणजी शारदा को पत्र डाल दिया गया है और आशा है उसमें भी अपने को सफलता मिलेगी।"

आपके सभी पत्र विस्तार के साथ लिखे हुये हैं। किन्तु मैंने तो केवल कुछ पत्रों की कुछ पंक्तियाँ ही देने का प्रयास किया है। आपके अदम्य उत्साह और अपार सहयोग को पाकर ही हमारी समाज की विजय हुई और शीघ्र ही हमारे यहाँ बड़े समारोह और धूमधाम के साथ जैन रथोत्सव मेला हुआ। बयाना जैन समाज आपकी चिर ऋणी है। आपकी स्मृति स्वरूप भारतवर्षीय जैन समाज की ओर से जो ग्रंथ निकाला जा रहा है वास्तव में ही वे उसके अधिकारी थे।

दिनांक ९-३-२९—"मैं आपको विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि हमारी कमेटी और हमारी समाज तन-मन-धन से इस कार्य में सहायता करने को तैयार है। आप लोग यहाँ का पूरा भरोसा रखें। साथ साथ आप लोग भी पूरी तरह कटिबद्ध रहें तो संसार की कोई भी शक्ति हमारी पवित्र यात्रा को नहीं रोक सकेगी। आप लोगों की राय पहिले जोर से आन्दोलन करने की नहीं थी और ठीक भी था, नहीं तो मैं इतने जोर से आन्दोलन को उठाता कि सारे भारत में हल चल मच जाती। हिन्दी-उर्दू अखबारों में तो खूब लिखा गया है, पर अभी अंग्रेजी अखबारों में मैंने कुछ भी नहीं लिखा है। आज बाबू अजीतप्रसादजी की राय मँगा रहा हूँ फिर जोरों से इसकी तैयारी की जायगी। दीवान साहब के पास अंग्रेजी की चिट्ठियाँ सारे भारतवर्ष से पहुँचाने का प्रबन्ध कर रहा हूँ। साथ ही साथ जहाँ जहाँ से ऐसी चिट्ठियाँ जायेंगी उनकी सूचना आपको भेज दी जायगी।"

दिनांक १७-३-२९—"हिन्दू नेताओं के पास जो पत्र भेज गये हैं एक मेरी तरफ से दूसरा बाबू अजीतप्रसादजी की तरफ से। उनकी नकल कल आपको भेज दी जायगी। इनका जवाब आने से पत्रों में प्रकाशित किया जायगा और आपको सूचित कर दिया जावेगा।"

दिनांक २७-३-२९—"आज राय बहादुर सेठ चम्पालालजी, रामस्वरूपजी ब्यावर, रा० ब० सेठ टीकमचन्दजी सोनी अजमेर और सर सेठ हुकमचन्दजी इन्दौर को पत्र लिख दिये गये हैं। हम इसी प्रयत्न की विशेष चेष्टा में हैं कि किसी तरह रथ यात्रा निकल जाय।

दिनांक १४-४-२९—हिन्दू नेताओं के पास जो भेजे गये थे। उनके फलस्वरूप हिन्दू महा सभा ने सूरत में एक मत से निम्नलिखित प्रस्ताव पास हुआ है:—

"बयाना (भरतपुर) के समस्त हिन्दू भाईयों ने जैनियों के रथोत्सव निकालने में जो विघ्न दिया है उसको जानकर महासभा अपना खेद प्रकट करती है तथा देश में परस्पर प्रेम व संगठन की आवश्यकता देखकर बयाना के हिन्दू भाईयों से यह अनुरोध करती है कि वे जैनियों के रथोत्सव व अन्य धार्मिक कार्यों में किसी प्रकार का विरोध न डालकर हर तरह की सहानुभूति दिखावें। हिन्दू महासभा के मंत्री इस सम्बन्ध में उचित योजना करें।"

दिनांक ८-५-२९—"यहाँ मैं यह सूचना कर देना मुनासिब समझता हूँ कि हमें श्री १००८ जिनेन्द्र भगवान की सवारी निकालने का जन्मसिद्ध अधिकार है और उससे रंच मात्र भी हटना अपने पैरों में कुल्हाड़ी मारना होगा।"

दिनांक ६-६-२९—"अस्तु इस पत्र को आप तार समझ कर तुरन्त कुछ सज्जन शिमला पधारें। वहाँ आप लोगों को ठहरने आदि का कष्ट नहीं होगा। आशा है, आप लोग यह मौका और बैरिस्टर साहब का सहयोग नहीं चूकेंगे। सफलता की पूरी आशा है। केवल पत्रों से कुछ लाभ नहीं होगा। यही सूरत कामयाब होगी। विशेष क्या लिखें। आप लोग अवश्य रवाना होकर सूचना देवें।"

दिनांक ९-६-२९—"हिन्दू महासभा के प्रधान मंत्री ने दीवान साहब, जुडीशल सैक्रेटरी साहब और पुलिस सुपरि० साहब को जो खत रवाना किये हैं उनकी नकल आपकी सेवा में भेजी जाती है। हमारी सम्मति में अब अच्छे मजमून की दरख्वास्त बनवाकर मुहूर्त सुदवाकर रथोत्सव की आज्ञार्थ पुनः राज्य में निवेदन करने का समय आ गया है। आप मसौदा दरख्वास्त का माननीय विद्यावारिधि जैन दर्शन दिवाकर बैरिस्टर चम्पतराय जी से बनवाइयेगा और हिन्दू महासभा के मंत्री जी के पत्र की नकल भी उनके पास भेज दीजियेगा। अच्छा हो यदि आप साहब में से एक योग्य सज्जन जल्दी [illegible] भेजाकर उनसे मसविदा बनवा लें।



बाबू छोटेलाल जी जैन (बांये); श्री शिवराम मूर्ति डाईरेक्टर जनरलआर्चालोजिकल डिपार्टमेन्ट (बीच में) तथा श्री टी. एन. रामचन्द्रन (दाएं) के साथ

बा० छोटेलाल जी और स्याद्वाद महाविद्यालय

कैलाशचन्द्र शास्त्री, वाराणसी

बाबू छोटेलालजी के पिता सेठ रामजीवनजी सरावगी विद्वानों के बड़े प्रेमी थे। उनका स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसी पर असीम अनुराग था। मेरे विद्यार्थी जीवन काल में विद्यालय के छात्र संस्कृत की परीक्षा देने प्रति वर्ष कलकत्ता जाते थे। उस समय सेठजी सब छात्रों को अपने घर पर आमंत्रित करके आतिथ्य सत्कार करते और उन्हें कलकत्ता घूमने के लिये अपनी घोड़ा गाड़ी दे देते थे। जब उनका स्वर्गवास हुआ तो उन्होंने पांच हजार रुपया स्याद्वाद महाविद्यालय को प्रदान किया।

उनके स्वर्गवास के पश्चात् उनके सुपुत्रों का विशेषतः बाबू छोटेलालजी का जीवन के अंतिम क्षण तक इस विद्यालय पर वही अनुराग रहा जैसा कि उनके स्वर्गीय पिताजी का था। उनेक द्वारा बांधी गई ५) मासिक की सहायता प्रति वर्ष बराबर आती है। इसे आते हुए आधी शताब्दी बीत चुकी है।

जब उनके एक भाई सेठ गुलजारीलालजी बीमार हुए तो बाबू छोटेलालजी की प्रेरणा से उन्होंने स्याद्वाद विद्यालय को २५,०००) रुपया प्रदान किया था। इसी तरह दूसरे भाई सेठ दीनानाथजी ने बाबू छोटेलालजी की प्रेरणा से १५,०००) विद्यालय को प्रदान किया था। वे तो गुप्त दान हैं। समय समय पर हजार दो हजार का दान तो निरन्तर ही बाबूजी के परिवार से मिलता रहा है। अतः स्याद्वाद महाविद्यालय स्वर्गीय सेठ रामजीवनजी और उनके कुटुम्ब का बड़ा ऋणी है। दानवीर साहू शान्तिप्रसादजी के बाद विद्यालय को दान देने वालों में दूसरा नम्बर इसी परिवार का है।

विद्यालय को कार्य करते हुए पचास वर्ष पूर्ण होने पर जब स्वर्णजयन्तीमहोत्सव मनाने का विचार मैंने बाबू छोटेलालजी पर प्रकट किया तो वे प्रसन्नता से तत्काल सहमत हो गये और कलकत्ता में मेरे साथ घर घर घूमकर उन्होंने लगभग पच्चीस हजार का चन्दा कराया। साहू शान्तिप्रसादजी, सेठ गजराजजी, सेठ मिश्रीलालजी काला आदि को प्रेरणा दी और सम्मेद शिखर पर पूज्य क्षुल्लक श्री गणेशप्रसादजी वर्णीजी की छत्र छाया में विद्यालय का स्वर्ण जयन्ती महोत्सव शान से हुआ तथा विद्यालय को एक लाख से भी अधिक रुपयों की सहायता प्राप्त हुई। उस महोत्सव के स्वागत मंत्री बाबू छोटेलालजी ही थे। स्वास्थ्य के अत्यन्त खराब व कमजोर होते हुए भी उन्होंने जो शीत ऋतु में रात दिन श्रम किया उसे मैं कैसे भूल सकता हूँ। हाड़ चाम के पूले से कलेवर में ऐसी दृढ़ निश्चयी, विद्या और साहित्य की प्रेमी आत्मा का आवास देखकर मस्तक श्रद्धा से नत हो जाता था। बाबू छोटेलालजी जैसा व्यक्तित्व दुर्लभ है। प्रशंसा-आकांक्षा से सर्वथा दूर रहकर कार्य करना उनकी विशेषता थी। कहावत है-'गुण ना हिरानो गुणगाहक हिरानो है।' किन्तु बाबू छोटेलालजी सच्चे गुणग्राही थे। ऐसे आदरणीय व्यक्तित्व का सम्मान करने वाले स्वयं सम्मानित होते हैं। इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है।

वावूजी की मधुर स्मृतियां

स्वामी सत्यभक्त

करीब तेतीस वर्ष पुरानी वात है। मैं उन दिनों वम्बई में रहता था और सुबह ताड़देव से चौपाटी घूमने जाया करता था। वहीं सेठ ताराचन्द जी का वंगला था। सेठ ताराचन्दजी मेरे हर आन्दोलन में सहयोगी रहे थे, और पीछे तो वे सत्य समाजी भी बन गये थे इसलिये उनसे काफी घनिष्ठता थी और इसी नाते कुछ समय उनसे गपशप भी हो जाया करती थी। एक दिन जब मैं उनके यहां गया तो वहां वावू छोटेलालजी भी बैठे थे। एक दूसरे का परोक्ष परिचय तो था ही, एकाध वार मिलना भी हो गया था, पर निकट परिचय का यह पहिला ही अवसर था। वावू छोटेलालजी ने कुछ प्रश्न पूछे। मैंने कहा-एक जैन पंडित की हैसियत से प्रचलित मान्यता के अनुसार उत्तर दूँ या मेरा जो स्वतंत्र चिन्तन है उसके अनुसार उत्तर दूँ। आपने कहा—प्रचलित मान्यता के अनुसार तो उत्तर बहुत सुन चुका हूँ आपका स्वतंत्र चिन्तन ही सुनना चाहता हूँ।

इसके वाद सर्वज्ञता, उत्सर्पिणी अवसर्पिणी, जैन धर्म की प्राचीनता, जैन पुराणों का रूप आदि पर कई घंटे चर्चा होती रही और मैंने अपने विचार निःसंकोच भाव से रक्खे। चर्चा के उपसंहार में वे वोले-आपके पास ऐसे असाधारण विचारों का खजाना है पर आपने उसे छिपा क्यों रक्खा है?

मैंने कहा-ये विचार जैन समाज के लिये इतने क्रान्तिकारी हैं कि इनसे सारे समाज में तहलका मच जायगा। जैन समाज-खासकर जैन पंडित-मुझ पर टूट पड़ेंगे। ऐसी अवस्था में मुझे सब का सामना करना पड़ेगा। इसलिये मैं अपने इन विचारों पर इतना मनन चिन्तन कर लेना चाहता हूँ कि जिससे मैं उनके सामने टिक सकूँ। इसलिये मैं इन पर पांच वर्ष और चिन्तन करना चाहता हूँ।

वावूजी ने आश्चर्य से कहा—पांच वर्ष! यह तो बहुत लम्बा समय है। जीवन का क्या ठिकाना! आपके ये विचार आपके साथ ही समाप्त हो जायें तो यह तो समाज की वड़ी हानि होगी।

मैंने कहा—यह तो ठीक है। परन्तु आज तक जो भी आन्दोलन मैंने किये हैं वे तभी किये हैं जब अन्त तक समर्थन करने की क्षमता अपने में देखली है।

वावूजी वोले—यह तो ठीक है। परन्तु कोई वात समाज में विचार करने के लिये पेश करने में क्या बुराई है! आप घोषित कर दें कि ये विचार मेरे निश्चित या अन्तिम विचार नहीं है किन्तु सत्य की खोज के लिये विचारणीय सामग्री के रूप में हैं। इन पर जो चर्चा होगी उसके आधार से निश्चित विचार बनेंगे' इस प्रकार की घोषणा करके आप अपने विचार समाज के सामने रखदें।

मैं कुछ देर सोचता रहा। स्वीकारता दूँ कि न दूँ इसी चिन्ता में रहा कि आपने फिर जोर दिया। अन्त में मैंने स्वीकारता देदी।

स्वीकारता कोरा शिष्टाचार न थी। उसके पीछे वड़ी भारी जिम्मेदारी थी। दिन रात की घोर तपस्या, जैन समाज में निन्दा और विरोध का तूफान, नौकरी से छुड़ाया जाना, जीविका की चिन्ता, वीमार पत्नी के साथ यह सब वोझ उठाना, इतना सब ववंडर उस स्वीकारता के पीछे था जो वाद में सब सहन करना पड़ा पर इससे जीवन निखर गया। जिस देवता के चरणों पर यह जीवन चढ़ना चाहिये था वहीं चढ़ गया, जीवन सफल हो गया।

अगर उस दिन वावू छोटेलालजी से यह चर्चा न होती और उन्होंने मुझ से स्वीकारता न लेली होती

तो भी सत्यसमाज स्थापित होता, क्योंकि सन् २४ में ही इस प्रकार का संकल्प अपनी डायरी में लिखा था परन्तु उसमें पांच वर्ष की और कदाचित दस वर्ष की देर होती और इस समय भेद से कौन कौन सी घटनाएँ घटती कह नहीं सकता। हाँ! इतनी बात तो निश्चित है कि सत्य साधना की तपस्या के लिये उतने वर्ष कम मिले होते। और इसका हिसाब जब मैं आज देखता हूं तब सत्य साधना की शीघ्रता के लिये बाबू छोटेलालजी ने जो प्रेरणा दी उसका मूल्यांकन बहुत ऊँचा होता है।

उस समय न उन्हें पता था, न स्पष्ट रूप में मुझे पता था कि इसका *पर्यवसान सत्य समाज* की स्थापना में होगा। पर उनकी प्रेरणा अमोघ साबित हुई। उनके जीवन के अनेक पुण्य कार्यों में यह भी एक महान पुण्य का कार्य था।

पवित्रतम दान

इस देश में लाखों दानी पड़े हैं और वे लाखों रुपयों का दान करते हैं। परन्तु अधिकांश दान किसी न किसी तरह कलंकित रहते हैं। कोई दानी अपने नगर में ही दान करते हैं और दान की हुई सम्पत्ति के पूर्ण संचालक बने रहकर उस दान के ठीक उपयोग में बाधक बने रहते हैं। कोई सिर्फ मान प्रतिष्ठा खरीदने के लिये दान करते हैं, अर्थात् प्रतिष्ठा का मूल्य चुकाते हैं। कोई कोई तो ऐसे होते हैं कि उनकी मान प्रतिष्ठा में कुछ कमी रह जाय तो दान की रकम रोक लेते हैं। कोई दान की उपयोगिता का विचार ही नहीं करते जहां अधिक वाहवाही मिलती हो वहीं दान देते हैं। कोई किसी के अनुरोध से विवश होकर दान देते हैं। इस प्रकार दान में नाना तरह की अशुद्धियाँ हैं। परन्तु बाबू छोटेलालजी के दान में वे अशुद्धियाँ नहीं दिखाई दीं। उनके दान की ये विशेषताएं

२—दान के लिये अनुरोध आग्रह आदि की अपेक्षा नहीं करते थे।

३—दान के लिये उन्हें अपने नगर आदि का मोह नहीं था। जहाँ भी कहीं जनसेवा की दृष्टि से उपयोगिता दिखती कि उनने शक्ति भर दान दिया।

४—दान को वे उपकार नहीं समझते थे किन्तु अधिक धन पैदा करने में जो थोड़ा बहुत पाप हो जाता है उसका प्रायश्चित समझते थे।

५—दान देने पर नाम प्रकट होना चाहिये, उनका चित्र निकलना चाहिये, उनकी तारीफ छपनी चाहिये, इस प्रकार का कोई भाव वे प्रकट नहीं करते थे।

ये विशेषताएँ बहुत कम दानियों में पाई जाती हैं। सत्याश्रम को उनसे बीस हजार से भी अधिक रुपयों का दान प्राप्त हुआ है। और यह सब बिना मांगे या बिना किसी प्रेरणा के हुआ है। दुर्भाग्य या सौभाग्य से मैं दान मांगने में बहुत कच्चा हूँ। साधारणतः सत्याश्रम के लिये कभी किसी से मांगा नहीं हूँ। फिर भी समय समय पर बिना मांगे ही बाबू छोटेलालजी से हजारों रुपया मिलता रहा है।

एक बार, सन् ४५ में, जब वे वर्धा आये तब दस हजार रुपये का ड्राफ्ट मेरे नाम का लेते आये। मैंने कहा—इतनी बड़ी रकम आप लायेंगे इसकी तो मैंने कल्पना भी नहीं की थी। बोले—आपके पत्रों की फीस भी तो नहीं है।

हो सकता है कि मेरे पत्रों से उन्हें कुछ आनन्द मिला हो, मन को सान्त्वना मिली हो, पर हर दिन दस पांच पत्र पर्यटने वालों में हजारों पत्र लिख चुका हूँ, और उनमें भी अनेक पत्र बड़े महत्वपूर्ण रहे होंगे परन्तु इस तरह मेरे पत्रों की फीस चुकाने वाले कितने हैं। यह सब बाबू छोटेलालजी की [illegible] कृतज्ञता, उदारता, दानशीलता का

नहीं पाई जाती। यों उनका दान भी कम नहीं है। लाखों पर तो पहुँचा ही हुआ है।

उनके दान में एक विशेषता और थी कि दान देने पर फिर उस रकम से मोह नहीं रक्खा जाता न उस रकम को अपने उपयोग में लाया जाता है। या तो वह रकम जहां के लिये होती वहीं पहुँचा दी जाती, या अन्तन करके उसका व्याज चालू कर दिया जाता। दान की यह ईमानदारी भी असाधारण है।

विनयशीलता

बाबू छोटेलालजी, श्रीमान थे दानी थे, साथ ही अच्छे विद्वान भी थे अंग्रेजी के लेखक भी थे। फिर भी उन्हें किसी बात का अभिमान नहीं था। आत्मगौरव का पूरा ध्यान रखते हुए भी वे बड़े विनीत थे। कई बार मेरे कलकत्ता आने पर बीमार रहने पर भी वे स्वागत के लिये स्टेशन पर आये। जब सत्याश्रम आये तब मैं विदा करने के लिये स्टेशन तक साथ चलने लगा पर उनने किसी तरह न आने दिया। तांगे में इस तरह सामान जमा दिया कि मैं पहुँचने के लिये तांगे में बैठ भी न सकूँ। सभी के साथ उनका यथोचित विनीत व्यवहार था। इतने श्रीमान विद्वान और दानी होने पर भी उनकी ऐसी विनीतता असाधारण थी।

दैव टेढ़ा हो तो आदमी की चतुराई काम नहीं देती।
असंभव घटना भी तब संभव हो घट जाती है।

× × ×

मनुष्य झूँठ के साथ समझौता करके जीवन की कितनी सम्पदा नष्ट कर डालता है।

× × ५

विचार और व्यवहार में मतभेद होते हुए भी किसी पर श्रद्धा की जा सकती है।

× × ×

स्वेच्छा से ग्रहण किये हुए दुःख को ऐश्वर्य के समान भोगा जा सकता है।

× × ×

बहु परिग्रह के भीतर जीवन तुच्छ होने लगता है। दुःख दैन्य और अभाव में से गुजर कर मनुष्य का चरित्र महान और सत्य हो जाता है।

× × ×

संसार में अपने पराये का जो व्यवहार चल रहा है वह अर्थ हीन है। यहाँ न कोई अपना है न पराया। यह कोई नहीं जानता कि संसार के इस महा समुद्र के प्रवाह में पड़कर कौन कहाँ से बहता हुआ पास आ जाता है और कौन बहकर दूर चला जाता है।"

—बाबू जी की डायरी से

२८/२९-१०-६३ को जैन सिद्धान्त भवन की हीरक जयन्ती के अवसर पर आरा में पुनः उनसे भेंट हुई तो उनकी शारीरिक स्थिति देखकर अत्यन्त खिन्न हो उठा। वे स्वयं उससे परेशान थे। बोले– भाई, आप लोगों के आग्रह को न टाल सका, अतः असमर्थ होते हुए भी यहाँ जिस किसी प्रकार आ गया हूँ, अब सम्भवतः कलकत्ते से बाहर जाने का यही आखिरी अवसर होगा। नहीं कह सकता कि कब मैं जगत से विदा हो जाऊँ। लम्बी सांस खींचने के सिवाय और कुछ न बोल सका। भाई बद्रीप्रसाद जी पटना आदि कई सज्जन वहाँ बैठे थे। वातावरण इतना गम्भीर हो उठा कि कोई भी प्रत्युत्तर में कुछ कह न सका।

आरा-प्रवास में वे श्री जैन बाला विश्राम में ठहरे थे। कलकत्ता वापिस लौटने के पूर्व मैं पुनः उनसे भेंट करने गया। बातचीत के दौरान मेरे शोध प्रबन्ध की बात छिड़ गई। महाकवि रइधू की रचनाओं के परिचय के प्रसंग में मैंने सचित्र "जसहर चरिउ (यशोधर चरित्र) की हस्तलिखित प्रति की चर्चा उनसे की। यह भी बताया कि साधनाभाव में मैं उसकी फोटो कापी भी नहीं करा सका हूँ। यह सुनकर वे बड़े चिन्तित हो गये। तुरन्त ही मुझे पटना चलने का आदेश दिया। [illegible] तत्काल कार्य होना सम्भव न हुआ इसकी [illegible] सा हुआ, किन्तु मूल प्रेरणा उन्हीं की [illegible] आज मेरे [illegible] कर सकने लायक वह [illegible]।

[illegible] १९६५ में अचानक ही मुझे शान्ति- [illegible] जाना पड़ा, तभी सोचा कि [illegible] रुककर पूज्य बाबूजी से भी भेंट [illegible]। [illegible] पर पहुँचा तो मालूम पड़ा कि [illegible] बहुत ही खराब [illegible]। [illegible]

कुछ ताकत आई तब कुशलवृत्त पूछने के बाद उनसे मेरे शोध-प्रबन्ध की चर्चा हुई। मैंने कुछ सूचनाएँ उनसे चाहीं। मेरी जिज्ञासा शान्त करने हेतु पता नहीं उनमें कहाँ से बल आ गया। वे तुरन्त ही पलंग से नीचे उतरे, बगल के कमरे से चाभियों का गुच्छा खोजा और अपने अध्ययन कक्ष में पहुँच कर आलमारी खोली एवं शोध पत्रिकाएँ, इतिहास ग्रन्थ, रिपोर्ट्स आदि एक के बाद एक निकालकर लगे मुझे सूचनाएं देने। मेरा ध्यान उपलब्ध सामग्री की ओर उतना अधिक न था जितना बाबूजी के अचानक प्राप्त शक्ति एवं उत्साह की ओर। वे बोले— "आपको आश्चर्य क्यों हो रहा है? मैं भारतीय संस्कृति, साहित्य एवं पुरातत्व का पुजारी हूँ। इनकी मैंने सतत् सेवा की है और इनकी सेवा के लिये ही मैं अभी कुछ समय और जीवित रहना चाहता हूँ। मुझे यदि कोई अच्छा सहयोगी मिले तो मैं पुनः कुछ शोध-कार्य आरम्भ करना चाहता हूँ। साहित्य सेवा एवं पुरातत्वान्वेषण मेरे परम अभिरुचि के विषय हैं। इन कार्यों में डूबने से मेरी जीवनी शक्ति में वृद्धि होती है।" वृद्धयुवा बाबूजी के जीवन का यह गूढ़ रहस्य मुझे उसी दिन ज्ञात हुआ। मैं अवाक् रह गया।

श्रद्धेय बाबूजी समाज, साहित्य एवं पुरातत्व की अमूल्य निधि थे। समाज में जब भी कोई आन्दोलन हुआ, संघर्ष छिड़ा, योजना बनी अथवा कहीं कोई अकाल आदि पड़ा, वे उसके अगुओं में रहते। सेवा की लगन ने उन्हें आराम हराम बना दिया था। नवयुवकों के वे सच्चे हितैषी थे। साम्प्रदायिक मैत्री का निर्वाह भी वे बड़े ही उत्तरदायित्व के साथ करते थे। सरस्वती का वरदहस्त तो उन पर था ही, लक्ष्मी की भी अटूट कृपा उन पर थी। सरस्वती और लक्ष्मी का [illegible] अपूर्व समन्वय उन्हें मिला था। उनके [illegible] पर [illegible] को भी ईर्ष्या हो सकती थी। वे सच्ची श्रद्धा के पात्र थे। उनकी पवित्र स्मृति में श्रद्धा के ये कुछ सुमन [illegible] चढ़ा रहा हूँ।



बाबू जी (बाएँ सबसे पहले खड़े हुए) बंगलौर में जूओलोजिकल अफसरों की मीटिंग के पश्चात् लिये गये ग्रुप फोटो में (२७-६-५६)



बाबू जी महाबलिपुरम में श्री टी. एन. रामचन्द्रन और आफिसर इन चार्ज टूरिस्ट सेन्टर मद्रास (महिला) के साथ (३-३-५६)



बाबू जी (दाएँ) कामहाबालिपुरम में श्री टी. एन. रामचन्द्रन (बाएं) तथा आफीसर इन चार्ज टूरिस्ट सेन्टर, मद्रास (बीचमें) के साथ एक और चित्र (३-३-५६)

बाबू जी

पं० चैनसुखदास न्यायतीर्थ

दिगंबर बाबू छोटेलाल जी जैन की गणना देश के प्रमुख समाज एवं साहित्य सेवियों में की जाती है। देश की विभिन्न संस्थाओं से उनका निकट सम्बन्ध था और उनके माध्यम से वे गत ५० वर्षों से देश, समाज एवं साहित्य सेवा में अनुरक्त थे। सन् १९१७ में कलकत्ता में जब इन्फ्लुएंजा का भीषण प्रकोप हुआ तब उन्होंने पीडित व्यक्तियों की भोजन, औषधि आदि की व्यवस्था कर भरपूर सहायता की थी और यही सार्वजनिक सेवा में प्रवेश का सर्वप्रथम अवसर था। सन् १९४३ में बंगाल में जो भीषण अकाल पड़ा था और जिसने लाखों इन्सानों की जान ले ली थी उस समय बाबू जी ने सारे बंगाल में घूम घूम कर अकाल पीडितों की तन मन धन से जो सेवा की थी वह अविस्मरणीय रहेगी। इसी तरह पूर्वी पाकिस्तान के नोआखाली क्षेत्र में जब भीषण साम्प्रदायिक दंगे हुए और मनुष्य मनुष्य का दुश्मन बन गया उस समय भी अपने जीवन का खतरा मोल लेकर वहाँ [illegible] खोले और सैकड़ों हिन्दुओं के जीवन की रक्षा की। कलकत्ता में हिन्दू मुसलिम दंगों के समय भी बाबू जी ने स्वयं पीडितों की प्रशंसनीय सेवा की। सरदार पटेल की अपील पर सोमनाथ मन्दिर के पुनरुद्धार के लिये कलकत्ता नगर के धनी [illegible] द्वारा जो दो लाख की भारी रकम एकत्र हुई थी उसमें भी बाबू जी का पूरा सहयोग था।

सन् [illegible] में आप कांग्रेस के सक्रिय सदस्य [illegible] अधिवेशन [illegible] कलकत्ता [illegible] किया। श्री सी० आर० दास [illegible] जैसे उच्च नेताओं ने इस में भाग लिया था। बाबूजी सी० आर० दास के अनुयायियों में से थे। इस कारण उन्हें काफी परेशानियां भी उठानी पड़ी थीं पर आपने कभी भी दास बाबू का साथ नहीं छोड़ा।

कलकत्ते के सम्पन्न जैन परिवार में आपका ७० वर्ष पूर्व जन्म हुआ और शिक्षा प्राप्ति के पश्चात् आपका जीवन कारवां यात्रा की ओर बढने लगा। अपने व्यापारिक कार्यों के पश्चात् जो भी समय आपको मिलता उसे आप समाज एवं देश सेवा में व्यतीत करने लगे। शनैः शनैः आप सेवा के क्षेत्र में अधिक तत्परता से बढने लगे और कुछ समय पश्चात् आप पूरे समाज सेवी ही बन गये। आपका सारा जीवन ही देश एवं समाज सेवा में समाप्त हो गया। बाबू जी कितनी ही संस्थाओं के अध्यक्ष, मंत्री एवं ट्रस्टी थे। आप कलकत्ता जैन मन्दिर के ट्रस्टी, कार्तिक महोत्सव कमेटी एवं अ० भा० तीर्थ क्षेत्र कमेटी के सक्रिय सदस्य जीवन के अन्त तक रहे। इससे पूर्व वे बंगाल बिहार उड़ीसा तीर्थ क्षेत्र कमेटी के मंत्री भी रहे। समाज के सभी सुधार आन्दोलनों एवं सम्मेलनों में आपका प्रमुख हाथ रहता था। समाज में बहुत से विकास कार्य आपके निर्देशन में चलते थे।

साहित्य एवं पुरातत्व के आप विशेष प्रेमी थे। देश की प्रमुख साहित्यिक संस्था वीर सेवा मन्दिर देहली के आप वर्षों से अध्यक्ष थे। अनेकान्त पत्र के संचालन में आपका प्रमुख हाथ था और वे उसके [illegible] समय तक सम्पादक भी रहे। रायल एशियाटिक सोसायटी के आप सन् [illegible] से सम्मानित सदस्य थे। खण्डगिरि उदयगिरि के पुरातत्व महत्व को प्रकाश में लाने में आपका



बाबू जी (बाएँ सबसे पहले खड़े हुए) बंगलोर में जूओलॉजिकल अफसरों की मीटिंग के पश्चात् लिये गये ग्रूप फोटो में (२७-६-५६)



बाबू जी महाबलिपुरम् में श्री टी. एन. रामचन्द्रन और आफिसर इन चार्ज टूरिस्ट सेन्टर मद्रास (महिला) के साथ (३-३-५६)



बाबू जी (दाएँ) कामहाबालिपुरम् में श्री टी. एन. रामचन्द्रन (बाएँ) तथा आफीसर इन चार्ज टूरिस्टर सेन्टर, मद्रास(बीचमें) के साथ एक और चित्र (३-३-५६)

विशेष हाथ था । पुरातत्त्व की खोज में आपने दक्षिण भारत के अतिरिक्त बिहार, उडीसा, बंगाल, राजस्थान आदि प्रदेशों में भ्रमण किया था और वहां से महत्त्वपूर्ण सामग्री खोज निकाली थी । आप की सर्व प्रथम पुस्तक 'कलकत्ता जैन मूर्त्ति यंत्र संग्रह' सन् १९२३ में प्रकाशित हुई । फिर जैन बिबिलियोग्राफी का प्रथम भाग सन् १९४५ में प्रकाशित हुआ और दूसरा भाग भी शीघ्र प्रकाशित होने की स्थिति में था कि आपका स्वर्गवास हो गया । पुरातत्त्व एवं शिला लेखों के सम्बन्ध में आपने एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक का संग्रह किया है जिसका प्रकाशन आवश्यक है । देश विदेश के विद्वानों को जैन साहित्य पर शोध कार्य में आप बराबर सहयोग देते रहते थे । डा० विन्टर निट्ज, डा० ग्वासिनव, श्री आर० डी० बनर्जी, रायबहादुर आर० पी० चन्द्रा, श्री एन० जी० मजूमदार, श्री के० एन० दीक्षित, अमूल्य चंद्र विद्याभूषण, डा० विभूतिभूषणदत्त, डा० ए० आर० भट्टाचार्य, डा० एस० आर० बनर्जी आदि सैकड़ों विद्वानों ने आपसे जैन साहित्य एवं पुरातत्त्व में पूरा सहयोग लिया था ।

बाबू जी सदैव सफल व्यापारी रहे । एक लम्बे समय तक आप कलकत्ता की प्रसिद्ध गनी ट्रेड एसोसियेशन के प्रमुख सदस्य रहे । इस संस्था के आप वर्षों तक मंत्री एवं अध्यक्ष भी रहे । आपकी व्यावसायिक योग्यता देखकर बंगाल चैम्बर आफ कामर्स एण्ड इन्डस्ट्रीज तथा इण्डियन चैम्बर आफ कामर्स एण्ड इन्डस्ट्रीज ने अपनी ओर से आपको पंच (Arbitrator) नियुक्त किया ।

इन सबके अतिरिक्त आप दानी, परोपकारी, एवं कर्मठ कार्यकर्त्ता थे । आपने विभिन्न सामाजिक संस्थाओं को सब मिला कर लाखों रुपये का दान दिया होगा । आपको समाज के नवयुवकों का बड़ा खयाल था । उन्हें मार्ग दर्शन देने तथा व्यवसाय धन्धे में लगाने में आप सतत् प्रयत्नशील रहते थे । कलकत्ते के बंगाली एवं जैनेतर समाज में भी आप विशेष प्रिय थे तथा वहां के प्रतिष्ठित साहित्य सेवियों एवं समाज सेवियों से आपका विशेष सम्बन्ध था ।

आपका स्वास्थ्य आपका साथ नहीं देता था और बीमारी चाहे जब आपको परेशान करती रहती थी । अस्वस्थ रहने पर भी उत्साह एवं लगन के साथ आप समाज एवं देश की सेवा में व्यस्त रहते थे । ऐसे देश से बी समाज सेवी, साहित्य सेवी, साधक एवं संस्कृति के अनन्य सेवक का स्मरण देश और समाज के लोगों को निश्चय ही प्रेरणा और स्फूर्ति प्रदान करता है । उनके चरणों में श्रद्धा के ये कुछ पुष्प अर्पित हैं ।



इस पृथ्वी के नीचे बहुत से ऐसे लोग गाड़े गये हैं जिनके अस्तित्व का कोई भी चिन्ह इस दुनियाँ में अब शेष नहीं है । नौशेरवां की वृद्ध लाश को जमीन ने ऐसा खाया कि उसकी एक हड्डी भी अब बाकी नहीं रही मगर उसका नाम आज भी जीवित है । यद्यपि और भी बहुत से मनुष्य इस पृथ्वी पर आये और मर गये । स्वयं नौशेरवां भी नहीं रहा । अतः ऐ मनुष्य, यह आवाज आने से पूर्व कि अमुक व्यक्ति मर गया नेकी कर और अपनी उम्र को गनीमत समझ ।

—शेख सादी

एक सहज प्रेरक व्यक्तित्व

डॉ० देवेन्द्र कुमार शास्त्री

बाबू छोटेलालजी का व्यक्तित्व उस सरल, स्निग्ध एवं स्वच्छ चांदनी की भांति था जिसने अपने शीतल कर-निकरों से सहज ही भारतीय जन-मानस को आप्यायित किया है। जिस में मानस सी पवित्रता, ज्ञान-रश्मियों सी प्रखरता और हिम-सीकरों सी तरलता एवं-दीप्ति थी और जो अपने लिए कुछ नहीं पर दूसरों के लिए सब कुछ थे। जिस ने अनेक बाधाओं को झेल कर अपना निर्माण किया और जो देश तथा समाज की सेवा में विकीर्ण हो गया। जो समाज एवं संस्कृति का सजीव विग्रह था। जिस में आत्मनिष्ठा, तत्परता-एवं लगन थी। ऐसे सत्य शोधक तथा अन्वेषक के रूप में त्यागमूर्ति वावू छोटेलालजी का जीवन चित्र मेरे अन्तर्मन में उभर कर आता है।

सन् १९६१ की वात है। मई का महीना था। मैं शोध-कार्य के सिलसिले में दिल्ली गया था। तभी वावूजी से मेरा प्रथम परिचय वीर सेवा मन्दिर के विशाल भवन में हुआ। मेरे कार्य और उत्साह को देख कर वावूजी को बड़ी प्रसन्नता हुई। और उनसे मेरा मन भी आल्हादित हुआ कि समाज में अभी ऐसे सत्सेवी तथा पारखी विद्यमान हैं जो साहित्य एवं संस्कृति विषयक शोध कार्य की सराहना कर उनका वास्तविक मूल्यांकन करने वाले हैं। धीरे-धीरे मुझे यह भी पता चला कि वावूजी भारतीय साहित्य, संस्कृति एवं पुरातत्व आदि विषयों में केवल रुचि ही नहीं रखते वरन् स्वयं गम्भीर अध्ययन करते और अन्य विद्वानों को उसके लिए प्रेरित करते थे। यही नहीं, सभी प्रकार के आधुनिक साधन एवं सम्बन्धी सामग्री जुटाने और अन्य सहायता पहुँचाने में भी सक्रिय भाग लेते हैं। उनकी इस मूक लगन तथा सेवा से प्रभावित होना स्वाभाविक ही था। मैं क्या, मेरे जैसे अन्य नवयुवक आज देश, समाज तथा संस्कृति की सुरक्षा एवं उद्धार के लिए कई प्रकार की संविधाओं में कार्य करना चाहते हैं-पर उचित निर्देशन, पर्याप्त सामग्री का अभाव तथा किसी प्रकार का साहाय्य एवं प्रोत्साहन न मिलने के कारण उनका उत्साह बिखर जाता है। मुझे भलीभांति स्मरण है कि उन दिनों अस्वस्थ होने पर भी वावूजी अध्ययन और मनन में अपना अधिक समय लगाते थे और केन्द्रीय पुस्तकालय का भरपूर उपयोग करते थे। मुझे भी उन से प्रेरणा प्राप्त हुई और ज्ञान-संवर्द्धन तथा विकास में बहुत कुछ योग मिला। मैं कई दिनों तक उन के साथ रहा। मैंने देखा कि वे भीतर और बाहर से समान हैं तथा विविध आधिव्याधियों से संत्रस्त रहने पर भी वे दूसरों की भलाई और सहायता के लिए तत्पर रहते हैं तथा विद्वानों की सहायता के लिए तो सभी प्रकार से प्रस्तुत रहते हैं। अतएव मेरे लौटने के आग्रह करने पर भी वे कुछ दिनों तक मुझे रोके रहे और अपने ज्ञान तथा अनुभवों का लाभ प्रदान करते रहे। उन्होंने मुझे एक यह सुझाव भी दिया कि मैं हिन्दी के साथ ही अंग्रेजी में भी लिखना आरंभ कर दूं, क्योंकि बंगाल तथा दक्षिण एवं अन्य देशों के विद्वान् जैन साहित्य के सम्बन्ध में नई जानकारी पाने के उत्कट अभिलाषी हैं पर हिन्दी न जानने से वे लोग इससे वञ्चित रहते हैं। वावूजी का यह परमोपयोगी सुझाव आज भी मेरे हृदय पटल पर अंकित है और इसके लिए यह जन कृतज्ञ है।

यथार्थ में वावूजी का व्यक्तित्व बहुमुखी था। आपने सरल तथा निश्छल भाव से समाज की जो

अनन्य सेवा की उससे लगभग अर्द्ध शताव्दी का दीर्घ काल परिव्याप्त है । आप का त्याग एवं उत्सर्ग अनुकरणीय तथा अभिनन्दनीय है । वहुत कम लोगों को यह पता है कि श्रवणबेलगोला में संस्थित गोमटेश्वर वाहुवलि की विशाल प्रतिमा के जीर्णोद्धार तथा दक्षिण भारत में स्थित जैन भण्डारों की ग्रन्थ-सूची तैयार कराने में. वावू छोटेलालजी का विशेष योगदान था । साहित्यसेवी तथा पुरातत्त्ववेत्ता के रूप में भी आप के कार्य उल्लेखनीय हैं । स्वयं सफल व्यापारी रहते हुए भी आपने जो साहित्य-रचना की वह महत्त्वपूर्ण एवं गौरवास्पद है । समाज, राष्ट्र एवं साहित्य सेवा जैसे महत्त्वपूर्ण कार्यों में आप वरावर सहयोग देते रहे । इन सव रूपों में वावूजी का अपना व्यक्तित्व था–किसी में कम और किसी में अधिक । किसी में कोमल तो किसी में कठोर । परन्तु इन सव से ऊपर उनका सहज प्रेरक व्यक्तित्व ही मेरे अन्तर्मन पर अपनी छाप छोड़ सका है और जो अमिट है ।

जो भी स्नातक या विद्वान् वावूजी के सम्पर्क में पहुँचता वह उनसे प्रभावित हुए विना नहीं रहता । इसका एक मात्र कारण था उनका सहज प्रेरक व्यक्तित्व । उनके उत्साह प्रदान एवं सत्प्रेरणा से आज समाज में अनुसन्धित्सुओं की संख्या वृद्धिगत होती जा रही है । वास्तविकता तो यह है कि जैनेतर विद्वानों में जैन-साहित्य के अनुशीलन एवं अनुसन्धान की जो रुचि जागृत हुई उसका अधिकांश श्रेय वावूजी को था । वे सत्यनिष्ठ मूक आराधक की भांति स्वसंचालित सूत्र से ज्ञान-विज्ञान की आहुतियों का प्रक्षेपण करते रहे और उन्होंने फल प्राप्ति की कभी कामना तक नहीं की । ऐसे समाजसेवी विरले ही होते हैं । भारतीय श्रमण संस्कृति की सुरक्षा के लिए आप ने समय समय पर अपनी सूझ–वूझ से समाज की अमित सेवा की । इतना ही नहीं, विदेशों को जैन–साहित्य सम्वन्धी अमूल्य सूचनाएं एवं-साहित्य प्रेषित कर आप ने उन शोध-वेत्ताओं को भी प्रेरित कर अपने सहज प्रेरक व्यक्तित्व को चरितार्थ किया । जिस ने अपनी सुरक्षा एवं प्रगति के चरणों को कई दिशाओं में गतिमान किया । ऐसे उदार व्यक्तित्व सम्पन्न व्यक्ति को श्रद्धाञ्जलि अर्पण करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है ।

मैं दूसरों के दृष्टिकोण को भी उतना ही महत्व देता हूँ जितना कि अपने दृष्टिकोण को ।

—सर हेनरी फोर्ड

\+ \+ \+ \+

हम इस प्रकार का जीवन व्यतीत करने का प्रयत्न करें कि हमारी मृत्यु के पश्चात् हमें दफनानेवाला भी दो वूँद आंसू वहा दे ।

—पेट्रार्क

तीन पुश्त का सम्पर्क

सुबोध कुमार जैन, आरा

तीन पुश्त का सम्पर्क और वह भी बिल्कुल निर्दोष रहे यह कम आश्चर्य की बात नहीं है? लेकिन श्रद्धेय बाबू छोटेलाल जी ने जिन्हें हम प्यार से चाचा जी कहते थे यह संभव कर दिखाया। हमारे प्रातः स्मरणीय पू० दादा जी, राजर्षि देव कुमार जी, जिस समय अत्यंत बीमारी की हालत में इलाज के लिये कलकत्ते पहुंचे, उस समय छोटेलालजी ने सपरिवार उनकी जो सेवाएं की उसे आज भी हमारे परिवार वाले याद करते हैं। हमारे पूज्य पिता जी, बा. निर्मलकुमार जी से भी इनकी मैत्री अत्यन्त घनिष्ठ और अनुकरणीय रही। मुझे भी उनका अत्यधिक प्रेम और आशीर्वाद प्राप्त था।

श्री जैन बाला विश्राम आरा में उन्होंने स्वयं एवं उनकी प्रेरणा से उनके परिवार वालों ने प्रचुर मात्रा में धन लगाकर स्त्री शिक्षा के क्षेत्र में अद्भुत योग दान दिया। अन्त तक वे बाला विश्राम की प्रबन्ध कारिणी समिति के अध्यक्ष थे और प्रति समय वे इस संस्था की उन्नति के लिये प्रयत्नशील रहते थे।

आरा की दूसरी संस्था जिससे उनका अनुराग था और जो उनकी साहित्यिक रुचि का दिग्दर्शन कराती है—"श्री जैन सिद्धान्त भवन आरा" है। कुछ समय पूर्व जब कि इस संस्था की हीरक जयंती बिहार के राज्य पाल की अध्यक्षता में मनाई गई थी, आप अस्वस्थ होते हुये भी उसमें शामिल हुये थे और सभी समारोहों में आपने सोत्साह भाग लिया था। इस महोत्सव की सफलता विषयक आप के उद्गार अभी तक मेरे कानों में गूंजते और उत्साह प्रदान करते हैं।

अपने परिवार और अपनी मित्र मंडली में उन्हें सदा आदर की दृष्टि से देखा जाता था। अपने सुख-दुख में लोग इनका सहयोग सहज में पा लेते थे। यह निश्चित रूप से कहा जासकता है कि इनके व्यक्तित्व से इनके परिवार की शान बढ़ी और सभी संस्था वाले इनका नाम अपनी संस्था में जोड़ने पर गौरव का अनुभव करते थे।

जैन वाङ्मय और पुरातत्व के शोध और प्रकाशन की आपकी जो लगन थी वह अनुकरणीय है। भगवान महावीर के उपदेशों के प्रचार की ऐसी लगन उन्हें थी कि हम युवकों को भी अपनी अकर्मण्यता पर झेंप आती है। वीर शासन जयन्ती का जो अविस्मरणीय उत्सव कलकत्ते में हुआ था, उसके पीछे एक मात्र इन्हीं की शक्ति और उत्साह कार्य करता था। मैंने अपनी आँखों उन्हें दिन-रात एक करते हुए देखा है।

ऐसे गुणी, प्रेमी, धर्म वत्सल सज्जन का गुणस्मरण जितना भी हो थोड़ा है। ऐसे व्यक्ति तो समाज के लिये, देश के लिये और देश के नवयुवकों के लिये जीते जागते उदाहरण होते हैं।

एक संस्मरण और उल्लेखनीय है। दिल्ली में कुछ वर्ष हुये एक ऐसा आयोजन किया गया था, जिसमें दिगम्बर जैनों की प्रमुख संस्थाओं में एकता के लिये बड़ा भारी प्रयास हुआ था। छोटेलालजी का रोल इस आयोजन में मैंने बहुत निकट से देखा था। क्या यह कम आश्चर्य की बात है कि वहाँ एकत्र सैकड़ों व्यक्तियों में इनके जैसा ऐसा व्यक्ति भी हो जिसे दोनों ही ग्रुपों का विश्वास प्राप्त हो।

न जाने कैसे इस दुबले-पतले, कमजोर, बीमार व्यक्ति में इतनी कर्मठता विद्यमान थी।

हमारी कामना है कि पूज्य चाचा जी का जीवन हम लोगों को प्रकाश स्तम्भ की भाँति सत्कार्यों के लिये प्रेरित करता रहे।

श्रद्धेय बाबू जी

सुरेन्द्र गोयल, आरा

दिनांक २८-१२-६३ का सुहावना प्रभात। मन्द मन्द सुरभित वायु जन-जीवन में प्राण का संचार कर रही थी। उस दिन मैं प्रातःकाल से ही बहुत प्रसन्न था क्योंकि जैन सिद्धान्त भवन आरा के पार्श्ववर्ती शान्तिनाथ मंदिर के विशाल प्राङ्गण में भवन की हीरक जयन्ती महोत्सव का आयोजन किया गया था। हीरक जयन्ती के सम्माननीय अतिथि थे विहार के राज्यपाल श्री अनन्तशयनम आयंगार और स्वागताध्यक्ष के पद को सुशोभित कर रहे थे कलकत्ते के सुप्रसिद्ध रईस एवं पुरातत्त्वविद स्वनामधन्य श्रीमान बाबू छोटे लाल जी। मैंने उनका नाम तो पहले भी सुना था किन्तु दर्शन का अवसर आज ही प्राप्त हो रहा था। यह मेरे लिए एक महान सौभाग्य की बात थी। प्रथम झाँकी में ही मैं बाबू जी की ओर आकृष्ट हो गया। उनकी कृश काया सफेद धोती और कुरते में खूब फब रही थी। सिर पर रखी गोल टोपी उनकी रईसी की परिचायिका थी। अभी तक मुझे सिर्फ यही अवगत था कि आप एक धनी मानी रईस हैं, किन्तु आपकी प्रतिभा की झलक मैंने उक्त महोत्सव में ही देखी और मुझे लगा कि लक्ष्मी और सरस्वती का अद्भुत समन्वय यदि कहीं है तो बाबू छोटे लाल जी में। प्राचीन काल से ही यह लोकोक्ति चली आ रही है कि लक्ष्मी और सरस्वती दोनों एक साथ निवास नहीं करती, उनका समन्वय संभव नहीं। किन्तु बाबू छोटेलाल जी इसके अपवाद थे। जब वह व्यक्ति मंचपर अपने आसन से बोलने के लिए उठा तो मानों सरस्वती जिह्वा पर ही आकर बैठ गयी। आप लगातार अपना विद्वत्ता पूर्ण ओजस्वी भाषण देते रहे। सभी की आँखें इस सरस्वती के पुजारी पर टिकी रहीं। मैं तो मानों मुग्ध ही था। सबसे विशिष्ट बात यह थी कि बाबू जी उन दिनों अस्वस्थ थे। दमा ने उन्हें बुरी तरह पीड़ित कर रखा था और उनका पाँच मिनट बोलना भी कठिन था। किन्तु जब वे सभामंच से तारस्वर में अपना भाषण करते रहे तब कुछ निकट के लोगों के विस्मय का ठिकाना न रहा। कहा जाता है कि साहित्यचर्चा के समय वे व्याधि मुक्त हो जाते थे। ऐसी लगन थी उनमें साहित्य सेवा और चर्चा के प्रति।

उसी अवसर पर एक दिन और मुझे अधिक निकट से उनके दर्शनों का सुअवसर प्राप्त हुआ। आप श्री जैन बाला विश्राम के विश्रान्ति भवन में ठहरे थे। मैं पूज्य गुरु देव डा० नेमिचन्द्र शास्त्री के कार्य हेतु उनके पास गया था। मुझे स्वयं भी उनसे मिलने की तीव्र उत्कण्ठा थी। उसी समय उनसे वार्तालाप का सौभाग्य भी मुझे मिला। वार्तालाप के क्रम में मुझे ऐसा अवगत हुआ कि आप मानवता के प्रबल समर्थकों में से एक हैं। आप जैसे महानुभावों के बल पर ही आज जैन धर्म साहित्य, एवं संस्कृति को सर्वत्र गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त हो रहा है। आप अपनी रुग्ण शैय्या पर पड़े-पड़े भी जैन साहित्य एवं पुरातत्त्व के अभ्युत्थान के बारे में सोचते रहते थे। जैन धर्म, आचार, संस्कृति एवं पुरातत्त्व संबंधी अधिकांश चर्चा प्राकृत भाषा में है। मैं प्राकृत भाषा का विद्यार्थी था अतः उनकी बातें मुझे बड़ी ही रुचिकर लग रही थीं।

बाबू जी में केवल साहित्य प्रेम ही नहीं बल्कि भारतीय संस्कृति की प्रमुख प्रतीक सचाई, सहानुभूति एवं सहृदयता आदि भी कूट-कूट कर भरी

वीरवाणी में जयपुर के जैन दीवानों के सम्बन्ध में मैंने एक लेख माला चलाई थी। उन लेखों को पढने की उनकी बड़ी जिज्ञासा रहती थी। एक दो अंक में तत्सम्बन्धी लेख यदि नहीं रहते तो फौरन बाबूजी का लम्बा चौडा पर प्रेरणास्पद पत्र आ जाता कि लेख माला का क्रम क्यों टूट रहा हैं, क्यों नहीं जल्दी जल्दी सामग्री का संकलन किया जाकर प्रकाश में लाया जाता। उनके पत्रों ने सचमुच कई बार मुझे प्रेरणा और स्फूर्ति प्रदान की हैं।

एक बार जब मैं किसी कार्यवश कलकत्ता गया तो आपसे भी मिला उस वक्त वे अस्वस्थ थे। कुशल मगल व स्वास्थ्य सम्बन्धी बातचीत मुश्किल से एक मिनट हुई होगी पर वह एक घन्टे का समय उनके प्रिय विषय पुरातत्त्व सम्बन्धी चर्चा में गया। रुग्ण शैय्या पर होते हुए भी वे स्वयं उठे, जो अलबम दक्षिण के चित्रों का उन्होंने तैयार कराया था दिखाने लगे और कहने लगे कि अमुक २ स्थानों पर जाकर चित्र आदि लेना बाकी है जल्दी ही जाने का विचार कर रहा हूँ। मैंने कहा—बाबू साहब ! पहले स्वास्थ्य लाभ कीजिए, फिर जाने की सोचना। उनने तत्काल उत्तर दिया कि यह रुग्ण शरीर ही मुझे प्रेरणा देता है। न जाने कब यह साथ छोड दे और जो कुछ करना है वह यों ही रह जाय ? अतः जितना जल्दी हो सके काम करना चाहिए। हल्की सी हंसी हंसते हुए पुनः कहा कि यह बीमारी मेरी सहचरी है, मुझे अकेला नहीं छोडेगी—साथ लेकर ही जावेगी। सचमुच इस प्रकार का कर्मठ व्यक्ति होना बडा मुश्किल है। 'छोटे' शरीर 'छोटे' नाम और कार्य उनके महान थे।

उनका साहित्यिकों के प्रति भी उतना ही प्रेम था जितना अपने आत्मीयजनों के प्रति। वे साहित्य और साहित्यिकों की सेवार्थ सदा तत्पर रहते थे। किसी को पता तक नहीं कि साहित्य एवं अन्य उपयोगी आवश्यक कार्यों के लिए वे कितना मूकदान करते थे। उनका सदा यही कहना था कि मेरा नाम प्रकाश में लाने की आवश्यकता नहीं, काम होना चाहिये। अपने जयपुर प्रवास काल में स्थानीय कई संस्थाओं को आर्थिक सहायतायें उन्होंने दी थी। बंगाल के प्रख्यात कार्यकर्त्ता श्री सी० आर० दास के आप सहयोगी रहे हैं। इस प्रकार लगभग आधी शताब्दी तक जनता जनार्दन एवं साहित्य-पुरातत्त्व की जो सेवा आपने की है-वह हमारे लिए आदर्श है और प्रेरणा देती है कि हम भी उनके पदचिन्हों पर चलें। यही उनके प्रति हमारी सच्ची श्रद्धांजलि है।

जो व्यक्ति अपने कर्त्तव्य का परिपूर्ण शक्ति से निर्वाह करता है वह किसी भी देशभक्त से कम नहीं चाहे फिर वह धोबी, दर्जी अथवा भंगी ही क्यों न हो।

—श्री प्रकाश जी

बाबू जी की अमर सेवायें

सत्यधंर कुमार सेठी, उज्जैन

आदरणीय बाबू छोटेलालजी जैन जैसे तपः पूत सेवक का स्मृति ग्रंथ प्रकाशित करना जैन समाज के लिए गौरव की बात है। वास्तव में बाबू छोटेलालजी इसके योग्य थे। धनिक परिवार में जन्म लेने पर भी उनकी सेवायें विविध क्षेत्रों में रहीं। इसी लिए इस महान् सेवक की गणना देश के प्रमुख समाज, साहित्य और इतिहास सेवियों में की जाती है।

जगत में कई मानव जन्म लेते हैं और यों ही चले जाते हैं लेकिन कई ऐसे भी इस वसुंधरा पर अवतरित होते हैं, जो सेवा त्याग और सदाचार के बल पर इस वसुंधरा को पवित्र कर अमर बन जाते हैं। बाबू छोटेलालजी जैन की गणना भी यदि ऐसे व्यक्तियों में की जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी।

बाबूजी का जन्म एक धनिक परिवार में हुआ। कलकत्ते जैसे महानगर में उन्होंने अपने जीवन का बहु भाग व्यतीत किया। बाबूजी ने अपने जीवन का निर्माण इतना सुन्दर ढंग से किया था कि देखकर आश्चर्य होता था। मुझे उनके संसर्ग में आने का कई बार सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उनका व्यवहार और उनके कार्य हमेशा मार्ग दर्शक के रूप में रहेंगे। उन्होंने वैभव का कभी गर्व नहीं किया और अपने आपको एक सेवक के रूप में देखा। आपके जीवन की कई घटनायें ऐसी हैं जो आज भी हम सबको प्रेरणा देती हैं। जैसे सन् १९१७ में कलकत्ता में इन्फ्लुएँजा के प्रकोप के समय की गई उनकी सेवाएं। यह प्रकोप बड़ा भीषण था। इससे पीड़ित व्यक्तियों का कष्ट आप देख नहीं सके। आपकी करुणा उमड़ पड़ी और वे संतप्त प्राणियों की सेवा के लिए आगे बढ़े। इसी तरह कलकत्ता में जब सन् १९४३ में भीषण अकाल पड़ा, जिसकी कहानी बड़ी लोमहर्षक रही है तो उसमें भी बाबूजी ने सेवा कार्य में बड़ी तत्परता दिखलाई और उन्होंने घर घर में घूम कर अकाल पीड़ितों की खोज की। और उनकी तन मन धन से सेवा करके ऐसा आदर्श उपस्थित किया जो कलकत्ते के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगा। बंगाल में नोआखाली का ऐतिहासिक दंगा हुआ और महात्मा गांधी को भी वहां तत्काल जाना पड़ा। उस समय हमारे माननीय बाबू छोटेलालजी भी पीछे नहीं रहे। आप भीषण दंगे में वहाँ गये और बड़े साहस के साथ आपने वहाँ पर भ्रातृ भाव का प्रचार किया। इसी तरह कलकत्ते के हिन्दू-मुस्लिम दंगे में भी आपने शेर की तरह निड़र रह कर पीड़ितों की सेवायें की। बाबूजी के सार्वजनिक जीवन के ऐसे कई उदाहरण हैं।

सार्वजनिक क्षेत्र की तरह आपका सामाजिक और धार्मिक जीवन भी चमत्कृत रहा। प्रारंभ से ही आपके विचार रूढिवाद और संकीर्णता से दूर रहे। आपने सामाजिक क्रांतियों में साहस के साथ कदम बढ़ाया—विजातीय विवाह और विलायत यात्रा के आप प्रारंभ से ही समर्थक रहे। श्री धर्मचन्दजी सरावगी की विलायत यात्रा के विरोध के प्रसंग में आपने जो साहस दिखाया वह चिर स्मरणीय रहेगा।

सच कहा जाय तो बाबूजी सेवा के प्रतिबिंब और सादगी के प्रतीक थे। आपकी सेवाएं अमर रहेंगी और हमें सदा प्रेरणा देती रहेंगी।

अनेकान्त के सम्पादक भी रहे हैं और लेखक भी, आपका अनेकान्त के ११वें वर्ष में 'उदयगिरि-खण्डगिरि परिचय' नाम का सचित्र लेख प्रकाशित हुआ है। आपकी अन्य महत्वपूर्ण रचनाएं भी अनेकान्त में प्रकाशित हुई हैं। अनेकान्त के प्रकाशन में बाबूजी का बड़ा योगदान रहा है। वे उसकी आर्थिक कठिनाई को दूर करना चाहते थे और उसे बहुत ही उच्चकोटि का शोध-पत्र बनाना चाहते थे। अनेकान्त के प्रकाशन में उनका अन्त तक सहयोग रहा। उनका छोड़ा हुआ यह महान कार्य अब समाज के विद्वानों और धनीमानी सज्जनों के सक्रिय सहयोग से ही पूर्ण हो सकता है।

धवलादि सिद्धान्त ग्रन्थों का समुद्धार

मूड़ विद्री के 'सिद्धान्त वसदि भण्डार, की धवलादि ग्रन्थों की ताड़पत्रीय प्रतियां जीर्ण-शीर्ण हो रही थी। बाबू छोटेलालजी के सतत् प्रयत्न से वे प्रतियां श्रीमान धर्मसाम्राज्य द्वारा दिल्ली लाई गई और उनका वीर सेवा मन्दिर की ओर से जीर्णोद्धार कार्य नेशनल आर्काईव्ज में कराया गया और मूडबद्री से उन ग्रन्थों का फोटो कार्य सम्पन्न किया गया। यह सब कार्य बाबू साहब के निर्देशानुसार उनके आर्थिक सहयोग से ही सम्पन्न हुवा है। जीर्णोद्धार का यह कार्य अत्यन्त आवश्यक था। इसने उन ग्रन्थों की आयु कई सौ वर्षों तक की और बढ़ गई है।

वीर सेवा मन्दिर-ग्रन्थ माला

वीर सेवा मन्दिर ग्रन्थमाला के प्रकाशन में भी बाबू साहब का पूर्ण सहयोग था। वे उसकी आर्थिक कठिनाई को दूर करने में प्रयत्नशील रहे हैं। परिणामस्वरूप वहां से २०-२५ ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ है। प्रकाशित ग्रन्थ बड़े ही महत्वपूर्ण हैं और अनुसंधानकर्ताओं के लिए उपयोगी हैं। संस्था को आर्थिक सहयोग के साथ समय-समय पर बाबूजी का उचित परामर्श भी मिलता रहा है। यह सब बाबूजी की सौजन्य और उदारता का ही परिणाम है।

जैन लक्षणावली (लक्षणात्मक जैन पारिभाषिक शब्दकोष) लक्षण संग्रह का यह कार्य लगभग दो सौ दिगम्बर और दो सौ श्वेताम्बर ग्रन्थों पर से हुआ है और उन्हें काल क्रम से दिया गया है। उस पर से लक्षण शब्दों के क्रमिक विकास का अच्छा परिज्ञान होता है, साथ ही उन उन ग्रन्थकर्ताओं के मौलिक, संगृहीत एवं अनुकरणात्मक लक्षणों का सही पता चल सकेगा। अधिकांश ग्रन्थकर्ताओं के समय सम्बन्ध में भी प्रस्तावना में विचार किया जायगा। इससे यह ग्रन्थ एक मौलिक कृति के रूप में प्रत्येक विद्वान, रिसर्च स्कॉलर, लाइब्रेरियों और स्वाध्याय प्रेमियों के लिए बहुमूल्य सिद्ध होगा। स्वाध्यायी जनों को तो तत्व निर्णय में इससे विशेष सहायता मिलेगी। इस ग्रन्थ का प्रथम भाग प्रायः तैयार है। इसके लिए बाबू साहब वर्षों तक निरन्तर प्रेरणा करते रहे। उन्होंने छपाई की व्यवस्था का भी प्रबन्ध कर दिया था। परन्तु वे अपनी अस्वस्थता के कारण दिल्ली नहीं आ सके। उनके आने पर ग्रन्थ प्रेस में दिया जाता। वे इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ के प्रकाशन के लिए बहुत ही उत्कंठित थे। खेद है कि उनकी यह अभिलाषा उनके जीवन काल में पूर्ण न हो सकी। अब शीघ्र ही पूर्ण होगी ऐसी आशा है।

सेवा कार्य की महत्ता

वीर सेवा मन्दिर उनकी प्राणप्रिय संस्था थी। उसे अपने आर्थिक सहयोग के साथ अपने उच्च विचारों और कर्त्तव्य परायणता से संरक्षित तथा संचालित किया था। यह उनकी सबसे बड़ी देन है। अर्थ सहयोग प्राप्त हो सकता है, परन्तु हर समय संस्था की उन्नति का ध्यान और उपयुक्त योजनाओं द्वारा पल्लवित करने की बात अलग है। जीवन और धन का निःस्वार्थ उपयोग करना बड़ा कठिन है। ऐसे विरले ही सेवक होते हैं जो जीवन को

धार्मिक या साहित्यिक सेवा कार्य में खपा देते हैं। वे निस्पृह मूक समाज सेवक थे। उनकी भावना बड़ी उच्चकोटि की थी। उन्होंने वीर सेवा मन्दिर के अतिरिक्त जैन बालाश्रम आरा, स्याद्वाद महाविद्यालय, बनारस को भी आर्थिक सहयोग स्वयं प्रदान किया और कराया है। इतने सभी कार्यो को करके भी बाबूजी ने कभी अपनी प्रसिद्धि नहीं चाही। यह सब कार्य उन्होंने निःस्पृह वृत्ति से सम्पन्न किये हैं। जब उनसे चित्रादि माँगने गये तब उन्होंने स्पष्ट शब्दों में इन्कार कर दिया। वे नामवरी से कोसों दूर भागते थे। उनकी यह निस्पृह वृत्ति उनके व्यक्तित्व की महत्ता का द्योतक है। बाबूजी दान को मात्र परिग्रह का प्रायश्चित्त मानते थे। परिग्रह में पापबुद्धि होती है उसके प्रायश्चित्त की भावना का बराबर बना रहना उनके विवेक और अनासक्ति का सूचक है। इस सम्बन्ध में बाबू छोटेलालजी के सन् १९४१ के पत्र की निम्न पंक्तियां खास तौर से उल्लेखनीय हैं जो उन्होंने मुख्तार सा० के नाम लिखी थी। उससे उनकी मानसिक विचारधारा का सहज ही पता चल जाता है—

"आपने भाई फूलचन्द जी का चित्र मंगाया—सो मुख्तार साहब आप जानते हैं हम लोग नाम से सदा दूर रहे हैं। चित्र तो उनका लगना चाहिए जो दान करें। हम लोग तो मात्र परिग्रह का प्रायश्चित्त-अधूरा ही करते हैं, फिर भी जरा जरा सी सहायता देकर इतना बड़ा नाम करना पाप नहीं तो दम्भ अवश्य है। अस्तु क्षमा करें। आपको शायद याद होगा इन्हीं भाईसाहब को उत्साहित कर आराश्रम (जैन बाला विश्राम) को तीस हजार दिलवाये थे और उस सहायता के सम्बन्ध में आज तक मैंने पत्रों में जिक्र तक न होने दिया। वास्तव में दान वही है जो बिना किसी विज्ञापन के दिया जाता है। उसी सात्विक दान का फल लोक में उत्तम बतलाया गया है।"

वीर सेवा मन्दिर को बाबू छोटेलाल जी की देन बड़ी ही महत्वपूर्ण है और वह सदा इतिहास एवं साहित्य जगत में स्वर्णाक्षरों में अंकित रहेगी। समाज बाबूजी की बहुमूल्य सेवाओं के प्रति कृतज्ञ रहेगा।

"संसार में क्यों इतनी खींचा तानी, बांधा-बांधी और भले बुरे का विवाद चलता है। क्यों मनुष्य अपने चारों ओर बहुत सी भूलों और वंचनाओं को जमा करके स्वेच्छा से अंधा बन रहा है। दारिद्र्य का निष्ठुर दुःख, धर्म हीनता की गहरी ग्लानि और निर्बलता से उत्पन्न भीरुता में भी वह छलना और अभिमान का सामान ढूँढ लेता है।"

अभागे आदमी की आवश्यकता आसानी से नहीं मिटती।

—बाबूजी की डायरी से

बाबू छोटेलाल जी और उनका व्यक्तित्व

श्री 'स्वतन्त्र' सूरत

लाल छोटा हो या बड़ा यदि वह गुदड़ी में छिपा है तब भी वह चमकता है। श्री बाबू छोटेलाल जी कलकत्ता इसी तरह के लाल थे। उनका व्यक्तित्व समाज पर छाया रहता था। बाबूजी में अनेक विशेषतायें थी; वे किसी से मिलें या कोई उनसे मिले वह छोटा हो या बड़ा, रंक हो या राव, पर आप अपना प्रेम, वात्सल्य सौहार्द मिलने वाले पर उड़ेल देते थे। तब मिलने वाले को लगता था कि मानों बाबूजी हमारे ही परिवार के एक अनन्य सदस्य हैं।

बाबूजी पंथवाद की चाहार दीवारों, संकोच वृत्ति, सम्प्रदायवाद, कौमवाद, पदलिप्सा, इनसे बहुत ऊंचे उठे हुए थे। इतना ही नहीं, इन विषमताओं की गहरी खाई को पाटने का भरसक प्रयत्न समय-समय पर किया भी था। यह सत्य है कि आप नाम से पत्रकार नहीं थे पर मेरी दृष्टि में आप पत्रकारों के भी पत्रकार थे। अनेकान्त पत्र के तो आप संचालक, व्यवस्थापक एवं सम्पादक आदि सभी कुछ थे। हमारे समाज में अनेक पत्रकार हैं। जिनमें कुछ पत्रकार निकम्मे, भाड़े, स्वार्थी एवं अपात्र हैं और पत्रकारिता के नाते अपना उल्लू सीधा करते हैं। कुछ पत्रकार ऐसे हैं जो केवल अपनी मान प्रतिष्ठा ही चाहते हैं, जानते कुछ नहीं पर उनका मानना है कि हम ही सब कुछ हैं हम जैसा कोई लेखक हो ही नहीं सकता। उनका अभिमान ताड़ के पहाड़ पर खड़ा होकर ठहाका मारता है और सेवा के नाम पर क्या किया जाता [illegible] का नाम है। लेखक का मत है कि ऐसे पत्रकार हमारे बाबूजी से मार्गदर्शन लेकर अपने जीवन में पर्याप्त सुधार कर सकते हैं और पत्रकारिता में जो लगने वाले कलंक हैं उनसे वे सहज ही बच सकते हैं।

बाबूजी सन् १९४७ में सूरत आये थे। आपके साथ आपकी भतीजी भी थीं। आप मेरे लेखों द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से तो जानते ही थे, सूरत आते ही आपने मुझे याद किया और मैं आपसे उसी समय मिलने गया। दुबला पतला इकहरा गौरांग शरीर, चश्मे द्वारा गहराई से झाँकते हुये, हृदय में एक टीस दबाये, प्रसन्न मुद्रा, इस रूप में सर्वप्रथम मैंने बाबूजी के दर्शन किये थे।

यह सच है कि बाबूजी ने मुझे कभी नहीं देखा था और न मैंने बाबूजी को देखा था। मेरे आते ही बाबूजी ने कहा—आइये स्वतन्त्र जी! आजकल तो आप बहुत अच्छा लिख रहे हैं। मानव जीवन की गति में मोड़ देने के लिये आपके लेख बड़े उपयोगी हैं। मैंने विनम्रतापूर्वक कहा—बाबूजी! यह सब आप जैसे महानुभावों के पवित्र आशीर्वाद और सद्भावनाओं का परिणाम है। मैं अकिंचन इस योग्य कहाँ? जैसा कि आप मुझे मान रहे हैं।

यह वाक्य मैं पूरा नहीं कर पाया था कि आपने मेरा हाथ पकड़ कर अपने पास बैठा लिया। पारिवारिक परिचय के बाद आपसे सामाजिक एवं धार्मिक चर्चायें होती रहीं। चर्चाओं के दौरान मुझे लगा कि बाबूजी की विद्वत्ता किसी बहुश्रुत अनुभवी कर्मठ विद्वान से कम नहीं है। सामाजिक आन्दोलनों का भी आपको गहरा अनुभव था। इतना ही नहीं, किसी आन्दोलन के आप सूत्रधार और किसी आन्दोलन के आप संचालक भी रहे थे।

आपने मुझसे एक बड़ी मार्मिक बात कही जो मेरी दृष्टि में एक सूत्र की तरह है। आपके शब्द निम्न प्रकार है—

"भाई स्वतन्त्रजी ! लोग सुधार की बातें करते हैं, पर वे अपना स्वयं सुधार नहीं करते। जो जितना कहता है उतना करने लगे तो वर्तमान में जो कुछ भी कलुषित गंदा वातावरण देख रहे हैं वह कभी का नष्ट हो जाये।"

बाबूजी पुरातत्व के खोजी थे। शोध खोज के कार्यों में आप विशेष रुचि रखते थे। आप साहित्य-कार भी थे और साहित्य सेवी भी।

बाबूजी अपने साथ तीर्थ क्षेत्रों की फिल्म भी लाये थे। सूरत में नवापुरा स्थित फूलवाड़ी में जैन समाज की उपस्थिति में फिल्म प्रदर्शन किया था, साथ में आप टिप्पणी भी करते जाते थे। टिप्पणी तो नाम था पर वास्तविकता तो यह थी टिप्पणी के रूप में आपका भाषण ऐतिहासिक तथ्यों पर आधार रखता था।

साधारण जनता नहीं जानती होगी कि बाबूजी लेखक थे, ऐसा मैं मानता हूँ। पर बाबूजी अच्छे खासे ऐतिहासिक लेखक थे। सर्वप्रथम आपकी पुस्तक सन् १९२३ में "कलकत्ता जैन मूर्ति यन्त्र संग्रह" प्रकाशित हुई थी। फिर सन् १९४५ में "जैन बिबि-लियो ग्राफी" प्रथम भाग प्रकाशित हुआ था। शोध खोज के कार्यों में आप भारतीय विद्वानों को ही नहीं अपितु पाश्चात्य देशों के विद्वानों को भी बराबर सहयोग देते रहते थे। आज अनेक विद्वान पी० एच० डी० हुए हैं उनमें अधिकांश विद्वानों ने जैन साहित्य और इतिहास के सम्बन्ध में पूरा-पूरा सहयोग सहकार बाबूजी से ही लिया है। बाबूजी स्वयं पी० एच० डी० न हों पर आपने अनेकों विद्वानों को पी० एच० डी० बना दिया, यह निस्संदेह कहा जा सकता है।

बाबूजी का जीवन महान था और बाबूजी महान थे। आपकी करनी और कथनी में समानता थी और उसमें लेखक को मानवता के दर्शन होते थे।

सन् १९६० के अक्तूबर मास में प्रातः स्म-रणीय पूज्यपाद क्षु० गणेशप्रसाद जी वर्णी की जन्म जयन्ती ईसरी में ठाटबाट एवं शान शौकत के साथ मनाई गई। उस समय सूरत से मैं भी गया था, मुझे मालूम हुआ कि बाबू छोटेलालजी को टाईफाइड चल रहा है। मैं उसी समय बाबूजी से मिलने गया तो देखा कि बाबूजी को १०३ डिग्री बुखार है और लेटे हुए 'पंच संग्रह ग्रन्थ' (भारतीय ज्ञान पीठ का प्रकाशन) पढ़ रहे हैं। मैंने कहा—बाबूजी आप समय का ठीक-ठीक उपयोग कर रहे हैं। बाबूजी ने कहा—हां भाई स्वतन्त्र जी ! जब उपयोग दूसरी ओर लगा रहता है तब ज्वर का दाह और वेदना मालूम ही नहीं होती।

बाबूजी के इस उत्तर से मुझे महान प्रसन्नता हुई। शाम को देखा तो आप स्टेज पर भाषण देते हुए वर्णीजी के चरणों में श्रद्धांजलि अर्पण कर रहे थे, बुखार इस समय भी था। बाबूजी की यह घटना बताती है कि वे सहनशील और कष्टसहिष्णु थे। सहनशीलता और कष्ट सहिष्णुता में ही आपके जीवन का निर्माण हुआ था।

बाबूजी बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे और आपका समूचा जीवन साहित्य एवं समाज की सेवा में ही व्यतीत हुआ।

श्रद्धांजलियां

गत १५ वर्षों से श्री छोटेलालजी से मेरा निकट सम्पर्क रहा था। उनकी विचारधारा कार्यशैली एवं दूरदर्शी निर्णयों से मैं प्रभावित रहा हूँ। आपके व्यक्तित्व में एक अलौकिक एवं बेजोड़ प्रतिभा का आभास मिलता था। आपकी निर्भय एवं स्पष्ट मनोवृत्ति का दिग्दर्शन आपके द्वारा अनुप्राणित उन कतिपय सामाजिक समारोहों से होता है जिनमें आपने अपनी मौलिक विचारधाराओं के आधार पर, व्याप्त कुरीतियों के उन्मूलन हेतु अनेक कार्यक्रम अपनाए थे। सामाजिक संगठन तवं सामूहिक कार्य-प्रणाली में प्रारम्भ से ही आपका अटल विश्वास था एवं आपने अपने जीवन में ऐसे अनेक कार्य किये थे जिनसे जैन समाज में पारस्परिक प्रेम एवं सद्भावना की अभिवृद्धि हुई है। आपका दृष्टिकोण सदा ही सुधारवादी एवं सामंजस्य युक्त था। आपकी सौम्य प्रकृति ने तो समाज के प्रत्येक सदस्य के हृदय में आपके प्रति अभूतपूर्व श्रद्धा उत्पन्न कर दी थी। आपके मानस में मैंने केवल समाज प्रेम ही नहीं वरन् मानव मात्र के प्रति सराहनीय स्नेह का अनुभव किया है। कई सामाजिक संस्थाओं की व्यवस्था आपके संचालन में सुचारु रूप से चल रही थी। ऐसे कर्मठ कार्यकर्ता के निधन से देश और समाज की महान क्षति हुई है।

मिश्रीलाल जैन

मैं श्रीमान् वावू छोटेलालजी को ४० वर्षों से जानता हूँ। वावूजी के निकट आने का जिन्हें भी अवसर मिल सका है वे उनकी विद्वत्ता और सौजन्य से प्रभावित हुए बिना न रह सके। उनके प्रभावशाली व्यक्तित्व से कौन ऐसा है जो प्रभावित और नतमस्तक न हुआ हो। आप जैन समाज के उन रत्नों में से थे जिनका प्रकाश वर्तमान में ही नहीं वरन् भविष्य में भी सदैव समाज के नवयुवक कार्यकर्ताओं का पथ प्रदर्शन करता रहेगा।

वावूजी गत ५० वर्षों से देश समाज एवं साहित्य की सेवा में संलग्न थे। पुरातत्त्व सम्बन्धी आपका अध्ययन तथा अनुभव बड़ा गहरा था। भारत के भिन्न-भिन्न प्रदेशों में भ्रमण करके आपने वहाँ से अनेक महत्त्वपूर्ण जैन पुरातत्त्व की सामग्री को खोज निकाला था। आप खासकर देश-विदेश के जैनेतर विद्वानों को जैन साहित्य पर शोधकार्य में बराबर सहयोग देते रहते थे। आप एक दानी-परोपकारी एवं कर्मठ कार्यकर्ता थे।

कई अवसरों पर आपसे उपकार पाने का सौभाग्य मुझे भी प्राप्त हुआ है। मुझ पर आपकी बड़ी कृपा थी। आप अपने पत्र में सदा मुझे 'प्रेमबन्धु' शब्द से ही संबोधित करते रहते थे। यद्यपि आपका स्वास्थ्य हमेशा खराब रहता था तो भी आप उत्साह और लगन के साथ समाज, देश एवं साहित्य की सेवा में व्यस्त रहते थे। मेरी हार्दिक शुभ भावना है कि आपका सफल तथा आदर्श जीवन सदैव ही लोगों को अपना जीवन मानव सेवा में व्यतीत करने की प्रेरणा देता रहे।

के० भुजबली शास्त्री
सं० 'गुरुदेव', मूडबद्री (मैसूर)

३० जनवरी ६६ को प्रातः अहिंसा प्रचार समिति हाल में श्री जैन सभा के तत्वावधान में श्री लक्ष्मीचन्दजी जैन की अध्यक्षता में समस्त जैन समाज की ओर से एक शोक सभा का आयोजन कर जैन समाज के नेता श्री छोटेलाल जी जैन की दिवंगत आत्मा के प्रति निम्न प्रस्ताव द्वारा श्रद्धांजलियां अर्पित की गई :

"कलकत्ता जैन समाज की यह सार्वजनिक सभा जैन समाज के नेता धर्मानुरागी पुरातत्त्ववेत्ता, एकता के समर्थक श्री छोटेलालजी जैन के आकस्मिक निधन पर शोक प्रकट करती है। श्री छोटेलाल जी जैन ने अपने समय में सामाजिक, धार्मिक साँस्कृतिक, तीर्थक्षेत्र, शिक्षा पुरातत्व तथा समाज सुधार के क्षेत्रों में अपना सक्रिय योगदान दिया था। वे कलकत्ता जैन समाज की प्रायः सभी संस्थाओं में अपना महत्वपूर्ण सहयोग देते रहे थे जिनके लिए समाज उनका आभार मानता है।

जैन समाज उनके प्रति हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए उनके वियोग में संतप्त परिवार के प्रति संवेदना प्रकट करता है, एवं उनकी महान आत्मा की शांति के लिये प्रार्थना करता है।"

श्रद्धेय भाई जी के निधन के समाचार से बड़ा दुःख हुआ, यद्यपि उनका स्वास्थ्य पिछले कुछ समय से ढीला चल रहा था, तथापि यह कल्पना भी नहीं थी कि उनसे इतनी जल्दी विछोह हो जायेगा।

उनके निधन से एक बहुत ऊंचा व्यक्ति उठ गया उनकी सेवायें और उनके गुण समाज एवं हम सब को चिरकाल तक अनुप्राणित करती रहें, ऐसी मेरी कामना और प्रभु से प्रार्थना है। मैं उन्हें अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ।

यशपाल जैन, सस्ता साहित्य मंडल
एन-७७ कनाटसर्कस नई दिल्ली

वीर सेवा मन्दिर की यह आम सभा जैन धर्म और जैन समाज के अनन्य सेवी तथा जैन पुरातत्व के विद्वान बाबू छोटेलाल जैन के निधन पर गहरा शोक प्रकट करती है, और बाबू छोटेलाल जी उन इने-गिने व्यक्तियों में से थे, जिन्होंने अपने जीवन के बहुत से वर्ष सेवा में व्यतीत किये। वीर सेवा मंदिर को वर्तमान रूप देने का श्रेय मुख्यतः उन्हीं को है। इस संस्था के द्वारा उन्होंने अनेक लोकोपयोगी प्रवृत्तियों का संचालन किया।

बाबू छोटेलाल जी के निधन से जैन समाज की विशेष कर वीर सेवा मन्दिर की जो क्षति हुई है उसकी पूर्ति कदापि नहीं हो सकती। वीर सेवा मन्दिर के रूप में दिल्ली जैन समाज पर बाबू छोटेलालजी का भारी ऋण है, और यह सभा विश्वास प्रकट करती है कि जैन समाज उसके संचालन की ऐसी व्यवस्था करेगी कि जैन धर्म की प्रभावना की दिशा में उनकी ऊँची भावनाएं पूर्ण हो सकें। यह सभा दिवंगत आत्मा के प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करती है और प्रभु से प्रार्थना करती है कि उनकी आत्मा शान्त-उच्च पद प्राप्त करे। और उनके परिवार के साथ यह सभा सहानुभूति प्रकट करती है।

वीर सेवा मन्दिर देहली

श्रद्धेय श्री बाबू छोटेलाल जी के स्वर्गवास का समाचार सुनकर स्तब्ध रह गया। विधि का विधान ही ऐसा है, उस पर किसी का वश नहीं। श्रद्धेय बाबूजी के चले जाने से बड़ा जबर्दस्त धक्का लगा है। अब धैर्य के सिवा कोई चारा नहीं है। अतः जिनेन्द्र देव से प्रार्थना है कि मृतात्मा को शान्ति एवं समस्त समाज को उनके अभाव का दुःख सहन करने की शक्ति प्रदान करें।

—बाबूलाल जैन, फागुल्ल, वाराणसी

श्री बाबू छोटेलाल जी जैन के अचानक वियोग का हृदय-विदारक दुःखद समाचार पाकर चित्त बहुत ही दुखित हो रहा है।

—दुखित हृदय जुगलकिशोर एटा

हृदय विदारक समाचार को सुनकर बहुत दुःख हुआ। बाबू छोटेलाल जी का निधन कुटुम्ब के लिये ही नहीं, अपितु समाज के लिये भी अति दुःखदायी है। आपकी साहित्य सेवा सदैव अमर रहेगी।

—चन्दाबाई जैन
जैन बाला विश्राम, आरा, बिहार।

श्री बाबू छोटेलाल जी जैन अब इस संसार में नहीं रहे। यह समाचार समाज के लिए वज्राघात के समान था। बाबूजी के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करने के लिए जैन संस्कृत कालेज में सभा कर शोक प्रस्ताव पारित किया गया एवं जयपुर जैन समाज की ओर से भी बड़े दीवाणजी के मन्दिर में एक शोक प्रस्ताव पारित किया गया।

चैनसुखदास
अध्यक्ष, श्री दिगम्बर जैन संस्कृत कालेज
जयपुर (राजस्थान)

त्याग और विसर्जन की दीक्षा में सिद्धि प्राप्त करना ही हमारी सब से बड़ी सफलता है। इसी मार्ग का अवलम्बन लेकर हमारी कितनी ही विधवा बहिनें जीवन की सर्वोत्तम सार्थकता का अनुभव कर गई हैं।

\+ + +

क्षोभ और दुःसह नैराश्य के बीच ऐसे बहुत दुख, बहुत मनुष्यों के भाग में, बहुत बार आए हैं। सुख-दुख की इस परम्परा में कोई नवीनता नहीं है। यह उतनी ही सनातन है जितनी कि सृष्टि। उफनते हुए शोक-सागर की लहरों को संसार भर में फैला देने में, न तो कोई पौरुष है और न ही इसकी कोई आवश्यकता है।

\+ + +

पति को त्याग देना कोई बड़ी बात नहीं। उसे फिर से पाने की साधना ही स्त्री के लिए परम सार्थकता है। अपमान का बदला लेने की होड़ में ही स्त्री की वास्तविक मर्यादा नष्ट होती है, अन्यथा वह तो कसौटी है जिस पर कस कर सोना परखा जाता है। अन्त तक सर्वस्व दान करके ही आदमी यथार्थ में अपने आपको पाता है। स्वेच्छा से दुःख स्वीकार करने में ही आत्मा की यथार्थ प्रतिष्ठा है।

—बाबू जी की डायरी से

बाबूजी : एक संस्मरण

साहू श्री शान्तिप्रसादजी जैन

बाबू छोटेलाल जी के सम्बन्ध में लिखने के लिए जब-जब उद्यत हुआ विशेष कर 'अनेकान्त' के स्मृति अंक के लिए, तो उनके साथ घनिष्ट संपर्क के पिछले पच्चीस–तीस वर्षों के इतिहास पर मन-ही-मन विचार करता रहा और लिखने के योग्य अनेक घटनाएं, संस्मरण और विचारों का आदान-प्रदान दिखाई दिया किन्तु वह सब स्थिर होकर लिखना संभव नहीं हुआ। स्मृति ग्रन्थ के लिए संक्षेप में अपना अभिनन्दन और श्रद्धांजलि व्यक्त कर रहा हूँ।

बाबू छोटेलालजी के प्रति मेरे मन में जितना आदर है, और उन्हें मुझसे, मेरे परिवार से जितना स्नेह था वह अविस्मरणीय है। वे स्नेही थे, हित-चिन्तक थे, और सतत सहयोगी थे। सन् १९४४ में वीर शासन जयन्ती के अवसर पर कलकत्ते में एक बड़े आयोजन में उनके साथ दायित्व लेने का मेरा पहला अवसर था। उस अवसर पर सर सेठ हुकमचन्दजी सभापति थे, मैं स्वागताध्यक्ष था और वे संयोजक तथा मन्त्री। उस समय से उनकी लगन, कर्तव्य निष्ठा, विद्वानों के प्रति वात्सल्यभाव, जैन दर्शन, जैन पुरातत्व, जैन साहित्य के प्रचार-प्रसार, शोध-खोज के लिए उनकी चिन्ता तथा मननशील स्वभाव की जो छाप मेरे मन पर पड़ी वह सदा अमिट रही। यह ठीक ही है कि वे व्यक्ति नहीं, एक संस्था थे। जब-जब वे मिलते-और कलकत्ते में रहते हुए ऐसा कोई सप्ताह नहीं बीतता था जब एक-दो बार वे मिल न लेते हों–तब-तब वे अनेक सामाजिक और सांस्कृतिक समस्याओं की चर्चा करते, प्रत्येक दिशा में जो काम हुआ है और जो करना है उसकी व्यवस्था आदि के बारे में विचार विनिमय करते और आवश्यक बातों की ओर ध्यान दिलाते। उनकी बातचीत सदा ही एक झरोखा थी जिसके द्वारा स्थानीय तथा बाहर की सामाजिक गतिविधियों का संपूर्ण चित्र मेरी दृष्टि में आ जाता था। व्यवसाय के कामों से विरक्त होने के बाद अपने जीवन के अन्तिम १५ वर्ष उन्होंने जैन समाज और जैन संस्कृति की सेवा में पूरी लगन के साथ अर्पित कर दिये। मुझे बराबर लगा है कि बाबू छोटेलालजी के स्वास्थ्य ने उनका साथ दिया होता, यदि उन–जैसी लगन के दो चार कार्यकर्ता उन्हें मिल जाते तो समाज की अनेक महत्त्वपूर्ण योजनाओं का सफल-रूप सामने आया होता और समाज का, संस्कृति का, हित कई गुना अधिक हुआ होता। अपने बल-बूते पर अपनी एकांत साधना पर उन्होंने जो किया, जो वे कर सके, वह काम महत्त्व का है। जैन साहित्य के संदर्भों का संकलन, 'जैन बिब्लियोग्राफी' के रूप में स्वयं इतना बड़ा काम है जो अकेले व्यक्ति के लिए बहुत बड़ी उपलब्धि है। उदयगिरि खंडगिरि के महत्त्व को ऐतिहासिक आधार पर प्रतिष्ठित करने और इस तीर्थ को भारतवर्ष के मानचित्र पर उजागर करने की दिशा में भी उन्होंने अद्वितीय काम किया।

सामाजिक और सांस्कृतिक कार्यों के लिए उनके मन में जो लगन थी। वह उन्हें रात-दिन व्यस्त रखती थी। समाज की प्रमुख संस्थाओं

की उन्नति कैसे हो, उनकी तात्कालिक समस्यायें क्या हैं और उनके समाधान के लिये क्या करना चाहिए अमुक अमुक विद्वान या शोधछात्र किस विषय पर काम कर रहा है और उसकी आवश्यकतायें क्या हैं, पूर्वी तथा उत्तरी भारत के ही नहीं, दक्षिण भारत के तीर्थ क्षेत्रों पर कहाँ क्या महत्वपूर्ण है और वहां की जैन समाज की स्थिति क्या है इस सब की वे खोज-खबर रखते थे। समाज के सर्वसाधारण व्यक्ति भी उन्हें इतना आत्मीय मानते थे कि निजी अथवा स्थानीय समस्या निस्संकोच उनके सामने रखते थे और आशा करते थे कि वे अपने निजी साधनों अथवा अपने संपर्कों के आधार पर अवश्य कोई हल निकालेंगे कोई सहायता देंगे या प्राप्त कर देंगे। जब-जब वे मिलते सब प्रकार की समस्याओं को बड़ी सहानुभूति पूर्वक मेरे सामने रखते। इस प्रकार दूर की समस्यायें भी मेरे लिए निकट की बन जातीं और यथा-साध्य उनके निवारण का प्रयत्न होता रहता।

जैन विद्वानों से तो उनके निकट-तम संपर्क थे ही, वे उन जैनेतर विद्वानों से आत्मीयता बढ़ाते जो जैन साहित्य, जैन दर्शन या जैन कला के क्षेत्र में काम करते थे। इन विद्वानों पर बाबू छोटेलालजी का प्रेरणा प्रभाव इसलिए विशेष रूप से पड़ता था कि वे जानते थे कि उनकी इस लगन के पीछे केवल धर्म-प्रभावना की ही भावना नहीं है, उनका अपना ज्ञान और मनन भी क्रियाशील है।

विचारों में वे बड़े उदार थे। समाज में धार्मिक आस्था बढ़े, तत्वज्ञान का प्रचार और जैन कला का परिचय व्यापक हो इस प्रयास के साथ-साथ वह युग के अनुकूल समाजिक सुधारों के भी प्रबल समर्थक थे। पुराने विचार के भाइयों को सहयोग देते रहना, उनका सहयोग प्राप्त करना और धीरे-धीरे नयी जागृति, नये चिन्तन की ओर उन्हें अग्रसर करना तथा जैन धर्म की आत्मा को रूढ़ि-मुक्त करना ये सब बड़ी सहनशीलता और धीरज का काम है। उनके मन की सहज गति इसी प्रकार की थी। यही कारण है कि उनके साथ मेरे विचारों और भावनाओं का सामंजस्य बैठता था और हम लोग मिल कर सामाजिक क्षेत्र में इतना कुछ कर सके।

बाबू छोटेलाल जी प्रारम्भ से ही भारतीय ज्ञानपीठ के ट्रस्टी थे और संचालक समिति के सदस्य। ज्ञानपीठ के सांस्कृतिक-धार्मिक प्रकाशनों के कार्यक्रम में उन्होंने सदा व्यक्तिगत रुचि ली और भारतीय साहित्य की उन्नति की दिशा में जो योजनायें ज्ञानपीठ ने बनाई उन सबको हार्दिक समर्थन दिया। वे एक ऐसा अभाव छोड़ गये जिसकी पूर्ति अब असंभव लग रही है। उनके मधुर व्यक्तित्व और उनके अकपट स्नेह की स्मृति अमर रहेगी।

साहित्य और पुरातत्व प्रेमी, बाबूजी

विजयसिंह नाहर, एम. एल. ए., कलकत्ता

साहित्य और पुरातत्व के प्रेमी विद्वान् बाबू छोटेलालजी जैन के निधन से केवल जैन समाज ने ही एक उज्ज्वल रत्न को नहीं खोया परन्तु सारे पुरातत्व जगत को हानि पहुँची। सरल स्वभाव, सदा हँसमुख विनयी छोटेलालजी से जो भी मिलता उनके आचरण से गद्-गद् हो जाता। मुझे याद आता है—जब मैं छात्र था बाबू छोटेलालजी हमारे परम पूज्य पिताजी स्व० पूरणचन्दजी नाहर के पास आते और जैन शोध खोज की बातें होतीं। मुझे हो उनको साथ लेकर पिताजी के पुस्तकालय "श्री गुलाब कुमारी लायब्रेरी" में उनको किताब दिखाने ले जाना होता। अत्यन्त श्रद्धा से, मनन से पुस्तकें देखते और उससे अपने खाने में नोट करते। हमें समझाते कि जैन साहित्य में समुद्र ऐसा संभार है, खोज के निकालने से हर विषय का पांडित्यपूर्ण समाधान प्राप्त होगा।

सन् १९३३ की बात है, मैं कलकत्ता कारपोरेशन के चुनाव में खड़ा हुआ। बाबू छोटेलालजी एक दिन आये। मुझ से कहा कि तुम्हें क्या मदद चाहिए। उन्होंने कई गाड़ियाँ भेज दी और उनके परिचित कई वोटरों के पास मुझे ले गये। वे स्वयं आये। मैंने उनसे कोई निवेदन नहीं किया था। क्योंकि वे हमारे चुनाव इलाके से बाहर रहते थे। कितना प्रेम था एक समाज के नवयुवक के प्रति।

कई साल हुए जब मैं बंगलोर जा रहा था उनसे बात हुई। उन्होंने मुझे मूलबिद्री दर्शन करने को कहा और वहां जो अलग-अलग जवाहरात की प्राचीन जैन प्रतिमायें है उसका वर्णन किया। खुद कष्ट कर कई मित्रों को पत्र लिखा जिससे मुझे सहूलियत रहे। शरीर अस्वस्थ होते हुए भी उत्साह का अभाव नहीं।

उन्हें देखा है जब-जब कोई विद्वान् उनके पास आये और कोई पुस्तक की जरूरत पड़ी तो मुझे टेलीफोन करते और स्वयं ही उन विद्वान् को लिए पहुँच जाते और पुस्तकें दिखाते। कोई आलस्य उनके पास नहीं था।

पुरातत्व विषय की कई पुस्तकें उनकी लिखी हुई हैं। ऐसियाटिक सोसाईटी के उत्साही सदस्य थे। प्राचीन जैन लेखों से उनका प्रेम था और उन्हें प्रकाशित करते रहते।

देश विदेशों के अनेक विद्वानों से उनका परिचय था। पत्र आते रहते और मित्रों को वे सब पत्र दिखाते और उन पत्रों के विषय में आलोचना भी करते ताकि उनकी जिज्ञासा को पूर्ण करके उत्तर देने में सहूलियत हो।

स्व० बाबू छोटेलालजी जैन स्मृति ग्रंथ प्रकाशित हो रहा है। आशा है इससे जैन विद्वानों को एक रास्ता मिलेगा, प्रेरणा प्राप्त होगी। मैं उस दिवंगत आत्मा के प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि निवेदन करता हूं।

श्रद्धांजलि

स्व० बाबू छोटेलालजी जैन की सेवाओं के प्रति श्रद्धांजलि प्रकट करने के लिए श्री छोटेलाल जैन स्मृति ग्रन्थ समिति, एक स्मृति ग्रन्थ का प्रकाशन कर रही है। एक दानी, परोपकारी, साहित्य एवं समाज की सेवाओं में अपना सारा जीवन समर्पित करने वाले महानुभाव के संस्मरण और उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापन का यह आयोजन सराहनीय है। अच्छा होता यदि यह उनके जीवनकाल में ही अभिनन्दन के रूप में सम्पन्न हो जाता।

दिगम्बर जैन समाज कलकत्ता और वीर सेवा मन्दिर दिल्ली तथा तीर्थ क्षेत्र कमेटी के प्रमुख कार्यकर्त्ता होने के नाते मेरा और मेरे घराने का उनसे संपर्क रहा है।

पुरातत्व के अन्वेषण में स्व० बाबूजी ने सफल प्रयत्न करते हुए सैकड़ों विद्वानों को इस सम्बन्ध में सहयोग दिया है। उनके प्रोत्साहन के फलस्वरूप मध्यप्रदेश के प्रतिभाशाली पुरातत्वज्ञ श्री नीरज, सतना अपने प्रदेश के पुरातत्व एवं शिलालेखों के अन्वेषण में प्रयत्नशील हैं।

मैं स्व० बाबूजी की सार्वजनिक, सामाजिक एवं साहित्यिक सेवाओं का हृदय से समादर करते हुए इस अवसर पर उनके प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करता हूं।

—राजकुमारसिंह
M A. LLB F.R.E.S.; F.R.G.S.
इन्दौर

ज्योति-शिखा को अन्तिम प्रणाम

लक्ष्मीचन्द्र जैन

जनवरी १९६६ के तीसरे सप्ताह की बात है; बाबू छोटेलालजी बीमार थे और कलकत्ते के मारवाड़ी रिलीफ सोसायटी के हस्पताल में उपचारार्थ वे एक प्राइवेट कैबिन में लगभग अर्ध चैतन्य अवस्था में लेटे हुए थे। मैं उसी शाम दिल्ली जा रहा था और जाने से पहले उनके दर्शन अवश्य कर लेना चाहता था। क्योंकि बीमारी उत्तरोत्तर बढ़ रही थी और कुछ ठिकाना नहीं था कि क्या हो जाये। मैं पहुँचा तो कमरे में परिवार की केवल एक महिला ही थीं। भेंट का वह समय भी नहीं था कि भीड़भाड़ होती। बाबू छोटेलालजी आँखें बन्द किये पड़े थे। वेदना कितनी थी यह तो स्पष्ट नहीं था किन्तु उसे सहन करने के प्रयत्न की छाप मुख पर अंकित थी। फिर भी चेहरे का भाव मृदु और शान्त था। मैं पास की कुर्सी पर चुपचाप बैठ गया। दो-चार मिनिट में ही उन्होंने आँखें खोलीं और मुझे देख कर अपना दुःखदर्द भूल कर हर्ष से गद्गद् दिखे और बोले—'आप कितनी देर से बैठे हैं, मैं शायद सो रहा हूँ, ऐसा आपको लगा होगा, लेकिन मैं सो नहीं पाता; आपको चाहिए था मुझे जगा लेते।' इतना कह कर उन्होंने बातें [illegible]-बात करने का उत्साह जितना आतुर था, दुर्बलता उतनी ही दुस्तर। बोले—'अर्थ-सम्बन्धी, जीवन का कुछ भरोसा नहीं। कोशिश कर रहा हूँ कि परिणाम शान्त रहे और मेरा मन व्याकुल न करे। [illegible] कुछ बात करने की इच्छा रह गया:
:

देख लीजिए, क्या है।'' मैं विचलित हो गया
मैंने उन्हें आश्वस्त करने का प्रयत्न किया। 'भा
साहब, आपने इतना कुछ किया है अकेले, कि
आपका कृतित्व सदा स्मरण रहेगा। आप व्याकु
न हों। आप जो बीज बो गये हैं, और पाल-पो
गये हैं वह फूल दे रहा है; फल दे रहा है। आप
जैन साहित्य का प्रचार-प्रसार अधिक सुगम हो गय
है। साहित्य सृजन की ओर भी लोगों की रुचि हु
है। जैनेतर विद्वानों में जैन धर्म को जानने-समझ
की वास्तविक जिज्ञासा है। विरोध भाव प्रायः नह
है। इस सब में आपका विशेष हाथ है।''

मैं चाहता नहीं था कि बात लम्बी बढ़े औ
बाबू छोटेलालजी को अधिक थकान हो। बीच-बी
में उन्हें खाँसी भी उठ रही थी। मैंने कहा—''आ
रात की गाड़ी से मैं दिल्ली जा रहा हूं। लौट क
दर्शन करूँगा। तब तक आपकी तबियत भी काप
कुछ ठीक हो जायेगी।'' वे एक फीकी हँसी मुस्क
राये। बोले—अच्छा आपको फिर देर हो रही होगी
आप जब आयेंगे तब''''', देखिए।' मैंने पहलीबा
उनके चरण छुये''''और अन्तिम बार। वे विच
लित हो गए''''''आप यह क्या कर रहे हैं ?'
जल्दी-जल्दी जीने से उतर गया। लगा जैसे किस
तीर्थ की वन्दना की हो, किसी साधु के चरण छु
हों; क्योंकि जीवन की अन्तिम सन्ध्या में वह मह
पुरुष 'बाबू छोटेलाल' की संज्ञा से कहीं बहुत ऊप
उठकर ...

और चिन्तन की दीप-शिखा सा उद्भासित था—स्नेह-तरल !

जब पहली बार वीरशासन जयन्ती के अवसर पर कलकत्ते में उनसे भेंट हुई थी तो अप्रत्यक्ष परिचय की श्रद्धा में प्रत्यक्ष साक्षात्कार की गहन आत्मीयता आ-जुड़ी थी। पहले से ही वे एक 'लीजेंड' थे, 'एक पुरा-कथा के से पात्र।' जैनसाहित्य और जैन पुरातत्व के क्षेत्र में निष्ठापूर्वक काम करने वाले विद्वान और प्रेरक के रूप में उन्हें जाना था। अब उनके आकर्षक व्यक्तित्व के अनेक आयाम प्रत्यक्ष हुए। जिस किसी व्यक्ति में उन्हें ज्ञान की चमक या क्षमताओं की संभावना या कुछ भी असाधारण-सा दिखा, उसे वे समस्त हृदय से अपना लेते थे। उनके इस अपनाने का अर्थ एक ओर तो होता था अकृत्रिम स्नेह और दूसरी ओर एक विशेष प्रकार का दायित्व-बोध कि बाबू छोटेलालजी के संपर्क में आने और उनका स्नेह पाने का अर्थ है उसके योग्य बनने और बने रहने का प्रयत्न। वे यों तो इतने निरभिमानी और निःशल्य थे कि यदि कोई उनके स्नेह से और उस स्नेह के अधिकार से मुक्त होना चाहे, उच्छृंखल होना चाहे, या उपकार के प्रति अपकारी होना चाहे तो हो ले—कहीं कोई रुकावट नहीं थी। उनके पास कोई दंड-पाश था ही नहीं; सक्रिय विरोध भी नहीं था—एक सरल सी प्रतिकूल प्रतिक्रिया भी उन पर भारी पड़ती थी। सारी जैन समाज से उनके संपर्क थे। सब कोई अपनी समस्यायें लिखकर उनके पास लिख भेजते थे—अधिकतर आर्थिक या व्यक्तिगत कठिनाई की या किसी माध्यम से अपना कोई काम साधने का अनुरोध। इन सब चिन्ताओं को वे अपने ऊपर ओढ़ लेते थे। [illegible] उनके साथ चलता था। [illegible] [illegible] लिफाफा लिया- [illegible] चिट्ठियाँ होतीं। सब [illegible] और फिर धीरे-धीरे [illegible] [illegible] उनके बारे में उन्हें चर्चा करनी होती। उसमें से कुछ अंश पढ़ देते और पत्र-लेखक की समस्या को अपनी बना कर इस प्रकार प्रस्तुत करते कि जिससे जो कुछ बन पड़ता वह करने को तैयार हो जाता। स्वयं उन्होंने क्या-कुछ कर दिया है यह वे प्रायः नहीं बताते—आत्मश्लाघा उनका गुण कभी भी नहीं रहा। कई बार मेरा मन होता कि जिस पत्र में से वह अंश पढ़ रहे हैं वह पूरा पत्र मैं देख पाता क्योंकि उस अमुक व्यक्ति ने साहू शान्तिप्रसादजी को भी पत्र लिखा होता था, या कभी-कभी मुझे भी, और समस्या को किसी दूसरे पहलू से प्रस्तुत किया होता—जो स्वाभाविक भी था—; किन्तु पत्र माँगने में मुझे संकोच होता और उन्हें देने में। कारण दोनों ओर से समान होता—मैं जानना चाहता था कि इतने लम्बे पत्र में और क्या-क्या लिखा है जो समस्या के अन्य पहलुओं से संदर्भित है, और वे नहीं चाहते होते कि जिस व्यक्ति ने खुल कर अनेक-अनेक बातें अपनी पराई लिखी हैं वे सब दूसरों तक पहुँचें। उनकी इस महिमा की गहरी छाप मेरे मन पर पड़ी है।

श्री साहू शान्तिप्रसादजी की अनेक सामाजिक-साहित्यिक प्रवृत्तियों से सम्बन्धित होने का अर्थ मेरे लिए यह था कि बाबू छोटेलालजी का सतत् सान्निध्य पाऊँ। ज्ञान और अनुभव के अनेक खाली कक्षों को वे अपने व्यक्तित्व की समृद्धि से भरते थे। मेरा यह सौभाग्य रहा है कि साहूजी ने मुझे निर्देशन भी दिया है और कार्य करने की स्वतंत्रता भी। कई बार ऐसे अवसर भी आते थे जब किसी विषय या व्यक्ति के सम्बन्ध में, एक विशेष पृष्ठभूमि के आधार पर लिखा गया निर्णय बाबू छोटेलालजी की सम्मति के साथ मेल नहीं खाता था। विशेष कारण यह होता था कि उनकी दृष्टि में सदा ही प्रत्येक व्यक्ति के प्रति सहानुभूति का अतिरेक रहता था अतः अनुशासन या व्यक्ति-निरपेक्ष रूप वे बहुत कम समझना चाहते थे। दूसरी यह कि अपने विचार या अपनी असहमति प्रगट कर देने के बाद वे सामूहिक निर्णय के साथ हो जाते थे। लेकिन

मुझे लगता है ऐसे अवसरों पर कर्तव्यों की द्विविधा में समूह के निर्णय को मान्यता देते हुए भी वास्तविक सहानुभूति उनकी व्यक्ति के प्रति ही रहती थी।

योजनायें उनकी बड़ी-बड़ी होती थीं क्योंकि न उत्साह की कमी होती थी, न साधनों की, न परिकल्पना के विवरणों की। लगता था कि एक महत्वपूर्ण कदम उठा लिया गया, एक बहुत बड़ी बात होने वाली है, कदम ठीक दिशा में बढ़ रहे हैं किन्तु मंजिलें दूर रह जाती थीं, आदमी पीछे छूट जाते थे—अग्रगामी रहते थे तो केवल बाबू छोटेलालजी अपनी भावनाओं में सदा हरे-भरे। कारण कि उनका मन आकाश के महत् विस्तार में तैरता था लेकिन रोग-जर्जर शरीर धरा पर उठाये गये पगों का संतुलन नहीं सँभाल पाता था। रोग जितना ही आक्रामक होता, उससे जूझने का उनका आग्रह उतना ही प्रबल हो उठता और जब जीत रोग की होती तो स्वस्थ होने की प्रतीक्षा दूभर हो उठती और अधूरे कार्यक्रमों को स्वास्थ्य के अगले चरण में जल्दी-से जल्दी पूरा कर लेने की व्यग्रता तन-मन को फिर झकझोर जाती। रोग की तीव्रता और कार्य कर डालने की व्यग्रता की होड़ का परिणाम होता अधिक रोग, अधिक दुर्बलता""और यह क्रम चलता रहता। उनके कृतित्व के अनेक आयामों की चर्चा अभिनन्दन ग्रन्थ में होगी ही। उस सबके, परिपेक्ष्य में मेरी आँखों के सामने तैर जाती है जनवरी १९६६ की संध्याकी वह ज्योति शिखा जिसे मैंने श्रद्धापूर्वक प्रणाम किया था और जिसके आलोक में स्नेह-सिक्त होने का सौभाग्य मुझे मिला था।

गायन्ति देवाः किल गीतकानि
धन्यास्तु ते भारतभूमि भागे ।
स्वर्गापवर्गास्पदहेतुभूते
भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात् ॥

—विष्णुपुराण १।१।१४

बाबूछोटेलाल जैन स्मृतिग्रंथ





इतिहास,
पुरातत्त्व
एवं शोध

धुले हुए नेत्रसूत्र की पट्टी बांधे हुए एक अधोवस्त्र पहने थे।[५]

बाण ने अन्य प्रसंग पर अन्य वस्त्रों के साथ नेत्र के लिए भी अनेक विशेषण दिये हैं—सांप की केंचुली की तरह महीन, कोमल केले के गाभे की तरह मुलायम, फूंक से उड़ जाने योग्य हल्के तथा केवल स्पर्श से ज्ञात होने योग्य।[६] बाण ने लिखा है कि इन वस्त्रों के सम्मिलित आच्छादन से हजार-हजार इन्द्रधनुषों जैसी कान्ति निकल रही थी।[७] इस उल्लेख से रंगीन नेत्र का पता लगता है। बाण ने छापेदार नेत्र के भी उल्लेख किये हैं। राज्यश्री के विवाह के अवसर पर खम्भों पर छापेदार नेत्र लपेटा गया था।[८] एक अन्य स्थान पर छापेदार नेत्र के बने सूथनों का उल्लेख है।[९] सम्भवतया नेत्र की बिनावट में ही फूलपत्तियों की भांत डाल दी जाती हो।

वर्णरत्नाकर में चौदह प्रकार के नेत्रों का उल्लेख है।[१०]

चौदहवीं शती तक बंगाल में नेत्र अथवा नेत एक मजबूत रेशमी कपड़े को कहते थे। इसकी पाचूड़ी पहनी और बिछाई जाती थी।[११]

पदमावत के उल्लेखों से ज्ञात होता है कि सोलहवीं शती तक नेत्र का प्रचार था, जायसी ने तीन बार नेत्र अथवा नेत का उल्लेख किया है। रतनसेन के शयनागार में अगर चन्दन पोतकर नेत के परदे लगाये गये थे।[१२] पदमावती जब चलती थी तो नेत के पांवड़े बिछाये जाते थे।[१३] एक अन्य प्रसंग में भी मार्ग में नेत बिछाने का उल्लेख है।[१४]

भोजपुरी लोकगीतों में नेत का उल्लेख प्रायः आता है।[१५] बंगला में भी नेत के उल्लेख मिलते हैं। (नेतर आंचले चर्म मण्डित करिया घर घर वाशिनि पोशे, अर्थात् नेत के आंचल में चमड़े से ढंकी हुई स्त्री रूपी व्याघ्री घर घर में पोसी जा रही है, धर्ममंगल में गोरखनाथ का गीत)[१६]

चीन—चीन का अर्थश्रुतदेव ने चीन देश में होने वाले वस्त्र का किया है।[१७] सोमदेव के बहुत समय पहले से भारतीय जन चीन देश से आने वाले वस्त्रों से परिचित हो चुके थे। डा० मोतीचन्द ने "भारतीय वेशभूषा" में चीन देश से आनेव ाले वस्त्रों के विषय में पर्याप्त जानकारी दी है। उसीके आधार पर उन वस्त्रों का परिचय यहां दिया गया है।

---

५. विमलपयौ धौतेन नेत्रसूत्रनिवेशशोभिनाधरवाससा, वही, पृ० ७२

६. नेत्रैश्च निर्मोकनिभैः, अकठोररम्भागर्भकोमलैः, निश्वासहार्येः, स्पर्शानुमेयैः वासोभिः, वही, पृ०१४३

७. स्फुरद्भिरिन्द्रायुधसहस्रैरिव संछादितम्, वही, पृष्ठ १४३

८. उच्चित्रनेत्रपटवेष्ट्यमानैश्च स्तम्भैः, वही पृष्ठ १४३

९. उच्चित्रनेत्रसुकुमारस्वस्थानस्थगितजंघाकाण्डैः वही, पृष्ठ २०६

१०. हरिणा, वैंगना, नखी, सर्वांग, गरु, सुचीन, राजन, पंचरंग, नील, हरित, पीत, लौहित, चित्रवर्ण एवम्विध, चतुर्दश जाति नेत देखु॥ वर्णरत्नाकर, पृष्ठ २२

११. तमोनाशचन्द्रदास-आसपैक्टस आफ बंगाली सोसायटी फ्राम बंगाली लिटरेचर, पृष्ठ १८०-१८१

१२. औवरि जूडि तहां सोवनारा। अगर पौति सुख नेत औहारा॥ अग्रवाल-पद्मावत ३३६।५

१३. पालक पांव कि आछहि पाटा। नेत बिछाइअ जौं चल बाटा॥ वही, ४८५।७

१४. नेत बिछावा बाट, वही, ६४१।८

राजा दशरथ द्वारे चित्र उरेहल, ऊपर नेत फहरासु है। जनपद, वर्ष १ अङ्क ३, अप्रैल १९३९,

मध्य ऐशिया के प्राचीन पथ पर बने हुए एक चीनी रक्षागृह से एक रेशमी थान मिला, जिस पर ई० पू० पहली शताब्दी की ब्राह्मी में एक पुरजा लगा हुआ था। यह इस बात का द्योतक है कि भारतीय व्यापारी चीनी-रेशमी कपड़े की खोज में चीन की सीमा तक इतने प्राचीन काल में पहुँच गये थे।[१८]

चीन देश से आने वाले वस्त्रों में सबसे अधिक उल्लेख चीनांशुक के मिलते हैं।[१९] यह एक रेशमी वस्त्र था। बृहत् कल्पसूत्र भाष्य में इसकी व्याख्या कोशकार नामक कीड़े से अथवा चीन जनपद के बहुत पतले रेशम से बने वस्त्र से की गई है।[२०]

चीनांशुक के अतिरिक्त चीन और वाह्लीक से भेड़ों के ऊन, पश्म (रांकव), रेशम (कीटज) और पट्ट (पट्टज) के बने वस्त्र आते थे। ये ठीक नाप के, गुलनुमा रंगवाले तथा स्पर्श करने में मुलायम होते थे। इन देशों से नमदे (कुट्टीकृतं) कमल के रंग के हजारों कपड़े, मुलायम रेशमी कपड़े तथा मेमनों की खालें भी आती थी।[२१]

चित्रपटी—यशस्तिलक के संस्कृत टीकाकार ने चित्रपटी का अर्थ रंग-बिरंगे सूक्ष्म वस्त्र किया है।[२२] चित्रपटी या चित्रपट वे जामदानी वस्त्र ज्ञात होते हैं, जिनमें बुनावट में ही फूलपत्तियों की भांत डाल दी जाती थी। बंगाल इन वस्त्रों के लिए सदा से प्रसिद्ध रहा है। वाणभट्ट ने लिखा है कि प्राग्ज्योतिषेश्वर (आसाम) के राजा ने श्रीहर्ष को उपहार में जो बहुमूल्य वस्तुयें भेजीं उनमें चित्रपट के तकिये भी थे, जिनमें समूर या पक्षियों के बाल या रोएं भरे थे।[२३]

पटोल—पटोल का अर्थ यशस्तिलक के संस्कृत टीकाकार ने पट्टकूल वस्त्र किया है।[२४] गुजरात में अभी भी पटोला नामक साड़ी बनती है तथा इसका व्यवहार होता है। इस साड़ी को लड़की का मामा विवाह के अवसर पर उसे भेंट करता है। यह साड़ी बांधनू रंगने की विधि से रंगे गये ताने-बाने से बनती है। इसकी बिनावट में सकरपारे पड़ते हैं, जिनके बीच में तिपतिये फूल होते हैं। कभी कभी अलंकारों में हाथियों की पंक्ति, पेड़-पौधे, मनुष्य-आकृतियां और चिड़िया भी होती हैं।[२५]

रल्लिका—रल्लिका का अर्थ यशस्तिलक के संस्कृत टीकाकार ने रक्त कंबल किया है।[२६] रल्लक एक प्रकार का मृग होता था जिसके ऊन से यह कपड़ा बनता था। सोमदेव ने जंगल का

---

१८. सर आरल स्टाइन-एशिया मेजर, हर्थ एनिवर्सरी वालुम १९२३, पृ० ३६७-३७२

१९. आचारांग, २,१४,६। भगवती ९,३३,९। अनुयोगद्वार ३६, निशीथ ७,११। प्रश्नव्याकरण ४,४

२०. कोशिकाराख्या.कृमिः तस्माज्जातम्, अथवा चीनानाम् जनपदः तत्र यः श्लक्ष्णतरपटःतस्माज्जातम् बृहत्कल्प० ४,३६६२।

२१. प्रमाणरागस्पर्शाढ्यं वाल्हीचीनसमुद्भवम्। और्णं च रांकवं चैव कीटजं पट्टजं तथा॥ कुटीकृतं तथैवात्र कमलाभं सहस्रशः। श्लक्ष्णं वस्त्रमकसपामाविकं मृदुचाजिनम्॥ महाभा० सभा-पर्व ५१।२७

२२. चित्रा नानाप्रकारा याः पट्यः सूक्ष्मवस्त्राणि, यश० सं० पू० पृ० ३६८, सं० टी०

२३. अग्रवाल-हर्षचरितः एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० १६८

२४. पटोलानि च पट्टकूलवस्त्राणि, यश० सं० पू०, पृ० ३६८

२५. वाट-इंडियन आर्ट एट दी देहली एक्जिबिशन, पृ० २५६-२५९। उद्धृत, मोतीचन्द्र भारतीय वेशभूषा, पृ० ९५

२६. रल्लिकाश्च रक्तादिकंबलविशेषाः, यश० सं० पू० पृष्ठ ३६८, स० टी०।

इस विवरण से इतना तो निश्चित रूप से ज्ञात हो जाता है कि दुकूल जोड़े के रूप में आता था। इसका एक चादर पहनने और दूसरा ओढ़ने के काम में लिया जाता था। दुकूल के थान को काट कर अन्य वस्त्र भी बनाये जाते थे। बाण ने दुकूल के बने उत्तरीय, साड़ियां, पलंगपोश, तकियों के गिलाफ आदि का वर्णन किया है।[५१]

दुकूल के विषय में एक बात और भी विचारणीय है। बाद के साहित्यकारों तथा कोषकारों ने क्षोम और दुकूल को पर्याय माना है। स्वयं यशस्तिलक के टीकाकार ने दुकूल का अर्थ क्षौमवस्त्र किया है।[५२] अमरकोषकार ने भी दुकूल को पर्याय माना है।[५३] वास्तव में दुकूल और क्षोम एक नहीं थे। कौटिल्य ने इन्हें अलग-अलग माना है।[५४] बाण ने क्षोम की उपमा दूधिया रंग के क्षीर सागर से तथा अंशुक की सुकुमारता की उपमा दुकूल की कोमलता से दी है।[५५]

इस तरह यद्यपि क्षोम और दुकूल एक नहीं थे फिर भी इनमें अन्तर भी अधिक नहीं था। दुकूल और क्षोम दोनों एक ही प्रकार की सामग्री से बनते थे। इनमें अन्तर केवल यह था कि कुछ मोटा कपड़ा बनता वह क्षोम कहलाता तथा जो महीन बनता वह दुकूल कहलाता। दुकूल की व्याख्या करने के बाद कौटिल्य ने लिखा है कि इसी से काशी और पौंड्रदेश के क्षोम की भी व्याख्या हो गयी।[५६] गणपति शास्त्री ने इसका खुलासा करते हुए लिखा है कि मोटा दुकूल ही क्षोम कहलाता था।[५७] हेमचन्द्राचार्य ने इसे और भी अधिक स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने लिखा है कि क्षुमा अतसी (अलसी) को कहते हैं, उससे बना वस्त्र क्षोम कहलाता है। इसी तरह क्षुमा से (अलसी से) रेशे निकाल कर जो वस्त्र बनता है वह दुकूल कहलाता है।[५८] साधुसुन्दरगणि ने भी लिखा है कि दुकूल अलसी से बने कपड़े को कहते हैं।[५९] भारतवर्ष के पूर्वी भागों में (आसाम-बंगाल) में यह क्षुमा या अलसी नामक घास बहुतायत से होती थी। बंगाल में इसे कांखुर कहा जाता था।[६०] दुकूल और क्षोम इसी घास के रेशों से बनने वाले वस्त्र रहे होंगे।

सोमदेव ने दुकूल का कई बार उल्लेख किया है, किन्तु क्षोम का एक बार भी नहीं किया। संभव है सोमदेव के पहले से ही दूकूल और क्षोम पर्यायवाची माने जाने लगे हों और इसी कारण सोमदेव ने केवल दुकूल का प्रयोग किया हो। सोमदेव के उल्लेखों से इतना अवश्य मानना चाहिये कि दशवीं शताब्दी तक दुकूल का खूब प्रचार था तथा यह वस्त्र सम्भ्रान्त और बेशकीमती माना जाता था।

---

५१. अग्रवाल,—हर्षचरितः एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० ७६

५२. दुकूलं क्षौमवस्त्रम्, यश० सं० पू०, पृ० ५६२ सं० टीका

५३. क्षौमं दुकूलं स्यात्। अमरकोष २,६,११३।

५४. अर्थशास्त्र २, ११

५५. क्षीरोदायमानं क्षौमैः, हर्षचरित, पृ० ६०।
चीनांशुकसुकुमारे—दुकूलकोमले, वही पृ० ३६

५६. तेन काशिकं पौण्ड्कं च क्षौमं व्याख्यातम्, अर्थशास्त्र २, ११

५७. स्थूलं दुकूलमेव हि क्षौममिति व्यपदिश्यते, वही सं० टी०

५८. क्षुमा तसी तस्या विकारः क्षोमम्, दुह्यते क्षुमाया आकृष्यते दुगूलम्, अभिधानचिन्तामणि, ३।३३३

५९. दुकूलमृतसीपटे, शब्दरत्नाकर, ३।२१६

६०. डिक्शनरी आफ इकोनॉमिक प्रोडक्टस, भा० १, पृ० ४६८-४६६। उद्धृत, डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल-हर्षचरितः एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० ७६-७७

अंशुक—यशस्तिलक में कई प्रकार के अंशुक का उल्लेख है यथा—अंशुक सामान्य या सफेद अंशुक,[६१] कुसुमांशुक या ललाई लिये हुये रंग का अंशुक,[६२] कार्दमिकांशुक अर्थात् नीला या मटमैले रंग का अंशुक।[६३]

अंशुक भारत में भी बनता था तथा चीन से भी आता था। चीन से आने वाला अंशुक चीनांशुक कहलाता था। भारतीय जन दोनों प्रकार के अंशुकों से बहुत प्राचीन काल से परिचित हो चुके थे। चीनांशुक के विषय में ऊपर चीन वस्त्र की व्याख्या करते हुए विशेष लिखा जा चुका है, अतएव यहाँ केवल अंशुक या भारतीय अंशुक के विषय में विचार करना है।

कालिदास ने सितांशुक,[६४] अरुणांशुक,[६५] रक्तांशुक,[६६] नीलांशुक,[६७] तथा श्यामांशुक,[६८] का उल्लेख किया है। सम्भवतः अंशुक पहले सफेद बनता था, बाद में उसकी विभिन्न रंगों में रंगाई की जाती थी। कार्दमिकांशुक का अर्थ यशस्तिलक के संस्कृत टीकाकार ने कस्तूरी से रंगा हुआ वस्त्र किया है।[६९] कात्यायन के अनुसार भी शकल और कर्दम से वस्त्र रंगने का रिवाज था, जिन्हें शाकलिक या कार्दमिक कहते थे।(४।२।२ वा०)[७०]

बाण ने अंशुक का कई बार उल्लेख किया है। वे इसे अत्यन्त पतला और स्वच्छ वस्त्र मानते थे।[७१] एक स्थान पर मृणाल के रेशों से अंशुक की सूक्ष्मता का दिग्दर्शन कराया है।[७२] बाण ने फूल पत्तियों और पक्षियों की आकृतियों से सुशोभित अंशुक का भी उल्लेख किया है।[७३]

प्राकृत ग्रन्थों में 'अंसुय' शब्द आता है। आचारांग में अंशुक और चीनाँशुक दोनों का पृथक पृथक निर्देश है।[७४] वृहत् कल्पसूत्र भाष्य में भी दोनों को अलग-अलग गिनाया है।[७५] प्राचीन भारतवर्ष में दुकूल के बाद सबसे अधिक व्यवहार अंशुक का ही देखा जाता है। सोमदेव के उल्लेखों से ज्ञात होता है कि दशवीं शताब्दी में अंशुक का पर्याप्त प्रचार था।

कौशेय—कौशेय का उल्लेख सोमदेव ने विभिन्न देशों के राजाओं द्वारा भेजे गये उपहारों में किया है। कौशल नरेश ने सम्राट यशोधर को कौशेय वस्त्र उपहार में भेजे।

---

६१. सितपताकांशुक, यश० उत्त०, पृ० १३
६२. कुसुम्मांशुकपिहितगौरीपयोधर, वही, पृ० १४
६३. कार्दमिकांशुकाधिकृतकायपरिकरः, वही, पृ० २२०
६४. सितांशुका मंगलमात्रभूषणा, विक्रमोर्वशी, ३, १२
६५. अरुणरागनिषेधिभिरंशुकैः, रघुवंश, ६,४३
६६. ऋतुसंहार, ६,४,२६
६७. विक्रमोर्वशी, पृ० ६०
६८. मेघदूत, पृ० ४१
६९. कार्दमिकं कर्दमेण रक्तम्, यश० उत्त०, पृ० २२०, सं० टी०
७०. उद्धृत, अग्रवाल–पाणिनीकालीन भारतवर्ष, पृ० २२५
७१. सूक्ष्मविमलेन प्रज्ञावितानेनेवांशुकेनाच्छादितशरीरा, हर्षचरित,
७२. विषतन्तुमयेनांशुकेन, वही, पृ० १०।
७३. बहुविधकुसुमशकुनिशतशोभितादतिस्वच्छादंशुकात्. वही, पृ० ११४
७४. अंसुयाणि वा चीणंसुयाणि वा, आचारांग, २, वस्त्र० १४, ६
७५. अंसुग चीणंसुगं च विगलेंदी, बृहत् कल्पसूत्र ० ४, ३६६१

तक लम्बा (आप्रपदीन) चोलक पहने थे।[९४] संस्कृत टीकाकार ने चोलक का अर्थ कूर्पास किया है।[९५] किन्तु देखना यह है कि टीकाकार इन वस्त्रों के वास्तविक स्वरूप को स्पष्ट किये बिना ही कुछ भी अर्थ कर देता है। ऊपर कंचुक के लिए कूर्पासक कहा है यहां चोलक के लिए। वास्तव में ये सभी वस्त्र अलग-अलग तरह के थे।

चोलक के विषय में डा० अग्रवाल ने निम्न प्रकार जानकारी दी है—

चोलक एक प्रकार का वह कोट था, जो कंचुक या अन्य सभी प्रकार के वस्त्रों के ऊपर पहना जाता था। यह एक सम्भ्रान्त या आदर-सूचक वस्त्र समझा जाता था। उत्तर-पश्चिम भारत में सर्वत्र नोशे के लिए इस वेश का रिवाज लोक में अभी भी है, जिसे चोला कहते हैं। चोला ढीला-ढाला गुल्फों तक लम्बा खुले गले का पहनावा है, जो सब वस्त्रों से ऊपर पहना जाता है।[९६]

मध्य एशिया से आने वाले शक लोग इस वेश को भारत में लाये होंगे और उनके द्वारा प्रचारित होकर यह भारतीय वेशभूषा में समा गया।[९७]

मथुरा संग्रहालय में जो कनिष्क की मूर्ति है, उसमें नीचे लम्बा कंचुक और ऊपर सामने से घुराघुर सामने से खुला हुआ एक कोट दिखाया गया है, जिसकी पहचान चोलक से की जा सकती है।[९८] मथुरा से प्राप्त हुई सूर्य की कई मूर्तियों में भी इसी प्रकार के खुले गले का ऊपरी पहरावा पाया जाता है। चष्टन की मूर्ति का भी ऊपरी लम्बा वेश चोलक ही ज्ञात होता है। इसका गला सामने से तिकोना खुला है। कनिष्क और चष्टन के चोलकों में अन्तर है। ये दोनों दो प्रकार के हैं। कनिष्क का घुराघुर बीच में खुलने वाला है और चष्टन का दुपरता जिसका ऊपर का परत बायीं तरफ से खुलता है तथा बीच में गले के पास तिकोना भाग खुला दिखाई देता है। कनिष्क की शैली का चोलक मथुरा संग्रहालय की डी० ४६ संज्ञक मूर्ति में और भी स्पष्ट है।[९९]

मध्य एशिया से लगभग सातवीं शती का एक ऐसा ही पुरुष चोलक प्राप्त हुआ है, जिसका गला तिकोना खुला है।[१००] कस्टन शैली के चोलक का एक सुन्दर नमूना लाप मरुभूमि से प्राप्त मृण्मय मूर्ति के चोलक में उपलब्ध है। यह उत्तरी वाईवंश (३८६-५२५) के समय का है।[१०१]

बाणभट्ट ने राजाओं के वेश-भूषा में चीन-चोलक का उल्लेख किया है।[१०२]

---

९३. परिजनोपनीत उपविश्यासने वारवाणमवतार्य, वही, पृ० २१६

९४. आप्रपदीनचोलकस्खलितगतिवैलक्ष्य, यश० सं० पू०, पृ० ४६६

९५. चौलकः कूर्पासकः, वही, सं० टी०।

९६. अग्रवाल–हर्षचरितः एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० १५२

९७. अग्रवाल–वही, पृ० १५१
मोतीचन्द्र–भारतीय वेशभूषा, पृ० १६१

९८. मथुरा म्युजियम हैंडबुक, चित्र ४, उद्धृत, अग्रवाल–हर्षचरितः एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० १५१

९९. अग्रवाल–वही, पृ० १५२

१००. वायवी सिलवान–इन्वेस्टिगेशन आफ सिल्क फ्राम एड्सन गौल एण्ड लापनार (स्टाकहोम, १९४९) प्लेट० ८-ए। उद्धृत, अग्रवाल–वही, पृ० १५२

१०१. वायवी सिलवान–वही, पृ० ८३, चित्र सं० ३२। उद्धृत, अग्रवाल–वही, पृ० १५२

१०२. चापचितचीनचोलकैः, हर्षचरित, पृ० २०६

चण्डातक—चण्डातक का उल्लेख सोमदेव ने चण्डमारी देवी का वर्णन करते हुए किया है। गीला चमड़ा ही उस देवी का चण्डायक था।

चण्डातक का अर्थ अमरकोषकार ने जांघों तक पहुँचने वाला अधोवस्त्र किया है।[१०३] यह एक प्रकार का जांघिया या घंघरीनुमा वस्त्र था, जिसे स्त्री और पुरुष दोनों पहनते थे।[१०४]

उष्णीष—शिरोवस्त्र में सोमदेव ने उष्णीष और पट्टिका का उल्लेख किया है। उत्तरापथ के सैनिक रंग-बिरंगा उष्णीष पहनते थे।[१०५] दक्षिणापथ के सैनिकों ने बालों को पट्टिका से कस कर बांध रखा था।[१०६]

सोमदेव के उल्लेख से उष्णीष के आकार प्रकार या बांधने के ढंग पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता, केवल इतना ज्ञात होता है कि उष्णीष कई रंग के बनते थे। सम्भव है इनकी रंगाई बांधने के ढंग से की जाती हो। बुन्देलखण्ड के लोकगीतों में पंचरंग पाग (उष्णीष) के उल्लेख आते हैं।

डा० मोतीचन्द्रजी ने साहित्य का मरहुत, सांची और अमरावती की कला में अंकित अनेक प्रकार की पगड़ियों का वर्णन 'भारतीय वेशभूषा' पुस्तक में किया है।

कौपीन—कौपीन का उल्लेख सोमदेव ने एक उपमालंकार में किया है। दाक्षिणात्य सैनिक जांघों से एकदम सटा हुआ वस्त्र पहने थे, जिससे वे कौपीन-धारी वैखानस की तरह लगते थे।[१०७]

कौपीन एक प्रकार का छोटा चादर कहलाता था जिसका उपयोग साधु पहनने के काम में करते थे।

उत्तरीय—उत्तरीय का उल्लेख भी तीन बार हुआ है। मुनिकुमार युगल शरीर की शुभ्र प्रभा के कारण ऐसे प्रतीत होते थे, जैसे उन्होंने दुकूल का उत्तरीय ओढ़ रखा हो।[१०८] कुमार यशोधर के राज्याभिषेक का मुहूर्त निकालने के लिए जो ज्योतिषी लोग इकट्ठे हुए थे, वे दुकूल के उत्तरीय से अपने मुंह ढके थे।[११०]

राजमाता चन्द्रमति ने संध्याराग की तरह हलके लाल रंग का उत्तरीय ओढ़ रखा था (संध्यारागोत्तरीयवसनाम्, उत्त० ८२)। ओढ़ने वाले चादर को उत्तरीय कहा जाता था। अमरकोषकार ने उत्तरीय को ओढ़ने वाले वस्त्रों में गिनाया है।[१११]

चीवर—एक उपमा अलंकार में चीवर का उल्लेख है। चीवर की ललाई से अन्तःकरण के अनुराग की उपमा दी गयी है।[११२]

बौद्ध भिक्षुओं के पहिनने ओढ़ने के काषाय वर्ण के चादर चीवर कहलाते थे। महावग्ग में चीवर-क्खन्धकं नाम का एक स्वतन्त्र प्रकरण है, जिसमें भिक्षुओं के लिए तरह तरह की कथाओं के माध्यम

---

१०३. चण्डातकमार्द्रचर्माणि, यश० सं० पू०, पृ० १५०
१०४. अर्धोरुकं वरस्त्रीणां स्याच्चण्डातकमस्त्रियाम्, अमरकोष, २, ६, ११६।
१०५. मोतीचन्द्र-भारतीय वेशभूषा, पृ० २३
१०६. भागभागार्पितानेकवर्णवसनवेष्टितोष्णीषम्, यश० सं० पू०, ४६५
१०७. पट्टिकाप्रतानघटितोद्भटजूटम्, वही, पृ० ४६१
१०८. आवंक्षणोत्क्षिप्तनिबिडनिवसनं सकौपीनं वैखानसवृन्दमिव, यश० सं० पू०, पृ० ४६२
१०९. वपुप्रभापटलदुकूलोत्तरीयम्, यश. स. पू., पृ०, १५६
११० उत्तरीयदुकूलांचलपिहितबिम्बिना, वही, पृ० ३१६
१११. संव्यानमुत्तरीयं च, अमरकोष, २, ६, ११८
११२. चीवरोपरागनिरतान्तःकरणेन, यश० उत्त०, पृ० ८

से चीवरों के विषय में ज्ञातव्य सामग्री प्रस्तुत की गयी है।[११३] चीवर कपड़ों के अनेक टुकड़ों को एक साथ सिलकर बनाए जाते हैं।

अवान—आश्रमवासी तपस्वियों के वस्त्रों के लिए यशस्तिलक में अवान शब्द आया है।[११४]

परिधान—अधोवस्त्रों में सोमदेव ने परिधान और उपसंख्यान शब्दों का उल्लेख किया है। एक उक्ति में सोमदेव कहते हैं कि जो राजा अपने देश की रक्षा न करके दूसरे देशों को जीतने की इच्छा करता है वह उस पुरुष के समान है जो धोती खोल कर सिर पर साफा बान्धता है।[११५] अमरकोषकार ने नीचे पहनने वाले वस्त्रों में परिधान की गणना की है।[११६] बुन्देलखण्ड में अभी भी धोती को पर्दनी या परदनियां कहा जाता है, जो इसी परिधान शब्द का बिगड़ा हुआ रूप है।

उपसंव्यान—उपसंव्यान का दोबार उल्लेख है। एक कथा के प्रसंग में एक अध्यापक बकरा खरीदता है और अपने शिष्य से कहता है कि इसे उपसंव्यान से अच्छी तरह बांध कर लाना।[११७] यहां पर संस्कृत टीकाकार ने उपसंव्यान का अर्थ उत्तरीय वस्त्र किया है।[११८]

राजमाता ने सभा मंडप में जाते समय उपसंव्यान धारण किया था। (अरुणमणिमौलिमयूखोन्मुखराजिरंजितोपसव्यानाम्, उत्त० ८२) यहां संस्कृत टीकाकार ने अधोवस्त्र ही अर्थ किया है।

परिधान और उपसंख्यान में क्या अन्तर था, यह स्पष्ट नहीं होता।[११९] अमरकोषकार ने दोनों को अधोवस्त्र कहा है। हेमचन्द्र ने भी दोनों को अधोवस्त्र कहा है।[१२०] यशस्तिलक के संस्कृत टीकाकार द्वारा एक स्थान पर अधोवस्त्र और एक स्थान पर उत्तरीय अर्थ करने से प्रतीत होता है कि टीकाकार को उपसंव्यान के अर्थ का ठीक पता नहीं था। अमरकोषकार ने अधोवस्त्र के लिए उपसंव्यान और उत्तरीय के लिए संव्यान[१२१] पद दिया है। संम्भवतया इसी शब्द व्यवहार से प्रमित हो कर टीकाकार ने यह अर्थ कर दिया।

गुह्या—गुह्या का उल्लेख शंखनक नामक दूत के वर्णन में हुआ है। शंखनक ने पुराने गोन की गुह्या पहन रखी थी।[१२२] गुह्या का अर्थ श्रुतसागर ने कच्छोटिका किया है।[१२३]

बुन्देलखण्ड में विना सिले वस्त्र को लंगोट की तरह पहनने को कछुटिया लगाना कहते हैं। यहां गुह्या से सोमदेव का यही तात्पर्य प्रतीत होता है।

हंसतूलिका—हंसतूलिका का उल्लेख सोमदेव ने अमृतमति महारानी के भवन के प्रसंग में किया

११३. महावग्ग, चीवरक्खन्धकं।
११४. अपरगिरिशिखरसश्रयाश्रमवासतापसावानवितानितधातुजलपाटलपटप्रतानस्पृशि, यश० उत्त० पृ० ५
११५. अकृत्वा निजदेशस्य रक्षां यो विजिगीषते स नृपः परिधानेन वृत्तमौलिः पुमानिव ॥.
यश. सं. पू., पृ, ७४
११६. अन्तरीयोपसंव्यानपरिधानान्य घोंशुके। अमरकोष, २, ६, ११७।
११७. तदतियत्नमुपसंव्यानेन बद्धवानीयताम्, यश. उत्त. पृ. १३२
११८. उपसंव्यानेन उत्तारीयवस्त्रेण, वही, सं. टी.।
११९. देखिए-उद्धरणं ११६
१२०. परिधानं त्वधोंशुकम्, अन्तरीयं निदसनमुपसंव्यानमित्यपि। अभिधान चिन्तामणि
१२१. संव्यानमुत्तरीयं च, अमरकोष, २, ६,११८
१२२. पटच्चरपर्याणगोणीगुह्यापिहितमेहनः, यश. सं. पू., पृ० ३९८
१२३. गुह्या कच्छोटिका, वही, सं, टी,

है। अमृतमति के पलंग पर हंसतूलिका बिछी थी, जिस पर तरंगित दुकूल का चादर बिछा था।[१२४] संस्कृत टीकाकार ने हंसतूलिका का अर्थ प्रास्तरण विशेष किया है।[१२५]

उपधान—तकिए के लिए सोमदेव ने अत्यन्त प्रचलित संस्कृत शब्द उपधान का प्रयोग किया है। अमृतमति के अन्तःपुर में पलंग के दोनों ओर दो तकिए रखे थे, जिससे दोनों किनारे ऊंचे हो गये थे।[१२६]

कन्था—यशस्तिलक में कन्था का उल्लेख दो वार आया है। शीतकाल के वर्णन में सोमदेव ने लिखा है कि इतने जोरों की ठंड पड़ रही थी कि गरीव परिवारों में पुरानी कन्थाएं चिथड़ा हुई जा रही थीं।[१२७] एक अन्य स्थल पर दुःस्वप्न के कारण राज्य छोड़ने के लिए तत्पर सम्राट यशोधर को राजमाता समझाती है कि जूं के भय से क्या कन्था भी छोड़ दी जाती है।[१२८]

कन्था, जिसे देशी भाषा में कथरी कहा जाता है, अनेक पुराने जीर्ण-शीर्ण कपड़ों को एक साथ सिल कर वनाए गये गद्दे को कहते हैं। गरीव परिवार जो ठंड से वचाव के लिए गर्म या रूई भरे हुए कपड़े नहीं खरीद सकते वे कन्थाएं वना लेते हैं। ओढ़ने और विछाने दोनों कामों में कन्थाओं का उपयोग किया जाता है। मोटी होने से इन्हें जल्दी से धोना भी मुश्किल होता है, इसी कारण इनमें जूं भी पड़ जाती है।

नमत[१२९]—यशस्तिलक में नमत (हि० नमदा) का उल्लेख एक ग्राम के वर्णन के प्रसंग में आया है। उज्जयिनी के समीप में एक ग्राम के लोग नमदे और चमड़े की जीनें वना कर अपनी आजीविका चलाते थे।[१३०] संस्कृत टीकाकार ने नमत का अर्थ ऊनी खेल या चादर किया है।[१३१]

नमदे भेड़ों या पहाड़ी वकरों के रोएं को कूट कर जमाए हुए वस्त्र को कहते हैं। काश्मीर के नमदे अभी भी प्रसिद्ध हैं।

निचोल—यशस्तिलक में निचोल के लिए निचल शब्द आया है।[१३२] संस्कृत टीकाकार ने एक स्थान पर निचोल का अर्थ कंचुक किया है[१३३] तथा दूसरे स्थान पर प्रावरणवस्त्र किया है।[१३४] सुन्दरलाल शास्त्री ने भी इसी के आधार पर हिन्दी अनुवाद में भी उक्त दोनों ही अर्थ कर दिये हैं।[१३५] प्रसंग की दृष्टि से निचल का अर्थ कंचुक यहां ठीक नहीं बैठता। अमरकोषकार ने

---

१२४. तरंगितदुकूलपटप्रसाधितहंसतूलिकम्, यश० उत्त०, पृ० ३०
१२५. हंसतूलिका प्रास्तरणविशेषः, वही, सं० टी०।
१२६. उपधानद्वयोतम्मितपूर्वापर भागम्, यश० उत्त०, पृ० ३०
१२७. शिथिलयति दुर्विधकुटुम्बेषु जरत्कन्थापटच्चराणि, यश० सं० पू०, पृ० ५७
१२८, मयेन किं मन्दविसर्पिणीनां कन्थां त्यजन्कोऽपि निरीक्षितोऽस्ति। यश० उत्त०, पृ० ८९
१२९. मुद्रित प्रति का तमत पाठ गलत है।
१३०. नमताजिनजेणाजीवनोटजाकुले, यश० उत्त० पृ० २१८
१३१. नमतम् ऊर्णामयास्तरणम्, वही, सं० टी०।
१३२. जगद्वलयर्नालनिचलेप, निचलसनाथनृपतिचापसपादिपु, यश० सं० पू०, पृ० ७१-७२
१३३. नीलनिचिलः कृष्ण वर्णनिचोलकः, कुंचुकः, वही, सं० टी०।
१३४. निचलननाथानि प्रावरणवस्त्रसहितानि, वही, सं० टी०।
१३५. सुन्दरलाल शास्त्री–हिन्दी यशस्तिलक, पृ० ४०

निचोल का अर्थ प्रच्छद पट अर्थात बिछाने का चादर किया है।[१३६] क्षीरस्वामी ने इसे और भी अधिक स्पष्ट किया है कि जिससे शय्या आदि प्रच्छादित की जाए उसे निचोल कहते हैं।[१३७] शब्दरत्नाकर में भी निचोलक, निचुलक, निचोल निचोलि और निचुल ये पांच शब्द प्रच्छादक वस्त्र के लिए आए हैं।[१३८] यही अर्थ यशस्तिलक में भी उपयुक्त बैठता है। सोमदेव ने लिखा है कि काले काले मेघ पृथ्वी-मण्डल पर इस तरह छा गये, जैसे नीला प्रच्छदपट बिछा दिया हो।[१३९]

चन्दोवा—चन्दोवा के लिए यशस्तिलक में सिचयोल्लोच तथा वितान शब्द आए हैं। सोमदेव ने लिखा है कि राजपुर में गगनचुम्बी शिखरों पर लगे हुए सुवर्ण-कलशों से निकलने वाली कान्ति से आकाश-लक्ष्मी के भवन में चन्दोवा सा बन रहा था।

एक दूसरे प्रसंग में सोमदेव ने लिखा है कि असूताचल पर रहने वाले साधुओं ने अपने अवान सूखने के लिए वितान (चन्दोवा) की तरह डाल रखे थे। चण्डमारी के मन्दिर में पुराने चमड़े के बने वितान का उल्लेख है।

अमरकोप में उल्लोच और वितान समानार्थी शब्द हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन भारतीय वस्त्र एवं वेश भूपा के अध्ययन के लिये यशस्तिलक चम्पू एक अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रंथ है जिससे तत्कालीन भारतीय एवं विदेशी वेश भूपा पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

---

१३६. निचोलः प्रच्छदपटः, अमरकोष, २, ६, ११५

१३७. निचोलते अनेन निचोलः येन तूलशयादि प्रच्छाद्यते, वही, सं० टी० ।

१३८. निचोलको निचुलको निचौलं च निचौल्यपि । निचुलो वसत्थिकायां स्मृता पर्यस्तिकायुता ॥
शबूदरत्नाकर ३, २२५ ।

१३९. पयोधरोन्नतिजनितजगद्वलयनीलनिचलेपु, यश० सं० पू०, पृ० ७१

'बप्पभट्टिचरित्' : ऐतिहासिक महत्त्व

हरिअनन्त फड़के

इतिहास विभाग कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय

आचार्य प्रभाचंद्र लिखित प्रभावकचरित जैनियों का एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है। विक्रम की १ली शती से लेकर १३वीं शती के पूर्वभाग तक के जैनधर्म के अनेक आचार्यों के जीवन का इतिहास इस ग्रंथ में संकलित किया गया है। इसका आधार जैसा कि ग्रंथकार ने प्रस्तावना में लिखा है प्राचीन ग्रंथ और बहुत विद्वानों से सुनी हुई परम्पराएं हैं।[1] ई० स० १२७७ में इस ग्रंथ की रचना पूरी हुई इसलिये कतिपय आधुनिक विद्वान् भारत के प्राचीन इतिहास को जानने के लिये इसका प्रामाण्य स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं।[2] लेखक के विचार में इस ग्रंथ में भी ऐतिहासिक सामग्री भरी पड़ी है। ग्रंथ कुछ बाद का होने से उसकी प्रामाणिकता के बारे में हमें संदेह नहीं होना चाहिये। बृहत्कथा और मुद्राराक्षस का अध्ययन क्या हम मौर्य साम्राज्य के इतिहास के लिये नहीं करते ? ग्रंथ में वर्णित ऐतिहासिक घटनाओं का दूसरे ऐतिहासिक साधनों के साथ तुलनात्मक अध्ययन करने से यदि उसकी सत्यता प्रमाणित होती है तो उसे स्वीकार करने में हमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

जैनधर्म के महत्व को स्थापित करना इस ग्रंथ का प्रधान उद्देश्य है। इसके लिये अत्यन्त उपयुक्त और सुन्दर विषय जैन आचार्यों का जीवन ही हो सकता है। इसे ही माध्यम बनाकर घटनाओं का वर्णन किया गया है। ऐतिहासिक घटनाओं को भी इस तरह घुमाया गया है जिससे कि जैनधर्म की महिमा प्रकट हो। इसलिये हमारी आधुनिक दृष्टि में यदि इस ग्रंथ का ऐतिहासिक महत्व कम हो जाता है तो इसमें आश्चर्य नहीं। परन्तु हमें यह ध्यान रखना है कि ग्रंथ का स्वरूप धार्मिक होते हुए भी प्रसंगवश इसमें अनेक ऐतिहासिक तथ्यों की ओर संकेत किया गया है जिसके सूक्ष्म अध्ययन से उस समय के इतिहास को स्पष्ट करना संभव है। आश्चर्य तो यह है कि बप्पभट्टि चरित में वर्णित घटनाओं की पुष्टि स्कन्दपुराण और प्रतिहार सम्राट् मिहिरभोज की ग्वालियर प्रशस्ति से हो जाती है जो इस ग्रंथ के महत्व को स्पष्ट करने के लिये पर्याप्त है। इस दृष्टि को ध्यान में रखकर ही इस ग्रंथ में सूचित ऐतिहासिक घटनाओं की विवेचना प्रस्तुत निबंध में की गयी है।

'बप्पभट्टिचरित्' प्रभावकचरित का एक अंश है। कन्नौज के राजा आम–नागावलोक के सभा पंडित आचार्य बप्पभट्टि का जीवनचरित इसका विषय है। इस आम–नागावलोक का समीकरण इतिहासकारों[3] ने कन्नौज के प्रतिहार सम्राट् नागभट

---

१. बहुश्रुतमुनीशेभ्यः प्राग्ग्रन्थेभ्यश्च कानिचित्। उपश्रुत्येतिवृत्तानि वर्णयिष्ये कियन्त्यपि।१।
–प्रभावकचरित (सिंघी जैन ग्रंथमाला) प्रस्तावना, संवत् १९९७।

२. डा० रमेशचन्द्र मुजुमदार "हिस्ट्री ऑफ बंगाल" पृ० १११–१३, सिनहा डिक्लाइन ऑफ द किंगडम ऑफ मगध; पृ० ३६८।

३. इंडियन ऍंटीक्वेरी, १९११, पृ० २३९–४०, डा० त्रिपाठी, 'हिस्ट्री आफ कन्नौज, पृ० २२५ डा० अल्तेकर, 'राष्ट्रकूटाज एण्ड देयर टाइम्स' पृ० ८३, एपि० इंडि०, भा० २, पृ० १२१-२६।

द्वितीय के साथ किया है। प्रतिहारों का मूलस्थान राजस्थान में था और उनकी राजधानी संभवतः जालौर थी।[४] नागभट द्वितीय के समय में प्रतिहारों ने कन्नौज जीता और वहीं अपनी राजधानी बदली। सम्भवतः इस ऐतिहासिक तथ्य को ध्यान में न रखने के कारण ही वप्पभट्टिचरित् में आम-नागावलोक को कन्नौज के राजा यशोवर्मन का पुत्र और उत्तराधिकारी बताया है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह बात असत्य जान पड़ती है क्योंकि नागावलोक का शासनकाल इसी ग्रंथ के आधार पर लगभग ७९२-८३३ ई० स० तक रहा है। यह समय कन्नौज के शासक यशोवर्मन (ई० स० ७२४-७५२) के बहुत बाद का है अतः इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। पठारी स्तम्भलेख[५] के अनुसार राष्ट्रकूट कर्क ने नागावलोक को पराजित किया था। सम्भवतः उसने गोविन्द तृतीय के साथ उत्तरभारतीय युद्धों में भाग लिया जिसमें नागभट द्वितीय की पराजय हुई थी। इसी नागभट्ट के प्रपितामह नागभट प्रथम को भी उसके भडोंच के सामन्त राजा भर्तृवध्य द्वितीय के हन्सोट अभिलेख[६] में नागावलोक कहा है। अतः यह संभव है कि कुछ प्रतिहार सम्राटों ने नागावलोक की उपाधि धारण की हो। वप्पभट्टिचरित् में भी इसे उपाधि के रूप में ही बताया गया है। इसके अतिरिक्त स्कन्द पुराण के धर्मारण्य महात्म्य[७] में कन्नौज के आम-नामक राजा का वर्णन है जो सार्वभौम राजा था और जिसके समय में जैनधर्म का प्रचार हुआ था। यह वर्णन वप्पभट्टि के आम-नागावलोक से बहुत मिलता है।

८वीं-९वीं और १०वीं शतियां भारतीय इतिहास में अत्यन्त महत्व की हैं। कन्नौज के प्रतिहार बंगाल के पाल तथा दक्षिण के राष्ट्रकूटों में अखिल भारतीय प्रभुत्व के लिये एक भयंकर संघर्ष इसी समय हुआ था। कन्नौज के प्रतिहार और बंगाल के पाल गंगाघाटी पर अधिकार करने लिये किस तरह निरन्तर युद्धरत रहे थे इसका प्रमाण उनके शत्रु राष्ट्रकूटों के अभिलेखों से भी प्राप्त होता

४. जैन ग्रन्थ कुवलयमाला के अनुसार ई० स० ७७८ में वत्सराज जावालिपुर (जालौर) का शासक था। इस वत्सराज को विद्वानों ने प्रतिहार राजा वत्सराज माना है।

५, एपि० इंडि०, भा० ९, पृ० २५५।

६, वही, भा० १२, पृ० २०२।

७. इदानीं च कलौ प्राप्ते आमो नाम्ना बभूव हि कान्यकुब्जाधिपः श्रीमान धर्मज्ञो नीतितत्परः ॥११॥
एतच्छ्रुत्वा गुरोरेव कान्यकुब्जाधिपो बलि। राज्यं प्रकुरुते तत्र आमो नाम्नाहि भूतले ॥३४॥
सार्वभौमत्वयापन्नः प्रजापालनतत्परः। प्रजानां कलिना तत्र पापे बुद्धिरजायत ॥३५॥
वैष्णवं धर्ममुत्सृज्य बौद्धधर्ममुपागताः। प्रजास्तमनुवर्तिन्यः क्षपणैः प्रतिबोधिताः ॥३६॥
अधुना वाडव श्रेष्ट आमो नाम महीपतिः शासनं रामचन्द्रस्य न मानयति दुर्मतिः
जामाता तस्य दुष्टो वै नाम्ना कुमारपालकः पाखण्डैर्वेष्टितो नित्यं कालधर्मेण सम्मतः
इन्द्रसूत्रेण जैनेन प्रेरितो बौद्धधर्मिणा। १८४-८६। स्कन्दपुराण-ब्रह्मखंड-धर्मारण्य महात्म्य।

ऐसा प्रतीत होता है कि इस पुराण में जैन धर्म और बौद्ध धर्म में अंतर नहीं रखा गया है। दोनों का ही एक साथ उल्लेख इस प्रसंग में किया गया है। एक दूसरे प्रसंग में इस पुराण में मोहेरक नामक नगर की चर्चा है। प्रभावक चरित् के अनुसार वप्पभट्टि के गुरु सिद्धसेन मोढेरक के निवासी थे। क्या इन दोनो में अभिन्नता संभव नहीं? प्रश्न विचारणीय है। लेखक के विचार में इनकी समानता गुजरात के मोढेरा से हो सकती है। आम नागावलोक का प्रभाव गुजरात तक था। ग्वालियर प्रशस्ति में उसके द्वारा आवर्त के अपहरण का उल्लेख है। वप्पभट्टिचरित् के अनुसार भी उसने सोमनाथ की यात्रा की थी।

है।[८] उस युग की इस महत्वपूर्ण घटना को विस्मृत कर देना किसी भी प्रतिभाशाली लेखक के लिये संभव नहीं था। वप्पभट्टिचरित् में बंगाल के राजा धर्मपाल और कन्नौज के आम-नागावलोक के बीच चिर शत्रुता का संकेत है।[९] इसका उपयोग भी जैन सिद्धान्तों की सर्वोच्चता दिखाने के लिये करना था इसीलिये सम्भवतः यह संघर्ष इस ग्रंथ में धर्मपाल के सभा पंडित सौगताचार्य वर्धन कुंजर और जैनाचार्य वप्पभट्टि के बीच दार्शनिक वादविवाद का स्वरूप धारण कर लेता है।[१०] विजय अंत में वप्पभट्टि की होती है। प्रतिहार शासक बाउक की जोधपुर प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि उसके पूर्ववर्ती शासक कवक ने मुद्गगिरी में गौडों को परास्त कर यश प्राप्त किया था।[११] यह शासक सम्राट नागभट का समकालीन और अधीन शासक प्रतीत होता है। उसके लिये अकेले ही गौड़ों को हराना सम्भव नहीं जान पड़ता सम्भवतः उसने अपने सम्राट् नागभट की ओर से पालों के विरूद्ध संघर्ष में भाग लिया हो। ऊपर वर्णित दार्शनिक वाद-विवाद भी दोनों राज्यों की सीमा पर हुआ था। क्या यह संकेत मुद्गगिरि के संघर्ष की ओर नहीं? इस विवाद के परिणाम स्वरूप धर्मपाल की पराजय वर्णित है। ग्वालियर प्रशस्ति[१२] में भी नागभट् और वंगपति के बीच भयंकर संघर्ष का वर्णन है जिसमें बंगपति की बुरी तरह हार हुई थी। बंगाल जाने के पूर्व वप्पभट्टिचरित् के अनुसार आम नागावलोक गोदावरी[१३] के तट पर गया था। ग्वालियर प्रशस्ति के अनुसार आंध्र, सैन्धव, कलिंग और विदर्भ ने उसके सम्मुख आत्मसमर्पण कर दिया था। जैसा कि डा० मजुमदार महोदय ने लिखा है नागभट ने इन राज्यों का बंगाल के विरुद्ध एक संघ बनाया

चंडीगढ़ के समीप पिंजौर नामक एक स्थान है। प्राचीन जैन मंदिरों के अवशेष आज भी वहां दिखाई देते हैं। मनुष्य के कद की जैन तीर्थंकरों की प्रतिमायें वहां विद्यमान हैं। अलबेरुनी ने पिंजौर का उल्लेख किया है। क्या इन मन्दिरों का इस समय के इतिहास से कोई सम्बन्ध है? लेखक के मन में अनेक शङ्कायें हैं। इन पुरातन अवशेषों का अध्ययन इस दृष्टि से आवश्यक है। अपने मित्र डा० मिश्रा के हम कृतज्ञ हैं जिन्होने वहां स्वयं जाकर यह सूचना प्राप्त की है।

८. राघनपुर, वाणी डिंडोरी तथा संजान ताम्रपत्र

९. परमेस्त्यामराजेन दुर्ग्रहो विग्रहाग्रहः। तदात्त्वानाद् यदा पश्चात् याति तन्मे तिरस्कृतिः ॥१६८॥
गृहागतो नृपः शत्रुर्नाचितो न च साधितः। द्विधापि चिरवैरस्य निवृतिर्नप्रवर्तिता ॥२६१॥

१०. राज्ये नः सौगतो विद्वान् नाम्ना वर्धनकुंजरः। वप्पभट्टिचरित्।
महावादी दृढ़प्रज्ञो जितवादी शतोन्नतः ॥३६२॥
देश सन्धौ समागत्य वाद मुद्रां करिष्यति।
सभ्यै सह वयं तत्र समेष्यामः कुतूहलात् ॥३६३॥

धर्मपाल बौद्ध था। पाल अभिलेखों में उसे 'परम सौगत' कहा गया है। तिब्बती परम्परा के अनुसार विक्रमशिला के बौद्ध मठ की स्थापना उसने ही की थी, जो ९ वीं से १२ वीं शती तक विद्या का महत्वपूर्ण केन्द्र रही। विख्यात बौद्ध विद्वान् हरिभद्र उसकी सभा में थे। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि वप्पभट्टिचरित में वर्णित बौद्ध विद्वान वर्धनकुंजर भी उसके दबाव में रहा हो।

११. ततोऽपि श्रीयुतः कवकः पुत्रो जातो महामतिः
यशो मुद्गगिरौ लब्ध येन गौडे संभ रणे ॥२४॥ एपि. इं, भाग १८, पृ० ९८।

१२. ग्वालियर प्रशस्ति, श्लोक ९-१०।

१३. गच्छन् गोदावरीतीरे ग्रामं कंचिदवाप सः ॥२२३॥ वप्पभट्टिचरित तथा ग्वालियर प्रशस्ति, श्लो० ८

था और संभव है इसी कारण उसे गोदावरी के प्रदेशों से सम्बन्ध स्थापित करना पड़ा हो।

इस ग्रंथ में वर्णित एक अन्य घटना राजगिरि-दुर्ग [१४] की विजय है। यह आम-नागावलोक की अंतिम विजय थी। राजगिरिदुर्ग एक दुर्भेद्य किला था जिसे जीतने के लिये नागावलोक को बहुत यत्न करने पड़े थे। उसके पौत्र भोज के जन्म के बाद ही वह उसे जीतने में समर्थ हो सका था। इस राजगिरिदुर्ग की स्थिति एक विवाद्य विषय है। प्रस्तुत लेखक ने अन्यत्र [१५] यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि इस राजगिरिदुर्ग का समीकरण ग्वालियर प्रशस्ति में उल्लिखित राजगिरिदुर्ग से हो सकता है जो संभवतः पंजाब में था और अरब इतिहासकार अलबीरुनी द्वारा उल्लिखित है। यह संभव है कि इस गिरिदुर्ग की विजय आम नागावलोक ने अपने साम्राज्य की सुरक्षा के लिये की हो क्योंकि जैसा कि इस समय के अभिलेखों से विदित होता है उत्तरी पश्चिमी सीमा पर अरबों के आक्रमण हो रहे थे और प्रतिहारों ने उन्हें रोक कर देश की रक्षा की थी। ग्वालियर प्रशस्ति में भी नागभट की विजयों में सैन्धव और तुरुष्क की विजय वर्णित है। स्कन्दपुराण [१६] से हमें म्लेच्छों के शासन का पता चलता है। इसके अनुसार ब्रह्मावर्त तक आम-नागावलोक के प्रभाव की भी जानकारी प्राप्त होती है। वहां का राजा कुमार-पाल आम का जामाता था और उसके समय में पंजाब में जैनधर्म का प्रभाव बढ़ रहा था।

बप्पभट्टिचरित् से ज्ञात होता है कि गोपागिरि [१७] (गोपालगिरि) या ग्वालियर आम-नागावलोक के अधिकार में था। एक दूसरे जैन लेखक राज-शेखरसूरि के प्रबन्धकोश से भी इस बात की पुष्टि होती है। मिहिर भोज की ग्वालियर प्रशस्ति से उस प्रदेश का उसके अधिकार में रहना सिद्ध है। संभव है वह उसके पितामह नागभट के भी अधि-कार में रहा हो। इसी ग्रंथ के अनुसार आम नागावलोक का पुत्र दुन्दुक था। ग्वालियर प्रशस्ति में उसका नाम रामभद्र दिया हुआ है। सम्भव है रामभद्र का दूसरा नाम दुन्दुक रहा हो। नाम में समानता न होने पर भी उसकी अयोग्यता के विषय में बप्पभट्टिचरित् और अभिलेख एकमत हैं। [१८] इसके दुराचारी शासन में दूर के प्रदेश साम्राज्य से अलग हो रहे थे और शत्रुओं के आक्रमण हो रहे थे। उसके पुत्र मिहिर भोज ने इस अव्यवस्था को दूर कर दृढ़ शासन किया। इस ग्रंथ के अनुसार भी भोज ने अपने पितामह नागावलोक से भी अधिक प्रदेश जीते, भ्रष्ट राज्यों पर अपनी प्रभुता फिर से स्थापित की। [१९]

उपरोक्त विवेचन से वह स्पष्ट है कि बप्प-भट्टिचरित् भी प्राचीन भारतीय इतिहास की जानकारी के लिये कितना महत्वपूर्ण साधन है। इसकी उपादेयता अभिलेखों और दूसरे साहित्यिक प्रमाणों से इसके तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट हो जाती है।

---

१४. बप्पभट्टिचरित ॥ श्लो० ६६१-६७५।
१५. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, संव० २०२१, अंक० १-२, पृ० १८२-८३।
अखिल भारतीय प्राच्य परिषद्-गौहाटी अधिवेशन 'सारांश'। -१९६४-
१६. स्कन्दपुराण, ब्राह्मखंड धर्मारण्य महात्म्य, श्लो० ३१।
१७. तथा गोपगिरौ लेप्यमयविम्वयुतं नृपः ! श्री वीरमंदिर तत्रत्यौविंशतिहस्तकम् ।१४०।
१८. एडि० इंडि० भा० १८, पृ० १८-१९, भा० ५, पृ० २१३, बप्पभट्टिचरित, पृ० १०९-११०।
१९. भोज राजस्ततो नेक-राज्यभ्रष्टग्रहग्रहः। आमादप्याधिको जज्ञे जैन प्रवचनोन्नतौ ॥७६५।

स्वीकृति को कल्पवृक्ष एवं कामधेनु की संज्ञा देते हुए कहते हैं:—

> णियगेहि उवण्णउ कप्परुक्खु ।
> तहु फलु को णउ वंछइ ससुक्खु ॥
> पुण्णेण पत्तु जइ कामधेणु ।
> को णिरसायइ पुणु वि गयरेणु ॥
> तह पइ पुणु महु किउ सइं पसाउ ।
> महु जम्मु सफलु भउ अज्ज जाउ ॥
> तहं धण्णु जासु एरिसउ चित्तु ।
> कइयण गुणु दुल्हु जेण पत्तु ॥
> (पासणाह० १।८।१-४.)

कवि ने जब ७–सन्धियों एवं १३८ कडवकों वाले 'पासणाह चरिउ' को लिखकर समाप्त किया तथा उसे खेऊ साहू को सौंपा, तब वह हर्षातिरेक से गद्गद हो उठे तथा द्वीप-द्वीपान्तर से मंगवाए हुए विविध हीरा, मोती, वस्त्राभूषण आदि को ससम्मान समर्पित किया। कवि ने लिखा हैः—

> संपुण्ण करेप्पिणु पयड सत्थु ।
> खेउं साहुहु अप्पियउ सत्थु ॥
> दीवंतर आगय विविह वत्थु ।
> पहिराविवि अइसोहा पसत्थु ॥
> आहरणहि मंडिउ पुणु पवित्तु ।
> इच्छा दाणें रंजियउ चित्तु ॥
> संतुट्ठउ पंडिउ णिय मणम्मि ।
> आसीवाउ विदिण्णउ खणम्मि ॥
> (पासणाह० ७।१०।३-८)

महाकवि रइधू के एक अनन्य भक्त हरसी साहू थे। उनकी तीव्र इच्छा थी कि उनका नाम चन्द्र विमान[1] में लिखा जाय 'रामचरित' (पद्मचरित) को बिना लिखवाये तथा उसका स्वाध्याय किये बिना उक्त लक्ष्य की पूर्ति सम्भव नहीं, ऐसा उनका दृढ़ विश्वास था। अतः वे कवि से साग्रह अनुरोध करते हैं कि उसके निमित्त वह 'रामचरित' की रचना अवश्य करदे, किन्तु उसे सुनकर कवि अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए कहता हैकि "भाई, 'रामचरित' का लिखना क्या आसान बात है? उसके लिखने के लिये महान साधना, क्षमता एवं शक्ति की आवश्यकता है। आप ही बताइये भला, कि घड़े में समुद्र को कोई भर सकता है? साँप के सिर पर स्थित मणि को कोई स्पर्श कर सकता है? प्रज्ज्वलित पञ्चाग्नि में कोई अपना हाथ डाल सकता है? बिना धागे के रत्नों की माला कोई गूँथ सकता है? नहीं। ठीक इसी प्रकार बिना बुद्धि के इस विशाल रामकाव्य की रचना करने में मैं कैसे पार पा सकूंगा[2]?" इस प्रकार का उत्तर देकर कवि ने साहू की बात को सम्भवतः टाल देना चाहा, किन्तु साहू साहब बड़े चतुर थे। उन्होंने ऐसे मौके पर वणिक् बुद्धि से काम लिया। उन्होंने कवि को अपनी पूर्व मैत्री का स्मरण दिलाते हुए कहा.—

> तुहुँ कव्वु धुरंधरु दोसहारि ।
> सत्थत्थ कुसलु बहु विणय धारि ।
> करि कव्वु चित परहरहि मित्त ॥
> तुहु मुहि णिवसइ सरसइ पवित्त ॥
> (बलहद्द० १।५।५-६,)

अर्थात् कविवर आप तो निर्दोष काव्य रचना में धुरन्धर हैं। शास्त्रार्थ आदि में कुशल हैं, विनयवान एवं उदारहृदय हैं। आपकी जिह्वा पर सरस्वती का वास है अतः इस काव्य की रचना अवश्य ही करने की कृपा कीजिये।" अन्ततः कवि तैयार हो जाता है और 'रामचरित[3]' की रचना प्रारम्भ कर देता है।

१—बलहद्द चरिउ १।४।१०.
२—बलहद्द० १।४।१-४.
३—इस रचना के अपरनाम बलहद्द चरिउ (बलभद्र चरित) एवं पउमचरिउ (पद्मचरित) भी हैं। रइधूकृत यह रचना अप्रकाशित है और दिल्ली के जैन शास्त्र-भण्डार में त्रुटित रूप में सुरक्षित है।

पाप पहुँचने लगे और अपने यहाँ हर प्रकार की सुविधाएं ग्रहणकर साहित्य प्रणयन के लिये उनसे आग्रह करने लगे। संघवी कमलसिंह, जो कि ग्वालियर के तोमरवंशी राजा डूंगरसिंह (वि. सं. १४८१–१५१०) के वित्त एवं गृहमंत्री थे, सर्वप्रथम रइधू की सेवा में पहुँचते हैं और कहते हैं [२] "हे महाकवि, मेरे पास शयनासन, छत्र, चमर, ध्वजा, हाथी; घोड़े, रथ, ग्राम, नगर, देश, मणि, मोती, बन्धु-बान्धव आदि सभी भरपूर उपलब्ध हैं, भौतिक-सामग्री की कोई भी कमी नहीं है, किन्तु मुझे यह सारा का सारा वैभव फीका-फीका लगता है क्योंकि मेरे पास काव्यरूपी सुन्दर मणि नहीं है (लब्भइएण कव्व माणिक्कु भव्वु)।" फिर आगे वे पुनः कहते हैं [३] "मनुष्य की आयु सौ वर्ष की होती है, जिसमें से आधी आयु सोने में और बाकी की आयु खाने-पीने में धनार्जन करने में, विविध मनोरंजन करने में, रोग, शोक, चिन्ता आदि में समाप्त हो जाती है और धर्म साधन की बात मन में आ ही नहीं पाती। अतः मुझ पर आप महान कृपा कीजिये तथा ऐसी रचना का प्रणयन कर दीजिये जिसमें 'सम्यक्त्व' की चर्चा रोचक शैली में हो। इस पुण्य कार्य को करके आप मेरी सम्पत्ति का सदुपयोग करा दीजिये।"

उक्त कमलसिंह संघवी ग्वालियर-राज्य की राजनीति के विधायक तो थे ही किन्तु अग्रवाल जाति के गौरव एवं जैन समाज साहित्य एवं कला के महान संरक्षक भी थे। रइधू ने उन्हें गोपाचल को श्रेष्ठ तीर्थ बना देने वाला कहा है और उनकी पवित्रात्मा की उपमा कैलाश पर्वत स्थित सरोवर के विमल जल से दी है:—

पइकिउ वरतिच्छु गोवायलि। जिह भरहें कइलासें विमल जलि॥

(सम्मत्त० १।१५।४)

तीर्थ निर्माता के रूप में कमलसिंह का स्मरण यथार्थ ही है। ग्वालियर में जो सहस्रों जैन मूर्तियां [४] निर्मित हुई हैं, उनमें से अधिकांश का निर्माण उक्त कमलसिंह की कृपा से ही हुआ है। गोम्मटेश्वर की बाहुबलि-प्रतिमा का स्मरण करने वाली ५७ फीट ऊँची आदिनाथ की मूर्ति के निर्माता एवं प्रतिष्ठापक भी सम्भवतः यही कमलसिंह हैं और रइधू उसके प्रतिष्ठाचार्य। चतुर्विध संघ का भार ग्रहण करने से उन्हें सिंघई, संघवी अथवा संघपति [५] पद से भी विभूषित किया गया था। ग्वालियर के सांस्कृतिक उत्थान में निस्सन्देह ही कमलसिंह संघवी का बड़ा भारी योगदान है उसने स्वर्गों के सभी सुखों को वहाँ लाकर उपस्थित कर दिया था, इसीलिये कवि ने उसे भरत क्षेत्र की इन्द्रपुरी एवं स्वर्ग-गुरु की संज्ञा दी है।—

एच्छु जि भारहि खेत्ति जणि पसिद्धु णं इंदउरु।
गोवायलु णामेण तं जइवणइ तियस्स गुरु॥

सम्मत्त० १।२।६–१०

कमलसिंह के आग्रह से कवि ने सम्मत्त गुण-णिहाणकव्व' [६] (सम्यक्त्व गुणनिधान काव्य) की रचना की उसमें कुल चार सन्धियाँ एवं १०४ कडवक हैं। रइधू ने प्रबन्धात्मक पद्धति को लेकर जिस

२—सम्मत्तगुण णिहाण कव्व १/७

३—सम्मत्त गुण णिहाण कव्व १/८

४—ग्वालियर दुर्ग की जैन मूर्तियों के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी के लिये श्री महावीर जैन विद्यालय (बम्बई) स्मृति ग्रन्थ में प्रकाशित "ग्वालियर-दुर्ग के कुछ जैन मूर्त्ति निर्माता एवं महाकवि रइधू" नामक मेरा शोध-निबन्ध पढ़िये।

५—सम्मत्त १।१३।७.

६—यह ग्रंथ ऐ० प० सरस्वती भवन ब्यावर में हस्तलिखित रूप में सुरक्षित है!

अध्यात्म और आचारमूलक साहित्य का निर्माण किया है उसमें उक्त रचना सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। इस ग्रन्थ की शैली नयसेनाचार्य के कन्नड ग्रन्थ 'धर्मामृय'[४] के समान है नयसेन ने सम्यग्दर्शन और पंचाणुव्रतों का कथन प्रबन्धात्मक पद्धति पर किया है। रइधू की शैली यह है कि आरम्भ में वह विषय का स्वरूप विश्लेषण, महत्व आदि के कथन के अनन्तर किसी आख्यान के माध्यम से विशेषताओं का प्रदर्शन करता है तथा बाद में अपना निष्कर्ष उपस्थित करता है। रचना बड़ी ही सरस एवं मार्मिक है।

"सम्मत्त गुणणिहाणकव्व" की आद्यन्त प्रशस्ति में कवि ने कमलसिंह के लिये अग्रवाल कुल कुमुदचन्द्र[१] एवं विज्ञानकलागुणश्रेणीयुक्त[२] कहा है। इन विशेषणों में तथा कमलसिंह के उपर्युक्त कार्यों में पर्याप्त समानता है। रइधू की हर कृपा के प्रति कमलसिंह आभारी थे। वे अत्यन्त गद्गद होकर तथा 'बालमित्र' कहकर उनसे निवेदन करते हैं:—

तुहु पुणु कव्वरयण रयणायरु ।
बालमित्तु अम्हहं णेहाउरु ॥
तहु महु सच्चउ पुण्ण सहायउ ।
महु मणिच्छ पूरण अणुरायउ ॥
जिण पयट्ठ महु णिरुपय होंति ।
चडिय पवाण गुणेण महंति ॥
पइ पुणु विरयइ सच्छ अणेयइं ।
चरिय पुराणागम बहुभेयइं ॥
एव्वहिं महु विणत्ति पमाणहिं ।
सच्छ चेंदि णामक्खरु ठाणहिं ॥
(सम्मत्त० १।१४।८-१२.)

संघवी कमलसिंह मुद्गल गोत्र के थे। इनके बाबा का नाम भोपा साहू था, जो ग्वालियर के निवासी थे। इनके चार पुत्रों[३] में से ज्येष्ठ पुत्र खेमसिंह ही कमलसिंह के पिता थे। कमलसिंह का एक छोटा भाई भी था जिसका नाम भोजराज था। यह परिवार विद्याव्यसनी एवं साहित्यरसिक था। कमलसिंह ने तो उक्त "सम्मत्तगुणणिहाणकव्व" के लिये कवि को प्रेरित किया ही, छोटे भाई भोजराज ने भी अपने पिता की अनुमोदना से कवि से अनुनय-विनय करके अपने लिये प्राकृत-गाथा निबद्ध "सिद्धन्तत्थसारु"[४] नामक एक विशाल सिद्धान्त आचार अध्यात्म एवं दर्शन विषयक ग्रन्थ का प्रणयन कराया था। प्रस्तुत ग्रन्थ में १३ अंक एवं १९३३ गाथाएं हैं। इसमें कवि ने प्रसंगवश संस्कृत-प्राकृत के कुछ ऐसे जैनेतर उद्धरण भी दिये हैं जिनके सन्दर्भ का कुछ भी पता नहीं चलता। इस ग्रन्थ में कवि ने सम्यग्दर्शन, जीव-स्वरूप, गुणस्थान, क्रिया-भेद, कर्म, श्रुतांग, लब्धि, अनुप्रेक्षा, धर्म एवं ध्यान इन दश विषयों पर सुन्दर एवं मार्मिक विवेचन किया है—

दंसण जीवसरूवं गुण ठाणाणं पि भेय किरियाय ।
कम्मं सुयंग लद्धी अणुवेहा धम्म झाणं व ॥
सिद्धान्त० १।५.

४—डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री द्वारा सम्पादित एवं सरस्वती मन्दिर आरा द्वारा प्रकाशित.

१—सम्मत्त गुणणिहाण कव्व. ४।३५।३.

२—वही ४।३५।११.

३—शिलालेख संग्रह (माणिक० सीरीज) तृतीय भाग के लेखाङ्क ६३३ (पृ० ४८३) में प्राप्त वंशावली में भोपा साहू के पांच पुत्रों का उल्लेख है। उसके पांचवें पुत्र 'पाल्का' को रइधू ने चतुर्थ पुत्र कहा है तथा शिलालेख के चतुर्थ पुत्र धनपाल का रइधू ने उल्लेख नहीं किया।

४—यह प्रति हस्तलिखित रूप में राजस्थान जैन शास्त्र भण्डार जयपुर में सुरक्षित है।

'सिद्धान्तार्थसार' का प्रशस्तिभाग त्रुटित है अतः यह कहना कठिन है कि उसके प्रणयन के बाद कवि का क्या सम्मान किया गया, किन्तु यह स्पष्ट है कि 'सम्मत्तगुणणिहाण कव्व' की परिसमाप्ति के बाद कमलसिंह ने कवि को बहुत प्रकार से सम्मानित किया था।[१]

महाकवि रइधू के दूसरे प्रेरक एवं आश्रयदाता थे श्री खेऊ साहू (खेमसिंह साहू), जिन्हें रइधू ने दान देने वालों में राजा श्रेयांस[२] की उपाधि दी है। साथ ही उसे आगमरस का रसिक[3], अग्रवाल कुल-रूपी कमलों के लिये चन्द्रमा[४], कलावतार,[५] कवि-संगी,[६] एवं संगपति[७] जैसे विशेषणों से संयुक्त किया है। ये ऐंडिल गोत्र के थे तथा योगिनीपुर इनका निवास स्थान था। कवि ने खेऊ साहू की आठ पीढ़ियों[८] का विस्तृत विवरण लिखा है। प्रथम पीढ़ी देदा साहू से प्रारम्भ होती है। उसमें खेऊ साहू छठवींपीढ़ी के थे। इन्होंने कवि को प्रेरित कर 'मेहेसर चरिउ'[९] (मेघेश्वर चरित) एवं 'पासणाह चरिउ'[१०] (पार्श्वनाथ चरित) जैसे महाकाव्यों का प्रणयन कराया था। खेऊ के चतुर्थ पुत्र होलु साहू ने कवि को "दसलक्खणजयमाल"[११] के लिखने की प्रेरणा की थी। यह जयमाल अध्यात्मरस की अनुपम कृति है। इसकी लोकप्रियता का अनुमान इसीसे लगाया जा सकता है कि भारत के कोने-कोने में जैन समाज इसका पाठ करती हुई आनन्द विभोर हो उठती है। इसका महत्व गीता एवं बाइविल से किसी भी प्रकार कम नहीं। "मेहेसर चरिउ" में कुल १३ सन्धियाँ एवं ३०४ कडवक[१२] हैं। इसमें कवि ने भरत चक्रवर्त्ति के सेनापति मेघेश्वर के चरित का बड़ा ही हृदयग्राही वर्णन किया है। काव्यकला की दृष्टि से यह रचना उच्चकोटि की है। कवि ने इसमें दुवई, गाहा, चामर, घत्ता, पद्धडिया, समानिका, मत्तगयंद आदि विविध छन्दों में श्रृंगार, वीर, वीभत्स, रौद्र एवं शान्त आदि रसों की प्रसंगवश सुन्दर उद्भावनाएं की हैं। इसका कथा-भाग परम्परा से प्राप्त होने पर भी कवि ने अपनी नवीन शैली तथा उत्प्रेक्षा, उपमा, रूपक आदि अलंकारों की योजना करके उसे काफी सरस एवं आकर्षक बना दिया है।

खेऊ साहू की अनुनय-विनय पर जब रइधू ने पासणाह चरिउ के प्रणयन की स्वीकृति दे दी तब खेऊ साहू का आनन्द देखते ही बनता है। वे आनन्द विभोर हो नाचने लगते हैं और कवि की उक्त

१—सम्मत्तगुणणिहाण कव्व ४। ३४। १९.
२—पासणाह चरिउ ७। ८। ४.
३—पासणाह० १। ५। ११
४—मेहेसरचरिउ १। १०। १.
५—मेहेसर० ५। १ संस्कृत श्लोक.
६—मेहेसर० ९। १ संस्कृत श्लोक.
७—पासणाह० १। ५। ११
८—मेहेसर० ७। ८–१०
९—इसका अपरनाम आदिपुराण है। यह ग्रंथ हस्तलिखित रूप में जैन सिद्धान्त भवन आरा में सुरक्षित है।
१०—यह ग्रंथ हस्तलिखित रूप में राजस्थान जैन शास्त्र भण्डार जयपुर में सुरक्षित है।
११—जैन ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय वम्बई (१९२३) से प्राशित.
१२—कडवकछन्द के उद्भव एवं विकाश पर भारतीय साहित्य संसद् वाराणसी (१९६५) से प्रकाशित संसद् स्मारिका में मेरा विस्तृत निवन्ध पढ़िये।

स्वीकृति को कल्पवृक्ष एवं कामधेनु की संज्ञा देते हुए कहते हैंः—

णियगेहि उवण्णउ कप्परुक्खु ।
तहु फलु को णउ वंछइ ससुक्खु ॥
पुण्णेण पत्तु जइ कामधेणु ।
को णिरसायइ पुणु वि गयरेणु ॥
तह पइ पुणु महु किउ सइं पसाउ ।
महु जम्मु सफलु भउ अज्ज जाउ ॥
तहं धण्णु जासु एरिसउ चित्तु ।
कइयण गुणु दुल्हु जेण पत्तु ॥
(पासणाह० १।८।१-४.)

कवि ने जब ७-सन्धियों एवं १३८ कडवकों वाले 'पासणाह चरिउ' को लिखकर समाप्त किया तथा उसे खेऊ साहू को सौंपा, तव वह हर्षातिरेक से गद्‌गद हो उठे तथा द्वीप-द्वीपान्तर से मंगवाए हुए विविध हीरा, मोती, वस्त्राभूषण आदि को ससम्मान समर्पित किया। कवि ने लिखा हैः—

संपुण्ण करेप्पिणु पयड अत्थु ।
खेउं साहुहु अप्पियउ सत्थु ॥
दीवंतर आगय विविह वत्थु ।
पहिराविवि अइसोहा पसत्थु ॥
आहरणसहिं मंडिउ पुणु पवित्तु ।
इच्छा दाणें रंजियउ चित्तु ॥
संतुट्ठउ पंडिउ णिय मणम्मि ।
आसीवाउ विदिण्णउ खणम्मि ॥
(पासणाह० ७।१०।३-८)

महाकवि रइधू के एक अनन्य भक्त हरसी साहू थे। उनकी तीव्र इच्छा थी कि उनका नाम चन्द्र विमान[1] में लिखा जाय 'रामचरित' (पद्मचरित) को विना लिखवाये तथा उसका स्वाध्याय किये विना उक्त लक्ष्य की पूर्ति सम्भव नहीं, ऐसा उनका दृढ़ विश्वास था। अतः वे कवि से साग्रह अनुरोध करते हैं कि उसके निमित्त वह 'रामचरित' की रचना अवश्य करदे, किन्तु उसे सुनकर कवि अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए कहता हैकि "भाई, 'रामचरित' का लिखना क्या आसान बात है? उसके लिखने के लिये महान साधना, क्षमता एवं शक्ति की आवश्यकता है। आप ही बताइये भला, कि घड़े में समुद्र को कोई भर सकता है? साँप के सिर पर स्थित मणि को कोई स्पर्श कर सकता है? प्रज्ज्वलित पञ्चाग्नि में कोई अपना हाथ डाल सकता है? विना धागे के रत्नों की माला कोई गूँथ सकता है? नहीं। ठीक इसी प्रकार विना बुद्धि के इस विशाल रामकाव्य की रचना करने में मैं कैसे पार पा सकूंगा[2]?" इस प्रकार का उत्तर देकर कवि ने साहू की बात को सम्भवतः टाल देना चाहा, किन्तु साहू साहब बड़े चतुर थे। उन्होंने ऐसे मौके पर वणिक् बुद्धि से काम लिया। उन्होंने कवि को अपनी पूर्व मैत्री का स्मरण दिलाते हुए कहाः—

तुहुँ कव्वु धुरंधरु दोसहारि ।
सत्थत्थ कुसलु बहु विणय धारि ।
करि कव्वु चित परहरहिं मित्त ॥
तुहु मुहि णिवसइ सरसइ पवित्त ॥
(वलहद्द० १।५।५-६,)

अर्थात् कविवर आप तो निर्दोष काव्य रचना में धुरन्धर हैं। शास्त्रार्थ आदि में कुशल हैं, विनयवान एवं उदारहृदय हैं। आपकी जिह्वा पर सरस्वती का वास है अतः इस काव्य की रचना अवश्य ही करने की कृपा कीजिये।" अन्ततः कवि तैयार हो जाता है और 'रामचरित[3]' की रचना प्रारम्भ कर देता है।

१—वलहद्द चरिउ १।४।१२.
२—वलहद्द० १।४।१-४.
३—इस रचना के अपरनाम वलहद्द चरिउ (वलभद्र चरित) एवं पउमचरिउ (पद्‌मचरित) भी हैं। रइधूकृत यह रचना अप्रकाशित है और दिल्ली के जैन शास्त्र-भण्डार में त्रुटित रूप में सुरक्षित है।

ग्रन्थ की रचना समाप्ति पर जब "कवि ने अपना रामचरित समर्पित किया तब हरसी साहू के हर्ष का पारावार न रहा। वे कवि को सम्मुख आया देख अपना आसन छोड़कर तुरन्त दौड़े तथा विशिष्ट आसन लाकर सर्वप्रथम कवि को उस पर बैठाया और सभी प्रकार के गौरवों से उसे सम्मानित किया। फिर सुन्दर-सुन्दर वेशकीमत वस्त्र, कुण्डल, कंकण, अलंकृत अंगूठी आदि आभूषणों से उसे अलंकृत किया। पुनः उसने एक अत्यन्त सुन्दर सजे हुए घोड़े पर बैठाकर बड़े ही उत्सव के साथ कवि को वापिस भेजा।"

... .|............ मणम्मि (२)।
पंडिउ आसणि धावियउ तेण।

पुणु सम्माणिउ चहुगउरवेण ॥
वरवच्छहिं कुंडल कंकणेहि।
अंगुलियहि मुद्दिय णिम्मलेहिं ॥
पुज्जिवि आहरणहिं पुणु तुरंगि।
आरोपिवि सज्जिउ चंचलंगि ॥
गउणिय गिहि पंडिउ सच्छुतेण।
जिणगेहि गयउ सुंमहुछवेण ॥

वलहद्द० १२।६

रइधू ने उक्त हरसी साहू की छह पीढ़ियों का उल्लेख किया है। इसमें आदि पुरुष का नाम छंगे साहू था। इनकी चतुर्थ पीढ़ी में हरसी साहू का जन्म हुआ था[1]। महापुरुषों के चरित इन्हें बहुत ही रुचिकर लगते थे अतः कवि को प्रेरित करके इन्होंने १२ सन्धियों एवं २४६ कड़वकों वाला राम चरित अथवा वल भद्र चरित तो लिखाया ही था, साथ ही "सिरिवाल चरिउ"[2] (श्रीपाल चरित) का प्रणयन भी उन्होंने अपने आश्रय में कराया था। इसमें दस सन्धियाँ एवं २०२ कडवक हैं। राच-चरित की प्रशस्ति के अनुसार उक्त हरसी साहू की दिवही एवं वील्हा ही नाम की दो पत्नियाँ थीं। उनका करमसिंह[3] नाम का एक पुत्र था जिसे राजडूंगरसिंह से राज्यासम्मान प्राप्त था। वह अपने पिता के समान ही साहित्यरसिक था।

महाकवि रइधू के एक अनन्य भक्त थे खेल्हा साहू[4] जिनकी प्रेरणा से कवि ने 'हरिवंशपुराण[5]' 'एवं' सम्मइजिण चरिउ[6], (सन्मति जिन चरित) की रचनाएं की थीं। 'हरिवंश पुराण' में १४ सन्धियाँ एवं ३०२ कडवक हैं, तथा 'सम्मइ जिण चरिउ' में दस सन्धियाँ एवं २४६ कडवक हैं।

उक्त खेल्हा योगिनीपुर (दिल्ली) की पश्चिम-दिशा में स्थित हिसारपिरोज (सम्भवतः फीरोजशाह द्वारा बसाए गये हिसार नामक नगर) के निवासी अग्रवाल वंश के गोयल गोत्र में उत्पन्न श्री तोसउ साहू के ज्येष्ठ पुत्र थे।[7] स्वाध्याय प्रेमी होने के कारण वे सिद्धान्त एवं आगम ग्रंथों

१—सिरिवाल चरिउ १०। २४-२५.

२—इस रचना का अपरनाम सिद्धचक्क माहप्य (सिद्धचक्र माहात्म्य) भी है। यह रचना अप्रकाशित है और राजस्थान जैन शास्त्र भण्डार जयपुर में सुरक्षित है।

३—सिरिवाल० १०। २५। ५.

४—विस्तृत जानकारी के लिये अनेकान्त वर्ष १५, किरण १ पृ० १६-२० (अप्रैल १९६२) में प्रकाशित "महाकवि रइधू द्वारा उल्लिखित खेल्हा ब्रह्मचारी" नामक मेरा शोध-निबन्ध देखें।

५—इस रचना का अपरनाम णेमिपुराण भी है। अमुद्रित रूप में जैन सिद्धान्त भवन आरा में सुरक्षित है।

६—इस रचना के भी अपरनाम वर्धमान चरित, वीरचरित एवं महावीर चरित हैं। रचना अप्रकाशित है और दिल्ली के जैन शास्त्र भण्डार में सुरक्षित हैं।

७—सम्मइ० १०। ३१-३४.

के अच्छे जानकार थे।[1] खेल्हा का विवाह कुरुक्षेत्र के जैन धर्मानुरागी सेठियावंश के श्री सहजा साहू के पुत्र श्री तेजा साहू की जालपा नामक पत्नी से उत्पन्न खीमी नामक पुत्री से हुआ था।[2] सन्तान हीन होने के कारण खेल्हा ने अपने भाई के पुत्र हेमा को गोद ले लिया तथा गृहस्थी का भार उसे सौंपकर मुनि यशःकीर्ति के पास अणुव्रत धारण कर लिये थे और तभी से फिर वे ब्रह्मचारी कहलाने लगे थे।[3] खेल्हा ब्रह्मचारी ने ग्वालियर-दुर्ग में चन्द्रप्रभु भगवान की एक सुन्दर विशाल मूर्ति का निर्माण कराया था।[4] ग्वालियर के सुप्रसिद्ध संघपति कमलसिंह इनके घनिष्ठ मित्र थे और उन्हीं के सहयोग एवं सहायता से खेल्हा ने उक्त मूर्ति एवं एक विशाल शिखरवन्द मन्दिर की प्रतिष्ठा भी कराई थी।[5] मूर्ति–निर्माण के आसपास ही वे एकादश–प्रतिमा के धारी वन गये।[6]

इसी प्रकार कवि ने रणमल साहू, आढू साहू, लोणा साहू, तोसउ साहू, कुन्थुदास, हेमराज प्रभृति अग्रवालों के भी उल्लेख किये हैं। जिन्होंने उसे हर प्रकार की सहायता, सम्मान एवं आश्रयदान देकर उससे एक विशाल साहित्य का निर्माण कराया था।

इनके अतिरिक्त महाकवि रइधू ने अपनी विस्तृत प्रशस्तियों में वहुत से संघपतियों, मूर्ति-निर्माताओं, मूर्तिप्रतिष्ठापकों, गिरनार आदि तीर्थो की यात्रा करने वालों, राजनयिकों, भट्टारकों आदि के भी विस्तृत उल्लेख किये हैं जिनकी चर्चा इस निवन्ध में नहीं की गई है इन उल्लेखों से यह स्पष्ट विदित होता है कि मध्यकाल में जैनधर्म, साहित्य, मूर्ति एवं मन्दिरनिर्माणकला आदि के क्षेत्र में जो प्रचार–प्रसार हुआ उसमें अग्रवालों का ही प्रमुख हाथ रहा है। समग्र उत्तर भारत में तो उन्होंने तन-मन एवं धन से अनवरत कार्य किया ही, साथ ही सुदूरवर्त्ती दक्षिण में भी भट्टारकीय गद्दियों के माध्यम से उन्होंने अद्भुत प्रचार एवं स्थायी कार्य किये हैं। साहित्य के क्षेत्र में अग्रवालों ने विद्वानों एवं साधुओं को उचित श्रद्धा, सम्मान एवं साधन देकर उन्हें समाज के शीर्ष पर आसीन किया। मध्य कालीन जैन-मूर्तियाँ, मन्दिर, साहित्य एवं शास्त्र भण्डार निस्सन्देह ही इसके जीते-जागते उदाहरण हैं।

रइधू–साहित्य में साहित्य लिखवाने वाले अथवा शास्त्रों की प्रतिलिपि करने अथवा कराने वालों का महत्व भी साहित्य लेखक से कम नहीं माना गया। साहित्य-सेवा के क्षेत्र में इस प्रकार की उक्ति निश्चय ही अग्रवाल जाति की साहित्य सेवा सम्वन्धी एक स्फूर्ति, साहित्य प्रचार और प्रसार के प्रति लगन एवं आस्था का द्योतन करती है।

विस्तार-भय एवं पृष्ठ-सीमा की विवशता के कारण यह निबन्ध यहाँ समाप्त करता हूं, किन्तु रइधूकालीन अग्रवालों की विविध सेवाओं की सीमा रेखा यही नहीं है इससे कहीं अधिक दूर है। वस्तुतः समाज, साहित्य एवं राष्ट्र का ऐसा कोई भी प्रगति-शील एवं रचनात्मक कार्य नहीं है जिससे अग्रवालों का सक्रिय सम्वन्ध न हो। यदि मध्यकालीन समग्र साहित्य को न भी लें और अकेले रइधू-साहित्य के प्रशस्ति खण्डों में उल्लिखित अग्रवालों के कार्यो का लेखा-जोखा किया जाय तो भी उससे इस जाति के गौरवपूर्ण कार्यो का एक सुन्दर प्रामाणिक इतिहास ग्रन्थ तैयार हो सकता है। रइधू-साहित्य निश्चयतः ही अग्रवाल-जाति के स्वर्णमय अतीत के गौरव का एक अद्वितीय उदाहरण है। यदि यह साहित्य प्रकाशित हो जाय तो उसका यश चतुर्दिक विकीर्ण होकर समाज एवं राष्ट्र को सुरभित करेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं। ●

---

१. सम्मइ० १ । ३ । २.
२. सम्मइ० १० । ३४ । १८–२७.
३. सम्मइ० १० । ३४ । २८–३४.
४. सम्मइ० १ । ४ । ११–१२
५. सम्मइ० १ । ४ । १६–१८,
६. सम्मइ० १ । ४ । ६.

कोयले को धोने से उसका रंग नहीं बदला जा सकता, उसे आग में जलाना पड़ता है। दुष्ट इसी प्रकार सुधारे जा सकते हैं, बातों से नहीं।

× × × ×

आज जो बात कठिन जान पड़ती है, वही किसी दिन सीधी और सहज हो जायगी।

× × × ×

आग और पाप बहुत दिनों तक नहीं छिपते।

× × × ×

आज का अमङ्गल कल नहीं रहता।

× × × ×

मनुष्य का स्वभाव कुछ ऐसा ही है कि तनिक सा दोष देखते ही, कुछ क्षण पूर्व की सभी बातें भूलते उसे देर नहीं लगती।

—बाबूजी की डायरी से

और खण्डकाव्य ! महदुद्देश्य, महान चरित्र, सम्पूर्ण युगजीवन का चित्रण, गरिमामयी एवं उदात्त शैली इत्यादि गुणों से मण्डित होता है विशालकाय महाकाव्य। और खण्डकाव्य होता है अप्रासंगिक कथाओं से मुक्तप्राय, कथा में एकदेशीयता युक्त, कथाविकास में वर्णनविस्तार कम तथा भावप्रवणता अधिक लिए हुए।

जैन प्रबन्धकाव्यों की लोकप्रियता का प्रश्न

संस्कृत के जैन कवियों ने ऐतिहासिक महाकाव्यों की रचना में रुचि एवं दक्षता दिखाई है, यद्यपि इनका साहित्यिक तथा ऐतिहासिक मूल्य अस्थिर है। इसके विपरीत हिन्दी जैनकवियों ने अपने प्रबन्धकाव्यों में महाकवियों की अपेक्षा खण्डकाव्यों और शास्त्रीय शैली की अपेक्षा चरित शैली में ही रचना अधिक की है। एक विशिष्ट बात यह भी है कि संस्कृत के जैनकवियों में साम्प्रदायिक भावना से मुक्त होकर रचने का जो गुण पाया जाता है वह हिन्दी के जैन कवियों में कम ही दिखाई पड़ता है। प्रायः सभी प्रबन्धकाव्य जैन वातावरण से परिपूर्ण हैं। प्रायः जैनमन्दिरों में, और बहुत हुआ तो जैनसमाज के एक अंश के मध्य तक, सीमित रहने वाले इन ग्रन्थों को अ-जैन समाज ने तो संभवतः इस काल में ही देखा है, और अभी भी बहुत कम ही। इसका कारण यह है कि प्रायः कविगण सरस स्थलों में (मने की अपेक्षा नरक, स्वर्ग, त्रैलोक्य, कर्मप्रकृति, गुणस्थानादि के विस्तृत वर्णनों में ही फँसे रहे हैं और दर्शन से बोझिल साहित्य लोकप्रिय नहीं हो सकता। जैनप्रबंधकाव्यों की लोकप्रियता के प्रश्न पर विचार करते समय यह महत्वपूर्ण बात भी ध्यान में रखनी होगी कि इन कवियों के सामने राष्ट्रीयता की प्रेरणा देने का लक्ष्य नहीं रहा, प्रायः सम्प्रदाय-भक्ति ही प्रेरणा एवं उद्देश्य रहा।

महाकवि स्वयंभुदेव

महाकवि स्वयंभुदेव साम्प्रदायिक उन्माद से रहित थे। वे महाकवियों में अग्रगण्य हैं। उनके 'पउमचरिउ' तथा रिट्ठनेमि चरित्र तथा 'पंचमिचरिउ' तीन प्रबन्धाकव्य हैं। अन्तिम ग्रन्थ एक खण्डकाव्य है जो अभी अनुपलब्ध है; इसमें नागकुमार चरित्र वर्णित रहा होगा।

पउमचरिउ

'पउमचरिउ' में रामचरित्र वर्णित है। इसमें पांच काण्ड हैं—विद्याधरकाण्ड, अयोध्याकाण्ड, सुन्दरकाण्ड, युद्धकाण्ड और उत्तरकाण्ड। इनमें क्रमशः २०,२२, १४, २१, और १३ सन्धियां हैं। सन्धि=सर्ग]। प्रथम ८३ सन्धियां स्वयंभुदेव द्वारा रचित हैं और उनमें ग्रन्थ पूर्ण है। अंतिम ७ संधियों को स्वयंभुदेव के पुत्र त्रिभुवन ने पितृदेहावसान के उपरान्त जोड़ दिया था। ग्रंथ का आरंभ नम्र आत्मनिवेदन तथा आत्मविश्वासाभिव्यक्ति के साथ होता है कवि 'सामाण भास' को त्यागने में असमर्थ है और 'गामेल्ल भास' को त्यागकर कुछ 'आगम-जुत्ति' गढ़ने में उसे रुचि नहीं है। "पुणु अप्पणउं पायडीन रामायण कावें" के अनुसार कवि की कृति स्वान्तः सुखाय रचित है।

मानवीय शक्ति और दुर्बलता दोनों से युक्त राम को चित्रित करने में कविकौशल पाकर भी हम यह कहने को बाध्य हैं कि कवि की सहानुभूति राम से न होकर सीता से है। जहां जहां सीता का वर्णन या सीता द्वारा किसी कथन का प्रसंग आता है, कवि की लेखनी थिरक उठती है—अग्निपरीक्षा से पूर्व सीता वरासन पर विराजमान कैसी लगती है ? 'सासण-देवए जं जिण-सासणे' (जैसे जिन-शासन पर जिन देवता)। उस समय सीता को राम ने कैसे देखा ? 'सिय-पक्ख हो दिवसे पहिल्लए चंद-लेह णं सायरेण' (अर्थात् जैसे सागर शुक्लपक्ष के प्रथम दिवस पर चन्द्ररेखा को देखे)। जब राम ने सीता को अशुद्धता व निर्लज्जता के लिए धिक्कारा तो निर्भीक एवं सतीत्व के गर्व से युक्त सीता की उक्तियां बहुत मार्मिक बन पड़ी हैं यथा—

"पुरिस णिहीण होंति गुणवंत वि
तियहे ण पत्ति ज्जति मरंत वि"

[पुरुष गुणवान होकर भी हीन होते हैं जो मरती हुई स्त्री का भी विश्वास नहीं करते ।]

"णर-णारिहिं एवड्डउ अंतरु
मरणे वि वेल्लि ण मेल्लइ तरुवरु"

[नर और नारी में यही अंतर है कि मरने पर भी लता तरुवर का त्याग नहीं करती ।]

और तब सीता अग्नि को चुनौती देती है कि यह जला सके तो जलाए। अग्नि-परीक्षित सीता से राघव क्षमायाचना करते हैं तो सीता का चरित्र एक विचित्र मोड़ लेता है । और वह दार्शनिक भाषा बोलकर अन्तर्व्यथा की मार्मिक अभिव्यक्ति करती है—हे राघव ! न तुम्हारा दोष है, न जनसमूह का, दोष तो दुष्कर्म का है ! और इससे मुक्ति का उपाय यही है कि ऐसा उपाय किया जाए जिससे फिर स्त्रीयोनि में जन्म न लेना पड़े ।

सम्पूर्ण महाकाव्य ही करुण प्रसंगों से ओतप्रोत है । रामवनगमन के अवसर पर माता का विलाप शोकगीतात्मक भाषा में अत्यन्त मार्मिक है । दशरथ विलाप भी हृदयस्पर्शी है । युद्ध में आहत लक्ष्मण के लिये विलाप करते भरत की उक्तियां—'महु णिवडिउ सि दाहिणउ पाणि' तथा 'आयइ सव्वइ लब्भंति जए, णवरण लब्भइ भाइवरु" इत्यादि—अत्यन्त सुन्दर हैं । रावण मरण पर विभीषण एवं मन्दोदरी द्वारा विलाप भी स्वाभाविक एवं करुण है ।

स्वयंभुदेव ने युद्धवर्णन में भी बड़ी कुशलता दिखाई है । युद्ध यात्रा वर्णन, शूरवीरों की उत्साहपूर्ण भावनाओं का चित्रण तथा युद्धों का वर्णन अत्यन्त ओजस्वी भाषा में किया गया है ।

'पउमचरिउ' में मनोहर प्राकृतिक दृश्य भी चित्रित हैं । मगध देश में पके धान की क्यारियों, शुक पंक्ति, नन्दनवन आदि का वर्णन करने के उपरान्त कवि कहता है—

"जहिं दक्खा—मंडव परिघलंति
पुणु पंथिय रस-सलिलइ पियंति"

अर्थात वहां द्राक्षा के मण्डप लहराते रहते हैं और पथिक जल न पीकर द्राक्षा रस ही पीते हैं । मगध की समृद्धि की कैसी सुन्दर व्यंजना है ।

इसी प्रकार कामेरी प्रदेश में इन्द्रनीलमणियों का बाहुल्य भी सुन्दर विधि से व्यंग्य है—वहां इन्द्रनील की किरणों से भिद्यमान शशि जीर्ण दर्पण के समान हो गया है ।

उपमाओं के समायोजन में भी स्वयंभुदेव का अपना वैशिष्ट्य है । नवीन एवं रूढ़ उपमाओं की माला से वे प्रत्येक चित्र को सटीक उपस्थित करना जानते हैं । वन की ओर प्रस्थान करती सीता (रामगमन प्रसंग में) राजभवन से निकल रही है तो कवि को ऐसी लगा मानो हिमवान् से गंगा, वेद से गायत्री अथवा शब्द से विभक्ति निकल पड़ी हो । यहां पर भावना की मुखरता द्रष्टव्य है ।

प्रतापी रावण के मरण पर विभीषण विलाप में अलंकार भावोन्नयन में सहायक है–यह तुम्हारा हार नहीं टूटा पड़ा है, तारागण ही टूटे पड़े हैं; तुम्हारा हृदय विद्ध नहीं हुआ है, विश्वव्यापी गगन ही विद्ध हुआ है; तुम्हारी आयु समाप्त नहीं हुई है, रत्नाकर ही रीता हो गया है; तुम नहीं गए, मेरी आशाओं की पोटली ही चली गई है; तुम नहीं सो रहे हो, आज सम्पूर्ण भूमण्डल ही सो गया है ।

गोदावरी नदी के वर्णन में कवि की सूझ देखिए—

"फेणावलि वंकिम-वलयालंकिय णं महि वहु
अहे तणिया ।
जल-णिहि भत्तारहो मोत्तिय-हारहो बाह
पसारिय दाहिणिया ॥"

अर्थात् गोदावरी वंकिम-फेनावलियों वलय से अलंकृत जलनिधि की वधू पृथ्वी की दक्षिण भुजा है

जो उसने मुक्ताहार से सुशोभित अपने पति की ओर प्रसारित कर दी है।

समुद्र की गहराई की उपमा महाकाव्य की गहराई से, आकाश में मेघ विस्तार की उपमा महाकाव्य के विस्तार से तथा समुद्र के क्रन्दन की उपमा किसी निर्धन व्यक्ति की अप्रमाण चीखपुकार देकर महाकवि ने नवीनता दिखाई है।

पउमचरिउ के अध्ययन के उपरान्त इस महाकाव्य को अमरकाव्य तथा स्वयंभुदेव को यशस्काय कहे बिना रहा नहीं जा सकता।

रिट्ठणेमिचरिउ

स्वयंभुदेव कृत 'रिट्ठणेमिचरिउ' या हरिवंशपुराण' १८००० श्लोक प्रमाण महाकाव्य है जबकि पउमचरिउ केवल १२००० श्लोक प्रमाण है। इसमें यादव, कुरु और युद्ध नामक तीन काण्ड हैं जिनमें १३, १६ और ८० सन्धियाँ हैं। प्रारंभिक ९९ सन्धियों के रचयिता स्वयंभुदेव हैं, अन्तिम २ सन्धियां ६ शताब्दी बाद होने वाले जसकित्ति कवि की कृति हैं तथा शेष त्रिभुवन की। निस्सन्देह ग्रंथ ९९ सन्धियों में पूर्ण था।

इस महाकाव्य में स्वयंभुदेव की सर्वाधिक सहानुभूति द्रौपदी के साथ है। कीचक द्वारा अपमानित द्रौपदी को देखकर स्त्रियों की टिप्पणी बहुत सुन्दर है। पर रात्रि को द्रौपदी जब भीम से अपना दुःख व्यक्त करती है तो क्रूरकर्मा भीम दार्शनिक भाषा में द्रौपदी को समझाता है—"तुम संसार धर्म नहीं निरखतीं। कहीं सुख है, कहीं दुःख। पूर्वकर्मों का वृक्ष ये दो फल ही देता है! देखो रावण द्वारा सीता को क्या थोड़ा दुःख हुआ था?" पाठक इसे काव्यापकर्ष ही मानेगा। त्रिभुवन ने अपनी रचित सन्धियों में दार्शनिकता बढ़ाकर भाषा को बोझिल और ग्रंथ को नीरस ही अधिक बनाया है, भले ही उसके द्वारा धार्मिकता बढ़ गई हो।

अति प्राचीन एवं उदार 'यापनीय संघ' के अनुयायी महाकवि स्वयंभुदेव परवर्ती जैन कवियों की अपेक्षा अधिक उदार थे यह बात रिट्ठणेमिचरिउ में अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है। अभिमन्यु मरते समय जिस सर्वेच्छि देव की वन्दना करता है वह जैन सम्प्रदाय की मान्यता के अनुसार वर्णित न होकर एक सर्वप्रभावी रीति से वर्णित है—"जो निष्कल, सतत्, परात्पर है, जो नारायण, दिनकर, विष्णु शिव, वरुण, हुताशन, शशि और पवन है, वह चाहे जो हो उसे एकान्त भाव से स्मरण करता हुआ अभिमन्यु मृत्यु को प्राप्त हुआ।" कितनी सुन्दर उक्ति है! अन्तिम पंक्ति को कवि के शब्दों में हम दोहरायें—"जो होउ सु होउ थुणन्तु थिउ, एक्कन्ते करेप्पिणु कालु किन्तु।" अपने निजी विचारों को अपने पात्रों पर थोपने का रोग स्वयंभुदेव को नहीं लगा था।

महाकवि पुष्पदंत

विक्रम की ग्यारहवीं शती के महाकवि पुष्पदन्त की ओज, प्रवाह, सौन्दर्य और रस से परिपूर्ण रचनाओं के कारण उनका नाम स्मरण स्वयंभुदेव के पश्चात अत्यन्त आदरपूर्वक किया जाता है। महाकवि ने स्वयं को 'अभिमानमेरु' 'कविकुलतिलक' 'काव्यपिसल्ल' 'सरस्वतीनिलय' आदि नाम यथार्थ ही दिए थे। उनके तीनों प्रबन्धकाव्य मूल्यवान हैं। 'तिसट्ठिमहापुरिसगुणालंकारु' महाकाव्य है। 'णायकुमार चरिउ' व 'जसहरचरिउ' खण्डकाव्य हैं।

तिसट्ठिमहापुरिसगुणालंकारु

'तिसट्ठि महापुरिस गुणालंकारु' की प्रसिद्ध 'महापुराण' के नाम से है। इसके दो खण्ड हैं—आदिपुराण और उत्तर पुराण। जैन महापुरुषों—२४ तीर्थङ्कर, १२ चक्रवर्ती, ९ बलदेव, ९ वासुदेव और ९ प्रति-वासुदेव—अर्थात् ६३ शलाकापुरुषों के चरित्र इस ग्रंथ में वर्णित हैं। आदिपुराण में भगवान ऋषभदेव का और उत्तरपुराण में शेष

तीर्थङ्करों व उनके समकालीनों का चरित्र निबद्ध है। आदिपुराण में ८० संधियां हैं और उत्तरपुराण में ४२। २०००० श्लोक प्रमाण का यह ग्रंथ वास्तव में मनोहर है।

आदिपुराण का प्रारंभ रूढ़ि के अनुसार ही विनम्र आत्मनिवेदन, आश्रयदाता (महामात्य भरत) की प्रशंसा, खल-निन्दा, सज्जन-प्रशंसा, रचनोद्देश्यवर्णन तथा श्री ऋषभदेव के अवतार ग्रहण की भूमिका प्रस्तुति से होता है। ऋषभदेव के जन्म के वर्णन उपरान्त उनकी बाललीला का वर्णन कवि ने अत्यन्त मनोयोग से किया है। यथा–

"सेसवलीलिया कीलमसीलिया।
पहणादाविया केण ण भाविया॥
धूली धूसरु ववगयकडिल्लु।
सहजायक विलकोंतलु जडिल्लु॥" इत्यादि

तदनन्तर भगवान के विवाह, सन्तानोत्पत्ति, वैराग्य एवं महानिर्वाण का वर्णन कर आदिपुराण समाप्त होता है। निस्सन्देह आदिपुराण की कथा-वस्तु महाकाव्योचित प्रबन्ध कौशल से निबद्ध है।

उत्तरपुराण में २३ कथाएँ हैं और उनमें एकतानता का स्पष्ट अभाव है पर चरित्रों के प्रसंग में युद्धों एवं देशविदेश के वर्णन के साथ ही ज्ञान-विज्ञान, दर्शन-राजनीति आदि की गंभीर बातों को रखकर 'महाभारत' के अनुकरण पर ही ग्रंथ को विश्वकोष बनाने की चेष्टा महाकवि ने की है। व्यास ने अपने काव्य के लिए कहा था।—"जो यहां है वही अन्यत्र है, जो यहां नहीं है, वह कहीं नहीं है।" पर अभिमानमेरु ने उससे भी बड़ी घोषणा की है—"इस रचना में प्राकृत के लक्षण, समस्त नीति, छन्द, अलंकार, रस, तत्त्वार्थ-निर्णय सभी कुछ आ गया है और जो यहां है वह अन्यत्र कहीं नहीं है, धन्य हैं वे पुष्पदंत और भरत जिन्हें ऐसी सिद्धि प्राप्त हुई।"

उत्तरपुराण में रामचरित और महाभारत भी है। पुष्पदन्त ने वाल्मीकि और व्यास की भर्त्सना की है और लगता है कि महाकवि—जो स्वयं शैव रहे थे और शिवमहिम्नस्तोत्र के रचयिता थे—ब्राह्मण विरोधी भावना से युक्त थे।

रामकथा की अपेक्षा कृष्णकथा में महाकवि ने अधिक रुचि ली है और नटखट कृष्ण व प्रगल्भ गोपियों की लीला उन्होंने प्रेमपूर्वक चित्रित की है। कभी मथानी तोड़ते और कभी गागा बिलोया दधि लुढ़काते कृष्ण से टूटी मथानी का मोल आलिंगन मांगती गोपियां बाजी मार ले गई हैं—'एण महारी मंथणि भग्गी, ए यहि मोल्लु देउ आलिंगणु,' काले कृष्ण के आलिंगन से गोरी गोपी के काली होने पर 'मूढ जलेन जांइ पक्खालइ,' कहकर नवीनता प्रदर्शित की गई है। पर कृष्ण की कालिय-दमन और गोवर्द्धन धारण सदृश पौरुषप्रधान लीलाओं में उनकी लेखनी अधिक सशक्त हो उठी है। गोवर्द्धन धारण से पूर्व घनघोर वर्षा का नादानुरंजित चित्र देखिए—

'जलु गलइ झालझलइ। दरिभरइ सरसरइ।
तडयडइ तडिपडइ। गिरिफुडइ, सिहिणडइ।
मरुचलइ तरुघुलइ। जलु थलु वि गोउलु वि।"
इत्यादि

णायकुमारचरिउ

'णायकुमार चरिउ' पुष्पदंत का ९ सन्धियों का मनोहर खण्डकाव्य है। 'श्रुत-पञ्चमी-व्रत' की महिमा बताने के उद्देश्य से रचित यह काव्य यद्यपि पातालपुरी आदि साम्प्रदायिक व अलौकिक स्थानों व घटनाओं के बाहुल्य से युक्त है पर कहीं कहीं यथार्थ चित्रण की झलक भी मिल जाती है। जैसे वेश्याहाट के वर्णन में। यहां कवि की भाषा का प्रवाह देखिए—

"कवि वेस अह रंगु मयणड।
खिज्जइ खिज्जइ नच्चइ कंपइ।

कविवेस रस सलिलें सिंचिय
वेवइ वलइ घुलइ रोमंचिय ।

इस काव्य में कवि का वस्तुवर्णनकौशल एवं प्रवन्धपटुता दर्शनीय है ।

जसहरचरिउ

'जसहर चरिउ' पुष्पदन्त रचित चार संधियों का एक लघु खण्डकाव्य है जिसमें यशोधर राजा का चरित्र वर्णित है। इसमें कापालिक मत के ऊपर जैनधर्म की विजय जन्मजन्मान्तरों की अत्यन्त जटिल कथा के आश्रय से कही गई है। राजाओं के छल-कपट, परस्त्री और पुरुष में अनुरक्ति, हत्या, प्रवंचना, चोरी आदि के बोलते चित्र खड़े किए गए हैं। उदाहरणार्थ कापालिक भैरवानंद का वर्णन देखिए—"वर्णवर्ण वाली टोपी सिर पर दे रखी है जिससे दोनों कर्ण ढँक गए हैं. हाथ में ३२ अंगुल का दण्ड है गले में विचित्र योगपट्ट है, गली गली चंग खड़काते और सिंगा वजाते भैरवानंद दम्भपूर्वक घूमता है।"

हरिभद्रसूरि

हरिभद्रसूरि का काल अभी निर्णीत नहीं है—मुनि जिनविजय के अनुसार इनका समय संवत् ७५७ और ८२७ के मध्य रहा होगा और राहुल सांकृत्यायन के अनुसार संवत् १२१६ के आसपास। उनके दो खण्डकाव्य 'णेमिणाह चरिउ' और 'जसहर चरिउ' सुन्दर रचनाएँ हैं।

'जसहरचरिउ' और 'णेमिणाहचरिउ'

'जसहर चरिउ' सुन्दर होते हुए भी नावीन्य से रहित है और पुष्पदन्त की कृति उससे अधिक पटुता से निवद्ध है पर 'णेमिणाह चरिउ' में तीर्थंकर नेमिनाथजी के चरित्र का वर्णन कर कवि ने धवल यश अर्जित किया है। सात सन्धियों और ८०३ श्लोक प्रमाण के इस खण्डकाव्य की भाषा अति अलंकृत और समासवहुला है। साहित्यिक सौन्दर्य सम्पन्न इस कृति में पुरुषसौन्दर्य का एक चित्र देखिए—

नील कुंतल कमल नयणिल्लु विवाहर सियदसणु।
कंवुग्गीवुपुर अररि उरयलु।
जुय दीहर भुय जुयल वयण ससि जिय कमल उप्पल।
पउम दलारुण करचलणु, तविय कणय गोरंगु।
अट्ठ वरिस वउ पहु हुयउ समहिय विजिय अणंगु।

प्रकृतिवर्णन परम्परानुसार होते हुए भी भाषा में सौन्दर्य अवश्य है—"तारय—वसण कलयलंत तरु सिहर पक्खिय।

परिसंदिर कुसुम-महु-विंदु मिसिणए पईं वहु-क्खिय।"

अर्थात् प्रभातकाल में तारकरूपी वस्त्र खिसक गए, तरुशिखरों पर पक्षी कलरव करने लगे और विशाल नेत्रों जैसे कमलों से मधुविंदु टपकने लगे।

रागरंजित वर्णन में भाषा भी रंगीन हो उठती है—

"वज्जंत गज्जंत वहु-भेय तूरं
लभिज्जतं दिज्जत कप्पूर पूरं
णच्चंत णच्चंत वेसा समूहं
दसिज्जंत हिडुंत वावयणतूहं।" इत्यादि

'प्रवन्धचिंतामणि' और 'कुमारपालप्रतिबोध'

विक्रम की ग्यारहवीं शती में मेरुतुंगकृत 'प्रवन्धचिंतामणि' और सोमप्रभकृत 'कुमारपाल-प्रतिवोध' दोनों ही शिथिल प्रवन्धकाव्य हैं। दोनों में कथाओं का विस्तृत संचय है और साहित्यिक सौन्दर्य कम है। नीति वाक्यों में दोनों ग्रंथ सम्पन्न हैं। प्रवन्धचिंतामणि का अधिक मूल्य उसमें निहित ऐतिहासिक वृत्तों के कारण है।

सुदंसण चरिउ

विक्रम की वारहवीं शती में णयणंदि मुनि की कृति सुदंसण चरिउ' महत्वपूर्ण है। वारह संधियों में रचित इस सुदर्शन—चरित्र में पचनमस्कार—प्रतिदिन अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु को—का महत्व प्रदर्शित है। प्रेम कथा को लेकर लिखे गए इस ग्रंथ में शृंगार रस की प्रधानता होते हुए भी काव्य का पर्यवसान शांत रस में ही हुआ है। इसमें नायिकाभेद, नखशिख-वर्णन, आदि के साथ ही प्रकृति के भी सुरम्य चित्र

मिलते हैं। 'अभया' की उन्मुक्त प्रणय-याचना और संसार की समस्त सुन्दर वस्तुओं के सार से विनिर्मित सुदर्शन द्वारा शील की रक्षार्थ उसकी अस्वीकृति में भावों का अन्तर्द्वन्द्व अच्छा चित्रित किया गया है। धर्म के क्रोड में पोषित प्रेमकाव्य के रूप में 'सुदंसण चरिउ' का जैनप्रबंधकाव्यों में अनुपम महत्व है।

जम्बूस्वामी रासा

तेरहवीं शताब्दी में धर्मसूरि द्वारा रचित 'जम्बूस्वामी रासा' कथावस्तु-शैथिल्य एवं संवादों के अभाव के कारण साहित्यिक सौन्दर्य से बहुत कुछ हीन है पर फिर भी भगवान् महावीर के समकालीन जम्बूस्वामी के चरितकाव्य के रूप में उसका अपना महत्व है। पर उससे भी बढ़कर है उसका भाषावैज्ञानिक महत्व क्योंकि गुजराती और हिन्दी के मूल सम्बन्ध को व्यक्त करने वाला यह भी एक ग्रंथ है जो दोनों भाषाओं में समान महत्वपूर्ण है।

बाहुबलिरास

शालिभद्रसूरिकृत 'बाहुबलिरास' खण्डकाव्य भी तेरहवीं शताब्दी की महत्वपूर्ण रचना है। इस शौर्य से परिपूर्ण काव्य में ऋषभदेव के पुत्र बाहुबलि की विजयवाहिनी का इतना ओजस्वी वर्णन है जो जैनसाहित्य में अन्यत्र दुर्लभ है। चंचल अश्वों की चंचल गति का वर्णन देखिए—

'हींसइं हमिमिमि हणहणइं, तरवर तार तोषार।
खंदइं खुरलइं खेडविय, मन मानइं असवार॥"

'नेमिनाथ चउपई' 'मल्लिनाथ काव्य' और 'पार्श्वनाथ चरित'

तेरहवीं शताब्दी के सबसे महत्वपूर्ण जैनकवियों सम्पूर्ण काव्य चौपाइयों में लिखा गया है जो सौभाग्य सर्वप्रथम इसी ग्रंथ को प्राप्त हुआ है और द्वितीय यह कि 'बारहमासा' सर्वप्रथम यहीं मिलता है। नेमिनाथ के वैराग्य ग्रहण करने पर उनकी पत्नी राजल देवी का विलाप श्रावण से आषाढ़ तक 'बारहमासा' के रूप में प्रस्तुत किया गया है। श्रावण में 'विज्जु झबक्कइ', भाद्र में 'भरिया सर पिक्खेवि सकरुण रोजइ राजल देवि', 'कातिक में क्षित्तिग उगई संझ', फाल्गुण में 'वागुणि पन्नपंडति राजल दुक्खि कि तरु रोयंति', चैत्र में 'वणि वणि कोयल टहका करइ' आदि में कवि ने नारी हृदय की व्यथा का मार्मिक वर्णन कर इस खण्डकाव्य के सौष्ठव को बहुगुणित कर दिया है।

'संघपतिसमरा रासा'

अम्बदेव कृत 'संघपतिसमरारासा' खण्डकाव्य संवत् १३०० की रचना मानी जाती है। शाह समरा संघपति द्वारा शत्रुञ्जय तीर्थ का उद्धार होने पर कवि ने यह ग्रंथ लिखा था। इनकी भाषा सरलता से आज के हिन्दी पाठक की समझ में आने योग्य है। एक उदाहरण देखिए—

वाजिय संख असंख नादि काहल दुडुदुडिया।
घोड़े चड़र सल्लारसार राउत सींगड़िया।
तउ देवालउ जोत्रि वेगि वेगि घाघरि खु झमकइ।
समविसम नवि गणइ कोई नव वारिउ थक्कइ॥

'रेवन्तगिरिरासा' और सप्तक्षेत्रि रास

तेरहवीं शती में रचित विजयसूरि कृत 'रेवन्तगिरिरासा' और चौदहवीं शती में रचित 'सप्तक्षेत्रिरास, (कवि अज्ञात) का साहित्यिक मूल्य कम और धार्मिक अधिक है।

भी पूर्ण हिस्सा रहता था। किन्तु फिर भी वह अपनी नाना कलाओं द्वारा धनोपार्जन कर परिवार को आर्थिक लाभ कराती थीं।[१] आज जैसा उन्हें परिवार के आश्रित होकर नहीं रहना पड़ता था। जैन कथाओं की कन्यायें तो राज दरवार तक में अपना स्थान वना चुकी थीं।[२]

परिवार में कन्या के उत्पन्न होने का अर्थ था उस गृहस्थ के त्रिवर्गों की सिद्धि। अपनी सुयोग्य कन्या का उचित समय पर सत्पात्र के साथ विवाह कर देने से गृहस्थ को धर्म, अर्थ और काम इन तीनों को साधने का फल मिलता है। क्योंकि जिस घर में कन्या जाती है, वहां की गृहस्थी पूर्ण हो जाती है। धर्म, सन्तान और कुल की उन्नति के लिए कन्या को विवाह कर लाना प्रत्येक गृहस्थ का कर्तव्य है।[3] अतः कन्या समाज व परिवार के लिये जैन संस्कृति में उस धुरी के रूप में स्वीकृत की गई है, जिस पर सम्पूर्ण गृहस्थाश्रम घूमता है।

वैवाहिक परम्परा

यद्यपि जैन संस्कृति निवृत्ति का मार्ग प्रशस्त करती है, किन्तु फिर भी उसमें सांसारिक व्यवस्था सम्वन्धी सामग्री भी कम नहीं मिलती। गृहस्थ जीवन का प्रारम्भ विवाह के वाद होता है। विवाह दो विषम लिंगियों के पारस्परिक उस महत्वपूर्ण समझौते का नाम है जिसमें दोनों एक दूसरे के होकर वंध जाते हैं। कन्या विवाह के लिये पूर्ण स्वतन्त्र थी। उसे पिता तथा अन्य व्यक्तियों की रुचि के अनुसार वाध्य नहीं होना पड़ता था। यदि वे चाहती थीं तो उन्हें सम्पूर्ण जीवन क्वांरा विता देने के लिये समाज की ओर से स्वीकृति थी। ब्राह्मी, सुन्दरी, चन्दना, जयन्ती आदि वे प्रमुख कन्यायें हैं जिन्होंने आजन्म ब्रह्मचर्य पालन कर धर्म साधा था।

जैनागमों में वर्णित स्वयम्वरों के दृश्य इस बात के प्रमाण हैं कि कन्या अपना वर चुनने में स्वतन्त्र थी। वैवाहिक क्रियायें किस प्रकार सम्पन्न होती थीं यह और बात है। नाभिराय इसके प्रथम सम्पन्नकर्ता थे। उस समय के विवाह कम उम्र में नहीं होते थे। जैन शास्त्रों के अनुसार जिसका वाल भाव समाप्त हो गया हो जिसके शारीरिक नौ अंग जागृत हो गये हों तथा जो भोग करने में समर्थ हो ऐसे व्यक्ति विवाह के योग्य समझे जाते हैं।[४] इस मान्यता के अनुसार बाल-विवाह को जैन संस्कृति स्वीकार नहीं करती। अतः उस समय की नारियां चिर वैधव्य जैसे दारुण दुख से दूर थीं।

वैवाहिक क्रियाओं से सम्वन्धित कुछ प्रसंग ऐसे भी मिलते हैं जिनमें बहिन को अपने सगे भाई से विवाह करना पड़ता था। यह उस समय की स्थिति है जव लोग अपनी कन्याएं अज्ञात कुलों में भेजना पसन्द नहीं करते थे। ऋषभ देव ने अपनी वहिन से शादी का प्रस्ताव रखा था। पुष्पकेतु ने अपने पुत्र और पुत्री का परस्पर में स्वयं विवाह किया था।[५] यह प्रथा वाद में वौद्धिक विकास के साथ-साथ लुप्त हो गई।

कभी कभी कन्याओं को विवाह के वाद भी घर पर रहना पड़ता था। माता-पिता की स्थिति यदि अच्छी नहीं होती थी अथवा वर की आर्थिक स्थिति कमजोर होती थी तो लड़की माँ-वाप को छोड़कर नहीं जाती थी। अपने पति को घर

---

१. आदिपुराण पर्व ७
२. आवश्यक चूर्णि २, पृष्ठ ५७–६०
३. सागर धर्मामृत २ अ. श्लोक ५६–६०
४. उमुक्क वालभावे, णवंगसुत्त-पडिवोहिए, अलं भोग समत्थे। ज्ञानाधर्मकथा आदि
५. आवश्यक चूर्णि २, पृष्ठ १७८

जमाई बनाकर रखती थी।[1] कुछ ऐसे विवाहों का भी उल्लेख मिलता है जिनमें परस्पर बहिन बदल कर लोग विवाह कर लेते थे। देवदत्त ने अपनी बहिन की शादी धनदत्त से की थी और उसकी बहिन को अपनी पत्नि बनाया था।[2] इससे यही प्रतीत होता है, कन्यायें परिवार की भलाई के लिए विवाह जैसे महत्वपूर्ण कार्यों में भी विरोध नहीं करती थीं।

एक ओर कन्यायें जहां विवाह के लिए स्वतंत्र थी वहां दूसरी ओर उनका अपहरण भी कम नहीं होता था। विवाह का एक यह भी प्रकार था। वासवदत्ता उदयन के द्वारा, सुवर्ण गुलिका दासी राजा प्रद्योत के द्वारा, रुक्मणि कृष्ण के द्वारा और चेलना राजा श्रेणिक के द्वारा अपहृत की गई थीं।[3] किन्तु इन कन्याओं ने, अपहरण द्वारा शादी जाने पर भी अपने पतियों का जितना सुधार किया था शायद ही कोई ब्याहकर लायी हुई पत्नी करती।

वैवाहिक परम्परा के अवलोकन से यही प्रतीत होता है कि नारी को अनेक कठिनाईयों से गुजरना अवश्य पड़ा किन्तु उसकी प्रतिष्ठा में कोई कमी नहीं आई। यहां हमें नारी की दुर्बलता कहीं देखने को नहीं मिलती, भले उसे परवशता सहन करनी पड़ी हो।

बौद्धिक नारियां

जैन संस्कृति के निर्माण में जितना योगदान पुरुषों का है उतना नहीं, तो भी नारियों का सहयोग कम नहीं है। आज नारियां पुरुषों के साथ कंधा मिलाकर चलने की बात करती हैं, उस समय वे चलती थी। उन्होंने अपने जीवन की आहुति मात्र पति की सेवा करने में ही नहीं देदी बल्कि समय पर विदुषी, धर्मपरायण, वीराङ्गना और कर्तव्यनिष्ठ होकर यह भी साबित कर दिया है कि नारी चरण दाबने के अतिरिक्त और भी बहुत कुछ जानती है; कर सकती है।

विदुषी—विद्वत्ता के क्षेत्र मे हम ब्राह्मी, सुन्दरी चन्दनबाला, जयन्ती आदि का नाम गर्व पूर्वक ले सकते हैं जिन्होंने अपनी विद्वत्ता के द्वारा भारतीय नारी का मस्तक ऊँचा उठाया है। चन्दनबाला वह प्रथम बाला है जो आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन कर कई वर्षों तक भगवान महावीर के नारी-संघ की अधिष्ठात्री रही, जिसमें करीब छत्तीस हजार आर्यिकाएँ थीं। जैन कथा ग्रन्थों में भी अनेक कुशल उपदेशिकाओं और अध्यापिकाओं का उल्लेख मिलता है।[4] सोम शर्मा की पुत्री तुलसा और भद्रा विद्वत्ता में जगत प्रसिद्ध थीं।[5]

अनेक नारियां विदुषी होने के साथ साथ लेखिका और कवियित्री भी हुई हैं। लेखिकाओं में गुणसमृद्धि, पद्मश्री, हेमश्री, सिद्धश्री, विनयचूल, हेमसिद्धि, जयमाला आदि प्रमुख नारियां हैं जिनकी रचनाएँ श्वेताम्बर साहित्य में सुरक्षित हैं। रणमति आर्यिका का 'जसह चरिउ' और राममती का 'समकितसार' ये दोनों ग्रन्थ इन लेखिकाओं की विद्वत्ता प्रगट करते हैं।[6] कुछ ऐसी महिलाओं का भी उल्लेख मिलता है जिन्होंने स्वयं तो ग्रन्थ नहीं लिखे किन्तु अनेक ग्रन्थों की प्रतिलिपियां लिख-लिखा कर साधुओं और विद्वानों को भेंट की थीं। यह कार्य १४-१५ वीं शताब्दी में अधिक हुआ है।[7] अनुलक्ष्मी, अनुलवी, अवन्ती, सुन्दरी, माधवी आदि जैन साहित्य की प्रमुख कवियियित्रियां हैं, जिन्होंने प्राकृत संस्कृत आदि भाषाओं में अपनी लेखनी चलायी है।[8]

१. नायाधम्मकहा १६, पृष्ठ १६६
२. निशीथचूर्णि पृष्ठ ३२४.
३. नायाधम्म कहा १६ पृष्ठ १८६.
४. नायाधम्म कहा ८, पृष्ठ २२०-२३०
५. हरिवंश पुराण पृष्ठ ३२६
६. पं. चन्दाबाई अभिनन्दन ग्रन्थ पृष्ठ ४८१
७. वही पृष्ठ ४८३
८. प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ पृष्ठ ६७०

बौद्ध व्यक्ति को व्याही थी। एक दिन पति की अनुपस्थिति में एक जैन साधु सुभद्रा के घर आया। उसने विधपूर्वक उन्हें आहार दिया। तभी साधु की आंख में किरकिरी पड़ गई। उन्हें दुख में देख सुभद्रा ने वह किरकिरी अपनी जीभ के अग्रभाग से निकाल दी, जिससे साधु की आंख में पीड़ा न हो। ऐसा करते समय सुभद्रा का मस्तक साधु के मस्तक से छू गया और उसके माथे की बिंदिया का रंग साधु के माथे पर लग गया। तभी सुभद्रा का का पति आ गया। उसने कुछ और ही समझा। तथा सुभद्रा को लांछन लगा कर घर से बाहर निकाल दिया।[1]

पर्दा प्रथा :—जैन नारी पर्दे की दीवार में घिर कर कभी नहीं रही। यह उसकी अपनी मौलिक विशेषता है। जैन-सम्प्रदाय में हमेशा से समय-समय पर धार्मिक उत्सव होते आये हैं। जैन गृहस्थ पूरे परिवार के साथ इन उत्सवों में सम्मिलित होते हैं। नर-नारियों की सामुदायिक उपस्थिति प्रत्येक धार्मिक सभाओं में एक सी होती है। जैन कथाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि जैन-नारियां बेरोक-टोक जनसमुदाय में जाती थीं। अपने रिश्तेदारों और सखी-सहेलियों के यहाँ जाने की भी उन्हें छूट थी। राजा अपने पूरे अवरोधन के साथ जैन मुनियों के दर्शनार्थ जाया करते थे। रानियाँ, सेठानियां व कन्याएँ सबके सामने साधुओं से प्रश्न पूछतीं और व्रतादि ग्रहण करती थीं।[2] गृहस्थ औरतें पतियों के साथ अथवा अकेले ही वन-विहार को जाया करती थीं।[3] अतः जैन नारियां पर्दे की प्रथा से प्रायः मुक्त थीं।

गणिकाएँ :—

गणिका अथवा वेश्या शब्द से आज जो अर्थ साधारणतया लगाया जाता है तथा उन्हें जिस हीन और उपेक्षा की भावना से देखा जाता है, वह जैन संस्कृति के स्वरूप में कहीं देखने को नहीं मिलता। गणिकाओं की स्थिति उस समय में अच्छी थी। वे समाज का एक आवश्यक अंग थीं। गणिकाओं को मांगलिक माना गया है। भगवान ऋषभ देव की दीक्षा के समय द्वार पर वार-योपिताओं को मंगल द्रव्य लिए हुए खड़ा किया गया था।[4]

गणिका का तात्पर्य एक उस गण (समूह) से था जो जनसमुदाय का नृत्यगानादि द्वारा मनोरंजन करता था। गणिकाओं को रतिशास्त्र की आचार्याओं के रूप में स्वीकृत किया गया है। वे विदुषी, कला-सम्पन्न तथा मधुर गायिका होती थीं। जैन साहित्य में चम्पा नाम की एक गणिका का बहुत उल्लेख मिलता है। वह चौसठ कलाओं में प्रवीण और अनन्य सुन्दरी थी। एक हजार स्वर्ण मुद्राएँ वह एक रात के लेती थी।[5] एक गणिका चित्र-कला में इतनी प्रवीण थी कि उसके यहां सहज नागरिक का पहुँचना कठिन था। कला पारखी ही उसके यहाँ जा पाते थे। क्योंकि वह उनकी रुचि के अनुसार ही उनका स्वागत करती थी।[6] चोखा नाम की गणिका चार वेदों और अनेक लिपियों की जानकार थी।[7] इससे स्पष्ट है, विविध कलाओं में उस समय नारी कितने आगे बढ़ी हुई थी।

इन गणिकाओं का जैन धर्म से भी बहुत सम्बन्ध रहा है। क्योंकि उनके यहाँ आने जाने वाले लोग प्रायः सेठ साहूकार ही होते थे, जो अक्सर जैन होते थे। वसन्त सेना और चारुदत्त की कथा जगत् प्रसिद्ध है। कुछ गणिकाएँ ऐसी भी थी जो मात्र किसी एक पुरुष को अपना शरीरार्पण करती थीं। पाटलिपुत्र की एक कोशा नाम की गणिका बारह वर्ष तक स्थूलभद्र के साथ रही। और जब वह

१. नायाधम्म कहा २, पृष्ठ २२०-२३०
२. व्यवहार भाष्य आदि
३. आदिपुराण पर्व ४ श्लोक ८६
४. आदिपुराण पर्व १७ श्लोक ८६
५. नायाधम्म कहा आदि
६. वृहत्कल्प भाष्य
७. नायाधम्म कहा ८. पृष्ठ १०८

संसार से विरक्त हो मुनि हो गया तो कांता ने भी जिन दीक्षा ग्रहण कर ली।[1] उज्जैनी की देवदत्ता ने भी मूलदेव के साथ श्रावक धर्म स्वीकार किया था।[2] अन्य जैन धर्मावलम्बी गणिकाओं का भी उल्लेख मिलता है, जिनमें देवदत्ता प्रमुख थी। इसके घर देवसंघ के मुनियों ने चातुर्मास किया था।[3] गणिकाओं द्वारा अनेक जैन मंदिर बनवाने का भी उल्लेख मिलता है।[4]

साध्वी नारियाँ—

जैन संस्कृति की नारी हमेशा चाहे वह गृहस्थ जीवन में हो अथवा सन्यास जीवन में आध्यात्मिकता की ओर उन्मुख रही है। उसका जीवन त्याग और तपस्या का जीवन था। जैन संस्कृति के उन्नायकों ने नारी को निर्वाण प्राप्ति के मार्ग में आने से कभी नहीं रोका। भगवान महावीर ने नारी को अपने संघ में दीक्षित कर उनके आत्म-साधन का मार्ग खोल दिया था। इनके पूर्व के २३ तीर्थंकरों ने भी इसे किसी न किसी रूप में स्वीकारा ही था। अतः पुरुषों की भांति नारियों को भी आत्मकल्याण के लिए मार्ग प्रशस्त था। विशल्या, चन्दना, राजमति आदि वे साध्वियां हैं जो त्याग और तपस्या की मूर्ति थीं। उनका चरित्र अतुलनीय है।[5]

अनेक नारी संघों का उल्लेख जैन साहित्य में मिलता है। एक संघ में करीब छत्तीस हजार नारियों के होने तक का प्रमाण है।[6] नारी संघों की साध्वियों को एक ओर जहाँ ध्यान एकाग्र कर आत्मा का चिंतन करना होता था, वहाँ दूसरी ओर बाह्य कठिनाईयां भी उन्हें कम नहीं थीं।

जब वे अकेली भिक्षा के लिए जातीं तो उन्हें ग्राम के मनचलों के व्यंगबाणों को सहना पड़ता था। कभी कभी अनेक कामी गृहस्थ अपने घर की स्त्रियों को उपदेश देने के लिए तरुण सुन्दर साध्वियों को आमन्त्रित कर उनसे मनमानी करते थे। किन्तु उन तेजस्विनी तापसियों का तेज और शील हमेशा उनकी रक्षा करता था। किन्तु इतने बड़े संघ में कुछ साध्वियों के शीलभंग भी हो जाते थे। उनके लिए कोई रियायत नहीं थी। संघ की आचार्या पता पड़ने पर उन्हें संघ से निष्कासित कर देती थीं। इसके अतिरिक्त कभी-कभी नारी संघ को जंगल में रहने के कारण चोर डाकुओं से भी हानि उठानी पड़ती थी।

इन कठिनाइयों के बावजूद भी जैन नारी संघ आत्म-कल्याण के मार्ग से विचलित नहीं हुए। उन्होंने अपने धार्मिक अनुष्ठानों का पालन करते हुए जैनाचार्यों के आदर्श को कायम रखा तथा अपने नैतिक जीवन के स्तर को हमेशा ऊँचे उठाये रखा। जैन संस्कृति की नारी के प्रति उदार प्रवृत्ति का ही यह फल था।

स्त्रियों की निन्दा और प्रशंसा

जैनसंस्कृति व साहित्य में स्त्रीनिन्दा के प्रकरणों का आना स्वाभाविक है। क्योंकि प्रायः सभी जैन साहित्य त्याग और वैराग्य को उद्देश्य में रख कर लिखा गया है। वैदिक संस्कृति में नारी का स्थान बहुत ही निम्न माना गया है। उसे दासी से ऊपर उठने ही नहीं दिया गया। इस तरह के वातावरण में ही जैन संस्कृति का जन्म हुआ। अतः अन्य संस्कृति के प्रभाव से भी हो सकता है स्त्री विषयक निन्दा जैन साहित्य में प्रविष्ट हुई

---

१. उत्तराध्ययन सूत्र २, पृष्ठ २६

२. नायाधम्म कहा पृष्ठ ६०

३. इण्डियन एन्टीक्वेरी भाग २० पृष्ठ ३४६

४. वीर, वर्ष ४, पृष्ठ ३०८

५. पद्मपुराण पृष्ठ ४२५-२६.

६. हनुमान चरित्र

हो। किन्तु जैन साहित्य में स्त्रियों की निन्दा और अन्य साहित्य की स्त्री की निन्दा में बहुत फरक है। जैन संस्कृति में स्त्री की निन्दा हमेशा मोक्ष-मार्ग के साधकों के प्रसंग के साथ हुई है। साधारण गृहस्थ ने नारी को कभी हेय नहीं समझा।

जैन कवियों ने जहाँ नारी के विषय में प्रशंसा के पुल बांधे हैं। वहाँ उसकी निन्दा भी कम नहीं की। उन्होंने स्त्री का मुख कफ का भण्डार, नेत्र दो मल के गढ्ढे, स्तन दो मांस के लोथड़े तथा नितम्बादि खून और हड्डियों का समूह है,[१] इस रूप में स्त्री के स्वरूप को वीभत्स किया हैं। ऐसे वर्णनों से कौन नहीं स्त्रियों से मुक्ति चाहेगा। थोड़ी बहुत आसक्ति हुई भी तो वह इससे खण्डित हो जायेगी कि स्त्रियाँ राक्षसनियाँ हैं, जिनकी छाती पर दो मांस के पिण्ड उगे रहते हैं। वे हमेशा विचारों को बदलती रहती हैं और मनुष्य को ललचाकर गुलाम बनाती हैं।[२] अग्नि भले शीतल हो जाये, विष चाहे अमृत हो जाय, किन्तु स्त्रियाँ कभी अपनी वक्रता नहीं छोड़ सकतीं।[3] अतः स्त्रियों के सम्पर्क में नहीं आना चाहिए। उनके संसर्ग से मनुष्य धर्म का पात्र नहीं रह जाता और न ही मोक्ष का साधक बन पाता है।[४] क्योंकि—

जिस उर अन्तर बसत निरन्तर
नारी औगुन खान।
तहां कहां साहिब को वासा
दो खांडे, इकम्यान॥[५]

अतः विषबेल रूपी नारी को जब बड़े बड़े जोगीश्वरा तक त्याग कर चले गये हैं[६] तो हम क्यों उनके चक्कर में फंसें? क्योंकि नारी शब्द का अर्थ ही है—'न+अरि' पुरुष के लिए नहीं है शत्रु जिसके समान ऐसी नारी।[७] शत्रु को कौन नहीं त्यागना चाहेगा। नारी वैसे ही विषैली होती है यदि उसे अधिक शिक्षित करा दिया जाय तो सांप को दूध पिलाना जैसा है[८] आदि-आदि।

निश्चय ही ये निन्दा विषयक सारे कथन नारी के किसी एक पहलू को लेकर कहे गये हैं। यह उसका सर्वाङ्ग चित्रण नहीं है। क्योंकि यदि ऐसा होता तो गृहस्थ जीवन के लिए नारी की इतनी उपयोगिता न मानी जाती कि उसके बिना पुरुष का जीवन निष्फल है। वह जीते हुए मृतक के समान रहता है। नारी के बिना घर एक भयंकर अटवी-सा प्रतीत होता है।[९] कुशल नारी ही गृहस्थ के आध्यात्मिक अनुष्ठान में पूर्ण सहयोग प्रदान करती है। उसके त्रिवर्गों को साधने वाली होती है। गृहिणी ही वास्तव में घर है, ईंट-पत्थर के बने मकान आदि नहीं[१०] इत्यादि।

इतना ही नहीं नारी की प्रशंसा में आचार्य जिनसेन ने यहां तक कहा है कि—'नारी गुणवती धत्ते स्त्री सृष्टिरग्रिमं पदम्' गुणवती स्त्रियां अपने गुणों के द्वारा संसार में श्रेष्ठ पद को प्राप्त होती हैं। जैन साहित्य में स्त्री को चक्रवर्ती के चौदहरत्नों में से एक माना गया है। धर्मपरायण पत्नी के न होने पर कोई भी राजा अभिषेक के योग्य नहीं समझा जाता।[११] इतना उच्च स्थान शायद ही नारी को कहीं मिला हो।

---

१. जीवन्धर चम्पू लम्ब ७, पृष्ठ २८
२. उत्तराध्ययन सूत्र
३. आचार्य सोमदेव
४. यशस्तिलकचम्पू प्रथम अ. श्लोक ७७-८१
५. कविवर भूधर
६. जिनवाणी संग्रह-द्यानत
७. तन्दुल वैकालिक पृष्ठ ५०
८. यशस्तिलकचम्पू उत्त० पृष्ठ १५२
९. वही प्र. अ. श्लोक १२१
१०. सागारधर्मामृत दि. अ. श्लोक ५९-६०
११. जम्बूदीपपण्णत्ती

नारी माता के रूप में हमेशा पूजी गई है। जिस नारी ने तीर्थङ्कर, चक्रवर्ती, बलभद्र आदि महापुरुषों को जन्म दिया हो वह क्या कभी हेय हो सकती है? भारतीय संस्कृति की जो यह सार्वभौम मान्यता है कि नारियों की जहाँ पूजा होती है वहाँ देवता निवास करते हैं। किन्तु यह मान्यता कहीं मान्यता ही न रह जाय यह आशंका है। क्योंकि वर्तमान समय में नारी जिन रूपों में प्रस्तुत हो रही है या की जा रही है वह रूप पूजा के योग्य तो कभी नहीं हो सकता।

इस प्रकार जैन संस्कृति के आलोक में नारी के समस्त पहलुओं को देखने से यह ज्ञात होता है कि नारी का उससे घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। यद्यपि प्रस्तुत निबन्ध के साथ यह दावा नहीं किया जा सकता कि नारी के समस्त पहलू और सम्पूर्ण रूप इसमें निहित है, किन्तु फिर भी यह कहने में संकोच नहीं होता कि नारी के विषय में कुछ भी सोचने और समझने के लिए इसकी उपयोगिता नहीं हटायी जा सकती।

संक्षेप में यदि कहें तो जैन संस्कृति में नारी के वे सभी रूप स्वीकृत हैं जिनके बिना मानव समाज का कोई भी चित्र पूरा नहीं हो सकता। कन्या के रूप में यदि नारी दुलारी गई है तो गृहस्वामिनी के रूप में उसे मान कम नहीं दिया गया। जैन नारी ने समस्त कलाओं में पारंगत हो अपनी विद्वत्ता और सामर्थ्य का जहाँ परिचय दिया है, वहाँ धर्म-परायण और कर्तव्यनिष्ठ होकर समाज और धर्म की सेवा भी कम नहीं की। आत्म साधना, त्याग एवं तपस्या की तो वह अधिष्ठात्री रही है, जिसने लिंग छेद कर निर्वाण को भी प्राप्त किया है। इस प्रकार यदि अन्य संस्कृतियों ने नारी को हेय और भोग्य की वस्तु समझ उसका अपमान कर घोर अपराध किया है तो नारी के उज्ज्वल और समुन्नत रूप को सराहना, उसे पुरुषों के समकक्ष मानना, यह जैन संस्कृति की नारी से क्षमायाचना है।

❁

विष का विष ही तो अमृत है।

कोई बात बहुत दिनों से चली आ रही है, केवल इसीसे यह अच्छी नहीं हो जाती। सम्मान के साथ चले आने पर भी नहीं। बीच बीच में उसे जाँच करके देख लेना चाहिये कि उसकी उपयोगिता कहाँ तक अक्षुण्ण है।

—बापूजी की डायरी से

—:०:—

हुआ परन्तु उनका प्रभाव अवश्य पड़ा और उनमें से कुछ आन्दोलन काफी मात्रा में सफल हुए।

फर स्थानकवासी समाज के भी दो टुकड़े हुए। इनमें से एक तेरापंथ संप्रदाय अलग निकला जिसने निवृत्तिवाद की परिसीमा पर पहुँचने की कोशिश की। सब जीव अपने अपने कर्मफल का भोग कर रहे हैं इसलिये उसमें हस्तक्षेप क्यों करना चाहिये। इसलिये यदि कोई आग में फंस कर मर रहा है तो उसे क्यों बचाना चाहिये, आदि विधान बने। हालां कि ऐसी बातों के समर्थन से अब बचा जाता है और आम जनता के सामने ऐसी बातें नहीं कही जातीं फिर भी पृथकता का आधारभूत सिद्धांत वही है। जैन समाज में यह संप्रदाय भी काफी प्रभावक है। जन संख्या में भी एक लाख की संख्या तक फैला हुआ है। दिगम्बर समाज में जो तेरापंथ है उससे इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। तथा उनकी नीति में भी कोई मेल नहीं है।

स्थानकवासी संप्रदाय में अनेक आचार्यों को मिटा कर एक आचार्य बनाने का आन्दोलन चला और वह बाहरी दृष्टि में सफल भी हुआ। भीतर ही भीतर द्वन्द्व है फिर भी एक आचार्य बन गया है। मूर्ति पूजक सम्प्रदाय में बालदीक्षा को रोकने के लिये आन्दोलन खड़ा हुआ और इस निमित्त से सुधारकों का एक संगठन 'जैन युवक संघ' के नाम से बना। जहां तक विचारों का सवाल है बम्बई में वह संघ काफी प्रभावक है। बाल दीक्षाएं रुक तो नहीं सकी हैं फिर भी कम हो गई हैं और उनके विरोध में आवाज भी उठती है। बड़ौदा जब अलग राज्य था तब बालदीक्षा के विरोध में कानून भी बनवा दिया गया था।

मूर्ति पूजक समाज और स्थानकवासी समाज से भी मेरा सम्बन्ध काफी रहा है। और एक कार्यकर्ता के रूप में रहा है। इसलिये इन आन्दोलनों में थोड़ा बहु हिस्सा मेरा भी रहा है। परन्तु प्रभावक हिस्सा रहा है दि० जैन समाज के आन्दोलनों में क्योंकि मेरा जन्म दि० जैन समाज में हुवा और काफी समय तक मैं दिगम्बर जैन समाज का पंडित और कार्यकर्त्ता रहा हूँ। मुझ से पहले दि० जैन समाज के चार आन्दोलनों का तो मुझे ठीक तरह से पता है। दस्सों को पूजा का अधिकार देने के बारे में एक आन्दोलन खड़ा हुवा था जिसका नेतृत्व स्व० पं० गोपालदास जी बरैया ने किया था। अब काफी अंशों में यह सफल है।

एक आन्दोलन शास्त्र छपाने के बारे में भी था। शास्त्र छपाने के पक्ष में अनेक लोग थे। विरोध में स्वर्गीय सेठ जम्बूप्रसाद जी सहारनपुर वाले थे। यह आन्दोलन भी सफल हुआ।

शास्त्र सुधार आदि के कुछ आन्दोलन स्वर्गीय श्री सूरजभानजी वकील ने किये थे जो दब गये।

विधवा विवाह के प्रचार के लिये स्वर्गीय श्रीदयाचन्दजी गोयलीय ने किया था जो उन्हीं के साथ समाप्त हो गया था। इन आन्दोलनों के समय में बालक या विद्यार्थी ही था। इसलिये इनमें मेरा कोई हाथ नहीं था।

फरवरी सन १९१९ में मैं बनारस के स्याद्वाद महा विद्यालय में अध्यापक के रूप में नियुक्त हुवा और उसी वर्ष एक जैन पत्र का संपादक भी बना। सन् १९२० में मेरे विचारों में जैन शास्त्रों के चिन्तन मनन के फलस्वरूप क्रान्ति हुई और उसके बाद ही आन्दोलनों का प्रारंभ हुवा।

पहिले तो मेरे आन्दोलन विवाह शादी के रीति रिवाजों को लेकर हुए और वे परवार जाति में थे जो कि पूरी तरह सफल हो गये।

परन्तु सबसे तीव्र आन्दोलन दि. जैन समाज में जाति पांति तोड़ने का था जो आज से करीब ४२ वर्ष पहले शुरू हुआ था जिसका पूरा और मुख्य नेतृत्व मुझे करना पड़ा था। 'विजातीय विवाह मीमांसा' नाम से मेरा एक ट्रैक्ट दिल्ली में जौहरीमलजी सर्राफ ने छपवाया था और वह पूरा

का पूरा जैनमित्र में भी छपा। उससे यह आन्दोलन भड़क उठा। रूढ़िपूजक समाज का रुख साधारणतः मेरे विरुद्ध हो यह स्वाभाविक था इसलिये कुछ पंडित समाज के वकील बनकर मेरे विरुद्ध खड़े हो गये। मुझे इसके लिये सौ से अधिक लेख लिखने पड़े। पंचायतों और पंडितों से पत्र व्यवहार करना पड़ा। गांव-गांव घूमना पड़ा और अन्त में इन्दौर की नौकरी भी छोड़नी पड़ी। श्रम तो बहुत हुआ ही पैसा भी खर्च हुवा। कुछ समय जीविका की चिंता से भी परेशान हुवा परन्तु जहां तक विचार परिवर्तन का सवाल है यह आन्दोलन पूरी तरह सफल रहा। बहुत से विरोधी पंडितों के विचार भी बदल गये और व्यवहार में भी काफी सफल हुवा। दक्षिणी मध्य प्रदेश और महाराष्ट्र में दर्जनों की संख्या में जांति पांति तोड़कर विवाह हुए और कुछ अल्पसंख्यक जातियां तो एक तरह से आपस में मिल ही गई।

इसके बाद का आन्दोलन दि. जैन मुनियों के विरुद्ध था। स्थितिपालक जैन पंडितों ने तर्क से हार कर अपने बचाव के लिये दि. जैन मुनियों को आगे किया था। इस प्रकार एक तो मुनि लोग दलबंदी के शिकार थे। दूसरे उनकी कुछ हरकतों से समाज की बड़ी हानि हो रही थी। शूद्र जल त्याग कराने से जैन समाज को काफी क्षति उठानी पड़ी थी। जांत पांत के आधार से मनुष्य को छोटा समझने का सिद्धान्त न्याय के विरुद्ध तो था ही जैनधर्म के विरुद्ध भी था तथा इसके कारण कई जगह जैनों का सामाजिक विरोध बहिष्कार भी हुआ था इसलिये आत्मघातक भी था। इसलिये दि. जैन मुनियों की आलोचना का एक जबर्दस्त आन्दोलन बन गया था। अजमेर से निकलने वाले जैन जगत द्वारा यह आन्दोलन किया जाता था। श्री फतहचंदजी सेठी इसके प्रकाशक थे और मैं सम्पादक था। उस समय दि. जैन साधुओं के गुप्त-से गुप्त समाचार जैन जगत में प्रगट होते थे। जैन समाज में इस समय जैन जगत का बड़ा आतंक था। उस समय एक कवि ने लिखा था:—

इस जैन जगत की जरा हिम्मत तो देखिये
छोटे से मुंह से बम के गोले छोड़ रहा है।

उन दिनों दि. जैन मुनियों के विरोध में जो जैन जगत ने लिखा उसके कारण मुनिवेषियों की अंध श्रद्धा काफी कम हो गई और समाज काफी जग गया। मुनीन्द्रसागर दल के रहस्यों का तो इतना उद्घाटन हुआ कि दमोह की जैन पंचायत ने उस दल की नंगा झोली लेकर उसका बहुत सा धन छीन लिया। तब वह दल जबलपुर चला गया। जबलपुर की पंचायत ने भी उस दल के भ्रष्टाचार का डट कर मुकाबला किया। तब यह दल भंग हो गया। तीन मुनिवेषियों ने तो आत्म हत्या करली। बाकी मुनिवेष छोड़ कर भाग गये।

उस समय स्थितिपालक पंडित जैन जगत को मुनि निन्दक कहते थे। कई मुनि तो श्रावकों को प्रतिज्ञा देते थे कि जैन जगत को कभी न छुयेंगे। यदि छू गया तो तीन बार मिट्टी से हाथ धोयेंगे। फिर भी वे मुनि लोग ही एकान्त में उसे स्वयं पढ़ते थे। उस समय के जैन जगत द्वारा जो आन्दोलन छेड़ा गया वह इतने अंश में तो सफल हुआ कि मुनिवेष लेने के कारण ही जो भक्ति मिला करती थी और वे लोग जो आलोचना से परे हो जाते थे वह न रही। यहां तक कि स्थिति पालक दल भी किसी न किसी मुनि का आलोचक बन गया।

इसके बाद का जबर्दस्त आन्दोलन विधवा विवाह का था। सन् १९२० में चिन्तन करते करते भी विचारों में जो परिवर्तन हुवा उसने मुझे विधवा विवाह का समर्थक बना दिया पर इसका आन्दोलन मैं छेड़ न सका। एक बार ब्रह्मचारी शीतल प्रसाद जी से मेरी चर्चा हुई। मैंने विधवा विवाह के पक्ष में अपनी दलीलें उन्हें सुनाईं। बोले- विधवा विवाह के समर्थन में मेरे भी विचार हैं परन्तु मैं उन्हें प्रगट नहीं कर सकता। परन्तु मरने के पहले मैं लिख जाऊंगा कि मैं विधवा विवाह का समर्थक था और शायद ऐसा ही होगा।

हुआ परन्तु उनका प्रभाव अवश्य पड़ा और उनमें से कुछ आन्दोलन काफी मात्रा में सफल हुए।

पर स्थानकवासी समाज के भी दो टुकड़े हुए। इनमें से एक तेरापंथ संप्रदाय अलग निकला जिसने निवृत्तिवाद की परिसीमा पर पहुँचने की कोशिश की। सब जीव अपने अपने कर्मफल का भोग कर रहे हैं इसलिये उसमें हस्तक्षेप क्यों करना चाहिये। इसलिये यदि कोई आग में फंस कर मर रहा है तो उसे क्यों बचाना चाहिये, आदि विधान बने। हालां कि ऐसी बातों के समर्थन से अब बचा जाता है और आम जनता के सामने ऐसी बातें नहीं कही जातीं फिर भी पृथकता का आधारभूत सिद्धांत वही है। जैन समाज में यह संप्रदाय भी काफी प्रभावक है। जन संख्या में भी एक लाख की संख्या तक फैला हुआ है। दिगम्बर समाज में जो तेरापंथ है उससे इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। तथा उनकी नीति में भी कोई मेल नहीं है।

स्थानकवासी संप्रदाय में अनेक आचार्यों को मिटा कर एक आचार्य बनाने का आन्दोलन चला और वह बाहरी दृष्टि में सफल भी हुआ। भीतर ही भीतर द्वन्द्व है फिर भी एक आचार्य बन गया है। मूर्ति पूजक सम्प्रदाय में बालदीक्षा को रोकने के लिये आन्दोलन खड़ा हुआ और इस निमित्त से सुधारकों का एक संगठन 'जैन युवक संघ' के नाम से बना। जहां तक विचारों का सवाल है बम्बई में वह संघ काफी प्रभावक है। बाल दीक्षाएं रुक तो नहीं सकी हैं फिर भी कम हो गई हैं और उनके विरोध में आवाज भी उठती है। बड़ौदा जब अलग राज्य था तब बालदीक्षा के विरोध में कानून भी बनवा दिया गया था।

लनों में क्योंकि मेरा जन्म दि० जैन समाज में हुवा और काफी समय तक मैं दिगम्बर जैन समाज का पंडित और कार्यकर्त्ता रहा हूँ। मुझ से पहले दि० जैन समाज के चार आन्दोलनों का तो मुझे ठीक तरह से पता है। दस्सों को पूजा का अधिकार देने के बारे में एक आन्दोलन खड़ा हुवा था जिसका नेतृत्व स्व० पं० गोपालदास जी बरैया ने किया था। अब काफी अंशों में यह सफल है।

एक आन्दोलन शास्त्र छपाने के बारे में भी था। शास्त्र छपाने के पक्ष में अनेक लोग थे। विरोध में स्वर्गीय सेठ जम्बूप्रसाद जी सहारनपुर वाले थे। यह आन्दोलन भी सफल हुआ।

शास्त्र सुधार आदि के कुछ आन्दोलन स्वर्गीय श्री सूरजभानजी वकील ने किये थे जो दब गये।

विधवा विवाह के प्रचार के लिये स्वर्गीय श्रीदयाचन्दजी गोयलीय ने किया था जो उन्हीं के साथ समाप्त हो गया था। इन आन्दोलनों के समय में बालक या विद्यार्थी ही था। इसलिये इनमें मेरा कोई हाथ नहीं था।

फरवरी सन १९१९ में मैं बनारस के स्याद्वाद महा विद्यालय में अध्यापक के रूप में नियुक्त हुवा और उसी वर्ष एक जैन पत्र का संपादक भी बना। सन् १९२० में मेरे विचारों में जैन शास्त्रों के चिन्तन मनन के फलस्वरूप क्रान्ति हुई और उसके बाद ही आन्दोलनों का प्रारंभ हुवा।

पहिले तो मेरे आन्दोलन विवाह शादी के रीति रिवाजों को लेकर हुए और वे परवार जाति में थे जो कि पूरी तरह सफल हो गये।

का पूरा जैनमित्र में भी छपा। उससे यह आन्दोलन भड़क उठा। रूढ़िपूजक समाज का रुख साधारणतः मेरे विरुद्ध हो यह स्वाभाविक था इस लिये कुछ पंडित समाज के वकील बनकर मेरे विरुद्ध खड़े हो गये। मुझे इसके लिये सौ से अधिक लेख लिखने पड़े। पंचायतों और पंडितों से पत्र व्यवहार करना पड़ा। गांव-गांव घूमना पड़ा और अन्त में इन्दौर की नौकरी भी छोड़नी पड़ी। श्रम तो बहुत हुआ ही पैसा भी खर्च हुवा। कुछ समय जीविका की चिंता से भी परेशान हुवा परन्तु जहां तक विचार परिवर्तन का सवाल है यह आन्दोलन पूरी तरह सफल रहा। बहुत से विरोधी पंडितों के विचार भी बदल गये और व्यवहार में भी काफी सफल हुवा। दक्षिणी मध्य प्रदेश और महाराष्ट्र में दर्जनों की संख्या में जांति पांति तोड़कर विवाह हुए और कुछ अल्पसंख्यक जातियां तो एक तरह से आपस में मिल ही गई।

इसके बाद का आन्दोलन दि. जैन मुनियों के विरुद्ध था। स्थितिपालक जैन पंडितों ने तर्क मे हार कर अपने बचाव के लिये दि. जैन मुनियो को आगे किया था। इस प्रकार एक तो मुनि लोग दलबंदी के शिकार थे। दूसरे उनकी कुछ हरकतों से समाज की बड़ी हानि हो रही थी। शूद्र जल त्याग कराने से जैन समाज को काफी क्षति उठानी पड़ी थी। जांत पांत के आधार से मनुष्य को छोटा समझने का सिद्धान्त न्याय के विरुद्ध तो था ही जैनधर्म के विरुद्ध भी था तथा इसके कारण कई जगह जैनों का सामाजिक विरोध बहिष्कार भी हुआ था इसलिये आत्मघातक भी था। इसलिये दि. जैन मुनियों की आलोचना का एक जबर्दस्त आन्दोलन बन गया था। अजमेर से निकलने वाले जैन जगत द्वारा यह आन्दोलन किया जाता था। श्री फतहचंदजी सेठी इसके प्रकाशक थे और मैं सम्पादक था। उस समय दि. जैन साधुओं के गुप्त से गुप्त समाचार जैन जगत में प्रकट होते थे। जैन समाज में इस समय जैन जगतका बड़ा आतंक था। उस समय एक कवि ने लिखा था:—

इस जैन जगत की जरा हिम्मत तो देखिये
छोटे से मुंह से बम के गोले छोड़ रहा है।

उन दिनों दि. जैन मुनियों के विरोध में जो जैन जगत ने लिखा उसके कारण मुनिवेषियों की अंध श्रद्धा काफी कम हो गई और समाज काफी जग गया। मुनीन्द्रसागर दल के रहस्यों का तो इतना उद्‌घाटन हुआ कि दमोह की जैन पंचायत ने उस दल की नंगा झोली लेकर उसका बहुत सा धन छीन लिया। तब वह दल जबलपुर चला गया। जबलपुर की पंचायत ने भी उस दल के भ्रष्टाचार का डट कर मुकाबला किया। तब यह दल भंग हो गया। तीन मुनिवेषियों ने तो आत्म हत्या करली। बाकी मुनिवेष छोड़ कर भाग गये।

उस समय स्थितिपालक पंडित जैन जगत को मुनि निन्दक कहते थे। कई मुनि तो श्रावकों को प्रतिज्ञा देते थे कि जैन जगत को कभी न छुयेंगे। यदि छू गया तो तीन बार मिट्टी से हाथ धोयेंगे। फिर भी वे मुनि लोग ही एकान्त में उसे स्वयं पढ़ते थे। उस समय के जैन जगत द्वारा जो आन्दोलन छेड़ा गया वह इतने अंश में तो सफल हुआ कि मुनि-वेष लेने के कारण ही जो भक्ति मिला करती थी और वे लोग जो आलोचना से परे हो जाते थे वह न रही। यहां तक कि स्थिति पालक दल भी किसी न किसी मुनि का आलोचक बन गया।

इसके बाद का जबर्दस्त आन्दोलन विधवा विवाह का था। सन् १९२० में चिन्तन करते करते भी विचारों में जो परिवर्तन हुवा उसने मुझे विधवा विवाह का समर्थक बना दिया पर इसका आन्दोलन मैं छेड़ न सका। एक बार ब्रह्मचारी शीतल प्रसाद जी से मेरी चर्चा हुई। मैंने विधवा विवाह के पक्ष में अपनी दलीलें उन्हें सुनाई। बोले-विधवा विवाह के समर्थन में मेरे भी विचार है परन्तु मैं उन्हें प्रकट नहीं कर सकता। परन्तु मरने के पहिले मैं लिख जाऊँगा कि मैं विधवा विवाह का समर्थक था और शायद ऐसा ही होगा।

हुआ परन्तु उनका प्रभाव अवश्य पड़ा और उनमें से कुछ आन्दोलन काफी मात्रा में सफल हुए।

पर स्थानकवासी समाज के भी दो टुकड़े हुए। इनमें से एक तेरापंथ संप्रदाय अलग निकला जिसने निवृत्तिवाद की परिसीमा पर पहुँचने की कोशिश की। सब जीव अपने अपने कर्मफल का भोग कर रहे हैं इसलिये उसमें हस्तक्षेप क्यों करना चाहिये। इसलिये यदि कोई आग में फंस कर मर रहा है तो उसे क्यों बचाना चाहिये, आदि विधान बने। हालां कि ऐसी बातों के समर्थन से अब बचा जाता है और आम जनता के सामने ऐसी बातें नहीं कही जातीं फिर भी पृथकता का आधारभूत सिद्धांत वही है। जैन समाज में यह संप्रदाय भी काफी प्रभावक है। जन संख्या में भी एक लाख की संख्या तक फ़ैला हुआ है। दिगम्बर समाज में जो तेरापंथ है उससे इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। तथा उनकी नीति में भी कोई मेल नहीं है।

स्थानकवासी संप्रदाय में अनेक आचार्यों को मिटा कर एक आचार्य बनाने का आन्दोलन चला और वह बाहरी दृष्टि में सफल भी हुआ। भीतर ही भीतर द्वन्द्व है फिर भी एक आचार्य बन गया है। मूर्ति पूजक सम्प्रदाय में बालदीक्षा को रोकने के लिये आन्दोलन खड़ा हुआ और इस निमित्त से सुधारकों का एक संगठन 'जैन युवक संघ' के नाम से बना। जहां तक विचारों का सवाल है बम्बई में वह संघ काफी प्रभावक है। बाल दीक्षाएं रुक तो नहीं सकी हैं फिर भी कम हो गई हैं और उनके विरोध में आवाज भी उठती है। बड़ौदा जब अलग राज्य था तब बालदीक्षा के विरोध में कानून भी बनवा दिया गया था।

लनों में क्योंकि मेरा जन्म दि० जैन समाज में हुवा और काफी समय तक मैं दिगम्बर जैन समाज का पंड़ित और कार्यकर्त्ता रहा हूँ। मुझ से पहले दि० जैन समाज के चार आन्दोलनों का तो मुझे ठीक तरह से पता है। दस्सों को पूजा का अधिकार देने के बारे में एक आन्दोलन खड़ा हुवा था जिसका नेतृत्व स्व० पं० गोपालदास जी बरैया ने किया था। अब काफी अंशों में यह सफल है।

एक आन्दोलन शास्त्र छपाने के बारे में भी था। शास्त्र छपाने के पक्ष में अनेक लोग थे। विरोध में स्वर्गीय सेठ जम्बूप्रसाद जी सहारनपुर वाले थे। यह आन्दोलन भी सफल हुआ।

शास्त्र सुधार आदि के कुछ आन्दोलन स्वर्गीय श्री सूरजभानजी वकील ने किये थे जो दब गये।

विधवा विवाह के प्रचार के लिये स्वर्गीय श्रीदयाचन्दजी गोयलीय ने किया था जो उन्हीं के साथ समाप्त हो गया था। इन आन्दोलनों के समय मैं बालक या विद्यार्थी ही था। इसलिये इनमें मेरा कोई हाथ नहीं था।

फरवरी सन १९१९ में मैं बनारस के स्याद्वाद महा विद्यालय में अध्यापक के रूप में नियुक्त हुवा और उसी वर्ष एक जैन पत्र का संपादक भी बना। सन् १९२० में मेरे विचारों में जैन शास्त्रों के चिन्तन मनन के फलस्वरूप क्रान्ति हुई और उसके बाद ही आन्दोलनों का प्रारंभ हुवा।

पहिले तो मेरे आन्दोलन विवाह शादी के रीति रिवाजों को लेकर हुए और वे परवार जाति में थे जो कि पूरी तरह सफल हो गये।

शास्त्रार्थ करे और वह सब लिखित होगा। क्योंकि मैं अपने नाम से सामने आना नहीं चाहता था। सव्यसाची के नाम से ही सबको उत्तर देता था। इस प्रकार ब्रह्मचारी जी की ढ़ाल भी मैं ही था और तलवार भी।

सव्यसाची के लेखों का इतना असर जरूर हुआ कि विधवा विवाह को लोग जैनधर्म की बात समझने लगे और उसके बारे में जो घृणा का भाव था वह दूर हो गया। कुछ विधवा विवाह हुए भी। इस बात का मुझे दर्द होता था कि जैनधर्म की बहुत सी बातें आधुनिक विज्ञान से मेल नहीं खाती। इसके कारण आज का विद्यार्थी जैनधर्म के बारे में अरुचि और अश्रद्धा व्यक्त करता है। इसलिये मेरे मन में विचार आया कि जैनधर्म का इतना संशोधन कर दिया जाय कि वह आधुनिक विज्ञान से टक्कर ले सके। इसी समय बाबू छोटेलालजी ने अपने सब विचारों को प्रकट करने की प्रेरणा दी। इसलिये 'जैनधर्म का मर्म' शीर्षक देकर मैंने एक लेख माला 'जैन जगत' में प्रकट की। यह साढ़े तीन वर्ष तक लिखी गई और बाद में तीन खण्डों में करीब बारह सौ पृष्ठों में 'जैन-धर्म मीमांसा' के नाम से प्रकट हुई। इसके विरोध में भी लेख लिखे गये और उनके उत्तर में भी एक लेख माला और लिखी गई।

खैर इस लेखमाला में मैं दो कार्य करता था। जैनधर्म की जो बात आधुनिक विज्ञान से मेल नहीं खाती थी उसे मैं निकाल देता था। और जो कमी मालूम होती थी उसे जोड़ देता था। इस प्रकार जैनधर्म को मैं परिपूर्ण और शुद्ध बनाता जाता था। यह सब चिकित्सा मैं जैनधर्म के मोह के कारण करता था पर जैन समाज मेरे इस आचरण को नहीं समझ पा रहा था इसलिये मेरा विरोधी था। यदि मेरा यह मोह बना रहता तो मैं किसी के भी विरोध की परवाह न करके जीवन के अन्त तक जैनधर्म के संशोधन का कार्य करता रहता। भले ही मुझे उसके लिये जैन समाज में एक नया सम्प्रदाय ही खड़ा क्यों न करना पड़ता। परन्तु एक दिन चिन्तन करते करते जो नया प्रकाश मिला उसने यह मोह छुड़ा दिया।

मैंने सोचा "मैं जैनधर्म को बिल्कुल शुद्ध करने के लिये उसकी सब कमजोरियां हटा रहा हूँ और जो त्रुटियां देखता हूँ वह सब भर रहा हूँ अगर इसी नीति से मैं संशोधन अन्य धर्मों का करूं तो धर्मों में अन्तर क्या रह जायगा तब मैं सिर्फ जैन धर्म का ही संशोधन क्यों कर रहा हूँ। इसलिये तो कि मेरे पिता जैन थे। इसलिये कि बाल्यावस्था से मुझे वही धर्म मिला। परन्तु जैनधर्म को अच्छा धर्म समझ कर जैनपिता के यहां पैदा होने के लिये क्या मैंने पिता चुना था। अकस्मात ही मुझे जैन पिता मिल गया। बुद्धि पूर्वक मैंने पिता चुना नहीं। ऐसी हालत में अन्य धर्म का भी पिता मिल सकता था और मैं उसही धर्म के गीत गाने लगता। वास्तव में यह आकस्मिकता सत्य की निर्णायक नहीं है। इसके लिये तो बिल्कुल निर्मोह बनकर निष्पक्ष दृष्टि से विचार करना चाहिये।" बस! इस विचार ने मुझे धार्मिक पक्षपात से या मोह से मुक्त बना दिया। मैं साधारणतः सभी धर्मों में समभावी निष्पक्ष आन्दोलक बन गया। और इनही विचारों का मूर्तिमन्त रूप बना 'सत्य समाज'। यह सन् १९३४ की बात है। इसके बाद जैन जगत का नाम बदलकर सत्यसन्देश कर दिया गया। जब मैंने वर्धा में सत्याश्रम बनाया तब 'सत्यसंदेश' का प्रकाशन भी वहीं से होने लगा। और जैन समाज का सम्बन्ध करीब करीब उसी ढंग से छूट गया जैसा किसी लड़की का सम्बन्ध विवाह के बाद पीहर से छूट जाता है।

बाबू छोटेलालजी निर्मोह तो नहीं हो पाये। मेरे विचारों से पूरी तरह मेल भी बैठा नहीं पाये फिर भी मेरे विचारों की कद्र करते रहे और सत्याश्रम को तीस हजार से अधिक की भेंट बिना मांगे ही मुझे दी ऐसे सज्जन संसार में दुर्लभ हैं। ●

परन्तु जैन समाज के कुछ नेता ब्रह्मचारी जी के पीछे पड़े हुए थे। वे ब्रह्मचारी जी पर जोर डालते थे कि या तो आप विधवा विवाह के विचार छोड़ दें अथवा खुल्लम खुल्ला विधवा विवाह के समर्थक बन जांय। इस बात को लेकर ब्रह्मचारी जी को इतना दबाया गया कि इच्छा न रहने पर भी उन्हें विधवा विवाह का खुल्लम खुल्ला समर्थन करना पड़ा। ब्रह्मचारी जी के विरोधियों को उन्हें जैन समाज में निन्दित करने का अवसर मिल गया। ब्रह्मचारी जी ने सनातन जैन समाज नाम से एक अलग समाज खड़ा कर लिया। पर ब्रह्मचारी जी भीतर से कट्टर दि० जैन थे। उन्हें इसका पूरा मोह था। सिर्फ विधवा विवाह के समर्थक थे और उस विषय में उनके विचार पुराने आन्दोलकों–स्व. सूरजभान जी वकील, दयाचन्दजी गोयलीय आदि के समान थे अर्थात् विधवा विवाह के विषय में वे कहा करते थे कि भले ही वह जैनधर्म के विरुद्ध हो पर समय की मांग है। उसके बिना जैनों की संख्या घट रही है आदि। ऐसे ही तर्कों से विधवा विवाह का समर्थन करते थे। उन्हें मालूम था कि मैं विधवा विवाह का समर्थक हूँ। इसलिये प्रति सप्ताह उनका एक पत्र मुझे मिलने लगा कि आप इस आन्दोलन का समर्थन कीजिये, मैं असहाय हूँ. इस आन्दोलन को आप ही जोरदार बना सकते हैं। पर मेरी भी कुछ परेशानियां थीं। जिन संस्थाओं से मेरा सम्बन्ध था विधवा विवाह के आन्दोलन से उनको क्षति पहुँचती या मुझे उनसे सम्बन्ध छोड़ना पड़ता। मैं इन दोनों बातों के लिये तैयार न था। उस समय मैं जैन जगत का सम्पादक था ही। इसलिये मैंने यह घोषित किया कि जैन जगत में विधवा विवाह को लेकर दोनों पक्षों के लेख निकलेंगे। समर्थन में भी और विरोध में भी। जैन जगत से स्थिति पालक पंडित तो भड़कते ही थे इसलिये उनके लेख तो आए ही नहीं। इसलिये विधवा विवाह के विरोध में कोई लेख जैन जगत में छपने नहीं आया और समर्थन में भी लेख लिखने की हिम्मत किसी में न थी तथा यह सारा नाटक मुझे ही करना पड़ा। कल्पित नामों से मैंने विधवा विवाह के विरोध और समर्थन में लेख लिखने शुरू किये। कभी कल्याणी देवी आदि के नाम से विधवा विवाह का विरोध करता कभी सव्यसाची के नाम से विधवा विवाह का समर्थन करता। कई वर्षों तक मैं सव्य साची के नाम से विधवा विवाह के समर्थन में लेख लिखता रहा। विरोधियों को उत्तर देता रहा। उन लेखों को ट्रैक्ट के रूप में दिल्ली के जौहरीलाल जी सर्राफ ने छपवाया। एक ट्रैक्ट तो करीब २५० पेजों का था।

विधवा विवाह के पुराने समर्थकों से मेरे समर्थन में एक अन्तर था। पहले के लोग विधवा विवाह को जैनधर्म के विरुद्ध मानकर समय की जरूरत के नाम से आपद्धर्म के रूप में चलाना चाहते थे जब कि मेरा कहना था कि विधवा विवाह जैनधर्म का अंग है। विधवा विवाह के रिवाज के बिना जैनधर्म का ब्रह्मचर्याणुव्रत अधूरा है। ब्रह्मचर्याणुव्रत का मतलब है कि मनुष्य की उद्दाम काम वासना एक पुरुष या एक नारी में सीमित हो जाय। यह कार्य विधवा विवाह से भी होता है। विधवा को भी कामवासना को सीमित करने की जरूरत है जो कि विवाह से ही संभव है इसलिये विधवा विवाह ब्रह्मचर्याणुव्रत का पूरक है। इसी प्रकार कोई पुरुष यदि किसी विधवा के साथ विवाह करके अपनी काम वासना को सीमित कर लेता है तो उसका यह विवाह भी ब्रह्मचर्याणुव्रत का सहायक बन जाता है। इस प्रकार दोनों के लिये विधवा विवाह ब्रह्मचर्याणुव्रत का अंग है और ब्रह्मचर्याणुव्रत तो जैन धर्म का मूलव्रत है इसलिये विधवा विवाह भी मूलव्रत में सहायक बना। इस प्रकार धार्मिक दृष्टिकोण से मैंने विधवा विवाह का जोरदार समर्थन किया हालांकि यह सब सव्यसाची के नाम से किया। ब्रह्मचारी जी को जब भी कोई चैलेन्ज देता था वे कह देते थे कि सव्यसाची से

मथुरा की प्राचीन कला में समन्वय भावना

कृष्णदत्त वाजपेयी

उत्तर प्रदेश के पश्चिमी भाग में मथुरा-आगरा के जिले तथा उनके समीपवर्ती क्षेत्र ब्रज के नाम से प्रसिद्ध हैं। ब्रज का प्राचीन नाम "सूरसेन जनपद" था, जिसकी राजधानी मथुरा थी। इसी मथुरा में भगवान् कृष्ण ने जन्म लेकर ब्रज में अनेक लीलाएं कीं। शैव तथा शाक्त मतों का विकास भी ब्रजभूमि में बहुत प्राचीन काल से आरम्भ हुआ। धीरे-धीरे मथुरा नगरी भागवत या वैष्णव धर्म का प्रमुख केन्द्र बन गई।

ईसा से कई शताब्दी पूर्व मथुरा में एक बड़े जैन स्तूप का निर्माण हुआ, जिसका नाम "वोद्" स्तूप था। जिस भूमि पर यह स्तूप बनाया गया वह अब कंकाली टीला कहलाता है। इस टीले के एक बड़े भाग की खुदाई पिछली शताब्दीके अंतिम भाग में हुई थी, जिसके फलस्वरूप एक हजार से ऊपर विविध मूर्तियां मिली थीं। हिन्दू और बौद्ध धर्म सम्बन्धी कुछ इनीगिनी मूर्तियों को छोड़ कर इस खुदाई में प्राप्त शेष सभी मूर्तियाँ जैन धर्म से सम्बन्धित थीं। उनके निर्माण का समय ई० पू० २०० से लेकर ११०० ई० तक ठहराया गया है। कंकाली टीला तथा ब्रज के अन्य स्थानों से प्राप्त बहुसंख्यक जैन मंदिरों एवं मूर्तियों के अवशेष इस बात के सूचक हैं कि यहां एक लंबे समय तक जैन धर्म का विकास होता रहा।

बौद्धों ने भी मथुरा में अपने कई केन्द्र बनाये, जिनमें तीन मुख्य थे। सबसे बड़ा केन्द्र उस स्थान के आस-पास था जहाँ आजकल कलक्टरी कचहरी है। दूसरा शहर के उत्तर में यमुना किनारे गोकर्णेश्वर और उसके उत्तर की भूमि पर था तथा तीसरा यमुना-तट पर, ध्रुवघाट के आसपास था। अनेक हिन्दू देवताओं की प्रतिमाओं की तरह भगवान बुद्ध की मूर्ति का निर्माण भी सबसे पहले मथुरा में ही माना जाता है। भारत के प्रमुख धर्म भागवत, शैव, जैन तथा बौद्ध ब्रज की पावन भूमि पर शताब्दियों तक साथ-साथ पल्लवित-पुष्पित होते रहे। उनके बीच ऐक्य के अनेक सूत्रों का प्रादुर्भाव ललित कलाओं के माध्यम से हुआ, जिससे समन्वय तथा सहिष्णुता की भावनाओं में वृद्धि हुई।

देशी और विदेशी कला का सम्मिश्रण

भारत का एक प्रमुख धार्मिक तथा कला-केन्द्र होने के नाते मथुरा को बड़ी ख्याति प्राप्त हुई। ईरान, यूनान और मध्य एशिया के साथ मथुरा का सांस्कृतिक सम्पर्क बहुत समय तक रहा। उत्तर-पश्चिम में गंधार प्रदेश की राजधानी तक्षशिला की तरह मथुरा नगर विभिन्न संस्कृतियों के पारस्परिक मिलन का एक बड़ा केन्द्र हो गया। इसके फलस्वरूप विदेशी कला की अनेक विशेषताओं को यहाँ के कलाकारों ने ग्रहण किया और उन्हें देशी तत्वों के साथ समन्वित करने में कुशलता का परिचय दिया। तत्कालीन एशिया तथा यूरोप की संस्कृति के अनेक उपादानों को आत्मसात् कर उन्हें भारतीय तत्वों के साथ एकरस कर दिया गया। शकों तथा कुषाणों के शासनकाल में मथुरा में जिस मूर्तिकला का बहुमुखी विकास हुआ उसमें समन्वय की यह भावना स्पष्ट रूप से देखने को मिलती है।

प्राचीन मथुरा में मंदिरों तथा मूर्तियों के निर्माण में प्रायः लाल बलुए पत्थर का प्रयोग होता था। यह पत्थर मथुरा के समीप तांतपुर, फतेहपुर सीकरी, रूपबास आदि स्थानों में मिलता है और मूर्ति गढ़ने के लिए उपयोगी होता है।

जो समाज दुखी का दुख नहीं समझता, आपत्ति विपत्ति में हिम्मत नहीं बंधाता, वह समाज मेरा नहीं, मुझ जैसे गरीबों का नहीं है।

× × × ×

मनुष्य मनुष्य में अनगिनत भेद होते हैं, परन्तु मनुष्यता एक चीज है जो कभी-कभी भेद की इन सारी दीवारों को लांघ जाती है।

× × × ×

अपने सम्मान की आप रक्षा न करने से अन्यत्र सम्मान प्राप्त नहीं किया जा सकता।

× × × ×

आदमी जिस जमीन पर गिरता है, उठने के लिए उसे उसीका सहारा लेना होता है।

—बाबूजी की डायरी से

मथुरा की प्राचीन कला में समन्वय भावना

कृष्णदत्त वाजपेयी

उत्तर प्रदेश के पश्चिमी भाग में मथुरा-आगरा के जिले तथा उनके समीपवर्ती क्षेत्र ब्रज के नाम से प्रसिद्ध हैं। ब्रज का प्राचीन नाम "सूरसेन जनपद" था, जिसकी राजधानी मथुरा थी। इसी मथुरा में भगवान् कृष्ण ने जन्म लेकर ब्रज में अनेक लीलाएं कीं। शैव तथा शाक्त मतों का विकास भी ब्रजभूमि में बहुत प्राचीन काल से आरम्भ हुआ। धीरे-धीरे मथुरा नगरी भागवत या वैष्णव धर्म का प्रमुख केन्द्र बन गई।

ईसा से कई शताब्दी पूर्व मथुरा में एक बड़े जैन स्तूप का निर्माण हुआ, जिसका नाम "वोदू" स्तूप था। जिस भूमि पर यह स्तूप बनाया गया वह अब कंकाली टीला कहलाता है। इस टीले के एक बड़े भाग की खुदाई पिछली शताब्दीके अंतिम भाग में हुई थी, जिसके फलस्वरूप एक हजार से ऊपर विविध मूर्तियां मिली थीं। हिन्दू और बौद्ध धर्म सम्बन्धी कुछ इनीगिनी मूर्तियों को छोड़ कर इस खुदाई में प्राप्त शेष सभी मूर्तियां जैन धर्म से सम्बन्धित थीं। उनके निर्माण का समय ई० पू० २०० से लेकर ११०० ई० तक ठहराया गया है। कंकाली टीला तथा ब्रज के अन्य स्थानों से प्राप्त बहुसंख्यक जैन मंदिरों एवं मूर्तियों के अवशेष इस बात के सूचक हैं कि यहां एक लंबे समय तक जैन धर्म का विकास होता रहा।

बौद्धों ने भी मथुरा में अपने कई केन्द्र बनाये, जिनमें तीन मुख्य थे। सबसे बड़ा केन्द्र उस स्थान के आस-पास था जहां आजकल कलक्टरी कचहरी है। दूसरा शहर के उत्तर में यमुना किनारे गोकर्णेश्वर और उसके उत्तर की भूमि पर था तथा तीसरा यमुना-तट पर, ध्रुवघाट के आसपास था। अनेक हिन्दू देवताओं की प्रतिमाओं की तरह भगवान बुद्ध की मूर्ति का निर्माण भी सबसे पहले मथुरा में ही माना जाता है। भारत के प्रमुख धर्म भागवत, शैव, जैन तथा बौद्ध-ब्रज की पावन भूमि पर शताब्दियों तक साथ-साथ पल्लवित-पुष्पित होते रहे। उनके बीच ऐक्य के अनेक सूत्रों का प्रादुर्भाव ललित कलाओं के माध्यम से हुआ, जिससे समन्वय तथा सहिष्णुता की भावनाओं में वृद्धि हुई।

देशी और विदेशी कला का सम्मिश्रण

भारत का एक प्रमुख धार्मिक तथा कला-केन्द्र होने के नाते मथुरा को बड़ी ख्याति प्राप्त हुई। ईरान, यूनान और मध्य एशिया के साथ मथुरा का सांस्कृतिक सम्पर्क बहुत समय तक रहा। उत्तर-पश्चिम में गंधार प्रदेश की राजधानी तक्षशिला की तरह मथुरा नगर विभिन्न संस्कृतियों के पारस्परिक मिलन का एक बड़ा केन्द्र हो गया। इसके फलस्वरूप विदेशी कला की अनेक विशेषताओं को यहां के कलाकारों ने ग्रहण किया और उन्हें देशी तत्वों के साथ समन्वित करने में कुशलता का परिचय दिया। तत्कालीन एशिया तथा यूरोप की संस्कृति के अनेक उपादानों को आत्मसात् कर उन्हें भारतीय तत्वों के साथ एकरस कर दिया गया। शकों तथा कुषाणों के शासनकाल में मथुरा में जिस मूर्तिकला का बहुमुखी विकास हुआ उसमें समन्वय की यह भावना स्पष्ट रूप से देखने को मिलती है।

प्राचीन मथुरा में मंदिरों तथा मूर्तियों के निर्माण में प्रायः लाल बलुए पत्थर का प्रयोग होता था। यह पत्थर मथुरा के समीप तांतपुर, फतेहपुर सीकरी, रूपवास आदि स्थानों में मिलता है और मूर्ति गढ़ने के लिए मुलायम होता है।

हिन्दू मूर्तिकला के विकास को जानने तथा विशेष रूप से पौराणिक देवी–देवताओं के मूर्ति–विज्ञान को समझने के लिए ब्रज की कला में बड़ी सामग्री उपलब्ध है। ब्रह्मा, शिव तथा विष्णु की अनेक मूर्तियां ब्रज में मिलती हैं, जिनका समय ई० प्रथम शती से लेकर बारहवीं शती तक है। विष्णु की कई गुप्तकालीन प्रतिमाएँ अत्यन्त कलापूर्ण हैं। कृष्ण–बलराम की भी कई प्राचीन मूर्तियां मिली हैं। बलराम की सबसे पुरानी मूर्ति ई० पूर्व दूसरी शती की हैं, जिसमें वे हल और मूसल धारण किये दिखाये गये हैं। अन्य हिन्दू देवता, जिनकी मूर्तियाँ मथुरा कला में मिली हैं, कार्तिकेय, गणेश, इन्द्र, अग्नि, सूर्य, कामदेव, हनुमान आदि हैं। देवियों में लक्ष्मी, सरस्वती, पार्वती, महिषमर्दिनी, सिंहवाहिनी, दुर्गा, सप्तमातृका, वसुधारा, गंगा–यमुना आदि के मूर्त रूप मिले हैं। शिव तथा पार्वती के समन्वित रूप अर्धनारीश्वर की भी कई प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं।

जैन मूर्तियाँ

ब्रज में प्राप्त जैन अवशेषों को तीन मुख्य भागों में बांटा जा सकता है : तीर्थंकर प्रतिमाएं, देवियों की मूर्तियां और आयागपट्ट। चौबीस तीर्थंकरों में से अधिकांश की मूर्तियां ब्रज की कला में उपलब्ध हैं। नेमिनाथ की यक्षिणी अंबिका तथा ऋषभनाथ की यक्षिणी चक्रेश्वरी की मूर्तियां उल्लेखनीय हैं। आयागपट्ट प्राय: वर्गाकार शिलापट्ट होते थे, जो पूजा में प्रयुक्त होते थे। उनपर तीर्थंकर, स्तूप, स्वस्तिक, नंद्यावर्त आदि पूजनीय चिन्ह उत्कीर्ण किये जाते थे। मथुरा संग्रहालय में एक सुन्दर आयागपट्ट है, जिसे उस पर लिखे हुए लेख के अनुसार लवणशोभिका नामक एक गणिका की पुत्री वसु ने बनवाया था। इस आयागपट्ट पर एक विशाल स्तूप का अंकन है तथा वेदिकाओं सहित तोरण द्वार बना है। मथुरा के कई उत्कृष्ट आयागपट्ट लखनऊ संग्रहालय में हैं।

बुद्ध–मूर्तियों का श्रीगणेश

भारत में भगवान बुद्ध का पूजन कुषाण काल से कई शताब्दी पहले आरम्भ हो चुका था, पर वह उनके चिन्हों की पूजा तक ही सीमित था। बुद्ध की मानव-मूर्ति का निर्माण नहीं हुआ था। शुंग काल के अंत तक हम यही स्थिति पाते हैं। सांची, भरहुत, बोधगया, सारनाथ आदि स्थानों से उस समय तक की जितनी बौद्ध कला-कृतियाँ प्राप्त हुई हैं उन पर बोधि-वृक्ष, धर्मचक्र, स्तूप, भिक्षापात्र आदि का ही पूजन दिखाया गया है। मूर्त रूप में भगवान् बुद्ध का पूजन कहीं नहीं हुआ। मथुरा से भी अनेक प्राचीन मूर्तियाँ मिली हैं, जिन पर इन चिन्हों का पूजन मिलता है। मथुरा में हिन्दुओं के बलराम आदि देवों तथा जैन तीर्थंकर की प्रतिमाओं का निर्माण प्रारंभ हो चुका था। बौद्ध धर्मानुयायियों में भी अपने देव को मानव रूप में देखने की उमंग उठनी स्वाभाविक ही थी। मथुरा के कुषाण-शासक मूर्ति-निर्माण के प्रेमी थे और उस समय यहाँ भक्ति-प्रधान महायान धर्म प्रबल हो उठा था। फलस्वरूप कुषाण-काल में मथुरा के शिल्पियों द्वारा भगवान् बुद्ध की मूर्ति का निर्माण हुआ। इधर गंधार प्रदेश में भी बौद्ध मूर्तियां बड़ी संख्या में बनायी जाने लगी। मथुरा से प्राप्त बुद्ध और बोधिसत्व की प्रारंभिक प्रतिमायें प्रायः विशाल-काय मिली हैं, जैसी कि यक्ष-मूर्तियाँ मिलती हैं। कला के विकास के साथ ही मूर्तियाँ अधिक सुन्दर बनने लगीं। मथुरा में गुप्तकाल में निर्मित बुद्ध की कुछ प्रतिमाओं में बाह्य सौन्दर्य के साथ आध्यात्मिक गांभीर्य का अद्भुत समन्वय देखने को मिलता है।

बुद्ध तथा बोधिसत्व की मूर्तियों के अतिरिक्त मथुरा-कला में बुद्ध के पूर्व जन्मों की घटनायें भी अनेक शिलापट्टों पर चित्रित मिलती हैं, जिन्हें जातक कहते हैं। बौद्ध धर्म के अनुसार बुद्ध होने के पहले भगवान् कई योनियों में विचरे थे। उन्हीं पूर्व जन्मों की कहानियां जातक-कथाएं हैं।

मथुरा में इस प्रकार के दृश्यों वाले कई पट्ट हैं। गौतम बुद्ध के वर्तमान जीवन की मुख्य घटनाएं—यथा, जन्म, ज्ञान-प्राप्ति, धर्म-चक्र-प्रवर्तन तथा परिनिर्वाण—भी मथुरा कला में अंकित मिलती हैं।

कला में नारी चित्रण

मथुरा के वेदिका स्तंभों पर विविध मनोरंजक चित्रण मिलते हैं : मुक्ताग्रथित केश-पाश, कर्ण-कुंडल, एकावली, गुच्छकहार, केयूर, कटक, मेखला, नूपुर आदि धारण किए हुए स्त्रियों को विविध आकर्षक मुद्राओं में दिखाया गया है। कहीं कोई युवती उद्यान में फूल चुन रही है, कोई कंदुक-क्रीड़ा में लग्न है, कोई अशोक वृक्ष को पैर से ताड़ित कर उसे पुष्पित कर रही है, या निर्झर में स्नान कर रही है अथवा स्नानोपरांत तन ढक रही है। किसी के हाथ में वीणा या वंशी है तो कोई प्रमदा नृत्य में तल्लीन है। कोई सुन्दरी स्नानागार से निकलती हुई अपने बाल निचोड़ रही है और नीचे हंस गिरती हुई पानी की बूंदों को मोती समझ कर अपनी चोंच खोले खड़ा है। किसी स्तम्भ पर वेणी-प्रसाधन का दृश्य है, किसी पर संगीतोत्सव का और किसी पर मधुपान का। इस प्रकार लोक-जीवन के कितने ही दृश्य इन स्तम्भों पर चित्रित हैं। कुछ पर भगवान् बुद्ध के पूर्व जन्मों से सम्बन्धित विभिन्न जातक कहानियाँ और कुछ पर महाभारत आदि के दृश्य भी हैं। इसके अतिरिक्त अनेक प्रकार के पशु-पक्षी, लता-फूल आदि भी इन स्तम्भों पर उत्कीर्ण किए गए हैं। इन वेदिका स्तम्भों को शृंगार और सौन्दर्य के जीते-जागते रूप कहना चाहिए, जिन पर कलाकारों ने प्रकृति तथा मानव जगत् की सौंदर्य राशि बिखेर दी है। भारतीय कला में इन वेदिका-स्तम्भों का विशेष स्थान माना जाता है।

यक्षादि मूर्तियाँ

मथुरा-कला में यक्ष, किन्नर, गन्धर्व, सुपर्ण तथा अप्सराओं की अनेक मूर्तियाँ मिलती हैं। ये सुख-समृद्धि तथा विलास के प्रतिनिधि हैं। संगीत, नृत्य और सुरापान इनके प्रिय विषय हैं। यक्षों की प्रतिमाएं मथुरा कला में सबसे अधिक मिलती हैं इनमें सबसे महत्वपूर्ण परखम नामक गांव से प्राप्त लगभग ई० पू० २०० में निर्मित विशालकाय यक्ष मूर्ति है। एक दूसरी बड़ी मूर्ति मथुरा के बड़ौद गांव से प्राप्त हुई है। ये मूर्तियाँ चारों ओर से को कर बनाई गई हैं, जिससे उनका दर्शन सभी दिशाओं से हो सके। कुषाण काल में ऐसी ही मूर्तियों समान विशालकाय बोधिसत्व प्रतिमाएँ निर्मि की गई।

यक्षों में कुबेर तथा उनकी स्त्री हारीती क स्थान बड़े महत्त्व का है। इनकी अनेक मूर्तिय मथुरा में प्राप्त हुई हैं। कुबेर यक्षों के अधिपति तथा धन के देवता माने गये हैं। बौद्ध, जैन तथ हिन्दू—इन तीनों धर्मों में इनकी पूजा मिलती है कुबेर जीवन के आनन्दमय रूप के द्योतक हैं औ इसी रूप में उनकी अधिकांश मूर्तियाँ मिलती हैं।

यक्षों की तरह प्राचीन ब्रज में नागों की पू बहुत प्रचलित थी। नाग और नागिनियों की ब संख्यक मूर्तियाँ ब्रज में मिली हैं। इनकी पू समृद्धि और संतान करने वाली मानी जाती थी।

ब्रज में शक और कुषाण शासकों की अने महत्त्वपूर्ण मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। इस प्रकार मूर्तियाँ भारत में अन्यत्र नहीं मिलीं। कुषाण रा विमकैड फिसेस, कनिष्क आदि शासकों तथा श रानी कंबोजिका की प्रतिमाएं अब तक प्राप्त चुकी हैं। शासक लंबा कोट तथा सलवार के ढंग पायजामा पहने दिखाये गए हैं। कम्बोजिका भारतीय साड़ी पहने दिखाया गया है। ईरानी त यूनानी पुरुष-प्रतिमाओं के कई सिर भी मथुरा-क में प्राप्त हुए हैं।

लोकजीवन का चित्रण

मथुरा-कला में विविध धर्मो के देवों की अ प्रकार की मूर्तियों के मिलने के अतिरिक्त ऐ

कृतियां बहुत मिली हैं जिनका सम्बन्ध मुख्यतया लोकजीवन से है। इनमें मिट्टी की मूर्तियों का स्थान बड़े महत्व का है। यद्यपि मिट्टी की कुछ मूर्तियां देवी-देवताओं विशेषतः हिन्दू देवताओं की भी मिली हैं, पर उनकी संख्या थोड़ी है। अधिकांश मिट्टी की मूर्तियाँ नागरिक तथा ग्रामीण लोक जीवन पर प्रकाश डालती हैं। मथुरा संग्रहालय से इनकी संख्या बहुत अधिक है। ये अधिकतर टीलों में से तथा यमुना नदी से प्राप्त हुई हैं। इनके मुख्य दो प्रकार हैं: एक तो वे जो मौर्यकाल में या उसके पूर्व मातृदेवियों आदि की मूर्तियों के रूप में हाथ से गढ़कर बनाई जाती थी और दूसरी सांचों के द्वारा बनी हुई। दूसरे प्रकार की मूर्तियां शुंगकाल से लेकर लगभग पूर्व मध्यकाल तक की पायी जाती हैं। ईसवी पूर्व २०० से लेकर ६०० ई० तक की मृण्मूर्तियों की संख्या सबसे अधिक है। इनमें से कुछ तो लड़कों के खेलने के लिए बनती थीं, जैसे हाथी, घोड़े, गाड़ी आदि खिलौने। शेष मूर्तियाँ वे हैं जिनमें जीवन के विविध अंगों का वैसा ही प्रदर्शन है जैसा कि हम पाषाण पर पाते हैं।

मथुरा की प्रचुर कलाराशि में वस्तुतः भारतीय संस्कृति के अध्ययन की अत्यन्त मूल्यवान् सामग्री उपलब्ध है। यहां के कुशल कलाकार अनेक देशी एवं विदेशी तत्वों तथा भारतीय धर्म-दर्शन की विविध धाराओं का समन्वित रूप प्रस्तुत करने में सफल हुए।

—:o:—

आँखों देखी भी असंभव घटना किसी से मत कहो, उस पर सहज विश्वास नहीं किया जाता।

× × × ×

जो सचमुच ही क्षमा चाहता हो उसे तो क्षमा करना ही चाहिये।

× × × ×

दुख चाहे कितना ही बड़ा क्यों न हो, उसे सहने में ही तो मनुष्यत्व है।

—बाबूजी की डायरी से

भट्टारकयुगीन जैन संस्कृत साहित्य की प्रवृत्तियाँ

प्रो० डॉ० नेमीचन्द्र शास्त्री, आरा

कवि या लेखक अपने चतुर्दिक फैले हुए विश्व को केवल वाह्य नेत्रों से ही नहीं देखता, वल्कि अन्तश्चक्षु द्वारा उसके सौन्दर्य एवं वास्तविक रूप का अवलोकन करता है और जगत के अनुभव के साथ अपना व्यक्तित्व मिलाकर जड़चेतनात्मक विश्व का निरीक्षण करता है। वह जीवन के सर्वोत्तम क्षणों का साक्षात्कार कर अपने सौन्दर्य बोध को वाह्य जगत की अनेक रूपता और अन्तर्जगत की रहस्यमयी विविधता अभिव्यक्त करता है। यही कारण है कि साहित्य किसी भी जाति या सम्प्रदाय का दर्पण होता है और उसमें लोकोत्तर आल्हाद उत्पन्न करने की क्षमता विद्यमान रहती है।

जैन साहित्य में संस्कृत-काव्य का सूत्रपात आचार्य समन्त भद्र के स्तोत्र-साहित्य से होता है, पर विकास की चरम सीमा भट्टारक युग में पाई जाती है। विविध विषयक विपुल रचनाएं इस युग में लिखी गई हैं। रचना परिमाण की दृष्टि से यह युग पर्याप्त महत्त्वपूर्ण है। यह सत्य है कि इस युग में कुछ ही भट्टारक प्रतिभाशाली हुए हैं। पर ग्रन्थ रचना और ग्रन्थ संरक्षण के क्षेत्र में प्रत्येक भट्टारक ने योगदान दिया है। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषा का प्रौढ़ अध्ययन भले ही भट्टारकों ने न किया हो पर पुरानी परम्परा के अनुकरण पर उक्तभाषाओं में पर्याप्त साहित्य का प्रणयन किया है। दर्शन, सिद्धांत, ज्योतिष, आयुर्वेद, काव्य, अलंकार प्रभृति विषयों की अभिज्ञता भट्टारकों में वर्त्तमान थी। ये केवल मठाधीश के रूप में ही अपनी विद्यावुद्धि का चमत्कार जन-साधारण के समक्ष उपस्थित नहीं करते थे वल्कि राजा महा-राजाओं और सेठ साहूकारों को प्रेरित कर स्वयं साहित्य-सृजन के अतिरिक्त अन्य विद्वानों और कवियों से भी ग्रन्थ रचना कराते थे। धर्मप्रचार करना, जन साधारण को धर्म के प्रति श्रद्धालु वनाना, स्वयं ग्रन्थ लिखना, अन्य विद्वानों से लिखवाना एवं सरस्वती का संरक्षण करना भट्टारकों का जीवन लक्ष्य था। कई भट्टारकों के कार्यकाल में आर्य ग्रन्थों की सहस्रों पाण्डुलिपियां तैयार कराई गयी हैं। व्रत विधान, पूजा-पाठ एवं जीवनोपयोगी औषधि तन्त्रादि विषयक साहित्य का प्रणयन इस युग में निश्चयतः सर्वाधिक हुआ है।

भट्टारक सम्प्रदाय के उल्लेख नवीं शती से ही उपलब्ध होने लगते हैं पर इस युग का आरम्भ १३ वीं शती से होता है। अतः १३वीं शती से १८ वीं शती तक का समय भट्टारक युग के अन्तर्गत परिगणित है। इन छह सौ वर्षों के काल में साहित्य और संस्कृति के प्रचार का ध्वज भट्टारक वर्ग के ही हाथ में था। आरम्भ में यह वर्ग निश्चयतः निस्पृही, त्यागी, ज्ञानी और जितेन्द्रिय था। हाँ, उत्तरकाल में भट्टारकों में ऐसे दोष अवश्य दृष्टिगत होते हैं जिन दोषों के कारण यह वर्ग अपने कर्तव्य से च्युत तो हुआ ही, साथ ही साहित्य के स्तर और धर्म के स्वरूप विवेचन में भी अनेक कमियाँ उत्पन्न हो गई।

दूसरी ओर इस काल खण्ड में श्वेताम्बर सम्प्रदाय में मुनि और यतियों का वर्ग भी साहित्य सृजन में प्रवृत्त था। इस वर्ग के लेखक और कवियों ने भी भट्टारक युगीन प्रवृत्तियों का अनुसरण किया। साथ ही कुछ ऐसी साहित्यिक विधाएं भी प्रादुर्भूत हुईं जिनका साहित्यिक मूल्य पूर्वयुगीन साहित्य

की अपेक्षा कुछ भिन्न था। यों तो भट्टारकों के समान ही श्वेताम्वर सम्प्रदाय के कवि और लेखक भी नवीन भावों और सन्दर्भो के स्थान पर समस्या पूर्त्यात्मक या हेमचन्द्राचार्य जैसे प्रतिभाशाली आचार्यो के पदचिन्हों का अनुसरण करते रहे। संक्षेप में उक्त छह सौ वर्षो के कालखण्ड को जैन संस्कृत साहित्य का पुनरावृत्तकाल भी कहा जा सकता है। हम इस कालखण्ड को भट्टारक युग के नाम से इस लिए अभिहित करेंगे कि इस युग में भट्टारकों ने ही प्रमुख रूप से वहुसंख्यक रचनाएं निवद्ध की हैं। इस युग की प्रमुख साहित्यिक प्रवृत्तियां निम्नांकित हैं :—

१, पौराणिक चरितकाव्य
२. लघु प्रवन्ध काव्य
३. सन्देश या दूतकाव्य
४. प्रवन्धात्मक प्रशस्तिमूलक ऐतिहासिक साहित्य
५. सन्धानकाव्य
६. सूक्ति साहित्य
७. स्तोत्र एवं पूजा-भक्ति साहित्य
८. नाटक
९. चरित्र या आचारमूलक धार्मिक साहित्य
१०. समस्यापूर्त्यात्मक साहित्य
११. न्याय, दर्शन, और आध्यात्मिक साहित्य
१२. संहिता विषयक विविध साहित्य
१३. टीका-टिप्पणी विषयक विविध साहित्य
१४. कथा और पुराण विषयक साहित्य
१५. कोष, छन्द एवं अलंकार विषयक साहित्य

१–पौराणिक चरित काव्य विषयक प्रवृत्ति:-

जैन साहित्य में चरित नामान्त काव्यों का प्रारम्भ जटासिंह नन्दि के वराङ्ग चरित से होता है। इस साहित्यिक प्रवृत्ति में एक साथ चरित, दर्शन, आचार, रोमान्स, प्रेम, धर्मतत्त्व और भक्तितत्त्व का समवाय पाया जाता है, भट्टारक युगीन चरित काव्यों में चरित-विकास की अपेक्षा पौराणिकता ही प्रमुख है। इस कोटि के काव्यों में पौराणिक कथाओं को ग्रहण कर वर्णन विस्तार और चमत्कार के विना ही कथा के विकासक्रम में चरितों को निवद्ध करने का प्रयास किया है। परिणाम यह निकला है कि इस युग के पौराणिक चरित काव्य सम्प्रदाय विशेष की सीमा में आवद्ध होकर धर्मकथा–काव्य वन गये हैं। काव्य चमत्कार एवं रसोद्बोधन के लिये जिस सौन्दर्यानुभूति की आवश्यकता कवि को रहती है और जिस सौन्दर्यानुभूति की अभिव्यञ्जना से कवि पौराणिक इतिवृत्त को काव्य वनाता है उसका प्रायः अभाव ही इस युग के काव्य में रह गया। संक्षेप में इस प्रवृत्ति की प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं:-

(१) कथावस्तु में गहनता की अपेक्षा व्यास का समावेश और काव्य के स्थान पर पौराणिक आयाम का विस्तार

(२) सूक्ष्म भावों की अभिव्यंजना के स्थान पर उपदेश स्थापना का प्रयास। काव्य के प्रणेताओं ने कवि-धर्म का निर्वाह न कर कथावाचक के धर्म का निर्वाह किया है। फलतः काव्य–तत्त्व के स्थान पर उपदेश तत्व ही प्रमुख है।

(३) घटनाओं, पात्रों या परिवेश की सन्दर्भ पुरस्सर व्याख्या के स्थान पर केवल वातावरण के सौरभ का ही नियोजन महाकाव्यों के वस्तु वर्णनों में इस प्रकार का व्यापक चमत्कार निहित रहता है, जिससे पाठक घटनाओं और पात्रों के साथ साधारणीकरण को प्राप्त हो जाता है। भाव किसी पात्रविशेष के न होकर जन–साधारण के वन जाते हैं, पर भट्टारक–युग के चरित–काव्यों में साधारणी-करण की प्रक्रिया यथोचित रूप में घटित नहीं हो सकी है। इसका प्रधान कारण यही है कि इस युग के कवियों ने काव्य का वातावरण न उपस्थित कर सीधे कथा का ही आरम्भ कर दिया है। फलतः काव्य रस के स्थान पर पाठक को पौराणिक कथा का रस ही उपलब्ध हो पाता है।

(४) कथावस्तु के प्रवाह एवं उसकी मार्मिकता के निर्वाह के हेतु कथानक गठन में सघनता के स्थान

पर शिथिलता ही समाविष्ट है। कथानक में जिस प्रकार की शृंखला और क्रम बद्धता चरित-काव्य के लिए अपेक्षित है, उसका समावेश इस युग में न हो सका।

(५) आत्मोत्थान या चरितोत्थान के मूल सिद्धान्तों को काव्य शैली में रखने का प्रयास। वर्णनों और कार्य व्यापारों के वैविध्य के अभावों में उक्त सिद्धांत काव्यरूप में उपस्थित न होकर धर्मशास्त्र के रूप में ही प्रस्तुत हुए हैं। प्रेम, विवाह, मिलन, राज्याभिषेक, सैनिक-प्रस्थान, नगरावरोध, युद्ध, दीक्षा, तपश्चरण आदि का भावुकतापूर्ण वर्णन न होकर केवल कथात्मक वर्णन हुआ है। कर्मफल की अनिवार्यता दिखलाने के लिए जन्म-जन्मान्तरों की कथाएं भी चलते रूप में ही आयोजित हैं।

(६) चरित्र काव्यों का उद्देश्य रत्नत्रय की साधना दिखलाना है। आरम्भ से ही इस विद्या के लेखकों ने उक्त उद्देश्य को चरितार्थ किया है। भट्टारक युग के कवि भी चरित का उद्घाटन रत्नत्रय के परिपार्श्व में करते रहे हैं। अन्तर इतना ही रहा है कि चन्द्रप्रभचरित, प्रद्युम्नचरित आदि ग्रन्थ में लक्षणा और व्यञ्जना के आधार पर ही रत्नत्रय की व्याख्या प्रस्तुत की थी; किन्तु भट्टारक युग की रचनाओं में अभिधा शक्ति की ही मुख्यता है। पुरातन कथानकों की पुनरावृत्ति होने और काव्यगुणों के क्षीण होने के कारण उद्देश्य की व्यञ्जना काव्यरूप में न हो सकी।

(७) सन्दर्भ और आख्यानों में बहुत कम नवीनता का समावेश होने से शैली में चमत्कार और आकर्षण की कमी है; इतने पर भी कथारस की सरसता ने चरितकाव्य में प्रवाह गुण की पूर्ण रक्षा की है। पाठक एक साथ उदात्तचरित, भक्ति और चारित्र प्राप्त कर लेता है।

(८) दार्शनिक सिद्धान्तों की व्याख्या और विश्लेषण भी सामान्यरूप में निहित हैं, अतः कथानक की रोचकता अक्षुण्ण है।

पौराणिक चरित काव्यों की प्रवृत्ति का आरम्भ भट्टारक युग में कवि वर्धमान के वरांगचरित से होता है। आरम्भिक और भट्टारक युगीन इस प्रवृत्ति का अन्तर इस काव्य में सुस्पष्ट रूप में मिलता है। चरित विश्लेषण की शैली का रूपान्तर यहीं से भट्टारक के वरांगचरित से होता है। इनका समय ई० सन् १३६४ है।[1] और ये दशभक्त्यादि महाशास्त्र के रचयिता वर्धमान मुनि से भिन्न हैं। इस महाकाव्य में १३ सर्ग और ११४५ पद्य हैं।[2] कवि ने अनुष्टुप् श्लोकों में १३८३ श्लोक संख्या बताई है। इस युग के चरित काव्यों में यह उत्तम रचना है। इस प्रवृत्ति के अनुसरणकर्ता कई भट्टारक हैं।

विक्रम की पन्द्रहवीं शती में भट्टारक सकलकीर्ति ने शान्तिनाथ चरित, वर्द्धमानचरित, मल्लिनाथ चरित, धन्यकुमार चरित,[3] सुदर्शन चरित,[4] जम्बू स्वामी चरित और श्रीपाल चरित की रचना की है। ये सभी पौराणिक चरित काव्य हैं। इनमें न तो वस्तुव्यापार वर्णनों का विस्तार है और न मर्मस्पर्शी सन्दर्भों की योजना ही। कथा जीवन-व्यापी है अवश्य, पर उसका प्रवाह उस पहाड़ी नदी की तेजधारा के समान है, जो शीघ्र ही स्थल को प्राप्त कर लेती है। इसी शताब्दी में ब्रह्मजिनदास ने रामचरित और हनुमच्चरित की रचना की है। सोलहवीं शती में ब्रह्म नेमिदत्त ने सुदर्शन चरित,

१—जैन शिला लेख संग्रह प्रथम भाग, माणिकचन्द दि० जैन ग्रन्थमाला, बम्बई सन् १९२८ ई० पृ० २२३

२—वरांग चरित, सोलापुर, सन् १९२७ ई०

३—४ हनुमान चरित और सुदर्शनचरित – रावजी सखाराम दोशी, सोलापुर द्वारा क्रमशः वी० नि० स. २४४५ और वी० नि० स० २४५३ में प्रकाशित।

श्रीपाल चरित, धन्यकुमार चरित और प्रीतिंकर महामुनि चरित का प्रणयन किया। इसी सदी में शुभचन्द्र द्वितीय द्वारा चन्द्रप्रभ चरित, पद्मनाभ चरित, जीवन्धर चरित, श्रेणिक चरित और करकण्डुचरित की रचना सम्पन्न हुई है। अन्य चरित काव्यों में भावदेव सूरि का पार्श्व नाथ चरित, (ई० सन् १३५५), जयसिंह का कुमारपाल भूपाल चरित (सन् १३६५ ई०), पद्मनन्दि का वर्द्धमान चरित (ई० सन् की चौदहवीं शती), मुनि भद्र का शान्तिनाथ चरित (ई० सन् की चौदहवीं शती), पूर्ण भद्र के धन्यशालिभद्र चरित और कृतपुण्य चरित (ई० सन् तेरहवीं शती), धर्मधर का नागकुमार चरित (सन् १४५४ ई०), दोड्डय्य कवि का भुजवलि चरित (सोलहवीं शती), जयतिलक के सुलसा चरित और हरि विक्रम चरित (सन् १३४९–१४१३ ई०), वादिचन्द्र का सुभग सुलोचना चरित (सन् १५५५ ई० के लगभग) जगन्नाथ का सुषेण चरित (सन् १६४३ ई०), पदमसुन्दर के पार्श्वनाथ चरित और जम्बू चरित (विक्रम १७ वीं शती) एवं सोमकीर्ति के प्रद्युम्न चरित और यशोधर चरित प्रसिद्ध पौराणिक चरित काव्य हैं। पौराणिक चरित काव्य की प्रवृत्ति का विस्तार भट्टारक युग में खूब हुआ है। यशोधर के आख्यान को लेकर सुन्दर चरित काव्य लिखे गये हैं। अहिंसा धर्म और कर्मसंस्कारों की प्रवलता का विश्लेषण करने के लिए हनुमान, सुदर्शन, श्रीपाल और यशोधर की कथा वस्तु में काट-छांट कर पौराणिक चरित काव्यों का प्रणयन इस युग की एक प्रमुख साहित्यिक प्रवृत्ति है।

२. लघुप्रबन्ध काव्य—

जिन काव्यों में जीवन व्यापी कथा के होने पर भी कथा विभाजन आठ या छः सर्गों से कम में हो, वे लघु प्रबन्ध काव्य कहलाते हैं। खण्ड या जीवन के किसी अंश विशेष की कथावस्तु के न होने से इन्हें खण्ड काव्य नहीं माना जा सकता है। लघु प्रबन्ध काव्यों में सर्व श्रेष्ठ उदाहरण वादिराज का यशोधर चरित है। हमारे अभीष्ट युग में चारित्र सुन्दर गणि का महिपाल चरित्र (१५ वीं शती), भट्टारक रत्नचन्द्र के सुभौम चक्रवर्ती चरित,[1] और भद्रबाहु चरित[2] (वि० सं० १६८३), माणिक्य देव के मनोहर चरित, मुनिचरित और यशोधर चरित (वि० सं० १३२७–१३७५) एवं मण्डलाचार्य धर्मचन्द्र कवि का गौतम चरित[3] (वि० सं० १७२६) अच्छे लघु प्रबन्ध काव्य हैं। इस प्रवृत्ति की प्रमुख विशेपता यह है कि सानुवन्ध कथावस्तु के रहने पर भी कल्पनाशक्ति का विराट् रूप एवं विभिन्न मानसिक दशाएं प्रस्फुटित नहीं हो पाती हैं। लघु प्रबन्ध काव्य और पौराणिक चरित काव्यों में अन्तर इतना ही है कि पौराणिक चरित काव्यों में यत्र-तत्र अलकार, प्रकृति चित्रण, कथा विस्तार एव पौराणिक मान्यताओं का निर्देश उपलब्ध होता है, पर लघु प्रबन्ध काव्यों में केवल कथा का विस्तार ही उपलब्ध होता है अलंकार और वस्तुवर्णन अत्यन्त संक्षेप में अंकित रहते है। कवियों ने प्रायः अनुष्टुप् छन्द का ही व्यवहार किया है। कथा का विभाजन छः सर्ग या इससे कम ही सर्गों में पाया जाता है।

३. दूत या सन्देश काव्य—

विप्रलम्भ शृंगार या विरह की पृष्ठ भूमि को लेकर इस कोटि के काव्य लिखे गये हैं। जैन कवियों ने दूतकाव्यों में शृंगार रस के वातावरण को नयी काव्य परम्परा द्वारा नयी दिशा और नया मोड़ दिया है। त्याग और संयम को जीवन का पाथेय समझने वाले कवियों ने अपनी संस्कृति के उच्चतत्वों तथा पार्श्वनाथ और नेमिनाथ तीर्थंकर

१—हिन्दी अनुवाद सहित दि० जैन पुस्तकालय सूरत से १९५३ में प्रकाशित
२—हिन्दी अनुवाद सहित दि० जैन पुस्तकालय सूरत से वी० नि० सं० २४३९ में प्रकाशित
३—उपर्युक्त संस्था द्वारा वी० नि० सं० २४५३ में प्रकाशित

के जीवनवृत्तों को इन काव्यों में अंकित किया है। विक्रम का नेमिदूत [४] (ई० सन् १३ वीं शती का अन्तिम चरण), मेरुतुंग का जैनमेघदूत [५] (सन् १३४६-१४१४ ई०), चारित्र सुन्दर गणि का शील-दूत [६] (१५ वीं शती), वादिचन्द्र सूरि का पवन दूत [७] (१७ वीं शती), विनयविजय गणि का इन्दुदूत [८] (१८ वीं शती), मेघविजय का मेघदूत समस्या लेख [९] (१८ वीं शती) एवं अज्ञात नाम वाले कवि का चेतोदूत [१०] प्राप्य हैं। विमलकीर्ति गणि का चन्द्रदूत भी उक्त विधा सम्बन्धी रचना है। इन समस्त सन्देश काव्यों में साहित्यिक सौन्दर्य के साथ जीवनव्यापी सत्यों की अभिव्यञ्जना हुई है। शील, संयम, तप, त्याग, आत्मशुद्धि और साधना का समन्वय इन काव्यों में पाया जाता है। घोर शृंगार की धारा को वैराग्य की ओर मोड़ देना साधारण प्रतिभा का कार्य नहीं है।

४. प्रबन्धात्मक प्रशस्तिमूलक ऐतिहासिक साहित्य—

ऐतिहासिक तथ्यों का आधार ग्रहण कर काव्य लिखने की परिपाटी संस्कृतकाव्यपरम्पराओं में कोई नवीन नहीं है। भट्टारक और कवियों ने अपने आश्रयदाता अथवा अनन्य भक्तों की कीर्ति को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए उनके तथ्य पूर्ण जीवनवृत्तों को रोचक भाषा में निबद्ध किया है, कवि सर्वानन्द ने अपने जगडू चरित में [११] बताया है कि वि० सं० १३१२-१३१५ में गुजरात में वीसलदेव, मालवा में मदनवर्मा और काशी में प्रतापसिंह का शासन था। इस समय गुजरात में भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा। राजा वीसलदेव के पास अन्न का अभाव था; अतः प्रजा भूख से तड़पने लगी। जगडूशाह ने अन्नदान देकर राजा और प्रजा की रक्षा की। नयचन्द्र के हम्मीरकाव्य में हम्मीर और अलाउद्दीन खिलजी के बीच सम्पन्न हुए युद्ध की ऐतिहासिक घटना का वर्णन है। भट्टारकों द्वारा विरचित ग्रन्थो की प्रशस्तियाँ भी ऐतिहासिक दृष्टि से कम महत्व-पूर्ण नहीं हैं। प्रायः प्रत्येक काव्य या पुराण के अन्त में अंकित प्रशस्ति में आचार्यो और पट्टों का इतिहास पाया जाता है। भट्टारकों द्वारा निबद्ध पट्टावलियां और गुर्वावलियां भी ऐतिहासिक तथ्यों की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। अर्ध ऐतिहासिक तथ्यों से युक्त देवदत्त दीक्षित कृत स्वर्णाचल महात्म्य (वि० सं० १८४५) का अन्तिम अध्याय भी भट्टारक परम्परा का इतिहास अवगत करने के लिए उपयोगी है।

५. सन्धान काव्य

संस्कृत भाषा में एक ही वस्तु के अनेक पर्याय-वाची शब्द और एक ही शब्द के अनेक अर्थ पाये जाते हैं। सन्धानात्मक काव्यों के साथ अनेका-र्थकस्तोत्र भी इस युग में रचे गये। कहा जाता है कि एक बार सम्राट् अकबर की विद्वत्सभा में जैनों के 'एगस्स सुत्तस्स अनन्तो अत्थो' वाक्य का किसी ने उपहास किया। यह बात महोपाध्याय समयसुन्दर को बुरी लगी और उन्होंने उक्त सूत्रवाक्य की सार्थकता बतलाने के लिए 'राजानो ददते सौख्यम्,

४—जैन प्रेस, कोटा, वि० सं० २००५ में प्रकाशित
५—जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, वि० सं० १९८० में प्रकाशित
६—यशोविजय ग्रन्थमाला, वाराणसी
७—हिन्दी जैन साहित्य प्रसारक कार्यालय, बम्बई सन् १९१४
८—जैन साहित्य वर्धक सभा, शिरपुर (पश्चिम खानदेश) वि० सं० १९४६
९—जैन आत्मानंद सभा, भावनगर, वि० सं० १९७०
१०—उपर्युक्त संस्था वि० सं० १९८० में प्रकाशित
११—आत्मानन्द जैन सभा, अम्बाला सिटी, १९२५ ई०

के १०२२४०७ अर्थ किये। वि० सं० १६४९ श्रावण शुक्ला त्रयोदशी को जब सम्राट ने काश्मीर का प्रथम प्रयाण किया तो उसने प्रथम शिविर राजा श्री रामदास की वाटिका में स्थापित किया। यहां सन्ध्या के समय विद्वत्सभा एकत्र हुई जिसमें सम्राट् अकबर, शाहजादा सलीम, अनेक सामन्त, कवि, वैयाकरण एवं तार्किक विद्वान् सम्मिलित थे। कविवर समयसुन्दर ने अपना यह ग्रंथ पढ़कर सुनाया जिसे सुनकर सभी सभासद आश्चर्य चकित हुए। कवि ने उक्त अर्थों में से असम्भव या योजनाविरुद्ध पड़ने वाले अर्थों को निकालकर इस ग्रंथ का नाम 'अष्टलक्षी' रखा। मेघविजयगणि का 'सप्तसन्धान' काव्य भी इस युग की अमूल्य रचना है। भट्टारकों ने संधानात्मक-काव्य प्रवृत्ति का अनुसरण नहीं किया है।

६—सूक्ति-साहित्य-प्रवृत्ति—उपदेश, नीति और प्रेम सम्बन्धी काव्यों को सूक्ति या सुभाषित काव्य कहा जाता है। लोकवृत्त अथवा नैतिक शिक्षा का निरूपण काव्य की अनुरंजनकारिणी भाषा में सम्पन्न होने से यह काव्यविधा भी सहृदयों को अपनी ओर आकृष्ट करती है। शर्करामिश्रित औषधि समान काव्य चमत्कार उत्पन्न करना सूक्ति काव्य का लक्ष्य होता है। यों तो सूक्ति काव्य के अनेक भेद-प्रभेद किये जा सकते हैं, पर प्रधान रूप से धार्मिक सूक्तिकाव्य, नैतिक सूक्तिकाव्य और काम या प्रेम परक सूक्तिकाव्य ये तीन उसके उपभेद हैं। इन काव्यों में लोकवृत्तानुकूल उपदेश एवं ऐहिक जीवन को सुखी बनाने वाले सिद्धांत काव्य चमत्कारों के साथ निबद्ध रहते हैं। सूक्तियों में इसकी समस्त विशेषताएं और चमत्कृति के समस्त उपकरण समाहित पाये जाते हैं। शब्द-चमत्कार और अर्थचमत्कार का जो समवाय सूक्तियों में उपलब्ध रहता है वह प्रबन्ध में नहीं। हमारे इस आलोच्ययुग में अर्हद्दास का भव्यजनकण्ठाभरण (१३ वीं शती), सोमप्रभ की सूक्तिमुक्तावलि काव्य (१३ वीं शती), पद्मानन्द का वैराग्यशतक, विमल कवि का प्रश्नोत्तर माला काव्य और दिवाकर मुनि का शृंगारवैराग्यतरंगिणी काव्य (१५ वीं शती) रुचिकर रचनाएं हैं। भट्टारक सकलभूषण विरचित उपदेशरत्नमाला में तप, दान, पूजा स्वाध्याय आदि का सुन्दर चित्रण किया गया है। उनका समय वि० सं० की १५ वीं शती है। जयसेन सूरि कृत धर्मरत्नाकर भी सूक्तिकाव्य है। कुलभद्र का सार—समुच्चय, धर्मनीति प्रधान सूक्तिकाव्य है। कवि ने नीति और ज्ञान की बातें मर्मस्पर्शी शैली में व्यक्त की हैं:—

नास्तिकामसमो व्याधिर्नास्ति मोह समो रिपुः ।
नास्ति क्रोधसमो वन्हिर्नास्ति ज्ञानसमं सुखम् ॥२७॥
विषयोरगदष्टस्य कषाय विषमोहितः ।
संयमो हि महामन्त्रस्त्राता सर्वत्रदेहिनाम् ॥३०॥
धर्मामृतं सदा पेयं दुःखातङ्कविनाशनम् ।
यस्मिन् पीते परं सौख्यं जीवानां जायते सदा ॥६३॥

७. स्तोत्र और पूजा-भक्ति साहित्य—

भट्टारक-युग में इस श्रेणी के साहित्य का सर्वाधिक सृजन हुआ है। इस प्रकार के साहित्य में परमात्मा, परमेष्ठी या अन्य देवी देवताओं का स्तवन, पूजन या भक्ति आख्यान वर्णित रहते हैं। जैन दर्शन में भक्ति का रूप दास्य, सख्य और माधुर्य भाव से भिन्न है; क्योंकि कोई भी साधक अपनी चिकनी चुपड़ी प्रशंसात्मक बातों द्वारा वीतरागी प्रभु को प्रसन्न कर उनकी प्रसन्नता से अपने किसी लौकिक या अलौकिक कार्य को सिद्ध करने का उद्देश्य नहीं रखता है और न परम वीतरागी देव के साथ यह घटित ही हो सकता है। अतः वीतरागी आत्माओं की उपासना या भक्ति का आलम्बन पाकर मानव का चंचल चित्त क्षणभर के लिए स्थिर हो जाता है और आराध्य के गुणों का स्मरण कर भक्त अपने भीतर भी उन्हीं गुणों को विकसित करने की प्रेरणा प्राप्त करता है। इस युग में महाकवि आशाधर का जिनयज्ञकल्प (१३ वीं शती), ब्रह्मजिनदास की जम्बूद्वीप पूजन, अनन्तव्रत

पूजन, मेघमालोद्यापन पूजन, (१५ वीं शती); ब्रह्म-श्रुतसागर का श्रुतस्कन्ध पूजन (१६ वीं शती) गुणचन्द्र का अनन्तजिनव्रत पूजन (१७ वीं शती) शिवराज का षट्चतुर्विंशतिजिनार्चन (१७वीं शती) चन्द्रकीर्ति के पंचमेरु पूजन, अनन्तव्रत पूजन और नन्दीश्वर विधान (१७वीं शती) विद्याभूषण के ऋषि मण्डल पूजन, वृहत् कलिकुण्ड पूजन और सिद्धचक्र मन्त्रोद्धार स्तवन पूजन (१७वीं शती) बुधवीर के धर्मचक्र पूजन और वृहत् चक्र पूजन (१६वीं शती) विश्वसेन का षण्णवति क्षेत्रपाल पूजन (१६वी शती) सकल कीर्ति के पंचपरमेष्ठि पूजन, अष्टान्हिका पूजन, षोड़शकारण पूजन, और गणधरवलय पूजन (१६वीं शती) एवं अक्षयराम का चतुर्दशीव्रतोद्यापन पूजन (१६वीं शती) उल्लेख्य है। स्तोत्रों में पद्मनन्दि के वीतराग स्तोत्र, शान्तिजिन स्तोत्र, रावण पार्श्वनाथ स्तोत्र और जीरावली पार्श्वनाथ स्तवन (१५वीं शती) ब्रह्म-श्रुतसागर के पार्श्वनाथ स्तवन और शान्तिनाथ स्तवन (१६वीं शती) जिनप्रभसूरि के सिद्धान्तागम स्तव, पार्श्व स्तव, गोतम स्तव, वीर स्तव, चतुर्विंशतिजिन स्तव, निर्वाणकल्याण स्तव, ऋषभजिन स्तवन, अजितजिन स्तवन, नेमि स्तवन, श्री मन्त्र स्तवन, श्री शारदा स्तवन और शान्तिजिन स्तवन (१४वीं शती) एवं सकलकीर्ति का परमात्मराज स्तोत्र (१५वीं शती) का प्रमुख है। व्रतोद्यापन एवं व्रत विधान सम्बन्धी रचनाएं भी इस युग में निर्मित हुई हैं।

८. नाटक—

जैन संस्कृत-साहित्य में रूपकों का विकास नवमी शती में हुआ है। नाटकों के विकास की दृष्टि से सन् ६००–१३०० ई० तक स्वर्णकाल माना जा सकता है। भट्टारक-युग में लिखे गये नाटकों में वादिचन्द्र का ज्ञानसूर्योदय (विक्रम संवत् १६४८, माघ शुक्ला अष्टमी) और यशचन्द्र का मुद्रित कुमुदचन्द्र प्रसिद्ध हैं। यह सत्य है कि इन नाटकों में नवीन शैली या नवीन भावों का समावेश नहीं हो सका है।

९. चरित्र या आचारमूलक धार्मिक साहित्य-प्रवृत्ति —

इस प्रवृत्ति के साहित्य-निर्माताओं में भट्टारक सकलकीर्ति, शुभचन्द्र, सकलभूषण, ज्ञानभूषण, धर्मकीर्ति, मेधावी, सोमकीर्ति, रायमल्ल, नेमिदत्त, जिनदास और ज्ञानकीर्ति आदि प्रमुख हैं। इस प्रवृत्ति में श्रावकाचार या चारित्रोत्थानक तत्त्वज्ञान सम्बन्धी रचनाएं आती है। 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' के अनुकरण पर अधिकांश रचनाएँ निर्मित हुई हैं। पण्डित आशाधर जैसे स्वतन्त्र चिन्तक मनीषी भी इस प्रवृत्ति के अनुसरणकर्ता, हैं। इनके सागारधर्मामृत और अनगारधर्मामृत इस युग की प्रतिनिधि रचनाएं है। अन्य रचनाओं में सकलकीर्ति के धर्म-प्रश्नोत्तर श्रावकाचार और मूलाचार प्रदीप (१५वीं शती) ब्रह्मनेमिदत्त का धर्मोपदेश पीयूषवर्षी श्रावकाचार (१६वीं शती) पद्मनन्दी का श्रावकाचारसारोद्धार (१४वी शती) अभ्रदेव का व्रतोद्योतन श्रावकाचार (अनुमानतः १४-१५वीं शती) नरेन्द्रसेन का सिद्धान्तसार (अनुमानतः १३–१४वीं शती) गोविन्द का पुरुषार्थानुशासन (१५वीं शती) शुभचन्द्र का अध्यात्म तरङ्गिणी ग्रंथ (१६वीं शती) ज्ञानभूषण के सिद्धान्तसार, परमार्थोपदेश और आत्मसम्बोधन (१३वीं शती) एवं सोमसेन का त्रिवर्णाचार उल्लेख्य हैं।

१०. समस्यापूर्त्यात्मक साहित्य—

भट्टारक-युग में श्वेताम्बर कवियों ने समस्यापूर्ति को लेकर कई सुन्दर काव्य ग्रंथों का प्रणयन किया है। कवि मेघविजयगणि ने नैषध महाकाव्य के प्रथम सर्ग के सम्पूर्ण श्लोकों की समस्यापूर्ति कर शान्तिनाथ चरित की रचना की है। इस काव्य के प्रथम चरण में नैषध के प्रथम चरण को, द्वितीय चरण को, तृतीय को तृतीय चरण में और चतुर्थ में चतुर्थ चरण को नियोजित कर

सम्पूर्ण प्रथम सर्ग को समाविष्ट कर दिया है। इस काव्य में छह सर्ग हैं। इसी कवि ने माघ काव्य के प्रत्येक श्लोक का अन्तिम चरण लेकर और तीन पाद स्वयं नये रचकर विजयदेवसूरि के चरित को निबद्ध कर देवानन्द काव्य का प्रणयन किया है। कवि ने माघ के चरणों का नया ही अर्थ निकाला है। माघ में जहां जहां श्लोक के प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ चरण में यमक है वहां-वहां समस्यापूर्तिकार ने यमक रखकर बड़ी चतुराई से अर्थानुसन्धान किया है। भट्टारक कवियों ने भक्तामर स्तोत्र और कल्याण मन्दिर स्तोत्र की समस्या पूर्तियां की हैं।

११. न्याय दर्शन विषयक प्रवृत्ति—

भट्टारक युग में प्रमेयरत्नमाला और तत्वार्थ-सूत्र पर वृत्तियां लिखने के साथ-साथ न्याय और दर्शन विषयक एकाध स्वतन्त्र रचना भी लिखी गई है। भट्टारक धर्मभूषणयति का न्यायदीपिका ग्रन्थ बहुत ही उपयोगी और सारगर्भित है। भट्टारक प्रभाचन्द्र का तत्वार्थरत्नप्रभाकर (१५ वीं शती) तत्वार्थबोध के लिये प्रवेशद्वार है। भट्टारक शुभचन्द्र का संशयवदनविदारण और काणूरगच्छीय शुभचन्द्र का षड्दर्शन प्रमाणप्रमेयानुप्रवेश जैन न्याय की सुन्दर रचनाएं हैं।

१२. संहिता विषयक विविध साहित्य—

जैन साहित्य में दो प्रकार के जीवन मूल्य दृष्टिगोचर होते हैं। प्रथम वे जीवन मूल्य हैं जो भौतिक, शारीरिक सम्पत्ति तथा सुखभोग के त्याग से सम्बन्ध रखते हैं और दूसरे ऐहिक सुखभोग के साधनों को प्राप्त करने के लिये तन्त्र-मन्त्र ज्योतिष एवं आराधना के उपयोग पर जोर देते हैं। अनेकान्तात्मक जैन दृष्टि उक्त दोनों प्रकार के जीवन-मूल्यों का समन्वय प्रस्तुत कर अन्तिम लक्ष्य त्याग या निवृत्ति को ही महत्व देती है। विजयप के भाई नेमिचन्द्र का प्रतिष्ठा तिलक (आनन्द संवत्सर वि० सं० १३ वीं सदी) विजयप के पुत्र समन्तभद्र का केवलज्ञान प्रश्नचूड़ामणि (१३ वीं शती) अकलंक देव की अकलंक संहिता (अनुमानतः १५ वीं शती) माघनन्दि की माघनन्दि संहिता (अनुमानतः १३-१४ वीं शती) सिंहनन्दि का व्रत तिथि निर्णय (१७ वीं शती) चन्द्रसेन मुनि का केवलज्ञान होरा (अनुमानतः १६ वीं शती) भद्र-बाहु संहिता (१५ वीं शती) मल्लिषेण के काम चाण्डाली कल्प, ज्वालामालिनी कल्प और भैरव पद्मावती कल्प (१३ वीं शती) धर्मदेव का शांतिक विधि ग्रन्थ (१५ वीं शती) ऐय्यपार्य का जिनेन्द्र कल्याणाभ्युदय (वि० सं० १३७६ सिद्धार्थ संवत्सर) इस प्रवृत्ति की प्रतिनिधि रचनाएं हैं। यन्त्र-मन्त्रों के कई संग्रह भी इस युग के भट्टारकों ने लिखे हैं। जैन सिद्धान्त भवन आरा में यन्त्र-मन्त्र संग्रह मन्त्र अनुष्ठान एवं मन्त्र समुच्चय प्रभृति कई कई रचनाएं उपलब्ध हैं। इन रचनाओं के रचयिताओं के सम्बन्ध में इतिवृत उपलब्ध नहीं है।

१३. पुराण और कथा साहित्य—

इस प्रवृत्ति का पूर्ण विकास भट्टारक-युग में हुआ है। श्रुत सागर सूरि की षोडशकारण कथा, मुक्तावलि कथा, मेरुपंक्तिकथा, लक्षण पंक्ति कथा, मेघमाला, सप्त-परमस्थान, रविवार चन्दनषष्ठि, आकाशपंचमी, पुष्पांजलि, निःशल्य सप्तमी, श्रावण द्वादशी, रत्नत्रय आदि २३ व्रत-कथाएं इनके व्रतकथाकोष में निबद्ध हैं। श्रुतसागर उत्तमश्रेणी के कथाकार हैं। इनका समय वि० सं० १५००-१५७५ के मध्य है। कवि जिनदास का व्रत कथा कोष (१५-१६ वीं शती) ब्रह्मनेमिदत्त का आराधना कथाकोष (१६ वीं शती) और ललित कीर्ति को नन्दीश्वरव्रत कथा, अनन्तव्रत कथा, सुगन्ध दशमी कथा, रत्नत्रय व्रत, कथा आकाश पंचमी कथा, धनकलश कथा, निर्दोष सप्तमी कथा, लब्धि विधान कथा, पुरन्दर कथा, कर्मनिर्जरा कथा, मुकुट सप्तमी कथा, चतुर्दशी कथा, दश लक्षण व्रत कथा, पुष्पांजलिव्रत कथा, अक्षय निधि दशमी कथा निःशल्याष्टमी व्रत विधान कथा, सप्त परमस्थान-कथा तथा षट्रस कथाएं उल्लेखनीय हैं। इनका

समय अनुमानतः विक्रम की १६ वीं शती है। गुणचन्द्र की मौनव्रत कथा (१७वीं शती) सोमकीर्ति की सप्तव्यसन कथा समुच्चय (१६वीं शती) भी इस युग की प्रतिनिधि रचनाएं हैं। पुराणों में केशव सेन का कर्णामृत पुराण (माघ वि० सं० १६८८), सकलकीर्ति का पार्श्वनाथ पुराण (१६वीं शती) ब्रह्म कामराज का जयपुराण (वि० सं०) १५६०, शुभचन्द्र का पाण्डव पुराण (वि० सं० १६०८) ब्रह्म कृष्णदास का मुनिसुव्रत पुराण (१७वीं सदी) शिवराम का अष्टमजिनपुराण संग्रह (१७वीं सदी) चन्द्रकीर्त्ति के पार्श्वपुराण और ऋषभपुराण, श्रीभूषण के पाण्डव पुराण शांतिनाथ पुराण हरिवंश पुराण (१७वीं सदी) धर्मकीर्ति का पद्मपुराण एवं अरुणमणि का अजितनाथपुराण (१८वीं शती), सुन्दर पौराणिक कृतियां हैं।

१४. टीका टिप्पण विषयक साहित्य-भट्टारक युग में टीका टिप्पण विषयक साहित्य प्रवृत्ति का पर्याप्त पल्लवन हुआ है। सहस्रकीर्ति की त्रिलोकसार टीका (१५वीं शती) आशाधर की भूपालचतुर्विंशति टीका और मूलराधना दर्पण (१३वीं शती) सोमदेव की त्रिभगीसार टीका (१७वीं शती) नेमिचन्द्र की द्विसन्धान काव्य की पदकौमुदी टीका (१७वीं सदी) शुभचन्द्र की स्वामि कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा संस्कृत टीका (वि० सं० १६१३) और पार्श्वनाथ काव्य पंजिका, योगदेव की सुखबोध वृत्ति (१७वीं सदी) ज्ञानभूषण और सुमतिर्कीति की कर्मकाण्ड टीका (१५ वीं शती) ज्ञान भूषण की नेमि निर्वाण पंजिका (१६वीं शती) कमल कर्त्ति की तत्त्वसार टीका (१६वीं सदी) श्रीदेव की यशोधर काव्य पंजिका (१५वीं सदी) काष्ठान्वयी प्रभाचन्द्र की तत्त्वार्थरत्न प्रभाकर टीका (१५वीं सदी) पण्डित प्रभाचन्द्र की पंचास्तिकाय प्रदीप और द्रव्यसंग्रह-वृत्ति एवं तोड़ानगर के राजा मानसिंह के मंत्री वादिराज की वाग्भटालंकार अवचूरि कविचन्द्रिका (वि० सं० १४२६) प्रसिद्ध टीका रचनाएं हैं। श्रुतसागर सूरि ने इस युग में यशस्तिलक चन्द्रिका, तत्त्वार्थवृत्ति, जिनसहस्रनाम टीका, महाभिषेक टीका, षट्पाहुड टीका, सिद्धभक्ति टीका, सिद्धचक्र ष्ट टीका और तत्वत्रय प्रकाशिका ये आठ प्रसिद्ध टीकाएं लिखी हैं। धर्मशर्माभ्युदय और चन्द्रप्रभचरित पर टिप्पण भी इस युग में लिखे गये हैं।

१५. कोष, छन्द और अलङ्कार—

अलंकार, छन्द और कोष आदि विषयों पर इस युग में अल्प रचनाएं ही प्रस्तुत हुई हैं। श्रीधर का विश्वलोचन कोष (१६ वीं शती) कोष विषयक उत्तम रचना है। यह अपने विषय में अमर कोष और मेदिनी से भी उत्तम एवं बहुमूल्य कृति मानी जा सकती है। अलंकार ग्रन्थ में विजयकीर्ति के शिष्य विजयवर्णी की श्रृंगारार्णव चन्द्रिका (अनुमानतः १३-१४ वीं शती) अमृतनन्दि का अलंकार सग्रह (१३ वीं शती), अजितसेन का अलंकार चिन्तामणि ग्रन्थ (१४ वीं शती), अभिनव वाग्भट का काव्यनुशासन (१४ वीं शती) एवं भावदेव का काव्यालंकार सार (१५ वीं शती) श्रेष्ठ अलंकार रचनाएं हैं। छन्द विषय पर वाग्भट की एक रचना छन्दोऽनुशासन नाम की उपलब्ध है। यह रचना काव्यानुशासन के पूर्व में ही लिखी गई है। इस छन्द ग्रन्थ में संज्ञाध्याय, समवृत्ताख्य, अर्धसमवृत्ताख्य, मात्रासमक और मात्राछन्दक ये पांच अध्याय हैं। मंगलाचरण में लिखा है:—

विभुं नाभेयमानम्य छन्दसामनुशासनम्।
श्री मन्नेमिकारस्यात्मजोऽहं वच्मि वाग्भटः।

इस प्रकार भट्टारक-युग में विभिन्न साहित्यिक प्रवृत्तियों का विकास होता रहा। ग्रन्थ बाहुल्य की दृष्टि से तो इस युग का महत्व है ही, पर विविध विषयक रचनाओं की दृष्टि से भी इस युग का कम महत्व नहीं।

—:o:—

अष्टादश पुराणेषु, व्यासस्य वचनद्वयम् ।
परोपकारः पुण्याय, पापाय परपीड़नम् ॥

अर्थ—महर्षि व्यास ने अपने अठारह पुराणों में केवल दो ही बात कही हैं। परोपकार से पुण्य होता है और दूसरों को कष्ट देने से पाप होता है।

पंचकल्याणक तिथियां और नक्षत्र

श्री मिलापचंद्रजी कटारिया, केकड़ी

तीर्थंकरों की पंचकल्याणकतिथियां लम्बे अरसे से गड़बड़ में चली आ रही हैं। इन तिथियों की उपलब्धि के खास स्थान पूजापाठ के ग्रंथ हैं। किन्तु संस्कृत में लिखी चौबीसतीर्थंकरों की—पूजायें तो प्रचलित हैं नहीं, हिन्दी पद्यों में रची भाषापूजाओं का ही इस समय अधिक प्रचार है। इन भाषापूजाओं में उल्लिखित कई पंचकल्याणक-तिथियें आपस में एक दूसरे से मिलती नहीं हैं। यह तो निश्चित है कि भाषापूजाओं में दी हुई तिथियों के आधार कोई प्राचीन संस्कृतप्राकृत के ग्रंथ रहे हैं। इसलिए हम भी प्रकृतविषय में भाषापूजाओं को एक तरफ रखकर इस सम्बन्ध के अन्य प्राचीन संस्कृतप्राकृत के ग्रंथों पर विचार करना उचित समझते हैं।

हमारी जानकारी में इन तिथियों के प्राचीन उल्लेख त्रिलोकप्रज्ञप्ति, हरिवंशपुराण और उत्तरपुराण इन ३ ग्रंथों में मिलते हैं। किन्तु तीनों ही ग्रंथों की कई तिथियें भी आपस में मिलती नहीं हैं। इनमें से त्रिलोकप्रज्ञप्ति और हरिवंशपुराण में सिर्फ चार ही कल्याणकों की तिथियां दी हैं, गर्भकल्याणक की तिथियों का कोई उल्लेख ही नहीं है। न जाने इसका क्या कारण है। पर हरिवंशपुराण में ऐसा भी है कि-उसके ६०वें पर्व में जहांकि तीर्थंकरों के अनेक ज्ञातव्य विषयों का विवरण दिया है वहां तो गर्भकल्याणक की तिथियों का कोई उल्लेख नहीं है। किन्तु इसी ग्रंथ में जहां ऋषभदेव, [illegible], नेमिनाथ और महावीर इन चार तीर्थंकरों का चरित्र लिखा है वहां इनकी गर्भ की तिथियें भी लिख दी हैं। इससे ऐसा ज्ञात होता है कि ६०वें पर्वका यह कथन जिनसेन ने [illegible] से सर्व का त्यों का त्यों उद्धृत किया है। [illegible] उसमें गर्भकल्याणक की तिथियें न होने से इसमें भी नहीं हैं। इस संभावना की पुष्टि इससे भी होती है कि इसही हरिवंशपुराण पर्व १६ में भगवान मुनिसुव्रत की कल्याणक तिथियें से नहीं मिलती है। यथा—

पर्व ६० में—

दीक्षातिथि-वैशाखसुद १ (श्लोक [illegible])
ज्ञानतिथि-फागुणवुद ६ (श्लोक [illegible])
मोक्षतिथि-फागुणवुद १२ (श्लोक [illegible])
जन्मतिथि-आसोजसुद १२ (श्लोक [illegible])

पर्व १६ में—

[illegible] सुद ३ (श्लोक [illegible])
[illegible] ५ (श्लोक [illegible])
[illegible] १३ (श्लोक [illegible])
[illegible] १२ (श्लोक [illegible])

सही मानी जावे और कौन नहीं। इसके लिये और नहीं तो भी यह तो अवश्य विचारणीय है कि उस तिथि के साथ जो नक्षत्र लिखा है वह उस तिथि से मेल खाता है या नहीं। अगर मेल नहीं खाता है तो अवश्य ही या तो वह तिथि गलत है या वह नक्षत्र गलत है। इसमें कोई संदेह नहीं। क्योंकि ज्योतिषशास्त्र का यह नियम है कि हर मास की पूर्णिमा या उसके अगले पिछले दिन में उस मास का नाम वाला नक्षत्र जरूर आता है। जैसे चैत्र मास की पूर्णिमा या उसके अगले पिछले दिन में चित्रा नक्षत्र आवेगा। वैशाख की पूर्णिमा को विशाखा नक्षत्र आवेगा। ज्येष्ठा की पूर्णिमा को ज्येष्ठा नक्षत्र आवेगा। इत्यादि वास्तव में मासों के नाम ही मासांत में आने वाले नक्षत्रों के कारण पड़े हैं। जिस पूर्णिमा को जो नक्षत्र है उसके आगे के नक्षत्र जिस क्रम से उनके नाम हैं। उसी क्रम से अगली प्रत्येक तिथि में प्रायः प्रत्येक नक्षत्र नंबर वार आता जावेगा। जैसे चैत्र सुद १५ को चित्रा नक्षत्र है तो वैशाख वुद १० को या उसके अगले पिछले दिन में चित्रा के बाद का १०वां नक्षत्र शतभिषा आवेगा। इस हिसाब से सदा ही तिथियों के साथ किन्हीं निश्चित नक्षत्रों का सम्बन्ध पाया जा सकेगा। हां कभी कभी एक या दो नक्षत्रों का आगा पीछा भी हो सकता है। इसके लिए कोई सा भी नया पुराना किसी भी वर्ष का पंचांग उठाकर देख लीजिए। इस गणना के अनुसार हम जान सकते हैं कि अमुक मास की अमुक तिथि को अमुक अमुक नक्षत्र ही हो सकते हैं। दूसरे नहीं। चूंकि हमारे यहां कल्याणकों की हर तिथि के साथ नक्षत्र भी दिया गया है तो इस कसौटी को लेकर हम क्यों न जांच करलें कि किस ग्रंथ की तिथियां उनके साथ में दिये नक्षत्रों से मिलती हैं और किसकी नहीं। उक्त ग्रंथों में सबसे प्राचीन त्रिलोक प्रज्ञप्ति ग्रंथ माना जाता है। अब पहिले इसी की जांच करते हैं। इस ग्रंथ में सब कल्याणकों की तिथियां और उनके साथ नक्षत्र दिये गये हैं। गर्भ कल्याणक के तिथि नक्षत्र नहीं लिखे हैं। इस ग्रंथ में लिखी तिथियों के साथ जब हम इसमें लिखे नक्षत्रों का मिलान करते हैं तो अनेक जगह तिथियों के साथ नक्षत्र नहीं मिलते हैं। नमूने के तौर पर नीचे की तालिका देखिये—

जन्म कल्याणक—

संभवनाथ-मगसर सुद १५ ज्येष्ठा। सुमतिनाथ श्रावण सुद ११ मघा।

दीक्षा कल्याणक—

धर्मनाथ-भादवासुद १३ पुष्य। पुष्पदंत-पोस सुद ११ अनुराधा।

ज्ञानकल्याणक—

सुमतिनाथ-पोस सुद १५ हस्त। विमलनाथ-पोस सुद १० उत्तराषाढ।

मोक्ष कल्याणक—

विमलनाथ-असाढ सुद ८ पूर्वभाद्रपद। मल्लि-नाथ-फागण वुद ५ भरणी।

त्रिलोक प्रज्ञप्ति में इनके अलावा और भी तिथि नक्षत्र अनमेल हैं। जिन्हें लेख विस्तार के भय से यहां हम लिखना नहीं चाहते। उक्त तिथियों के साथ उक्त नक्षत्रों की संगति किसी भी तरह नहीं बैठ सकती है। अतः त्रिलोक प्रज्ञप्ति की ये तिथियां और नक्षत्र परस्पर अवश्य ही गलत हैं इसमें कोई सन्देह नहीं है। त्रिलोक प्रज्ञप्ति की तिथियों के गलत होने में एक दूसरा हेतु भी है। वह यह है कि त्रिलोक प्रज्ञप्ति में श्री मल्लिनाथ स्वामी का दीक्षा लिये बाद छद्मस्थ काल ६ दिन का बताया है। अर्थात् दीक्षा लिये बाद ६ दिन में उनको केवल ज्ञान हुआ है। किन्तु इसी त्रिलोक प्रज्ञप्ति में मल्लिनाथ की दीक्षातिथि मगसरसुद ११ की और केवल ज्ञान तिथि फागण वुद बारस की लिखी है। दोनों में अन्तर ढाई मास [illegible] है जबकि अन्तर पड़ना चाहिए ६ दि[illegible] इसी तरह उसमें लिखा अन्य भी कुछ [illegible] उनकी तिथियों के स[illegible]

खाता है। त्रिलोक प्रज्ञप्ति जैसे प्राचीन ग्रंथ का इस प्रकार का पूर्वापर विरोध कथन अवश्य ही चिन्तनीय है।

इसी तरह हरिवंश पुराण में उल्लिखित तिथिनक्षत्र भी कहीं कहीं अनमेल रहते हैं। जिनका विवरण लेखवृद्धि के भय से यहां छोड़ा जाता है। हरिवंशपुराण में जन्म और मोक्ष इन दो कल्याणकों के ही नक्षत्र दिये हैं। शेष कल्याणकों के नक्षत्र शायद इसलिये नहीं दिये कि उनके नक्षत्र भी वे ही हैं जो जन्म के हैं। कल्याणकों के नक्षत्रों का अनायास ही कुछ ऐसा योग बनगया है कि प्रायः प्रत्येक तीर्थंकर के पांचों कल्याणक एक ही नक्षत्र में होगये हैं। जैसे ऋषभदेव के सभी कल्याणक उत्तराषाढ में हुये हैं। अजितनाथ के सभी रोहिणी में हुये हैं इत्यादि। कहीं कुछ मामूली फर्क भी है जिसका विवरण लेख के अन्त में दिये नक्शे से ज्ञात कर सकते हैं।

जब हम आचार्य गुणभद्रकृत उत्तर पुराण में लिखे तिथि नक्षत्रों में मेल की जांच करते हैं तो उन्हें हम एक दम सही पाते हैं। यहां तिथियों के साथ जो नक्षत्र दिये गये हैं वे ज्योतिष सिद्धांत की गणना के अनुसार बराबर बैठते चले जाते हैं। कहीं कुछ भी अन्तर नहीं पड़ता है। ये मास पक्ष-तिथियां इतनी प्रामाणिक हैं कि पं० आशाधर जी ने इन्हीं को अपनाई है। आशाधर जी ने एक कल्याणमाला नामक पुस्तिका निर्माण की है जो सिर्फ ३५ श्लोक प्रमाण है। वह माणिक चन्द्र ग्रन्थमाला के 'सिद्धांतसारादिसंग्रह' के साथ छपी है। उसका अन्तिम पद्य यह है—

> इतीमां वृषनादीनां पुण्यत्कल्याणमालिकाम्
> करोति कंठे भूपां यः सः स्याद्वादाशाधरेड़ितः ॥

इससे निश्चय ही यह पं० आशाधर की कृति है। इसमें आशाधर ने पंचकल्याणकों की जो मास पक्ष-तिथियां दी हैं वे सब उत्तरपुराण के अनुसार हैं। और खूबी यह की है कि वर्णन मास-पक्ष तिथियों के अनुकूल [illegible] है [illegible] के द्वारा भी कोई [illegible] रहती है और न किसी [illegible] की गुंजायश ही।

हां कहीं २ [illegible] पुराण की तिथियों में भी कुछ [illegible] होती है। उस पर भी [illegible] समुचित है। दोनों का [illegible] प्रकार है—

	मुद्रित उत्तर-पुराण में—	[illegible] में—
[illegible] का मोक्ष	फागुण सुद ७ ज्येष्ठा	फागुण सुद [illegible]
[illegible] का गर्भ	वैशाख सुद १३ रेवती	वैशाख सुद १३
[illegible] का गर्भ	फागुण सुद ३ रेवती	फागुण सुद ३
मल्लिनाथ का ज्ञान	मगसर सुद ११	पोस सुद २
पार्श्वनाथ का ज्ञान	चैत सुद १४ विशाखा	चैत सुद ४

इनमें से जो तिथियें कल्याण माला की हैं वे सही हैं। क्योंकि जो नक्षत्र ऊपर उत्तरपुराण में दिये हैं उनकी संगति कल्याणमाला की तिथियों के साथ बैठती है, मुद्रित उत्तर पुराण की उक्त तिथियों के साथ नहीं। अतः उत्तरपुराण की उक्त तिथियों के प्रतिपादक श्लोक लिपिकारों के प्रमाद से अशुद्ध लिखने में आगये हैं। ऐसा ज्ञात होता है। इसमें से शुक्लकृष्णपक्ष का अंतर तो हो जाना आसान ही है। और जो मल्लिनाथ के ज्ञानकल्याण की तिथि में अंतर है वहां भी पोस सुद २ की तिथि ही सही है क्योंकि उत्तरपुराण में मल्लिनाथ का अवस्था का दीक्षा दिन मगसर सुद ११

है। अतः दीक्षा से ९ दिन बाद पोस बुद २ को इन्हें केवल ज्ञान हुआ यह सिद्ध होता है देखो उत्तरपुराण पर्व ६९ श्लोक ५१-५२। इनका हिन्दी अनुवादकों ने संगति पूर्वक ठीक अर्थ नहीं देकर-जन्म की तरह ही अर्थात् मगसर सुदी ११ अर्थ कर दिया है किन्तु दोनों श्लोक युग्म हैं उनका अर्थ यह होना चाहिए कि जन्म की तरह के ही दिनादि (मगसर सुदी ११) में छाद्मस्थ्य काल के ९ दिन बीतने पर अर्थात् पोष बुदी २ को केवल ज्ञान हुआ।

रहा पार्श्वनाथ के ज्ञान कल्याण की तिथि में अन्तर सो यहां भी मुद्रित उत्तरपुराण के पर्व ७३ श्लोक १४४ में उल्लिखित चैत बुदी १४ की तिथि वाला "चतुर्दश्यां" पाठ अशुद्ध है इस तिथि के साथ विशाखा नक्षत्र का मेल बैठता नहीं है इस वास्ते पाठ भी "चतुर्थ्यां च" चाहिए! चैत बुदी ४ को विशाखा नक्षत्र की संगति भी भली प्रकार बैठ जाती है। पार्श्वनाथ के सभी कल्याणक विशाखा नक्षत्र में हुए हैं अतः इनके ज्ञान कल्याणक में भी जो विशाखा बताया है। वह ठीक है उसका मेल चौथ के साथ ही बैठता है १४ के साथ नहीं अतः चैत बुदी १४ ही ज्ञानकल्याणक की तिथि है।

इस प्रकार कल्याण माला की तिथियों और उत्तर पुराण की तिथियों में जो मामूली फर्क था वह भी रफा होकर दोनों ग्रंथों की सब ही तिथियां बराबर बराबर मिल जाती हैं। मुद्रित उत्तर पुराण में सम्भवनाथ की दीक्षा की तिथि और मुनिसुव्रत की जन्म तिथि का उल्लेख नहीं है ऐसा हस्तलिखित प्रतियों में उक्त तिथि सूचक पाठ छूट जाने से हुआ है। वर्ना गुणभद्र स्वामी ने जब सब की ही कल्याणक तिथियें दी हैं तो वे इन दो तिथियों को न दें ऐसा कैसे हो सकता है। अथवा इसका कारण यह भी कि सम्भवनाथ का मृगशिर नक्षत्र तो लिखित [illegible] तिथि [illegible] मगसर सुदी १५ [illegible] तिथि दिया [illegible] [illegible]

तिथि नहीं लिखी है। अब रही मुनिसुव्रत की जन्म-तिथि की बात सो ३, ५, १८, २४ इन चार तीर्थंकरों को छोड़कर बाकी के तीर्थंकरों की अपनी अपनी तप की जो तिथि हैं वही जन्म की तिथि है इस तरह मुनिसुव्रत की जो तप की तिथि वैशाख बुदी १० दी है वही जन्म तिथि हो जाती है इसलिए उसे अलग से नहीं दिया है।

इस प्रकार अशुद्ध पाठों की वजह से जो उत्तर-पुराण की कुछ तिथियों में गड़बड़ पड़ी हुई थी वे शुद्ध तो करली गई किन्तु फिर भी एक चीज का हल होना बाकी रह गया कि उत्तर पुराण की कुछ एक तिथियों की संगति उनके साथ में लिखे नक्षत्रों से नहीं बैठती है। नीचे हम उसी पर विवेचन करते हैं :—

(१) अरनाथ के सब कल्याणक रेवती नक्षत्र में हुए हैं किन्तु ज्ञानपीठ से प्रकाशित उत्तर पुराण पर्व ६५ श्लोक २१—"मार्गशीर्ष सिते पक्षे पुष्य-योगे चतुर्दशे, अर्थात् अरनाथ का जन्म मगसर सुदी १४ पुष्य नक्षत्र में लिखा है यहां तिथि के साथ नक्षत्र का मेल बैठता नहीं है अतः यह पाठ अशुद्ध है शुद्ध पाठ 'पुष्ययोगे' के स्थान में पूष-योगे' होना चाहिए तब उसका अर्थ रेवती नक्षत्र होता है क्योंकि 'रेवती' का स्वामी देव 'पूषा' माना गया है। पुष्पदंत कृत अपभ्रंश महापुराण भाग २ पृ० ३२८ पर भी "पूस जोइ चउ दह मह वासरि" पाठ दिया है और टिप्पणी में भी "पूस जोइ का अर्थ "रेवती" नक्षत्र ही किया है।

यहां यह बात ध्यान में रखने की है कि उत्तर पुराण में सभी तीर्थंकरों के जन्म कल्याण के नक्षत्र बताते हुए नक्षत्र का नाम न लिखकर उसके स्वामी देव का नाम ही लिखा गया है।

(२) नमिनाथ के सब कल्याणक अश्विनी नक्षत्र में हुए हैं किन्तु मुद्रित उत्तर पुराण में इनका जन्म पर्व ६९ श्लोक ३० में 'आषाढ़ स्वाति योगे' अर्थात् आषाढ़ वद १० स्वाति नक्षत्र में लिखा है

यहां भी तिथि के साथ नक्षत्र का मेल बनता नहीं है अतः यह पाठ अशुद्ध है। शुद्ध पाठ 'आपाढेऽश्विनी योगे' होना चाहिए अर्थात् 'स्वाति, की जगह अश्विनी होना चाहिए। आपाढ वद १० के साथ अश्विनी की संगति बैठ जाती है। यहां यह शंका नहीं करनी चाहिए कि ग्रंथकार ने जन्म नक्षत्रों में तो नक्षत्र के स्वामी देव के नाम दिये हैं फिर यहां अश्विनी नक्षत्र नाम कैसे दिया इसका उत्तर यह है कि अश्विनी नक्षत्र के स्वामी देव का नाम भी अश्विनी ही है।

(३) विमलनाथ का मोक्ष पर्व ५९ श्लो० ५५ में "आपाढस्योत्तरापाढे" अर्थात् अपाढ बुदी ८ उत्तरापाढ में लिखा है किन्तु शुद्ध पाठ "आपाढ-स्योत्तरा भाद्रे होना चाहिए क्योंकि आषाढ बुदी ८ को उत्तर भाद्रपद ही पड़ता है और यही नक्षत्र विमलनाथ के अन्य सब कल्याणकों में है।

(४) वासुपूज्य के सब कल्याणक शतभिषा नक्षत्र में हुए हैं किन्तु मुद्रित उत्तर पुराण में इनकी दीक्षा तिथि फागुण बुदी १४ ज्ञानतिथि माघसुदी २ और मोक्ष तिथि भादवा सुदी १५ की लिखी है और तीनों का नक्षत्र विशाखा लिखा है लेकिन इन तीनों तिथियों के साथ विशाखा की संगति किसी तरह बैठती नहीं है, 'शतभिपा' के साथ बैठता है यहां भी पाठ की अशुद्धि ही जान पड़ती है। तीनों पाठों में विशाखा वाक्य अशुद्ध ही जान पड़ती है तीनों पाठों में विशाखा, वाक्य अशुद्ध है उसके स्थान में शुद्ध वाक्य 'भिपका' अथवा 'भिपाका' होना चाहिए। शतभिपा के आगे का प्रत्यय लगाने से शत 'भिपका' या शत 'भिपाका' रूप बनता है—जिसका संक्षिप्त नाम भिपका या भिपाका होता है जैसे सत्यभामा का भामा, यह संक्षिप्त नाम होता है। ग्रंथकार गुणभद्र ने भी यहां "शतभिपाका" इस वाक्य का संक्षिप्त नाम "भिपाका" का प्रयोग किया है। प्रतिलिपि करने वालों ने भिपाका प्रयोग को अशुद्ध समझकर उसे विशाखा बना डाला है।

इस तरह की गलतियां अन्य कई हस्तलिखित ग्रंथों में भी देखने को मिलती हैं। और शुद्ध पाठ को अशुद्ध बना दिया जाता है। इसका एक उदाहरण इस लेख में ऊपर भी बताया गया है कि "आषाढेऽश्विनी योगे" यह शुद्ध पाठ था जिसका "आपाढे स्वातियोगे" ऐसा अशुद्ध बना दिया गया है। यह हम इस लेख में ऊपर लिख चुके हैं कि प्रायः प्रत्येक तीर्थंकर के अपने-अपने पांचों कल्याणक अधिकतर एक ही नक्षत्र में हुए हैं। इस अपेक्षा से भी वासुपूज्य के गर्भजन्म की तरह शेष तीन कल्याणक भी शतभिपा में ही होने चाहिए।

एक ही नक्षत्र में प्रत्येक तीर्थंकर के प्रायः पांचकल्याणक होने के सम्बन्ध में इतना और समझ लेना चाहिए कि उत्तरपुराण में कहीं २ उस नक्षत्र के स्थान में उसके पास वाले नक्षत्र का नाम दिया है। जैसे श्रेयांसनाथ के चार कल्याणक श्रवण नक्षत्र में और मोक्ष उनका धनिष्ठा में लिखा है। पार्श्वनाथ के चार कल्याणक विशाखा में और जन्म उनका अनिलयोग में लिखा है। अनिल कहिये पवनदेव यह स्वाति नक्षत्र का स्वामी माना जाता है। अतः यहां अनिल का अर्थ स्वाति नक्षत्र होता है। चन्द्रप्रभ के तीन कल्याणक अनुराधा में और जन्म उनका शक्रयोग में लिखा है। शक्र का अर्थ इंद्र यह ज्येष्ठा नक्षत्र का स्वामी देव माना जाता है। अतः यहां शक्र का अर्थ ज्येष्ठा नक्षत्र होता है। मोक्ष भी इनका ज्येष्ठ में ही लिखा है। पुष्पदंत के चार कल्याणक मूलनक्षत्र में और जन्म इनका जैत्र योग में लिखा है। जैत्र का अर्थ इंद्र यह ज्येष्ठा का स्वामी माना जाता है। अतः यहां जैत्र का अर्थ ज्येष्ठा नक्षत्र होता है इत्यादि। इस प्रकार कल्याणकों के एक समान नक्षत्रों के साथ उनके समीप का नक्षत्र का नाम कहीं किसी कल्याणकों में दिये जाने का तात्पर्य यही समझना चाहिए कि उस तिथि को वे दोनों ही नक्षत्र क्रम से भुगत रहे थे। आप पंचांग उठाकर देखिए तो आपको बहुत बार एक ही तिथि में क्रमवार दो नक्षत्रों के अंश भुगतते नजर आयेंगे।

बल्कि कभी २ तो एक ही तिथि में दो नक्षत्रों के अंश और पूरा एक नक्षत्र इस तरह तीन नक्षत्र भुगतते मिलेंगे। इसलिये समीप के नक्षत्र का नाम होने से उसे भी एक तरह से अन्य समान नक्षत्र के अन्तर्गत ही गिनना चाहिए और एक ही नक्षत्र में पांचों कल्याणक होने में इसे अपवाद कथन नहीं समझना चाहिए।

इस प्रकार उत्तरपुराण की सब तिथियों और उनके साथ लिखे हुये नक्षत्रों की संगति भी अच्छी तरह से बैठ जाती है। यहां मैं यह भी सूचित किये देता हूँ कि कवि पुष्पदंतकृत अपभ्रंश महापुराण में भी कल्याणकों के तिथि नक्षत्र उत्तरपुराण के अनुसार ही लिखे हैं। पं० आशाधरजी के सामने त्रिलोक प्रज्ञप्ति और हरिवंशपुराण के मौजूद होते हुए भी उन्होंने स्वरचित कल्याणमाला में इन दोनों ग्रन्थों की तिथियों की उपेक्षा करके एक उत्तरपुराण की कल्याणकतिथियों को स्थान दिया है। इससे उत्तरपुराण की तिथियों की प्रामाणिकता पर गहरा प्रकाश पड़ता है।

इस सारे ऊहापोह का फलितार्थ यही है कि—उत्तरपुराण की शुद्धतिथियां वे ही हैं जो पं० आशाधरजी ने कल्याणमाला में लिखी हैं। और कवि पुष्पदंतकृत अपभ्रंश महापुराण में जो तिथि नक्षत्र लिखे हैं वे भी सब उत्तरपुराण के अनुसार लिखे हैं। यहां लिखी तिथियां भी कल्याणमाला से मिलती हैं। ये पुष्पदंत गुणभद्राचार्य से करीब १७५ वर्ष बाद ही हुए हैं। इस तरह उत्तरपुराण, अपभ्रंश महापुराण और कल्याणमाला इन तीनों की तिथियें एक समान मिल जाने से तथा नक्षत्रों की संगति उनके साथ लिखी तिथियों के साथ बैठ जाने से तिथिविषयक गड़बड़ जो लम्बे अरसे से हमारे यहां चली आ रही थी वह अब समाप्त हो गई है। अतः अब हमको हमारी पूजापाठ की पुस्तकों की तिथियों को इसी माफिक शुद्ध करके काम में लेनी चाहिए।

इसके अलावा मूल ग्रंथ में शुद्ध पाठ होने पर भी अनुवादकों ने कहीं कहीं गलत मास-तिथि नक्षत्र लिख दिये हैं अतः सहूलियत के लिए पंचकल्याणक तिथियों का शुद्ध नकशा भी हम साथ में दिये देते हैं। इस विषय में एक विशेष ज्ञातव्य बात यह है कि—महापुराण कार दक्षिणी होते हुए भी उन्होंने पंचकल्याणक तिथियां दक्षिणी पद्धति से नहीं देकर सभी उत्तरी पद्धति से ही दी हैं क्योंकि सभी तीर्थंकरों के पांचों कल्याणक उत्तर प्रान्त में ही हुए हैं।

कोई भी दुखी मनुष्य घृणा के योग्य नहीं हो सकता चाहे वह कितना भी हीन क्यों न हो ?

समय का जादूगर कभी कभी आश्चर्यजनक करिश्मे दिखाता है।

किसी निश्चित लक्ष्य को जीवन समर्पित कर देने वाले कर्मवीर को अपने जीवन में अनेकों बलिदान देने पड़ते हैं।

—बाबूजी की डायरी से

श्री पंच कल्याणक शुद्ध तिथि और नक्षत्र

तीर्थंकर	गर्भ	जन्म	तप	ज्ञान	मोक्ष	नक्षत्र
१ ऋषभनाथ	आषाढ़कृ. २	चैत्र कृ. ९	चैत्र कृ. ९	फाल्गुनकृ११	माघ कृ. १४	उत्तराषाढ़
२ अजितनाथ	ज्येष्ठ कृ. ३०	माघ शु. १०	माघ शु. ९	पौष शु. ११	चैत्र शु. ४	रोहिणी
३ संभवनाथ	फाल्गुन शु. ८	कार्तिक शु.१५	मा.शी.शु. १५	कार्तिक कृ. ४	चैत्र शु. ६	मृगशिरा
४ अभिनन्दननाथ	वैशाख शु. ६	माघ शु. १२	माघ शु. १२	पौष शु. १४	वैशाख शु. ६	पुनर्वसु
५ सुमतिनाथ	श्रावण शु. २	चैत्र शु. ११	वैशाख शु. ९	चैत्र शु. ११	चैत्र शु. ११	मघा
६ पद्मप्रभ	माघ कृ. ६	कार्तिककृ. १३	कार्तिक कृ.१३	चैत्र शु. १५	फाल्गुन कृ. ४	चित्रा
७ सुपार्श्वनाथ	भाद्रपद शु. ६	ज्येष्ठ शु.१२	ज्येष्ठ शु. १२	फाल्गुन कृ. ६	फा. कृ. ७	विशाखा
८ चन्द्रप्रभ	चैत्र कृ. ५	पौष कृ. ११	पौष कृ. ११	फाल्गुन कृ. ७	फा. कृ. ७	अनुराधा
९ पुष्पदंत	फाल्गुन कृ.९	मा. शी.शु.१	मा. शी. शु.१	कार्तिक शु, २	भाद्रपद शु. ८	मूल
१० शीतलनाथ	चैत्र कृ. ८	माघ कृ १२	माघ कृ. १२	पौष कृ. १४	आश्विन शु. ८	पूर्वाषाढ
११ श्रेयांसनाथ	ज्येष्ठ कृ. ६	फा. कृ. ११	फाल्गुन कृ.११	माघ कृ. ३०	श्रावण शु.१५	श्रवण
१२ वासुपूज्य	आषाढ़ कृ. ६	फा. कृ. १४	फाल्गुन कृ.१४	माघ शु. २	भाद्रपद शु.१४	शतभिषा
१३ विमलनाथ	ज्येष्ठ कृ. १०	माघ शु. ४	माघ शु. ४	माघ शु. ६	आषाढ़ कृ. ८	उत्तराभाद्रपद
१४ अनंतनाथ	कार्तिक कृ. १	ज्येष्ठ कृ. १२	ज्येष्ठ कृ. १२	चैत्र कृ. ३०	चैत्र कृ. ३०	रेवती
१५ धर्मनाथ	वै कृ.१३रेवती	माघ शु. १३	माघ शु. १३	पौष शु. १५	ज्येष्ठ शु. ४	पुष्य
१६ शांतिनाथ	भाद्रपद कृ. ७	ज्येष्ठ कृ. १४	ज्येष्ठ कृ. १४	पौष शु. १०	ज्येष्ठ कृ. १४	भरणी
१७ कुन्थुनाथ	श्रावण कृ.१०	वैशाख शु. १	वैशाख शु. १	चैत्र शु. ३	वैशाख शु. १	कृत्तिका
१८ अरनाथ	फाल्गुन शु. ३	मा.शी.शु. १४	मा.शी. शु.१०	कार्तिक शु.१२	चैत्र कृ. ३०	रेवती
१९ मल्लिनाथ	चैत्र शु. १	मा.शी.शु. ११	मा.शी.शु. ११	पौ.कृ. पुष्य २	फाल्गुन शु. ५	आश्विनी
२० मुनिसुव्रत	श्रावण कृ. २	वैशाख कृ. १०	वैशाख कृ.१०	वैशाख कृ. ९	फा. कृ. १२	श्रवण
२१ नमिनाथ	आश्विन कृ. २	आषाढ़ कृ.१०	आषाढ़ कृ.१०	म. शी. शु. १	वैशाख कृ. १४	आश्विनी
२२ नेमिनाथ	कार्तिक शु. ६ उत्तराषाढ़	श्रावण शु. ६	श्रावण शु. ६	आश्विन शु. १	आषाढ़ शु. ७	चित्रा
२३. पार्श्वनाथ	वैशाख कृ. २	पौष कृ. ११	पौष कृ. ११	चैत्र कृ. ४	श्रावण शु. ७	विशाखा
२४. महावीर	आषाढ़ शु. ६	चैत्र शु. १३	मा.शी.कृ. १०	वैशाख शु.१०	कार्तिककृ. १४ स्वाति ३०	उत्तराफाल्गुनी

जैन ग्रन्थों में राष्ट्रकूटों का इतिहास

• रामवल्लभ सोमाणी

१३ शक संवत् ७३८ में पूर्ण होना वर्णित किया है और लिखा है कि जिस समय राष्ट्रकूट राजा जगतुंग राज्य त्याग चुके थे और राजाधिराज बोद्दणराय शासक थे इसे पूर्ण किया।[४] श्री ज्योति प्रसाद जी जैन ने इसे अस्वीकृत करके लिखा है कि प्रशस्ति में स्पष्टतः "विक्कम रायम्मि" पाठ है अतएव यह विक्रम संवत् होना चाहिए। अतएव उन्होंने यह तिथि ८३८ विक्रमी दी है। भाग्य से ज्योतिष के अनुसार दोनों ही तिथियों की गणना लगभग एक सी है। लेकिन राजनैतिक स्थिति पर विचार करें तो प्रकट होगा कि यह तिथि विक्रमी के स्थान पर शक संवत् ही होना चाहिए। इसका मुख्य आधार यह है कि विक्रमी संवत् का प्रचलन इतना प्राचीन नहीं है। इसके पूर्व इस संवत् का नाम कृत और मालव संवत् मिलता है। विक्रमी संवत् का प्राचीनतम लेख ८९८ का धौलपुर से चंड महासेन का मिला है। लेकिन इसका प्रचलन उत्तरी भारत में अधिक रहा है। गुजरात और दक्षिणभारत में उस समय लिखे गये ताम्रपत्रों में शक संवत् या वल्लभी संवत् मिलता है। इसमें उल्लिखित जगतुंग निःसंदेह राष्ट्रकूट राजा गोविन्द राज तृतीय है और बोद्दणराय अमोघवर्ष। अगर विक्रमी संवत् ८३८ मानते हैं तो यह तिथि १६।१०।७८० ई० ही आती है। उस समय गोविन्दराज का पिता ध्रुव निरुपम भी शासक नहीं हुआ था। इसके अतिरिक्त हरिवंशपुराण में वीरसेनाचार्य का उल्लेख है लेकिन उनकी इस धवला टीका का उल्लेख नहीं है। स्मरण रहे कि इस ग्रंथ में समन्तभद्र देवनन्दि महासेन आदि आचार्यों के ग्रंथों का स्पष्टतः उल्लेख है। अतएव यह घटना वि० सं० ७०५ के पश्चात् ही हुई है।

जयधवला के अन्त में लम्बी प्रशस्ति दी हुई है। इससे ज्ञात होता है कि वीरसेनाचार्य की इस अपूर्ण कृति को जिनसेनाचार्य ने पूर्ण किया था। यह टीका शक संवत् ७५९ में महाराजा अमोघवर्ष के शासन काल में पूर्ण की गई थी।

बहुचर्चित हरिवंश पुराण की प्रशस्ति के अनुसार[७] शक सं० ७०५ में जब दक्षिण में राजा वल्लभ, उत्तरदिशा में इन्द्रायुद्ध, पूर्व में वत्सराज और सौरमंडल में जयवराह राज्य करते थे तब वद्धमाण नामक ग्राम में उक्त ग्रंथ पूर्ण हुआ था। शक संवत् ७०५ की राजनैतिक स्थिति बड़ी उल्लेखनीय है। दक्षिण के राष्ट्रकूट राजा का जो उल्लेख है वह संभवतः ध्रुव निरुपम है। गोविन्द II की उपाधि भी "वल्लभराज" थी। इसी प्रकार श्रवणबेलगोला के लेख नं० २४ में स्तम्भ के पिता ध्रुव निरुपम की भी उपाधि वल्लभराज है।

गोविन्दराज का शासनकाल अल्पकालीन है और शक सं० ७०१ के धूलिया के दानपत्र के पश्चात उसका कोई लेख नहीं मिला है अतएव वह ध्रुव निरुपम के लिये ही ठीक है। उत्तर में इन्द्रायुध का उल्लेख है। यह भण्डी वंशी राजा इन्द्रायुध है। फ्लीट, भण्डारकर प्रभृति विद्वानों ने भी इसे ठीक माना[९] है। कुछ इसे गोविन्दराज III के भाई इन्द्रसेन मानते हैं जो उस समय राष्ट्रकूटों की ओर से गुजरात में प्रशासक था। स्वतन्त्र[१०] राजा नहीं। प्रशस्ति में तो स्पष्टतः इन्द्रायुध पाठ है अतएव इस प्रकार के तोड़ मोड़ करने के स्थान पर इसे इन्द्रायुध ही माना जाना ठीक है। पूर्व में वत्सराज का उल्लेख है। शक सं० ७०० में लिखी गई कुवलयमाला में इस राजा को जालोर का[११] शासक माना है। अवन्ति प्रतिहार राजाओं के शासन में संभवतः दंतिदुर्ग के शासन काल से ही थी।[१२]

१३. आचार्य जिनसेन जो आदिपुराण के कर्त्ता थे अमोघवर्ष के गुरु के नाम से विख्यात है। उत्तरपुराण की प्रशस्ति मे स्पष्टतः वर्णित है कि वह जिनसेनाचार्य के चरणकमलों मे मस्तक रख कर अपने को पवित्र मानता था।[१३] इसकी बनाई हुई प्रश्नोत्तर रत्नमाला नामक एक छोटी सी पुस्तक मिली है। इसके प्रारम्भ में "प्रणिपत्य वर्द्धमानं" शब्द है। यद्यपि यह विवादास्पद है कि अमोघवर्ष जैन धर्म का पूर्ण अनुयायी था अथवा नहीं किन्तु यह सत्य है कि वह जैन धर्म की ओर बहुत आकृष्ट था। इसी के शासन काल में लिखी महावीराचार्य की गणितसार संग्रह नामक पुस्तक में अमोघवर्ष के सम्बन्ध में लिखा है कि उसने समस्त प्राणियों को प्रसन्न करने के लिये बहुत[१४] काम किया था जिसकी चित्तवृत्ति रूप अग्नि में पापकर्म भस्म हो गया था। अतएव ज्ञात होता है कि वह बहुत ही धार्मिक प्रकृति का था। इसमें स्पष्टतः जैनधर्मावलम्बी वर्णित किया है। राष्ट्रकूट शिलालेखों से ज्ञात होता है कि अमोघवर्ष कई बार राज्य छोड़कर एकान्त का जीवन व्यतीत करता था और राज्य युवराज को सौंप देता था। संजान के दानपत्र के श्लोक ४७ व अन्यदान पत्रों में इसका स्पष्टतः उल्लेख है। प्रश्नोत्तररत्नमाला में

९. Epigraphica-Indica-Vol IV P. 195-196

१०. डा० गुलाबचन्द चौधरी-हिस्ट्री आफ नोर्दर्न इंडिया फ्राम जैन सोर्सेस पृ० ३३

११. सगकाले वोलीणे वरिसाण सत्ताइं गएहिं।
एक दिन गूणेहि रइया अवरण्ह वेलाए।
पर भई भिउडि भंगोपण ईयण रोहिणी कलाचंदो।
सिरिवच्छराय णामा णरहत्थी पत्थिवो जइया॥

१२. अल्तेकर-राष्ट्रकूटाज एण्ड देयर टाइम्स पृ० ४८

१३. "इत्यमोघवर्ष परमेश्वर परमगुरु श्री जिनसेनाचार्य विरचि"
[पार्श्वाभ्युदय के सर्गों के अन्त की पुष्पिका]

१४. यस्य प्रांशुनखांशुजालविसरद्धारान्तराविर्भव-
त्पादाम्भोजरजः पिशङ्ग मुकुट प्रत्यग्ररत्नद्युतिः
संस्मर्ता स्वममोघवर्ष नृपतिः पूतोऽहमद्येत्यलं
स श्रीमान् जिनसेन पूज्य भगवत्पादो जगन्मङ्गलम्

१५. नाथूराम प्रेमी—जैन साहित्य का इतिहास पृ०

१३ शक संवत् ७३८ में पूर्ण होना वर्णित किया है और लिखा है कि जिस समय राष्ट्रकूट राजा जगतुंग राज्य त्याग चुके थे और राजाधिराज बोद्दणराय शासक थे इसे पूर्ण किया। [४] श्री ज्योति प्रसाद जी जैन ने इसे अस्वीकृत करके लिखा है कि प्रशस्ति में स्पष्टतः "विक्कम रायाम्ई" पाठ है अतएव यह विक्रम संवत् होना चाहिए। अतएव उन्होंने यह तिथि ८३८ विक्रमी दी है। भाग्य से ज्योतिष के अनुसार दोनों ही तिथियों की गणना लगभग एक सी है। लेकिन राजनैतिक स्थिति पर विचार करें तो प्रकट होगा कि यह तिथि विक्रमी के स्थान पर शक संवत् ही होना चाहिए। इसका मुख्य आधार यह है कि विक्रमी संवत् का प्रचलन इतना प्राचीन नहीं है। इसके पूर्व इस संवत् का नाम कृत और मालव सवत् मिलता है। विक्रमी संवत् का प्राचीनतम लेख ८९८ का धौलपुर से चंड महासेन का मिला है। लेकिन इसका प्रचलन उत्तरी भारत में अधिक रहा है। गुजरात और दक्षिणभारत में उस समय लिखे गये ताम्रपत्रों में शक संवत् या वल्लभी सवत् मिलता है। इसमें उल्लिखित जगतुंग निःसंदेह राष्ट्रकूट राजा गोविन्द राज तृतीय है और बोद्दणराय अमोघवर्ष। अगर विक्रमी संवत् ८३८ मानते है तो यह तिथि १६।१०।७८० ई० हो आती है। उस समय गोविन्दराज का पिता ध्रुव निरुपम भी शास[...]

अतिरिक्त हरिवंशपुराण [...] उल्लेख है लेकिन उनकी [...] उल्लेख नहीं है। स्मरण [...] समन्तभद्र देवनन्दि महासेन आ[...] का स्पष्टतः उल्लेख है। अतएव [...] ७०५ के पश्चात् ही हुई है।

जयधवला के अन्त में लम्बी प्र[...] है। इससे ज्ञात होता है कि वीरसेना[...] अपूर्ण कृति को जिनसेनाचार्य ने पूर्ण[...] यह टीका शक संवत् ७५९ में महाराजा[...] के शासन काल में पूर्ण की गई थी।

बहुचर्चित हरिवंश पुराण की प्रश[...] अनुसार [७] शक सं० ७०५ में जब दक्षिण में वल्लभ, उत्तरदिशा में इन्द्रायुद्ध, पूर्व में वत्स[...] और सौरमंडल में जयवराह राज्य करते थे [...] वद्धवाण नामक ग्राम में उक्त ग्रंथ पूर्ण हुआ था। शक संवत् ७०५ की राजनैतिक स्थिति बड़ी उल्लेख-नीय है। दक्षिण के राष्ट्रकूट राजा का जो उल्लेख है वह संभवतः ध्रुव निरुपम है। गोविन्द II की उपाधि भी "वल्लभराज" थी। इसी प्रकार श्रवण-बेलगोला के लेख नं० २४ में [८] स्तम्भ के पिता ध्रुव निरुपम की भी उपाधि वल्लभराज है।

भारतीय साहित्य में सीताहरण प्रसंग

डा० छोटेलाल शर्मा एम० ए० पी० एच० डी०

भारत में राम कथा की अद्वितीय व्यापकता दिखलायी पड़ती है। संस्कृत साहित्य में ही नहीं, भारत की अन्य जनपदीय भाषाओं तथा निकटवर्ती देशों के साहित्य में भी राम कथा का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। साहित्य की प्रत्येक विधा में उसका रोचक अनुसंधान हुआ है। वैष्णव धर्म में राम को विष्णु का अवतार माना गया है, बौद्धधर्म में बोधिसत्त्व का और जैन धर्म में आठवें बलदेव का। वस्तुतः राम कथा कालानुक्रम से जन सामान्य के सांस्कृतिक व्यक्तित्व का अनुसंधान है। चारों ही पुरुषार्थ गृहस्थाश्रम में समन्वित होते हैं। सीता हरण प्रसंग का संबंध गृहस्थाश्रम के विशिष्ट मूल्यों से है। इस दृष्टि से भी प्रस्तुत प्रकरण का महत्त्व है।

प्रस्तुत प्रकरण का रोचक एवं विस्तृत विवरण वाल्मीकि रामायण में प्राप्त होता है जो नीचे दिया जा रहा है।

हेमंत के दिन थे। राम, लक्ष्मण और सीता गोदावरी से लौट रहे थे। भरत और कैकेयी उनके वार्तालाप का विषय थे। सहसा उन्हें रावण की विधवा बहिन शूर्पणखा दिखाई पड़ी। वह सुन्दरी के वेश में थी। उसने आते ही मुग्ध होकर राम से विवाह का प्रस्ताव किया। उन्होंने उसको लक्ष्मण के पास भेज दिया। वे उससे ठठोली करने लगे। वह पलट कर सीता पर झपटी, राम ने हुँकार की, वह ठिठकी और लक्ष्मण ने उसके नाक-कान काट लिए। वह रोती-बिलखती खर के पास पहुँची और उन तीनों का रक्त पीने की इच्छा प्रकट करने लगी। खर ने अपने चौदह प्रधान राक्षसों को उसके साथ कर दिया। पंचवटी में वे सब राम के द्वारा मार दिये गये। शूर्पणखा ने पुनः खर को प्रेरित किया। खर को भी ऋषियों का निर्भय विचरण फूटी आँख नहीं सुहाता था। उसने त्रिशिरा और दूषण को बुलाकर युद्ध का डंका बजवा दिया। अनेक अपशकुनों को देखकर खर का मन बैठने लगा लेकिन अन्य कोई चारा न देख कर युद्ध छेड़ दिया गया। उधर राम ने सीता को लक्ष्मण के साथ गिरि-गुहा में भेज दिया। दोनों ओर से तुमुल युद्ध हुआ। ऋषि, देव, गंधर्व, चारण आदि सब राम के स्वस्तिवाचन के लिए एकत्र हुए। रण में चौदह सहस्र राक्षस खेत रहे। अकंपन ने रावण को राम के पराक्रम और सीता के सौंदर्य से परिचित कराया और यह सुझाव भी दिया कि राम का वध सीता-हरण से संभव है। रावण तुरन्त मारीच के पास गया और समझाने-बुझाने पर लौट आया। इतने में रोती बिलखती शूर्पणखा आई। उसने कहा कि सीता उसके योग्य भार्या है। वह देख कर उससे वार्तालाप के लिए जैसे ही उद्यत हुई वैसे ही क्रूरकर्मा लक्ष्मण ने उसको विरूप कर दिया। रावण के मन में फिर खलबली पैदा हुई। और वह पुनः मारीच के पास पहुँचा। मारीच उसको देखकर घबड़ा गया। उसने राम के राज-लक्षणों, सीता के पातिव्रत्य और पर-स्त्री-हरण के पाप का संकेत कर उसे इस कार्य से विमुख करने का प्रयत्न किया लेकिन उसने एक न सुनी। पुनः विश्वामित्र के यज्ञ और पंचवटी की याद दिलाई उसने भी सुनाई। उसने यह भी बताया कि उसको सर्वत्र राम ही दिखाई पड़ते हैं और रकार ही सुनाई पड़ता है। रावण ने पहले तो उसकी प्रशंसा [illegible]

भारतीय साहित्य में सीताहरण प्रसंग

डा० छोटेलाल शर्मा एम० ए० पी० एच० डी०

भारत में राम कथा की अद्वितीय व्यापकता दिखलायी पड़ती है। संस्कृत साहित्य में ही नहीं, भारत की अन्य जनपदीय भाषाओं तथा निकटवर्ती देशों के साहित्य में भी राम कथा का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। साहित्य की प्रत्येक विधा में इसका रोचक अनुसंधान हुआ है। वैष्णव धर्म में राम को विष्णु का अवतार माना गया है, बौद्धधर्म में बोधिसत्त्व का और जैन धर्म में आठवें बलदेव का। वस्तुतः राम कथा कालानुक्रम से जन सामान्य के सांस्कृतिक व्यक्तित्व का अनुसंधान है। चारों ही पुरुषार्थ गृहस्थाश्रम में समन्वित होते हैं। सीता हरण प्रसंग का संबंध गृहस्थाश्रम के विशिष्ट मूल्यों से है। इस दृष्टि से भी प्रस्तुत प्रकरण का महत्त्व है।

प्रस्तुत प्रकरण का रोचक एवं विस्तृत विवरण वाल्मीकि रामायण में प्राप्त होता है जो नीचे दिया जा रहा है।

हेमंत के दिन थे। राम, लक्ष्मण और सीता गोदावरी से लौट रहे थे। भरत और कैकेयी उनके वार्तालाप का विषय थे। सहसा उन्हें रावण की विधवा बहिन शूर्पणखा दिखाई पड़ी। वह सुन्दरी के वेश में थी। उसने आते ही [illegible] राम से विवाह का प्रस्ताव किया। उन्होंने उसको लक्ष्मण के पास भेज दिया। वे उससे ठठोली करने लगे। वह पलट कर सीता पर झपटी, राम ने [illegible] [illegible]

किया। खर को भी ऋषियों का निर्भय विचरण फूटी आंख नहीं सुहाता था। उसने त्रिशिरा और दूषण को बुलाकर युद्ध का डंका बजवा दिया। अनेक अपशकुनों को देखकर खर का मन बैठने लगा लेकिन अन्य कोई चारा न देख कर युद्ध छेड़ दिया गया। उधर राम ने सीता को लक्ष्मण के साथ गिरि-गुहा में भेज दिया। दोनों ओर से तुमुल युद्ध हुआ। ऋषि, देव, गंधर्व, चारण आदि सब राम के स्वस्तिवाचन के लिए एकत्र हुए। रण में चौदह सहस्र राक्षस खेत रहे। अकंपन ने रावण को राम के पराक्रम और सीता के सौंदर्य से परिचित कराया और यह सुझाव भी दिया कि राम का वध सीता-हरण से संभव है। रावण तुरन्त मारीच के पास गया और समझाने-बुझाने पर लौट आया। इतने में रोती बिलखती शूर्पणखा आ गई। उसने कहा कि सीता उसके योग्य भार्या है। यह देख वह उससे वार्तालाप के लिए जैसे ही उद्यत हुई वैसे ही क्रुद्ध लक्ष्मण ने उसको विरूप कर दिया। रावण के मन में फिर तत्परता पैदा हुई। और वह पुनः मारीच के पास पहुँचा। मारीच उसको देखकर घबड़ा गया। उसने राम के शौर्य-पराक्रम, सीता के पातिव्रत्य और [illegible]

भारतीय साहित्य में सीताहरण प्रसंग

डा० छोटेलाल शर्मा एम० ए० पी० एच० डी०

भारत में राम कथा की अद्वितीय व्यापकता दिखलायी पड़ती है। संस्कृत साहित्य में ही नहीं, भारत की अन्य जनपदीय भाषाओं तथा निकटवर्ती देशों के साहित्य में भी राम कथा का एक महत्त्व पूर्ण स्थान है। साहित्य की प्रत्येक विधा में इसका रोचक अनुसंधान हुआ है। वैष्णव धर्म में राम को विष्णु का अवतार माना गया है, बौद्धधर्म में बोधिसत्त्व का और जैन धर्म में आठवें बलदेव का। वस्तुतः राम कथा कालानुक्रम से जन सामान्य के सांस्कृतिक व्यक्तित्व का अनुसंधान है। चारों ही पुरुषार्थ गृहस्थाश्रम में समन्वित होते हैं। सीता हरण प्रसंग का संबंध गृहस्थाश्रम के विशिष्ट मूल्यों से है। इस दृष्टि से भी प्रस्तुत प्रकरण का महत्त्व है।

प्रस्तुत प्रकरण का रोचक एवं विस्तृत विवरण वाल्मीकि रामायण में प्राप्त होता है जो नीचे दिया जा रहा है।

हेमंत के दिन थे। राम, लक्ष्मण और सीता गोदावरी से लौट रहे थे। भरत और कैकेयी उनके वार्तालाप का विषय थे। सहसा उन्हें रावण की विधवा बहिन शूर्पणखा दिखाई पड़ी। वह सुन्दरी के वेश में थी। उसने आते ही मुग्ध होकर राम से विवाह का प्रस्ताव किया। उन्होंने उसको लक्ष्मण के पास भेज दिया। वे उससे ठठोली करने लगे। वह पलट कर सीता पर झपटी, राम ने हुँकार की, वह ठिठकी और लक्ष्मण ने उसके नाक-कान काट लिए। वह रोती-बिलखती खर के पास पहुँची और उन तीनों का रक्त पीने की इच्छा प्रकट करने लगी। खर ने अपने चौदह प्रख्यात राक्षसों को उसके साथ कर दिया। रघुवर ने वे सब मौत के घाट उतार दिये गये। शूर्पणखा ने पुनः खर को प्रेरित किया। खर को भी ऋषियों का निर्भय विचरण फूटी आंख नहीं सुहाता था। उसने त्रिशिरा और दूषण को बुलाकर युद्ध का डंका बजवा दिया। अनेक अपशकुनों को देखकर खर का मन बैठने लगा लेकिन अन्य कोई चारा न देख कर युद्ध छेड़ दिया गया। उधर राम ने सीता को लक्ष्मण के साथ गिरि-गुहा में भेज दिया। दोनों ओर से तुमुल युद्ध हुआ। ऋषि, देव, गंधर्व, चारण आदि सब राम के स्वस्तिवाचन के लिए एकत्र हुए। रण में चौदह सहस्र राक्षस खेत रहे। अकंपन ने रावण को राम के पराक्रम और सीता के सौंदर्य से परिचित कराया और यह सुझाव भी दिया कि राम का वध सीता-हरण से संभव है। रावण तुरंत मारीच के पास गया और समझाने-बुझाने पर लौट आया। इतने में रोती बिलखती शूर्पणखा आई। उसने कहा कि सीता उसके योग्य भार्या है। यह देख वह उससे वार्तालाप के लिए जैसे ही उद्यत हुई वैसे ही क्रूरकर्मा लक्ष्मण ने उसको विरूप कर दिया। रावण के मन में फिर खलबली पैदा हुई। और वह पुनः मारीच के पास पहुँचा। मारीच उसको देखकर घबड़ा गया। उसने राम के राज-लक्षणों, सीता के पातिव्रत्य और पर-स्त्री-रमण के पाप का संकेत कर उसे इस कार्य से विमुख करने का प्रयत्न किया लेकिन उसने एक न सुनी। पं० विश्वामित्र के यज्ञ और पंचवटी की आप बीती उसने भी सुनाई। उसने यह भी बताया कि उसको सर्वत्र राम ही दिखाई पड़ते हैं और रकार ही सुनाई पड़ता है। रावण ने पहले तो उसकी भर्त्सना की और फिर मुकुट तथा आधे राज्य का प्रलोभन दिया। रावण ने उसे आज्ञा न मानने की अवस्था में प्राण दण्ड देने का भी भय दिखाया। मारीच ने प्राण दण्ड की अपेक्षा वीरता पूर्वक प्राण त्याग

का अभाव है लेकिन यज्ञ का मान है। परस्त्री-रमण सामाजिक अनुशासनविहीनता का कारण समझा गया है। साहित्यिक दृष्टि से आदि रामायण की कथा बिखरी-बिखरी है। उसमें वर्णन प्रियता का आग्रह है। चरित्र की दृष्टि से लक्ष्मण अधिक दूरदर्शी है और राम अधिक पराक्रमी। आगे कथा में संगठन आया है और कुतूहल की उत्पत्ति हुई है। राम का चरित्र आध्यात्मिक दृष्टिकोण से चित्रित किया गया है। आध्यत्मिक चेतना उभरी है और व्यक्ति को प्रधानता मिली है। जन सामान्य की कर्मचेतना भावमय हो गई है। कर्म का स्थान भक्ति ने ले लिया है।

रामचरित मानस में कथा कुछ और सिमटी है। उसमें वह प्रसंग भी नहीं है। जहां मारीच मृग रूप में राम पर आक्रमण करता है। शूर्पणखा अपने अवगलित कौमार्य की दुहाई देकर विवाह का आग्रह करती है और दोनों भाईयों के बीच भंवर की नाव बन जाती है। मानसकार ने उसको राजनय में ही नहीं, धर्मनय में भी निष्णात बताया है (यद्यपि यह पात्र दोष है)। इधर खरादि भी राम की रूप माधुरी से अभिभूत होते हैं और रावण भी 'प्रभू सर-तीरथ' रूप में प्राण छोड़ना चाहता है। वह सीता पर क्रुद्ध होकर भी चरण वन्दन में सुख मानता है। मारीच ने राम के क्रोध को मुक्ति प्रदायक और भक्ति को वशकारी बताया है। राम भी मृग का पीछा देव कार्य की प्रेरणा से करते हैं। वे नरलीला के लिए सीता को अग्नि प्रवेश का आदेश भी देते हैं। लक्ष्मण सीता को 'वन दिसि देव' सभी को सौंप जाते हैं और एक रेखा भी बना जाते हैं। राम असुर को भी परमपद देते हैं। उन्होंने खर की सेना में भी एक कौतुक किया है कि सब की दृष्टि फेर दी है। वे एक दूसरे को राम समझते हैं, लड़ते हैं और मरते हैं।[1]

पंचवटी और साकेत में कथा भी बदली है और स्वर भी बदला है। पंचवटी की कथा सामान्य हिन्दू गृहस्थ के संदर्भ में आरम्भ होती है। उसका ढंग अत्यन्त नाटकीय है और विषय संक्रान्तिकालीन जीवन मूल्यों का संघर्ष। लक्ष्मण नैसर्गिक और नागरिक जीवन के विश्लेषण की उधेड़बुन में लगे दिखलाई पड़ते हैं। शूर्पणखा नगर की कृत्रिम सभ्यता के सभी गुण दोषों के साथ उनके सामने प्रकट होती है। अतः भारतीय संस्कृति के मूल्यों को लेकर खींचातानी प्रारम्भ हो जाती है धीरे-धीरे आहार्य सभ्यता का भेद खुलने लगता है। उसमें समायोजन का सबसे अधिक अभाव है। साकेत में अपार्थिव रंग कुछ हलका है। खर से युद्ध करते समय राम अपने युद्ध कौशल के कारण असंख्यों रूपों में दिखलाई पड़ते हैं। मायावी मृग का रहस्य भी चलते ढंग से संकेतित कर दिया गया है। रामादि के विरुद्ध शूर्पणखा की एक आपत्ति यह भी है कि वे उसको पतित कहते हैं। सीता भी मृग को आवाज सुनकर लक्ष्मण के क्षात्र-धर्म को जागृत करने के लिए स्वयं सहायतार्थ साथ जाने को तैयार हो जाती है।[2] सारलदास के महाभारत के अनुसार भी सीता की एक सखी की इच्छा है और वे चाहती हैं कि लक्ष्मण शूर्पणखा से विवाह करलें, लेकिन लक्ष्मण इसको स्वीकार नहीं करते।[3]

निष्कर्ष:—तुलसी ने रामकथा को भाव-स्तर से उठाकर एक ऊंचे आध्यात्मिक आधार पर टिका दिया है। कर्मसौंदर्य भावोद्रेलन का उप-कारक मात्र है मानस का स्वर भी पौराणिक है और सर्वत्र विदेह मुक्ति का आग्रह है। समूचे ग्रंथ में इस बात का अनुसंधान दृष्टिगोचर होता है कि श्रद्धा, वैर, ईर्ष्या और आलस्य से भगवद् स्मरण करने पर शिवत्व की उपलब्धि होती है। मानस कार ने व्यक्ति को प्रधानता प्रदान की है और जाति को उसके सीमंत में रख दिया है। सर्वत्र

१. मानस अरण्य काण्ड दो० १३–२६ २. साकेत—सर्ग ११ ३. महाभारत वन पर्व

और सीता भय-विह्वल। उनकी विग्रह मूलक प्रकृति के लिए वे उन्हें विडंबित भी करती हैं। चन्द्रनखा भी प्रतिशोध के लिए सव्यसाची के सदृश प्रतिज्ञा करती है। लक्ष्मण सामुद्रिक शास्त्र के ज्ञाता हैं और चन्द्रनखा को कुलक्षिणी मानते हैं इस कारण उसका वरण नहीं करते। लेकिन उसके प्रचारण पर वे अपने पौरुष को संयत भी नहीं रख पाते। राज परिवार की अन्य स्त्रियां चन्द्रनखा के रहस्य को ताड़ जाती हैं और दूषण युद्ध का प्रतिषेध करता है। रावण के लेख में सीता के सौंदर्य का भी वर्णन है। रावण लक्ष्मण के पराक्रम की मुक्तकंठ से संस्तुति करता है और राम की सीता सहचरी के कारण प्रशंसा। अवलोकिनी विद्या भी रावण को समझाती है लेकिन रावण सीता पर शश्वत शिव रूप को न्योछावर कर देता है। मार्ग में रावण को भामण्डल के अनुचर से भी युद्ध करना पड़ता है। वह सीता को नंदनवन में आवासित कर नगर को चला जाता है।[1]

ब्रह्म वैवर्त्त पुराण में भी लक्ष्मण द्वारा खर-दूषण के वध और शूर्पणखा के पूर्व जन्म का उल्लेख है।[2] उदात्तराघव में सीताहरण का रूप इस प्रकार है कि लक्ष्मण कनक मृग की खोज में चले जाते हैं और रावण आश्रम के कुलपति का रूप धारण कर राम और सीता के पास पहुँचता है तथा राम की निंदा करता है कि उन्होंने लक्ष्मण को मृग के पीछे भेज दिया है। उसी समय एक छद्मवेशी राक्षस आकर यह समाचार देता है कि कनक मृग राक्षस रूप में बदल कर लक्ष्मण को लिजा रहा है। इस पर राम सीता को रावण के संरक्षण में छोड़कर लक्ष्मण की सहायता के लिए चले जाते हैं।

निष्कर्ष:—यहां तो समग्र प्रसंग स्वाभास से उद्धृत है। हिन्दू रामायणों में शूर्पणखा थी और यहां चन्द्रनखा है। दोनों ही रावण की बहिनें हैं एक सधवा और दूसरी विधवा लेकिन दोनों ही स्वैरिणी। विकलांग करने का प्रसंग जैन रामायणों में नहीं है। हिन्दू रामायणों में समभार राम के कंधों पर है और जैन रामायणों में लक्ष्मण के कंधों पर। सूर्यहास की उपलब्धि समरानुक्रम को पूरा करती है—एक ओर चन्द्रहास खड्ग है और दूसरी ओर सूर्य हास। यही वासुदेव प्रतिवासुदेव का अंतर है। सभी वर्णन जातिगत वैशिष्ट्य से पूर्ण हैं और समूचा कार्यकलाप वैयक्तिक मुक्ति तथा धार्मिक आग्रह से संचालित। हिन्दू गृहस्थ काम और अर्थ को धर्ममय बना कर मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करता है। वहां उन्नयन है और विदेह मुक्ति। जैन गृहस्थ धर्म की छत्र छाया में काम का प्रशमन कर जीवनमुक्ति का प्रयत्न कर रहा है। अतः जैन कथाकार कर्म और भाव दोनों का समन्वय कर चलते हैं।

उत्तर पुराण की एक अतिरिक्त दिगंबर परंपरा है। इसके अनुसार कथा सूत्र निम्न प्रकार है:—

नारद से सीता के सौंदर्य का वर्णन सुनकर रावण उसे हर लाने का संकल्प करता है। सीता के मन की परीक्षा के लिए शूर्पणखा (चन्द्रनखा) को बनारस भेजा जाता है। वह सीता का सतीत्व देखकर रावण से कहती है कि सीता का मन चलायमान करना असंभव है। जब राम और सीता वाराणसी के निकट चित्रकूट वाटिका में विहार करते हैं, तब मन्त्री मारीच स्वर्ण मृग का रूप धारण कर राम को दूर ले जाता है और रावण राम का रूप धारण कर सीता के पास पहुँचता है और कहता है कि मैंने मृग को महल भेज दिया है और उनको पालकी पर चढ़ने की आज्ञा देता है। यह पालकी वास्तव में पुष्पक है जो सीता को लंका ले जाती है। रावण सीता का स्पर्श नहीं

1. पउमचरिउ—३६-३८ सर्ग
2. ब्रह्मवैवर्त्त पुराण कृष्ण जन्म खण्ड अध्याय ६२

आचार्य हेमचन्द्र की दृष्टि में भारतीय समाज

डा० जयशंकर मिश्र एम. ए एच. डी.

कलिकाल सर्वज्ञ जैन आचार्य हेमचन्द्र (जन्म वि० सं० ११४५, मृत्यु वि० सं० १२२९) अपने युग के प्रकांड पंडित और अप्रतिम विद्वान् थे। १२ वीं सदी के भारतीय साहित्य और संस्कृति के वे एकमात्र प्रतिनिधि थे। साहित्य और भाषाशास्त्र के विभिन्न विषयों के अतिरिक्त तर्कशास्त्र मीमांसा और इतिहास-संस्कृति के भी समान विचारक थे। चौलुक्य नरेश जयसिंह, सिद्धराज और कुमारपाल की राज्यसभा के ये अग्रणी और सर्वश्रेष्ठ साहित्यिक थे। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश आदि भाषाओं पर इनका समान अधिकार था अतः इन्होंने विभिन्न विषयों पर विभिन्न भाषाओं में रचना की। प्राकृत द्वयाश्रय और कुमारपालचरित, सिद्धहेमशब्दानुशान. छन्दोनुशासन, लिंगानुशासन, उणादिगणसूत्र, देशीनाममाला, अभिधानचिन्तामणि, त्रिषष्टिशलाका-पुरुषचरित, योगशास्त्र, प्रमाणमीमांसा, अनेकार्थ संग्रह आदि उनके प्रमुख ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थों में इन्होंने साहित्य के विभिन्न शाखाओं-प्रशाखाओं पर नये सिरे से विचार तो किया ही है, साथ ही तत्कालीन भारतीय समाज पर भी अपनी दृष्टि से नव-नव प्रकाश डाला है, जो तत्कालीन समाज-निरूपण की नवीन उपलब्धि है। आज तक हेमचन्द्र के भारतीय समाज-संबंधी विवरण उपेक्षित से रहे हैं। यहां तक कि डा० ए० के० मजूमदार ने अपने 'चौलुक्याज आव् गुजरात' ग्रन्थ में, इस संबंध में, कुछ भी प्रकाश नहीं डाला है। प्रस्तुत निबन्ध में तत्संबंधी उल्लेखों का विश्लेषण और मूल्यांकन किया जा रहा है।

वर्ण-व्यवस्था

भारतीय समाज में वर्णव्यवस्था का अस्तित्व प्राचीनतम है। ये वर्ण चार थे, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र।[1] आचार्य हेमचन्द्र के समय में भी

नोट—पूर्वमध्ययुगीन भारतीय समाज की सांस्कृतिक अवस्था का अनेक भारतीय और विदेशी भाषाओं में लिखे गये तत्कालीन साहित्यिक ग्रन्थों और विदेशी यात्रियों के विवरणों के मूल का अध्ययन कर—प्रोफेसर डा० बुद्ध प्रकाश (अध्यक्ष, इतिहास विभाग, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति और पुरातत्व विभाग, डायरेक्टर इंस्टीट्यूट आव इंडिक स्टडीज तथा डीन फैकल्टी आव आर्टस्, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, पंजाब) ने सर्व प्रथम सम्यक्रूपेण विश्लेषण प्रस्तुत किया है, जो पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़ से रिचर्स बुलेटिन के स्वतन्त्र पुस्तक रूप में Some Aspect of Indian Cult in the Eve of muslim Invasions 'शीर्षक से प्रकाशित है। इन्होंने अनेक ऐसे ग्रंथों का उपयोग किया है जिन्हें इतिहासकारों ने अब तक उपेक्षित रखा था। उन ग्रन्थों के उपयोग से विद्वान इतिहासकार ने तत्कालीन समाज पर नवीन प्रकाश डाला है जिससे तद्युगीन समाज पर विचार करने की प्रेरणा मिलती है तथा तत् इतिहास के एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति होती है। प्रस्तुत निवन्ध में उक्त पुस्तक से अनेक स्थलों पर सहायता ली गई है।

१. शतपथ ब्राह्मण, ५, ५, ४६, निरुक्त ३ ८, "अपण्डक जातक" भदंत आनन्द कौसल्यायन, प्रथम खंड, पृ० १३६, १९४१ पाणिनिः ब्राह्मणक्षत्रियशूद्राः वर्णानामानुपूर्व्येण पूर्वनिपातः २।२।३४ वा०)

देना।[1] अलबीरूनी ने भी ब्राह्मणों के कुछ इसी प्रकार के कार्यों का निर्देश किया है। वह लिखता है कि ब्राह्मण के संपूर्ण जीवन में पुण्य के कार्य, दान देना है। वह निरन्तर पढ़े, यज्ञ करे[2] तथा वेद को पढ़ाए।[3] शुक्र का यह विकल्प है कि ब्राह्मण दांत (जितेन्द्रिय), कुलीन मध्यस्थ (समबुद्धि), अनुद्वेगकारी (कोमल वचन), अटल, परलोक से भीरु (डरने वाला), धार्मिक, उद्योगी और क्रोध रहित हो।[4] हेमचन्द्र ने ब्रह्मतेज उन्हीं ब्राह्मणों में वर्तमान बताया है, जिनमें आध्यात्मिक बल है।[5] अतः यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि समाज में ब्राह्मणों से सदाचरण सद्व्यवहार, सद्वृत्ति और सद्भाव से निवास करने की अपेक्षा की जाती थी। "सभाशृंगार" नामक ग्रंथ में ब्राह्मणों के लिए यह निर्देश किया गया है कि जो धोती और उत्तरीय धारण करे, सिर भद्र रखे तथा शिखा फहराए, भाल पर तिलक लगाए, गायत्री मंत्र का जप करे, दिन में तीन बार संध्या करे, प्रातः स्नान करे, वेद पढ़े, वेदान्त का ज्ञाता हो, सिद्धांत पर चर्चा करे, देव, गुरु, ऋषि और मित्र का तर्पण करे, वही नैष्ठिक ब्राह्मण है।[6] इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि उपरिलिखित निर्देशों के विपरीत चलने वाला प्रकृततः ब्राह्मणों की श्रेणी में नहीं माना जाता था। ऐसा लगता है कि हेमचन्द्र के काल में ब्राह्मण अपने स्वाभाविक कर्त्तव्यों से विमुख होने लगे थे तथा विभिन्न प्रकार के व्यवसायों में संलग्न होने लगे थे, इसी लिए हेमचन्द्र ने उन्हें केवल नाम का ब्राह्मण कहा है और उनके ब्राह्मणेतर कर्त्तव्यों की भर्त्सना की है। हेमचन्द्र स्पष्ट कहते हैं कि कलियुग में ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा नहीं है।[7] इस अप्रतिष्ठा का कारण अपने कर्त्तव्यों से च्युत होना तो है ही, साथ ही उनकी वैमनस्यता भी है।[8] वे एक दूसरे धर्मावलम्बियों के प्रति द्वेष भाव रखते थे, क्योंकि हेमचन्द्र ने 'ब्राह्मणश्रमणम्' का उदाहरण देकर उनके मनोमालिन्य का संकेत किया है।

ब्राह्मणों को प्राचीनकाल से कुछ विशेषाधिकार भी प्राप्त थे, जो राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक और बौद्धिक सभी प्रकार के थे। इस युग में भी ब्राह्मणों को ऐसी सुविधाएं प्राप्त थीं, जिससे वे समाज में अन्य वर्णों की अपेक्षा अधिक सम्मान [illegible]

१. अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहंचैव ब्राह्मणानामकल्पयत्॥ मनु० १.८८।
२. तहकीकमालिल्हिंद पृ० २६१।
३. वही, पृ० २७०।
४. दांतं कुलीनंमध्यस्थमनुद्वेगकारिणम्।
परत्रभीरुंधर्मिष्ठामुद्युक्तक्रोधवर्जितम्॥ शुक्र० ४.४३६।
५. सूत्र – 'ब्रह्मवर्चसम' – सिद्धहेमशब्दानुशासन, ७।३।८३।
६. उत्तरासंग धोती, मऊतिलक जनोइ, हाथि पवीती,
सिरु भद्रियउ, सिखा फरहरती, तिलकु कपालि,
गात्री सारु, त्रिकाल संध्यारावतु, प्रभात स्नातु, [illegible]।
वेद पढ़ाई, वेदान्त जाणइ, सिद्धान्त वखाणइ,
देव तर्पणु, गुरु तर्पणु, ऋषि तर्पणु, पितृ तर्पणु,
इसउ नैष्ठिकु ब्राह्मणु। 'सभाशृंगार' [illegible]
७. "न कलिकेषु ब्राह्मणा महत्तमः" सिद्धहेमशब्दानुशासन [illegible]।
८. "निरवंवैरस्य", वही, [illegible]।

चार वर्ण थे।[१] इनका कथन है कि चार वर्ण में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र हैं।[२] हेमचन्द्र के समय से कुछ पूर्व भारत की यात्रा करने वाले अरब लेखक अलबीरुनी[३] (मृत्यु १०४८ ई०) ने भारत के इन्हीं चार वर्णों का उल्लेख किया है।[४] वस्तुतः ये चार वर्ण प्राचीनकाल से चले आ रहे हैं। इस वर्णव्यवस्था का प्रेरक तत्व निश्चय ही व्यक्ति का व्यवसाय और कर्म ही था, जिस पर समाज-विश्लेषकों की दृष्टि थी। प्राचीनकाल से चार वर्णों में विभाजित भारतीय जाति मध्ययुग में भी तदनुरुप ही थी। यद्यपि वर्ण-विभाजन में जन्मगत आधार का बीज "कुल" और "वंश" नाम से आ गया था, तथापि वर्ण-व्यवस्था में व्यक्ति के व्यवसाय और कर्म का महत्व अपेक्षाकृत अधिक था।[५]

ब्राह्मण

हिन्दूसमाज में ब्राह्मणों की स्थिति सर्वप्रमुख थी। सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक आदि सभी पक्षों में उनकी प्रधानता मान्य थी। प्राचीन धर्म-शास्त्रों ने इनकी उत्पत्ति ब्रह्मा के मुख से मानी है।[६] कदाचित् इसी कारण इनकी मर्यादापूर्ण सर्वोच्चता हिन्दू समाज में थी। आचार्य हेमचन्द्र का कथन है कि ब्राह्मण ब्रह्मा की संतान हैं।[७] यहां 'ब्रह्मा" से उनका तात्पर्य हिन्दुओं के पौराणिक 'ब्रह्मा' से नहीं है बल्कि आध्यात्मिक गुण-संपत्ति युक्त और सद्चरित्रता से विभूषित व्यक्ति 'ब्रह्मा" के नाम से संबोधित किया गया है। अतः "ब्राह्मण" शब्द उनके लिए प्रयुक्त होता था।[८] हेमचन्द्र का दृढ़ मत है कि जो ब्राह्मण सद्चरित्रता, मनन-शीलता आदि गुणों से रहित है तथा अपने मौलिक कर्तव्यों को त्याग कर 'आयुधजीवी" (अर्थात् अस्त्र शस्त्र से जीविकोपार्जन करता है) हो जाता है, वह मात्र नाम का ही ब्राह्मण होता है।[९] ब्राह्मणों के अन्य पर्यायवाची नामों में उन्होंने "षट्कर्मा" नाम भी दिया है।[१०] शुक्र के अनुसार जो ज्ञान, कर्म, देवता आदि की उपासना देवता के आराधन में तत्पर शांत, दांत और दयालु था, वही ब्राह्मण था।[११] 'षट्कर्मों' में ये कर्त्तव्य थे। १–वेद पढ़ना, २–वेद पढ़ाना, ३–यज्ञ करना, ४–यज्ञ कराना, ५–दान लेना, और ६–दान

---

१. चत्वार एव वर्णाश्चातुर्वर्ण्यम् सिद्धहैमशब्दानुशासन, ७।२।१६४।

२. "चातुर्वर्ण्यं द्विजक्षत्रवैश्यशूद्र नृणा भिदः" अभिधान चिन्तामणि, ३।८०७।

३. "अलबीरूनी का भारत प्रवास और भ्रमण"—काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ६६, अंक १, सं० २०१८, पृ० ६८–७८

४. तहकीक-मालिल्-हिंद, पृ० ५० (अनुवादक, संखाउ अलबीरूनीज इंडिया)

५. "पूर्वमध्ययुगीन भारतीय वर्णव्यवस्था", बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी जर्नल वर्ष ८, अंक १, पृ० २२३–३४, ६२

६, महा०, शांति०, ७२. १७–१८, ब्राह्मणः क्षत्रियाः वैश्याः शूद्राश्च द्विजसत्तमाः।
पादोरुपक्षः स्थलता मुखतश्च समुद्गताः ।। विष्णुपुराण, १.६.६।

७. "ब्राह्मणोऽपत्यं ब्राह्मणः, सिद्धहेमशब्दानुशासन, ७।४।५८।

८. अभिधान चिन्तामणि, ६, १४१६, लिंगानुशासन, पृ० १४२. पंक्ति २०।

९. ब्राह्मणानाम्नि–"यत्रायुधजीविनः काण्डस्पष्टा नाम ब्राह्मणाः भवन्ति। आयुधजीवी ब्राह्मण एव ब्राह्मणक इत्यन्य। सिद्धहेमशब्दानुशासन, ७।१।१८४

१०. "अवदानं कर्म शुद्धं, ब्राह्मणस्तु त्रयीमुखः। भूदेवो वाडवो विप्रो द्वयग्राम्यां जाति-जन्मजाः वर्णज्येष्ठः सूत्रकण्ठः षटकर्मा मुखसम्भवः अभिधान चिन्तामणि, ३, १८११।११।

११. ज्ञान कर्मोपासनाभिर्देवताराधनेरतः। शांतोदांतोदयालुश्च ब्राह्मणश्चगुणैः कृतः ।। शुक्र० ४।

देना।[1] अलबीरुनी ने भी ब्राह्मणों के कुछ इसी प्रकार के कार्यों का निर्देश किया है। वह लिखता है कि ब्राह्मण के संपूर्ण जीवन में पुण्य के कार्य, दान देना है। वह निरन्तर पढ़े, यज्ञ करे[2] तथा वेद को पढ़ाए।[3] शुक्र का यह विकल्प है कि ब्राह्मण दांत (जितेन्द्रिय), कुलीन मध्यस्थ (समबुद्धि), अनुद्वेगकारी (कोमल वचन), अटल, परलोक से भीरु (डरने वाला), धार्मिक, उद्योगी और क्रोध रहित हो।[4] हेमचन्द्र ने ब्रह्मतेज उन्हीं ब्राह्मणों में वर्तमान बताया है, जिनमें आध्यात्मिक बल है।[5] अतः यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि समाज में ब्राह्मणों से सद्‌आचरण सद्‌व्यवहार, सद्‌वृत्ति और सद्‌भाव से निवास करने की अपेक्षा की जाती थी। "सभाशृंगार" नामक ग्रंथ में ब्राह्मणों के लिए यह निर्देश किया गया है कि जो धोती और उत्तरीय धारण करे, सिर भद्र रखे तथा शिखा फहराए, भाल पर तिलक लगाए, गायत्री मंत्र का जप करे, दिन में तीन बार संध्या करे, प्रातः स्नान करे, वेद पढ़े, वेदान्त का ज्ञाता हो, सिद्धांत पर चर्चा करे, देव, गुरु, ऋषि और मित्र का तर्पण करे, वही नैष्ठिक ब्राह्मण है।[6] इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि उपरिलिखित निर्देशों के विपरीत चलने वाला प्रकृततः ब्राह्मणों की श्रेणी में नहीं आता था। ऐसा लगता है कि हेमचन्द्र के काल में ब्राह्मण अपने स्वाभाविक कर्त्तव्यों से विमुख होने लगे थे तथा विभिन्न प्रकार के व्यवसायों में रुचि लेने लगे थे, इसी लिए हेमचन्द्र ने उन्हें केवल नाम का ब्राह्मण कहा है और उनके ब्राह्मणेतर कर्त्तव्यों की भर्त्सना की है। हेमचन्द्र स्वयं कहते हैं कि कलिंग में ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा नहीं है।[7] इस अप्रतिष्ठा का कारण अपने कर्त्तव्यों से च्युत होना तो है ही, साथ ही उनकी वैमनस्यता भी है।[8] वे एक दूसरे धर्मावलंबियों के प्रति द्वेष-भाव रखते थे, क्योंकि हेमचन्द्र ने 'ब्राह्मणश्रमणम्' का उदाहरण देकर उनके मनोमालिन्य का संकेत किया है।

ब्राह्मणों को प्राचीनकाल से कुछ विशेषाधिकार भी प्राप्त थे, जो राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक और बौद्धिक सभी प्रकार के थे। इस युग में भी ब्राह्मणों को ऐसी सुविधाएं प्राप्त थीं, जिससे वे समाज में अन्य वर्णों की अपेक्षा श्रेष्ठ समझे जाते

१. अध्यापनमध्ययनं यजन याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहंचैव ब्राह्मणानामकल्पयत ॥ मनु० १.८८।
२, तहकीकमालिल्हिंद. पृ० २६१।
३. वही, पृ० २७०।
४. दांतं कुलीनंमध्यस्थमनद्वेगकारस्थिरम्।
परत्रभीरुंधर्मिष्ठामुक्तक्रोधवर्जितम् ॥ शुक्र० ४.४३६।
५. सूत्र – 'ब्रह्मावर्चसम' – सिद्धहेमशब्दानुशासन, ७।३।८३।
६. उत्तरासंग धोती, सऊतरिऊ जनोइ, हाथि प्रवोती,
सिरु भद्रियउं, सिखा फरहरती, तिलकु वधारियउ,
गात्री सारु, त्रिकाल संध्यारावनु, प्रभात स्नानु, नित्यदानु।
वेद पढ़ाई, वेदान्त जाणइ, सिद्धान्त वखाणइ,
देव तर्पणु, गुरु तर्पणु. ऋषि तर्पणु, पितृ तर्पणु.
इसउनैष्ठिकु ब्राह्मणु। 'सभाशृंगार' शब्दानुशासन का० ना० प्र० सभा, पृ० १४८।
७. "न कलिंगेषु ब्राह्मण महत्तमम् सिद्धहेमशब्दानुशासन, ५।२।११।
८. "नित्यवैरस्य", वही, ३।१।१४१।

थे। प्रोफेसर डाक्टर बुद्ध प्रकाश ने आचार्य हेमचंद्र का उद्धरण देते हुए ब्राह्मणों की विशेष सुविधाओं प्राणदंड, शारीरिक दंड आदि की समीक्षा की है।'[१]

ब्राह्मणों को आपत्तिकाल में जब कर्तव्य से च्युत होना पड़ता था, तब उन्हें पोषण के लिए ब्राह्मणेतर व्यवसाय अपनाना पड़ता था। इस तरह के आपत्तिकालिक कर्मों का निर्देश भारतीय धर्मशास्त्रकारों ने किया है। ऐसी व्यवस्था में इतर कर्म को ग्रहण करने वाला ब्राह्मण केवल नाम का ब्राह्मण होता था, कर्म से वह ब्राह्मण नहीं होता था। आपत्तिकाल मे ब्राह्मण 'आयुधजीवी',[२] 'व्यापारोपजीवी'[३] तथा 'व्याजोपजीवी' हो सकता था।[४] किन्तु आचार्य हेमचन्द्र ने ब्राह्मणों का इतर कर्म निंद्य माना है और सामाजिक दृष्टि से अनुचित निर्दिष्ट किया है। उनका मत है कि जो ब्राह्मण सोम का विक्रय करता है, घी का विक्रय करता है तथा तेल का विक्रय करता है वह निंदनीय है।[५] निश्चय ही आचार्य हेमचन्द्र का विचार ब्राह्मणों के प्रति तटस्थ-सा है। उनके विचार से प्रत्येक वर्ण को अपना कार्य करना चाहिए। किन्तु इसी युग के कुछ ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनसे स्पष्ट होता है कि ब्राह्मण विभिन्न कर्मों को करते थे। ब्राह्मण मन्त्री होते थे,[६] नगर प्रमुख होते थे।[७] दण्डनायक होते थे,[८] मूर्तिकार होते थे,[९] अभिलेखों के रचयिता होते थे।[१०] वे राष्ट्र और राजा की रक्षा अपनी सलाह देकर करते थे।[११] विक्रम संवत् १२१३ के कुमारपाल के नाडौल अभिलेख में उसके मन्त्री का नाम वहड़देव लिखा है, जो सम्भवतः उसके प्रारंभिक राज्यकाल में उदयन का पुत्र था। वह दण्डाधिपति के साथ-साथ महामात्य भी था।[१२]

हेमचन्द्र ने विभिन्न प्रदेशों के ब्राह्मणों के लिए उस प्रदेश के नाम के साथ उनको सम्बोधित किया है, जैसे सौराष्ट्र में निवास करने वाले ब्राह्मण 'सौराष्ट्रिक' अथवा 'सुराष्ट्र ब्राह्मण' कहे जाते थे, अवंति में निवास करने वाले 'अवंति ब्राह्मण' से जाने जाते थे तथा काशी देश में बसने वाले 'काशी ब्राह्मण' से अभिहित थे।[१३] 'पांचाल ब्राह्मणों

---

१. Buddha Prakash : Some Aspects of Indian Culture on the Eve of Muslim Invasions, P. 39.
२. EI., II, 30 1.
३. मनु० १०. ८६।
४. कृत्यकल्पतरु, गृहस्थकांड, २१४-२१।
५. शब्दानुशासन, ५। ६। १५६।
६. राजतरंगिणी, ८, १०८, BI., 3.32; IHQ., XV, y. 581.
७. राजतरंगिणी, ७. १०८।
८. EI., II, 301,
९. वकुलस्वामी (गिरनार अभिलेख, RLARBP., 322)
१०. कमोली प्लेट में मनोरथ, EI., II. 324; सोमेश्वर गुजरात में EI. I. 31 :चालुक्य भोम द्वितीय के अन्तर्गत माधव EI., PV. 57;
११. EI., I. p. 293.
१२. रासमाला, अध्याय १३, पृ० २३१।
१३. सुराष्ट्रे ब्रह्मा सुराष्ट्रः यः सुराष्ट्रे वसति स सौराष्ट्रिको ब्राह्मण इत्यर्थः एवमवन्ति ब्राह्मणः काशि ब्राह्मणः-सिद्धहेमशब्दानुशासन, ६।३।१०७।

का भी उल्लेख हेमचंद्र ने किया। है [1] अतः हेमचंद्र द्वारा दिए गए, विभिन्न प्रदेशों के ब्राह्मणों के इन उल्लेखों से उनकी व्यापकता और उनका विस्तार प्रकट होता है। साथ ही यह भी स्पष्ट होता है कि उन प्रदेशों के ब्राह्मणों का समाज में उत्कृष्ट स्थान था।

क्षत्रिय

राजनीतिक दृष्टि से क्षत्रियों का महत्व हिंदू समाज में प्रमुख था। समाज के परिपोषण और रक्षण में उनका अभूतपूर्व योग था। देश और जनता की व्यवस्था का रक्षात्मक और निर्देशात्मक भार क्षत्रिय समुदाय पर था। मध्यकाल में ही नहीं, प्राचीनकाल में भी जब-जब देश पर शत्रुओं का आक्रमण हुआ, क्षत्रियों ने एकनिष्ठता और साहस के साथ देश और प्रजा की रक्षा की। अतः शूरता और वीरता की दृष्टि से क्षत्रियों का मान समाज में ब्राह्मणों की अपेक्षा कम नहीं था। नवीं शती के अरबी लेखक इब्नखुर्दाज्बा ने लिखा है कि क्षत्रियों के संमुख सभी सिर झुकाते हैं, लेकिन वे किसी को सिर नहीं झुकाते। [2] इस कथन से इतना स्पष्ट है कि उनका समाज में आदरात्मक स्थान था।

हेमचंद्र ने 'क्षत्रिय' शब्द को' क्षत्र 'शब्द से व्युत्पन्न 'इय' प्रत्यय के साथ जाति अर्थ में प्रयुक्त होना बताया। [3] किंतु लक्ष्मीधर ने 'क्षत्रिय' शब्द को 'क्षत्रात्त्राणम' से निःसृत माना है। [4] 'क्षतात्त्राणम', अर्थात् उनका कर्म था अन्य तीन वर्णों के लोगों की हानि अथवा भय से रक्षा करना। हेमचंद्र ने 'क्षत्रिय' और 'राजन्' शब्द पर विचार करते हुए लिखा है कि क्षत्रिय जाति के अभिषिक्त व्यक्ति 'राजन्य' के नाम से अभिहित थे और क्षत्रियेतर जाति के प्रशासक व्यक्ति 'राजन्य' के नाम से संबोधित किए जाते थे। [5] यही नहीं, हेमचंद्र ने संघीय शासन में भाग लेने के अधिकारी 'क्षत्रिय' कुल के व्यक्तियों को भी 'राजन्य' नाम दिया है। [6] अतः इस विवेचन से स्पष्ट है कि क्षत्रिय वर्ण के अंतर्गत 'राजन्' और 'राजन्य' दोनों आते थे।

कर्म की दृष्टि से क्षत्रियों का कर्म अत्यंत महत्वपूर्ण था। शुक्र के अनुसार जो लोक की रक्षा करने में दक्ष, वीर, दांत, पराक्रमी और दुष्टों को दंड देने वाला हो, वही क्षत्रिय है। [7] आचार्य हेमचन्द्र ने क्षत्रियों की "शूरता" को ही "पुरुषार्थ" माना है। [8] ऐसा लगता है हेमचन्द्र ने क्षत्रियों के "पुरुषार्थ" के अंतर्गत सभी कर्मों को निहित कर लिया। हेमचन्द्र के पूर्ववर्ती सम्राट् भोज की यह व्यवस्था है कि "जो वीर, उत्साही शरण देने और रक्षा करने में समर्थ, दृढ़ और विशाल शरीर वाले थे, वे संसार में क्षत्रिय हुए। उनका काम ब्राह्मणों के लिए निर्दिष्ट कार्यों के अतिरिक्त विक्रम, प्रजा की रक्षा, उनके भाग आदि का प्रबन्ध और व्यवस्था

---

१. पंचालस्य ब्राह्मणस्य राजा पांचाल. पंचालस्य ब्राह्मणस्यापत्यं वा पांचालः वही, ६।१ ११४
२. किताबुल-मसालिक-वल् ममालिक, पृ० ७१, लीडन, १८८९।
३. 'क्षत्रादित्यः 'क्षत्रस्यापत्यं क्षत्रियः जातिश्चेत 'सिद्धहेमशब्दानुशासन, ६। १। ९३ ।
४. कृत्यकल्पतरु, गृहस्थ०, पृ० २५२।
५. 'जातौ राज्ञः—' 'राजन् शब्दादपत्ये जातौ गम्यमानायां यः प्रत्ययो भवति, यथा—राज्ञोऽपत्यं राजन्यः क्षत्रियजातिश्चेत्। राजनोऽन्यः।—सिद्धहेमशब्दानुशासन, ६।१।९२।
६. 'राजन्यादिभ्योऽकञ्'—वही, ६।२।६६॥
७. शुक्र०, १.४१।
८. 'क्षत्रियः पुरुषाणां पुरुषेषु वा शूरतम्'—सिद्धहेमशब्दानुशासन, २।२।१०९।

करना था।[१] अतः हेमचन्द्र द्वारा निर्दिष्ट "क्षत्रिय" वर्ग के पुरुषार्थ का भाष्य भोज के उपरिलिखित कथन से भले प्रकार हो जाता है। एक स्थल पर आचार्य हेमचन्द्र ने क्षत्रियों के पांच नाम दिए हैं, जो इस प्रकार हैं— "क्षत्रम्, क्षत्रिय, राजा, राजन्य और बाहु संभव।[२] लेकिन इतना अवश्य है कि क्षत्रिय वर्ग का मुख्य कार्य प्रजा और शासन की देखभाल करना था। इस सम्बन्ध में अरबयात्री अलबीरूनी का कथन युक्तियुक्त है :— "क्षत्रीय वेद को पढ़ता है पढ़ाता नहीं। वह यज्ञ करता है, पुराणों के नियमानुसार आचरण करता है। वह प्रजा पर शासन करता है और उनकी रक्षा करता है। क्योंकि वह इसी निमित्त पैदा किया गया हैं।[३]

आचार्य हेमचन्द्र ने विभिन्न प्रदेशों में रहने वाले क्षत्रियों को प्रदेश नाम के साथ जोड़ कर नवीन नाम दिया है। उनके अनुसार मगध में "मागध जाति" के क्षत्रिय वास करते थे।[४] इसी प्रकार यौधेय, मालव, पांचाल आदि जाति के क्षत्रिय उस प्रदेश में वसते थे। हेंमचन्द्र ने "इक्ष्वाकु वंश के क्षत्रियों को "आदि क्षत्रिय" माना है।[५] भोज परमार के नाम पर मालवा के परमार क्षत्रियों को इन्होंने 'भोजवंशजा' माना है।[६] किन्तु, 'सभाश्रश्रृंगार' नामक ग्रंथ से राजपूत क्षत्रियों के छतीस वर्ग मिलते हैं। जो इस प्रकार हैं : "परमार, राठौर, चौहाण, (चौहान या चाहमान), गहिलोत (गिहलोत) दहिया, सेणचा, बोरी, बगछा, सोलंकी, सीसोदिया, खेरमारी, नाकुंभ, गोहिल, चावड़ा, भाला. छूर, कागवा, जेठवा, रोहर, वस, बोरड़. खीची, खरवड़, डोडिया, हरिश्रड़, डाभी, तंअर, कोरड़, गौड, मकवाड़ा, यादव, कछवाहा, भाटी, सोनिगरा, देवड़ा, चंद्रावत।[७] ये छत्तीस, राजकुल थे जो भारत के विभिन्न प्रदेशों में निवास करते थे।

ऊपर के विश्लेषण से स्पष्ट है कि हेमचन्द्र के समय क्षत्रियों का प्रधान कर्म पूर्व-निर्दिष्ट था तथा देश के विभिन्न भागों में वास करने से उनके विभिन्न नाम हो गए थे, जो कालांतर में जाकर अनेक श्रेणियों में हो गए तथा उसी प्रकार उनके नाम भी परिवर्तित हो गए।

वैश्य

भारतीय समाज में राष्ट्र की अर्थ-नीति व्यापार-प्रणाली का सर्वथा भार वैश्यों के हाथ था। देश और समाज की आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ और सुसंगठित बनाने के लिए वैश्य वर्ग को नियोजित

---

१. येतु शुरा महोत्साहाः शरण्या रक्षण क्षमाः ॥ दृढ़व्यायत देहाश्च क्षत्रियास्तु इहाभवन्।
विक्रमोलोकसरक्षा विभागो व्यवसायिता ॥ समरांगणसूत्रधार, ७. ११-१२।

२. 'क्षत्र' तु क्षत्रियों राजा, राजन्यो वाहुसंभवः' ॥ अभिधानचिन्तामणि, ३. ८६३।

३. तहकीक-मालि-हिंद, पृ० २७४।

४. 'मगधानां राजा, मगधस्यापत्यं वा मागधः—' सिद्धहेमशब्दानुशासन, ६।१।११६।

५. 'इक्ष्वाकुः आदि क्षत्रियः'—उणादिसूत्रवृत्ति, ७५६।

६. 'भोज्या-भोजवंशजा क्षत्रियाः'—सिद्धहेमशब्दानुशासन, २।४।८१।

७. सभाशृंगार, पृ० १४६।

नोटः—कल्हण ने अपनी "राजतरंगिणी" (७.१६१७) में भी राजपूतों के ३६ कुलों का निर्देश किया हैं, जिससे स्पष्ट होता है कि ये 'कुल' १२ वीं सदी के वहुत पहले सर्वविदित थे।

किया गया था। अतः राष्ट्र के आर्थिक व्यवहार का संचालन वैश्य करते थे।

आचार्य हेमचन्द्र ने "वैश्य" के लिए "अर्य" शब्द का प्रयोग किया हैं। [1] उनका यह शब्द प्रयोग पाणिनि के आधार पर है। पाणिनि ने भी "वैश्य" के लिए "अर्य" व्यवहृत किया है। [2] ऐसा प्रतीत होता है कि हेमचन्द्र ने पाणिनि के तत्संबंधी सूत्र को थोड़े परिवर्तन के साथ गृहीत कर लिया। हेमचन्द्र ने वैश्यों के छः नाम दिए हैं। "अर्या, भूमिस्पर्शाः, वैश्या, ऊरव्या ऊरुजाः और विशः। [3] इस प्रकार स्पष्ट है कि हेमचन्द्र के काल तक वैश्यों के लिए उपरिलिखित छहों नाम प्रचलित थे।

वैश्यों का प्रमुख कार्य था, पशुओं की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, वेद पढ़ना, व्याज लेना और खेती करना। [4] इस सम्बन्ध में हेमचन्द्र का कथन है कि वाणिज्य, पशुपालन और कृषि वैश्यों की प्रधान वृत्तियां हैं। [5] उन्होंने इनके छह आजीविका का भी निर्देश किया है, जो इस प्रकार है 'आजीव, जीवनम, वार्त्ता, जीविका, वृत्ति और वेतन। [6] अलवीरूनी का कथन है कि वैश्य का धर्म है कि खेती करे, भूमि को जोते, पशु पाले और ब्राह्मणों की आवश्यकता को पूरी करे। [7] वैश्यों के व्यापार करने का निर्देश अलवीरूनी ने नहीं किया है। अलबीरूनी के पूर्ववर्ती अरबलेखक इब्नखुर्दाज्वा ने वैश्यों को कारीगर और घर–गृहस्थी के कार्यों में निपुण बताया है। [8] हेमचन्द्र से कुछ ही पहले होने वाले अरबलेखक अल–इदरीसी ने वैश्यों को कला-कौशल में निपुण तथा मिस्त्री निर्दिष्ट किया है। [9] अतः स्पष्ट है कि आचार्य हेमचन्द्र के काल तक आते-आते वैश्यों के कर्मों में काफी परिवर्तन होता गया। केवल व्यावसायिक कार्य से ही वे सम्बद्ध थे।

हेमचन्द्र ने व्यापार करने वाले वैश्यों को आठ प्रकार का बतलाया है : "वाणिजः, वणिक, क्रयविक्रयिक, पण्याजीवी, आपणिक, नैगमः, क्रयिक, और क्रयी। [10] वस्तुएं खरीदने वालों को उन्होंने तीन नाम दिए हैं, क्रायक, क्रयिक और क्रयी। [11] इसी तरह तीन नाम वस्तुएं बेचने वाले को भी दिए हैं : विक्रायक, विक्रयिक और विक्रयी [12]।

१. 'स्वामिवैश्येऽर्यः'—सिद्धहेमशब्दानुशासन, ५। १। ३३।
२. अर्यः स्वामि वैश्ययो – पाणिनि०, ३. १०. १०३।
३. "अर्या भूमिस्पर्शो वैश्या, ऊरव्या ऊरुजा विशः'—अभिधान चिन्तामणि, ३. ८६४।
४. मनु० १६०. कौ० अ०, १.३७, शुक्र० १.४२।
५. "वाणिज्यं पाशुपाल्यं च, कर्षणं चेति वृत्तयः। "अभिधान चिन्तामणि, ३.८६४।
६. 'आजीवो जीवनं वार्त्ता, जीविका वृत्ति वेतन–वही, ३. ८६५।
७. तहकीक–मालिल्–हिंद, पृ० २७१।
८. E., Vol. II, p. 16.
९. Ibid., p. 76.
१०. 'सत्यानृतं तु वाणिज्यं वाणिज्या वणिजो वणिक।
क्रयविक्रयिकः पण्याजीवाऽऽपणिकनैगमाः॥ अभिधानचिन्तामणि, ३.८६७।
११. वही ३. ८६८।
१२. वही।

डा० अल्तेकर [1] और धुर्ये [2] का मत है कि वैश्य कालान्तर में शूद्र की स्थिति तक आ गए। किन्तु हेमचन्द्र के उपरिलिखित विवरण के विवेचन से यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि मध्य-काल में वैश्यों की स्थिति शूद्रों के समानान्तर नहीं थी, वल्कि प्राचीन काल से उनका जो स्थान समाज में था, वह अब भी था। अंतर केवल एक वात का था, वह यह कि उनको प्राचीन काल में जो अधिकार वेद पढ़ने का था, वह इस काल में सम्भवतः आवद्ध सा हो गया था। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उनकी अवस्था शूद्रों के समकक्ष थी। भारतीय ग्राम विभिन्न जाति के लोगों के आवास से सर्वथा परिपूर्ण होते थे। ग्राम अथवा शहर की आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले सभी व्यवसाय के लोग उसमें रहते थे जिसमें केवल वैश्य और शूद्र ही नहीं ब्राह्मण और क्षत्रिय भी शामिल थे। अतः वैश्य कालान्तर में शूद्रों के स्तर तक आ गए। युक्तिसंगत नहीं। "सभाश्रृंगार" के एक वर्णन से विदित होता है कि नगर में अनेक व्यव-सायों को करने वाले तथा सभी वर्ण के लोग निवास करते थे—

तथा महासार्थवाह, इभ्य श्रेष्टि, व्यवहारिक, दौपिक, नैस्तिक; प्रमुख अस्तोक, कवि अणलोक; तथा सुवर्णकार, कांस्यकार, दंतकार, लोहकार, शिल्पकार; रथकार, सूत्रधार, सूपकार, चित्रकार, कुंभकार, मालाकार रूप प्रमुख वसइं; नगर ज्ञातीय, श्रीमालज्ञातीय, डीडवाल, सडेरवाल, जालंधरीय, सत्यपुरीय, प्रमुख ब्राह्मण; सोमवंशीय, सूर्यवंशीय. हरिवंशीय उग्रकुली, भोगकुली, सोलंकीय गुहिल्ल, उच्च, परमार, प्रतिहार, चौलुक्य, सकल प्रमुख क्षत्रिय; शिल्पकार, स्वर्णकार, प्रमुख वैश्य वर्ण; प्रमुख, सौद्र।"[3]

इस वर्णन से वैश्यों की निम्नता नहीं झलकती है। ग्राम अथवा नगर में ये एक साथ रहते थे और अपने व्यवसाय का पालन करते थे। वस्तुतः वैश्यों के स्तर के सम्वन्ध में डा० अल्तेकर और डा० धुर्ये का कथन युक्तियुक्त नहीं। आचार्य हेमचन्द्र का कथन ही वैश्यों के व्यवसाय और उनकी स्थिति का सर्व-प्रकारेण प्रतिनिधित्व करता है, जिसकी संपुष्टि "सभाश्रृंगार" के उपर्युक्त वर्णन से होती है।

शूद्र

भारतीय सामाजिक आचार-विचार और व्यवहार-क्रम में शूद्रों का स्थान अन्य वर्णों की तुलना में चौथा स्थान था। समाज के अन्य वर्णों के कर्मों और अधिकारों की अपेक्षा इनके अधिकार और कर्म सीमित थे। न उन्हें वेद पढ़ने का अधिकार था, न व्यापार करने का। समाज की सर्वविधिपूर्वक सेवा करना ही उनका मुख्य कर्म था। ईश्वर की ओर से शूद्र का एकमात्र कर्म ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, तीनों वर्ण की सुश्रुषा करना ही प्राचीन धर्म शास्त्रों में वताया गया है। [4]

हेमचन्द्र ने दो प्रकार के शूद्र [5] वतलाए हैं, एक आर्यावर्त में रहने वाले और दूसरे आर्यावर्त के वाहर रहने वाले। आर्यावर्त में रहने वाले शूद्रों

१. The Rashtrakutas and their Times, pp. 332–33.
२. Caste and class in India, pp. 57,64, 88, 96.
३. सभाश्रृंगार, पृ० ११।
४. एकमेवतु, शूद्रस्या प्रभुः कर्मसमादिशत्।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया॥ मनु० २.९१, याज्ञ० ५१.२०, महा० शांति०, ७२.८।
५. 'पात्र्यशूद्रस्य'–सिद्धहेमशब्दानुशासन, ३।१।४३।

के दो वर्ग थे, पात्र्या और अपात्र्या। जो शूद्र अभिजात्य वर्ग के वर्तनों में भोजन-पान कर सकते थे तथा मांजने से वर्तन शुद्ध हो जाते थे,[१] वे पात्र्या नाम से संबोधित किए गए। और जो शूद्र इस योग्य नहीं थे वे अपात्र्या कहे गए। शूद्रों के विषय में सम्राट् भोज का विकल्प है कि 'अपने मान का ख्याल न करने वाले, पूर्ण रूप से पवित्र न रहने वाले, चुगलखोर और धर्म से विरत रहने वाले शूद्र जाति के अंतर्गत हुए। कौशल दिखाकर, मुख से विशेष प्रकार की आवाज निकाल कर, कारीगरी और पशु-पालन से जीविका चलाना तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य-तीनों वर्ण की सेवा करना उनका प्रधान धर्म है।[२] भोज के इस कथन से स्पष्ट होता हैं कि जो शूद्र मानी और पवित्र थे तथा धर्म-पालन करते थे, वे शूद्र वर्ग से ऊंचे रहते थे। आचार्य हेमचन्द्र ने भी इस पर विचार किया है। उनका यह दृढ़ मत है कि शीलवान व्यक्ति ही 'आर्य' है।[३] जो व्यक्ति ज्ञान, दर्शन और चरित्र रखता है, वही आर्य है।[४] इस प्रकार शूद्र भी इन्हीं गुणों को रखकर 'आर्य' हो सकते थे। अगर ऐतिहासिक तथ्यों को देखा जाय तो आचार्य हेमचन्द्र का कथन सर्वांशतः खरा उतरता है। गिरि-पश्चिम शासन के दुर्जय परिवार और वेलनांडु के प्रधान, महा-मंडलेश्वर पद तक पहुँच गए थे, जो शूद्र थे।[५] यद्यपि डा० घोषाल का यह मत है कि इस काल (१००० ई० से १३०० ई०) की कृतियां और टीकाएं शूद्रों के व्यवसाय और स्तर के सम्बन्ध में पुराकालीन स्मृतियों का अनुसरण करती है।[६] परन्तु यह कथन पूर्णतः एकांगी है। इस सम्बन्ध में प्रोफेसर डा० बुद्ध प्रकाश ने लक्ष्मीधर का उद्धरण देते हुए इस मत की स्थापना की है कि शुद्ध मस्तिष्क वाला (अथवा सद्चरित्र) शूद्र, भ्रष्ट ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य से अच्छा था।[७] निश्चय ही इस युग के लेखकों ने पुरानी लीक का अनुसरण न कर युग की मांग का समर्थन किया है। जैसा कि ऊपर निर्दिष्ट किया गया है आचार्य हेमचन्द्र और सम्राट् भोज का यह मत है कि शूद्र पवित्रता, धर्मानुसरण, ज्ञान, और दर्शन से 'आर्य' पद को प्राप्त कर सकता है।

---

१. "यैर्भुक्त पात्रं संस्कारेण शुद्ध्यति ते पात्रमर्हन्तीति पात्र्याः", वही, ३।१।१४३।

२. नातिमानभृतो नाति शुचयः पिशुनाश्च ये।
ते शूद्रजातयो जाता नाति धर्मरताश्चये।
कलारम्भोपजीवित्वं शिल्पिता पशुपोषणम्।
वर्णात्रितयशुश्रूषा धर्मस्तेषामुदाहृतः ॥ समरांगणसूत्रधार, ७. १५ १६।

३. 'शीलमस्माकं स्वम्'-सिद्धहेमशब्दानुशासन, २।१।२१।

४. 'अर्यति गुणान् आप्नोतीति आर्यः'। वही।

५. Ganguly, D. C.: The Eastern Calukyas, p. 170

६. "The description of Sudra's occupation and Status in the comentaries and digests of this period followed the old Smriti lines."– The Struggle for Empire p. 475.

७ "Inspite of these caste-complexes, the position of the lower classes improved during this period. Laksmidhara held that a pure-minded Sudra was better than a notorious Brahmana, Ksatriya or Vaisya. Some Aspects of Indian Culture on the eve of Muslim Invasions। p. 39.

यही नहीं, मेधातिथि के काल में शूद्रों की सामाजिक स्थिति और उनका व्यवसाय सद्भावना की दृष्टि से देखा गया है। मेधातिथि और विश्वरूप दोनों ने यह आधार लिया है कि शूद्र न सेवक बनाए जा सकते हैं, न ब्राह्मण पर निर्भर किए जा सकते हैं। वे व्याकरण तथा अन्य विद्याओं के शिक्षक हो सकते हैं, स्मृतियों द्वारा निर्दिष्ट उन सभी कृत्यों को सम्पन्न कर सकते हैं, जो अन्य वर्णों के लिए हैं। [१] अतः यह समीक्षा डा० घोषाल के मत का स्वयं खंडन कर देती है तथा मध्यकालीन शूद्रों की स्थिति और समाज में उनके स्थान की उच्चता दिग्दर्शित करती है।

आचार्य हेमचन्द्र ने कुम्हार, नापित, बढ़ई, लोहार, तन्तुवाय-बुनकर, रजक धोबी, तक्ष, अयस्कार, आदि वर्ग के लोगों को शूद्र के अंतर्गत माना है। [२] उनके अनुसार शूद्रों के छह नाम थे, शूद्र, अन्त्य वर्ण, वृषल, पद्यः, पज्जः और जघन्यज। [३] 'आभीर' जाति को हेमचन्द्र ने 'महाशूद्र' कहा है। [४] कात्यायन ने भी 'महाशूद्र' स्वीकार किया है। [५] इस प्रकार शूद्रों में भी महाशूद्र थे, जो सम्भवतः शक, हूण और यवन जैसी विदेशी जातियों के लोगों की तरह थे।

अन्य निम्न जातियां

इन चार वर्णों के अतिरिक्त समाज में और भी अनेक जातियां थीं, जो इन वर्णों की अपेक्षा निम्न थीं, जिनका कार्य भी निम्न था [६] आचार्य हेमचन्द्र ने प्रधानतः तेरह जातियां बताई हैं, जो अनुलोम–प्रतिलोम के कारण बनी थीं, जिन्हें वे मिश्र जाति कहते हैं। [७] मिश्र जातियां ये थीं। "मूर्धावसिक्त, अम्बष्ठ, पराशव, निषाद, माहिष्य, उग्र, करण, आयोगव, क्षत्ता, चण्डाल, मागध, वैदेहक, सूत्त और रथकारक। ऐसी जातियों के विषय में अपरार्क का कथन है कि चांडाल, पुक्कस, भिल्ल, पारसी, महापातकियों से छू जाने पर सवस्त्र (सचैल) स्नान करे। [८] अत: इस कथन से स्पष्ट होता है कि ये जातियां अस्पृश्य थीं। आचार्य हेमचन्द्र ने "धोबी" को "शूद्र" के अंतर्गत रखा है जबकि संवर्त का कथन है कि कैवर्त (केवट या मल्लाह), मृगयु (मृग मारने वाला), व्याध (बहेलिया), शौनि (कसाई), शाकुनिक (चिड़ीमार) तथा रजक (धोबी) अस्पृश्य हैं। [९] अलबीरूनी ने इन अस्पृश्य जातियों के आठ वर्ग बताए हैं। धोबी, मोची, मदारी, टोकरी, और ढार बनाने वाले, माझी (नाविक) मछुआ (मछली मारने वाले), पशु-पक्षी हिंसक और बुनकर। वह

---

१. मेधातिथि–मनु० ३.६७, १२१, १५६, १०. १२७।
२. सिद्धहेमशब्दानुशासन, ६।१।१०२।
३. शूद्रोऽन्त्यवर्णो वृषलः पद्यःपज्जो जघन्यजः। अभिधानचिन्तामणि, ३. ८९४।
४. 'कथं महाशूद्रो–आभीजातिः नात्र शूद्र शब्दो जातिवांची किं तर्हि महाशूद्रशब्दः। यत्र तु शूद्र एव जातिवाची तत्र भवत्येव डीनिषेधः। महती चासौ शूद्रा च महाशूद्रेति–सिद्धहेमशब्दानुशासन, २।४।५४।
५. ४।१।४।
६. Some Aspects of Indian Culture on the Eve of Muslim Invasions, pp. 40, 111–17.
७. अभिधानचिंतामणि, ३. ८९४–९९।
८. अपरार्क, पृ० २९३।
९. सवत–वही, पृ० ११९६।

आगे कहता है कि हाड़ी, ड़ोम, चांडाल और वधती निम्नतम कार्य करते हैं।[1]

हेमचन्द्र[2] ने इन जातियों की उत्पत्ति के विषय में प्रकाश ड़ाला है, जिनसे यह विदित होता है कि ये जातियां कैसे उत्पन्न हुईं।

१. **मूर्धावसिक्त** : जो व्यक्ति ब्राह्मण पुरुष और क्षत्रिय स्त्री के संयोग से उत्पन्न हुआ, वह, "मूर्धावसिक्त" कहा गया।

२. **अम्बष्ठ** : वे थे जो ब्राह्मण पुरुष और वैश्य स्त्री से पैदा हुए थे।

३. **पराशव निषाद** : जो आदमी ब्राह्मण पुरुष शूद्र स्त्री के मिलन से उत्पन्न हुआ था, वह "पराशव निषाद" कहा गया।

४. **माहिष्य** : वर्ग के लोग वे थे जो क्षत्रिय पुरुष और वैश्य स्त्री से उत्पन्न हुए थे।

५. **उग्र** : क्षत्रिय पुरुष और शूद्र स्त्री से जो उत्पन्न हुए वे "उग्र" कहलाए।

६. **करण** : वे थे जो वैश्य पुरुष और शूद्र स्त्री से पैदा हुए थे।

७. **आयोग** : जो शूद्र पुरुष और वैश्य स्त्री के संयोग से उत्पन्न हुए, वे आयोगव कहलाए।

८. **क्षत्ता** : जिनकी उत्पत्ति शूद्र पुरुष और क्षत्रिय स्त्री से हुई थी वे "क्षत्ता" कहे गए।

९. **चण्डाल** : शूद्र पुरुष और ब्राह्मण स्त्री से जिनका जन्म हुआ वे "चण्डाल" की श्रेणी में आए।[3]

१०. **मागध** : इनका जन्म वैश्य पुरुष और क्षत्रिय स्त्री से हुआ था, इस कारण इनका नाम "मागध" हुआ।

११. **वैदेहक** : जो व्यक्ति वैश्य पुरुष और ब्राह्मण स्त्री से पैदा हुए वे "वैदेहक" की श्रेणी में आए।

१२. **सूत** : इस नाम से वे लोग अभिहित हुए जो क्षत्रिय पुरुष और ब्राह्मण स्त्री के संयोग से उत्पन्न हुए।

१३. **रथकारक** : जो व्यक्ति माहिष्य पुरुष (क्षत्रिय पुरुष और वैश्य स्त्री से जो उत्पन्न थे) और करणी स्त्री (जो स्त्री वैश्य पुरुष और शूद्र स्त्री के संयोग से पैदा हुई थी) से उत्पन्न हुआ हो, वह रथकारक कहा गया।

इस तरह आचार्य हेमचन्द्रका उपर्युक्त विवरण तत्कालीन समाज की नवीन उपलब्धि है तथा तद्युगीन समाज के स्वरूप को व्यक्त करने में नई दिशा प्रदान करता है।

---

१. तहकीक–मालिल्–हिंद, पृ० ५०।

२. क्षत्रियायां द्विजाद् मूर्धावसिक्तो विट्स्त्रियां पुनः ॥
अम्बष्ठोऽथ पारशवनिषादौ शूद्रयोषिति।
क्षत्राद् माहिष्यो वैश्यायामुग्रस्तु वृषलस्त्रियम् ॥
वैश्यात् तु करणः शूद्रात् त्वायोगवो विशः स्त्रियाम्।
क्षत्रियायां पुनः क्षत्ता, चण्डालो ब्राह्मणस्त्रियाम् ॥
वैश्यात् तु मागधः क्षत्र्यां वैदेहको द्विजस्त्रियाम्।
सूतस्तु क्षत्रियाज्जत, इति द्वादश तद्भिदः ॥
माहिष्येण तु जातः स्यात्, करण्यां रथकारकः। अभिधानचिन्तामणि, ३.८९५–९९।

३. मनु के अनुसार भी चांडाल की उत्पत्ति शूद्र पिता और ब्राह्मणी माता से हुई थी– मनु० १०.१२।

अशनं मे वसनं मे, जाया मे बंधुवर्गो मे ।
इति मे मे कुर्वाणं, कालवृको हन्ति पुरुषाजम् ॥

अर्थ—यह मेरा भोजन है, यह मेरा कपड़ा है, यह मेरी स्त्री है, ये मेरी कुटुम्बी गण हैं; इस तरह मे मे करने वाले बकरे को काल (मौत) रूपी भेड़िया मार डालता है।

अनुगन्तुं सतां वर्त्म, कृत्स्नं यदि शक्यते ।
स्वल्पमप्यनुगन्तव्यं, मार्गस्थो नावसीदति ॥

यदि सज्जन पुरुषों के कार्यकलापों का पूर्ण रूप से अनुगमन नहीं कर सकते हो तो थोड़ा-थोड़ा ही करो क्यों कि रास्ते पर लगा हुवा मनुष्य एक न एक दिन अवश्य ही ठिकाने पहुंच जाता है, इधर-उधर भटकता नहीं।

५वीं शती के प्राकृत ग्रन्थ वसुदेव हिन्डी की राम कथा

(सीता रावण की पुत्री थी, इसका सबसे प्राचीन प्रमाण)

• अगर चन्द नाहटा

भारतीय जन-मानस में वैसे तो अनेक देवी-देवताओं के प्रति आदर की भावना दिखाई देती है, पर उनमें से सबसे अधिक आदर लोक जीवन में जिन महापुरुषों के प्रति दिखाई देता है वे हैं, राम और कृष्ण। भारतीय जनता का सबसे पहला, झुकाव तो प्रकृति देवता सूर्य, अग्नि आदि के प्रति दिखाई देता है—फिर इन्द्र आदि देवों के प्रति। अन्त में मनुष्यों को ही उनके विशिष्ठ गुणों के कारण अवतार मानते हुये उनकी पूजा करने लगे। राम और कृष्ण तथा महावीर और बुद्ध ऐसे ही महापुरुष थे जिनकी लोक मानस पर गहरी छाप है। राम का चरित्र वास्तव में ही एक आदर्श रहा है अतः उनके चरित का जितना भी प्रचार हो, अच्छा ही है।

राम कथा को लेकर देश और विदेशों में इतने अधिक साहित्य का निर्माण हुवा है कि उन सबकी पूरी जानकारी प्राप्त कर लेना बहुत कठिन है। डा० रेवरेंड फादर कामिल बुल्के ने इस सम्बन्ध में जो महत्वपूर्ण खोज की है। उससे—'राम कथा संबंधी साहित्य की यद्यपि कुछ झांकी मिल जाती है तथापि अभी बहुत से ऐसे ग्रंथ हैं, जिनकी ओर उनका ध्यान ही नहीं गया। ऐसे ही एक महत्वपूर्ण प्राकृत भाषा के जैन कथा ग्रंथ 'वसुदेव हिन्डी' में वर्णित राम कथा को यहाँ प्रकाशित किया जा रहा है। यह ग्रंथ संघदास गणि वाचक ने ५ वीं शताब्दी में बनाया था। वैसे इसमें श्री कृष्ण के पिता वसुदेव की [illegible] वृत्तान्तों का [illegible] है पर [illegible] कथाएं व [illegible] भी इसमें [illegible] हैं।

राम कथा में सीता [illegible] का बहुत [illegible] है। पर उनके [illegible] के सम्बन्ध में काफी [illegible] मतभेद है। श्री बुल्के ने उन मत भेदों को ४ विभागों में विभक्त किया है।

१–"जनकात्मजा–महाभारत, हरिवंश, पउमचरिय, आदिरामायण।

२–भूमिजा—वाल्मीकि रामायण तथा अधिकांश राम कथाएं।

(२) दशरथ तथा मेनका की मानसी पुत्री; वाल्मीकि रामायण के उत्तरीय पाठ

(३) देववती तथा लक्ष्मी का अवतार।

३–सीता और लंका–रावणात्मजा–(१) गुणभद्र कृत उत्तर पुराण, महाभागवत पुराण

(२) काश्मीरी रामायण पाश्चात्य वृतान्त नं० १६ (३) तिब्बती तथा खोतानी रामायण (४) सेरत काण्ड, सेरी राम का पातानी पाठ (५) रामकियेन (रे आम केर ?)

(आ) पद्मा—दशावतार चरित्र (११ वीं श. ई.) (२) गोविन्द राज का वाल्मीकि रामायण का पाठ।

(इ) रक्तजा—अद्भुत रामायण (१५ वीं श. ई.) (२) सिंहल द्वीप की राम कथा एवं अन्य विविध भारतीय वृत्तान्त।

(ई) अग्निजा—(१) [illegible]

जाओ' इस प्रकार कहती हुई वह शत्रुसेना का नाश करने लगी। फिर शत्रुगण सहित अपना पराक्रम दिखलाते हुए योद्धा युद्ध करने लगे। योद्धाओं को वह प्रेमोपहार शरोपाय देने लगी। इस प्रकार देवी द्वारा शत्रुसैन्य को पराजित करने पर मुक्त हुए दशरथ कहने लगे, 'देवी ! तुम्हारा काम महान पुरुष के जैसा है; इसलिये वर मांगो।' वह बोली, मेरा दूसरा वर भी अभी रहने दीजिये, काम पड़ने पर ले लूंगी।

रामराज्याभिषेक की तैयारी का वर्णन और वनवास :—

बहुत वर्ष बीत जाने के बाद तथा पुत्रों के युवा हो जाने पर वृद्ध दशरथ ने राम के राज्याभिषेक की आज्ञा दी। कुबजा मंथरा ने यह खबर कैकेयी को दी। प्रसन्न हो उसने मंथरा को प्रीतिसूचक आभरण आभरण दिया। मंथरा ने देवी कैकेयी से कहा, दुखदायिनी वेला से तुम प्रसन्न हो रही हो, मैं तो अपमान सागर में डूब रही हूं, यह तू जानती सत्यवादी हो तो ये ही वरदो दूसरा कुछ भी मुझे नहीं चाहिये जो आपकी इच्छा हो वह करो।' तब उसे बहुत ही भला बुरा कहकर राजा ने राम को बुलाया और अश्रुविरलित कंठ से बोले 'कैकेयी पूर्व में मुझ से प्राप्त दो वर मांग रही है।' "राज्य भरत को मिले और तू वन में जाय। इस लिए तू ऐसा कर जिससे मैं झूठा न बनूं।" राम ने नतमस्तक हो वह स्वीकार कर लिया। फिर सीता और लक्ष्मण सहित राम वीर वेशधारी होकर लोगों के मन, नयन और मुख कमल को म्लान करते हुए, कमलवन को संकुचित करता हुआ जिस तरह सूर्य अस्ताचल को जाता है, उस प्रकार प्रजा को विलखते हुए छोड़ राम वन को रवाना हो गये। हा पुत्र ! हा श्रुत निधि ! हा सुकुमार ! हा अदु.खोचित! मुझ मंदभागी के लिए अकारण ही देश निष्कापित ! तू वन में किस प्रकार समय वितायेगा ? इस प्रकार विलाप करते हुए दशरथ मृत्यु को प्राप्त हुए।

ग्रीव जो रावण के नाम से प्रसिद्ध है, विंशति ग्रीव राजा के ४ पत्नियां थी देववर्णानी, वक्रा, कैकेयी, और पुष्पकूटा। देववर्णा ने के चार पुत्र थे। सोम, वरुण, यम और वैश्रमण, कैकेयी के रावण, कुम्भकर्ण और विभीषण (ये तीन पुत्र) तथा त्रिचटा और सूर्पणखा ये २ पुत्रियां थीं, वक्रा के महोदर, महार्थ, महापाश और खर (ये ४ पुत्र) तथा आशालिका पुत्री थी, पुष्पकूटा के त्रिसार, द्विसार और विद्युज्जिह्व ये पुत्र और कंभुनास्ता कन्या थी।

रावण सोम-यम आदि के साथ वैर करके सपरिवार निकल गया और लंका द्वीप में जा बसा। वहां उसने प्रज्ञीत विद्या की साधना की और परिणामस्वरूप विद्याधर सामंत उसे नमन करने लगे। इस प्रकार लंका पुरी ही उसका वासस्थान हो गया। वहां रहते हुए विद्याधर लोग उसकी सेवा करने लगे।

मंदोदरी का रावण से विवाह

एक बार मग नामक विद्याधर अपनी मंदोदरी नामक पुत्री के साथ सेवार्थ रावण के पास पहुँच गया। वह कन्या लक्षण जानने वालों को बतलाई गई। उन्होंने कहा इसका प्रथम गर्भ कुल के क्षय का कारण बनेगा। परन्तु अत्यन्त रूपवान होने से रावण ने उसका त्याग नहीं किया। 'पहले पैदा हुवे बालक का त्याग कर दूंगा' यह विचार करके उसके साथ विवाह कर लिया। धीरे धीरे वह मंदोदरी (रावण की रानियों) में प्रधान (पट रानी) हो गई।

राम परिवार

इधर, अयोध्या नगरी में दशरथ राजा था। उसके ३ पत्नियां थी कौशल्या, कैकेयी और सुमित्रा। कौशल्या के राम, सुमित्रा के लक्ष्मण और कैकेयी के भरत और शत्रुघ्न नाम के पुत्र उत्पन्न हुए। देव जैसे सुन्दर वे धीरे धीरे बड़े हुए।

मंदोदरी की कुक्षि से सीता की उत्पत्ति व जनक द्वारा ग्रहण

रावण की पटरानी मंदोदरी के पुत्री हुई। उस पुत्री को रत्नों से भरी पेटी में रखा गया। मंदोदरी ने मंत्री से कहा, 'जाओ, इसे छोड़ आओ।" उसने मिथिला में जनक राजा की उद्यान भूमि जब ठीक की जा रही थी तब तिरस्कारिणी विद्या से संत्रस्त करके कन्या को हल के अग्र भाग पर डाल दिया। बाद में 'यह कन्या हल द्वारा जमीन से निकाली गई है' इस प्रकार का राजा से निवेदन किया गया। वह कन्या धारिणी देवी को अर्पित की गई और चंद्रलेखा की तरह बढ़ने वाली वह लोगों के नयनों और मन का हरण करने वाली बनी।

सीता का राम से विवाह

बाद में 'वह रूपवती है' यह विचार कर पिता जनक ने स्वयंवर का आदेश दिया। बहुत से राज-
पुत्र एकत्र हुए। उस समय (उस कन्या / सीता
ने राम को वरा। दूसरे कुमारों र सम्पत्ति
सहित कन्याएं दी गईं उन्हें दशरथ अपने
घर को आये।

रदान प्रसंग

कैकेयी को प्राप्त दशरथ [illegible]

[illegible]यी से संतुष्ट
'मांग'। उसने
पहले स्वजनोपचार में काम पड़ने पर
राजा ने उससे कहा था कि राजा के
कहा—"अभी मेरा वर व युद्ध में दशरथ
मांगूंगी," एक बार दश[illegible]या गया कि,
साथ विरोध हो गया इसलिए तुम चली
पकड़े गये। देवी कैकेयी [illegible]यत्न करेगा तो
'राजा पकड़ लिए [illegible]लिया जावेगा; इस-
जाओ।" वह बोली, । मैं हारूं नहीं तब
भाग जाने पर भी है?" इस प्रकार
लिए मैं खुद भी [illegible]ठ, छत्र से युक्त हो
तक कौन भागा [illegible]स मुड़े उसे मार
कह कर कवच
वह युद्ध करने [illegible]

डालो' इस प्रकार कहती हुई वह शत्रुसेना का नाश करने लगी। फिर अनुराग सहित अपना पराक्रम दिखलाते हुए योद्धा युद्ध करने लगे। योद्धाओं को वह प्रेमोपहार सरोपाव देने लगी। इस प्रकार देवी द्वारा शत्रुसैन्य को पराजित करने पर मुक्त हुए दशरथ कहने लगे, 'देवी! तुम्हारा काम महान पुरुष के जैसा है; इसलिये वर मांगो।' वह बोली, मेरा दूसरा वर भी अभी रहने दीजिये, काम पड़ने पर ले लूंगी।

रामराज्याभिषेक की तैयारी का वर्णन और वनवास :—

बहुत वर्ष वीत जाने के वाद तथा पुत्रों के युवा हो जाने पर वृद्ध दशरथ ने राम के राज्याभिषेक की आज्ञा दी। कुवजा मंथरा ने यह खबर कैकेयी को दी। प्रसन्न हो उसने मंथरा को प्रीतिसूचक आभरण आभरण दिया। मंथरा ने देवी कैकेयी से कहा, दुखदायिनी वेला से तुम प्रसन्न हो रही हो, मै तो अपमान सागर में डूब रही हूं, यह तू जानती नहीं। कौशल्या और राम की तुम्हें चिरकाल तक सेवा करनी पड़ेगी; उनका दिया हुआ खाना पड़ेगा। इसलिये मोह त्याग राजा द्वारा तुम्हें पहले से जो दो वर प्राप्त हैं; उनसे भरल का अभिषेक और राम का वनवास मांग लें।" मंथरा के वचन मान कैकेयी कुपिताननाकुपित मुंह वाली बनकर कोप भवन में चली गई। 'दशरथ ने यह सुना तो वह वह उसे मनाने गया। परन्तु उसने कोप नहीं छोड़ा। दशरथ ने उसे कहा, 'वोल. क्या करूँ,' कैकेयी ने कहा, 'तुमने २ वर दिये थे, यदि सत्यवादी हो तो मुझे दो।' राजा ने कहा,—'वोल. क्या दूँ?,' तव संतोष से विकसित वदन हो वह कहने लगी—एक वर से भरत राजा वने और दूसरे वर से राम १२ वर्ष तक वन में रहे।" तव दुःखी हो राजा ने कहा, देवी! ऐसा बुरा हट मत कर।' बड़ा पुत्र (राम) गुणों का आगार है; यह राम ही पृथ्वी का पालन कर सकता है अत. इसके अतिरिक्त दूसरा जो कहे वह देदूँ। 'कैकेई बोली,'—यदि सत्यवादी हो तो ये ही वरदो दूसरा कुछ भी मुझे नहीं चाहिये जो आपकी इच्छा हो वह करो।' तब उसे बहुत ही भला बुरा कहकर राजा ने राम को बुलाया और अश्रुविरलित कंठ से बोले 'कैकेयी पूर्व में मुझ से प्राप्त दो वर माँग रही है।' "राज्य भरत को मिले और तू वन में जाय। इस लिए तू ऐसा कर जिससे मैं झूठा न बनूं।" राम ने नतमस्तक हो वह स्वीकार कर लिया। फिर सीता और लक्ष्मण सहित राम वीर वेशधारी होकर लोगों के मन, नयन और मुख कमल को म्लान करते हुए, कमलवन को संकुचित करता हुआ जिस तरह सूर्य अस्ताचल को जाता है, उस प्रकार प्रजा को विलखते हुए छोड़ राम बन को रवाना हो गये। हा पुत्र! हा श्रुत निधि! हा सुकुमार! हा अदुःखोचित! मुझ मंदभागी के लिए अकारण ही देश निष्काषित! तू बन में किस प्रकार समय बितायेगा? इस प्रकार विलाप करते हुए दशरथ मृत्यु को प्राप्त हुए।

भरत को राम पादुकाओं की प्राप्ति—

पीछे से भरत अपने मामा के देश से आया। सच्ची घटना सुनकर उसने माता को फटकारा और अपने सगे संवन्धियों सहित वह राम के पास पहुँचा। उसने राम से पितृमरण का समाचार सुनाया। राम द्वारा उत्तर क्रिया कर लेने के वाद उन्हें आशाओं से भरे मुँह वाली भरत की मां कैकेयी ने कहा—"पुत्र, तुमने पिता की आज्ञा का पालन किया। अव तुम्हें अपयश के कर्दम से मेरा उद्धार तथा कुल क्रमागत राज्य लक्ष्मी और भाइयों का पालन करना ही शोभा देगा।" राम ने कहा "माता! तुम्हारा वचन टाला नहीं जा सकता; परन्तु उसके उल्लंघन करने का कारण सुनो- राजा सत्यप्रतिज्ञ होकर ही प्रजापालन में समर्थ हो सकता है; सत्य से भ्रष्ट हो जाय तो अपनी पत्नि के पालन में भी अयोग्य होता है। पिता के वचन पालनार्थ ही मैं ने वनवास स्वीकार किया है। अव मुझे वापिस लौटने का आग्रह मत करो।" राम ने

भरत को आज्ञा दी, 'यदि मेरा तुझ पर अधिकार है और मैं तुम्हारे से बड़ा हूँ तो तुम्हें मेरी आज्ञा का पालन करना है और माता को फटकारना नहीं है।" आंखों में आंसू लिये भरत हाथ जोड़कर प्रार्थना करने लगा—'आर्य ! प्रजापालन के कार्य के लिये यदि शिष्य की तरह मुझे नियुक्त किया गया है तो मुझे पादुकाएँ देने की कृपा करें।" राम ने 'ठीक है' कह कर वह बात मान ली—पादुकाएँ दे दीं। भरत पुनः अयोध्या चला गया।

सीता हरण की पूर्व भूमिका—

इस तरह सीता लक्ष्मण सहित राम तपस्वियों के आश्रम देखते तथा दक्षिण दिशा को अवलोकन करते-करते एक निर्जन स्थान पर पहुँचे, वहां एकांत वन प्रदेश में वे सीता के साथ रहे। कमल के समान नयन वाले और देवकुमार सदृश राम को देखकर कामवश हुई रावण की बहन सूर्पणखा आकर कहने लगी, "देव ! मुझे स्वीकार करें।" तब राम ने कहा, 'ऐसा न कह, तपोवन में रहता हुआ मैं पराई स्त्री का सेवन नहीं करता।" फिर जनकदुलारी सीता ने कहा,—"परपुरुष की जबर-दस्ती प्रार्थना कर रही है, "इसलिये तू मर्यादा का उल्लंघन करने वाली निर्लज्ज है।" तब कुपित हो भीषण रूप धारण कर वह सीता को डराने लगी 'तुम्हारे सतीत्व का मैं नाश कर दूँगी; तू मुझे नहीं पहचानती ? फिर राम ने 'यह स्त्री होने के कारण अवध्य है' यह विचार कर उसके नाक कान काट लिये। सूर्पणखा खरदूषण के पास गई। निर-पराधिनी को दशरथ के पुत्र राम ने इस प्रकार दुखी किया है यह जान वे कहने लगे, "माता ! दुखी मत हो हमारे बाण से विद्ध हुए राम और लक्ष्मण का रुधिर आज गिद्धों को पिलायेंगे। इतना कहकर वे राम के पास पहुंचे। सूर्पणखा के नाक-कान काटे जाने की बात की। इन्होंने राम से कहा—'भट, युद्ध के लिये तैयार हो।' तब यम वैश्रमण के समान पराक्रमी राम और लक्ष्मण दोनों भाई धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ा कर खड़े हो गये। उन्होंने युद्ध में शस्त्रबल और बाहुबल से खर-दूषण का नाश कर दिया।

उसके बाद पुत्र वध से रुष्ट सूर्पणखा रावण के पास गई। उसे अपने नाक-कान कटने और पुत्रों के मरण का हाल सुनाया और कहने लगी-देव ! वह मानव की स्त्री है। मुझे तो ऐसा लग रहा है कि संपूर्ण युवतियों के रूप का मंथन करके लोगों के लोचनों को आनंददायी उस नारी का निर्माण किया गया है। वह तुम्हारे अंतःपुर के योग्य है।

सीता हरण—

इस प्रकार सीता के रूप श्रवण से उन्मत्त हुए रावण ने अपने अमात्य मारीच को सूचना दी, 'तू आश्रम में जा वहाँ रत्नजड़ित मृग का रूप बना कर तापसवेशधारी योद्धाओं को लुभा जिससे मेरा काम हो जाय।" तदनंतर मारीच रत्नजड़ित मृग का रूप धारण कर घूमने लगा। उसे देख कर सीता ने राम से कहा—'आर्य पुत्र ! अपूर्व रूप वाले इस मृग शावक को पकड़िये, वह मेरे लिये खिलौना होगा। फिर राम 'ठीक है, ऐसा ही होगा" यह कह कर धनुष हाथ में लेकर उसके पीछे २ जाने लगे। वह मृग भी धीरे २ प्रारम्भ करके फिर जोर से चलने लगा। 'तू कहाँ जायगा ?' यों कहते २ राम भी उसके पीछे दौड़ने लगे। इस प्रकार दूर तक जाने के बाद राम ने जान लिया कि 'जो वेग में मुझे भी जीत रहा है वह मृग नहीं हो सकता, यह तो कोई मानवी है" यह विचार कर उन्होंने बाण फेंका तब मारीच ने मरते २ विचारा कि 'स्वामी का काम कर दूँ।" उसने 'हे लक्ष्मण ! मुझे बचाओ।' इस तरह से जोर की चीख मारी। यह सुनकर सीता ने लक्ष्मण से कहा 'जल्दी जाओ, भयभीत स्वामी ने ही यह चीख मारी है। निश्चय ही शत्रु सेना होगी।" तब लक्ष्मण ने कहा, "आज भय नहीं है तुम कह रही हो इसलिये ही जारहा हूं।" फिर वह भी हाथ में धनुष लेकर जिस मार्ग से राम गये थे उसी मार्ग पर तेजी से भागे।

यह अवसर पाकर विश्वसनीय तापस का रूप धारण कर रावण सीता के पास आया। सीता को देखकर उसके रूपातिशय से मुग्ध रावण ने विना किसी विघ्न की परवाह किये विलाप करती हुई सीता का हरण कर लिया। उधर राम और लक्ष्मण ने वापिस लौटकर सीता को नहीं पाकर दुखित हो उसकी खोज करनी आरंभ की। रावण को मार्ग में जटायु विद्याधर ने रोक लिया था। उसे हरा कर किष्किंधागिरि पर से होता हुआ वह लंका पहुँचा। सीता के लिए विलाप करते हुए राम को लक्ष्मण ने कहा, 'आर्य! स्त्री के लिये शोक करना आपको शोभित नहीं होता। यदि मरना चाहते हैं तो शत्रु की पराजय के लिये प्रयत्न क्यों नहीं करते।' मार्ग में जटायु ने खबर दी कि 'रावण ने सीता का हरण किया है।" फिर युद्ध करने वाले के लिये तो जय अथवा मरण है; विषाद पक्ष का अनुसरण करने वाले निरुत्साही के लिये तो केवल मरण ही है, इस प्रकार राम और लक्ष्मण दोनों ने विचार किया।

सुग्रीव मैत्री, बालि बध:

तत्पश्चात् राम और लक्ष्मण किष्किंधागिरि पर पहुँचे, वहां बालि और सुग्रीव नामक दो विद्याधर भाई परिवार सहित रहते थे। उनके बीच स्त्री के कारण विरोध हो गया था। बालि द्वारा पराजित सुग्रीव हनुमान और जांववान इन दो मंत्रियों के साथ जिनालय का आश्रय लेकर रह रहा था। देव कुमार सदृश सुन्दर और हाथ में धनुष धारण किये हुए राम और लक्ष्मण को देख हनुमान ने भागते हुए सुग्रीव को कहा, 'विना कारण जाने मत भागो, पहले यह जानना चाहिये कि वे कौन हैं फिर जो उचित होगा करेंगें।'

उसके बाद सौम्य रूप धारण करके हनुमान उनके पास गया। उसने युक्ति पूर्वक राम-लक्ष्मण से पूछा—"आप कौन हैं? और किस कारण वन में आये हैं वन के योग्य तो आप हैं ही नहीं।" तब लक्ष्मण ने कहा "हम इक्ष्वाकु वंश में उत्पन्न दशरथ के पुत्र राम-लक्ष्मण हैं, और पिता की आज्ञा से वन में आये हैं। मृग के द्वारा हमें भ्रमित कराके सीता का हरण कर लिया गया है। उसकी खोज में हम घूम रहे हैं। परन्तु आप कौन हैं? और किस कारण वन में रहते हैं?" हनुमान ने बतलाया 'हम विद्याधर हैं। हमारे स्वामी सुग्रीव हैं। अपने बलवान भाई बालि से पराजित हुए वे हमारे साथ जिनायतन का आश्रय लेकर रह रहे हैं। आपको उनके साथ मित्रता करनी चाहिए।" राम ने यह बात मान ली। अग्नि की साक्षी से वे मैत्री बंधन में बंध गये। बल की परीक्षा कर लेने के बाद सुग्रीव ने राम को बालि के वध के लिए नियुक्त किया। वे दोनों भाई समान रूप रंग वाले थे। उनमें विशेष अंतर नहीं जानते हुए राम ने बाण छोड़ा। बालि ने सुग्रीव को पराजित किया। फिर दोनों में भेद जानने के लिए सुग्रीव को माला पहनाई गई। और तब एक ही बाण से बालि को मारकर राम ने सुग्रीव को राजा बना दिया।

तत्पश्चात सीता का वृत्तान्त जानने के लिये हनुमान गये। वापिस आकर उन्होंने सीता की स्थिति बतलाई। तदनंतर राम की सूचना से सुग्रीव ने भरत के पास विधाधर भेजे। भरत ने चतुरंग सेना भेजी। सुग्रीव के सहित और विधाधरों द्वारा संचालित वह सेना समुद्र के किनारे पहुँची। वहां समुद्र के मध्य भाग की संधि में सेतु बांधा गया। सेना लंका के समीप उतरी और शुभ मुहूर्त में पड़ाव डाला गया। अपने परिवार और सेना सहित रावण भी सेना सहित राम को नगण्य समझ रहा था।

बिभीषण द्वारा रावण को हित-शिक्षा—

उसके बाद बिभीषण ने विनयपूर्वक प्रणाम करके रावण से प्रार्थना की "राजन्! हित की बात यदि अप्रिय भी हो तो वह छोटे-बड़े सभी को कह देनी चाहिये। राम की पत्नि सीता का हरण करके आपने अच्छा काम नहीं किया है। संभवतः

यह भूल से ही हुआ होगा, परन्तु अब तो सीता को वापिस लौटा दें। कुल का नाश मत कराइये। खर-दूषण और वालि के विद्या युक्त होते हुए भी राम ने उनका अनायास ही नाश कर दिया है। स्वामी को तो सेवक की पत्नि की भी इच्छा नहीं करनी चाहिये, फिर बलवान और अन्य पुरुष की पत्नि की तो बात ही कैसी ? राजाओं की तो इन्द्रिय निग्रह में ही जय होती है। मेधावी पुरुषों ने ४ प्रकार की बुद्धि बतलाई है—मेधा, श्रुति, वितर्क, और शुभ कार्यों में दृढ़ संकल्प। आप मेधावी और मतिमान हैं। अतः हर प्रकार से कार्य सिद्ध कर सकते हैं। परन्तु आपका अभिनिवेश (दृढ़ संकल्प) तो अकृत्य में है। इससे आपसे प्रार्थना करता हूँ। जो कौर खाया जा सके, खाने के बाद पच जाय, और पचने के बाद पथ्य बन जाय, वही खाना चाहिये। इस पर विचार कर आप रामभार्या को वापिस लौटा दें। इससे परिजनों का भी कल्याण है।"

राम-रावण युद्ध:—

इस प्रकार निवेदन करने पर भी जब रावण ने सुना नहीं तब विभीषण ४ मंत्रियों के साथ राम के पास चला गया। सुग्रीव के परामर्श को मानकर राम ने विभीषण का सम्मान किया। विभीषण के परिवार में जो विधाधर थे वे सेना में मिल गये। फिर राम और रावण के पक्ष वाले विधाधर और राक्षसों का युद्ध प्रारम्भ हुवा। दिनों दिन राम का सैन्यबल बढ़ने लगा। मुख्य योद्धाओं के नष्ट होने पर विजयाकांक्षी रावण सब विद्याओं को नष्ट करने वाली ज्वालवती विद्या की साधना करने लगा। रावण को विद्या साधना में लगा जानकर राम के योद्धा नगर में प्रविष्ट होकर नगर का नाश करने लगे। इससे क्रुद्ध हुआ रावण कवच धारण करके सज्जित हो रथ में बैठ कर निकला। भयंकर युद्ध करके वह लक्ष्मण के साथ भिड़ गया। जब सब शस्त्र निष्फल हो गये तब क्रुद्ध हो रावण ने लक्ष्मण का वध करने के लिये चक्र चलाया। परन्तु लक्ष्मण की महानुभावता के प्रभाव से वह चक्र उसके वक्षस्थल पर धार की ओर से नहीं पड़ा, टेढ़ा पड़ गया। लक्ष्मण ने वही चक्र रावण के वध के लिये फेंका। देवता द्वारा अधिष्ठित वह चक्र कुंडल और मुकुट सहित उसके मस्तक काटकर पुनः लक्ष्मण के पास आया। आकाश में रहने वाले ऋषिवादित और भूतवादित देवताओं ने पुष्प वृष्टि की और गगन मंडल में नाद किया कि भारत वर्ष में यह आठवां वसुदेव उत्पन्न हुआ है।

सीता प्राप्ति व राम का राज्याभिषेक:—

पत्पश्चात् युद्ध समाप्ति पर विभीषण सीता को लाया और राम को सौंपी। राम की आज्ञा मिलते ही विभीषण ने रावण का संस्कार किया। फिर राम-लक्ष्मण ने अरिंजय नगर में विभीषण का और विद्याधर श्रेणी के नगर में सुग्रीव का अभिषेक किया। फिर अपने परिवार सहित सुग्रीव, सीता और राम को पुष्पक विमान में अयोध्या नगरी ले गया। प्रजाजन और मंत्रियों सहित राम का राजा के रूप में अभिषेक किया। फिर अत्यन्त प्रभावशाली तथा सुग्रीव सहित राम ने अर्ध भारत को विजय किया। विभीषण राजा अरिंजय नगर में रहने लगा।

विभीषण के वंश में विद्युत्वेग नाम का राजा हुआ। उसकी रानी विद्युत्प्रभा थी। उससे दधिमुख, दण्डवेग, और चण्डवेग नामक पुत्र और मदनवेगा नाम की पुत्री हुई। उस मदनवेगा का विवाह श्री कृष्ण के पिता वासुदेव के साथ हुआ। उसी का प्रसंग वर्णन करते हुए संघदास गणि ने बीच में उपरोक्त राम कथा भी दे दी है इस कथा में राम के राज्याभिषेक एवं सीता के शेष जीवन का कोई उल्लेख नहीं किया गया है। ग्रंथकार ने संक्षेप में जितनी कथा देनी आवश्यक समझी, उतनी ही वसुदेव हिन्डी में लिख दी। क्यों कि यह कोई स्वतन्त्र राम चरित सम्बन्धी ग्रंथ नहीं है इसलिये इसकी अधिक अपेक्षा भी नहीं की जा सकती।

राम का नाम प्राचीन जैनागमों ने 'पउम' यानी 'पद्म' मिलता है। उनके संबंध में समवायांगसूत्रादि में संक्षिप्त उल्लेख है। विमल सूरि के पउमचरियं में ही सर्व प्रथम जैन-मान्य राम कथा पूरे रूप में दी गई है। वसुदेव हिन्डी से मालूम होता है कि विमल सूरि के 'पउम चरिय' में की परम्परा को संघदास गणि ने नहीं अपनाई। उनके सामने राम संबंधी लोक-कथा की कोई अन्य ही परम्परा रही होगी। पर आज उस परम्परा वाला वसुदेव हिन्डी के पहले का कोई अन्य ग्रन्थ प्राप्त नहीं है।

सीता रावण और मंदोदरी की पुत्री थी, इससे सम्बन्धित जितने भी ग्रंथ अब तक प्राप्त व ज्ञात हुए हैं वसुदेव हिन्डी उन सबसे प्राचीन है। इससे सीता संबंधी उपरोक्त प्रवाद की प्राचीनता ५ वीं शताब्दी के पहिले की सिद्ध होती है। इसी बात को प्रकाश में लाने के लिए यह लेख पाठकों के सामने उपस्थित किया गया है।

●

श्रद्धा के विना प्रेम नहीं रहता।

× × × ×

धन उपार्जन और उन्नति दोनों एक नहीं हैं।

अग्रवालों का जैन धर्म में योगदान

• परमानन्द जैन शास्त्री

'अग्रवाल' शब्द का विकास अग्रोहा या अग्रोदक से हुआ है। वर्तमान हिसार जिले में अग्रोहा नामक एक प्राचीन ऐतिहासिक नगर था। यहां एक टीला ६० फुट ऊंचा था, जिसकी खुदाई सन् १९३९ या ४० में हुई थी। उससे प्राचीन नगर के अवशेष और प्राचीन सिक्कों आदि का ढेर प्राप्त हुआ था। २६ फुट से नीचे आहत मुद्रा का नमूना, चार यूनानी सिक्के और ५१ चौखूंटे तांबे के सिक्के भी मिले थे। तांबे के सिक्कों में सामने की ओर 'वृषभ' और पीछे की ओर सिंह या चैत्य-वृक्ष की मूर्ति अंकित है। सिक्कों के पीछे ब्राह्मी अक्षरों में–'अगोद के अगच जनपदस' शिलालेख भी अंकित है, जिसका अर्थ 'अग्रोदक में अगच जनपद का सिक्का' होता है। अग्रोहे का नाम अग्रोदक भी रहा है। उक्त सिक्कों पर अंकित वृषभ, सिंह या चैत्य वृक्ष की मूर्ति जैन मान्यता की ओर संकेत करती हैं।

कहा जाता है कि अग्रोहा में अग्रसेन नाम के एक क्षत्रिय राजा थे। उन्हीं की सन्तान परम्परा अग्रवाल कहे जाते हैं। अग्रवाल शब्द के अनेक अर्थ हैं किन्तु यहां उन अर्थों की विवक्षा नहीं हैं, यहां अग्रदेश के रहने वाले अर्थ ही विवक्षित है। अग्रवालों के १८ गोत्र बतलाये जाते है, जिनमें गर्ग, गोयल, मित्तल, जिन्दल, सिंहल या संगल आदि नाम है। इनमें दो धर्मो के मानने वाले पाये जाते हैं। एक जैन अग्रवाल दूसरे अजैन अग्रवाल। श्रीलोहाचार्य के उपदेश से उस समय जो जैन धर्म में दीक्षित हो गए थे, वे जैन अग्रवाल कहलाये और शेष अजैन। परन्तु दोनों में रोटी-बेटी व्यवहार होता है, रीति-रिवाजों में बहुत कुछ समानता होते हुए भी उनमें अपने अपने धर्म परक प्रवृत्ति पाई जाती है। हां सभी अहिंसा धर्म के मानने वाले हैं। यद्यपि उपजातियों का इतिवृत्त १० वीं शताब्दी से पूर्वका नहीं मिलता पर लगता है कि कुछ उपजातियां पूर्ववर्ती भी रही हैं। जैन अग्रवालों में अपने धर्म के प्रति विशेष श्रद्धा एवं आस्था पाई जाती है, उससे उनकी धार्मिक दृढ श्रद्धा का समर्थन होता है। अग्रवालों के जैन परम्परा सम्बन्धी १२ वीं शताब्दी तक के प्रमाण मेरे अवलोकन में आए हैं। यह जाति पूर्व काल में खूब सम्पन्न, राज्य मान्य और धार्मिक रही है। और वर्तमान में ये लोग धर्मज्ञ आचार निष्ठ, दयालु और जन–धन से सम्पन्न पाये जाते हैं।

अग्रवालों का निवास स्थान अग्रोहा या हिसार के आस–पास का ही क्षेत्र नहीं रहा है, अपितु उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान, दिल्ली और उसके आस–पास के क्षेत्र भी रहे हैं क्योंकि अग्रवालों द्वारा निर्मित मन्दिर, उदयपुर, जयपुर आदि स्थानों में भी पाये जाते हैं। फणिपद या पणिपद (पानीपत), स्वनिपद अथवा सुवर्ण पथ, सोनिपत कर्नाल, अम्बाला, सहारनपुर, मुजफ्फर नगर, मेरठ, आगरा दिल्ली, आरा, कलकत्ता, नजीबाबाद और बनारस आदि बड़े नगरों एवं छोटे छोटे उपनगरों में इस जाति के लोग बसे हुए हैं। इससे इस जाति की महत्ता का भान स्वतः हो जाता है। अग्रवाल जैन समाज द्वारा अनेक मन्दिरों, मूर्तियों, विद्या संस्थाओं, औषधालयों, लायब्रेरियों और साहित्यिक संस्थाओं

---

१. एपिग्राफिका इंडिका जि० २ पृ० २४४। व इंडियन एण्टीक्वेरी भाग १५ के पृष्ठ ३४३ पर अग्रोतक वैश्यों का वर्णन दिया हुआ है।

आदि का निर्माण किया गया है। इनका वैभव राजाओं के सदृश रहा है। शाही खजांची, मन्त्री, सलाहकार आदि अनेक उच्च पदों पर ये नियुक्त रहे हैं। शास्त्रदान में इनकी रुचि रही है। उसीका परिणाम है कि दिल्ली के ग्रन्थ भंडारों में ग्रंथों का अच्छा संग्रह पाया जाता है। वीर सेवा मंदिर, आरा का जैनसिद्धांत भवन, और भारतीय ज्ञान पीठ काशी, तथा दिल्ली का पक्षियों का हस्पताल आदि संस्थाएं आज भी गौरव का विषय बनी हुई हैं। साहित्यिक संस्थाओं से जो साहित्य प्रकाशित हुआ है, या जो अनुसन्धान काम किया गया है वह अपने विषय का महत्वपूर्ण कार्य है। इस सवसे जन साधारण अग्रवालों की धर्मप्रियता श्रुतसेवा आदि का परिचय सहज ही पा सकते हैं। जैन अग्रवालों ने जैन धर्म को क्या देन दी है अथवा उसके विकास में क्या कुछ योग दान दिया है यही इस लेख का प्रमुख विषय है।

संवत् ११८६ (सन् ११३२ ई०) से पूर्व साहु नट्टल के पूर्वज पिता वगैरह दिल्ली (योगिनीपुर) के निवासी थे। इनकी जाति अग्रवाल थी। नट्टल साहु के पिता साहु जेजा श्रावकोचित धर्म-कर्म में निष्ठ थे। इन की माता का नाम 'मेमडिय' था, जो शील रूपी सत् आभूषणों से अलंकृत थी, और बांधवजनों को सुख प्रदान करती थी। साहु नट्टल के दो ज्येष्ठ भाई और भी थे, राघव और सोढल। इनमें राघव बड़ा ही सुन्दर और रूपवान् था। उसे देखकर कामनियों का चित्त द्रवित हो जाता था। और सोढल विद्वानों को आनन्द दायक, गुरुभक्त तथा अरहंत देव की स्तुति करने वाला था, उनका शरीर विनयरूपी आभूषणों से अलंकृत था, तथा वह बड़ा बुद्धिमान और धीर-वीर था। साहु नट्टल इन सब में लघु, पुण्यात्मा, सुन्दर और जन वल्लभ था। कुलरूपी कमलों का आकर और पाप-रूपी पांशु (रज) का नाशक, तीर्थंकर का प्रतिष्ठा-पक, बन्दीजनों को दान देने वाला, परदोषों के प्रकाशन से विरक्त, रत्नत्रय से विभूषित और चतुर्विध संघ को दान में सदा तत्पर रहता था। उस समय दिल्ली के जैनियों में वह प्रमुख था, व्यसनादि से रहित हो श्रावक के व्रतों का अनुष्ठान करता था। साहु नट्टल केवल धर्मात्मा ही नहीं था अपितु उच्चकोटि का व्यापारी भी था। उस समय उसका व्यापार अंग, वंग, कलिङ्ग, कर्नाटक, नेपाल, भोट, पांचाल, चेदि, गौड़, ठक्क (पंजाब) केरल, मरहट्ट, भादानक, मगध, गुर्जर, सोरठ और हरियाना आदि देशों और नगरों में चल रहा था। यह केवल व्यापारी ही नहीं था; अपितु राजनीति का चतुर पंडित भी था। कुटुम्बी जन तो नगर सेठ थे और आप स्वयं तोमरवंशी अनंगपाल (तृतीय) का अमात्य था। आपने कवि श्रीधर से जो हरियाना देश से यमुना नदी को पार कर उस समय दिल्ली में आए थे ग्रन्थ बनाने की प्रेरणा की थी। तब कवि ने 'पासणाह चरिउ' नामक सरस खण्ड काव्य की रचना वि० सं० ११८६ अगहन वदी अष्टमी रविवार के दिन समाप्त की थी।

नट्टल साहू ने उस समय दिल्ली में आदिनाथ का एक प्रसिद्ध जैन मन्दिर भी बनवाया था, जो अत्यन्त सुन्दर था, जैसा कि ग्रन्थ के निम्न वाक्यों से प्रकट है :—

"कारा वेवि णाहेय हो णिकेउ,
पविइण्णु पंच वण्णं सुकेउ।
पइं पुणु पइट्ठु पविरइय जेम,
पास हो चरित्तु जइ पुण वि तेम॥"

आदिनाथ के इस मन्दिर की उन्होंने प्रतिष्ठा विधि भी की थी, उस प्रतिष्ठोत्सव का उल्लेख उक्त ग्रंथ की पांचवीं संधि के बाद दिये हुए निम्न पद्य से प्रकट है :—

येनाराध्य विशुद्धय धीरमतिना देवाधिदेवं जिनं।
सत्पुण्यं समुपार्जितं निजगुणैः सन्तोषिता बान्धवाः।
जैनं चैत्यमकारि सुन्दरतरं जैनी प्रतिष्ठा तथा,
स श्रीमान्विदितः सदैव जयतात्पृथ्वीतले नट्टलः॥

इससे नट्टल साहु की धार्मिक परिणति का सहज ही पता चल जाता है। आदिनाथ का उक्त मन्दिर कुतुबमीनार के पास बना हुआ था, बड़ा ही सुन्दर और कलापूर्ण था। वर्तमान में यहाँ कुव्वतुल इस्लाम मस्जिद बनी हुई है जो २७ मन्दिरों को तोड़कर बनाई गई थी।

इसके अतिरिक्त दिल्ली में सं० १३२८, १३७०, १३९१ और १३९९ में क्रमशः पंचास्तिकाय कुन्द-कुन्द, तत्त्वार्थवृत्ति पूज्यपाद क्रियाकलाप टीका और उत्तरपुराण पुष्पदन्त का आदि ग्रंथ लिखाकर भेंट किये गये। उसके बाद सं० १४१६ में भगवती आराधना का टिप्पण और बृहद्द्रव्य संग्रह की टीका की प्रतियां लिखाकर भेंट की गईं। इस तरह शास्त्र दान को प्रोत्साहन दिया जाता रहा।

विक्रम संवत् १४९३ में योगिनीपुर (दिल्ली) के समीप बादशाह फीरोजशाह तुगलक द्वारा बसाये गए फीरोजाबाद नगर में, जो उस समय जब धन, वापी, कूप, तडाग, उद्यान आदि से विभूषित था, अग्रवाल वंशी गर्ग गोत्री साहु लाखू निवास करते थे। उनकी प्रेमवती नाम की एक धर्म पत्नी थी, जो पातिव्रत्यादि गुणों से अलंकृत थी। इनके दो पुत्र थे साहु खेतल और मदन। खेतल की धर्मपत्नी का नाम सरो था, जो सम्पत्ति-संयुक्त और दान शीला थी। खेतल और सरो से फेरू, पल्हू और वीधा नाम के तीन पुत्र हुए थे। और इन तीनों की काकलेही, माल्हाही और हरीचन्दही नाम की क्रमशः तीन धर्मपत्नियां थी। साहु लाखू के द्वितीय पुत्र मदन की धर्मपत्नी का नाम 'रतो' था, उससे 'हरषू' नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ था। उसकी स्त्री का नाम 'मन्दोदरी' था। साहु खेतल के द्वितीय पुत्र पल्हू के 'मंडन, जाल्हा, सिरीया और हरिश्चन्द नाम के चार पुत्र थे। इन सारे ही परिवार के लोग विधि-वत् जैनधर्म का पालन करते थे और आहार, औषध, अभय तथा ज्ञानादि चारों दान दिया करते थे। साहू खेतल ने गिरनार की यात्रा का यात्रोत्सव किया था। वह अपनी धर्मपत्नी काकलेही के साथ योगिनीपुर (दिल्ली) में आया था। कुछ समय सुखपूर्वक व्यतीत होने पर साहू फेरू की धर्मपत्नी ने कहा कि स्वामिन! श्रुतपंचमी का उद्यापन कराइये। इसे सुनकर फेरू अत्यन्त हर्षित हुआ और उसने मूलाचार नामक ग्रन्थ श्रुतपंचमी के निमित्त लिखा कर मुनि धर्मकीर्ति के लिये अर्पित किया। धर्मकीर्ति के दिवंगत होने पर उनके प्रमुख शिष्य यम नियम में निरत तपस्वी मलयकीर्ति को ससम्मान अर्पित किया। उक्त प्रशस्ति मलयकीर्ति द्वारा लिखी गई है, जो ऐति-हासिक विद्वानों के लिये बहुत उपयोगी है।[1]

अग्रवाल वंशी साहू बील्हा और धेना ही के पुत्र हेमराज ने जो बादशाह मुमारख (मुबारिक शाह सैय्यद) का मंत्री था, योगिनीपुर (दिल्ली) में अरहतदेव का जिन चैत्यालय बनवाया था, और भट्टारक यशकीर्ति से पाण्डव पुराण वि० सं० १४९७ में बनवाया था।

उक्त पुराण भट्टारक यशःकीर्ति ने हिसार निवासी अग्रवाल वंशी गर्ग गोत्री साहु दिवड्ढा के अनुरोध से, जो इन्द्रिय-विषय-विरक्त, सप्तव्यसन रहित, अष्टमूलगुणधारक, तत्त्वार्थश्रद्धानी, अष्ट अंग परिपालक ग्यारह प्रतिमा आराधक और बारह व्रतों का अनुष्ठायक था, वि० सं० १५०० में भाद्रपद शुक्ला एकादशी के दिन 'इंदउरि' परगना तिजारा में जलालखां (सैय्यद मुबारिक शाह) के राज्य में समाप्त किया था।

जोयणिपुर निवासी अग्रवाल कुल भूषण गर्ग गोत्रीय साहु भोज राज के ५ पुत्रों में से ज्ञानचन्द्र के विद्वान पुत्र साधारण श्रावक की प्रेरणा से [illegible] सुत महिन्दु या महाचन्द ने सं० १५८७ की कार्तिक कृष्णा पंचमी के दिन मुगल बादशाह बाबर के

---

1. देखो, मलय कीर्ति और मूलाचार प्रशस्ति, अनेकान्त वर्ष १३ कि० ८

के राज्य काल[१] में समाप्त किया था। ज्ञानचन्द्र के तीन पुत्र थे, उनमें ज्येष्ठ पुत्र सारंग साहुने सम्मेद शिखर की यात्रा की थी, और द्वितीय पुत्र साधारण ने, जो गुणी और विद्वान था एवं जिस का वैभव बढ़ा चढ़ा था, 'शत्रुंजय' की यात्रा की थी, जिन मन्दिर का निर्माण कराकर हस्तिनागपुर की यात्रार्थ संघ चलाया था।

साहु टोडर गुणी, कर्तव्य परायण, और टकसाल के कार्य में अत्यन्त दक्ष थे। और संभवतः वे अकबर की टकसाल का कार्यभार भी सम्पन्न करते थे। इनकी जाति अग्रवाल और गोत्र गर्ग था। यह भटानिया कोल (अलीगढ) के निवासी थे, और काष्ठासंघ के भट्टारक कुमारसेन की आम्नाय के श्रावक थे, किसी समय वहां से आकर आगरा में वस गये थे, जैनधर्म के अनुयायी थे,। भाग्यशाली, कुलदीपक और अत्यन्त उदार थे। इनके पितामह का नाम साहु रूपचन्द था और पिता का नाम साहु पासा था। साहु टोडर देव-शास्त्र-गुरु के भक्त थे। धर्मवत्सल, विनयी, परदार विमुख, दानी, कर्तव्य परायण, पर दोष भाषण करने में मौन रखने वाले कृपालु और धर्मफलानुरागी थे। काष्ठासंघ के विद्वान पांडे राजमल को आगरा में इनके समीप रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। वे इन का बहुत आदर करते थे और इनके आज्ञाकारी थे। राजमल को वहां रह कर साहु टोडर और अकबर बादशाह को नज़दीक से देखने का अवसर मिला था। इसीसे उन्होंने अपने जंबूस्वामी चरित में, जो साहू टोडर की प्रेरणा से रचा गया था, अकबर की खूब प्रशंसा की है और उसे शराब बन्दी करने वाला तथा 'जिजिया' कर छोड़ देने वाला लिखा है।[२] साहु टोडर अकबर के प्रिय पात्र तथा राज्य संचालन में सहयोग देने वाले रम्र जाती पुत्र साहु गढ़मल और कृष्णामंगल चौधरी दोनों का प्रीति पात्र था और कृष्णामंगल चौधरी का सुयोग्य मंत्री था।[३] पांडे राजमल साहु टोडर के तो अत्यन्त नजदीक थे ही, उन्होंने उनकी केवल प्रशंसा ही नहीं की है अपितु उनके धार्मिक कार्यों का भी उल्लेख किया है और आशीर्वाद आदि द्वारा उनकी मंगल कामना भी प्रकट की है।[४]

साहु टोडर की धर्मपत्नी का नाम कसुंभी था, उससे तीन पुत्र हुए थे। रिषीदास या ऋषभदास, मोहनदास और रूपमांगद।[५] उनमें प्रथम पुत्र ऋषभदास अपने पिता के समान ही धर्मनिष्ठ, जिनवाणी भक्त और गुणी था। साहु टोडर ने

---

१. बावर ने सन् १५२६ ईस्वी में पानीपत की लड़ाई में दिल्ली के बादशाह इब्राहीम लोदी को पराजित और दिवंगत कर दिल्ली का राज्य शासन प्राप्त किया था। उसके बाद उसने आगरा पर अधिकार कर लिया था, और सन् १५३० (वि० सं० १५८७) में आगरा ही में उसकी मृत्यु हो गई थी। यह केवल ५ वर्ष ही राज्य कर पाया था।

२. जंबूस्वामीचरित २७ २६ पृ० ४-५

३. शास्वत साहि जलाल्दीनपुरतः प्राप्त प्रतिष्ठोदयः,
श्रीमान् मुंगलवंश शारद शवरिण स्वोपकारोद्यतः
नाम्ना कृष्ण इति प्रसिद्धि रभवत् सक्षात्र धर्मोन्नतेः,
तन्मंत्रीश्वर टोडरो गुणयुतः सर्वाधिकाराधितः ॥
ज्ञानार्णवटीकाप्रशस्ति

४. उग्राग्रोतकवंशोत्थः श्री पासातनयः कृती ।
वर्धतां टोडरः साधू रसिकोऽत्र कथामृते ॥
जंबूस्वामी चरित्र सं० ४

५. जंबू स्वामि चरित ७३ से ७७ श्लोक पृ० ६

आगरा में एक जिन मंदिर का निर्माण कराया था, जिसका उल्लेख कविवर भगवतीदास अग्रवाल (सं० १६५१–१७००) ने अपनी वि० सं० १६५१ सन् १५९४ में रची जाने वाली 'अर्गलपुर जिन-वन्दना' नाम की कृति में किया है।[1] इससे स्पष्ट है कि साहु टोडर ने उक्त मन्दिर सं० १६५१ से पूर्व ही बनाया था। उनके उस मन्दिर में उस समय आत्म-साधिका हमीरी बाई नाम की एक ब्रह्मचारिणी रहती थी, जिसका तपश्चरण से शरीर क्षीण हो रहा था और जो सम्मेद शिखर की यात्रा करके वापिस आई थी।

मथुरा के ५१४ स्तूपों का जीर्णोद्धार कार्य

एक समय साहु टोडर सिद्ध क्षेत्र की यात्रा करने मथुरा गये थे। वहां उन्होंने मध्य में बना हुआ जम्बू स्वामी का स्तूप देखा, और उसके चरणों में विद्युच्चर मुनि का स्तूप देखा, तथा आस-पास बने हुए अन्य साधुओं के स्तूप देखे, जिनकी संख्या कहीं पांच, कहीं आठ, कहीं १० और कहीं २० भी थी। साहु टोडर ने उनकी जीर्ण-शीर्ण दशा देखी, जिससे उन्हें दुःख हुआ और तत्काल ही उनके समुद्धार की भावना बलवती हो उठी। फलतः उन्होंने शुभ दिन शुभ लग्न में उनके समुद्धार का कार्य प्रारम्भ कर दिया। साहु टोडर ने इस पुनीत कार्य में बहुत भारी द्रव्य व्यय किया और ५०१ स्तूपों का एक समूह और तेरह स्तूपों का दूसरा इस तरह कुल ५१४ स्तूपों का निर्माण कराया। इन स्तूपों के पास ही १२ द्वारपाल आदि की स्थापना की। इनकी प्रतिष्ठा का कार्य वि० सं० १६३० (ई० सन् १५७३) में द्वादशी बुधवार के दिन प्रातः ९ घड़ी व्यतीत होने पर सूरि मन्त्र पूर्वक किया[2]। उस समय साहु टोडर ने चतुर्विध संघ को आमन्त्रित किया था और सभी ने साहु टोडर को शुभाशीर्वाद दिया था। संवत् १६३२ में इन्होंने कविराजमल जी से जम्बूस्वामिचरित की रचना करवाई थी। अन्वेषण करने पर साहु टोडर के और भी धार्मिक कार्यों का परिचय मिल सकता है।

साहु टोडर के ज्येष्ठ पुत्र रिषीदास या ऋषभदास ने अपने सुनने के लिए ज्ञानार्णव की संस्कृत टीका आगरा के तात्कालिक विद्वान पं० नयविलास से बनवाई थी। पं० नयविलास जी संस्कृत के सुयोग्य विद्वान थे, और उस समय आगरा में ही रहते थे। आगरा में अनेक विद्वान, भट्टारक और श्रेष्ठिजनों का आवास था, जो निरन्तर अपने धर्म का अनुष्ठान करते हुये जीवन यापन करते थे।

पांडे राजमल ने साहु टोडर के ज्येष्ठ पुत्र ऋषभदास के लिये पंचाध्यायी के निर्माण करने का विचार किया था, किन्तु उनके दिवंगत हो जाने से वह कार्य पूर्ण न हो सका। इस तरह साहु टोडर और उनके परिवार में जैन धर्म की आस्था और धर्मानुष्ठान होता रहा।

भादानक देश के श्री प्रभुनगर में अग्रवाल वंशी मित्तल गोत्रीय साहु लखमदेव के चतुर्थ पुत्र

---

१. टोडरसाहु करायो जिनहर रह हमीरी बाई हो।
तपलंकृत वपु अति कृशकाया जात शिखरि कर आई हो।
जात शिखरि कर आई बर्तिका विहि थल पूज कराई,
वंद्यो देव जिनेश जगत्पति मस्तकु मेदिणि लाई।
देखो जैन संदेश शोधांक भी० २३ सं० २५ पृ० १६१

२. शतानां पंच चार्पकं शुद्धं चाविंशयोदश। स्तूपानां तत्समीपे च द्वादशकारिकादिकम्॥
संवत्सरे शताब्दानां शतानां षोडशं क्रमात। शुद्धैस्त्रिंश साधिकं दधति स्फुटम्॥
—जंबू स्वामि चरित ११८, ११९

थील्हा हुए। इनकी माता का नाम महादेवी था। प्रथम धर्मपत्नी का नाम कोल्हाही और दूसरी का नाम आसाही था। आसाही से त्रिभुवनपाल और रणमल नाम के पुत्र उत्पन्न हुए थे। थील्हा के पांच भाई और भी थे। जो खिउसी, होलू, दिवसी, मल्लिदास और कुन्दादास नाम से प्रसिद्ध थे। ये सभी जैन धर्म के उपासक और श्रावकोचित कर्तव्य का पालन करते थे।

लखमदेव के पितामह साहु होलू ने जिन विम्ब प्रतिष्ठा कराई थी। उन्हीं के वंशज थील्हा के अनुरोध से कवि तेजपाल ने उक्त 'संभवनाथ चरित' की रचना संवत १५०० के आस-पास की थी।

रोहतक निवासी चौधरी देवराज जिनकी जाति अग्रवाल और गोत्र सिंगल (संगल) था और पिता का नाम साह महणा था, सं० १५७६ चैत्र शुक्ला पंचमी शनिवार के दिन कृतिका नक्षत्र के शुभयोग में पार्श्वनाथ के मन्दिर में कवि माणिक्य-राज से अमरसेन चरित्र का निर्माण कराया था।

कवि रइधू ने तो अग्रवाल वंशी श्रावकों की प्रेरणा से अनेक ग्रंथों की रचना की, तथा प्रतिष्ठादि कार्य सम्पन्न किये जिनका उनके द्वारा रचित ग्रंथ प्रशस्तियों में विस्तृत परिचय दिया हुआ है।[1] इनके अतिरिक्त इस सम्बन्ध में विशेष अनुसंधान किया जाय तो एक बड़े ग्रंथ का निर्माण किया जा सकता है। दिल्ली के राजा हरसुखराय और सुगनचन्द ने जो शाही खजांची, राज्यमान्य और समाज में प्रतिष्ठित व्यक्ति थे, हिसार के निवासी थे उस समय जैनधर्म और जैनसमाज की प्रतिष्ठा के। अनेक महनीय कार्य किये। जिनमन्दिरों का निर्माण कराया और परोपकार आदि के महत्व-पूर्ण कार्य किये।[2] जिनसे उनकी महत्ता का स्पष्ट भान होता है। उनका परिचय अनेकान्त में दिया गया है। हस्तिनापुर के विशाल मन्दिर का निर्माण भी उन जैसे साहसी और भद्र परिणामी नररत्नों का ही कार्य था। इतना सब धार्मिक कार्य करने के पश्चात् भी उन्होंने अपना नाम कहीं अंकित नहीं कराया। उनके द्वारा निर्मित धार्मिक स्थान उनकी उदारता एवं निस्पृहता के द्योतक हैं।[3]

लाला जंबू प्रसादजी सहारनपुर, बड़ी ही भद्र प्रकृति के मानव थे। उनकी धार्मिक परिणति प्रसंशा के योग्य थी। उन्होंने मन्दिर निर्माण के साथ अच्छा शास्त्र भंडार भी बनाया था, धवलादि ग्रंथों की प्रतियां दस हजार रुपया में खरीद की थी, तत्वार्थ राजवार्तिक की टीका पंडित पन्नालालजी न्यायदिवाकर से बनवाई थी और दस हजार रुपया उपहार स्वरूप भेंट किया था। उनके पुत्र प्रद्युम्नकुमार ने भी पं० माणिकचन्दजी न्यायाचार्य से श्लोकवार्तिक की टीका बनवाई, और उसके लिये यथेष्ट द्रव्य खर्च किया। वर्तमान में श्रावक शिरोमणि साहु शांतिप्रसादजी का सांस्कृतिक कार्य भी प्रशंसनीय एवं अनुकरणीय है। मंदिरों का जीर्णोद्धार कार्य, और संस्थाओं के संचालन में अर्थ का सहयोग, साधर्मी वात्सल्य सहयोग आदि कार्य उनकी उदारवृत्ति के परिचायक हैं। दिल्ली, पानीपत, सुनपत, करनाल, हिसार, हांसी, सहारनपुर, मेरठ, मुजफ्फरनगर, आदि अनेक शहरों और कस्बों आदि में निवास करने वाले अधिकांश अग्रवाल ही हैं उन सब की धार्मिक परिणति आदि कार्य उल्लेखनीय हैं। इस तरह अग्रवालों का जैनधर्म के प्रचार तथा प्रसार में अच्छा योगदान रहा है। उसका कुछ आभास ऊपर के कुछ परिचय पर से मिल सकता है।

---

१. देखो, जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह दूसरे भाग की प्रस्तावना

२. अनेकान्तवर्ष १५ किरण ?

३. अनेकान्तवर्ष १३ किरण

अग्रवाल जैन कवियों की साहित्य-सेवा

जैन संस्कृति के प्रसार और प्रचार में केवल श्रावकों ने ही योग नहीं दिया है किन्तु समय समय पर अनेक अग्रवाल जैनकवियों ने अपनी रचनाओं द्वारा लोक कल्याण की भावनाओं को प्रोत्तेजित किया है। इतना ही नहीं किन्तु सामाजिक रीति-रिवाजों के साथ अपनी धार्मिक भावनाओं को पुष्पित किया है।

कवि श्रीधर हरियाणा देश के निवासी थे और अग्रवाल कुल में उत्पन्न हुए थे। उनके पिता का नाम 'गोल्ह' और माता का नाम 'बील्हा देवी' था। कवि ने अपनी गुरु परम्परा और जीवनादि की घटना का कोई उल्लेख नहीं किया। कवि हरियाणा से यमुना (जमुना) नदी को पार कर योगिनीपुर (दिल्ली) आया था और उसने अनंगपाल तृतीय के मंत्री नट्टल साहु के अनुरोध से संवत् ११८९ में 'पासणाह चरिउ' की रचना की थी। इस ग्रंथ में कवि ने अपनी एक अन्य रचना 'चन्द्रप्रभचरित' का उल्लेख किया है। इस खण्ड काव्य में पार्श्वनाथ का जीवन-परिचय अंकित किया गया है और अंतिम प्रशस्ति में ग्रंथ निर्माण में प्रेरक नट्टल साहु के परिवार का परिचय कराया गया है। कवि की एक अन्य रचना 'वड्ढमाणचरिउ' नामक खण्ड काव्य है जिसमें जैनियों के अन्तिम तीर्थंकर महावीर का जीवनचरित्र दिया हुआ है, जिसे कवि ने सं० ११९० में बनाकर समाप्त किया था। इस ग्रंथ की एक प्रति व्यावर के ऐ० पन्नालाल दि० जैन सरस्वती भवन में मौजूद है।

दूसरे कवि सधारु हैं। इनके पिता का नाम साह महाराज और माता का 'सुधनु' था, जो गुणवती थीं। कवि एरच्छ नगर के निवासी थे। इनकी बनाई हुई एकमात्र कृति 'प्रद्युम्न चरित' है जिसमें सात सौ पद्य हैं। इसमें प्रद्युम्न का

---

१. अग्रवाल वंशे गोल्हण तोय की. [illegible] :
माता बील्हा नाम जिण [illegible] ॥

के 'सुदंसण चरित्र' का प्रभाव स्पष्ट है। भाषा और भाव दोनों का चयन सुन्दर है। ग्रंथ चोपाई छन्द में लिखा गया है। कवि ने इस ग्रंथ को सं० १६६३ में माघ शुक्ला पंचमी गुरुवार के दिन बनाकर समाप्त किया था। दोनों ही ग्रन्थ अकबर के पुत्र जहांगीर के राज्य में रचे गए हैं।

छठवें कवि **'भगवतीदास'** हैं। इनका गोत्र 'बंसल' था। यह वूढिया [1] जिला अम्बाला के निवासी थे। इनके पिता का नाम किसन दास था, उन्होंने चतुर्थवय में मुनिव्रत धारण कर लिया था। यह वूढिया से जोगिनीपुर (दिल्ली) चले गए थे। उस समय देहली में अकबर के पुत्र जहांगीर का राज्य था। उस समय देहली की भट्टारकीय गद्दीपर भट्टारक सकलचन्द्र के पट्ट शिष्य मुनि महेन्द्रसेन विराजमान थे, जो भ० गुणचन्द्र के प्रशिष्य थे। दिल्ली के मोती बाजार में जिन मन्दिर था, जिसमें भगवान पार्श्वनाथ की मूर्ति विराजमान थी। [2] कविवर वहीं पर रहते थे। कवि की अनेक कृतियाँ उपलब्ध है। उनमें कुछ तो इतनी बड़ी हैं कि वे स्वयं एक स्वतंत्र ग्रन्थ का रूप ले लती हैं। और छोटी छोटी अनेक फुटकर रचनाएं है जो समय समय पर रची गई हैं। ये सब रचनाएं एक ही स्थान पर नहीं रची गईं; किन्तु दिल्ली, आगरा, हिसार, सहजादपुर, वूढिया, कपिस्थल, संकिसा आदि स्थानों में लिखी गई हैं। कवि की सबसे प्रथम रचना 'अर्गलपुर जिन वन्दना' है जिसे कवि ने सं० १६५१ में आगरा में बनाई थी, उसमें आगरे की यात्रा का समाचार अंकित है। मुक्ति रमणी चूनड़ी सं० १६८०, वृहत् सीता सतु सं० १६८४, लघुसीता सतु सं० १६८७, अनेकार्थ नाममाला सं० १६८७, मृगांकलेखा चरित सं० १७००। इन रचनाओं के अतिरिक्त अन्य रचनाओं में रचना संवत् दिया हुआ नहीं है। इससे उनके सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा सकता। मनकरहारास, जोगीरास, टंडाणा रास, चतुर वंनजारा, आदित्यव्रत रास, दशलक्षण रास, साधुसमाधिरास, रोहिणीव्रतरास, द्वादशानुप्रेक्षा, सुगंधदशमीकथा, अनथमीकथा, सज्ञानीढमाल, आदिनाथस्तवन, शान्तिनाथ स्तवन, दिल्ली की राजावली, राजमती नेमीश्वर ढमाल, सांवलागीत, मनसूवागीत, वीरजिनिंदगीत, चौमासागीत, मधुकरगीत, वणजारा गीत, मुक्तावलीरास, दिवाली ढाल गीत, कर्मचेतनहिंदोला, कर्मप्रकृति हिंदोला, रतिनवेली वारहमासा, वैरागीलाल वारहमासा, वारहमासा और अनेक पद, मनहरणगीत, भमरागीत, वावनी, आदि अनेक फुटकर रचनाएं अजमेर के एक गुच्छक में संगृहीत हैं। वैद्यविनोद और ज्योतिपसार ये दोनों ग्रंथ कारंजा भंडार में

स्थित हैं कवि की समस्त रचनाएं सुन्दर, स्वपर-सम्बोधक और उपदेशक हैं।

सातवें कवि पांडे **रूपचन्द** हैं। इनका गोत्र 'गर्ग' था। इनका जन्म कुरु देश के 'सलेमपुर' नामक स्थान पर हुआ था। इनके पितामह का नाम 'मामट' और पिता का नाम भगवानदास था। भगवानदास की दूसरी पत्नी से रूपचन्द का जन्म हुआ था। इनके चार भाई और भी थे हरिराज, भूपति, अभयराज और कीर्तिचन्द। इन्होंने बनारस में शिक्षा पाई थी। यह विद्वान कवि थे और अध्यात्म के प्रेमी थे। इनकी कृतियां परमार्थी दोहाशतक, मंगल गीत प्रबन्ध, नेमिनाथरासा, खटोलनागीत और आध्यात्मिक पद हैं समवसरण पाठ (केवलज्ञान कल्याणार्चा) इनकी संस्कृत की रचना है, जिसे उन्होंने संवत् १६६२ में बनाकर समाप्त किया था। इनकी मृत्यु सं० १६६४ में हुई थी। यह आगरे में आये थे और तिहुन साहु के मंदिर में ठहरे थे। कविवर भगवतीदासने अपनी 'अर्गलपुर जिनवन्दना' में इसका उल्लेख किया है। कवि रूपचन्द जी से सब अध्यातमियों ने गोम्मट-सार वंचवाया था, उसी से बनारसीदास और उनके साथी जैन धर्म में दृढ़ हुए थे और उनका अध्यात्मरोग दूर हुआ था।

आठवें कवि **भाऊ** हैं, जो नहनगढ़ या त्रिभुवन-गिरि के निवासी थे। इनके पिता का नाम 'मनू' साहु था। इनका गोत्र 'गर्ग' था। इस समय तक इनकी तीन चार रचनाओं का पता चला है इनमें से आदित्यवार कथा तो मुद्रित हो चुकी है। दूसरी रचना नेमिनाथ रास है, जिसमें नेमिनाथ और राजुल का जीवन-परिचय अंकित है। तीसरी रचना पार्श्वनाथ कथा है जो जयपुर के तेरापंथी बड़े मन्दिर के गुच्छक नं० १६३ में दर्ज है लिपि १७०४ है (ग्रन्थ सूची भ० २ पृ० ३५५) चौथी रचना पुष्पदन्त पूजा है कवि ने रचनाकाल नहीं दिया। कवि का समय १६ वीं १७ वीं शताब्दी जान पड़ता है।

नौवें कवि **जगजीवन** हैं—यह आगरा के निवासी और संघवी अभयराज तथा मोहनदे के पुत्र थे। संघवी अभयराज ने आगरा में जिन मंदिर का निर्माण कराया था। जगजीवन विद्वान और कवि थे और जाफरखां के दीवान थे। जाफरखां शाहजहां का उमराव था जो पंचहजारी मनसब को प्राप्त था। जग जीवन पर लक्ष्मी का वरद-हस्त था। यह विद्वानों की संगति में बैठते और तत्त्व चर्चा करते थे। पांडे हीरानन्द जी से इनका घनिष्ठ संबंध था। संवत् १७०१ में इनकी प्रेरणा से समवसरण पाठ बनाया था उसकी एक प्रति उक्त संवत १७०१ की दिल्ली के नये मन्दिरजी में मौजूद है। पंचास्तिकाय का पद्यानुवाद भी बनवाया था। जगजीवन ने सं० १७०१ में बनारसीदास की कविताओं का संकलन कर बनारसी विलास नाम दिया था। आपके अनेक पद और एकीभावस्तोत्रादि के पद्यानुवाद मिलते हैं।

दशवें कवि **बंशीदास** हैं, जो फातिहाबाद नगर के निवासी थे। भट्टारक विशाल कीर्ति के शिष्य थे कवि ने सं० १६६५ ज्येष्ठ कृष्णा द्वितीया के दिन 'रोहिणी विधि कथा' की रचना की है।

ग्यारह वें कवि **हेमराज** हैं, जो 'गर्ग' गोती और आगरा के निवासी थे। ये अच्छे विद्वान टीका-कार और कवि थे और अध्यात्म की चर्चा करने में निपुण थे। इन्होंने अपनी पुत्री जैनुलदे को, जो गुण शील से सम्पन्न और रूपवान थी, खूब विद्या पढ़ाई की। हेमराज ने उनका विवाह नन्दलाल से किया था जो उस समय बयाना से आकर आगरा में रह रहे थे। इन्होंने प्रवचनसार की टीका सं० १[illegible] में, लाला कुंवरपाल के अनुरोध से बन[illegible] और पंचास्तिकाय[illegible] नन्दजी के प्रसाद से ब[illegible]

टीका सं० १७१७ में भक्तामरस्तोत्र का पद्यानुवाद भी आपकी कृति है, कर्मप्रकृति की हिन्दी टीका (सं० १७१७) में और श्वेताम्बर चौरासी बोल भी आपने बनाये थे।

बारहवें कवि बुलाकीदास या बूलचन्द हैं, जो नन्दलाल और जैनुलदे के पुत्र थे । इनके पितामह नाम श्रवणदास और माता का नाम जैनुलदे जैनी था जो अत्यन्त विदुषी थी। पं० लचन्द ने दिल्ली के जयसिहपुरा में पंडित अरुण-मणि से विद्या प्राप्त की थी। अरुन्मणि ने इन्हें हित के साथ विद्या पढ़ाई की। इन्होंने अपनी माता की आज्ञा से 'पाण्डवपुराण' संवत १७५४ में बनाया था, और प्रश्नोत्तर श्रावकाचार के तीन हिस्से जहानाबाद में सं० १७४७ में और चौथा हिस्सा पानीपत में सं० १७६६ में समाप्त किया था।

तेरहवें कवि दरिगह मल हैं, जो वत्सदेशान्त-र्गत 'सहजादपुर'[1] नामक नगर के निवासी थे, जो गंगा के तट पर बसा हुआ था। इनका गोत्र 'गर्ग' था। ये काष्ठासंघ माथुर गच्छ पुष्करगण के भट्टारक कुमार सेन की आम्नाय के विद्वान थे, जो सेठ सुदर्शन के समान दृढ़व्रती थे। इनके पुत्र का नाम विनोदीलाल था। आपके बनाये हुए पद और जकड़ी हैं जो स्व-पर-सम्बोधक हैं। जकड़ी प्रकाशित हो चुकी हैं।

चौदहवें कवि विनोदीलाल हैं, इनके परदादा का नाम 'मंडन'[2] और दादा का नाम 'पारस' था और पिता का नाम 'दरिगहमल्ल' था। विनोदीलाल जैन सिद्धान्त के अच्छे विद्वान और कवि थे। उन्होंने लिखा है कि—"द्वै पन आयु वृथा मुझ गई, तीजे पन कुछ शुभमति भई।" इससे स्पष्ट है कि कवि की आयु के दो भाग बीत जाने पर जैन धर्म की ओर विशेष आकृष्ट हुए थे और तभी रचनाओं की ओर चित्त लगाया था। उनकी जो रचनाएं मेरे अवलोकन में आई है, उनका उल्लेख निम्न प्रकार है—

१ भक्तामर कथा स० १७४७, २ सम्यक्त्व कौमुदी सं० १७४६, ३ सिद्धचक्र कथा सं० १७५० में औरंगजेब के राज्यकाल में बनाकर समाप्त की है। यद्यपि यह संस्कृत रचना का पद्यानुवाद मात्र है, फिर भी उसमें सरसता है दोहा, चौपाई सोरठा, अडिल्ल, त्रोटक आदि अनेक छन्दों में रची गई है। कवि ने उसकी प्रशस्ति में अपना परिचय भी अंकित किया है। ४ राजुल पच्चीसी

---

१. प्रस्तुत सहजादपुर प्रयाग या इलाहाबाद के पास गंगा नदी के तट पर बसा हुआ था। वहां अग्रवाल श्रावकों के अनेक घर थे, जैन मन्दिर था। १७वीं शताब्दी के कवि भगवतीदास अग्रवाल ने भी वहां रह कर रचना की थी।

२. नामक था श्रीपाल विनोद, पढ़त सुनत मन होय प्रमोद।
जाति वानिया अगरवार, गोत अठारह में सिरदार॥
अनमञ्चन सुन अलि महान, गर्ग गोत्र जदुवंश प्रधान।
पर दादे को 'मंडन' नाम, कुल मण्डन हुओ सो धाम॥
दादो पारस' तासु समान, यथा नाम तैसे गुण जान।
दरिगहमल्ल तात सुत तनो, शील सुमेरु सुदर्शन मनो॥
तासो अनुज विनोदीलाल, मैं यह रचना रची विशाल।
× × × ×
संवत सत्रह सै पचास, छेज उजारी अगहन मास।
रवि वासर पाई शुभ घरी, ता दिन कथा संपूरन भई।

५ नेमिनाथ व्याहला, ६ फूलमाल पच्चीसी ७ नेमिनाथ बारहमासा और अनेक पद भी बनाये हुए हैं। सभी रचनाएं सम्बोधक और सुरुचिपूर्ण हैं।

पन्द्रहवें कवि द्यानतराय हैं,[1] जो आगरा के निवासी थे। इनका गोत्र 'गोयल' था। कवि के पूर्वज जलालपुर से आकर आगरा में बसे थे। कवि के पितामह का नाम वीरदास और पिता का नाम श्यामदास था। कवि का जन्म सं० १७३३ में हुआ था। बाल अवस्था में इनका लालन-पालन बड़े प्रेम से हुआ, और प्रारम्भिक शिक्षा भी मिली। उस समय उनकी जैनधर्म में कोई रुचि नहीं थी, किन्तु वे पिता से आगत धर्म का ही आचरण करते थे। दैवयोग से कविवर के पिता का सं० १७४२ में अचानक स्वर्गवास हो गया। उस समय कवि की अवस्था ६ वर्ष की थी। पिता के स्वर्गवास का उनके जीवन पर बड़ा प्रभाव पड़ा, और घर-गृहस्थी का सारा भार अल्प अवस्था में उठाने को मजबूर होना पड़ा। परन्तु आत्मीयजनों और दूसरे साधर्मीजनों के सहयोग से कुछ समय अपना कार्य करते हुए भी शिक्षा की ओर अग्रसर रहे। तेरह वर्ष की उम्र में इनका परिचय पं० विहारीलाल और शाह मानसिंह जी से हो गया। दोनों ही महानुभाव जैनधर्म के अच्छे जानकार थे और शक्त्यनुसार उस पर अमल भी करते थे। उस समय आगरा में अध्यात्म शैली का बहुत जोर था। यत्र-तत्र जैन धर्म की चर्चा खूब चलती थी। आगरा विद्वानों के समागम और तत्वचर्चा का केन्द्र सा बन गया था। फलतः वहां उस समय यदि कोई हाकिम या सद्गृहस्थ पहुँच जाता था तो वह उन विद्वानों की सत्संगति से जरूर लाभ उठाने का प्रयत्न करता था। अध्यात्मरस की सरस चर्चा नवागन्तुक व्यक्ति पर अपना प्रभाव अछूता नहीं छोड़ती थी। वह उनके सरस व्यवहार और तत्वचर्चा से आत्म-विभोर हुए बिना नहीं रहता था। उसकी अभिलाषा सत्समागम से लाभ उठाने की प्रति समय रहती थी। परिणामस्वरूप उसका धार्मिक शैथिल्य दूर होकर श्रद्धा में दृढ़ता ला देता था। वह जैन धर्म का श्रद्धालु और अपने मानव जीवन को ऊँचा उठाने की भावना को हृदयंगम कर लेता था। द्यानतरायजी उन दोनों की शिक्षा से मानव जीवन की सफलता के रहस्य को पागये और प्राकृत संस्कृत के अच्छे विद्वान बन गये। वे जैन धर्म का परिज्ञान कर उसकी शरण में आगए। सं० १७४८ में १५ वर्ष की अवस्था में कवि का विवाह हो गया, और वे गृहस्थ जीवन की सुदृढ़ सांकलों से जकड़ दिये गये, जिसमें राजी होकर जीव अपने कर्तव्य को भूल जाते हैं। कवि ने १६ वर्ष की अवस्था में अर्थात् सं० १७५२ में कार्तिक वदी त्रयोदशी के दिन आगरा में 'सुबोध पंचासिका' बनाई, और सं० १७५८ में उपदेश शतक, छहढ़ाला सं० १७५८, और सं० १७८० में धर्म विलास, जिसमें ४५ रचनाओं का संकलन किया गया है। ३३३ आधात्मिक स्व-पर-सम्बोधक पद, चर्चा शतक बड़ी सुन्दर कृति है। सं० १७८१ में आगम विलास की रचना हुई, जिसमें १५२ सवैया तथा ५५ अन्य छोटी-छोटी रचनाओं का संग्रह है। जिनमें प्रतिमा बहतरी सं० १७८१ में दिल्ली में बनाकर समाप्त की है। संवत् १७८३ में कार्तिक शुक्ला चतुर्दशी के दिन कवि ने साम्यभाव से अपने जड़ शरीर का परित्याग किया था।[1] कवि की मृत्यु के बाद उनकी कृतियों का चिट्ठा उनके पुत्र लालजी ने आलमगंज वासी किसी झाझू नामक व्यक्ति को दे

१. विशेष परिचय के लिये देखो अनेकान्त वर्ष ११ किरण ४-५ पृ० १६१

१. संवत विक्रमन्टपति के गुण वसु शैल सितंश।
कार्तिक सुकल चतुरदशी द्यानत सुर गंतूश ॥

टीका सं० १७१७ में भक्तामरस्तोत्र का पद्यानुवाद भी आपकी कृति है, कर्मप्रकृति की हिन्दी टीका (सं० १७१७) में और श्वेताम्बर चौरासी बोल भी आपने बनाये थे।

बारहवें कवि बुलाकीदास या दूलचन्द हैं, जो नन्दलाल और जैनुलदे के पुत्र थे। इनके पितामह का नाम श्रवणदास और माता का नाम जैनुलदे या जैनी था जो अत्यन्त विदुषी थी। पं० बूलचन्द ने दिल्ली के जयसिंहपुरा में पंडित अरुण-मणि से विद्या प्राप्त की थी। अरुन्मणि ने इन्हें हित के साथ विद्या पढ़ाई की। इन्होंने अपनी माता की आज्ञा से 'पाण्डवपुराण' संवत १७५४ में बनाया था, और प्रश्नोत्तर श्रावकाचार के तीन हिस्से जहानाबाद में सं० १७४७ में और चौथा हिस्सा पानीपत में सं० १७६६ में समाप्त किया था।

तेरहवें कवि दरिगह मल हैं, जो वत्सदेशान्त-र्गत 'सहजादपुर'[1] नामक नगर के निवासी थे, जो गंगा के तट पर बसा हुआ था। इनका गोत्र 'गर्ग' था। ये काष्ठासंघ माथुर गच्छ पुष्करगण के भट्टारक कुमार सेन की आम्नाय के विद्वान थे, जो सेठ सुदर्शन के समान दृढ़व्रती थे। इनके पुत्र का नाम विनोदीलाल था। आपके बनाये हुए पद और जकड़ी हैं जो स्व-पर-सम्बोधक हैं। जकड़ी प्रकाशित हो चुकी हैं।

चौदहवें कवि विनोदीलाल हैं, इनके परदादा का नाम 'मंडन' और दादा का नाम 'पारस' था और पिता का नाम 'दरिगहमल्ल' था। विनोदीलाल जैन सिद्धान्त के अच्छे विद्वान और कवि थे। उन्होंने लिखा है कि—"द्वै पन आयु वृथा मुझ गई, तीजे पन कुछ शुभमति भई।" इससे स्पष्ट है कि कवि की आयु के दो भाग बीत जाने पर जैन धर्म की ओर विशेष आकृष्ट हुए थे और तभी रचनाओं की ओर चित्त लगाया था। उनकी जो रचनाएं मेरे अवलोकन में आई है, उनका उल्लेख निम्न प्रकार है—

१ भक्तामर कथा सं० १७४७, २ सम्यक्त्व कौमुदी सं० १७४९, ३ सिद्धचक्र कथा सं० १७५० में औरंगजेब के राज्यकाल में बनाकर समाप्त की है। यद्यपि यह संस्कृत रचना का पद्यानुवाद मात्र है, फिर भी उसमें सरसता है दोहा, चौपाई सोरठा, अडिल्ल, त्रोटक आदि अनेक छन्दों में रची गई है। कवि ने उसकी प्रशस्ति में अपना परिचय भी अंकित किया है। ४ राजुल पच्चीसी

---

१. प्रस्तुत सहजादपुर प्रयाग या इलाहाबाद के पास गंगा नदी के तट पर बसा हुआ था। वहां अग्रवाल श्रावकों के अनेक घर थे, जैन मन्दिर था। १७वीं शताब्दी के कवि भगवतीदास अग्रवाल ने भी वहां रह कर रचना की थी।

२. नामक था श्रीपाल विनोद, पढत सुनत मन होय प्रमोद।
जाति बानिया अगरवार, गोत अठारह में सिरदार॥
अनसकुन मुझ अलि महान, गर्ग गोत्र जदुवंश प्रधान।
पर दादे को 'मंडन' नाम, कुल मण्डन हुओ सो धाम॥
दादो 'पारस' तासु समान, यथा नाम तैसे गुण जान।
दरिगहमल्ल तात मुझ तनों, शील सुमेरु सुदर्शन मनो॥
ताको अनुज विनोदीलाल, मै यह रचना रची विसाल।
× × × ×
सतरा सतह से पचास, [illegible] उजारी अगहन मास।
रवि वासर पाई शुभ घरी, ता दिन कथा संपूरन भई।

हिन्दी का आदिकाल और जैन-साहित्य

• डा० छविनाथ त्रिपाठी

हिन्दी साहित्य का आदिकाल सामान्य रूप से दसवीं से चौदहवीं शताब्दी तक माना जाता है। इस काल के अनेक नाम हिन्दी के आचार्यों द्वारा प्रस्तुत किये गये हैं। सबके पास तत्कालीन उपलब्ध सामग्री थी अपने तर्क थे। किसी ने उसे वीर गाथा काल कहा, किसी ने सिद्ध सामन्त काल और अब उसे उत्तर अपभ्रंश काल कहा जाता है। सर्व प्रथम पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने बताया कि विक्रम की सातवीं से ग्यारहवीं शताब्दी तक अपभ्रंश की प्रधानता रही और फिर वह पुरानी हिन्दी में परिणत हो गई। इसमें देशी की प्रधानता है, विभक्तियां घिस गई हैं, खिर गई हैं। एक ही विभक्ति 'हुँ' या 'आहुँ' कई काम देने लगी।' इसी विचार का समर्थन करते हुए आचार्य हजारी-प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि 'दसवीं से चौदहवीं शताब्दी का काल जिसे हिन्दी का आदि काल कहते हैं, भाषा की दृष्टि से अपभ्रंश का ही बढ़ाव है। इसी अपभ्रंश के बढ़ाव को कुछ लोग उत्तर कालीन अपभ्रंश कहते हैं और कुछ लोग पुरानी हिन्दी।' 'बारहवीं शताब्दी तक निश्चित रूप से अपभ्रंश भाषा ही पुरानी हिन्दी के रूप में चलती थी, यद्यपि उसमें नये तत्सम शब्दों का आगमन शुरु हो गया था।'[1] 'बोलचाल की भाषा में तत्सम शब्दों का प्रचार बढ़ने लगा था, पर पद्य में अपभ्रंश का ही प्राधान्य था। इस लिये इस काल को अपभ्रंश का बढ़ाव काल कहना ही उचित है।'[2]

इन विचारों की अभिव्यक्ति के उपरान्त भी अनुसंधान कार्य चलता रहा है; अनेक ऐसी कृतियां प्रकाश में आ चुकी हैं जो हिन्दी साहित्य के आदि-काल के स्वरूप, नाम, भाषा आदि पर प्रचुर प्रकाश डालती हैं। आचार्य शुक्ल के समय पृथ्वीराज रासो बीसल देव रासो, विद्यापति की पदावली तथा कुछ अन्य ऐसी रचनायें उपलब्ध थीं जो अपूर्ण और अर्ध प्रामाणिक थीं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस सूची में कुछ और वृद्धि की और संदेश रासक के महत्त्व पर प्रकाश डाला। इस काल के ग्रन्थों की सूची निरन्तर बढ़ती गई है और नये अनुसंधान के साथ साथ उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है।

हिन्दी साहित्य के आदिकाल को अपभ्रंश का बढ़ाव मान लेने पर दसवीं से चोदहवीं शताब्दी तक की सम्पूर्ण कृतियों का, चाहे वे अपभ्रंश में हों या डिंगल में, प्राचीन गुजराती में हों या मैथिली में, विवेचन अपेक्षित है और यह निर्णय करना अधिकारी विद्वानों का कार्य है कि किन किन कृतियों को हिन्दी साहित्य के आदिकाल में समाविष्ट किया जा सकता है या किया जाना चाहिये। यह कार्य अभी शेष है और खेद की बात है कि इस पर कार्य नहीं हो रहा है।

हिन्दी साहित्य के आदिकाल की उपलब्ध सामग्री को पांच वर्गों में रखा जा सकता है—(१) नाथ पंथी और सिद्ध साहित्य (२) रासो और रास या रासक काव्य (३) उत्तर अपभ्रंश का जैन साहित्य (४) हिन्दी की उपभाषाओं का साहित्य तथा (५) प्राचीन गुजराती साहित्य (यदि वे डिंगल या प्राचीन हिन्दी के समीप हों)। इन वर्गों में से

१. द्रष्टव्य-हिन्दी साहित्य का आदि काल-पृ० २२

२. वही—पृ० २४।

हिन्दी की उपभाषाओं में केवल मैथिली की रचनायें उपलब्ध हैं। नाथ पंथी और सिद्धों का साहित्य आदि-काल की महत्त्वपूर्ण सामग्री है। शेष तीन वर्गों की कृतियां या तो जैन साहित्य के अन्तर्गत आती हैं या इस धारा से पूर्णत: प्रभावित हैं।

रास या रासक

रास या रासक के सम्बन्ध में विविध मत प्रचलित हैं। हिन्दू परम्परा 'रास' से मंडलाकार नृत्य का बोध करती है और कृष्ण से इसका सम्बन्ध जोड़ लेती है। रास, चर्चरी आदि के प्राचीन उल्लेखों से इसका सम्बन्ध लोक जीवन और लोक नृत्यों से जोड़ लिया जाता है। डा० दशरथ ओझा सातवीं शताब्दी में इसका प्रचुर प्रचार स्वीकार करते हैं।[१] रिपुदारण रास के आधार पर ध्रुवक युक्तता इसका एक गुण भी सिद्ध करते हैं।[२] यह भी उन्होंने लिखा है कि ८वीं शताब्दी से १५वीं शताब्दी तक के मध्य कृष्ण रास लीला का प्रायः अभाव सा प्रतीत होता है।[3] अतः दसवीं से चौदहवीं शताब्दी तक जो रास काव्य लिखे गये उनका सम्बन्ध किसी भी प्रकार से कृष्ण रास से नही जोड़ा जा सकता है। उपलब्ध रास काव्य भी इसकी साक्षी नहीं देते। ये रास काव्य अधिकतर जैन कवियों द्वारा लिखे गये हैं; अतः इनकी रास सम्बन्धी धारणा का निर्णायक महत्त्व है। हेमचन्द्र ने प्रेक्ष्य काव्य के दो भेद किये हैं पाठ्य और गेय। पाठ्य में उन्होंने–नाटक, प्रकरण, नाटिका, समवकार ईहामृग, डिम, व्यायोग, उत्सृष्टिकांक, प्रहसन, भाण, वीथी और सट्टक आदि। गेय में उन्होंने—डोम्बिका, भाण, प्रस्थान, शिगक, भाणिका, प्रेरण, रामाक्रीड, हल्लीसक, रासक, गोष्ठी, श्रीगदित राग काव्यादि।[४] इस विभाजन से स्पष्ट है कि प्रेक्ष्य तो दोनों वर्गों की कृतियां हैं पर द्वितीय वर्ग के अन्तर्गत प्रेक्ष्य–गेय (आजकाल का गीति-नाट्य) को रखा गया है और रासक उसका एक रूप है। हेमचन्द्र के पूर्व रासक के कई रूप प्रचलित थे। ताल रास, लगुड रास, चर्चरी आदि उसके विविध रूपों की चर्चा ही नहीं मिलती, पर अपभ्रंश के महाकवि स्वयंभू ने अपने प्रबन्धकाव्य पउम चरिउ में उसका प्रयोग भी किया है। उनके प्रयोग से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि रास केवल मंडलाकार नृत्य मात्र नहीं था। उनके समय यह ध्रुवक युक्त लोकगीतिनाट्य था। आवश्यकतानुसार प्रबन्ध काव्य में उसे अंग रूप में प्रयुक्त किया जा सकता था। लगुड रास केवल डंडा लेकर ही नहीं, कोई भी शस्त्र लेकर दो व्यक्ति (पुरुष-पुरुष, या पुरुष-स्त्री) संपन्न कर सकते थे, हां गाने के लिये साथ में अन्य व्यक्तियों की आवश्यकता होती थी। अभिनय (गीत के भावानुसार) दो व्यक्तियों का ही चल सकता था।

हेमचन्द्र के समय तक रासक का भी पाठ्य और गेय भेद नहीं बन सका था अपितु—गेय-प्रेक्ष्य (अभिनय युक्त) और गेय मात्र (अभिनय युक्त) भेद अवश्य बन चुका था और इसका प्रथम उदाहरण जिनदत्त सूरिका 'उपदेश रसायन रास' है जो गेय मात्र तो है पर गेयाभिनेय नहीं। यही स्थिति उनकी चर्चरी की है।

अपभ्रंश के जितने भी रास काव्य उपलब्ध हैं उनमें वद्दहमाण कृत 'संदेश रासक' को छोड़कर सभी जैन कवियों की रचनायें हैं। संदेश रासक विप्रलंभ शृंगार का रासक (गीति नाट्य) है और भरतेश्वर बाहुबली रास वीरानुप्राणित शान्त रस का रासक। उपदेश रसायन रास इस प्रकार के चरितों को जिनमें संसार से वैराग्य दिखाया गया हो नाट्य और नृत्य रूप में प्रस्तुत करने की अनुमति

१. द्रष्टव्य—रास और रासान्वयी काव्य–पृ० ३६
२. वहीं। ३ वहीं पृ० ४१
४. द्रष्टव्य—काव्यानुशासन–८।३,४॥

देता है जब कि वह सामान्य रूप से जैन मन्दिरों में रास का विरोध करता है।[1] भरतेश्वर वाहुवलि-घोर रास (वज्रसेन सूरि) बुद्धि रास (शालिभद्र सूरि), जीव दया रासु (आसिग), नेमिनाथ रास (सुमति गणि), रेवंत गिरिरास (विजय सेन सूरि), गयकुमार रास (देवेन्द्र सूरि), आवू रास (अज्ञात) कच्छुली रास (प्रज्ञा तिलक), स्थूल भद्र फाग (आचार्य जिनपद्म), पंचपंडव चरित रास (शालि-भद्र सूरि), नेमिनाथ फागु (राजशेखर सूरि), गौतम स्वामी रास (विनय प्रभ), वसन्त विलास फागु (अज्ञात) तथा चर्चरिका (अज्ञात) आदिकाल के वे रास काव्य है जो मुख्यतः जैन कवियों की देन हैं और जिनकी परम्परा में ही पृथ्वीराज रासो, वीसलदेव रासो तथा खुमान रासो आदि रचनायें प्रकाश में आई हैं। इसी परंपरा में अंव देव के समरा रास की भी गणना की जा सकती है जो एक जैन कवि की ही रचना है। इसमें संघपति समरा का चरित वर्णित है।

पृथ्वीराज रासो का संयोगिता स्वयंवर कैमास वध और पृथ्वीराज शहाबुद्दीन संघर्ष प्रसंग ऐति-हासिक और प्रामाणिक माना जाता है। प्रामाणि-कता का आधार इतिहास को वनाया जाता है पर इस वात की प्रचुर संभावना विद्यमान है कि पृथ्वीराज के चरित को आधार वना कर छोटे छोटे रास काव्य लिखे गये होंगे और उनका एक स्थान पर संकलन कर दिया गया होगा। ये रास काल्प-निक घटनाओं को आश्रित कर लिखे जाने के कारण यदि इतिहास की कसौटी पर खरे नहीं उतरते तो इसमें उनका दोष ही क्या है? वीर रसेतर रास काव्यों की उपस्थिति के कारण वीसलदेव रासो के सीमित चार खण्डों को भी पूर्ण माना जा सकता है। शृंगार परकता उसे रासो परम्परा से पृथक नहीं कर सकती। मयण रेहा रास, चन्दन वाला रास भी छोटे चरित काव्य ही है जो रास के रूप में प्रस्तुत किये गये हैं।

चरित और रास काव्यों का योग—

चरित काव्यों की परम्परा प्राचीन काल से ही चली आ रही थी। चरित नामधारी काव्यों के लिखे जाने के पूर्व के सभी महाकाव्य, चरित काव्य ही है। अश्वघोष का बुद्ध चरित महाकाव्य भी है और चरितनामधारी भी। जव कथा और आख्यायिका का प्रचलन हुआ तव 'हर्षचरित' जैसी कृतियों की रचना हुई। पद्मगुप्त का नव साहसांक चरित, क्षेमेन्द्र का दशावतार चरित, विल्हण का विक्रमाङ्क देव चरित, हेमचन्द्र का कुमारपाल चरित, जयानक का पृथ्वीराज विजय आदि चरित काव्य संस्कृत में भी लिखे गये। जैन परम्परा में त्रिषष्टि शलाका पुरुषों के चरित को काव्य का आधार बनाना एक अप्रत्यक्ष निर्देश माना जाता था। इस लिये विस्तृत पौरा-णिक काव्यों से लेकर सामान्य जैन मुनियों के चरित तक संस्कृत प्राकृत और अपभ्रंश में जैनचरित काव्य प्रस्तुत किये गये। पउम चरिउ, रिट्ठणेमि महावीर चरिउ, पासनाह चरिउ, मनोरमा चरिय, आदिनाह चरिय, नेमीनाह चरिय, सुपासना चरिय सुरसुन्दरी चरिय, जसहर चारिउ, णाय-कुमार चरिउ, केवली चरिउ, संतिनाह चरिउ, पुहवीचंद चरिउ, रयणचूडराय चरिय, मुनि सुव्वय चरिय, सणं कुमार चरिय प्रभृति सैकड़ो चरित काव्य जैन मुनियों और कवियों द्वारा प्रस्तुत किये गये। जहां प्राकृत और अपभ्रंश के चरित काव्य वड़ी संख्या में लिखे जा रहे थे, वहां संस्कृत काव्यों की रचना भी समानान्तर रूप से ही चल रही थी इन चरित काव्यों का उद्देश्य केवल काव्य कुशलता प्रदर्शित करना मात्र नहीं था, उनमें धार्मिक दृष्टि सन्निहित थी। उदाहरण के लिये महासेन की सु-

१. धम्मिय नाडय पर नच्चिजहिं, भरह सगर निक्खमण कहिज्जहिं।
चक्कवहि-वल-रायह चरियइं, नच्चिव अंति हुंति पव्वइयइं। गा० ३७॥

चर्चित कृति प्रद्युम्न चरित को लिया जा सकता है। कवि के शब्दों में यह विचित्र अद्भुत काव्य भी है और श्रद्धा सहित पठ्यमान भी।[१] जैन मुनियों के चरित लेखन द्वारा 'त्रिषष्ठि पुरुष चरित' की सीमा का विस्तार किया गया। यह सीमा विस्तार संस्कृत के चरित काव्यों ने ही आरम्भ कर दिया था। उदाहरण के लिये गुणभद्र के जिनदत्त चरित का उल्लेख किया जा सकता है। जिनदत्त की कथा किसी कथाकोश या पुराण में उपलब्ध नहीं है।

जब रास या रासक काव्य रचना की प्रवृत्ति बढ़ी तो सर्व प्रथम जैन कवियों ने ही त्रिषष्ठि पुरुष सहित अन्य वर्ण्य चरितों को या उन चरितों की प्रमुख घटनाओं को रास या रासक रूप देना आरंभ कर दिया। भरतेश्वर बाहुबली सम्बन्धी रास इसके प्रमाण हैं। जब इस सीमा से परे भी रास काव्यों का सृजन आरम्भ हुआ तो ऐतिहासिक पुरुष और जैन मुनि भी वर्ण्य विषय बने। काल्पनिक रास भी प्रस्तुत हुए और हिन्दी साहित्य के आदि काल के प्राकृत, अपभ्रंश चरित काव्यों का प्रभाव रास या रासक काव्यों पर भी पड़ा और उन्होंने उसकी सम्पूर्ण सीमाओं को अपना लिया। इस प्रकार चरित और रास काव्य रचना की दो प्रवृत्तियां मात्र रह गईं। वर्ण्य के क्षेत्र में दोनों का सम्मिलन हो गया। हिन्दी साहित्य के आदि काल के पृथ्वीराज, बीसलदेव आदि रासो काव्यों की पृष्ठ भूमि यही रही है। चौदहवीं शताब्दी की कृतियों पज्जुण्ण चरिउ, जिणदत्त चरिउ, बाहुबल चरिउ, चंदप्पह चरिउ, मयण पराजय चरिउ तथा ... रास, गौतम स्वामी रास, समरा रास, रणमल्ल छन्द, मयण रेहा रास आदि की वर्णन प्रक्रियाओं में इन दोनों परम्पराओं का पृथक पृथक दर्शन भी किया जा सकता है और साम्य भी ढूंढा जा सकता है। आदि काल के बाद भी सत्रहवीं तक की रास नामधारी अनेक कृतियां प्रकाश में आ चुकी हैं।

डा० ओझा ने यह लक्ष्य किया है कि 'वैष्णव और जैन दोनों प्रकार के रासकों में विश्व-विजय की कामना से प्रेरित कामदेव किसी योगी महात्मा पर अभियान की तैयारी करता दिखाई पड़ता है।' अन्त में उसकी पराजय भी दिखलाई गई है। इस प्रवृत्ति के जैन काव्यों में 'मयण जुज्झ' तथा मयण पराजय चरिउ उल्लेखनीय हैं। मयण पराजय की रचना शुभचन्द्र के ज्ञानार्णव के आधार पर हुई है। इसमें जिनेन्द्र पर काम का आक्रमण और उसकी पराजय का वर्णन हुआ है। यह दो सन्धियों और कुल एक सौ अठारह पद्य खंडों में समाप्त हो गया है। कहने के लिए यह 'चरिउ' है पर इसमें रासक के गुण ही अधिक हैं। इस सम्बन्ध में डा० हीरालाल का यह विचार द्रष्टव्य है—'यथार्थतः यह रचना अपने स्वरूप में अन्य सुज्ञात अपभ्रंश चरितों से विषय व शैली में कुछ भिन्न है! इसमें उस प्रकार नायक का चरित्र वर्णन नहीं पाया जाता है, जैसा अन्य चरित्रों में। यहां का समस्त घटनाचक्र भावात्मक और कल्पित है। यद्यपि परिच्छेद विभाग चरित ग्रन्थों के सदृश सन्धियों में किया गया है, तथापि उनमें वस्तु, द्विपदी, अडिल्लह और छडड़िया छन्दों का प्रायः बराबर का प्रयोग अदल बदल

श्रीमत्कामममहानरस्यचरितं संसारविच्छेदिनः।
श्रद्धानन्दितराम्बुद्धमनसा शृण्वंति ये सत्तमाः॥
संवेगात्पठन्ति ये प्रतिदिनं योऽधीयते संततम्।
१. ... श्रीवल्लभेन्दु श्रियः॥ प्र० च० ५॥

३. श्री ... मदनो विवेकी शृंगारभाववनसागर राग सारं।
४. काव्यं विचित्र... कोविदजनाय ददौ संवृत्तम्॥६॥

कर किया गया है। इससे काव्य में एक तान की ऊब नहीं आने पाई तथा उसकी गेयात्मकता स्पष्ट हो गई है। इस दृष्टि से यदि इस रचना को रासक कहा जाय तो अनुचित न होगा।"[1] मयण पराजय एक रूपक काव्य है। जैसा कि मैंने ऊपर स्पष्ट किया है[2] रास, रासक और चरित काव्यों का मौलिक अन्तर उनकी गेयात्मकता के आधार पर ही स्पष्ट किया जा सकता है। ये रासक प्रेक्ष्य भी हैं जैसा कि हेमचन्द्र ने स्पष्ट किया है। बीसलदेव रासो गेय है। पृथ्वीराज रासो के पृथक पृथक घटनाश्रित खंड भी अपने मूल रूप में गेय होंगे।

जहां तक मदन पराजय का रास या रासक से सम्बन्ध जोड़ने का प्रश्न है यह वैष्णव (नन्ददास की रास पंचाध्यायी या भागवत) बौद्ध, और जैन परम्परा में एक साधक के विघ्नों में वर्णित घटना मात्र है जो मूलतः एक ही संस्कृति की त्रिधारा में समान रूप से उपलब्ध है और मदन पराजय की यह घटना जैन और वैष्णव रास काव्यों में समान रूप से वर्णन का विषय बनी है। धार्मिक महत्ता और सरसता इसके मुख्य कारण हैं।

जैन कथा ग्रन्थ—

हिन्दी साहित्य के आदि काल में जैन कथा ग्रन्थों का भी एक विशिष्ट स्थान है, यद्यपि इनकी उपेक्षा अधिक हुई है। लीलावती और कुवलयमाला प्रभृति प्राकृत ग्रन्थों का परवर्ती साहित्य पर प्रचुर प्रभाव पड़ा है। इसी परम्परा में भविसयत्त कहा, जीव मनः करण संलाप कथा, धम्म परिक्खा, कथा कोप, रत्नकरण्ड शास्त्र, स्थूलिभद्र कथा, अणुव्रत रत्न प्रदीप, सुलसाख्यान आदि कृतियां भी आती हैं जिनका हिन्दी साहित्य के आदि काल के अध्ययन में महत्वपूर्ण स्थान है।

जैन मुक्तक काव्य—

आदि काल की अधिकांश जैन रचनायें अपभ्रंश या अत्यधिक अपभ्रंश प्रभावित हैं। आचार्य हजारी-प्रसाद द्विवेदी ने दोहा परम्परा के निर्देश में विक्रमोर्वशी, सिद्धों के दोहों, णाय कुमार चरिउ, करकंडु चरिउ, थूल भद्द फागु, प्राकृत पैंगलम्, आदि का उल्लेख किया है।[3] वस्तुतः मात्रिक छन्दों का का प्रयोग विक्रमोर्वशी के निर्माण काल से भी बहुत पूर्व से होता आ रहा था और धम्मपद में भी चौपाई के उदाहरण मिल जाते हैं। स्वयंभू के समय तक मात्रिक छन्दों के न केवल विविध रूप विकसित हो चुके थे अपितु दोहा, चौपाई, रोला आदि का प्रबन्ध काव्यों में पूरा उपयोग भी हुआ है। पउमचरिउ में इन सबके उदाहरण बड़ी मात्रा में मिल जाते हैं। इस निष्कर्ष का आधार, कि पूर्व में दोहा, चौपाई और पश्चिम में पद्धड़िया, घत्ता अधिक लोकप्रिय छन्द थे, एक विहंगम दृष्टि-क्षेप मात्र है।

हिन्दी साहित्य के आदि काल में सिद्धों, नाथ-पंथियों आदि की मुक्तक, ज्ञान परक रचनाओं के अतिरिक्त जैन-मुक्तक रचनाओं का भी महत्व पूर्ण योगदान रहा है। जैन-साहित्य के इस योगदान में परमात्मा प्रकाश, योगसार, वैराग्यसार, आनन्दानन्द स्तोत्र, पाहुड़ दोहा, सावय धम्म दोहा, कुमार पाल प्रतिबोध, प्रबन्ध चिन्तामणि, प्रबन्ध कोश–आदि का महत्व पूर्ण स्थान है। इनमें उन मुक्तक रचनाओं का पूर्व रूप उपलब्ध हो जाता है जो आदि काल की अन्तिम शताब्दी और उसके बाद प्रकाश में आई हैं और जिन्होंने हिन्दी साहित्य की श्री वृद्धि में महत्वपूर्ण योग दिया है।

इस संक्षिप्त विहंगम दृष्टिपात से यह निष्कर्ष सहज ही निकाला जा सकता है कि आदि कालीन जैन-साहित्य की अपेक्षा कर हिन्दी साहित्य के आदि काल के स्वरूप और उसके सर्वांगीण महत्त्व का आकलन कर पाना संभव ही नहीं है।

---

१. द्रष्टव्य–मयण पराजय की भूमिका पृ० ६७॥ २, वही—पृष्ठ ७०॥
३. द्रष्टव्य–हिन्दी साहित्य का आदिकाल १०१ से १०३ तक

सद्भिरेव सहासीत सद्भिः कुर्वीत संगतिम् ।
सद्भिर्विवादं मैत्रीं च, नासद्भिर्किञ्चिदाचरेत् ॥

सज्जनों के साथ ही बैठो, सज्जनों के साथ ही रहो, सज्जनों के साथ ही दोस्ती करो, सज्जनों के साथ ही झगड़ा करो, तात्पर्य जो कुछ भी आचरण करो केवल सज्जनों के साथ ही करो, असत्पुरुषों के साथ जरा सा भी किसी भी प्रकार का सम्पर्क मत रखो ।

वृत्तं यत्नेन संरक्षेत्, वित्तमायाति याति च ।
अक्षीणो वित्ततः क्षीणो, वृत्ततस्तु हतो हतः ॥

अपने चरित्र की प्रयत्न पूर्वक रक्षा करनी चाहिये क्योंकि धन चले जाने पर भी मनुष्य क्षीण नहीं होता, उसका कुछ नहीं बिगड़ता किन्तु जिसका चरित्र नष्ट हो जाता है वह मनुष्य तो मरे हुए के समान ही है ।

दो ऐतिहासिक रचनाएं

● भँवरलाल नाहटा

मध्यकालीन जैन विद्वानों का ध्यान ऐतिहासिक रचनाओं के संरक्षण और निर्माण का बराबर बना रहा है। इसलिये विविध प्रकार की बहुत-सी ऐतिहासिक रचनायें आज भी प्राप्त हैं। पट्टावलियों, आचार्यों के रास, गीत, तीर्थ मालायें, ऐतिहासिक प्रबन्ध व काव्य आदि काफी मिलते हैं। उन सबके आधार से तथा प्रशस्तियों और मूर्ति लेखों के आधार से मध्यकालीन जैन इतिहास बड़े अच्छे रूप में लिखा जा सकता है। पर यह सामग्री बहुत ही बिखरी हुई है। उन सबका संग्रह करना भी बहुत ही कठिन है। गत् ३०-४० वर्षों में जैन इतिहास की सामग्री का संग्रह एवं प्रकाशन होता रहा है पर ऐसी रचनाओं की खपत नहीं हो पाती इसलिये आगे काम रुक जाता है। श्वेताम्बर समाज ने कुछ वर्ष पहले तक इस दिशा में काफी काम किया और अब दिगम्बर समाज की ओर से भी अच्छा प्रयत्न हो रहा है। अनेक शास्त्र भण्डारों के सूची पत्र इधर कुछ वर्षों में तैयार हुये हैं और कुछ प्रकाशित भी हो चुके हैं। इससे श्वे०, दिग० और जैनेतर बहुसंख्यक अज्ञात रचनाओं की जानकारी प्रकाश में आई है। यद्यपि बहुत से शास्त्र भण्डार अभी तक अज्ञात अवस्था में पड़े हैं। जब तक उन सबकी सूचियां न बन जांय तब तक जैन साहित्य का महत्वपूर्ण रूप से प्रकाश में नहीं आ सकता।

वैसे तो साधारणतया दि० शास्त्र भण्डारों में दिगम्बर ग्रन्थ ही अधिक मिलते हैं इसी तरह श्वे० भण्डारों में श्वेताम्बरों के। फिर भी कुछ ग्रन्थ व महत्वपूर्ण प्रतियां श्वेताम्बरों की दिगम्बर भण्डारों में मिल जाती है और दिगम्बरों की श्वे० भण्डारों में। इनमें से कई रचनायें तो ऐसी भी होती हैं जो सर्वथा अज्ञात होने के साथ-साथ विशेष महत्व की हैं। कुछ रचनाओं की तो केवल एक-एक प्रति बच पाई है। ऐसी ही दो श्वे० ऐतिहासिक रचनायें जयपुर के दि० शास्त्र भण्डार में प्राप्त एक गुटके में मिली हैं। उन रचनाओं का ऐतिहासिक सारांश प्रस्तुत लेख में प्रकाशित किया जा रहा है। ये दोनों रचनायें श्वे० गुजराती लोंकागच्छ के आचार्यों संबंधी हैं और इनकी कोई दूसरी प्रति श्वेताम्बर भण्डार में अभी तक नहीं मिली है। इन दो आचार्यों के नाम क्रमशः 'चिन्तामणी' और 'खेमकरण' है। खेमकरण, चिन्तामणी के शिष्य और पट्टघट थे। दोनों का ही जन्म राजस्थान के आऊवा शहर में हुआ था। आचार्य 'चिन्तामणी' संबंधी रचना का नाम श्री पूज्य श्री चिन्तामणी जी जन्मोत्पत्ति स्वाध्याय रचना के अन्त में लिखा हुआ है। इसमें उनके जन्म से लेकर स्वर्गवास तक का वृत्तान्त पाया जाता है। दूसरी रचना का नाम "गणनायक श्री खेमकरण जी जन्मोत्पत्ति संथारा विधि" अन्त में लिखा गया है। इसमें खेमकरण के जन्म से स्वर्गवास तक का वृत्तान्त है। दोनों रचनाओं * का ऐतिहासिक सारांश नीचे दिया जा रहा है।

(१) आऊया शहर में श्रावक भीमासाह के पुत्र चीमासाह की पत्नी चतुरंग दे की कूक्षी में चिन्तामणि कुमार अवतरित हुए। संवत् १६८४ मिती पौष शुक्ला ७ गुरूवार को जन्म लेकर क्रमशः युवावस्था को प्राप्त हुए। श्री वसुराजजी की वाणी सुनकर वैराग्यवासित हो माता-पिता से दीक्षा लेने की अनुमति मांगी। चरित्र की दुर्द्धर्षता बताने पर

* दोनों रचनाओं की प्रतिनिधि महावीर जी तीर्थ कमेटी से वर्णित जैन साहित्य शोध संस्थान से प्राप्त हुई हैं इसके लिये संस्था संस्थान के कार्यकर्ताओं का आभार मानता है।

भी कुमार का पक्का वैराग्य रंग ज्ञात कर माता-पिता ने आदेश दिया और कुलराज (चिन्तामणि) का दीक्षा महोत्सव प्रारम्भ किया। चतुर्विध संघ मिला। श्री धनराज जी साधु परिवार सहित पधारे। संवत् १७०४ मिती ज्येष्ट बदि ५ गुरुवार को श्री चिन्तामणिजी ने गुरु श्री धनराज जी के पास संयम मार्ग स्वीकार किया।

इनका प्रथम चातुर्मास जयतारण, दूसरा बगड़ी, व चौथा रतलाम, पांचवा सूरत, तीसरा छट्ठा कृष्णगढ़, सातवां पुष्पावती, आठवां सोभत, नवां विष्णुपुर, दसवां ग्यारहवां सूरत; बारहवां मुधदंती (सोजत), तेरहवां रत्नीनगर चौदहवां हांसी, पन्द्रहवां दिल्ली सोलहवां अर्गलपुर (आगरा) सतरहवां हरसोर में हुआ। ये सब चौमासे गुरु श्री के साथ ही हुए। श्रीधनराजजी धर्मोपदेशों द्वारा धर्म की महिमा बढ़ाते हुए मारवाड आये। आउवा पधारने पर संघ ने बड़ा स्वागत किया। राव महेशदास ने यहीं पर (चिन्तामणिजी) को पट्टधर स्थापित करने की प्रार्थना की। उत्सव प्रारम्भ हुआ। राव महेशदास के मुहँता नथमल ने पद महोत्सव किया। स्वधर्मी वात्सल्य हुए, राठौर कमधज रावजी की अर्ज थी और चिन्तामणि जी की योग्यता ज्ञात कर श्री धनराजजी ने संवत् १७२१ ज्येष्ठ वदि ५ को उन्हें स्वयं पट्ट पर स्थापित कर गच्छ भार संभलाया।

इसके बाद मुनिमण्डल सहित विचरते हुए पुरपुर आये। अठारहवां चौमासा करके उन्नीसवां नागपुर, बीसवां जालने, इक्कीसवां धनपुर, बाईसवां बगड़ी चातुर्मास हुआ। संवत् १७२२ (१६) में रैणा नगर पधारे। वहां आसोज सुदि ११ के दिन गुरु श्री का निर्वाण हुआ। श्री चिन्तामणिजी ने चौबीसवां चातुर्मास नाडोली, पचीसवां किशनगढ़, छब्बीसवां नौहराई, सत्ताईसवां रतनपुरी, अठाईसवां नरायणपुर, उनतीसवां मलारपुर, चातुर्मास किया। धर्मचन्द व दीपराज ने खूब सेवा की। तीसवां चातुर्मास घृत भाजनपुर, ताल पीपाड़ बतीसवां, दो चातुर्मास तेतीसवां-चौतीसवां उज्जैण में, पेंतीसवां रतनावती में किया। छत्तीसवां उज्जैन, सेतीसवां दिल्ली, अड़तीसवां नोरंगपुर, उनचालीसवां वेरीनगर, चालीसवां अलवर, इकचालीसवां सिलोणे बेयालीसवां परवतसर, तेंयालीसवां सोजत चातुर्मास हुआ। संवत् १७४६ का चातुर्मास सोजत करके फिर परवतसर आये। दीपचन्द ने गुरु श्री से श्री खेमकरणजी को गच्छभार सौंपने की प्रार्थना की। मुनिमंडल और श्रीसंघ एकत्र हुआ। रूपनगर और कृष्णगढ के संघ ने बहुत-सा अर्थ व्यय किया। दीपचन्द ने तथा नैणसिंह ने स्वधर्मी वात्सल्य-जीमणवार किये। रूपनगर व परवतसर के संघ ने मुनियों के संघाड़े में पहिरावणी की। इस प्रकार बड़ी महिमा हुई और गच्छनायकों की जोड़ी सूर्य-चन्द्र जैसी सुशोभित लगने लगी। संवत्१७४७ का ४४ वां चातुर्मास किशनगढ़ हुआ। फिर रूपनगर, अहिपुर, धौधूंदा, दिल्ली, कुलैभपुरी में तीन अकबराबाद में दो चातुर्मास करके ५४ वां दिल्ली में किया, ५५ वां वपणीयँ करके किसनगढ पधारे। संघ ने बड़े समारोह पूर्वक स्वागत किया और विनती करके गच्छराज को वहीं रखा। पांच चातुर्मास किये पांचवें चौमासे में पट्टधर को अपने पास रखा। फिर साठवां चातुर्मास मुकंदगढ़ किया, श्रावकों ने बड़ी सेवा की। संवत् १७६३ मिती काती वदि २ शनिवार के दिन श्री चिन्तामणि ने संथारा किया। चौरासी लक्ष जीवायोनि से क्षामणापूर्वक सात प्रहर का अनशन पूर्ण कर तृतीया के दिन रविवार को गुरुश्री निर्वाण प्राप्त हुए। संघ ने मखमल की मंडी को पंचवर्णी ध्वजाओं से सुसज्जित कर बाजित्र आदि के साथ पैसे उछालते हुए गुरु की अन्त्येष्टि क्रिया सम्पन्न की। श्री चिन्तामणिजी अपने नामके अनुरूप संघ की कामनाएं पूर्ण करें।

संवत् १७६३ काती वदि १३ शनिश्चर के दिन श्री चिन्तामणिजी के पट्टधर श्री खेमकरणजी

के प्रसाद से शिष्य सुखकर ने यह रचना (सदगुरु श्री पूज्य श्री चिन्तामणिजी जन्मोत्पत्ति स्वाध्याय) की। जो नर नारी स्थिर चित्त से स्तुति करेंगे, सुनेंगे वे लीलाओं को प्राप्त करेंगे।

आचार्य चिन्तामणि के गुरु का नाम धनराज तो चिन्तामणि जन्मोत्पत्ति स्वाध्याय में दिया है। पर इससे पहले की परम्परा गुजराती तपागच्छ की पट्टावली से ज्ञात होती है। जिसका सारांश जैन गुर्जर कवियों भाग ३ के परिशिष्ट नं० २ में प्रकाशित हुआ है। उसके अनुसार लोंकाशाह के मत में सर्वप्रथम [1] भाणजी दीक्षित हुए। तदनन्तर [2] भीदाजी, [3] नूना जी [4] भीमा जी, [5] जगमाल जी, [6] सरवा जी, [7] रूपजी, [8] जीव जी, [9] वडावरसिंह, [10] लघु वरसिंह, [11] जसवन्त जी, [12] रूपसिंह जी, और [13] दामोदर जी क्रमशः गुजराती लोंकागच्छ के आचार्य बने। दामोदर के शिष्य धनराज जी हुए। उनकी शाखा जयतारण से अलग हो गई। १७ वर्ष के बाद संवत् १७१३ में सूरत में वोरा वीरजी ने पुनः गच्छ की एकता का प्रयत्न किया। पर इनकी शिष्य संतति तो अलग चलती ही रही। धनराज के बाद 'चिन्तामणि' गच्छ नायक बने। और उनके पट्ट पर खेमकरण बैठे। जिनका विवरण खेमकरण जन्मोत्पत्ति संथारा विधि नामक दूसरी रचना में प्राप्त है जिसका ऐतिहासिक सारांश नीचे दिया जा रहा है—

(२) आउवा शहर में संघ शिरोमणि चीमासाह निवास करते थे। उनके पुत्र रामसाह की स्त्री का नाम राना दे था जो रूपवान, पुण्यवान और शील-वती थी। संवत् १७०९ मिती माघ सुदि १३ के दिन शुभ वेला नक्षत्र में शुभ स्वप्न सूचित बालक का जन्म हुआ। जिसका नाम श्री खेमकरण रखा गया। क्रमशः वृद्धि पाता हुआ कुमार तरुण अवस्था को प्राप्त हुआ। एक बार आउवा नगर में गुरुश्री चिन्तामणि जी पधारे। जिनके उपदेश से वैराग्यवासित हो कुमार ने माता-पिता से दीक्षा लेने की अनुमति मांगी। फिर बड़े महोत्सव के साथ संवत् १७२५ माघ सुदि १३ गुरुवार के दिन गुरु श्री से संयम ग्रहण किया। तदनन्तर संवत् १७२६ का प्रथम चातुर्मास श्रीपूज्य जी के साथ रेयानगर में हुआ। दूसरा चौमासा सादड़ी, तीसरा सिरीयारी, चौथा सोहलाई, पांचवा रतनपुरी, छठा बुरहानपुर, सातवां मलकापुर, आठवां [illegible], नवां ताल, दसवां पीपाड़ में हुआ। फिर उज्जैन में दो चातुर्मास हुए। अभैराज व वीरराज ने भक्ति सेवा की। तेरहवां चातुर्मास बड़ौदा, चौदहवां उज्जैन, पन्द्रहवां दिल्ली, सोलहवां नौरंगपुर, सतरहवां बेगी नगर, अठारहवां [illegible] नगर, उन्नीसवां चातुर्मास सिवाणे हुआ। बीसवां चातुर्मास परबनगर, इक्कीसवां सोजितपुर किया। सकल श्रावकों ने सेवा कर अपने मनोरथ पूर्ण किये।

की कुमार का सच्चा वैराग्य देख जान कर माता-पिता ने आज्ञा दिया और कुलराज (चिन्तामणि) का दीक्षा महोत्सव प्रारम्भ किया। चतुर्विध संघ मिला। श्री धनराज जी साधु परिवार सहित पधारे। संवत् १३०४ मिती ज्येष्ठ वदि ५ गुरुवार को श्री चिन्तामणिजी ने गुरु श्री धनराज जी के पास संयम मार्ग स्वीकार किया।

इनका प्रथम चातुर्मास जयतारण, दूसरा बगड़ी, ३ व चौथा रतलाम, पांचवा सूरत, तीसरा छट्ठा खम्भात, सातवां बुरहानपुर, आठवां सोजत, नवां बिलाड़ा, दसवां ग्यारहवां सूरत; बारहवां कुचेरा (सोजत), तेरहवां रतनगर चौदहवां हांसी, पन्द्रहवां दिल्ली सोलहवां अकबरपुर (आगरा) सतरहवां हरसोर में हुआ। ये सब चौमासे गुरु श्री के साथ ही हुए। श्रीधन-राजजी धर्मोपदेशों द्वारा धर्म की महिमा बढ़ाते हुए मारवाड़ आये। आपका पधारने पर संघ ने बड़ा स्वागत किया। शाह महेशदास ने यहीं पर (चिन्ता-मणिजी) को पट्टधर स्थापित करने की प्रार्थना की। उत्सव प्रारम्भ हुआ। शाह महेशदास के हुलैता नथमल ने पद महोत्सव किया। स्वधर्मी वात्सल्य हुए, गढोर रामचन्द रावजी की अर्ज़ी और चिन्तामणि जी की योग्यता जान कर श्री धनराजजी ने संवत् १३३१ ज्येष्ठ वदि ५ को इन्हें स्वयं पट्ट पर स्थापित कर गच्छ भार संभलाया।

इसके बाद मुनिमण्डल सहित विचरते हुए [illegible] आये। अठारहवां चौमासा करके उन्नीसवां [illegible], बीसवां [illegible], इक्कीसवां [illegible], बाईसवां [illegible] चातुर्मास हुआ। संवत् [illegible] (१३) में [illegible] पधारे। यहां आसोज सुदि ११ के दिन गुरु श्री का निर्वाण हुआ। श्री चिन्तामणिजी ने चौबीसवां चातुर्मास [illegible], पच्चीसवां किशनगढ़, छब्बीसवां [illegible], सत्ताईसवां [illegible], अट्ठाईसवां [illegible], उनतीसवां [illegible], चातुर्मास किया। [illegible] व [illegible] ने खूब सेवा की। तीसवां चातुर्मास हुआ [illegible], जहां चौथा बत्तीसवां, दो चातुर्मास तैंतीसवां-चौंतीसवां अजमेर में, पैंतीसवां रतलाम में किया। छत्तीसवां उज्जैन, सैंतीसवां दिल्ली, अड़तीसवां नागौर, उनतालीसवां बीकानेर, चालीसवां अलवर, इकतालीसवां [illegible] बयालीसवां [illegible], तैंतालीसवां सोजत चातुर्मास हुआ। संवत् १३४६ का चातुर्मास सोजत करके फिर [illegible] आये। [illegible] ने गुरु श्री से श्री हेमकरणजी को गच्छभार सौंपने की प्रार्थना की। मुनिमंडल और श्रीसंघ एकत्र हुआ। [illegible] और [illegible] के संघ ने बहुत-सा अर्थ व्यय किया। [illegible] ने तथा [illegible] ने स्वधर्मी वात्सल्य जीमणवार किये। [illegible] व [illegible] के संघ ने मुनियों के संघाड़े में पहिरावणी की। इस प्रकार बड़ी महिमा हुई और गच्छनायकों की जोड़ी सूर्य-चन्द्र जैसी सुशोभित लगने लगी। संवत् १३४७ का ४४ वां चातुर्मास किशनगढ़ हुआ। फिर [illegible], अजमेर, [illegible], दिल्ली, [illegible] में तीन अकबराबाद में दो चातुर्मास करके ५४ वां दिल्ली में किया, ५५ वां करके किशनगढ़ पधारे। संघ ने बड़े समारोह पूर्वक स्वागत किया और विनती करके गच्छराज को वहीं रखा। पांच चातुर्मास किये पांचवें चौमासे में पट्टधर को अपने पास रखा। फिर साठवां चातुर्मास [illegible] किया, श्रावकों ने बड़ी सेवा की। संवत् १३३३ मिती कार्ति वदि ७ शनिवार के दिन श्री चिन्तामणि ने संथारा किया। चौरासी लक्ष जीवयोनि से क्षमापणापूर्वक चार पहर का अनशन पूर्ण कर [illegible] के दिन रविवार को [illegible] निर्वाण प्राप्त हुए। संघ ने [illegible] मंडी को पंचवर्णी ध्वजाओं से सुसज्जित कर बाजे गाजे के साथ [illegible] उछालते हुए गुरु की अन्त्येष्टि क्रिया सम्पन्न की। श्री चिन्तामणिजी अपने समय के प्रमुख संघ के शासनाधिपति रहे।

संवत् १३३३ कार्ति वदि १३ शनिश्चरवार के दिन श्री चिन्तामणिजी के पट्टधर श्री हेमकरणजी

के प्रसाद से शिष्य सुखकर ने यह रचना (सदगुरू श्री पूज्य श्री चिन्तामणिजी जन्मोत्पत्ति स्वाध्याय) की। जो नर नारी स्थिर चित्त से स्तुति करेंगे, सुनेंगे वे लीलाओं को प्राप्त करेंगे।

आचार्य चिन्तामणि के गुरू का नाम धनराज तो चिन्तामणि जन्मोत्पत्ति स्वाध्याय में दिया है। पर इससे पहले की परम्परा गुजराती तपागच्छ की पट्टावली से ज्ञात होती है। जिसका सारांश जैन गुर्जर कवियों भाग ३ के परिशिष्ट नं० २ में प्रकाशित हुआ है। उसके अनुसार लोंकाशाह के मत में सर्वप्रथम [1] भाणजी दीक्षित हुए। तदनन्तर [2] मीदाजी, [3]नूना जी [4] भीमा जी, [5]जगमाल जी, [6]सरवा जी, [7]रूपजी, [8] जीव जी, [9] बडावरसिंह, [10]लघु वरसिंह, [11]जसवन्त जी, [12]रूपसिंह जी, और [13]दामोदर जी क्रमशः गुजराती लोंकागच्छ के आचार्य बने। दामोदर के शिष्य घनराज जी हुए। उनकी शाखा जयतारण से अलग हो गई। १७ वर्ष के बाद संवत् १७१३ में सूरत में बोरा वीरजी ने पुन: गच्छ की एकता का प्रयत्न किया। पर इनकी शिष्य संतति तो अलग चलती ही रही। घनराज के बाद 'चिन्तामणि' गच्छ नायक बने। और उनके पट्ट पर खेमकरण बैठे। जिनका विवरण खेमकरण जन्मोत्पत्ति संथारा विधि नामक दूसरी रचना में प्राप्त है जिसका ऐतिहासिक सारांश नीचे दिया जा रहा है—

(२) आउवा शहर में संघ शिरोमणि चीमासाह निवास करते थे। उनके पुत्र रामसाह की स्त्री का नाम राना दे था जो रूपवान, पुण्यवान और शील-वती थी। संवत् १७०६ मिती माघ सुदि १३ के दिन शुभ वेला नक्षत्र में शुभ स्वप्न सूचित बालक का जन्म हुआ। जिसका नाम श्री खेमकरण रखा गया। क्रमशः वृद्धि पाता हुआ कुमार तरुण अवस्था को प्राप्त हुआ। एक बार आउवा नगर में गुरुश्री चिन्तामणि जी पधारे। जिनके उपदेश से वैराग्यवासित हो कुमार ने माता-पिता से दीक्षा लेने की अनुमति माँगी। फिर बड़े महोत्सव के साथ संवत् १७२५ माघ सुदि १३ बृहस्पतिवार के दिन गुरु श्री से संयम ग्रहण किया। तदनन्तर संवत् १७२६ का प्रथम चातुर्मास श्रीपूज्य जी के साथ रेयानगर में हुआ। दूसरा चौमासा सादड़ी, तीसरा सिरीयारी, चौथा नोहलाई, पांचवा रतनपुरी, छट्ठा ब्रहानपुर, सातवां मलकापुर, आठवां घृतभाजनपुर, नवां ताल, दसवां पीपाड़ में हुआ। फिर उज्जैन में दो चातुर्मास हुए। अभैराज व दोदराज ने बड़ी सेवा की। तेरहवां चातुर्मास बड़ौदा, चौदहवां उज्जैन, पन्द्रहवां दिल्ली, सोलहवां नौरंगपुर, सतरहवां बेरी नगर, अठारहवां रूप नगर व उन्नीसवां चातुर्मास सिलाणे हुआ। बीसवां चातुर्मास परवतसर, इक्कीसवां सोजितपुर किया। समस्त श्रावकों ने सेवा कर अपने मनोरथ पूर्ण किये।

सोजत चतुर्मास कर श्री चिन्तामणि गच्छपति के साथ उग्र विहार करते हुए परवतसर आए। दीपचन्द शाह ने अत्यन्त भक्तिपूर्वक गच्छनायक से प्रार्थना की कि खेमकरण जी का पदोत्सव परवतसर में ही होना चाहिये। फिर स्वीकृति मिलने पर बड़े समारोहपूर्वक पदोत्सव की तैयारियां होने लगीं। रूपनगर व कृष्णगढ़ का संघ एकत्र हुआ। जीमन-वार हुए. बहुत-सा अर्थ व्यय किया। कृष्णगढ़ के लूणावत गोत्रीय जसवंत श्रावक व रूपनगर-परवत-सर के कोटेचा जिनदास के वंशजों में प्रधान दीपचंद थे। बहुत से उत्सव किये। जिनदास के सभी परि-वार वालों ने अर्थ व्यय किया। मुनिवरों को पहिरा-वणी दी। कुंकुम के स्वस्तिक व मोतियों से चौक पूरे गए। नाना प्रकार की वाजित्र ध्वनि के बीच संवत १७४२ माघ सुदि १३ के दिन श्री पूज्य चिन्तामणि जी ने श्री खेमकरण जी को आचार्य पद प्रदान किया।

श्री खेमकरण जी का २२ वां चतुर्मास कृष्ण-गढ़, तेईसवां सिलाणे, फिर दिल्ली, कुलैथपुरी में तीन चौमासे करके मुकुन्दगढ़, आऊया पधारे। श्रावक लोगों ने नाना प्रकार से सेवा की। फिर रत्नपुरी तदनन्तर कल्याणपुर पधारे, कोठारी कचराशाह ने

राष्ट्रीय संग्रहालय में मध्यकालीन जैन प्रस्तर प्रतिमाएँ

वृजेन्द्रनाथ शर्मा, एम० ए०

भारतवर्ष में सबसे पूर्व जैन प्रतिमाएं कब निर्मित हुईं इस पर विद्वानों में बड़ा मतभेद है।[1] कुछ जैन विद्वानों ने हड़प्पा (३००० ई० पू०) से प्राप्त एक मनुष्य के नग्न धड़ को जो अब राष्ट्रीय संग्रहालय में है तीर्थंकर प्रतिमा घोषित किया है परन्तु यह मत उचित प्रतीत नहीं होता।[2] सम्भवतः सबसे प्राचीन जैन प्रतिमा लोहानीपुर (बिहार) से है जो अब पटना संग्रहालय में है। इस नग्न मूर्ति को जिसके हाथ कायोत्सर्ग मुद्रा की भांति प्रतीत होते हैं, उसके ऊपर की गई विशेष पालिश व चमक के आधार पर मौर्यकालीन (३०० ई० पू०) माना गया है। कलिंग सम्राट खारवेल (प्रथम श० ई० पू०) के हाथी गुम्फा लेख "वार समे च वसे......नन्दराज नीतं च का (लिं) गं जिन संनिवेस" में जिन प्रतिमा का स्पष्ट वर्णन है। उड़ीसा स्थित उदयगिरि और खण्डगिरि की प्राचीन गुफाओं में प्रारंभिक काल की अनेक जैन मूर्तियां निर्मित हैं।

मथुरा कला में जैन प्रतिमाओं का क्रमिक विकास देखने को मिलता है। यहां से प्राप्त आयागपट्टों (प्रथम श० ई० पू० से प्रथम श० ई०) पर अष्टमंगल (मत्स्य, दिव्यमान, श्रीवत्स, रत्न-मांण्ड, त्रिरत्न, कमल, भद्रपीठ अथवा इन्द्रयष्ठि और पूर्ण कलश) तथा त्रिरत्न (सम्यक् दर्शन सम्यक् ज्ञान, और सम्यक् चारित्र) के अतिरिक्त प्रारम्भ में प्रतिमा के स्थान पर केवल कुछ प्रतीकों का ही प्रयोग होता था। परन्तु बाद में ध्यान मुद्रा में जिन प्रतिमा बनने लगी।[3] कुषाण काल के अन्तिम समय तक तीर्थंकरों के पूर्णांग चित्र प्राप्त होने लगते हैं जिनके वक्षस्थल पर हमें "श्रीवत्स" चिन्ह मिलता है। गुप्तकालीन कला में हमें न केवल जैन मूर्तियों के उच्चतम उदाहरण ही मिलते हैं वरन् प्रत्येक तीर्थंकर का अपना लांछन (पशु, पक्षी, पुष्प अथवा शंख आदि) भी मिलता है जिससे तीर्थंकर प्रतिमाओं में भेद किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त यक्ष व यक्षणी आदि की कई अन्य प्रतिमाएं भी प्रमुख प्रतिमा के साथ निर्मित होने लगती है। और मध्यकाल के आगमन के साथ ही उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त "अष्ट प्रातिहार्यों" (दिव्यतरु, आसन, चामर, भामण्डल, दिव्य दुन्दुभि, सुरपुष्पवृष्टि, दिव्यध्वनि तथा छत्रत्रय) का भी चित्रण प्राप्त होता है। सांप्रदायिक भेद इन प्रतिमाओं में भी मिलेगा। दिगम्बर प्रतिमाएं

---

१. इस सम्बन्ध में मेरा लेख देखें, "जैन प्रतिमाओं के विकास में नरहड़ की मूर्तियां," मरुभारती, पिलानी, जनवरी, १९६२, पृ० १४ व आगे।

२. सुप्रसिद्ध विद्वान उमाकान्त प्रेमानन्द शाह भी इस मत से सहमत नहीं है। उनके अनुसार यह सम्भवतः प्राचीन यक्ष का ही चित्रण प्रतीत होता है। देखें: ईस्टडंडीज् इन जैन आर्ट, पृ० ४

३. मथुरा से प्राप्त एक ऐसा ही आयागपट्ट (जे० २४९) राष्ट्रीय संग्रहालय में है, जिसके निचले भाग पर खुदे लेख से विदित होता है कि सिंहनादिक नामक एक व्यापारी ने अर्हतों की पूजा के लिए इसे प्रतिष्ठापित किया था। विस्तृत विवरण के लिए देखें : डा० वासुदेव शरण अग्रवाल, मथुरा आयागपट्ट, जर्नल आफ दी यू० पी० हिस्टोरिकल सोसाईटी, xvi, भाग I, जुलाई १९४३.

के दोनों ओर नागनीयों की तथा अन्य सेवक-सेविकाओं की प्रतिमाएं निर्मित हैं।[१०]

(४) पार्श्वनाथ (नं० ६२-४३४, मध्य प्रदेश)

पार्श्वनाथ की यह द्वितीय प्रतिमा एक सिंहासन पर साँप के सातफणों के नीचे ध्यान मुद्रा में विराजमान है जिसके ऊपर त्रिछत्र है और दोनों ओर गजवाहक तथा दिव्यगायक आदि बने हैं। शीश पर उष्णीष व वक्ष पर श्रीवत्स हैं। मुख्य प्रतिमा के दोनों ओर कायोत्सर्ग मुद्रा में एक एक अन्य तीर्थंकर प्रतिमा हैं और नीचे सिंहासन के दोनों ओर उनके यक्ष (धरणेन्द्र) और यक्षणी (पद्मावती) का चित्रण है।

(५) तीर्थंकर (नं० ५०-२७७; गुजरात)

श्वेत संगमरमर में निर्मित यह कलात्मक तीर्थंकर प्रतिमा एक आले में कायोत्सर्ग मुद्रा में उत्कीर्ण है। जिसके ऊपर कीर्तिमुख का चित्रण है। शरीर का ऊपरी भाग नग्न है यद्यपि वक्ष पर श्रीवत्स प्रतीक है और नीचे धोती धारण की हुई हैं। इससे प्रतिमा के श्वेताम्बर सम्प्रदाय की होने का बोध होता है।[११] प्रतिमा के केवल दाहिनी ओर गज, मकर व्याल आदि बने हैं जिनके नीचे एक चामरधारी सेवक खड़ा है।

(६) गोमेध और अम्बिका (नं० ६०-१५०३; पूर्वी भारत)

२२वें तीर्थंकर नेमिनाथ के यक्ष गोमेध तथा यक्षी अम्बिका की यह संयुक्त प्रतिमा आम्र वृक्ष के नीचे सुखासन मुद्रा में बैठी है। दोनों मूर्तियों की बाईं गोद में एक एक बालक है और उनके दाहिने हाथों में अस्पष्ट पदार्थ हैं। दोनों ही मुकुट, कुण्डल, हार तथा अन्य आभूषण और अन्तरीय पहिने हैं। आम्र वृक्ष के ऊपर ध्यान मुद्रा में तीर्थंकर प्रतिमा है और नीचे पीठ पर अन्य पांच लघु प्रतिमाएं हैं।[१२]

(७) अम्बिका (नं० ६३-६४०, बिहार)

अम्बिका की यह प्रतिमा कमलासन पर आम्र वृक्ष के नीचे खड़ी है। इनके दाहिने हाथ में आमों का गुच्छा है तथा बांए हाथ की ऊंगली पकड़े एक बालक खड़ा है। यह मुकुट, विभिन्न आभूषण तथा साड़ी पहिने हैं। इनके दोनों ओर नृत्य करती हुई एक एक मानव प्रतिमा है तथा दाहिने पैर के पास मुकुट तथा आभूषण पहिने एक अन्य मनुष्य की आकृति बनी है। यहाँ पर भी शीश के ऊपर ध्यान मुद्रा में तीर्थंकर की लघुमूर्ति बनी है। यक्षिणी का वाहन सिंह पीठ पर उत्कीर्ण है।[१३]

(८) सरस्वती (नं० ११६-२७८; राजस्थान)

श्वेत संगमरमर की बनी यह चतुर्भुजी सरस्वती प्रतिमा कमल पर त्रिभंग मुद्रा में खड़ी है और अक्षमाला, पुण्डरीक, पुस्तक व कमण्डल लिए है।

---

१०. इसी प्रकार की एक प्रतिमा जोगिन का मठ (रोहतक) से भी मिली है।

११. देखें एच. एम. जानसन-श्वेताम्बर जैन आॅइक्नोग्रफी, इण्डियन एन्टीक्येरी, फरवरी १९२७

१२. द्रष्टव्य : बी० सी० भट्टाचार्य—जैन आइकोनोग्रेफी, चित्र १६.

१३. देखें : यू० पी० शाह-आक्नोग्रेफी आफ दी जैन गोडेस अम्बिका, जर्नल आफ दी यूनिवर्सिटी आॅफ बॉम्बे, X, २, १९४१, पृ० १९५-२१८.

देवी मुकुट तथा अन्य सुन्दर वस्त्राभूषण धारण किए हैं। शीश के पीछे बने कमलरूपी प्रभामण्डल के ऊपर तीर्थंकर की ध्यान मुद्रा में प्रतिमा है। प्रस्तुत प्रतिमा के साथ वाले प्रभातोरण पर तीर्थंकरों व परिवार देवताओं की अन्य प्रतिमाएं उत्कीर्ण हैं। यह सरस्वती की भव्य प्रतिमा भारतीय मध्यकालीन प्रस्तरमूर्तिकला का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है।[१४]

---

१४. इस प्रकार की एक अन्य प्रतिमा (नं० २०३ बी० एम०) बीकानेर संग्रहालय में सुरक्षित है। विस्तृत विवरण के लिए मेरे लेख देखें: सरस्वती प्रतिमाओं के विकास में पल्लू की जैन सरस्वती प्रतिमाएं, मरुभारती, पिलानी, अक्टूबर, १९६२, पृ० ८८ तथा आगे; राष्ट्रीय संग्रहालय में मध्यकालीन राजस्थानी प्रस्तर प्रतिमाएं, वही, अक्टूबर, १९६४, पृ० ८२-४.



कृते प्रत्युपकारोऽयं, वणिग्धर्मो न साधुता।
तत्रापि ये न कुर्वन्ति, पशवस्ते न मानुषाः॥

अपने साथ जो उपकार करे उस के साथ उपकार करना यह तो केवल बनिये का धर्म है, साधुओं, सत्पुरुषों का नहीं किन्तु जो लोग इस धर्म का भी पालन नहीं करते वे मनुष्य नहीं अपितु पशु के तुल्य हैं।

आचार्य जिनेश्वर और खरतर-गच्छ

[म. विनयसागर, साहित्य महोपाध्याय, साहित्याचार्य, जैन दर्शन शास्त्री, साहित्यरत्न, शास्त्र विशारद]

खरतर गच्छ के उद्भावक आचार्य जिनेश्वरसूरि हैं। आचार्य जिनेश्वर और खरतरगच्छ का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है, क्योंकि खरतरगण शब्द का रहस्य आचार्य के जीवन-दर्शन से सम्बन्ध रखता है। जहां सिद्धान्त प्रतिपादित आचार है, मर्यादा है, दुर्धर्ष संयम है वहीं खरतरगण है और जहां शास्त्र प्रतिकूल ऐच्छिक आचार-व्यवहार है, अविधि-पूर्ण परम्परा है वहीं चैत्यवास है, शिथिलता है। चैत्यवास और शिथिल परम्परा का उन्मूलन ही खरतरगच्छ है जो आचार्य जिनेश्वर का प्रतिमूर्त रूप है। अतः यहां आचार्य के जीवन-दर्शन का अवलोकन करते हुये खरतर गच्छ शब्द पर विचार करना युक्तिसंगत होगा।

प्रभावकचरित के अनुसार ये मूलतः मध्यदेश अर्थात् वर्तमान उत्तर प्रदेश का मध्यभाग के निवासी थे। ये कृष्ण नामक ब्राह्मण के पुत्र थे। इनका नाम पहिले श्रीधर था और इनके एक भाई था जिसका नाम श्रीपति था। दोनों भाई बड़े प्रतिभाशाली और मेधावी थे। दोनों भाइयों ने वेद, वेदांग, इतिहास, पुराण, षड्दर्शनशास्त्र और स्मृतियों का अध्ययन विशेष मनोयोग से किया था। विद्या-पारंगत होकर देशाटन की प्रवृत्ति जगी और वे घूमते घूमते तत्कालीन महा सांस्कृतिक केन्द्र धारानगरी में पहुँचे। वहां पर न केवल राजा ही विद्वानों और विद्या का आदर करता था अपितु बहुत से सेठ भी राजा का इस बात में अनुकरण करते थे। ऐसा ही उदारमना और दानशील एक सेठ लक्ष्मीपति नाम का था। वह जैन-धर्मावलम्बी था और बाहर से जो विद्वान अतिथि आते थे उनका स्वागत-सत्कार करने के लिये सदा तैयार रहता था। इसी सेठ के यहाँ ये दोनों भाई पहुँचे। ये आकार-प्रकार से बड़े तेजस्वी और प्रतिभा सम्पन्न प्रतीत होते थे। लक्ष्मीपति इनसे बहुत प्रभावित हुआ और श्रद्धा पूर्वक इनको निरन्तर भोजन कराने लगा। वे प्रतिदिन उसके यहाँ भोजन करने जाते और उसके मकान तथा दुकान पर होने वाले सारे व्यापार को भी देखते। सेठ बहुत बड़ा व्यवसायी था और उसके वहाँ रुपयों का लेन-देन बहुत अधिक होता था। उन दिनों मकान या दुकानों की दीवारों पर तात्कालिक स्मृति रूप हिसाब लिखने की प्रथा थी। इस सेठ के यहां भी यह हिसाब-किताब दीवाल पर लिखा रहता था। श्रीधर और श्रीपति की स्मरणशक्ति इतनी तीव्र थी कि प्रतिदिन देखते-देखते उन दीवारों पर लिखा हुआ सारा हिसाब-किताब उन्हें याद हो गया।

एक बार सेठ के मकान में आग लग गई। उसकी बहुत सी वस्तुएँ जलकर भस्म हो गईं। परन्तु, सेठ को इन वस्तुओं के जल जाने से इतना दुःख नहीं हुआ जितना दीवार पर लिखे हुये हिसाब किताब के नष्ट हो जाने से। वह सोचता था कि जो सम्पत्ति नष्ट हो गई है वह तो फिर हो सकती है, परन्तु हिसाब-किताब नष्ट हो जाने से उसे अपने व्यापारियों के साथ जिस झंझट और झगड़े का सामना करना पड़ेगा, उससे उसकी धर्मभावना को भयंकर आघात पहुँच सकता है। सेठ की इस कठिनाई को देखकर इन दोनों भाईयों ने कहा कि दीवार पर जो कुछ लिखा था वह तो हम लोगों को अक्षरशः याद है। यह सुनकर सेठ अत्यन्त

प्रसन्न हुआ और इन दोनों भाईयों ने सारा हिसाब किताब अथ से इति तक ब्यौरे के साथ ज्यों का त्यों लिखवा दिया। इस घटना से दोनों भाइयों का उस सेठ के घर में बहुत अधिक आदर सत्कार होने लगा और वे उसी के घर पर रहने लगे।

इसी सेठ ने इन दोनों भाईयों का साक्षात्कार वर्धमानाचार्य से करवाया। वे दोनों भाई बड़े ही शान्त और संयमी थे और इनका चरित्र भी बहुत ही उदात्त था। इसलिये सेठ ने सोचा कि आचार्य के दर्शन करके वे लोग बहुत प्रसन्न होंगे। श्रीधर और श्रीपति जब वर्धमानाचार्य के पास पहुँचे तो वे उनके तेज और तप से अत्यन्त प्रभावित हुये। आचार्य ने भी सुन्दर लक्षणों से युक्त उनके आकार प्रकार को देखकर सन्तोष प्राप्त किया। दोनों भाई निरन्तर आचार्य के पास आने जाने लगे और शास्त्रचर्चा करके सन्तोष ग्रहण करने लगे। धीरे धीरे दोनों भाइयों के मन में दीक्षा के लिये इच्छा जगी और उनकी प्रार्थना पर तथा सेठ की अनुमति प्राप्त कर वर्धमानाचार्य ने उन दोनों को दीक्षा प्रदान की। दीक्षा लेते ही उन्होंने जैन शास्त्रों का अध्ययन बड़ी लगन तथा तत्परता के साथ प्रारंभ किया और वे थोड़े ही समय में उनमें पारंगत हो गये। उनकी योग्यता से प्रभावित होकर वर्धमानाचार्य ने इन दोनों को आचार्य पद प्रदान किया। उस समय से वे क्रमशः जिनेश्वरसूरि और बुद्धिसागरसूरि नाम से प्रख्यात हुये।

वर्धमानाचार्य को इन दोनों भाईयों की प्रतिभा और योग्यता पर विश्वास था और उन्होंने समझ लिया था कि चैत्यवासियों के मिथ्याचार का प्रतिकार इन्हीं के द्वारा हो सकता है। इसीलिये उन्होंने इन दोनों को यह भारवहन करने के लिये प्रेरित किया और आदेश दिया कि तुम लोग अणहिलपत्तन जाओ और वहां सुविहित साधुओं के लिये जो विघ्न बाधाएँ हों उनको अपनी शक्ति और बुद्धि से दूर करो :—

जिनेश्वरस्ततः सूरिरपरो बुद्धिसागरः।
नामभ्यां विश्रुतौ पूज्यैर्विहारेऽनुमतौ तदा ॥४३॥
ददौ शिक्षेति तैः श्रीमत्पत्तने चैत्यसूरिभिः।
विघ्नं सुविहितानां स्यात्तत्रावस्थानवारणात् ॥४४॥
युवाभ्यामपनेतव्यं शक्त्या बुद्धया च तत्किल।
यदिदानीं तनें काले नास्ति प्राज्ञो भवत्समः ॥४५॥

इन दोनों ने भी गुरु की आज्ञा को शिर पर धारण कर गुर्जर प्रदेश में विहार करना प्रारंभ कर दिया और धीरे धीरे वे अणहिलपत्तन (पाटण) में पहुँच गये।

पत्तन में इनको बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा। चैत्यवासियों का प्रमुख गढ़ होने के कारण इन लोगों को वहां पर कहीं रहने का भी स्थान न मिला। वे घर-घर घूमते फिरे, अन्त में वे वहां के राजा दुर्लभराज के पुरोहित सोमेश्वर के मकान पर पहुँचे। वहां उन्होंने अपनी प्रतिभा और विद्वत्ता के संकेत स्वरूप वेदमन्त्रों का उच्चारण किया और उन्होंने वेद के ब्रह्म, पैत्र्य तथा दैवत रहस्यों का बड़ी योग्यता पूर्वक उद्घाटन किया। उस वेद-ध्वनि को सुनकर पुरोहित सोमेश्वर स्तम्भित सा हो गया। उसे ऐसा प्रतीत होने लगा कि उसके समग्र इन्द्रियों की चेतनता उसकी श्रुतियों[1] में ही आगई है। उसने अपने भाई द्वारा इन दोनों भाईयों को बुलवाया। उनके आने पर सोमेश्वर अपना आसन छोड़कर खड़ा हो गया और उनको आसन प्रदान किया। परन्तु वे अपने शुद्ध कम्बलों पर बैठ गये। पुरोहित को आशीर्वाद देते समय दोनों आचार्यों ने जो शब्द कहे, उनमें न केवल उनका अगाध पाण्डित्य प्रकट हो रहा था अपितु

१. [illegible] स्तिमितवत् तदा।
सर्वेन्द्रिय चैतन्यं श्रुत्योरिव स नीतवान् ॥ ५८ ॥ प्रभावक चरित.

धार्मिक सहिष्णुता और उदारता भी प्रकट हो रही थी। उन्होंने कहा—

अपाणिपादो ह्यमनो ग्रहीता, पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः। स वेत्ति विश्वं न हि तस्य वेत्ता, शिवो ह्यरूपी स जिनों वताद् वः॥

यह सुनकर पुरोहित बहुत प्रसन्न हुआ और उसने उनके प्रति बड़ी सहानुभूति दिखाते हुये पूछा "आप कहाँ पर ठहरे हुये हैं?" इसके उत्तर में उन्होंने अपनी सारी कठिनाई पुरोहित के सामने रखी। उन्होंने बतलाया कि यहाँ चैत्यवासियों का अत्यधिक प्रभाव होने के कारण हमें कोई ठहरने का स्थान नहीं देता। राजपुरोहित ने विद्वानों और महात्माओं का आदर करना अपना कर्त्तव्य समझ कर अपनी 'चन्द्र शाला' में उनको रहने के लिये स्थान दे दिया। आचार्यद्वय भी अपने साधुओं सहित वहाँ रहने लगे और ४२ दोषों से मुक्त निस्पृहभाव से भिक्षा ग्रहण करने लगे।

गणधरसार्द्धशतकवृत्ति तथा युगप्रधानाचार्य गुर्वावली में इस प्रसंग को कुछ विस्तार के साथ दिया गया है। इन ग्रन्थों के अनुसार वर्धमानसूरि अपने १८ शिष्यों सहित पाटन गये थे और वहाँ कोई स्थान न मिलने पर कहीं किसी खुली पडशाला में डेरा डाला।[२] तब जिनेश्वर पंडित ने कहा कि-'गुरु महाराज! इस तरह बैठे रहने से क्या होगा?, गुरुजी ने कहा— 'तो फिर क्या किया जाय? जिनेश्वर बोले—'यदि आपकी आज्ञा हो तो वह सामने जो बड़ा सा मकान दिखाई देता है, वहां मैं जाऊं और देखूं कि कहीं हमें कोई आश्रय मिल सकता है या नहीं?' गुरुजी ने कहा-'अच्छी बात है, जाओ।' फिर गुरुजी के चरणों को नमस्कार करके जिनेश्वर उस मकान पर पहुँचे।

वह बड़ा मकान नृपति दुर्लभराज के राज-पुरोहित का था। उस समय पुरोहित स्नानाभ्यंगन करवा रहा था। जिनेश्वर ने एक सुन्दर भाव वाला संस्कृत[१] श्लोक बनाकर उसको आशीर्वाद दिया। उसे सुनकर पुरोहित खुश हुआ। बोला-कोई विचक्षण व्रती मालूम होता है।

पुरोहित के मकान के अन्दर के भाग में बहुत से छात्र वेद-पाठ कर रहे थे। इनके पाठ में उन्हें कहीं-कहीं अशुद्ध उच्चारण सुनाई दिया। तब जिनेश्वर ने कहा-'यह पाठोच्चार ठीक नहीं है, ऐसा उच्चार करना चाहिये।'

यह सुनकर पुरोहित ने कहा-'अहो! शूद्रों को वेद-पाठ करने का अधिकार नहीं है।' इसके उत्तर में जिनेश्वर ने कहा 'हम शूद्र नहीं हैं। सूत्र और अर्थ दोनों ही दृष्टि से हम चतुर्वेदी ब्राह्मण हैं।'

पुरोहित सुनकर सन्तुष्ट हुआ, बोला-'किस देश से आ रहे हो?'

जिनेश्वर— दिल्ली की तरफ से।

पुरोहित—कहां पर ठहरे हुए हो?

जिनेश्वर—शुल्कशाला (दाणचोकी) के दालान में हम सब अपने गुरु के सब १८ यति हैं। यहां का सब यतिगण हमारा विरोधी होने से हमें कहीं कोई उतरने की जगह नहीं दे रहा है।

पुरोहित ने कहा—मेरे उस चतुःशाला वाले घर में एक पड़दा लगाकर, एक पडशाल में आप लोग ठहर सकते हैं। उधर के एक दरवाजे से बाहर जा आ सकते हैं। आइये और सुख से रहिये।

प्रभावक चरितकार के अनुसार इन साधुओं के आने से पुरोहित के घर पर नगर के पण्डितों और

---

२. सिद्धान्तगंत अंश, कथाकोष प्रस्तावना पृ. २७-२८.

१. श्रिये कृत नता नन्दा वृषस्य वृष संगताः।
भवन्तु तव विप्रेन्द्र! ब्रह्मश्रीधरशंकराः॥ युगप्रधानाचार्य गुर्वावली

विद्वानों का जमघट होने लगा। प्रतिदिन मध्यान्ह को याज्ञिक, स्मार्त, दीक्षित, अग्निहोत्री आदि ब्राह्मण आते और शास्त्रचर्चा करते। कहते हैं कि वहां ऐसा विद्या-विनोद होने लगा जैसा ब्राह्मण की सभा में ही संभव हो सकता था।[२] इसकी प्रसिद्धि नगर में फैली और चैत्यवासी लोग भी वहां आये। इन वसतिवासी साधुओं की इतनी प्रतिष्ठा देखकर उनको बहुत क्रोध आया और उन्होंने आचार्य वर्धमान तथा उनके शिष्यों से कहा 'आप नगर से बाहर चले जाइये; क्योंकि यहां चैत्य-बाह्य श्वेताम्बर लोग नहीं ठहर सकते।' इस कथन पर राजपुरोहित ने आपत्ति की और कहा-'इस बात का निर्णय तो राजसभा में होगा।' ऐसा कहे जाने पर वे सब अपने समुदाय सहित राजा के पास गये।

जिनपालोपाध्याय और सुमतिगणि के प्रबन्धों के अनुसार यह घटना कुछ दूसरे ढंग से हुई है। कहा जाता है कि जब वसतिवासी साधुओं के नगर में आने की बात चारों ओर फैल गई तो चैत्यवासियों ने उनका प्रतीकार करने का निश्चय किया। उन दिनों चैत्यालयों में पाठशालाएं लगा करती थीं; जिनमें विभिन्न वर्गों के बहुत से विद्यार्थी पढ़ने आया करते थे। चैत्यवासियों ने इन्हीं बच्चों को अपने हाथ की कठ पुतली बनाया, उनको बताशे इत्यादि का प्रलोभन देकर इस बात के लिये राजी कर लिया कि वे नगर में यह समाचार फैलायें कि कुछ बाहरी गुप्तचर साधुओं के वेष में नगर में आए हुए हैं जिनको कि राजपुरोहित ने अपने घर पर शरण दे रखी है। फैलते फैलते यह सारी खबर राजा के कान में पहुँची। उसने तुरन्त पुरोहित को बुलाकर पूछा। पुरोहित ने इस बात को बिलकुल ही झूठा बतलाया और कहा कि मेरे मकान पर ठहरे हुये साधुओं के लिये जो भी दोष लगाया गया है वह बिलकुल झूठा है। उसने यह भी घोषणा की कि यदि कोई इन साधुओं को गुप्तचर सिद्ध कर दे तो मैं एक लाख पारुत्य (एक तरह की स्वर्णमुद्रा) इनाम में दूंगा। प्रभावकचरित के अनुसार पुरोहित ने राजसभा में केवल यही कहा कि मैंने केवल गुणग्राहकता की दृष्टि से ही इन साधुओं को आश्रय दिया है और इन चैत्यवासियों ने इनका बहुत अपमान किया है।[१] इसमें यदि मेरा कोई अपराध हो तो मैं दण्ड ग्रहण करने के लिये तैयार हूं। कहते हैं कि राजा समदर्शी था, वह मुस्करा कर बोला-

मन्युरे गुणिनः कस्माद्देशान्तरत आगताः
वसन्तः केन वार्यंत को दोषास्तत्र दृश्यते ॥

इस पर चैत्यवासियों ने राजा को याद दिलाया कि इस नगर के संस्थापक चापोत्कटवंशीय वनराज का पालन-पोषण श्री देवचन्द्र सूरिजी ने किया था और इसी के फलस्वरूप वनराज ने 'वनराजविहार' नामक पार्श्वनाथ मंदिर की स्थापना करके यह व्यवस्था दे दी थी कि 'यहां केवल चैत्यवासी यति-जन ही ठहर सकते हैं।' राजा ने अपने पूर्वजों की व्यवस्था का पालन करना अपना धर्म बतलाते हुए कहा 'गुणियों का सम्मान भी तो अवश्य होना चाहिये।' इसलिये राजा ने चैत्यवासियों से आये हुये मुनियों को वहां रहने देने के लिये आग्रह किया। कहते हैं कि इसी समय ज्ञानदेव नामक शैवाचार्य जो कि राजा का गुरु था वहां आ पहुँचा। राजा ने सत्कार पूर्वक गुरु का स्वागत करके उनसे निवेदन

२. मध्याह्ने याज्ञिक स्मार्त दीक्षिताग्निहोत्रिणः।
[illegible] ।
[illegible] ॥ प्रभावक चरित.

१. [illegible] ।
[illegible] ॥ ६८ ॥ प्रभावक चरित.

किया, हे प्रभो ! ये जैन ऋषि लोग यहां आये हुये हैं इनको आप उपाश्रय प्रदान करें" ऐसा सुनकर वह तपस्वी शैव हंसते हुये बोला–महाराज ! आप गुणियों का सत्कार कर रहे हैं यह बहुत अच्छी बात है। मैं इसको अपने उपदेशों से होने वाले फलों की निधि समझता हूँ। वस्तुतः शिव और जिन एक ही हैं केवल मूर्खतावश इनको और और मान लिया गया है। दर्शनों दर्शनों में भेद मानना मिथ्यामति का चिन्ह है। ऐसा कहकर उन्होंने 'त्रिपुरुष प्रासाद' नामक मुख्य शैव मन्दिर के पास ही कहही में उपाश्रय बनवाने के लिये अनुमति प्रदान की और एक ब्राह्मण को यह कार्य करने के लिये नियुक्त किया और थोड़े दिनों में ही उपाश्रय तैयार हो गया। सम्भवतः इसी से वसतियों अर्थात उपाश्रयों की परम्परा शुरू हो गई। प्रभावक चरितकार ने लिखा है:—

ततः प्रभृति सञ्जज्ञे वसतीनां परम्परा ।
महद्भिः स्थापितं वृद्धिमश्नुते नाऽत्र संशयः ॥ ८९

गणधर सार्द्धशतक वृहद् वृत्ति तथा युग प्रधानाचार्य गुर्वावली के अनुसार चैत्यवासी लोग केवल उक्त ही प्रयत्न करके चुप नहीं बैठ गये, अपितु उन्होंने एक वाद–विवाद में नवागन्तुक मुनियों को नीचा दिखलाने का भी प्रयत्न किया। वाद–विवाद राजा दुर्लभराज [2] के सम्मुख होना तय हुआ। स्थान पञ्चाशरा पार्श्वनाथ का बड़ा मन्दिर चुना गया। कहते हैं कि निश्चित दिवस पर सूराचार्य के नेतृत्व में चैत्यवासी आचार्य खूब सज-धज कर वहां पर उपस्थित हुए। ठीक समय पर राजा भी वहां पर पधारे। राजा ने दोनों पक्षों के लोगों को ताम्बूल आदि से सत्कृत करना चाहा। चैत्यवासियों ने सहर्ष स्वीकार कर लिया, परन्तु जब वर्धमान पक्ष की बारी आई तो, उन्होंने उत्तर दिया कि 'साधुओं के ताम्बूल भक्षण का निषेध है और उसका खाना गोमांस के भक्षण बराबर है।

ब्रह्मचारी यतीनां च विधवानां च योगिनाम् ।
ताम्बूल भक्षणं विप्र गोमांसान्न विशिष्यते ॥

इसके पश्चत शास्त्रार्थ प्रारम्भ हुआ। एक ओर से पण्डित जिनेश्वर और दूसरी ओर से सूराचार्य थे। शास्त्रार्थ सूराचार्य ने प्रारभ किया। उसका कहना था कि जिनगृह–वास ही मुनियों के लिये समुचित है और वहीं पर निरपवाद ब्रह्मव्रत का पालन संभव हो सकता है ? उनका कहना था कि 'वसतिवास अपवाद से रहित नहीं है, इसलिये त्याज्य है।' सूराचार्य ने अनेक युक्तियों के द्वारा अपने पक्ष का समर्थन किया परन्तु पंडित जिनेश्वर ने उन सभी युक्तियों का खंडन बड़ी योग्यता के साथ करते हुए वसतिमार्ग का प्रतिपादन किया। उन्होंने अत्यन्त स्पष्ट और कटु आलोचना करते हुए चैत्यवास के तत्कालीन कलुषित और अपवाद पूर्ण वातावरण को मुनि जीवन के लिये सर्वथा अनुपयुक्त तथा असंगत बतलाया। पंडित जिनेश्वर की वाक्पटुता, अकाट्य तर्क शैली तथा प्रकाण्ड-पाण्डित्य से न केवल उनके प्रतिपक्षी ही

---

१. गुणीनामर्चना यूयं कुरुध्वे विद्युतैनसाम् ।
सोऽस्माकमुपदेशानां फलपाकः श्रियां निधिः ॥ ८५ ॥
शिव एव जिनो बाह्यत्यागात् परपदस्थितः ।
दर्शनेषु विभेदो हि चिन्हं मिथ्यामतेरिदम् ॥ ८६ ॥ प्रभावक चरित

२. श्रीमान दुर्लभराजाख्यस्तत्र चासीद् विशांपतिः ।
गीष्पतेरप्युपाध्यायो नीतिविक्रमशिक्षणे ॥ ४८ ॥ प्रभावक चरित
राज्यप्रधानपुरुषैराकारितः श्रीदुर्लभराजमहाराजोऽपि
महता भट–चटपरिवारेणागत्योपविष्टस्तत्र । कथाकोष, परिशिष्ट पृ० १२.

थी, जो तत्कालीन चैत्यवासी शिथिलता को चुपचाप सहन करते हुए चले जा रहे थे। स्वाभाविक था कि यह परंपरा अपनी उग्रता और कट्टरता की विशेषता को लेकर जनता में प्रसिद्ध हो जाती। संभवतः इसी आधार पर जनता ने इनको 'खरतर' कहना प्रारंभ किया। इतिहास में ऐसे ही उदाहरण अन्यत्र भी मिलते हैं। ईसाई समाज में 'प्युरीटन' नाम को उत्पत्ति इसी प्रकार के उग्र सुधारवाद के वातावरण को लेकर हुई और अपने ही देश में 'उदासी सम्प्रदाय' के नामकरण का आधार भी ऐसा ही प्रतीत होता है। इस प्रकार के नामों का जन्म संभवतः उसी समय होता है जब इन नामों की आधारभूत विशेषता सब से अधिक आकर्षक नवीन तथा विरोध प्राप्त होती है। जिनेश्वराचार्य की विचारधारा के लिये इस प्रकार का युग स्पष्टतः उस समय से प्रारंभ होता है, जब से वे चैत्यवासियों के दुर्भेद्य गढ़ 'अणहिलपुर पत्तन' में अपने प्रभाव को दिखलाते हैं।

खरतरगच्छीय परम्परा के अनुसार 'खरतर विरुद' जिनेश्वराचार्य को तत्कालीन राजा दुर्लभराज द्वारा दिया गया था। इस बात को लेकर बहुत निराधार विवाद चला है। परन्तु, मेरी समझ में इसमें विवाद के लिये कोई स्थान नहीं है। राजा ने यह विरुद दिया हो अथवा न दिया हो किन्तु आचार्य जिनेश्वर की विचारधारा की यह मूलभूत विशेषता है जिसके कारण इस विरुद की कल्पना की जा सकती है, वह जनता के हृदय पर अवश्य ही अपना प्रभाव जमा चुकी होगी और उसी के फल स्वरूप जनता ने उसका जो नामकरण किया, वह समाज के मस्तिष्क पर अमिट अक्षरों में लिख गया। व्यक्ति चाहे वह चक्रवर्ती राजा ही क्यों न हो समाज सागर का एक क्षुद्र बुद-बुद है जो अपना क्षणिक अस्तित्व दिखाकर चला जाता है। परन्तु, समाज एक सतत् प्रवहमान सरिता है जो अक्षुण्ण रूप से अपनी युग युग की सिद्धियों और स्मृतियों को समेटे चलता रहता है। इसलिये समाज के मानस पटल पर आचार्य जिनेश्वर के सुधारवाद की खरतरता ने जो प्रभाव डाला उसकी स्थायी अभिव्यक्ति होना निश्चित था। चाहे कोई राजा उसको मानता या न मानता, चाहे कोई आचार्य या सम्प्रदाय उसको स्वीकार करता या न करता। किसी विरुद के महत्व को बढाने के लिए राजमान्य होने की आवश्यकता नहीं। वसतिमार्ग को मान्यता किसने दी थी? चैत्यवासी नाम को रखने वाला कौन था? वर्तमान युग में हवाई जहाज को चील-गाड़ी कहने वाला और मोटर साइकिल को फट-फटिया कहने वाला कौन था? इसका उत्तर यही है कि समाज या जनता। अतः इस प्रकार के नाम-करणों के मूलकर्त्ता के विषय में विवाद करना भाषाविज्ञान के प्रति अनभिज्ञता प्रकट करना है।

जब यह कहा गया कि दुर्लभराज की राजसभा में 'खरतर' विरुद की सृष्टि हुई तो चाहे राजा ने अपने मुख से उस शब्द का उच्चारण किया हो या न किया हो, यह एक ऐसा सत्य कथन था जिससे कोई इन्कार नहीं कर सकता। क्योंकि, जिस विशेषता ने जिनेश्वर की विचारधारा को 'खरतर' विरुद दिया उसका सर्वप्रथम सफल और सार्थक विस्फोट यहीं हुआ था।[1]

कुछ लोगों ने शंका उठाई है कि दुर्लभराज की अध्यक्षता में आचार्य जिनेश्वर और सूराचार्य का

---

१. हमारे इन विचारों की पुष्टि सुरभाण अकबर प्रतिबोधक युगप्रधान जिनचन्द्र सूरि रचित पौषधविधि-प्रकरण वृत्ति की प्रशस्ति से भी होती है:—

"यैः पूज्यैरणहिल्लपत्तनपुरे घोसिद्धिशून्यक्षमा, वर्षेदुर्लभराजपर्षदि पराजित्य प्रमाणोक्तिभिः।
सूरीन् चैत्यनिवासिनः खरतरख्यातिजनैश्चार्पिते, श्रीमत्सूरिजिनेश्वराः समभवंस्तत्पट्ट शोभाकराः ॥३॥
[तत्कालीन लिखित प्रति से, भुवन भक्ति भंडार, बीकानेर, सं० १००

हुआ और इस प्रकार विपक्ष के नेता का मानभंग अपरिहार्य बना। इसलिये संभव है कि प्रभावक-चरितकार को सूराचार्य के इस मानभंग का उनके चरित्र में कोई उल्लेख करना अच्छा नहीं मालूम दिया हो और उन्होंने इस प्रसंग को उक्त रूप में न आलेखित कर मौन भाव ही प्रकट किया हो।" अतः यह ध्रुव सत्य है कि आचार्य जिनेश्वर का सूराचार्य के साथ दुर्लभराज की राजसभा में शास्त्रार्थ हुआ और उसमें सूराचार्य पराजित हुए।

कुछ लोग अर्वाचीन पट्टावलियों[1] के अनुसार इस वाद-विवाद के समय के विषय में भी निरर्थक वाद-विवाद खड़ा करते हैं। यह चर्चा किस संवत् में हुई थी ? इस सम्बन्ध में युगप्रधान जिनदत्तसूरि, जिनपालोपाध्याय, सुमति गणि, प्रभावक चरितकार आदि मौन हैं। इसका कारण भी यही है कि सब ही प्रबन्धकारों ने जनश्रुति, गीतार्थश्रुति के आधार से प्रबन्ध लिखे हैं और वे भी सब १०० और २५० वर्ष के मध्यकाल में। वस्तुतः समग्र लेखकों ने संवत् के सम्बन्ध में मौनधारण कर ऐतिह्यता की रक्षा की है, अन्यथा संवत् के उल्लेख में असावधानी होना सहज संभाव्य था। महाराजा दुर्लभराज का राज्यकाल सं० १०६६ से १०७८ तक का माना जाता है अतः यह सहज सिद्ध है कि उसी के मध्य में यह घटना हुई है।

१. अर्वाचीन किन्हीं पट्टावलियों में सं० १०८० का उल्लेख मिलता है तो किसी में १०२४ का जो श्रवण परम्परा का आधार रखता है। इस परम्परा में भी ६००, ८०० वर्ष के अन्तर में २, ४ वर्ष का लेखन का फरक रह जाय यह स्वाभाविक है, इसे चर्चा का रूप देना निरर्थक ही है।

अलप थकी फल दे घना, उत्तम पुरुष सुभाय
दूध भरै तृण को चटै, ज्यों गोकुल की गाय॥
जेता का तेता करे, मध्यम नर सन्मान
घटै बढ़ै नहिं रंचहू, धरचो कोठरै धान॥
दीजै जेता ना मिलै, जघन पुरुष की बान।
जैसे फूटै घट धरचो, मिलै अलप पयथान॥

—बुधजन

विद्वान् ने भारत के सौराष्ट्र से जाने वाले लोगों को उस देश की सभ्यता का उन्मेषक कहा है। डा० कामताप्रसाद जैन के विचार में वे 'सु' जाति के थे और 'सु' जाति के लोग जैन धर्म के अनुयायी थे। तीर्थंकर ऋषभदेव के साले सुकच्छ सौराष्ट्र के थे।[1] डा० जैन के मत में आर्य लोग ही नहीं द्रविड़ भी तीर्थंकर ऋषभ के भक्त एवं अनुयायी थे।[2] सिन्धुघाटी की सभ्यता और मोहनजोदड़ो की खुदाई में इसके कई प्रमाण मिलते हैं। 'सु' जाति मेरु की पूजा करने वाली थी। जैन पुराणों में पंच मेरु तथा अकृत्रिम चैत्यालय की पूजा और वन्दना के विशेष प्रकरण मिलते हैं। जैन कथाकाव्यों में तो इनका विशेष रूप से उल्लेख है। कुछ विद्वान् सुमेर लोगों के पूर्वज सिन्धु प्रदेश की उपत्यकाओं में बसने वाले मोहनजोदड़ों और छन्नदड़ों के द्रविड़ लोगों को मानते हैं।[3] परन्तु मेरे विचार में वे आर्य ही थे। इसके कारण निम्नलिखित कहे जा सकते हैं—

(१) अमेरिका और यूरोप के वनस्पति शास्त्रियों ने अपनी खोज से सिद्ध कर दिया है कि खाद्य गेहूं का उत्पादन सबसे पहले हिन्दुकुश और हिमालय के मध्यवर्ती प्रदेश में हुआ।[4] सिन्धु घाटी की सभ्यता से भी यही पता लगता है है कि कृषि का प्रारम्भ सर्वप्रथम इस देश में हुआ था। जैन पुराणों के अनुसार कृषि विद्या के जनक आदि पुरुष ऋषभदेव कहे जाते हैं। उन्होंने सृष्टि के द्वितीय कल्प में असि, मसि, कृषि और वाणिज्य इन चार विद्याओं का उन्मेष किया था।

(२) परम्परा एवं अनुश्रुतियों के आधार पर जैन धर्म और संस्कृति के वाहक आर्य लोग कहे जाते हैं। वैदिक और श्रमण दोनों ही परम्परा से पता चलता है कि वे अनार्यों को कुछ घृणा की दृष्टि से देखते थे और अपने से नीचा समझते थे। संभव है कि यह बहुत बाद की बात हो। पर इसके उल्लेख मिलते हैं।

(३) यजुर्वेद में कहा गया है कि "वृषभ धर्मप्रवर्तकों में श्रेष्ठ हैं"। यह आदि जैन तीर्थंकर का द्योतक हो सकता है[5]। ऋग्वेद में चार प्रकार के वर्णों का उल्लेख मिलता है। श्री देवदत्त शास्त्री के अनुसार उस समय का मानव समाज साध्य, महाराजिक, आभास्वर और तुषित- इन चार श्रेणियों में विभक्त था। इन चार वर्गों के आधार पर वैदिक काल में सतयुग, त्रेता, द्वापर, कलियुग इन चार युगों की तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों की कल्पना की गई। साध्यों का पूरे समाज पर पूर्ण प्रभाव और नियन्त्रण था।[6] साध्यों की मान्यता थी कि संसार की रचना प्रकृति के नियमों से हुई है। उस युग में प्राग्वैदिक साध्यों को "पूर्व देवाः सुरद्विपः" कह कर देवद्रोही कहा जाता था। साध्यों के सिद्धान्त इन दस वादों पर आधारित थे—सद्वाद, असद्वाद, सदसद्वाद, व्योमवाद, अपरवाद,

---

१. डा० कामता प्रसाद जैन द्वारा लिखित "विदेशी संस्कृतियों में अहिंसा" शीर्षक लेख, प्रकाशित गुरुदेव श्री रत्नमुनि स्मृतिग्रन्थ, आगरा, पृ० ४०२।

२. वही पृ० ४०२।

३. मजूमदार, चौधरी और के० के० दत्त : एन्शियेन्ट इण्डिया, पृ० ५५।

४. द्रष्टव्य है–भरतसिंह उपाध्याय : बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, पृ० ५२।

५. वही, पृ० ८३१।

६. चिन्तन के नये चरण : देवदत्त शास्त्री, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ० ८७।

विद्वान् ने भारत के सौराष्ट्र से जाने वाले लोगों को उस देश की सभ्यता का उन्मेषक कहा है। डा० कामताप्रसाद जैन के विचार में वे 'सु' जाति के थे और 'सु' जाति के लोग जैन धर्म के अनुयायी थे। तीर्थंकर ऋषभदेव के साले सुकच्छ सौराष्ट्र के थे।[1] डा० जैन के मत में आर्य लोग ही नहीं द्रविड़ भी तीर्थंकर ऋषभ के भक्त एवं अनुयायी थे।[2] सिन्धुघाटी की सभ्यता और मोहनजोदड़ो की खुदाई में इसके कई प्रमाण मिलते हैं। 'सु' जाति मेरु की पूजा करने वाली थी। जैन पुराणों में पंच मेरु तथा अकृत्रिम चैत्यालय की पूजा और वन्दना के विशेष प्रकरण मिलते हैं। जैन कथाकाव्यों में तो इनका विशेष रूप से उल्लेख है। कुछ विद्वान् सुमेर लोगों के पूर्वज सिन्धु प्रदेश की उपत्यकाओं में बसने वाले मोहनजोदड़ों और छन्नदड़ों के द्रविड़ लोगों को मानते हैं।[3] परन्तु मेरे विचार में वे आर्य ही थे। इसके कारण निम्नलिखित कहे जा सकते हैं—

(१) अमेरिका और यूरोप के वनस्पति शास्त्रियों ने अपनी खोज से सिद्ध कर दिया है कि खाद्य गेहूं का उत्पादन सबसे पहले हिन्दुकुश और हिमालय के मध्यवर्ती प्रदेश में हुआ।[4] सिन्धु घाटी की सभ्यता से भी यही पता लगता है है कि कृषि का प्रारम्भ सर्वप्रथम इस देश में हुआ था। जैन पुराणों के अनुसार कृषि विद्या के जनक आदि पुरुष ऋषभदेव कहे जाते हैं। उन्होंने सृष्टि के द्वितीय कल्प में असि, मसि, कृषि और वाणिज्य इन चार विद्याओं का उन्मेष किया था।

(२) परम्परा एवं अनुश्रुतियों के आधार पर जैन धर्म और सांस्कृति के वाहक आर्य लोग कहे जाते हैं। वैदिक और श्रमण दोनों ही परम्परा से पता चलता है कि वे अनार्यों को कुछ घृणा की दृष्टि से देखते थे और अपने से नीचा समझते थे। संभव है कि यह बहुत बाद की बात हो। पर इसके उल्लेख मिलते हैं।

(३) यजुर्वेद में कहा गया है कि "वृषभ धर्मप्रवर्तकों में श्रेष्ठ हैं"। यह आदि जैन तीर्थंकर का द्योतक हो सकता है[5]। ऋग्वेद में चार प्रकार के वर्णों का उल्लेख मिलता है। श्री देवदत्त शास्त्री के अनुसार उस समय का मानव समाज साध्य, महाराजिक, आभास्वर और तुषित- इन चार श्रेणियों में विभक्त था। इन चार वर्गों के आधार पर वैदिक काल में सतयुग, त्रेता, द्वापर, कलियुग इन चार युगों की तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों की कल्पना की गई। साध्यों का पूरे समाज पर पूर्ण प्रभाव और नियन्त्रण था।[6] साध्यों की मान्यता थी कि संसार की रचना प्रकृति के नियमों से हुई है। उस युग में प्राग्वैदिक साध्यों को "पूर्वे देवाः सुरद्विपः" कह कर देवद्रोही कहा जाता था। साध्यों के सिद्धान्त इन दस वादों पर आधारित थे—सद्वाद, असद्वाद, सदसद्वाद, व्योमवाद, अपरवाद,

---

१. डा० कामता प्रसाद जैन द्वारा लिखित "विदेशी संस्कृतियों में अहिंसा" शीर्षक लेख, प्रकाशित गुरुदेव श्री रत्नमुनि स्मृतिग्रन्थ, आगरा, पृ० ४०२।

२. वही पृ० ४०२।

३. मजूमदार, चौधरी और के० के० दत्त : एन्शियेन्ट इण्डिया, पृ० ५५।

४. द्रष्टव्य है—भरतसिंह उपाध्याय : बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, पृ० ५२।

५. वही, पृ० ८३१।

६. चिन्तन के नये चरण : देवदत्त शास्त्री, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ० ६०।

भागवत में योगेश्वर तथा वातरशन एवं श्रमण ऋषियों में ऊर्ध्वगामी कहे गये हैं।[१] निर्ग्रन्थ योगियों का उल्लेख उपनिषदों और पुराणों में समान रूप से मिलता है। यथार्थ में 'आर्हत' धर्म जिस परम्परा का प्रतिनिधित्व करता है वही जैन आगम ग्रन्थों और पुराणों में तथा उपनिषदों में झिलमिलाती हुई लक्षित होती है। तीर्थंकर पार्श्वनाथ के समय तक जैन धर्म के लिए 'आर्हत' शब्द ही प्रचलित था। बौद्ध पालि ग्रन्थों में तथा अशोक के शिलालेखों में "निग्गंठ" शब्द का प्रयोग मिलता है। वास्तव में "निर्ग्रन्थ" शब्द जैन शास्त्रकारों का पारिभाषिक शब्द है, जिसका अर्थ है – भीतरी (काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि) और बाहरी (कौपीन, वस्त्रादि) परिग्रह से रहित श्रमण साधु। जैन-आगमों में जिनशासन, जैनतीर्थ, जैन-समुद्घात आदि प्रयोग मिलते हैं। तीर्थंकर महावीर के बाद आठ गणधरों या आचार्यो तक "निर्ग्रन्थ" शब्द मुख्य रहा है[२]। किन्तु उत्तरवर्ती पुराण-काल में जिनधर्म और जैनधर्म नामों का व्यवहार एवं प्रचार हो चला था। "मत्स्यपुराण" में जिनधर्म और "देवी भागवत" पुराण में जैन धर्म का उल्लेख मिलता है।[३]

उक्त अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक काल के पहले से ही भारतीय संस्कृति की दो परम्परा प्रचलित थीं। एक यज्ञ-याग संस्कृति की मानती थी और दूसरी कर्मवाद की। जो कर्म को प्रधान मानती थी वह "समण" या "श्रमण" कही गई और जो प्राकृतिक शक्तियों को प्रधान मानती थी और यज्ञ-याग के रूप में उनकी पूजा करती थी वह आगे चल कर ब्रह्मारावि ी ब्राह्मण संस्कृति के नाम से विश्रुत हुई। वेदों के साक्ष्य से हमें यही पता लगता है कि पहले ये 'आर्हत" और "वार्हत" संस्कृति के नाम से प्रसिद्ध थीं। आर्हत आत्मवादी लोग थे। उनका सर्वमान्य सिद्धान्त था–"अप्पा सो परमप्पा" अर्थात् आत्मा ही अपने शुद्ध, स्वाभाविक रूप में परमात्मा है। उसके अशुद्ध एवं विकारी होने का कारण कर्म-बन्धन है। आत्मा का कर्म के बन्धनों से मुक्त हो जाने का नाम ही मुक्ति है। परन्तु वार्हत लोग किसी अलौकिक शक्ति में विश्वास रखते थे। उनका कहना था कि जो कुछ भी दिखाई पड़ता है, हो रहा है और होगा वह सब उस अलौकिक शक्ति का ही चमत्कार है। वैदिक ऋचाओं में ऐसी ही असाधारण एवं अप्रतिम लोकेतर शक्तियों का आह्वान किया गया है। यद्यपि आत्मा का सिद्धान्त सर्वप्रथम ऋग्वेद के "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति" में उद्घोषित किया गया है, परन्तु इससे यह भी पता लगता है इसके पहले भी आत्मवादी लोग जो बहुविध उसका प्रतिपादन करते थे और मनुष्य को कर्त्ता मान कर कर्म की स्थिति स्वीकार करते थे। डा० मुकर्जी के अनुसार वैदिक सभ्यता अनेक राजाओं और ऋषियों की देन थी। वस्तुतः उस युग में क्षत्रिय राजाओं का विशेष प्रभुत्व था। आर्हतलोग मुख्य रूपसे क्षत्रिय थे। क्षत्रिय प्रायः बौद्धिक जीवन में विशेष रुचि लेते रहे हैं। "याज्ञवल्क्य के समय में देश के बौद्धिक जीवन में क्षत्रियों का बहुत बड़ा हाथ था, जो कि

---

२. "वातरशनानां श्रमणानामृषीणामूर्ध्वमन्थिनां शुक्लया तनुवावततार।" श्रीमद्भागवत, ५।३।२० तथा—"भगवानृषभदेवो योगेश्वरः प्रहस्यात्मयोगमायया स्ववर्षमजनाभं नामाभ्यवर्षत्"। वही, ५।४।३

३. मुनि श्री नथमल द्वारा लिखित "जैनधर्म के पूर्वज नाम" शीर्षक लेख, प्रकाशित— "जैन भारती" शोध अंक, पृ० २४।

४. देखिए वही, पृ० २३।

संस्कृति की सबसे बड़ी पहिचान हवन-पूजन कही जा सकती है। कुछ विद्वानों के अनुसार आर्य संस्कृति होमविधि को प्रमुखता देती थी और आर्येतर प्रजाएं पूजा अर्चना करती थीं। जो भी हो। इस देश में एक ऐसी भी जाति का गण था जो व्रतों को प्रधान मानता था। व्रतों के प्रस्थापक "व्रात्य" कहे गये हैं। अर्थ व वेद का पन्द्रहवां कांड व्रात्य काण्ड है. सायण ने "व्रात्य" का अर्थ समूह या गण किया है। किन्तु "व्रात्य" शब्द "व्रत" से बना है। आर्य जाति का वह गण जो यज्ञ-याग के विरुद्ध व्रतों को महत्वशाली बताता था "व्रात्य" कहा जाता था। बौद्ध ग्रन्थ "आर्यमंजु श्री मूलकल्प" में भारतवर्ष के आदि सम्राटों में नाभिपुत्र ऋषभदेव को व्रतपालक कहा गया है।[१] "व्रात" शब्द का एक अर्थ रुद्र भी कहा गया है।[२] रुद्र या शिव और ऋषभ या वृषभ में कई बातों में समानता दिखलाई पड़ती है। भगवान शंकर का वाहन वृषभ (बैल) माना गया है। शिवजी वृषभध्वज कहे जाते हैं। तीर्थंकर वृषभ का चिन्ह भी बैल, उपासक गौमुख और शासनदेवी चक्रेश्वरी कही जाती है। "वृषभ" का अर्थ ऋग्वेद में मनोकामना पूरी करने वाला है।[3] इन्द्र, रक्षा करो, जो कि तुम शत्रुओं से रक्षक, जो वृषभ (मनोकामना पूरक), जो शिप्रवान्, जो मतियों (अभिलापाओं) का वर्षक वृषभ हो, जो पर्वतों के विदारक वज्रधर, जो घोड़ों पर चलने वाले, वह इन्द्र विचित्र अन्न-धन प्रदान करे।[४] विद्वान् रेपसन के अनुसार व्रात्य बनजारे थे, जो खेती नहीं करते थे, वे पगड़ी बांधते थे, माल लादते थे और घूम-घूम कर व्यापार करते थे। खेती करना उनके लिए मना था। उनकी भाषा भी आर्यों की भांति शिष्ट नहीं थी। यद्यपि उनकी भाषा आर्य जैसी ही थी पर वे संस्कृत से भिन्न सरल एवं बोलचाल की प्राकृत का व्यवहार करते थे। प्रायः संयुक्त तथा उच्चारण में कठिन व्यंजनों का परिहार करते थे। निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है कि वे कहां बसे हुए थे। प्राप्त सूचनाओं के आधार पर कुछ लोग पश्चिम में बसे हुए थे और कम से कम कुछ लोग तो निश्चित रूप से मगध के निवासी थे।[५] आज भी उत्तर-पश्चिम भारत में और विशेषकर बुन्देलखंड तथा मध्य प्रदेश के गांवों में रहने वाले जैनों में से अधिकतर घोड़ों पर या अपने कन्धों पर लादकर बंजी या वाणिज्य कर्म करते हैं। हाल ही में कुछ वर्षों से यह प्रथा उठती जा रही है। जैनों का मुख्य प्राचीन व्यवसाय बंजी या वाणिज्य रहा है। खेती को वे निषिद्ध एवं हेय मानते हैं। निश्चित रूप से उनकी भाषा जन-साधारण की रही है। वे देश-विदेश में जहां भी गये वहीं की बोली में अपने विचारों को प्रकट करने की क्षमता लेकर गये। इस जाति के इतिहास से पता लगता है

---

१. प्रजापतेःसुतो नाभि् तस्यामो आऐमुच्यति ।
नाभिनो ऋषभपुत्रो कै सिद्धकर्मदृढ़व्रतः ॥ ३९० ॥
तस्यापि मणिचरौ यज्ञः सिद्धो हैमवतगिरौ ।
ऋषभस्य भरतः पुत्रः सोपि मंजतान तदा जयेन ॥ ३९१ ॥

२. "नमो व्रात्याय" यजुर्वेद, १६।२५

३. देवदत्त शास्त्रीः चिन्तन के नये चरण, पृ० १६३

४. स हं पाहि य ऋजोषी तत्रो यः शिप्रवान् वृषभो यो मतीनाम् ।
यो गोत्रमिद् वज्रभृद् यो हरिष्ठाः न इन्द्र चित्रां अभि नन्धि वाजान ॥

५. ई० जे० रेपसन : द केम्ब्रिज हिस्ट्री आव इण्डिया, जिल्द १, भारतीय द्वितीय संस्करण, १९६२, पृ० १११।

कि दक्षिण भारत में भी बोलचाल की भाषा को अपना कर सरल कन्नड़ और तमिल में साहित्य रचना का श्रेय जैनों को है। जैनों की यह मुख्य प्रवृत्ति रही है कि वे विभिन्न युगों में लोक और धर्म के अनुसार जातीय जीवन में सर्वांगीण उन्नति पर विशेष ध्यान देते रहे। श्री जैन के अनुसार लगभग १४०० ई० में भारतवर्ष के पूर्वी और दक्षिणी तथा अन्य भागों में व्रात्य, इक्ष्वाकु, मल्ल लिच्छवि, कसिस, कोसल, विदेह, मागध और द्रविड़ लोग बसे हुए थे। पूर्वी भारत व्रात्य धर्म का मुख्य केन्द्र था।[1]

इस प्रकार ऋग्वेद में उल्लिखित "व्रात्य" जैनधर्म के पूर्वज सिद्ध होते हैं। वैदिक संहिताओं में कई प्रकरणों में "वृषभ" का उल्लेख मिलता है। तीर्थंकर ऋषभदेव ने सर्वप्रथम इस सिद्धान्त का उद्घोष किया था कि मनुष्य अपनी शक्ति का विकास कर आत्मा से परमात्मा बन सकता है। प्रत्येक आत्मा में परमात्मा विद्यमान है। जो आत्म साधना से अपने देवत्व को प्रकट कर लेता है वही परमात्मा बन जाता है। उनकी इस मान्यता की पुष्टि ऋग्वेद की निम्नलिखित ऋचा से होती है—

चत्वारि शृंगा त्रयो अस्य पादा
द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति
महा देवो मर्त्या आविवेश ॥

अर्थात्—जिस के चार शृंग (अनन्त दर्शन, ज्ञान, सुख और वीर्य) हैं, तीन पाद हैं (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र), दो शीर्ष (कैवल्य और मुक्ति) हैं और सात हस्त (सात व्रत) हैं तथा जो मन, वचन और काय इन तीन योगों से बद्ध (संयत) है उस वृषभ (ऋषभ देव) ने घोषणा की है कि महादेव (परमात्मा) मनुष्य के भीतर ही आवास करता है।

अथर्ववेद (१९/४२/४) तथा यजुर्वेद से भी इस मान्यता के प्रमाण मिलते हैं। कहीं-कहीं वे प्रतीक शैली में वर्णित हैं और कहीं-कहीं संकेत रूप में।

विदेशों में जैनधर्म—

जैनों की मान्यता है कि तीर्थंकर ऋषभदेव कर्मभूमि के आदिस्रष्टा मनु या कुलकर थे, जिन्होंने करोड़ों वर्षों पूर्व इस देश में अहिंसा मूलक समाज की स्थापना की थी और मानवता का प्रथम संदेश दिया था। इसलिए भारतवर्ष में उनकी पूजा होना स्वाभाविक ही था। किन्तु विदेशों में भी उनकी पूजा के उल्लेख मिलते हैं। कहीं वे "कृषि के देवता" मानकर और कहीं "वर्षा के देवता" तो कहीं "सूर्यदेव" मानकर पूजे गये। "सूर्यदेव" उनके केवल ज्ञान का द्योतक है। पूर्व में चीन और जापान भी उनके नाम और काम से परिचित रहे हैं। चीनी त्रिपिटक में उनका उल्लेख मिलता है। जापानी उनको "रोकशब" (Rokshab) कह कर पुकारते हैं। मध्य एशिया, मिश्र और यूनान तथा फोनेशिया एवं फणिक लोगों की भाषा में वे रेशेफ कहलाये, जिसका अर्थ सींगों वाला देवता है और ऋषभ का अपभ्रंश रूप है।[2] शिव

१. रामचन्द्र जैन एडवोकेट द्वारा लिखित "प्रि-आर्यन भारतीय रिलीजन", प्रकाशित, "आचार्य भिक्षु स्मृति ग्रन्थ", कलकत्ता, तृतीय विभाग, पृ० ७-८।

२. कामता प्रसाद जैन द्वारा लिखित "म० ऋषभदेव और उनकी लोकव्यापी मान्यता" शीर्षक लेख, प्रकाशित "आचार्य भिक्षु स्मृति ग्रन्थ" द्वितीय खण्ड, पृ० ४।

पुराण के अध्ययन से तो यह तथ्य और भी स्पष्ट हो जाता है।[1] वस्तुतः योगेश्वर शिव और ऋषभदेव में अभिन्नता के कई प्रमाण लक्षित होते हैं। अक्कड़ और सुमेरों की संयुक्त प्रवृत्तियों से उत्पन्न बेबीलोनियां की संस्कृति और सभ्यता बहुत प्राचीन कही जाती है। उनके विजयी राजा हम्मुरावी (२१२३-२०८१ ई० पू०) के शिलालेखों से पता चलता है कि स्वर्ग और पृथ्वी का देवता (वृषभ) था। सुमेर के लोग कई देवताओं की पूजा करते थे। वृषभदेव की वे कृषि के देवता के रूप में पूजा करते थे जिसे आबू या तामुज़ कहते थे।[2] इजिप्ट में सूर्य देवता को सृष्टि का रचयिता माना जाता था। कई देवताओं में उस युग में पशु देवता अधिक लोकप्रिय थे। पशुओं में भी बैल और अज विशेष रूप से पवित्र समझे जाते थे।[3] सुमेर तथा बाबुल के एक धर्म शास्त्र "अर्हशम्म" का उल्लेख मिलता है।[4] "अर्ह" शब्द "अर्हत" का ही संक्षिप्त रूप जान पड़ता है। जैनों के प्रोषध की भांति ये लोग "सब्बथ" (Sabbath) को पवित्र दिन मानते थे और उस दिन कोई भी सांसारिक काम धन्धा नहीं करते थे और हिंसामय प्रवृत्तियों का त्याग कर देते थे। मांस और मदिरा छूना तक पाप समझते थे। सन्त मूसा और दनियाल अहिंसावादी थे।[5] उनके प्रभाव से आस-पास के देशों में किसी समय अहिंसा का बहुत प्रचार था।

बेबीलोनिया वासी तथा यहूदियों की भांति हित्ती जाति के लोगों पर भी भारतीय धर्मों का प्रभाव पड़ा था। इसका मुख्य देवता "ऋतुदेव" कहा गया है। इसका वाहन बैल था, जिसे "तेशुब" कहा जाता था, जो "तित्थर उसभ" का अपभ्रंश जान पड़ता है।[6] मिश्रवासियों की धार्मिक मान्यताएं बहुत कुछ जैनों से मिलती-जुलती हैं। जैनों की भांति वहां के लोग ईश्वर को सृष्टि का कर्ता-धर्ता एवं हर्ता नहीं मानते। मूली, प्याज, लहसन तक नहीं खाते। जूते भी पेड़ की छाल के बने हुए पहनते थे। आत्मवत् सर्वभूतेषु" के सिद्धान्त को मानते और पालन करते रहे हैं। आज से छह हजार वर्षों के पहले से ही शाकाहार को श्रेष्ठता मानते रहे हैं।[7] यथार्थ में वैदिक और श्रमण दोनों परम्पराओं का मूल स्रोत एक ही रहा होगा। अतएव वेद, उपनिषदों और पुराणों में दान, तप और अहिंसा के विविध उल्लेख एवं विवेचन प्राप्त होते हैं। वेदों में ऋषभदेव के अतिरिक्त अजित, और अरिष्टनेमि के भी उल्लेख मिलते हैं।

ऐतिहासिक प्रमाण—

तीर्थंकर महावीर या वर्द्धमान के पहले पार्श्वनाथ को इतिहासकारों ने ऐतिहासिक महापुरुष के रूप में स्वीकार कर लिया है और जर्मन विद्वान्

१. इत्थं प्रभाव ऋषभोवतार शंकरस्य मे।
सतां गतिर्दीनबन्धुर्नवमः कथितस्तवनः ॥ ॥ १।४७, शिव पुराण।

२. विल ड्युरेन्ट : द स्टोरी आव सिविलिजेशन (अवर ओरियन्टल हेरिटेज), न्यूयार्क, १९५४, पृ० २१९।

३. वही, पृ० १२७।

४. वही, पृ० १९९।

५, डा० कामता प्रसाद जैन द्वारा लिखित "विदेशी संस्कृतियों में अहिंसा" शीर्षक लेख, पृ० ४०३

६, वही, पृ० ४०६।

७, वही, पृ० ४०७।

डा० बूलर और जेकोबी की खोज से यह सिद्ध हो गया है कि महावीर जैन धर्म के संस्थापक नहीं थे।[1] महावीर का जन्म ई० पू० ५९९ माना जाता है और निर्वाण ई० पू० ५२७ में पावापुर में हुआ माना जाता है। उनका जन्म तीर्थंकर पार्श्वनाथ के २५० वर्ष बाद हुआ कहा जाता है।[2] और नमिनाथ के पांच लाख वर्षों के बाद अरिष्टनेमि का जन्म हुआ था। उनके तिरासी हजार सात सौ पचास वर्ष बीत जाने पर पार्श्वनाथ उत्पन्न हुए थे।[3] ऋषभदेव आदि प्रजापति या कुलकर हुए, जिन्होंने कृषि को जन्म दिया। विभिन्न देशों में कृषि के देवता के रूप में उनको स्मरण किया जाता रहा। सब से पहले भारतीय संस्कृति के देश में गन्ने की खेती की गई। तीर्थंकर पार्श्वनाथ और महावीर के समय में कई यूनानी तत्ववेत्ता (पिथागोरस, पिर्र हो, प्लोटिनस, Ptolemy (टॉलमी) आदि भारतवर्ष में आए थे। उन्होंने "जिनोसोफिस्ट" अर्थात् जैन गुरुओं से शिक्षा ग्रहण की थी। मेगस्थनीज ने इसका विवरण दिया है कि जिनोसोफिस्ट दिगम्बर जैन मुनि थे, जो यूनानियों को भारत में मिले थे।[4] अपोलो और दमस नामक दो तत्ववेत्ता भी यूनान से भारत आए थे और उन्होंने निर्ग्रन्थ श्रमणों से ज्ञान-चर्चा कर अहिंसा का महत्व समझा था।[5]

काठियावाड़ से प्राप्त एक ताम्रपत्र से ज्ञात होता है कि बेबीलोनिया का महाराजा यहां द्वारिका में आया था और उसने एक मन्दिर बनवाकर उसे रेवत गिरि (गिरनार) के देवनेमि या अरिष्टनेमि को अर्पण किया था। यह ताम्रपत्र महाराज नेबूचदनेज्जर प्रथम या द्वितीय (ई० पू० ११४० या ई० पू० ६००) का है।[6] यदि तीर्थंकर पार्श्वनाथ का समय ई० पू० ९४९-८४९ माने तो उनसे लगभग दो सौ या ढाई सौ वर्षों के पहले तीर्थंकर अरिष्टनेमि के होने का अनुमान लगता है। लंका के राजा धातुसेन (४६१-४७९ ई०) के समय में स्थविर महानाम द्वारा निर्मित महावंश नामक बौद्ध काव्य से पता लगता है कि ई० पू० ५०० के पहले दक्षिण भारत में जैन धर्म का पूर्ण प्रचार था।[7] मद्रास की इपिग्राफिकल रिपोर्टस् १९०७ और १९१० ई० से पता चलता है कि मदुरा और रामनद की खुदाई में प्राप्त ई० पू० ३०० के लगभग का शिलालेख जैन शिलालेख है। जो ब्राह्मी अशोक लिपि में लिखा गया है। इसी प्रकार अलगामलै की खुदाई में प्राप्त जैन मूर्तियों से भी निश्चय हो जाता है कि दक्षिण भारत में यह धर्म ई० पू० ३०० के पहले बहुत दूर-दूर तक फैल गया था।[8] यद्यपि मोहनजोदड़ों और हड़प्पा की खुदाई में बैल के सिक्के और वृषभ की प्रतिमा के प्रमाण का अनुमान किया जाता है

१. द केम्ब्रिज हिस्ट्री आव इण्डिया, पृ० १३६।

२. पार्श्वेशतीर्थसन्ताने पंचाशद्द्विशताब्दके, तदभ्यन्तरवर्त्यायुर्महावीरो त्र जातवान्।
महापुराण, ७४।२७९।

३. नेम्यन्तरे खपंचस्वराग्न्यन्टमितवत्सरे, प्रान्ते हन्ता कृतान्तस्य तदभ्यन्तरजीवितः।
पार्श्वनाथः समुत्पन्नः शतसंवत्सरायुषा, बालशालितनुच्छायः सर्वलक्षणलक्षितः॥ वही, ७३।९३—९४

४. डा० कामता प्रसाद जैन का लेख "विदेशी संस्कृतियों में अहिंसा" द्रष्टव्य है। ५—वही।

६. देखिए, इण्डियन कल्चर, अप्रेल, १९३८, पृ० ५१५।

७. देखिए, जैन-सिद्धांत-भास्कर, भाग १५ किरण ९, पृ० ४२।

८. पं० नेमिचन्द्र शास्त्री, ज्योतिषाचार्य द्वारा लिखित "दक्षिण भारत में जैनधर्म का प्रवेश और विस्तार" शीर्षक लेख, प्रकाशित "जैन सिद्धान्त भास्कर", मा० १५ कि० १, वृ० ४२।

किन्तु निश्चित रूप से ईसा के कुछ वर्षों के पूर्व तक की जैन प्रतिमाओं की जानकारी मिलती है। प्राग्मौर्यकाल में पूर्वी भारत में जैन प्रतिमाओं की पूजा प्रचलित थी।[१] उड़ीसा में खण्डगिरि और उदयगिरि की गुफाओं में ई० पू० १०० की प्रतिमाएं तथा चित्रकला दर्शनीय है। कुछ विद्वानों की राय में उदयगिरि की रानी नूर गुफा में तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की जीवन सम्बन्धी घटनाओं के चित्र अंकित हैं।[२] दक्षिण में जैन धर्म के प्रवेश का कारण दिगम्बर जैनों का स्थानान्तरित होकर वहां बसना कहा जाता है[3] किन्तु बहुत पहले से वहां जैन धर्म के फूलने-फलने के प्रमाण मिलते हैं। कदम वंश के कई शिलालेखों में जैनों के दान देने का उल्लेख है। आन्ध्रवंश के राजा जैन धर्म के उन्नायक थे। कदम्ब वंश के समान चालुक्य वंश के राजा भी जैन धर्म के अनुयायी थे।[४] तमिल साहित्य के प्राचीन व्याकरण "अगथियम" और उससे प्रभावित "तौल्काप्याम" के अध्ययन से पता लगता है कि दोनों ग्रन्थ जैन आचार्य के रचे हुए हैं। विद्वानों ने इनका रचनाकाल ई० पू० ४०० माना है। अतएव ई० पू० ५०० में दक्षिण भारत में जैन धर्म के व्यापक प्रचार होने का पता लगता है। गुप्तकाल में भी जैन धर्म का उत्तर भारत में विशेष प्रचार था। चन्द्रगुप्त मौर्य अंतिम समय में जैन धर्म का अनुयायी था। यद्यपि जैन परम्परा और उसके साहित्य के अनुसार चन्द्रगुप्त और चाणक्य दोनों जैन थे पर इतिहास के प्रसिद्ध विद्वान् चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रारम्भिक जीवन को बौद्ध अनुयायी मानते हैं। जीवन के अन्तिम समय में वह जैन हो गया था। गुप्तकाल के तथाकथित सबसे पुराने शिलालेखों में उदयगिरि पहाड़ी (विदिशा) का लेख जैन शिलालेख है, जिसमें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की मूर्ति स्थापित करने का विवरण अंकित है तथा मूर्ति भी अच्छी अवस्था में विद्यमान है।[५] श्री कामताप्रसाद जैन के अनुसार मोहनजोदड़ो की खुदाई में प्राप्त नग्न मूर्तियां और कायोत्सर्ग योगी की मूर्ति तीर्थंकर सुपार्श्व या पार्श्व की मूर्ति लक्षित होती है।[६] इस प्रकार प्राग्वैदिक काल से लेकर गुप्तकाल और उसके बाद तक जैन धर्म के भारतवर्ष में तथा अन्य देशों में फैलने के प्रमाण मिलते हैं। देश में तो साम्प्रदायिक ईर्ष्या व द्वेष के कारण यह इतना फल-फूल नहीं सका जितना कि दूसरे देशों में इसका प्रचार होता रहा। परन्तु आचार और संयम में कठोर होने के कारण समय-समय पर लोगों में शिथिलता आती रही। भारतवर्ष में भी मुस्लिम युग में इस धर्म की एक बार फिर से उन्नति हुई। मुसलमानों के प्रथम आक्रमण के समय में सिन्ध प्रदेश में अधिकतर श्रमण लोग बसे हुए थे। सिन्ध का शासक भी श्रमण धर्म का उपासक था।[७] कई जैनाचार्यों ने मुसलमान बादशाहों को अपने प्रभाव से धर्म की ओर आकर्षित किया था। जिनप्रभ

---

१. देखिए, द एज आव इम्पीरियल युनिटी, १९६०, पृ० ४२६।

२. वही, पृ० ५२६ तथा ५१५-१६ ।-६- वही, पृ८ ४१९।

३. देखिए, जैन सिद्धान्त-भास्कर, माद १५ कि० १, पृ० ५०।

४. वही; पृ० ४३।

५. देखिए, वही, पृ० ३४ "गुप्तकालीन जैनधर्म" शीर्षक लेख।

६. श्री कामता प्रसाद जैन द्वारा लिखित "मोहनजोदड़ो एन्टिक्विटीज एण्ड जैनिज्म" शीर्षक लेख, प्रकाशित "जैन एन्टिक्वेरी" जिल्द १४, संख्या १, पृ० ७।

७, कामता प्रसाद जैन का लेख "जैनिज्म अण्डर द मुस्लिम रूल, न्यु इण्डियन एण्टिक्वेरी, पहली जिल्द, १९३८-३९, पृ० ५१९।

सूरि ने मुहम्मद तुगलक को, जिनचन्द्र सूरि ने कुतुबुद्दीन को, हरिविजय सूरि ने बादशाह अकबर को और जिनसिंहसूरि तथा पद्मसुन्दर आदि ने कई मुसलमान बादशाहों को जैन धर्म से प्रभावित किया था। फीरोजशाह तुगलक जैन सन्तों का और विशेष कर जैन कवि रत्नशेखर का बहुत सम्मान करता था। दिल्ली के सुलतान अलाउद्दीन का दि० जैन पुराणचन्द्र घनिष्ठ मित्र था।[1] राष्ट्रकूट काल में जैन धर्म का व्यापक प्रचार एवं प्रसार था। राष्ट्रकूट युग में हुए जैन धर्म के प्रसार की भूमिका पूर्ववर्ती राज्यकालों में भलीभांति तैयार हो चुकी थी। पांचवी-छठी शताब्दी के कितने ही कदम्बवंशी राजा जैन धर्म के अनुयायी तथा अभिवर्द्धक थे।[2] पालनरेशों के समय में बंगाल में जैन धर्म के प्रसिद्ध एवं विशाल केन्द्र थे। सातवीं शताब्दी में बंगाल में निग्रन्थ सम्प्रदाय प्रभावशील था।[3] बंगाल के अनेक स्थानों से प्राप्त प्राचीन जैन पुरातत्व भी इसी बात का समर्थन करता है कि इस देश में चिरकाल तक जैन धर्म का प्रचार रहा है। चौथी शताब्दी में पहाड़पुर (वट्टगोहाली) आदि स्थानों में परमभागवत गुप्त सम्राटों के शासनकाल में भी जैन धर्म के प्रसिद्ध एवं विशाल केन्द्र थे। इसी प्रकार पश्चिमोत्तर प्रदेश, गुजरात और मालवा में भी ईसा की पहली-दूसरी शताब्दी में जैन धर्म के सजीव रहने के प्रमाण मिलते हैं। प्राचीन सिन्ध में भी जैन धर्म के अस्तित्व के पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं। और भी कई स्थानों पर जैन धर्म के अधिष्ठानों का पता मिलता है।

जैन संस्कृति या श्रमण संस्कृति मुख्य रूप से अहिंसक रही है। अहिंसा, सत्य और शांति का सन्देश यह करोड़ों युगों से देती चली आ रही है। इसके प्रसारक और प्रचारक श्रमण साधु एवं आचार्य हुए। देश में ही नहीं विदेशों में भी पैदल भ्रमण करके उन्होंने इस धर्म के पवित्र सिद्धांतों का प्रचार किया था। छठी-सातवीं शताब्दी में चीनी यात्री हुएनत्सांग को अफगानिस्तान में अनेक दिगम्बर जैन मुनि मिले थे।[4] जर्मन विद्वान वफान क्रेमर के अनुसार मध्यपूर्व एशिया में प्रचलित "समानिया" सम्प्रदाय श्रमण (जैन) था। जी० एफ० मूर का कथन है कि 'ईसा की जन्म शती के पूर्व ईराक, शाम, और फिलिस्तीन में जैन मुनि और बौद्धभिक्षु सैकड़ों की संख्या में चारों ओर फैल कर अहिंसा का प्रचार करते थे। पश्चिमी एशिया, मिश्र, यूनान और इथ्योपिया के पहाड़ों और जंगलों में उन दिनों अगणित भारतीय साधु रहते थे, जो अपने त्याग और अपनी विद्या के लिए प्रसिद्ध थे। वे साधु वस्त्र भी नहीं पहनते थे।[5] मेजर जनरल जे० जी० आर० फारलांग ने भी अपनी खोज में बताया है कि ओकसियना केस्पिया एवं बल्ख तथा समरकन्द के नगरों में जैनधर्म के केन्द्र पाए गये हैं, जहां से अहिंसा का प्रचार होता था।[6] चीन से भी भारतवर्ष का अहिंसा और

१. वही, पृ० ५१७।

२, देखिए, डा० अ० स० अल्तेकर का लेख "राष्ट्रकूटकाल में जैनधर्म," प्रकाशित "वर्णी अभिनन्दन ग्रन्थ," तथा "अनेकान्त" १२,६

३. देखिए, द एज आव इम्पीरियल कन्नौज, पृ० २८८।

४. हुएनत्सांग का भारत भ्रमण, प्रयाग, पृ० ३७।

५. हुकुमचन्द अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ३७४।

६. साइन्स आव कम्पेरेटिव रिलीजियस, १९९७, परिचय, पृ० ८-३३।

शांति का सम्बन्ध रहा है। प्राचीन काल में दो जैन व्यापारियों का चीन से धार्मिक सम्बन्ध रहा है।[1] बुद्ध काल में निगण्ठों (जैनों) के मुख्य केन्द्र वैशाली और नालन्दा थे। राजगृह, कालशिला और इसिगिलि पर्वत पर उनके मुख्य वास-स्थल थे। अनेक महापुरुष श्रमणों के अनुयायी थे।[2] ई० पू० ३००–३०० ई० का तमिल साहित्य (संगम युग) जैन मुनियों का और धर्म का निदर्शक है। ई० पू० दूसरी-तीसरी शताब्दी के शिलालेखों से भी तमिल प्रदेश में जैन धर्म के व्यापक प्रचार होने के प्रमाण मिलते हैं।[3] प्राचीन समय में अफगानिस्तान, लंका नेपाल, तुर्किस्तान और मध्य एशिया में भी जैन धर्म के फैलने के उल्लेख मिलते हैं। ई० पू० १५०० से ई० पू० ८०० तक उत्तरी भारत में जैन धर्म खूब फल-फूल रहा था।[4] डा० जीमर के शब्दों में जैन धर्म ब्राह्मण आर्यों से उद्भूत न होकर उत्तरी-पूर्वी भारत का प्रागार्यकालीन उच्च वर्ग का धर्म है। ब्रह्माण्डविद्या और मनुष्यशरीररचनाशास्त्र में वह उससे प्राचीन है। इस प्रकार देश-विदेशों में जैन धर्म के प्राचीन होने और उसके प्रचार होने के कई प्रमाण मिलते हैं। जैन और जैनेतर पुराणों में भी इसके उल्लेख मिलते हैं। अतएव जैन धर्म तीर्थंकर पार्श्वनाथ या महावीर के समय से ही नहीं प्राग्वैदिक काल से प्रचलन में रहा है और देश विदेश के विद्वान् तथा धनी मानी लोग इसके मानने वाले रहे हैं।

जैन धर्म के विश्वव्यापी सिद्धान्त—

अशोक की भांति ईरान के शाह दारा ने अपनी प्रजा के लिए पाषाणों पर अहिंसा के पालन का आदेश अंकित कराया था। आज भी वह लेख तख्ते जमशेद नाम के स्थान पर विद्यमान है।[5] हजरत मुहम्मद स्वयं शाकाहारी थे और वे प्राणी मात्र पर दया भाव रखते थे। कुरान में भी अहिंसा को श्रेष्ठ धर्म कहा गया है। मध्यकाल में जैन दार्शनिकों का एक संघ बगदाद में जम गया था, जिसके सदस्यों ने वहां पर करुणा और दया तथा त्याग एवं वैराग्य की धारा प्रवाहित कर दी थी।[6] प्राचीन अमेरिका से भी भारतवर्ष का सम्पर्क रहा है। इंका लोगों के समान ही अजटेक लोग भी भारतीय संस्कृति के मानने वाले थे। अहिंसा के तो कट्टर अनुयायी थे।[7] अमेरिका के अरिजोना नामक प्रदेश में "होपि" नाम से प्रसिद्ध लोग हमें प्राचीन अमेरिका की अहिंसक संस्कृति का स्मरण

---

१. श्री अगरचन्द नाहटा का लेख "दो जैन व्यापारियों का चीन से सम्बन्ध," वीर, २३ । १३

२. भरतसिंह उपाध्यायः बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, द्वितीय भाग, पृ० ८३६ ।

३, डी० जी० महाजन द्वारा लिखित "द फारगाटन जैन हैरिटिज आव द तमिल लेण्ड इन द एन्सियेन्ट द्रविड़ देश" (२००० ई० पू० १२५० ई०), प्रकाशित "जैन भारती," शोधांक, पृ० २३ ।

४. डा० कामता प्रसाद जैन का लेख "जैनिज्म एब्राड एण्ड इट्स युनिवर्सलिटी," जैन भारती, पृ० ४६ ।

५. डा० कामता प्रसाद जैन द्वारा लिखित "विदेशी संस्कृतियों में अहिंसा" शीर्षक लेख, प्रकाशित "गुरूदेव श्री रत्नमुनि स्मृति ग्रन्थ," पृ० ४१३ ।

६. वही, पृ० ४१३ ।

७, वही, पृ० ४१७ ।

दिलाते हैं। लगभग पांच हजार होपि लोगों के देवता "मासउ" (महान् आत्मा) अहिंसा के अवतार थे। उन्होंने प्राणी मात्र पर दया तथा करुणा करने का उपदेश लोगों को दिया था।[1] पश्चिमी एशिया के अत्तिस सीरिया के एडोनिस की भांति वनस्पति के देवता कहे जाते हैं।[2] यद्यपि उसे जादुई के देवता के रूप में माना गया है पर उसके अहिंसक होने का पता लगता है। इस प्रकार कई देशों में अहिंसामूलक संस्कृति का प्रचार अत्यन्त प्राचीन काल में रहा है।

भारतीय संस्कृति और विशेष कर श्रमण संस्कृति अत्यन्त प्राचीनकाल से त्याग, तपस्या और अहिंसामय रही है। यह वैदिक (ब्राह्मण) और बौद्ध दोनों से भिन्न रही है। वेदों में यज्ञ को ही परम तप और कर्म माना है। गीता कर्म करने के लिए प्रेरित करती है। परन्तु जैन और बौद्ध कर्म को, सांसारिक प्रपंच कह कर उसकी निन्दा करते हैं। जैनऋषि शुद्धि रहने में नहीं शुद्ध होने में विश्वास करते हैं। जिस प्रकार मदिरा की मादकता से मन और बुद्धि अपने वश में नहीं रहते उसी प्रकार मोह और अज्ञान के वश में होकर मनुष्य अपने अधीन नहीं रह पाता। जैन धर्म सब तन्त्रों से स्वतन्त्र होने की शिक्षा देता है। स्वतन्त्रता प्राप्ति ही मनुष्य जीवन का परम पुरुषार्थ है। यह परम पुरुषार्थ हमें अहिंसा के द्वारा उपलब्ध होता है। अहिंसा की जितनी सूक्ष्मता एवं बारीकियों का जैन शास्त्रों में वर्णन तथा विवेचन मिलता है उतना संसार के किसी धर्मशास्त्र में नहीं मिलता। अहिंसा के बाहरी और भीतरी भेदों का बहुत विस्तृत विवेचन जैनागमों में किया गया है। और अहिंसा के पालने के लिए कई व्रत, नियम एवं श्रेणियां निर्धारित की गई हैं। वस्तुतः पूर्ण अहिंसक बनना बहुत ही कठिन एवं असंभव सा जान पड़ता है। किन्तु जैनाचार्यों ने अहिंसा के जिन सोपानों का प्रतिपादन किया है यदि व्यक्ति उन पर जीवन-रथ को संयम के साथ चलाये तो वर्षों की साधना के उपरान्त पूर्ण अहिंसक बन सकता है और कर्मों के बन्धनों को काट कर मुक्ति या निर्वाण लाभ कर सकता है। मुख्य रूप से जैन धर्म के विश्वव्यापी सिद्धान्त निम्न-लिखित हैं—(१) अहिंसा (२) संयम और (३) वैराग्य। नीति एवं आचार के धरातल पर सर्वोदय एवं साम्यवाद का प्रचार परवर्ती विकास था, जिसने धर्म और समाज को एक नया आलोक प्रदान किया था। विभिन्न सम्प्रदाय और धर्मों के विरोध तथा संघर्षों के संक्रान्तिकाल में अनेकान्त जैसे सर्वसहिष्णु तथा अन्तर्विरोध शामक सिद्धान्त का प्रचलन हुआ था।

मानव का मूल धर्म—

श्रमण संस्कृति का यह प्राण तत्व है कि मानव का मूल धर्म अहिंसा है। अहिंसा व्यक्ति की भीरुता शिथिलता या समाज के भय का परिणाम न होकर मोह की अनासक्ति और सच्चरित्र की निष्ठा एवं अभय की राष्ट्रव्यापिनी शक्ति है जो प्रेम और शांति को जन्म देती है। इसलिए अहिंसा हमें कायर और डरपोक नहीं बनाती। वह हमें मोह और स्वार्थ को जीतने के लिए उत्साहित और प्रेरित करती है। उसमें क्षात्रधर्म का दर्प और तेज है। जैनों के व्यवहार में ऐसी अहिंसा का सर्वथा विरोध किया है जो डर के मारे अपने या दूसरे के प्राण लेने का पाठ सिखाती हो। व्यक्ति, स्थान, समय और भावों के अनुसार अहिंसा के विविध स्तरों का धर्मशास्त्रों में स्पष्ट विवेचन मिलता है। जैन धर्म के सभी तीर्थंकर क्षत्रिय एवं राजपूत थे।

---

१. वही, पृ० ४१७।

२. जे० जीं० फ्रेजर : द गोल्डन वाउ (संक्षिप्त संस्करण), लन्दन, १९५४, पृ० ३४७।

उन्होंने अपने जीवन में कई युद्ध किये थे। उनकी सफलता और विफलता का राज एवं रहस्य उन्हें ज्ञात था। अपने अनुभव के आधार पर उन्होंने जिस आर्ष सत्य का निर्वचन किया था वही धर्म की पोथियों में आज तक सुरक्षित है।

जैनधर्म किसी व्यक्ति विशेष का धर्म नहीं है-

जिस प्रकार शिव के नाम पर शैवधर्म, विष्णु के नाम पर वैष्णव धर्म और बुद्ध के नाम पर बौद्ध धर्म प्रचलित है उसी प्रकार जैन धर्म किसी व्यक्ति विशेष के नाम पर प्रचलित नहीं है और किसी व्यक्ति विशेष का धर्म नहीं है। इसे महावीर या पार्श्वनाथ या ऋषभदेव का धर्म कहीं नहीं कहा गया है। यह आर्हन या जिन धर्म है। आर्हत का मतलब है जिसने सांसारिक काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि अन्तरंग के विकारी शत्रुओं को जीत लिया है उसको मानने वाले। "जिन" का अर्थ है जिसने मन और इन्द्रियों को वश में कर लिया है ऐसा परमयोगी। और उसके मत को मानने वाले जैन हैं। जैनों का मूल मन्त्र है–अरिहन्तों को नमस्कार हो, सिद्धों को नमस्कार हो, आचार्यों को नमस्कार हो, उपाध्यायों को नमस्कार हो और लोक के सब साधुओं को नमस्कार हो। इस मंत्र में न तो महावीर की स्तुति है और न किसी अन्य तीर्थंकर या ईश्वर की। क्योंकि जैन परम्परा व्यक्तिवादी नहीं है। वह व्यक्ति विशेष की पूजा में विश्वास नहीं करती। उसका स्पष्ट अभिमत है कि मनुष्य अपनी शक्ति का विकास करके स्वयं मानव से भगवान् बन सकता है। भगवान् बनने के लिए पहले उसे मानव बनना होगा। मानव-धर्म ही श्रेष्ठ और सच्चा है। जो मानव नहीं है वह अहिंसक कैसे हो सकता है? अहिंसा मानव-सभ्यता का ही तो पाठ पढ़ाती है। मानव के इस विकास के लिए किसी दैवी या ईश्वरी शक्ति को मानना बहुत ही अवैज्ञानिक है। किसी असाधारण घटना या शक्ति का कारण ईश्वर को मान बैठना हमारे नैतिक और वैज्ञानिक जीवन की सबसे बड़ी दुर्बलता है। उससे हमारी प्रगति में बहुत बड़ी बाधा आती है। हमारे भीतर परतन्त्रता की भावना जन्म लेती है। हम सामाजिक रूढ़ियों और भगवान् की भक्ति के गुलाम बन जाते हैं। अहिंसा परतन्त्रता मिटाती हैं। परतन्त्रता हिंसा है। किसी को परतन्त्र बनाने की अपेक्षा स्वयं परतन्त्र होना कहीं बड़ी हिंसा हैं। बाहर के संसार में उतर कर भीतरी उन्नति करना ही अहिंसा का मुख्य लक्ष्य है। जब तक खुदी नहीं मिटेगी तब तक खुदा नहीं बन सकते। तीर्थंकर महावीर का कथन है कि जो हम कहते हैं उसे बिलकुल ठीक मान कर नहीं चलना। उसकी पहले परीक्षा और जांच कर लो। तुम्हारी विवेक की कसौटी पर और व्यवहार की जांच पर जो सही उतरे उसे ही विश्वास के साथ मानना। सही विश्वास, सही ज्ञान और सही चरित्र तीनों ही मिल कर मुक्ति के निकट पहुँचा सकते हैं। जैन बनने के लिए किसी को दीक्षित होने की आवश्यकता नहीं है। यह जान लो और मान लो कि हम परतन्त्रता की कैद में हैं। हम में इतनी शक्ति है कि हम सम्यक् दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक् चारित्र से इस परतन्त्रता से मुक्त हो सकते हैं। जैसे ही आपने आत्मा को जान और मान लिया वैसे ही आप जैन हो गये।

इस प्रकार की उदारता और उदात्तता अन्य धर्म एवं सम्प्रदायों के मूल में नहीं लक्षित होती है। यह जैन धर्म की ही विशेषता है जिसमें महावीर जैसे क्रांतिकारी युग-पुरुष ने जन्म लेकर युग का प्रवर्तन किया था और अहिंसामयी परम धर्म से देश-देशान्तरों में नई जागृति उत्पन्न कर दी थी। युग-युगों में धर्म की देशना के अनुरूप इसमें जो परिवर्तन और विकास हुआ है उसका महत्वपूर्ण अंश आज भी आगम ग्रन्थों में सुरक्षित है। व्रत-नियमों की महत्ता, चित्त की शुद्धि एवं संस्कार, आत्मा का गुणस्थान पर आरोहण, जन्म-जन्मान्तरों तक कर्म-

शृंखलाओं का प्रवर्तन आदि अनेक आध्यात्मिक एवं व्यावहारिक धर्म नियमों से समाविष्ट यह धर्म जन-जन के लिए श्रेयस्कर मार्ग को प्रकाशित करता रहा है। अपने आप के समान संसार को देख मान कर चलने का सन्देश यह युग-युगों से देता आ रहा है। और यही कारण है कि आज भी हम इस धर्म के सम्बन्ध में "जियो और जीने दो" का सिद्धान्त पूर्णरूपेण चरितार्थ देखते हैं।



उद्घाटित नवद्वारे पंजरे विहगोऽनिलः।
यत्तिष्ठति तदाश्चर्यः प्रयाणे विस्ममः कुतः।

अर्थात्—इस नो द्वार वाले शरीर रूपी पींजरे में आत्मा रूपी पक्षी जो ठहरा हुआ है यह ही आश्चर्य का विषय है। इसमें से इसके निकल जाने पर अर्थात् मृत्यु हो जाने पर तो आश्चर्य ही क्या है।

बीसवीं सदी विक्रमी के जैन संत-योगी श्रीमद् राजचंद्रजी

श्री कस्तूरमल बांठिया

भारतभूमि संतों और योगियों का जननी है। प्रत्येक सदी में यहां संत और योगी हुए हैं, कभी अधिक तो कभी कम। बीसवीं सदी विक्रमी के उपरोक्त संत-योगी के सम्बन्ध में महात्मा गांधी ने अपनी 'आत्मकथा' में स्वीकार किया है 'मेरी कठिनाइयां गंभीर थी। 'ईसामसीह ही एक ईश्वर के पुत्र हैं, उन्हें जो मानता है वही तरता है,' यह बात मेरे गले नहीं उतरी। पर जैसे मैं ईसाई धर्म को स्वीकार न कर सका, वैसे हिन्दूधर्म के संपूर्ण अथवा सर्वश्रेष्ठ होने का भी मैं उस समय निश्चय नहीं कर पाया।''''वेदों के ही ईश्वर प्रणीत होने का क्या अर्थ है? वेद ईश्वर प्रणीत हैं, तो बाईबिल और कुरान क्यों नहीं हैं ?''''''' मैंने अपनी कठिनाइयां रायचंदभाई के सामने रखी। हिन्दुस्तान के अन्य धर्मशास्त्रियों के साथ भी पत्र व्यवहार आरम्भ किया। उनके उत्तर आए। रायचन्दभाई के पत्र से मुझे कुछ शांति मिली। उन्होंने मुझे धीरज रखने और हिन्दू धर्म का गंभीर अध्ययन करने की सलाह दी उनके एक वाक्य का भावार्थ था—निष्पक्ष रूप से विचार करने पर मुझे यह प्रतीति हुई है कि हिन्दूधर्म में जैसे सूक्ष्म और गूढ़ विचार है, आत्मा का जैसा निरीक्षण है, दया है, वैसा दूसरे धर्म में नहीं है।

गांधीजी ने अन्यत्र उसी 'आत्मकथा' में कहा है, "यद्यपि मैं उस समय अपना रास्ता नहीं पहचान पाया था, यह भी नहीं कहा जा सकता कि मुझे साधारणतः धर्म-चर्चा में रस था, फिर भी रायचन्दभाई की धर्मचर्चा में मुझे रस आता था। उसके बाद अनेक धर्माचार्यों के सम्पर्क में आने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ। हर धर्म के आचार्यों से मिलने का प्रयत्न मैंने किया है, पर जो छाप मुझ पर रायचन्दभाई ने डाली, वह दूसरा कोई न डाल सका। उनके बहुतेरे वचन सीधे मेरे अन्तर में उतर जाते। उनकी बुद्धि के लिए मेरे मन में आदर था। उनकी सचाई के लिए भी उतना ही आदर था और इसलिए मैं जानता था कि वह जानबूझकर मुझे गलत रास्ते पर न ले जाएंगे और जो उनके मन में होगा वही कहेंगे। इससे अपने आध्यात्मिक संकट में मैं उनका आश्रय लिया करता था।"

रायचन्दभाई के विषय में उपरोक्त भाव रखते हुए भी गांधीजी यह कहें कि "मैं उन्हें धर्मगुरू के रूप में अपने हृदय में स्थान नहीं दे सका" और यह भी कि "मेरे जीवन पर मुख्य रूप से श्रीमद् रायचन्द की छाप पड़ी है। महात्मा तालस्ताय और रस्किन की अपेक्षा भी श्रीमद् रायचन्द ने मुझ पर गहरा प्रभाव डाला है," तो परम विचारशील पाठक तक भी उलझन में पड़ जाए तो क्या आश्चर्य ? परन्तु यह उलझन उस समय सुलझ जाती है जब हमें गांधीजी का धर्मगुरू और शिष्य दोनों का मापदंड उन्हीं के शब्दों में यों मिल जाता है कि "हिन्दूधर्म में गुरूपद को जो महत्व दिया है

उसे मैं मानता हूं। 'गुरू बिन ज्ञान न होय' यह वचन बहुत अंशों में सही है। अक्षर-ज्ञान देनेवाले अधकचरे शिक्षक से काम चलाया जा सकता है, पर आत्म दर्शन करानेवाले अपूर्ण शिक्षक से नहीं चलाया जा सकता गुरूपद तो सम्पूर्ण ज्ञानी को ही दिया जा सकता है। गुरू की खोज में सफलता समाई हुई है। क्योंकि शिष्य की योग्यतानुसार ही गुरू मिलता है। इसका अर्थ यह है कि योग्यता प्राप्ति के लिए पूर्ण प्रयत्न का प्रत्येक साधक को अधिकार है। इस प्रयत्न का फल ईश्वर के अधीन है।

गांधीजी की धर्मगुरू और शिष्य दोनों की ही कसोटी बड़ी कड़ी थी और वे अपनी योग्यतानुसार धर्मगुरू की खोज अंत तक करते रहे थे जो उन्हें नहीं मिला। श्रीमद् तो सं० १९५६ (सन् १९०० ई०) में ही दिवंगत हो गए जब कि गांधीजी दक्षिण अफ्रीका में अपने आपको खोजते हुए सर्वधर्म अध्ययन भी पूरा नहीं कर पाए थे। श्रीमद् ने उन्हें 'पँचीकरण', मणिरत्नमाला', योगवाशिष्ठ का 'मुमुक्षु प्रकरण' हरिभद्रसूरि का 'षड्दर्शन समुच्चय' आदि आदि, उनकी शंकाओं का अफ्रीका से पत्र मिलते ही, भेज दिए थे, परन्तु उनका लिखकर समाधान तो कुछ समय बाद तभी किया जब कि गांधीजी का वहाँ से देश को लौटना स्थगित हो गया था। उन्होंने समाधान-पत्र में लिखा कि 'लेख द्वारा बहुत से उत्तरों का समझाना कठिन था, और तुम्हें पत्र के तुरत ही न मिल सकने के कारण तुम्हारे चित्त में जो आतुरता उत्पन्न हुई, वह समागम होने पर उत्तर को तुरत ही समझ सकने के लिए एक श्रेष्ठ कारण मानने योग्य था। अब प्रारब्ध के उदय से जब समागम हो तब कुछ भी उस प्रकार की ज्ञान-वार्ता होने का प्रसंग आवे, यह आकाँक्षा रखकर संक्षेप में तुम्हारे प्रश्नों का उत्तर लिखता हूं। इन प्रश्नोत्तरों का विचार करने के लिए निरन्तर तत्सम्बन्धी विचार रूप अभ्यास की आवश्यकता है। वह उत्तर संक्षेप में लिखा गया है, इस कारण बहुत से संदेहों की निवृति होना तो कदाचित् कठिन होगा तो भी मेरे चित्त में ऐसा रहता है कि मेरे वचनों में तुम्हें कुछ भी विशेष विश्वास है, इससे तुम्हें धीरज रह सकेगा, और वह प्रश्नों के यथा योग्य समाधान होने का अनुक्रम से कारणभूत होगा, ऐसा मुझे लगता है।

इस समाधान पत्र का अंत श्रीमद् ने इस प्रकार किया था—"अब सक्षेप में इन उत्तरों को लिखकर पत्र समाप्त करता हूं। षड्दर्शनसमुच्चय के समझने का विशेष प्रयत्न करना। मेरे इन प्रश्नोत्तरों के लिखने के संक्षेप से तुम्हें इनका समझना विशेष आकुलताजनक हो, ऐसा यदि जरा भी मालूम हो, तो भी विशेषता से विचार करना, और यदि कुछ भी पत्र द्वारा पूछने योग्य मालूम दे तो यदि पूछोगे तो प्राय: करके उसका उत्तर लिखूंगा। विशेष समागम होने पर समाधान होना अधिक योग्य लगता है।"

पत्र से लम्बा अवतरण यहां इसलिए देना उचित मालूम हुआ कि श्रीमद् के किसी भी जिज्ञासु के धर्मगुरु बनने का कोई भी संकेत मिले। समागम का तो ऐसा अर्थ खींचतान करके भी नहीं लगाया जा सकता है। वैराग्यवान हो, उसका समागम कितनी ही तरह से आत्मभाव की उन्नति करता है। सिर्फ ऐसे समागम को ही श्रीमद् चाहते थे और तरह का नहीं।

प्रकाश तक में आने का अनिच्छुक धर्मगुरु बनने का कैसे इच्छुक होगा?

श्रीमद् ने १९४८ में श्री अम्बालाल लालचन्द का जिनका श्रीमद् से सं० १९४६ से परिचय बढ़ता ही गया था और जिनसे श्री सौभाग्य से दूसरे नंबर में उनका पत्र-व्यवहार होता रहता था, लिखा था कि एक बात स्मृति में रहे इसलिए कह देते हैं कि "परमार्थ प्रसंग में अभी हमने प्रकट रीति से किसी

का भी समागम करने का नहीं रखा है। ईश्वरेच्छा वैसी मालूम होती है।" इसी तरह से सं० १९५५ में जब कि श्रीमद् उनके भक्तों की दृष्टि में 'वेदांतादि दर्शन, वीतरागमार्ग पर्यालोचना की संपूर्ण निर्धाररूप' अवस्था में रहते थे, उनके भक्तों ने प्रार्थना की कि 'आप जैसे समर्थ पुरुष से लोकोपकार हो, ऐसी इच्छा का रहना स्वाभाविक है।" श्रीमद् प्रश्नकर्त्ता से उत्तर में पूछने लगे कि "लोकानुग्रह अच्छा और आवश्यक है अथवा आत्म हित?" प्रश्नकर्ता ने जब दोनों ही आवश्यक बताए तो श्रीमद् ने "कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य जैसे भाग्यवान, महात्म्यवान, क्षयोपशमवान ही कर सकते हैं। जुदे-जुदे दर्शनों को यथावत् तोलकर अमुक दर्शन संपूर्ण सत्यस्वरूप है, जो ऐसा निश्चय कर सके, ऐसा पुरुष ही लोकानुग्रह परमार्थ प्रकाश और आत्म समर्पण कर सकता है। श्री आनन्दघनजी ने स्वपर-हितवुद्धि से लोकोपकार-प्रवृत्ति आरम्भ की। आत्महित गौण किया। परन्तु वीतरागधर्म-विमुखता इतनी अधिक बढ़ गई थी कि लोग उन्हें समझ नहीं सके। इसलिए अन्त में वे लोकसंग को छोड़कर वन में चल दिए और पदों एवम् चौवीसी द्वारा, अप्रगट रहकर, लोकानुग्रह करते रहे और आत्महित में लग गए। इस समय तो आनन्दघनजी के समय से भी अधिक विषमता-वीतरागमार्गविमुखता व्याप रही है" भक्त को समाधान कर दिया था।

सद्गुरु के लक्षण

फिर गांधीजी की अपेक्षा भी सद्गुरु की कसौटी श्रीमद् की कठोर थी। उन्होंने 'सद्गुरुतत्व' का विचार करते हुए, साढ़े सोलह वर्ष की उम्र एवं तीन ही दिन में रचित १०८ पद्य-गद्य पाठ वाली अपनी 'मोक्ष माला वालावबोध' के ११वें पाठ में लिखा है कि "गुरु तीन प्रकार के होते हैं काष्ठस्वरूप, कागजस्वरूप और पत्थर स्वरूप काष्ठ स्वरूप गुरु सर्वोत्तम है। क्योंकि संसार रूपी समुद्र को काष्ठस्वरूप गुरु ही पार होते हैं और दूसरों को पार कर सकते हैं। तत्वज्ञान के भेद, स्वस्वरूप भेद, लोकालोक विचार, संसार स्वरूप यह सब उत्तम गुरू के बिना नहीं मिल सकता। ऐसे गुरू के कौन कौन से लक्ष्य हैं? सो कहता हूं। जो जिनेश्वर भगवान की कही हुई आज्ञा को जानें, उसको यथार्थ रूप में पालें, और दूसरों को उपदेश करें, कंचन और कामिनी के सर्वथा त्यागी हों, विशुद्ध आहार-जल लेते हों, बाईस प्रकार के परिषह सहन करते हों, क्षांत, दांत, निरारंभी और जितेन्द्रिय हों. सैद्धान्तिक ज्ञान में निमग्न रहते हों, केवल धर्म के लिए ही शरीर निर्वाह करते हों, निर्ग्रन्थ-पंथ को पालते हुए कायर न होते हों, सींक तक भी बिना दिए न लेते हों, सब प्रकार के रात्रि-भोजन के त्यागी हों, समभावी हों, और वीतरागता के सत्योपदेशक हों, संक्षेप में, उन्हें काष्ठस्वरूप सद्-गुरु जानना चाहिए। गुरू के आचार और ज्ञान के सम्बन्ध में आगम में बहुत विवेचना पूर्वक वर्णन किया गया है।"

फिर सं० १९५२ में 'आत्मसिद्धि' नाम की १४२ गाथाओं की स्वोपज्ञ विवेचन सहित रचना की १०वीं गाथा में थोड़े से शब्दों में सद्गुरु के लक्षण इस प्रकार बता दिए हैं।

आत्मज्ञान समदर्शिता, विचरे उदयप्रयोग।
अपूर्व वाणी परमश्रुत, सद्गुरु लक्षण योग्य॥

अर्थात् आत्मज्ञान में जिनकी स्थिति है, अर्थात् परभाव की इच्छा से जो रहित हो गए हैं, तथा शत्रु, मित्र, हर्ष, शोक, नमस्कार, तिरस्कार आदि भाव के प्रति जिनमें समता रहती है, केवल पूर्व में उत्पन्न हुए कर्मों के उदय के कारण ही जिनकी विचरण आदि क्रियाएं हैं, जिनकी वाणी अज्ञानी से प्रत्यक्ष भिन्न है और जो षड्दर्शन के तात्पर्य को जानते हैं, ये ही सद्गुरु के उत्तम लक्षण है।

सद्गुरु को उपरोक्त कसौटी पर कसनेवाले श्रीमद् ने सं० १९४४ याने वीस वर्ष की अवस्था

हैं जिसका देहान्त जेठ वद १० (गु०), १९५३ में हुआ था। सबसे पहला पत्र 'वावणिया', प्र० भाद्रपद वदी १३ शुक्र १९४६ (गु) का इस प्रकार है—

"क्षणमपि सज्जनसंगतिरेका,
भवति भवार्णवतरणे नौका"

"सत्पुरुषों का क्षणवार का भी समागम संसार-रूपी समुद्र को पार कराने में नौका रूप होता है। यह वाक्य महात्मा शंकराचार्यजी का है, और वह यथार्थ ही लगता है। आपने मेरे समागम से हुए आनन्द और वियोग में आनन्द दिखाया, वैसे ही आपके समागम के विषय में मुझे भी हुआ है। अन्तःकरण में निरन्तर ऐसा ही आया करता है कि परमार्थ रूप होना, और अनेक को परमार्थ साध्य करने में सहायक होना, यही कर्त्तव्य है तो भी ऐसा कुछ योग अभी वियोग में है। भविष्यज्ञान की जिसमें अवश्य है, उस वात पर अभी तो सही लक्ष नहीं रहा।"

गुजराती नया वर्ष कार्तिक शुक्ल १ से लगता है। कार्तिक शुक्ल ५ सोम, १९४७ को श्रीमद् ने नये वर्ष का पहला अपना पत्र श्रीसौभाग्य को बंबई से इस प्रकार लिखा—

"परमपूज्य-केवलबीज संपन्न-सर्वोत्तम उपकारी श्रीसौभाग्यभाई, मोरवी।

आपके प्रताप से यहां आनन्दवृत्ति है।

भगवान परिपूर्ण सर्वगुण सम्पन्न कहे जाते हैं, तो भी इनमें भी दोष कोई कम नहीं है! चित्र-विचित्र करना ही इनकी लीला है! अधिक क्या कहूं?

समस्त समर्थ पुरुष अपने आपको प्राप्त हुए ज्ञान को ही कह गए हैं। इस ज्ञान की दिन प्रति दिन इस आत्मा को भी विशेषता होती जा रही है। मैं समझता हूं कि केवल ज्ञान तक ही मेहनत करना व्यर्थ तो नहीं जाएगा। मोक्ष की हमें कोई आवश्यकता नहीं। निःशंकपने की, निर्भयपने की, निर्मोहपने की और निःस्पृहपने की आवश्यकता थी वह बहुतांश में प्राप्त हुई मालूम होती है। और पूर्णांश कराने की करुणासागर गुप्त रहे हुए की कृपा होगी ऐसी आशा रहती है। फिर भी इससे भी अलौकिक दशा की इच्छा रहती है, वहां विशेष क्या कहूं?

अनहद ध्वनि में कोई कमी नहीं, परन्तु गाड़ी घोड़े की उपाधि श्रवण का थोड़ा सुख देती है। निवृत्ति के सिवा यहां और सभी कुछ मालूम होता है। जगत को—जगत की लीला को बैठे बैठे मुफ्त में देखते हैं। आपकी कृपा चाहता हूं।

आज्ञांकित रायचंद का प्रणाम।

उपरोक्त दोनों पत्र इसलिए उद्धृत किए गए हैं कि श्रीमद् का श्री सौभाग्य को किया नमस्कार का मर्म हमें श्रीमद् का सूक्ष्मता से अध्ययन करने एवं उन्हें समझने की प्रेरणा दे।

इसी हाथनोंध में गद्य-पद्य कुल ८८ विचार नोंधे हुए हैं जिनमें से कई निरी एक पंक्ति मात्र के हैं तो एक ३६ कलम वाला "जैनमार्ग" विषयक है। तीन कविताएं हैं पहली हाथनोंध पृ० २९-३० पर, दूसरी पृ० ३५ पर और तीसरी पृ० ६३-६४ पर। तीसरी कविता का सम्बन्ध उक्त नमस्कार से है इसलिए यहां उद्धृत की जाती है—

"धन्य रे दिवस आ अहो"

धन्य रे दिवस आ अहो, जागी रे शांति अपूर्व रे,
दश वर्ष रे धारा उलसी, मट्यो उदयकर्मनो गर्व रे।
धन्य० ॥ १ ॥

ओगणीससे ने एकत्री से, आव्यो अपूर्व अनुसार रे,
ओगणीससे ने बेतालीसे, अद्भुत वैराग्य धार रे।
धन्य० ॥ २ ॥

ओगणीससे ने सुडतालीसे; समकित शुद्ध प्रकाश्युं रे,
श्रुत अनुभव वधती दशा, निजस्वरूप अवभास्युं रे।
धन्य० ॥ ३ ॥

त्यां आव्यो रे उदय कारमो, परिग्रह कार्य प्रपंच रे,
जेम जेम ते हडसेताए, तेम वधे न घटे रंच रे।
धन्य० ॥ ४ ॥

वधतुं एम ज चालियुं, हवे दीसे क्षीण कांई रे,
क्रमे करीने रे ते जशे, एम मासे मनमांही रे।
धन्य० ॥ ५ ॥

यथा हेतु जे चित्तनो, सत्य धर्मनो उद्धार रे,
थशे अवश्य आ देह थी, एम थयो निरधार रे।
धन्य० ॥ ६ ॥

आवी अपूर्व वृति अहो, थशे अप्रमत्त योग रे,
केवल लगभग भूमिका, स्पर्शीने देह वियोग रे।
धन्य० ॥ ७ ॥

अवश्य कर्मनो भोग छे, भोगववो अवशेष रे,
तेथी देह एकज धारीने, जाशुं स्वरूप स्वदेश रे।
धन्य० ॥ ८ ॥

एक प्रकार से इस कविता को हम श्रीमद् का स्वात्मवृतान्त कहेंगे कि जिसमें उन्होंने जन्म से लेकर मृत्यु तक की बात कह दी है।

श्रीमद् बिल्कुल साधारण गुजराती मात्र पढ़े थे। संस्कृत, प्राकृत अथवा अंग्रेजी भाषा का किताबी ज्ञान उन्होंने कोई भी प्राप्त नहीं किया था। स्मरण शक्ति उनकी चमत्कारिक थी जिसका बम्बई में प्रयोग दिखलाकर उन्होंने दिग्गज विद्वानों तक को चकित कर दिया था। वे आवश्यकता होने पर एक हजार श्लोक तक कंठाग्र कर सकते थे। फिर हमारे शास्त्रों की अर्धमागधी और प्राकृत भाषा सदा से ऐसी मानी जा रही है कि जिसे बाल स्त्री वृद्ध सभी आसानी से समझ सकें। फिर उसको समझना श्रीमद् के लिए कठिन क्यों होता? प्रज्ञा का उम्र से सम्बन्ध नहीं होता, ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से ही होता है जो अवसर आने पर स्वतः स्फूर्त होती है। गोलार्थ की सहायता की कोई अपेक्षा नहीं रखती।

श्रीमद् सम्प्रदायवाद से बहुत ही ऊपर थे। वे कहा करते थे कि 'मैं किसी गच्छ में नहीं आत्मा में हूं'। "जैनधर्म के आग्रह से ही मोक्ष है, इस मान्यता को आत्मा बहुत समय से भूल चुकी है।" "सब शास्त्रों को जानने का, क्रिया का, ज्ञान का, योग का और भक्ति का प्रयोजन निजस्वरूप की प्राप्ति करना ही है। चाहे जिस मार्ग से और चाहे जिस दर्शन से कल्याण होता हो तो फिर मतमतांतर की किसी अपेक्षा की शोध करना योग्य नहीं। मतभेद रखकर किसी ने मोक्ष नहीं पाया। इसलिए जिस अनुप्रेक्षा से, जिस दर्शन से और ज्ञान से आत्मत्व प्राप्त हो वही अनुप्रेक्षा, वही दर्शन और वही ज्ञान सर्वोपरि है। "आज आवश्यकता है कि हम निष्पक्ष होकर श्रीमद् के विचारों का अध्ययन करें। अपने जीवन में उतारें। पंडित गोपालदासजी बरैया तक श्रीमद् के ज्ञान से प्रभावित थे। तभी तो उन्होंने भूलेश्वर के दिगम्बर मंदिर में श्रीमद् को स्वाध्याय करते समय कहा कि "गोमट्टसार के अनुवाद में जो त्रुटियां मालूम देती हों, उन्हें सुधार दीजिए।" श्रीमद् ने यह मात्र कहकर कि 'हम तो शास्त्र मात्र आत्मा के लिए पढ़ते हैं,, बात समाप्त कर दी।

उपासनां नैव विना विवेकम्
विनागमं नैव विवेकभानुः
ततो विवेकाय सदागमानाम्
रहस्यलाभे सततोद्यमी स्याः ॥

अर्थात्—विवेक (भले बुरे का ज्ञान) के बिना उपासना नहीं हो सकती और विवेक रूपी सूर्य का उदय शास्त्रों के अध्ययन के बिना नहीं हो सकता। अतः विवेक प्राप्ति के लिये निरन्तर शास्त्रों का अध्ययन करो।

———

जैन ज्योतिष के प्राचीनतमत्व पर संक्षिप्त विवेचन

वैद्य प्रकाशचन्द्र पांड्या

जैनाचार्यों और जैन-विद्वानों द्वारा अपार-साहित्य का निर्माण हुआ है। उन्होंने दर्शन, व्याकरण, वैद्यक, ज्योतिष आदि विषयों में से किसी को भी अछूता नहीं छोड़ा। इसलिए जैन-साहित्य को सर्वांगपूर्ण कहा जाता है और वह मानव-जीवन को सुन्दर, सुखकर और जाज्वल्यमान बनाने में अग्रणी है।

जैनाचार्यों और विद्वानों ने आध्यात्मिक अथवा भौतिक से सम्बन्धित जिस साहित्य का निर्माण किया वह सब ज्योतिष शास्त्र के अन्तर्गत आ जाता है। वह साहित्य अति विशाल और बड़ा ही महत्व-पूर्ण है। अब तक किसी भी जैन विद्वान द्वारा हिन्दी में इसका क्रम-बद्ध इतिहास लिखने की ओर प्रयास नहीं किया गया। कुछ वर्षों पूर्व पं० श्री नेमिचंद्रजी शास्त्री ने अपनी भारतीय-ज्योतिष' नामक पुस्तक में जैन-ज्योतिष के सम्बन्ध में जो प्रकाश डाला है वह नितान्त अपर्याप्त है। वैसे तो मेरे खयाल से अभी तक 'भारतीय-ज्योतिष' के इतिहास पर भी किसी के द्वारा विस्तृत रूप से प्रकाश नहीं डाला गया है। गत ३ वर्षों से मैं भी इस सम्बन्ध में कुछ विस्तार से लिखने का प्रयत्न कर रहा हूं। प्रस्तुत लेख उस ही प्रयत्न का एक भाग है। यदि इसमें किसी भी दृष्टि से कोई त्रुटि विद्वान पाठकों को ज्ञात हो तो सूचित करने की कृपा करें। लेखक साभार उन पर विचार करेगा तथा आवश्यकता-नुसार अपने विचारों में सुधार करेगा।

ज्योतिष की परिभाषा और व्युत्पत्ति

मानव तथा ब्रह्माण्ड (समस्त-लोक) की सृष्टि या निर्माण के साथ ही ज्योतिष का प्रादुर्भाव हुआ। ज्योतिष-शास्त्र को 'ज्योति शास्त्र' भी कहते हैं, जिसका अर्थ होता है प्रकाश देने वाला या प्रकाश के सम्बन्ध में बतलाने वाला शास्त्र अर्थात् जो शास्त्र संसार (पूरे-लोक) का मर्म, जीवन-मरण का रहस्य और जीवन के सुख-दुःख के सम्बन्ध में प्रकाश डाले वह ज्योतिष शास्त्र कहलाता है।

'ज्योतिषां सूर्यादि ग्रहाणां बोधकं शास्त्रम्।'

की व्युत्पत्ति के अनुसार सूर्यादि ग्रह और काल के बोध कराने वाले शास्त्र को भी ज्योतिष-शास्त्र कहा है। अर्थात् ज्योतिष-शास्त्र के दो रूप माने जाते हैं (१) बाह्य (२) आभ्यंतरिक।

बाह्य-रूप में ग्रह, नक्षत्र, धूम-केतु, आदि ज्योतिः पदार्थों का स्वरूप, संचार, परिभ्रमणकाल, ग्रहण और स्थिति प्रभृति समस्त घटनाओं का निरूपण एवं ग्रह, नक्षत्रों की गति, स्थिति और उनके संचारानुसार शुभाशुभ फलों का कथन किया जाता है।

आभ्यंतरिक रूप में समस्त भारतीय-दर्शन आ जाता है। प्रायः सभी भारतीय दार्शनिकों ने आत्मा को अमर माना है उनके मतानुसार उसका कभी नाश नहीं होता। कर्मों के अनादि-प्रवाह के कारण केवल उसकी पर्यायों में परिवर्तन होता रहता है।

जैन दर्शन और उसके समस्त साहित्य का निर्माण इसी सिद्धान्त की भित्ति पर हुआ है।

जैन ज्योतिष की सर्व-प्राचीनता पर संक्षिप्त विवेचना :—

वैसे तो जैन-ज्योतिष का प्राचीनतमत्व उसके सिद्धांतों से ही सिद्ध है। यह दर्शन ऐसा मानता है कि यह संसार अनादि अनन्त है। इसका कभी न अंत हुआ है और न भविष्य में होगा। यह अनादि से ऐसे ही चला आ रहा है। यह दर्शन यह भी मानता है कि संसार में न कोई नवीन-वस्तु उत्पन्न होती है और न किसी का विनाश ही होता है। केवल वस्तुओं या जीवों की पर्यायें बदला करती हैं। आज का वैज्ञानिक भी पदार्थ को कभी नष्ट न होने वाला मानता है। इस सिद्धांत से यह सिद्ध हो जाता है कि इस सृष्टि का विनाश पूर्णत: कभी नहीं होता, वल्कि उसका रूप समय के अनुसार वदला करता है। पर्याय-परिवर्तन में उसका वाहरी रूप, कार्य तथा शैली आदि अथवा जीव की योनि का आता है। अतः जीव अथवा प्राणी के साथ ज्योतिप-विपयक स्थान, दिक्, काल भी कभी नष्ट नहीं होते क्योंकि इन तीनों की जानकारी विना प्राणी की आवश्यकता की पूर्ति नहीं होती और उनके जीवन का कार्य चल नहीं सकता। किन्तु, दिन और रात का, आदि मानव से सम्वन्ध नहीं रहा। क्योंकि, आदि समय में सूर्य और चन्द्रमा का वोध मानव को नहीं था और यदि वोध था भी तो वे मानव को दिखलाई नहीं पड़ते थे या मानव-आवश्यकता की पूर्ति वैसे ही हो जाने से उस ओर उसका ध्यान ही नहीं गया था। यह समय जैन-मान्यता के अनुसार तीसरे काल के अंतिम-पाद से पूर्व था। उस समय पृथ्वी स्वयं प्रकाशमान् थी। इस पृथ्वी का ही प्रकाश इतना था कि उसके प्रकाश से सूर्य और चन्द्रमा के दर्शन ही नहीं होते थे या उनका अस्तित्त्व नहीं था या सूर्य, चन्द्र और पृथ्वी का एक ही रूप था। चाहे कुछ भी रहा हो, किंतु यह तो निश्चित है कि किसी समय आज की पृथ्वी सूर्य के समान तेजस्वी थी। आज के ज्योति-विशारद भी किसी समय सूर्य और पृथ्वी का एक ही रूप मानते हैं और यह भी मानते हैं कि पृथ्वी सूर्य से उत्पन्न हुई।[1]

अतः पृथ्वी के उस तेजस्वी प्रकाशमान युग में मानव रात-दिन का भेद, अंधकार, गरमी व शीत की वेदना आदि नहीं जानता था। उस समय का मानव 'निराकुल सा रहकर आनन्द भोग-भोगता था। उस समय किसी भी प्रकार की विषमताएं नहीं थी। एक विशेप प्रकार के वृक्षों से जिन्हें 'कल्प वृक्ष' कहा जाता है, वे अपना जीवन-निर्वाह करते थे।' जैन-मान्यता के अनुसार वह भोग-भूमि का समय था। ऐसी ही आनन्द-स्थिति का वर्णन आदि मानव के लिए प्रायः सभी अजैन विद्वानों एवं धर्म गुरुओं ने किया है। उन सवकी प्रायः यही मान्यता है कि आदि-मानव वड़ा सुखी था और पेड़-पौधों से अपना जीवन-निर्वाह करता था। 'महाभारत' गोखले, ऐंशियेन्ट इण्डिया पृ० ६८ में, और वौद्धों के 'दीघ निकाय' में भी आदि-मानव को धर्मात्मा और सुखी माना है और उसे स्वर्णकाल (Golden Age) कहा है। चीन देश के महान् संत 'लाउत्से'[2] की, यहूदी और ईसाई लोगों की,

---

१. ज्योतिप-विज्ञान 'पृथ्वी का आरंभ और अन्त' शीर्पक लेख अंक १ वर्ष २ सन् ६० श्री सूर्य नारायण व्यास ज्योतिपाचार्य पृ० ७–८

२. वल्लड, दी-पाकेट, वर्ल्ड वाईविल पृ० ५२९–५३०

योग-साधना के द्वारा यह सब ज्ञात कर लिया होगा और जान लिया होगा कि इस परिवर्तन (प्रलय) में कोई भी जीव जन्तु सुरक्षित नहीं रह सकेंगे। किंतु, जो मनीषी थे-जो प्रजा का पालन-पोषण करने वाले या बड़े माने जाने वाले लोग होंगे, उनको बचाना आवश्यक समझा गया होगा और ऐसा स्थान भी ज्योतिष-ज्ञान या योग-ज्ञान द्वारा सोच और समझ लिया होगा, जहां उनको ले जाने या पहुँचने पर वे सुरक्षित रह सकें। इसी आधार पर सुरक्षित वस्तु (नाव या किश्ती) बनाई गई होगी और प्रलय से पूर्व उसमें बैठकर वहां पहुँचा दिया गया होगा! चाहे कुछ भी रहा हो पर, यह निश्चित है कि उस मनु का जैन-कुलकर (मनु) से, जो ज्योतिष-विषयक ज्ञाता थे, सम्बन्ध किसी न किसी प्रकार अवश्य रहा है।

उस मनु को आज के वैज्ञानिक अब आदि-मानव नहीं मानने लगे हैं, जैसाकि अब तक मानते आये थे और न आदि-जीव ही! अभी हाल ही में आविष्कृत-पौटेशियम-आरगन काल निर्धारण विधि से एक प्राचीन चट्टान में छिपी 'मानव-खोपड़ी' का काल निर्धारण किया गया तो वह १७ लाख ५० हजार वर्ष पूर्व की मानव-खोपड़ी बतलाई जाती है और ३ अरब वर्ष पूर्व पुरानी चट्टानों में जीव अवशेष पाये हैं।[1] इससे यह भी सिद्ध होने लगा हैं कि मनु से पहिले मानव अवश्य था और वह समय शायद जैन 'भोग-भूमि' का रहा हो।

लगध मुनि का 'ज्योतिष-वेदांग' हिन्दी ज्योतिष विज्ञान का प्रचीनतम ग्रंथ माना जाता है। उसमें केवल सूर्य और चन्द्रमा की गतियों का ही विचार किया गया है। उनकी उत्पत्ति पर नहीं![2] उसमें अन्यान्य ग्रहों की चर्चा भी नहीं है। जैन-ग्रंथ 'यति-वृषभ' का 'तिलोय पण्णत्ती', सूर्य-प्रज्ञप्ति, और चन्द्र-प्रज्ञप्ति आदि ग्रंथों में जो वैदिक-ग्रंथों के समय से अवश्य कुछ बाद के हैं उनमें सामान्य जगत स्वरूप, नारक लोक, भवनवासी लोक, मनुष्य लोक, व्यंतर लोक, ज्योतिलोक, सुरलोक और सिद्ध लोक आदि का विस्तार से वर्णन किया गया है। यदि जैन 'करणानुयोग' ग्रंथ या प्राकृत 'लोक-विभाग' ग्रंथ उपलब्ध हो जाते तो इनकी प्राचीनता और भी सिद्ध हो सकती थी। क्योंकि, यति वृषभ का 'तिलोय पण्णत्ती' का आधार वही था और उस ग्रंथ समाप्ति के समय उत्तराषाढ-नक्षत्र में शनैश्चर वृषभ में वृहस्पति और उत्तरा-फाल्गुनि में चन्द्रमा था तथा शुक्लपक्ष का था। इससे यह तो पूर्णतः सिद्ध हो जाता है कि यति वृषभ के समय नक्षत्रों, राशियों और ग्रहों का पूर्ण विकास हो चुका था और मनुष्य शुभाशुभ के फल को ज्ञात कर दैनिक कार्यों के उपयोग में लेने लग गये थे।

पं० हजारी प्रसाद जी द्विवेदी ने अपने एक लेख में लिखा है कि 'तत्त्वार्थ' में (अ० ४ सू० १३—'ज्योतिष्काः सूर्याश्चंद्रमसौ ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णकतारकाश्च') सूर्य और चंद्रमा के साथ ग्रह नक्षत्र और प्रकीर्णक तारों का वर्णन है और भाष्य में एक एक चंद्रमा के अठासी अठासी ग्रहों का परिवार बतलाया है। परन्तु, उनके शनि, मंगल आदि नाम का उल्लेख नहीं है......सर्वार्थसिद्धि के रचना-काल तक इसका ज्ञान हो गया था।[3] किंतु,

१. देखिए—'दैनिक नव ज्योति' रविवारीय परिशिष्ट ६ सितम्बर '६६ अजमेर से प्रकाशित 'साढ़े सत्रह लाख वर्ष पुराना-मानव।'

२. 'भारतीय-संस्कृति का मेरुदण्ड ज्योतिष' शीर्षक लेख 'विश्व वाणी' इलाहाबाद। जनवरी १९४९ एवं 'भारतीय-विद्या (त्रैमासिक) के भाग ३, अंक १ का लेख पं० हजारी प्रसाद जी द्विवेदी।

३. 'जैन-साहित्य और इतिहास' —ले० नाथूराम प्रेमी पृ० ५४७

जैन साहित्य के प्राचीन से प्राचीनतम उपलब्ध साहित्य में रचनाकारों या आचार्यों ने प्रायः परम्परा से चला आया हुआ, का उल्लेख शुरु में में या अन्त में करते हुए ग्रंथ लिखा है और वह सब आध्यात्मिक-दृष्टि को रखते हुए लिखा। अतः वर्तमान उपलब्ध साहित्य के आधार पर ही यह निर्णय कर लिया जाय कि जैन-साहित्य में ज्योतिष का उल्लेख वेदों के बाद हुआ है-यह पूर्णतः अन्याय होगा।

ऋग्वेद को वेदांग-ज्योतिष में ही नहीं-विश्व के सबसे प्राचीन-साहित्य में गिना जाता है। उसमें भगवान ऋषभ या वृषभ का उल्लेख कोई बीसों जगह हुआ है और उनको पूर्णतः 'ज्योतिषो' बतलाया है—

'अं होत्रे पूर्व्यवचोऽग्नये भरता वृहत्।
विपी ज्योतिपी बिभ्रते न वेधसे ॥५॥७॥
ऋग्वेद मण्डल ३ अ० १ सू० १०

ऋग्वेद के उक्त मंडल के आगे पीछे के अन्य सूत्रों और प्रसंग को देखते हुए यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि ऋग्वेद की यह ऋचा ऋषभ या वृषभ के लिए ही रची गई है। जैन मान्यता के अनुसार भी इस प्रजा को चलाने वाला तथा ज्योतिष, गणित, व्याकरण आदि के ज्ञाता तीर्थंकर भ० ऋषभ या वृषभ ही रहे हैं। 'कल्प-वृक्ष' ऋषभ के पिता नाभिराय के समय से पूर्व 'मनु' के समय से नष्ट होने लग गये थे और ऋषभ के समय पूर्ण नष्ट हो चुके थे। भ० ऋषभ तब तक अपनी आत्म-साधना द्वारा कैवल्य प्राप्त कर चुके थे और उनको भूत भविष्य और वर्तमान का आत्म-ज्ञान हो गया था। इसीलिए जब 'कल्प-वृक्ष' के नष्ट होने पर प्रजा घबराई और उनका भरण पोषण कम होने लगा तो उन्होंने लोगों को ७२ विद्याएं और कलाएं सिखाई, जिनका आरम्भ लिपि विद्या से किया। इसमें ज्योतिष-विद्या भी एक विद्या थी। इसीलिए वैदिक ऋषि वृषभ को वदना करते हुए ऋग्वेद में लिखते हैं—

'आ नो गोत्रा दर्द्दहि गो पते गाः
समस्मभ्यं सु नयो यंतुवाजा।
दिवक्षा असि वृषभ सत्य शुष्मोऽस्मभ्यं
सु मघवन्बोधि गोदाः ॥ २१ ॥
ऋग्वेद, मडल ३ अ० २ सू० ३०

अर्थात् हे पृथ्वी के पालक देव! हमें नय-सहित वाणियों को प्रदान कर आदर युक्त बना, जिससे हम अपनी वृत्तियों और इंद्रियों को संयत रख सकें! हे वृषभ! तू सूर्य के समान सब दिशाओं में प्रकाशमान है और तू सत्य के कारण बलवान है! हे ऐश्वर्यमय मघवन्! हमें सुबोधि प्रदान कर!

बौद्धों के धर्मकीर्ति द्वारा रचित प्रख्यात ग्रन्थ 'न्याय-बिन्दु' में जैन तीर्थंकारों भ० ऋषभ और महावीर आदि को ज्योतिष-ज्ञान में पारगामी होने के कारण सर्वज्ञ लिखा है—

'यः सर्वज्ञ आप्तो वास ज्योतिर्ज्ञानादिकमुपदिष्टवान्। तद्यथा ऋषभ वर्धमानादिरिति।'

इस प्रकार जैनेतर साहित्य के अनुसार आदि ज्योतिषी भ० वृषभ या ऋषभ सिद्ध हो जाते हैं! जैन-पुराणों और कथाओं के आधार पर तो वे पूर्णतः ज्योतिषज्ञ ठहरते हैं! जिनसेनाचार्य के 'आदि-पुराण' के अनुसार जो हालांकि वेदों के बाद की रचना है, वृषभ या ऋषभ के पुत्र भरत को एक बार रात को सोलह स्वप्न आये थे और उन स्वप्नों का जब अर्थ भरत ठीक-ठीक लगाने में असमर्थ रहे, यद्यपि वे स्वयं ज्योतिर्विद् थे, फिर भी वे अपनी बेचैनी को शांत करने के लिए पिता के पास कैलाश पर्वत पर पहुंचे और उनसे उन स्वप्नों का अर्थ समझाने की प्रार्थना की। भ० ऋषभ ने उन स्वप्नों का जो स्पष्टीकरण किया और भविष्यवाणी की वह वास्तव में स्पष्ट कर देने

वाली है और यह सोचने और विचारने को बाध्य कर देने वाली है कि हजारों वर्षों पहिले ही स्वप्नों के आधार पर भविष्य-वाणी भारत में होनें लग गई थी । उनका वह स्वप्न-भविष्य कितना सत्य था आश्चर्य होता है। इन स्वप्नों का विस्तृत विवरण जिनसेनाचार्य कृत आदि-पुराण के अतिरिक्त आधुनिक जैन-विद्वान श्री कामताप्रसाद जैन द्वारा लिखित 'आदि तीर्थंकर भ० ऋषभ देव' नामक पुस्तक के पृष्ठ १०९ से ११६ तक में देखा जा सकता है ।

भ० ऋषभ द्वारा प्रतिपादित गाथा-बद्ध 'पूर्वों' की वाणी 'आगम' साहित्य के नाम से 'ऋग्वेद' और प्रागैतिहासिक काल में प्रसिद्ध था। ऋग्वेद के पिछले बतलाये हुए मण्डल ३ अ० १ सू० १० गाथा ॥५॥७॥ में इसीलिए उसी आगम का उल्लेख 'पूर्वस्य वचः' नाम से शायद किया गया है। डा० सुनीतिकुमार चटर्जी ने लिखा है कि प्राचीनकाल में 'निगम' और 'आगम' साहित्य का अस्तित्व भारत में रहा है। 'आगम' को वे 'वैदिक-साहित्य' से भिन्न और अज्ञात-काल से स्मृति में परम्परा द्वारा आया हुआ बताते हैं। उद्गम-स्रोत भी वह 'अवैदिक' बहुत अंशों में द्रविड़ मानते हैं। इसके विपरीत 'निगम' साहित्य अन्तर से उद्भूत और वैदिक होम-विद्या का द्योतक वे अनुमान करते हैं।[1] श्रावकों की ८४ जातियों में एक 'द्राविड़' जाति भी मानी है। इससे सिद्ध है कि जब आर्य भारत में पहिले-पहल आये और उनका जिस श्रमण, द्राविड़ आदि जातियों से संपर्क हुआ था, वे जैन थीं।

प्रो० यू० सी० भट्टाचार्य भी प्रागैतिहासिक भारत में एक श्लोक-बद्ध आध्यात्मिक-ज्ञान सम्बन्धी साहित्य का अस्तित्व बताते हैं।[2] संभवतः वह वृषभ की वाणी ही रही हो और ज्योतिष के ज्ञाता होने से उन्होंने इस सम्बन्ध में अपने 'आगम-साहित्य' में कुछ प्रकाश डाला हो। हालां कि, वह साहित्य भी वैदिक-साहित्य की तरह जैन-धार्मिक रचना ही मुख्य रही होगी।

मुण्डोपनिषद् के ऋषि भारद्वाज को डा० हर्टल अंगरिस बतलाते हैं। अंगरिसको जैन-ग्रंथ'पदम चरित्र' में भ्रष्ट जैन-मुनि बतलाया गया है। शायद इसीलिए डा. बारूआ ने अंगरिसकी मान्यताको जैन-मतानुसार बताया है क्योंकि, वह अंगरिस ज्योतिष-विषयक लोक की आकृति को पुरुषाकार-मानता था और इस पुरुष-रूपी लोक के मध्य भाग में मनुष्य लोक, उसके ऊपर वाले हिस्से में ब्रह्म-स्वर्ग लोक, और ब्रह्म-स्वर्गलोक से ऊपर 'परम साम्यम्' अर्थात् मुक्ति-स्थान मानता था।[3]

प्रागैतिहासिक काल में जैन क्षत्रिय राजा हुआ करते थे। छांदोग्य-उपनिषद्, जिसका रचना-काल तेइसवें तीर्थंकर भ० पार्श्वनाथ के समय के बाद का आंका जाता है,[4] में एक कथा आई है जिसमें बतलाया गया है कि अरुण के पुत्र श्वेत-केतु पांचालों की परिषद् में गये। वहां क्षत्रिय राजा प्रवण जैबालि ने उनसे जीव की उत्क्रांति, परलोक गति और जन्मांतर के सम्बन्ध में ५ प्रश्न किये। श्वेत-केतु उन प्रश्नों का उत्तर देने में असमर्थ होने के कारण अपने पिताके पास गया और जैबालि द्वारा पूछे गये प्रश्नों का उत्तर उनसे चाहा, पर पिता भी उन प्रश्नों का उत्तर नहीं दे सके। अतएव दोनों मिलकर जैबालि के पास गये और उनके प्रश्नों का उत्तर पूछा—

---

१. प्रेजीडेंशियल एड्रेस, आल-इण्डिया ओरियन्टल कांफ्रेन्स अहमदाबाद (प्रोसीडिंग्स का पृ० ५५)
२. इण्डियन हिस्टोरिकल क्वारटरली, भा० ३ पृ० ३०४—३१४
३. भगवान पार्श्वनाथ—ले० कामता प्रसाद पृ० २९७
४. वॉइस आफ अहिंसा—जनवरी-फरवरी १९५४ पृ० ४५—५०

'स ह कृच्छ्री बभूव । तं ह चिरं वस इत्याज्ञापयाञ्चकार । तं हो वाच यथाया त्वं गौतमावदो यथेयं न प्राक् त्वत्तःपुरा विद्या ब्राह्मणात् गच्छति ।'

अर्थात् गौतम की प्रार्थना सुनकर राजा चिंतित हुआ और उसने ऋषि से कुछ समय ठहरने को कहा और प्रश्नों का उत्तर देना आरम्भ किया । हे गौतम ! आप मुझसे जो विद्या प्राप्त करना चाहते हैं, वह आपसे पहिले किसी ब्राह्मण को प्राप्त नहीं हुई है ।

वृहदारण्यक-उपनिषद् के निम्न मंत्र से भी इसका समर्थन होता है–[1]

'इयं विद्या इतः पूर्वं न कस्मिश्चित् ब्राह्मणे उवास तां त्वहं तुभ्यं वक्ष्यामि !

–वृ० उ० ६।२।८

इससे तो ऐसा मालूम होता है कि ज्योतिष-विद्या जैनियों द्वारा ही ब्राह्मणों को प्राप्त हुई ।

ज्योतिष-साहित्य में ज्योतिष के निम्न १८ आचार्य प्रवर्तक माने जाते हैं—

'सूर्यः पितामहो व्यासो वसिष्ठोऽत्रिः पराशरः ।
कश्यपो नारदो गर्गो मरिचिर्मनुरंगिराः ॥'

–काश्यप

इसमें सर्व-प्रथम 'सूर्य' ऋषि ने 'सूर्य-सिद्धांत' का प्रति-पादन किया था । आधुनिक ज्योतिष-वेत्ता श्री सूर्यनारायण व्यास वराह-मिहिर के निम्न प्रमाण द्वारा 'सूर्य सिद्धांत के कर्त्ता मयाचार्य को मानते हैं–[2]

'म्लेच्छादि यवनास्तेषु सम्यक् शास्त्रमिदं स्थितम् ।
ऋषिवत्तेऽपि पूज्यंते, किं पुनर्दैवविद् द्विजः ॥

जैन-शास्त्रों में राजा 'मय' का उल्लेख मिलता है, जो विद्याधर वंश में प्रमुख था और जैन-धर्म को पालता था । वह विदेश भी गया था । अमेरीका की प्राचीन संस्कृति के अधिष्ठाता मय लोग ही थे ।[3] कुछ लोगों का कथन है कि स्वयं सूर्यभगवान ने मय की तपस्या से प्रसन्न होकर उस असुर को ज्योतिष-ज्ञान दिया था । श्री महावीरप्रसाद श्रीवास्तव ने 'सूर्य-सिद्धांत' की भूमिका में असुर नाम की एक भौतिक वादी जाति बतलाई है, शिल्प और मंत्रविद्या में यह जाति निपुण होती थी । सूर्य नाम के ऋषि ने इसी जाति को ज्योतिष-शास्त्र की शिक्षा दी थी ।.......(यह समय) ई० पू० १८० या १०० बतलाया है ।[4]

'ऋषि पुत्र' नामक ज्योतिष के प्रकाण्ड जैन विद्वान् भी इसी समय हुए थे उक्त अठारह प्रवर्त्तक ज्योतिष आचार्यों में 'गर्ग' ऋषि के पुत्र थे–

'जैन आसीज्जगद्वंधो गर्गनामा महामुनिः ।'

ये मेरे खयाल से 'गर्ग' मुनि के पुत्र नहीं बल्कि शिष्य हो सकते हैं । गर्ग मुनि की 'शकुनावली' की जिसे 'पाशा-केवली' भी नाम दिया है, दो प्रति दि० जै० मंदिर पाटोदी मनिहारों के रास्ते जयपुर के शास्त्र-भण्डार में एक पूर्ण और एक अपूर्ण बतलाई जाती है । इसी शास्त्र भण्डार में 'गर्ग-संहिता' भी अपूर्ण इनकी बतलाते हैं । 'गर्ग मनोरमा' दि० जैन मंदिर विजयरायजी पांड्या' के शास्त्र भण्डार में है । संभव है इन प्रतियों से लेखक के सम्बन्ध में कुछ प्रकाश पड़ सके । 'गर्गऋषि' के पुत्र या शिष्य ने 'निमित्त-शास्त्र' लिखा है ।

कालकाचार्य भी इसी समय के आस-पास निमित्त और ज्योतिष के विद्वान हुए । ये मध्य देशांतर्गत थे और यवन देशादि में गये थे और उस देश से रमल-विद्या यहाँ लाये थे । इसका उल्लेख

---

१. भारतीय-ज्योतिष—ले० नेमिचन्द्र शास्त्री पृ० ७२
२. ज्योतिष-विज्ञान'—आश्विन अंक सन् ७० पृ० २०
३. 'हिन्दू-अमेरिका'—ले० चम्मनलालजी एवं अहिंसा और उसका विश्व-व्यापी प्रचार पृ० १०३
४. भारतीय-ज्योतिष—ले० नेमीचन्द्र शास्त्री पृ० १२३

भोजसागर गरिण नामक विद्वान् ने अपने संस्कृत भाषा के 'रमल शास्त्र' विषयक ग्रंथ में किया है। 'कालकाचार्य' ने बर्मा जाकर प्रचार भी किया था। उनके शिष्य सागर पहिले ही वहां जैन-धर्म का प्रचार कर रहे थे। वे बर्मा से दक्षिण चीन तक अहिंसा धर्म का प्रचार करते हुए घूमे थे। अनाम-चंपा के एक ग्रन्थ में डा० आर० सी० मजूमदार ने पढ़ा था कि पश्चिमी भारत से 'खऊद ल' नामक एक ब्राह्मण वहां गये थे। वहाँ से दरियाई रास्ते टांनिक (दक्षिण-चीन) पहुँचे थे। वे मंत्रवाद में पूर्ण निपूर्ण थे। वे पेड़ों की छाया में और गुफाओं में निवास करते थे। उन्हें लोग कालाचार्य कहते थे। डा० उमाकांत शाह ने जैन कालकाचार्य को और उक्त 'कालाचार्य' को अभिन्न माना है वे सुमात्रा के निकट वंकानामक खाड़ी के प्रदेश में भी गये थे।[1]

इनसे भी बहुत वर्षों पहिले ३८७ ई० पू० के आस-पास जब सिकंदर का शिविर तक्षशिला में था। तब उसने वहां के जैन योगियो-श्रमणों के ज्ञान-विज्ञान की बड़ी-बड़ी बातें सुनी थी। क्लीमेंस अलेक्जेन्डर नस ने भारतीय-योगियों को श्रमण बताया और लिखा—'वे आजन्म नंगे रहते, सत्य का अभ्यास करते, भविष्यवाणी बोलते और स्तूप को पूजते हैं।[2] सिकन्दर उन योगियों से मिलने के लिए बेचैन हो उठा। उसने ओनेसिक्रतस (Onesi kritos) नामक अपने सांस्कृतिक दूत को श्रमण योगियों को बुला लाने के लिए भेजा। उसने देखा 'तक्षशिला के उद्यान में बहुत से नंगे साधु तपस्या कर रहे हैं। उनमें कल्याण (Kalanos) नामक मुनि से उसकी बात-चीत हुई।[3] अपने आचार नियम के अनुसार वे सिकन्दर के पास नहीं गये। ओनेसिक्रतस ने सिकंदर से उनके ज्ञान, चर्चा और निर्भीकता की बड़ी प्रशंसा की, जिसको सुनकर सिकंदर बहुत प्रभावित हुए। उसने चाहा कि इन तपोधन योगी श्रमणों के ज्ञान प्रकाश से यूनान चमत्कृत हो। तदनुसार सिकंदर ने मुनि-कल्याण की बहुत विनय की। उसके आग्रह से मुनि कल्याण उसके शिविर के साथ हो लिये। वे ज्योतिष-शास्त्र में पूर्ण पारंगत थे। उन्होंने कई भविष्यवाणियां की थी। सिकंदर की मृत्यु के विषय में भी इन्होंने पहिले से ही संकेत कर दिया था।[4] आधुनिक ज्योतिष विद्वान 'सू० ना० व्यास' अपने एक लेख में लिखते हैं कि महान् सिकंदर के साथ जब भारत में 'कलिस्थोनी' (संभवतः कल्याण मुनि) नामक यूनानी पंडित आया था। उसने सौर-मंडल से सम्बन्ध में रखने वाली और ज्योतिष की कई रचनाएं भारत भेजी थीं, जिनमें सबसे पुरानी ई० स० पू० २२३४ साल की रही है। सूर्य की गति-विधि और ग्रहणों का ज्ञान इस देश में इसके पूर्व उन्नति कर गया था।[5] ये कलिस्थोनी और कोई नहीं, कल्याण मुनि ही प्रतीत होते हैं। किंतु, वे सिकंदर के साथ यूनान से नहीं बल्कि, भारत से सिकंदर के वापस लौटने पर उनके साथ गये थे। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया है। यदि उक्त लेखक की यह बात अर्थात् ई० स० पूर्व २२३४ की ज्योतिष विषयक रचना भारत भेजने के सम्बन्ध में कुछ सार रखती है तो इसमें कोई शक नहीं कि

१. डा० उमाकांतशाह 'स्वर्णभूमि में कालकाचार्य (बनारस) पृ० १-२६ एवं आदि तीर्थंकर भ० ऋषभदेव पृ० १४५

२. मैक क्रिंडिल्स ऐंशियेन्ट इण्डिया पृ० १८३

३. Piutarch, AL, P, 69–71

४. अहिंसा और उसका विश्व-व्यापी प्रभाव—ले० कामता प्रसाद पृ० ७४

५. देखिए—'ज्योतिप विज्ञान' का अ० भा० अंक संवत् २०१७ में 'सौर-साम्राज्य की परम्परा' का लेख—श्री सू० ना० व्यास पृ० ३२

भारतीय जैनमुनि ज्योतिष के सर्वप्रथम अग्रणियों में थे। काश ! वह प्रति आज उपलब्ध होती !

अलकजेण्ड्रिया के प्रसिद्ध ज्योतिषी टालमी के 'रोमक-सिद्धांत' एवं यूनानी-सिद्धांतों के आधार पर अलकजेण्ड्रियावासियों की मान्यता के अनुसार 'पौलिश-सिद्धांत' पर उक्त जैन ज्योतिष-आचार्यों या उनके साहित्य का असर पड़ा हो तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं ! ब्रह्मगुप्त, लाट, वशिष्ट, विजयनंदि और आर्य भट्ट के अजैन ग्रंथों के आधार पर कुछ अन्य विद्वान् 'रोमक-सिद्धांत' को श्रीषेण द्वारा (ई० पू० १४० के आस-पास) लिखा गया बतलाते हैं। डा० थीबो साहब श्रीषेण को मूल-ग्रंथ का रचयिता नहीं मानते हैं, बल्कि उसका उसे संशोधक बतलाते हैं। डा० कर्न साहब ने लिखा है कि प्राचीन भारतीयों को 'यवनपुर' ज्ञात था, तथा वे वहां के अक्षांश, देशांतर, आदि से पूर्ण परिचित थे। डा० थीबो साहब का कहना है कि प्राचीन 'पौलिश-सिद्धांत' अपने मूल-रूप में आज उपलब्ध नहीं है।[1] चाहे कुछ भी हो किंतु यह भी निश्चत है कि 'यवनों' से भारतीयों का बहुत वर्षों से संपर्क रहा था और इसमें जैन-ज्योतिर्विद मुनियों का भी काफी हाथ था।

ई० सन् की चौथी-पांचवी शताब्दी में भद्रबाहु द्वारा 'अर्हच्चूड़ामणि सार' प्रश्न-ग्रंथ की रचना हुई इनका ही एक निमित्त-शास्त्र (भद्रबाहु संहिता) भी ज्योतिष का ग्रंथ बतलाया जाता है जिसकी एक अपूर्ण प्रति जयपुर के दि० जैनशास्त्र भंडार आमेर में है। इनके ही छोटे भाई दिव्य द्रष्टा 'वराह-मिहर' प्रकाण्ड ज्योतिषज्ञ भी बतलाये जाते है। लेकिन, अब तक अजैन विद्वानों और ज्योतिषियों द्वारा उन्हें ब्राह्मण ही माना जाता हैं। लेकिन, वास्तव में वे भद्रबाहु के भाई ही थे। लेखक भविष्य में अकाट्य प्रमाणों द्वारा पाठकों के समक्ष यह तथ्य लाने का प्रयत्न करेगा।

राजा अमोघवर्ष (वि० सं० ७७१) के समय जैन महावीराचार्य भी प्रकाण्ड-ज्योतिष के ज्ञाता हुए। इन्होंने 'गणितसार' और ज्योतिष पटल' नामक महत्त्वपूर्ण ग्रंथों की रचना की थी। अमोघवर्ष ने 'प्रश्नोत्तर-माला' नामक ग्रंथ की रचना की। इनके जैन होने को विवादास्पद माना जाता है। 'गणित-सार' और 'ज्योतिष-पटल' महावीराचार्य के उच्चकोटि के गणित विषयक ग्रंथ हैं। प्रो. डा. अवधेशनारायणसिंह ने जैन गणित विषयक धवला, त्रिलोकसार, गोम्मटसार आदि ग्रंथों के बारे में लिखा है कि 'यथार्थतः गणित और ज्योतिष विद्या का ज्ञान जैन मुनियों की एक मुख्य-साधना समझी जाती थी। महावीराचार्य का गणितसार संग्रह ग्रंथ सामान्य रूपरेखा में ब्रह्मगुप्त, श्री धराचार्य भास्कर, और अन्य हिन्दू गणितज्ञों के ग्रंथों के समान होते हुए भी विशेष बातों में उनसे पूर्णतः भिन्न हैं। उदाहरणार्थ गणितसार संग्रह के प्रश्न (Problems) प्रायः सभी दूसरे ग्रंथों के प्रश्नों से भिन्न हैं। धवला में वर्णित अनेक प्रक्रियाएं किसी अन्य ज्ञात ग्रंथ में नहीं पाई जाती; तथा इसमें कुछ ऐसी स्थूलता का आभास भी है जिसकी झलक पश्चात् के भारतीय गणित शास्त्र से परिचित विद्वानों को सरलता से मिल सकती है।'

इस प्रकार जैनाचार्यों द्वारा हजारों, लाखों वर्षों पूर्व ही ज्योतिष-विषयक सभी बातों को प्रकाश में ला दिया गया था, बल्कि निष्पक्ष दृष्टि से देखा जाय तो जैन-ऋषियों और मुनियों द्वारा ही सर्वप्रथम ज्योतिष-विषयक प्रकाश डाला गया। जैन-सिद्धांत ही ऐसे हैं कि जो ज्योतिष के प्रत्येक विषय पर प्रकाश डालते हैं और उसकी सर्व-

---

१. भारतीय-ज्योतिष—ले० नेमीचन्द्र शास्त्री पृ० १२१

प्राचीनता सिद्ध करते हैं। वेदांग-ज्योतिष के अनुसार प्रजापति या पितामह ने जब संपूर्ण जगत् की सृष्टि की तब ही ज्योतिष-विषयक सभी ग्रहों आदि का निर्माण कर दिया था। इस कर्त्तृत्व-सिद्धांत को जैन-मान्यता स्वीकार नहीं करती। उसके अनुसार यह पृथ्वी और जगत् अनादि समय से चला आ रहा है और उसके साथ ज्योतिष भी ! क्योंकि ज्योतिष का मनुष्य के साथ तादात्म्य सम्बन्ध रहा है और पृथ्वी तथा सूर्यादि ग्रह भी ज्योतिष के साथ रहे हैं। किन्तु, ज्योतिष-विषयक कालचक्र के प्रभाव के कारण पृथ्वी पर विभिन्न-परिवर्तन होते रहे हैं, होते जा रहे हैं और भविष्य में भी होते रहेंगे। आज का वैज्ञानिक यह मानता है कि पदार्थ कभी नष्ट नहीं होता केवल उसकी दशा में परिवर्तन होता है। जैन तथा जैनेतर ज्योतिष का भी यह अमिट-सिद्धांत रहा है। उन्होंने अपने ज्ञान-बल से घोषणा की है कि उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल द्वारा संसार में समय-समय पर परिवर्तन, परिवर्द्धन, और ह्रास हुआ है और होता रहेगा। जैनेतर ज्योतिष द्वारा कृत-युग, त्रेता, द्वापर और कलि-युग द्वारा संसार-चक्र को अमिट माना है।

इस रहस्यमय ब्रह्माण्ड (सौर-जगत्) की उत्पत्ति पर 'कांट' नामक वैज्ञानिक ने सन् १७५५ में अपने सिद्धांत द्वारा, सन् १७९६ में 'लाप्लास' नामक वैज्ञानिक ने, लाकयर ने सन् १९०४ के चेम्बालिन व मोल्टन ने, 'जेम्स-जीन्स' ने एच० एन रसल ने न्यूटन तथा डेसकारटेस ने, 'फ्रेड़-हायल' ने, सन् १७४५ में फ्रेंच वैज्ञानिक 'बफन' सन् १९४३ में रूसी विद्वान् 'आटो-स्मिट', ब्लादी-मीर क्रेट, स्त्रीचटर, आदि अनेक विद्वानों ने अपने-अपने सिद्धांतों द्वारा ब्रह्मांड की उत्पत्ति पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है।[1] किंतु, इन सब विद्वानों के किसी भी सिद्धान्त द्वारा ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति पर पूर्ण संगति नहीं बैठती। सन् १९०० के आसपास एक फ्रांसीसी विद्वान 'वाइं-डल डिलाव्लाश' नामक और हुआ। उसने अपनी मूल-पुस्तक 'प्रिंसिपल्स आव ह्यूमन ज्योगरेफी' द्वारा उत्पत्ति सम्बन्धी जो प्रकाश डाला है वह थोड़ा ठीक है और जैन-मान्यता के अनुकूल पड़ता है। उसमें लेखक ने पृथ्वी, वनस्पति आदि निर्जीव वस्तुओं को भी जीवित प्राणियों का रूप दिया और संसार-चक्र पर एक नया ही प्रकाश डाला। लेखक ने लिखा है कि 'बर्थ लौट की भाषा में पृथ्वी स्वयं Quelque chosede Vivant' अर्थात् जीवित-वस्तु है। जीवन जैसे ही एक जीवी से दूसरे जीवी को स्थानांतरित होता है, अनेक जैविकरूपों से होकर (अर्थात पृथ्वी, वायु, वनस्पति, अग्नि, जल, पशु, पक्षी मानव आदि सभी जीवों से संपर्क करता हुआ) गुजरता है। (यह जीव उस समय) कुछ उन पदार्थों (दूसरे जीवों) को निर्मित करते हैं, जिनसे दूसरे (ही जीव) पोषित होते हैं, कुछ बीमा-रियों के कीटाणुओं (ऐसे जीवतत्त्वों को वहन करते हैं, जो दूसरी जातियों (जीवों) को नष्ट करते हैं (इस प्रकार) वह समस्त जीवित-शक्तियों (पृथ्व्यादि के साथ समायोजन करता है, जो वातावरण द्वारा (समस्त संसार में) एकत्र हैं। वह प्रकृति की क्रीड़ा में सम्मिलित होता है।[2]

जैन-दर्शन हजारों वर्षों पूर्व से पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति कायिक जीवों को मानता आया है। जिन्हें एकेंद्रिय जीव में समावेश

१. विस्तृत-विवरण के लिए देखें—'बागला भूगोल के भौतिक-आधार—ले० सीताराम बागला, पृ० २३ एवं ३१ से ४५

२. 'मानव भूगोल के सिद्धांत'—ले० वाइडल डि ला ब्लाश अनु० एम. एल. जैन पृ० १४

बिगड़ता है नया उत्पादन होता है हेर-फेर, जन्म मृत्यु, सृष्टि, पालन पोषण, विनाश इत्यादि, कार्य होते हैं और जिन्हें कुछ लोग किसी कर्त्ता का कर्तृत्व मानते हैं, वे सब स्वतः ही स्वाभाविक गति एवं नियमित रूप में इन पुद्गलों या पुद्गल स्कंधों के मिलने बिछुड़ने इत्यादि में ही होता रहता है। सारा विश्व एक अभिन्न, अविनाशी,शास्वत, सत्य एवं संपूर्ण इकाई है। इसका कोई भाग अलग नहीं सवका असर सब पर अक्षुण्ण रूप से अवश्य पड़ता है।'[1] जो ज्योतिषी संसार को ईश्वर या ब्रह्मा या पितामह आदि द्वारा चलायमान या कर्ता धर्ता मानते हैं, वे जन्म कुंडली के बनाते समय जातक (कुण्डली वाले) की भुक्त योग्य विंशोत्तरी दशा आदि क्यों निकालते हैं यदि वे कर्म सिद्धांत को नहीं मानते ? फिर दशा के आधार पर जो फलादेश निकालते हैं और फलादेश द्वारा अशुभ घटना का होने का सूचक वतलाने के बाद उसके शमनार्थ पुण्यादि कार्य कराने का आधार क्या है ? और वह फिर अशुभ घटना क्यों नहीं घटती ? यदि घटती है तो उतनी क्यों नहीं घटती जितनी घटने का अनुमान या भविष्य वतलाया गया था ? संचित प्रारब्ध और क्रियमाण कर्म के भेद फिर वे क्यों स्वीकार करते हैं ? कृत युग, त्रेता, द्वापर और कलियुग द्वारा संसार परिभ्रमण को अनादि कैसे मानते हैं ? इन सव वातों का उत्तर उनके पास कुछ नहीं है।

यदि देखा जावे तो ऋग्वेद के 'प्रजापति' ने पुद्गल (Matter) और मुख्य शक्ति आत्मा में कोई भेद भी न बताया था।[2] और उनके कुछ सिद्धांत जैनधर्म से सादृश्य भी रखते हैं।[3] प्रजापति की 'जिन सहस्त्र नाम' नामक पुस्तक में भ० ऋषभ के लिए 'प्रजापति महादेव' आदि नामों से भी उल्लेख हुआ है। भ० ऋषभदेव के समय से ही भोग भूमि का समय खतम होकर 'कर्मवाद' प्रारम्भ हुआ था और उन्होंने ही संसार को चलाने का तरीका वतलाया और अपने ज्योतिर्ज्ञान के बल पर भविष्यवाणी भी की थी। अतः वेदांग ज्योतिष के 'प्रजापति' भगवान ऋषभ हो सकते हैं।

पं० नेमीचन्द जी शास्त्री ज्योतिषाचार्य के 'जैन मान्यता के अनुसार इस कल्प काल में आज से अरव खरव वर्षों पहिले ज्योतिष तत्वों को शिक्षाएं दी गई थी। उपलब्ध जैन साहित्य भले ही इतना प्राचीन न हो पर उसके तत्व मौलिक रूप में खरवों वर्ष पहिले विद्यमान थे।' इन शब्दों के साथ लेखक पूर्ण सहमत है और वह इस निष्कर्ष पर पहुंचा है कि जैन ज्योतिष का प्रादुर्भाव काल प्राचीनतम है।

---

१. 'शरीर का रूप और कर्म'—ले० अनन्त प्रसाद जैन 'लोक पाल'

२, ए० हिस्ट्री पृ० १३

३. भगवान-पार्श्वनाथ—ले० कामता प्रसाद पृ० ७८

राजस्थान के कतिपय प्रमुख दिगम्बर जैन मन्दिर

◉ अनूपचन्द न्यायतीर्थ 'साहित्य रत्न'

राजस्थान प्राचीनकाल से ही भारतीय संस्कृति एवं कला का केन्द्र रहा है। एक ओर यहां के राजाओं ने अपने देश एवं धर्म की मर्यादा की रक्षा के लिये हँसते-हँसते प्राणों का बलिदान दिया है तो दूसरी ओर साहित्य संस्कृति एवं कला की समुन्नति में भी वे किसी से पीछे नहीं रहे हैं। उनके शासनकाल में प्रत्येक धर्मवालों को अपने अपने धर्म के अनुसार चलने की पूर्ण स्वतंत्रता थी तथा धर्म स्थानों एवं आयतनों को पूर्ण सुरक्षित रखा जाता था। कभी-कभी धर्म स्थानों एवं मंदिरों के निर्माण में राजा महाराजाओं की ओर से पूर्ण सहयोग भी मिलता रहता था। यही कारण है कि राजस्थान का पुरातत्व की दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान बन गया है। यहां के वैष्णव एवं जैन मन्दिर कला के उत्कृष्ट नमूने हैं। आबू में दिलवाड़ा के जैन मन्दिर, सांगानेर, आमेर, जैसलमेर, रणकपुर, ऋषभदेव एवं जयपुर के जैन मंदिर अपनी कला के लिये भारत में प्रसिद्ध हैं और इसी कारण यात्रियों के लिये ये स्थान तीर्थ बन चुके हैं। यहां आने वाले प्रत्येक यात्री को कला की गोद में जाने पर परम शांति मिलती है और उनके हृदय में इन कलाभवनों के निर्माताओं के प्रति एक मूक कृतज्ञता निकलती है।

इस लेख में हम राजस्थान के कतिपय विशिष्ट दि० जैन मन्दिरों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत कर रहे हैं—

सांगानेर—संघीजी का मन्दिर—

सांगानेर जयपुर से दक्षिण की ओर ८ मील की दूरी पर स्थित है। जयपुर नगर की स्थापना के पूर्व यह व्यापार एवं विद्या का प्रमुख केन्द्र था। यहां ७ मन्दिर तथा एक नसियां हैं। १२वीं शताब्दी में निर्मित संघीजी का मंदिर अपनी स्थापत्य एवं वास्तु कला के लिये राजस्थान भर में प्रसिद्ध है। यह तत्कालीन मन्दिर निर्माण कला की सजीव मूर्ति है। इसके कलापूर्ण विशाल शिखर यात्रियों को दूर से ही अपनी ओर आकर्पित करते हैं। मन्दिर की सीढ़ियों पर चढते ही एक अपूर्व शांति मिलती है। मन्दिर में घुसने पर प्रथम चौक में दोनों ओर तिबारे हैं जिनके महरावों पर बहुत ही सुन्दर एवं कलापूर्ण तोरणद्वार लगे हैं। स्तंभों के ऊपर विविध वाद्ययंत्रों सहित देव एवं देवियां नृत्यमुद्रा में भगवान के जन्माभिषेक महोत्सव का दृश्य उपस्थित करती हैं। तिवारों की छतों में पत्थर में कुराई का अच्छा काम है। दूसरे चौक में प्रवेश का द्वार भी बहुत सुन्दर है।

दूसरे चौक के बीच में जिनवेदी एक बड़े चबूतरे पर स्थित है जिसकी प्रस्तर कला बड़े बड़े शिल्पकारों एवं कलाविशारदों को आश्चर्य चकित कर देती है। कुछ दिन पूर्व जर्मनी के प्रसिद्ध विद्वान डा० ब्रुह्न ने डा० कासलीवालजी के साथ जब इस कलापूर्ण मन्दिर एवं वेदी को देखा तो वे मंत्रमुग्ध हुए यहां घण्टों बैठे रहे। वेदी के ऊपर

चंवरो में तोरण द्वार पर ११वीं सदी का मंदिर निर्माण का लेख अंकित है। पुरातत्ववेत्ताओं का अनुमान है कि यहां की कला का प्रभाव आबू के जैन मन्दिरों पर पड़ा है। इस मन्दिर में पाषाण की विशाल प्रतिमाएं अधिक हैं जिनमें कितनी हीं १२वीं तथा १३वीं शताब्दी की हैं। इनमें शांतिनाथ की खड्गासन प्रतिमा प्रमुख है। इस मन्दिर में दो भहरे (Under ground Rooms) भी हैं जिनमें से एक में अनेक छोटी प्रतिमाएं हैं जो किसी विशेष आयोजन पर बाहर निकाली जाती हैं। इस मन्दिर की व्यवस्था अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी के अन्तर्गत है।

गोदीकों का मन्दिर—यह सांगानेर का दूसरा कलापूर्ण मन्दिर है जिसमें श्वेत संगमरमर की वेदी में कुराई का बारीक काम दर्शनीय है। दर्शक को शिल्पकार की छैनी पर आश्चर्य होने लगता है जिसके द्वारा इतना बारीक काम हो सका है।

आमेर के मंदिर—

सांगानेर के समान आमेर भी जयपुर राज्य की पुरानी नगरी है। यह जयपुर से उत्तर की ओर ६ मील की दूरी पर पहाड़ों की गोद में स्थित है। इसकी गणना राजस्थान के ऐतिहासिक नगरों में की जाती है। यह नगर आमेर, अम्बर, अम्बावती, अमरावती एवं आम्रगढ आदि कितने ही नामों से प्रसिद्ध है। आज कल देशी एवं विदेशी पर्यटकों के लिये यह आकर्षक स्थान बन गया है। यहां के जगत् शिरोमणिजी का मन्दिर, राजमहल, शिलादेवी का मदिर, दलाराम का बाग, मावठा झील आदि दर्शनीय स्थान हैं।

सांवलाजी का मन्दिर—यहां का सबसे प्राचीन जैन मन्दिर है जिसमें १२वीं शताब्दी की भगवान नेमिनाथ की श्यामवर्ण के पाषाण की अत्यन्त आकर्षक एवं कलापूर्ण मूलनायक मनोज्ञ प्रतिमा है। श्याम वर्ण होने से मूर्ति सांवला बाबा के नाम से भी पुकारी जाती है। यह मन्दिर राजमहलों के पास है। इससे ज्ञात होता है कि इसका निर्माण राज्य के उच्चाधिकारी श्रावकों के दर्शनार्थ कराया गया था। इस मंदिर का कब और किसने निर्माण कराया यह अभी खोज का विषय है किन्तु ग्रन्थ प्रशस्ति एवं मूर्ति यंत्र लेखों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यह मंदिर १६वीं शताब्दी के पूर्व ही निर्मित हो चुका था। भट्टारक नरेन्द्रकीर्ति के शिष्य सुरेन्द्रकीर्ति ने यहां पट्ट स्थापित किया। भट्टारक गादी होने के कारण यहां विशाल शास्त्र भण्डार है जो आमेर शास्त्र भण्डार के नाम से प्रसिद्ध है तथा जिसकी सूची प्रकाशित हो चुकी है। इसमें धातु एवं पाषाण की प्राचीन तथा कलापूर्ण प्रतिमाए हैं। इस मन्दिर में भी एक विशाल भहरा (Under ground room) है जिसमें २१६ धातु की प्रतिमाएं एवं १६६ यंत्र हैं जो कभी-कभी बाहर निकाले जाते है। इनमें सबसे प्राचीन मूर्ति पार्श्वनाथ की है जो संवत् १२३४ की है तथा पांच संवत् १५५४ की हैं। इस मन्दिर की व्यवस्था महावीर क्षेत्र के अन्तर्गत है इसका कारण यह भी है कि यहां की गादी के भट्टारक चन्द्रकीर्तिजी श्री महावीरजी में विराजमान हैं।

आमेर से बाहर की ओर देहली सड़क पर एक मन्दिर स्थित है। इसमें १३वीं शताब्दी की गेहूँवर्ण की नेमिनाथ की एक अति ही मनोज्ञ एवं कलापूर्ण प्रतिमा है जिसके मस्तक पर बालों का गुच्छा सा है। इस अत्यधिक आकर्षक प्रतिमा को शिल्पकार ने कितने मनोयोग से घड़ा होगा कल्पना नहीं की जा सकती। संभव है वह भी शांत एवं वैरागी होगा।

कीर्तिस्तंभ की नसियां

यह आमेर से पूर्व की ओर २ मील दूर है तथा आमेर नगर की सीमा पर स्थित परकोट के

द्वार पर बनी हुई है। यहां पत्थर का एक विशाल कीर्ति स्तंभ है जिसमें प्रारंभ से नंबरवार भट्टारकों की मूर्तियां अंकित हैं। यह स्तंभ करीब ८ फीट ऊंचा है तथा इस पर एक छतरी है। यह एक महत्वपूर्ण एवं ऐतिहासिक स्तंभ है।

जयपुर नगर के मंदिर—

इस नगर की स्थापना महाराजा जयसिंहजी द्वितीय ने संवत् १७८४ में की थी तथा आमेर, सांगानेर, चंपावती आदि आसपास के ग्रामों एवं नगरों से यहां लाकर लोगों को बसाया गया था। नगर बसने से ५० वर्ष में ही यहां १२५ चैत्यालय बन गये जिनमें से कितनों ही की नींव तो जयपुर की नींव के साथ ही लगी थी। सभी मन्दिर विशाल एवं कलापूर्ण हैं। कतिपय प्रमुख उल्लेखनीय मन्दिरों का विवरण निम्न प्रकार है—

पाटोदी का मंदिर—

यह जयपुर के पंचायती मंदिरों में से एक है तथा इसका निर्माण जोधराज पाटोदी द्वारा जयपुर बसने के साथ-साथ संपन्न हुआ था। यह बीस पंथ आम्नाय का प्रमुख मन्दिर है तथा चोकड़ी मोदीखाना में स्थित है। मंदिर के प्रवेशद्वार पर बाहरी छतरी में मकराने के तोरणद्वार दर्शनीय एवं कलापूर्ण हैं कि देखते ही बनता है। रंगविरंगे चित्रों एवं भावों से युक्त विशाल गुम्बज मनको मोहता है। यहां मूलनायक प्रतिमा आदिनाथ की है तथा सबसे प्राचीन प्रतिमा धातु की चौबीसी है जिसपर "संवत १४१४ वैशाख सुदी ३" अंकित है। आमेर के बाद जयपुर में भट्टारक गादी इसी मंदिर में सं० १८१५ मे स्थापित हुई जिन पर क्षेमेन्द्र कीर्ति प्रथम भट्टारक हुए। आज कल यह गादी श्री महावीरजी में है।

इस मंदिर में एक महत्वपूर्ण शास्त्र भण्डार है जिसमें २५०० से अधिक हस्तलिखित ग्रंथों का उत्तम संग्रह है। इस भण्डार की सूची श्री महावीर क्षेत्र की ओर से डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल एवं लेखक के द्वारा सम्पादित "राजस्थान के ग्रन्थ भण्डारों की सूची भाग ४" में प्रकाशित हो चुकी है।

सिरमोरियों का मन्दिर—

यह मंदिर चोकड़ी मोदीखाना में है तथा अपनी कला के लिये राजस्थान में प्रसिद्ध है। इसका निर्माण सं० १८१३ में केसरीसिंह कासलीवाल द्वारा कराया गया था। केशरीसिंह को जयपुर नरेश माधवसिंहजी उदयपुर से लाये थे तथा संवत् १८०८ में सिरम्होर पद से विभूषित किया था। इस मन्दिर की नींव स्वयं माधवसिंह जी ने अपने हाथ से रखी थी तथा राज्य की ओर से मन्दिर के लिए २०००) रुपये इनाम मिले थे। यह मन्दिर कला की दृष्टि से बेजोड़ है। निज मन्दिर में वेदी में रंगविरंगी पच्चीकारी है तथा कलापूर्ण शिखर हैं। श्वेत प्रस्तर का विशाल गुम्बज बना है। बारहदरी में पद्मासन एवं खड्गासन मूर्तियाँ खुदी हैं उनके नीचे किन्नर किन्नरियाँ तथा तीर्थंकर भी हैं। पत्थर में बेल-बूंटे, फूलपत्तियाँ तथा तीनलोक के भावचित्र दर्शनीय एवं आकर्षक हैं। भहरे में पाषाण की विशाल एवं मनोज्ञ मूर्तियां हैं। इस मन्दिर में सबसे प्राचीन मूर्ति श्वेत पाषाण की स० १२२७ की है।

बड़े दीवान जी का मन्दिर—

यह मन्दिर दीवान अमरचन्द जी के पिता शिवजीलालजी का बनाया हुआ है। यह सर्वाधिक विशाल एवं मनोज्ञ है। सभाओं के आयोजन आदि के लिए यह प्रसिद्ध मन्दिर है। यहां मूलनायक प्रतिमा आदिनाथ की है जो विशाल एवं चित्ताकर्षक है। चौक में एक संगमरमर की वेदी है जिस पर सुन्दर पच्चीकारी है। राजस्थान के प्रसिद्ध साहित्य सेवी एवं दार्शनिक विद्वान् पं० चैनसुखदास जी

न्यायतीर्थ इसी मन्दिर में प्रतिदिन शास्त्र प्रवचन करते हैं।

महावीर स्वामी का मन्दिर—

यह कालाडेहरा के मन्दिर के नाम से भी प्रसिद्ध है तथा शहर के बीच स्थित है। यहां १२वीं शताब्दी की मटमैले पाषाण की विशालकाय खड्गासन प्रतिमा है जो अत्यधिक मनोज्ञ एवं आकर्षक है। यहां तीनों लोकों के तीर्थक्षेत्रों के सोने से मकराने पर छपे हुये भाव दर्शनीय हैं। भगवान महावीर के पूर्वभवों का सचित्र वर्णन यहाँ उपलब्ध है। प्रातः ४ बजे से रात्रि को १२ बजे तक यहा दर्शनार्थियों का तांता सा बंधा रहता है।

बधीचन्दजी का मन्दिर—

यह मन्दिर चोकड़ी घाट दरवाजा में स्थित है तथा पंचायती बड़े मंदिरों मे से एक गुमान पंथ आम्नाय का है। इस मन्दिर का गुम्वज अत्यधिक विशाल एवं अवर्णनीय कलापूर्ण है। पूरा गुम्वज सोने की छपाई से ढका है, भावपूर्ण चित्रों से युक्त है। गुम्वज के नीचे के वारीक कलापूर्ण स्तम्भ दर्शनीय हैं। इस मन्दिर में एक विशाल एवं महत्वपूर्ण शास्त्र भण्डार है जिसमें करीव ६०० हस्तलिखित ग्रन्थों का संग्रह है। यहां पंडित टोडरमल जी ग्रन्थ रचना किया करते थे तथा अव भी स्वयं उनके हाथ के लिखे हुये मोक्षमार्गप्रकाशक एवं आत्मानुशासन मूलरूप में विराजमान हैं।

तेरहपंथियों का बड़ा मन्दिर—

यह भी पंचायती बड़े मन्दिरों में से एक है तथा तेरहपंथ आम्नाय का है। इसमें अनेक प्राचीन प्रतिमाएँ हैं तथा पत्थर पर कुराई एवं सोने का अच्छा कार्य है। तिवारों में सुन्दर पच्चीकारी का कार्य एवं पंचपाण्डव तपस्या, सीता की अग्नि परीक्षा, अतिशय क्षेत्र श्री महावीर जी की मूर्ति का प्रकट होना आदि के भाव मनमोहक एवं दर्शनीय हैं। महापंडित टोडरमल जी इसी मंदिर में शास्त्र श्रवण, एवं प्रवचन किया करते थे। साहित्यसेवी वावा दुलीचन्द, समाजसेवी मास्टर मोतीलाल संघी इसी मंदिर में विराजते थे। बड़े मंदिर का शास्त्र भण्डार जिसमें २६२६ ग्रंथ तथा बाबा दुलीचंद का भण्डार जिसमें ८५० ग्रंथ हैं तथा सन्मति पुस्तकालय जिसमें करीब २५००० मुद्रित पुस्तकें हैं, इसी मन्दिर में स्थित हैं। यहां १६वीं शताब्दी का सचित्र आदि पुराण है जिसमें करीव २०० चित्र हैं। सचित्र भक्तामर का पोथा, सचित्र त्रिलोकसार बहुत महीन कलम का यहां उपलब्ध है।

उक्त मंदिरों के अतिरिक्त पार्श्वनाथ का मंदिर जहां ७½ फीट ऊंची विशालकाय श्यामवर्ण की पार्श्वनाथ की मनोज्ञ प्रतिमा है, चौवीस महाराज का मन्दिर जहां एकसी श्वेत पाषाण की चौबीस विशाल प्रतिमाएं हैं, तथा दारोगा जी का, ठोलियों का एवं चाकसू का आदि अन्य दर्शनीय मन्दिर और हैं।

जैन मन्दिर अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी—

यह राजस्थान का ही नहीं अपितु भारत का प्रसिद्ध अतिशय क्षेत्र है। यहां भगवान महावीर की अतिमनोज्ञ एवं आकर्षक मूर्ति है जो गंभीर नदी के तट पर टीले के नीचे से चर्मकार द्वारा लगभग २५० वर्ष से भी पहिले निकाली गयी थी। यह मूर्ति अत्यधिक अतिशय पूर्ण है तथा यहां सभी की मनोकामना पूर्ण होती है। भारत के कोने कोने से यहां यात्री आते हैं। महावीर जयन्ती के अवसर पर यहां एक विशाल मेला लगता है तथा रथयात्रा होती है। इस मेले में कभी कभी तो १ लख से भी ऊपर यात्री आते हैं। यह क्षेत्र डाक, तार, टेलीफोन, नल, बिजली आदि सभी आधुनिक सुविधाओं से युक्त है। यह भारत का एक ऐसा दिगम्बर जैन तीर्थ है जहां बिना किसी जातीय

भेदभाव के यात्री मन्दिर में जाते हैं और भगवान का दर्शन करते हैं। इस क्षेत्र की यह विशेषता है कि यहां अनायास ही यात्रियों से प्राप्त अपार द्रव्य का सदुपयोग प्राचीन साहित्य सेवा, छात्र वृत्ति, एवं धर्म प्रचार में होता है। यहां के साहित्यशोध विभाग द्वारा जो प्राचीन साहित्य सामग्री प्रकाश में लायी गयी है उससे बड़े बड़े अजैन विद्वान भी प्रभावित हुए हैं। क्षेत्र का तीन शिखरोंवाला कला-पूर्ण मन्दिर, मानस्तंभ, पानी की टंकी, बगीचा, चरणछत्री आदि दर्शनीय वस्तुएं हैं। यहां का प्रबन्ध जयपुर पंचायत के अन्तर्गत है।

पद्मपुरा क्षेत्र—

इस क्षेत्र का करीब २० वर्ष पूर्व प्रादुर्भाव हुआ। यहां भी पद्मप्रभु की चामत्कारिक मूर्ति भूगर्भ से प्राप्त हुई थी। यहां एक विशाल एवं कलापूर्ण मन्दिर का निर्माण हो रहा है। नक्शे के अनुसार पूर्ण बन जाने के बाद यह मन्दिर भारत वर्ष में अद्वितीय होगा।

शांतिनाथ मंदिर आंवां (टोंक)—

आंवां टोंक जिले में एक प्राचीन नगर है। यहां संवत १५९३ की प्रतिष्ठित श्वेत पाषाण की शान्तिनाथ भगवान की ४८"×४८" इंच के आकार की विशाल एवं मनोज्ञप्रतिमा है। इसके दोनों ओर भी बड़ी प्रतिमाएं हैं। नजदीक में पहाड़ी पर भट्टारक गुणचन्द्र धर्मचन्द्र आदि की निषेधिकाएं हैं।

जैन मंदिर मौजमाबाद—

मौजमाबाद राजस्थान के प्राचीन नगरों में से एक है। यह जयपुर एवं अजमेर के मध्य में स्थित है। मंदिर शिखरबन्द, विशाल एवं कलापूर्ण है। इस मन्दिर का निर्माण संवत् १६५० के आसपास हुआ है। यहां महाराजा मानसिंह के आमात्य नानू गोधाने सं० १६६४ में एक विशाल प्रतिष्ठा महोत्सव कराया था-इसमें हजारों मूर्तियों की प्रतिष्ठा हुई थी। मन्दिर के चौक में विशाल चबूतरा है तथा एक भहरा है जिसमें कलापूर्ण एवं मनोज्ञ प्रतिमाएं हैं। एक अन्य मन्दिर और है जिसके भहरे में ३ विशाल मूर्तियां हैं।

सेठजी की नसियां अजमेर—

अजमेर हिन्दू, मुसलमान एवं जैनों का धार्मिक तथा सांस्कृतिक केन्द्र रहा है। यहां अनेक विशाल एवं कलापूर्ण जैन मंदिर हैं जिनमें प्रमुख स्टेशन के नजदीक सेठजी की नसियां उल्लेखनीय है। इसमें समवशरण रचना, पाण्डुक-शिला पर भगवान के जन्माभिषेक की शोभायात्रा आदि के साकार चित्र खिलौनों के रूप में सोने के कार्य एवं सुन्दर चित्रकारी से युक्त है। अजमेर आने वाला कोई यात्री इसे बिना देखे नहीं लौटता। मंदिर के चौक में विशाल मानस्तंभ है तथा मूर्तियां भी विशाल एवं मनोज्ञ हैं।

जैन मंदिर केशोरायपाटन (बूंदी)—

यह मंदिर बूंदी रोड रेल्वे स्टेशन से २ मील दूर है तथा चम्बल नदी के किनारे पर स्थित है। मंदिर के नीचे भहरे में मुनिसुव्रतनाथ की श्याम-पाषाण की विशाल एवं मनोज्ञ प्रतिमा है। यह अतिशय युक्त प्रतिमा अत्यन्त प्राचीन है संभव है १२वीं शताब्दी की हो।

ऋषभदेव मंदिर धूलेव (उदयपुर)—

यह राजस्थान का प्रसिद्ध जैनतीर्थ उदयपुर से ४० मील दूर पहाड़ियों में स्थित है। यहां मूल-नायक भगवान ऋषभदेव की श्याम पाषाण की अतिशय युक्त विशाल एवं मनोज्ञ प्रतिमा है। यह क्षेत्र दिगम्बर एवं श्वेताम्बर जैनों द्वारा समान रूप से पूजनीय है। मंदिर [illegible] शताब्दी का बना हुआ है तथा अनेक विशाल शिखरों से युक्त है।

शिखरों पर दिगम
मूर्तियां (ब्रह्मा, वि
हुई हैं। चारों ओर
होते हैं। दुर्भाग्य से
आपसी झगड़े के कार
व्यवस्था में है। यह क्षेत्र
चढाने के कारण केशरि

यदि सर्वे धर्मग्रन्थाः कण्ठस्थाश्चे
तत्त्वज्ञानविहीनानां, पठनं पा

अर्थ—अगर सारे धर्मग्रंथ मनुष्य कण्ठस्थ करले
क्योंकि जिन्हें तत्त्व का ज्ञान नहीं है उनका
वृथा ही है।

———

जैन दर्शन के प्रमुख प्रवक्ता आचार्य समन्तभद्र

प्रो० उदयचन्द्र जैन एम०ए०

दर्शन का अर्थ—

विचारशील प्राणी होने के कारण मनुष्य प्रत्येक कार्य करते समय अपनी विचारशक्ति का उपयोग करता है। इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य में जो विचारशक्ति या विवेक है उसी का नाम दर्शन है। इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य का एक दर्शन होता है चाहे वह उसे जाने या न जाने। इस भूमण्डल पर अनेक धर्म और दर्शनों की सत्ता दृष्टिगोचर होती है उनमें जैनदर्शन अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है। चौवीस तीर्थंकरों के बाद कुन्द-कुन्द आदि जिन आचार्यों ने जैन दर्शन के तत्वों का विवेचन किया है उनमें आचार्य समन्तभद्र का अपना एक विशेष स्थान है और इसी पर विचार करना इस निबन्ध का विषय है।

जैन दर्शन के इतिहास में समन्तभद्र का स्थान—

अनेकान्त और स्याद्वाद जैन दर्शन के प्राण हैं और आचार्य समन्तभद्र स्याद्वाद विद्या के प्राण प्रतिष्ठापक हैं। हम कह सकते हैं कि समन्तभद्र के पहले जिन तत्वों की प्रतिष्ठा आगम के आधार पर प्रचलित थी आचार्य समन्तभद्र ने उन्हीं तत्वों को दार्शनिक शैली में प्रमाण और नय के आधार पर प्रतिष्ठित किया था। वे बहुत बड़े बुद्धिवादी और परीक्षाप्रधानी आचार्य थे। यही कारण है कि उन्होंने भगवान् महावीर के वचनों को आप्त-वाक्य होने मात्र से स्वीकार नहीं किया किन्तु पूर्णरूप से परीक्षा करने के बाद ही उन्हें ग्रहण किया था वे दूसरों को भी परीक्षाप्रधानी होने का उपदेश देते थे कि किसी भी बात को परीक्षा किए बिना दूसरों के कहने मात्र से नहीं मान लेना चाहिए किन्तु युक्ति और प्रमाण से उसकी अच्छी तरह परीक्षा करके उसके गुण और दोषों का पता लगाना चाहिए और तभी उसे स्वीकार या अस्वीकार करना चाहिए। इसीलिए भगवान् महावीर से उन्होंने स्पष्ट कह दिया था कि हे भगवन्, हम आपको इसलिए पूज्य नहीं मान सकते हैं कि आपके पास देव आते हैं, विमानादि की सहायता के बिना आपका आकाश में गमन होता है अथवा चमर छत्रादि अष्ट प्रतिहार्यों के रूप में और समवशरणादि के रूप में बहिरङ्ग विभूतियों के आप स्वामी हैं। क्योंकि ये बातें तो मायावियों में भी पाई जाती हैं। मंत्र तंत्रादि जानने वाले भी इस प्रकार के अतिशय उत्पन्न करते हुए देखे जाते हैं। यदि हम उक्त तत्वों के कारण आपको पूज्य मानने लगें तो फिर मायावी अर्थात् रागी, द्वेषी और मोही जनों को भी हमें पूज्य मानना पड़ेगा।

पुनः आचार्य समन्तभद्र कहते हैं कि हम आपको इसलिए भी महान् नहीं मान सकते हैं कि आप में क्षुधा, तृषा, जरा, अपमृत्यु आदि के अभाव रूप अन्तरङ्ग अतिशय और शरीर में स्वेद नहीं होना, छाया नहीं पड़ना, मल-मूत्र का नहीं होना आदि बहिरङ्ग अतिशय पाया जाता है। क्योंकि यद्यपि उक्त दोनों प्रकार का अतिशय दिव्य और सत्य है फिर भी उक्त प्रकार का अतिशय रागादि युक्त देवों में भी पाया जाता है। यदि केवल

उक्त अतिशय के कारण हम आपको पूज्य मानें तो देवों को भी पूज्य मानना चाहिए।

तीर्थंकृत या तीर्थङ्कर होने के कारण भी हम आपको पूज्य नहीं मान सकते हैं। जिसने संसार से पार उतरने रूप (तीर्थ मार्ग) का प्रवर्तन किया हो वह तीर्थंकृत् कहलाता है। [तीर्थं संसार निस्तरणोपायं करोतीति तीर्थंकृत्] जिस प्रकार तीर्थंकरत्व आप में पाया जाता है उसी प्रकार कपिल, सुगत आदि में भी तो पाया जाता है। उनके अनुयायी उन्हें भी तीर्थंकर शब्द से अभिहित करते हैं अतः यदि हम तीर्थंकृत होने के कारण आपको पूज्य मानें तो कपिल, सुगत आदि को भी पूज्य मानने में क्या आपत्ति है।

अतः आचार्य समन्तभद्र ने भगवान् महावीर को जो आप्त माना हैं वह उक्त अतिशयों के कारण नहीं माना किन्तु इसलिए माना है कि वे निरावरण और निर्दोप हैं। उन्होंने आत्मा पर पड़े हुए अष्ट कर्म रूप आवरण को दूर कर दिया है और राग, द्वेष तथा मोह को जीतकर वीतराग हो गए हैं। भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित तत्वों में किसी प्रमाण से कोई वाधा न आने के कारण उनके वचन युक्ति और शास्त्र से अविरोधी सिद्ध होते हैं। तथा इन अविरोधी वचनों के कारण ही उनमें निर्दोपता सिद्ध होती है। कहा है—

स त्वमेवासि निर्दोपो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्।
अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते ॥ ६ ॥

—आप्त मीमांसा

इस प्रकार समन्तभद्र ने महावीर को निर्दोप वतलाकर पुनः कहा है कि आपके अनेकान्त शासन रूपी अमृत से बाह्य जो सर्वथा एकान्तवादी हैं वे आप्त न होने पर भी आप्ताभिमान से दग्ध हो रहे हैं, क्योंकि उनके द्वारा अभिमत तत्व प्रत्यक्ष प्रमाण से वाधित है—

त्वन्मतामृत वाह्यानां सर्वथैकान्तवादिनाम्।
आप्ताभिमानदग्धानां स्वेष्ट दृष्टेन वाध्यते ॥ ७ ॥

—आप्त मीमांसा

समन्त भद्र के समय में दार्शनिक विचारधारा

समन्तभद्र का समय भारतीय दर्शन के क्षेत्र में एक वहुत बड़ी क्रांति का समय था। उस समय प्रत्येक दर्शन के क्षेत्र में महान् दार्शनिकों ने जन्म लेकर तत्कालीन प्रचलित विचारधारा को अपनी अपनी तर्कबुद्धि के द्वारा अपने अपने मतानुसार मोड़ने का प्रयत्न किया था। समन्तभद्र के समय में भावैकान्त, अभावैकान्त, नित्यैकांत, अनित्यैकांत, भेदैकान्त, अभेदैकान्त, हेतुवाद, अहेतुवाद, अपेक्षावाद, अनपेक्षावाद, दैववाद, पुरुषार्थवाद आदि अनेक प्रकार के एकान्तवादों का प्रावल्य था। समन्तभद्र के पहले भावैकान्त, अभावैकान्त आदि अनेक एकान्तों का स्थूल रूप में उल्लेख मिलता है। आचार्य समन्तभद्र ने उन्हीं अनेक एकान्तों का सूक्ष्म रूप से परीक्षण करके युक्ति के द्वारा उनका निराकरण किया। परस्पर विरोधी अनेक धर्मों के समुदाय रूप वस्तु की सिद्धि सर्वप्रथम समन्तभद्र के ग्रन्थों में ही उपलब्ध होती है। समस्त एकान्तवादों का स्याद्वाद न्याय के द्वारा समन्वय करना समन्त भद्र की अपनी विशेपता है। भावैकांत और अभावैकांत का समन्वय करते हुए समंतभद्र ने कहा है—

सदेव सर्वं को नेच्छेत स्वरूपादिचतुष्टयात्।
असदेवं विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते ॥ १५ ॥

—आप्तमीमांसा

अर्थात् तत्व कथंचित् सत् [भावरूप] है और कथंचित् असत् [अभाव रूप] है। एक ही वस्तु किसी धर्म की अपेक्षा से सत् है और वही वस्तु अन्य धर्म की अपेक्षा से असत् है घट स्व द्रव्य, क्षेत्र काल और भाव की अपेक्षा से सत् है तथा पर, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से असत् है।

हानि नहीं हुई। इससे यह सिद्ध होता है कि वस्तु उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप है।

स्याद्वाद और सप्तभंगी—

समन्तभद्र के पहले आगम में—

सिय अत्थि णत्थि उहयं अव्वत्तव्वं पुणोय तत्तिदयं।
दघं खु सत्तभंगं आदेस वसेण संभवदि॥

पञ्चास्तिकाय गाथा १४

इत्यादिरूप से स्याद्वाद और सप्तभंगी का उल्लेख अवश्य मिलता है लेकिन उसकी निश्चित व्याख्या, अनेक एकान्तों में सप्तभंगी का प्रयोग और युक्ति के बल पर वस्तु को अनेकान्तात्मक सिद्ध करना समन्तभद्र की महत्वपूर्ण उपलब्धि है।

वस्तु अनेक धर्मात्मक है और उन पर अनेक धर्मों का प्रतिपादन स्याद्वाद के द्वारा किया जाता है। यहां यह ज्ञातव्य है कि प्रत्येक धर्म का प्रतिपादन सात भंगों के द्वारा किया जा सकता है। समन्तभद्र ने बतलाया कि वस्तु में सत्, असत्, उभय और अनुभय ये चार कोटियां ही नहीं हैं किन्तु अनन्त धर्मों का विषय करने वाली अनन्त सप्तभंगियां है। प्रत्येक धर्म का वर्णन उसके प्रतिपक्षी धर्म की अपेक्षा से सात प्रकार से किया जा सकता है। चूंकि वस्तु में अनन्त धर्म हैं, इसलिए अनन्त धर्मों की अपेक्षा से अनन्त सप्तभंगियां बनती हैं।

समन्वय का मार्ग स्याद्वाद

स्याद्वाद का सिद्धान्त सुव्यवस्थित. परिमार्जित और आवश्यक है। यह न अनिश्चितवाद है और न संदिग्धवाद स्याद्वाद विभिन्न दृष्टिकोणों का समन्वय हमारे सामने उपस्थित करना है। विचार के क्षेत्र में संघर्षों को दूर करने का उपाय है विभिन्न दृष्टिकोणों का समन्वय या एकीकरण। मतभेदों तथा संघर्षों का कारण एकान्त दृष्टि है। जैन दर्शन का स्याद्वाद सिद्धांत भिन्न-भिन्न मतभेदों को दूर करने में सर्वथा समर्थ है। विभिन्न मतावलम्बी एकांतवाद के कारण अपने को सच्चा और दूसरों को झूठा मान रहे हैं। लेकिन यदि विभिन्न दृष्टिकोणों से भिन्न-भिन्न दर्शनों के सिद्धांतों को समझने की उदारता दिखलायी जाय तो किसी न किसी अपेक्षा से सब ठीक निकलेंगे। अतः समस्त दर्शनों के सिद्धांतों का समन्वय करने के लिए स्याद्वाद का सिद्धांत अत्यन्त उपयोगी है। स्याद्वाद व्यावहारिक भी है। इसके बिना लोक व्यवहार नहीं चल सकता। जितना भी व्यवहार होता है वह सब आपेक्षिक होता है और आपेक्षिक व्यवहार के कथन का नाम ही स्याद्वाद है।

इस प्रकार समन्तभद्र ने मानस अहिंसा अनेकान्तदर्शन, वाणी की अहिंसा, स्याद्वाद और कायिक अहिंसा सम्यक्चारित्र का प्रतिपादन करके बतलाया है कि वीर शासन इसलिए महान् है कि वह दया, दम, त्याग और समाधिनिष्ठ है, नयों और प्रमाणों के द्वारा वस्तु तत्व को सुनिश्चित करने वाला है तथा दूसरे प्रवादों के द्वारा अबाध्य है। समन्तभद्र ने भगवान् महावीर के शासन को 'सर्वोदय तीर्थ' भी बतलाया है। क्योंकि उनके शासन में जाति, वर्ण और कुल आदि के भेद के बिना सब मनुष्यों को ही नहीं किन्तु प्राणिमात्र को धर्म साधन करने तथा आत्मविकास करने का समान अवसर प्राप्त है।

समन्तभद्र का समय और व्यक्तित्व

आचार्य समन्तभद्र ने विक्रम की द्वितीय शताब्दी में दक्षिण भारत में जन्म लेकर इस भारत मही को अपने असाधारण व्यक्तित्व से अलंकृत और पवित्र किया था। वे क्षत्रिय वंश में उत्पन्न होने वाले एक राजपुत्र थे और लोकहित की भावना से प्रेरित होकर कांची में जाकर दिगम्बर साधु बन गए थे। वे जैनधर्म के मर्मज्ञ और वीर शासन के रहस्य के विशेषज्ञ तो थे ही, साथ ही उन्होंने अपने समय के समस्त दर्शन शास्त्रों का

अध्ययन करके उनका उच्चकोटि का ज्ञान प्राप्त किया था। यही कारण है कि वे उस समय प्रचलित अनेक वादों का युक्ति पूर्वक परीक्षण कर वस्तु के यथार्थ स्वरूप को बतलाने में समर्थ हुए थे। यद्यपि समन्तभद्र में अनेक उत्तमोत्तम गुण विद्यमान थे। किन्तु कवित्व, गमकत्व, वादित्व और वाग्मित्व ये चार गुण तो उनमें परम प्रकर्ष को प्राप्त थे। श्री एम० एस० रामस्वामी आयंगार ने समन्तभद्र के विषय में लिखा है—

"यह स्पष्ट है कि समन्तभद्र एक बहुत बड़े जैनधर्म प्रचारक थे जिन्होंने जैन सिद्धांतों और जैनाचारों को दूर दूर तक विस्तार के साथ फैलाने का प्रयत्न किया है। यह बात उल्लेखनीय है कि जहां कहीं वे गये। उन्हें दूसरे सम्प्रदायों की ओर से किसी भी विरोध का सामना नहीं करना पड़ा।"

जयतु समन्तभद्र शासनम्।

सर्व दर्शनतत्वज्ञः सर्वधर्मविशारदः।
अर्हं तत्वं न जानाति चेत्तदा तुपखण्डनम्॥

अर्थः—जो सम्पूर्ण दर्शनों के तत्व को जानने वाला है और जो सारे धर्मों का विशारद अर्थात् पंडित है किन्तु यदि वह अर्हम् तत्व को नहीं जानता है तो उसका यह सारा ज्ञान और पाण्डित्य उस ही प्रकार व्यर्थ है जिस तरह कि केवल तुषों को कूटना।

—चैनसुखदास

यस्मात्पवित्रं न हि किञ्चिदस्ति
लोकत्रयेऽपीति वदन्ति वेदाः
तदेव नित्यं समुपासनीय—
महो विवेकाख्यमहोमहद्भिः ।

अर्थः—वेदों में ऐसा कहा गया है कि विवेक से अधिक पवित्र और कोई वस्तु तीनों लोकों में नहीं है अतः महापुरुषों को विवेक की ही उपासना करनी चाहिये अर्थात् उसकी प्राप्ति का उपाय करना चाहिये ।

—चैनसुखदास

———

प्रातः स्मरणीय संत—गणेश वर्णी

नीरज जैन

अब से ६० वर्ष पूर्व उत्तर प्रदेश के झांसी जिले में हंसेरा ग्राम के सद्ग्रहस्थ श्री हीरालाल एवं उजियारी देवी के यहां आसोज कृष्णा ४ संवत् १९३१ विक्रमाब्द में एक अत्यन्त होनहार और सुलक्षण पुण्याधिकारी बालक का जन्म हुआ। इसी बालक का नाम गणेशप्रसाद था। गणेशप्रसाद बचपन से ही शांत-स्वभावी, धर्मपरायण और जिज्ञासु थे। यद्यपि उनका कुल धर्म वैष्णव था परन्तु दिगम्बर जैन धर्म की जीवदया और व्यावहारिक पवित्रता से प्रभावित होकर वे उसमें दीक्षित हो गए थे। उनके पिता श्री को भी णमोकार मंत्र पर दृढ़ आस्था थी।

दस वर्ष की अल्प वय में ही मड़ावरा में अपने घर के सामने जैन मंदिर की शास्त्र सभा में होनेवाले प्रवचनों से प्रभावित होकर उन्होंने स्वयमेव रात्रि भोजन एवं बिना छाने जल का त्याग कर दिया था। उनके जीवन का प्रारम्भ अध्यापन कार्य से हुआ। युवा अवस्था में ही उनके माता पिता का, तथा विवाह के दो तीन वर्ष बाद ही पत्नी का चिर वियोग हो गया।

सर्व प्रथम वे मदनपुर ग्राम में अध्यापक नियुक्त हुए तथा अपनी योग्यता के कारण नार्मल ट्रेनिंग के लिए आगरा भेजे गए। धार्मिक जिज्ञासा वश ट्रेनिंग छोड़कर वे जयपुर पहुंच गए किन्तु वहां अध्ययन की व्यवस्था न होने से उन्हें घर वापस आना पड़ा।

धर्म पर उनकी अटूट आस्था और ज्ञान पिपासा देखकर सिमरा (टीकमगढ़ म० प्र०) की विदुषी महिलारत्न सिंघैन चिरोंजाबाई ने उन्हें प्रश्रय दिया। वे धर्मनिष्ठ, ज्ञानवती, सम्पन्न, निःसंतान विधवा महिला थीं। धर्ममाता चिरोंजा बाई के नाम से हम उन्हें स्मरण करते हैं। बालक गणेश से उन्होंने कहा था—

"मैं तुम्हारा पुत्रवत् पालन करूंगी। तुम निःशल्य होकर ज्ञानार्जन करो। जैन धर्म संसार से पार होने की नौका है। प्रमादी मत होना, जो भी काम करो समता से करो।"

बाई जी ने अपने शेष जीवन का प्रत्येक क्षण और विपुल सम्पत्ति का प्रत्येक कण वर्णीजी के जीवन निर्माण में व्यय किया और अन्त में समाधि पूर्वक शरीर त्याग किया। वर्णीजी ने सदैव उन्हें माता सदृश सम्मान दिया।

जतारा (टीकमगढ़) के स्कूल में वे पुनः अध्यापक हुए। डाकखाने का काम भी उन्हें करना पड़ता था। यहां ही कड़ोरेलाल भायजी के सत्संग में उनका स्वाध्याय आरम्भ हुआ। वे विद्यार्जन हेतु पुनः जयपुर गए पर मार्ग में सारा सामान चोरी हो जाने से उन्हें फिर निराश लौटना पड़ा।

ज्ञान की अमिट प्यास ने उन्हें तीस दिन भी घर बैठने नहीं दिया। इस बार मार्ग में चने खाते प्रायः पैदल चलते, अनेक कष्ट उठाते बमराना, येशंदीगिर, कुण्डलपुर, रामटेक, मुक्तागिर, गजपंथा होते हुए वे बम्बई पहुंचे। एक जगह मजदूरी भी करनी पड़ी पर किसी के सामने हाथ नहीं फैलाया। उनकी लोभ हीनता, विनम्रता और लगन ने बम्बई में पंडित पन्नालाल जी बाकलीवाल एवं बाबा

गुरुदयाल जी आदि को प्रभावित किया। जिनकी सहायता से जीविकोपार्जन करते हुए रत्नकरण्ड-श्रावकाचार तथा कातन्त्र पञ्चसंधि की परीक्षाएं सम्मान सहित उत्तीर्ण करके बम्बई परीक्षालय का वास्तविक उद्घाटन उन्होंने किया। इसी समय गुरुणांगुरु पंडित गोपालदासजी वरैया का सान्निध्य उन्हें प्राप्त हुआ।

अस्वास्थ्य के कारण वे बम्बई से पूना और केकड़ी होते हुए एक वर्ष के लिए पुनः जयपुर पहुंचे जहां से गुरु गोपालदास जी बरैया ने उन्हें अपने नव स्थापित विद्यालय में मथुरा बुला लिया। मथुरा में दो वर्ष तक न्यायदीपिका तथा सर्वार्थ-सिद्धि का अध्ययन करके न्याय तथा व्याकरण के विशेष अध्ययन हेतु वे खुरजा गए और सम्मेदाचल की सातिशय वन्दना करते हुए संवत् १०५९ में पुनः सिमरा पहुंच गए।

उन दिनों विद्याध्यन बहुत दुर्लभ था। जैन पाठशालाएं नहीं थीं, तथा जैन विद्वानों का प्रायः अभाव था। छात्र गण गुरु के पास रहकर सेवा तथा दक्षिणा से विद्यार्जन किया करते थे। साहित्य, तर्क, न्याय और व्याकरण शास्त्रों पर ब्राह्मण विद्वानों का एकाधिकार था और उनसे विद्या प्राप्त करना सुलभ नहीं था। इन प्रतिकूल परिस्थितियों में भी गणेशप्रसाद जी की ज्ञान पिपासा अमिट रही और सं० १९६१ में वे पुनः काशी पहुंचे। पंडित अम्बादास शास्त्री ने उन्हें विद्यादान दिया। पश्चात् चकौती, नवद्वीप आदि में विशिष्ट विद्वानों से विद्यालाभ लेकर उन्होंने न्यायाचार्य की उपाधि प्राप्त की।

अध्ययन में जो बाधाएं उनके समक्ष आईं उससे उन्हें जैनों की शिक्षा सुविधा की आवश्यकता का अनुभव हुआ। सर्व प्रथम उन्होंने काशी में एक जैन विद्यालय की स्थापना का प्रयास किया। कामा के बाबा झम्मनलाल जी से इस हेतु एक रुपये का प्रथम दान प्राप्त हुआ। कर्मवीर गणेश-प्रसाद ने उस रुपये के ६४ पोस्टकार्ड लाकर समाज के प्रमुखों को लिखे। उत्तर में सौ रुपया मासिक सहायता के वचन प्राप्त हुए और श्रुतपंचमी सं० १९६२ को बाबू देवकुमार जी आरा और पंडित पन्नालाल जी बाकलीवाल आदि की उपस्थिति में सेठ माणिकचन्द जी बम्बई के कर कमलों से इस स्याद्वाद महाविद्यालय का उद्घाटन हुआ। वर्णीजी स्वयं इसके आदि छात्र थे। अब यह विद्यालय एक प्रथम श्रेणी की आदर्श और राष्ट्रीय संस्था है। धर्म, दर्शन, साहित्य और व्याकरण में निष्णात यहां के शतशः स्नातक सारे देश में इस संस्था का गौरव प्रसार कर रहे हैं।

विद्या को वर्णीजी जीवन में सर्वोपरि महत्व देते थे, अतः शिक्षा प्रसार का यह पवित्र उद्देश्य उनका जीवन व्रत बन गया। बनारस हिन्दू विश्व विद्यालय के पाठ्यक्रम में जैन विषयों के समावेश का प्रयास उनके ही समक्ष पंडित मोतीलाल नेहरू के सहयोग से सफल हुआ। सागर में अक्षय तृतीया १९६५ को सर्वश्री पूर्णचन्द्र बजाज, मूलचन्द्र बिलौआ, सिंघई कुन्दनलाल, शिवप्रसाद मलैया आदि के सहयोग से "सत्तर्क सुधा तरंगिणी दिगम्बर जैन पाठशाला" की स्थापना हुई जो आज गणेश विद्यालय के नाम से एक विख्यात विद्या केन्द्र है। सागर का दिगम्बर जैन महिलाश्रम, खतौली का कुंद कुंद विद्यालय (कालेज) तथा ललितपुर का वर्णी कालेज आदि अनेक महती संस्थाओं की स्थापना भी उन्हीं के सदुपदेश से हुई।

समस्त बुन्देलखण्ड उनका प्रमुख कर्मक्षेत्र रहा और हजारों मील की पदयात्रा करके उन्होंने जन साधारण को सत्य, अहिंसा, दया, सदाचार तथा त्याग का उपदेश किया। लाखों व्यक्तियों को मद्य, मांस, मधु का त्याग कराकर उन्हें इन व्यसनों से मुक्ति दिलाई। उन्होंने स्थान स्थान पर पाठशाला विद्यालय, गुरुकुल, महिलाश्रम, सरस्वती भवन, स्वाध्याय शाला और उदासीन आश्रम आदि

संस्थाओं की स्थापना कराई। उनके उपदेश से प्रचुर द्रव्य का दान हुआ तथा समाज विकास, विद्या प्रचार और धर्म प्रभावना में उसका उपयोग हुआ।

ज्ञानाराधन के साथ साधक गणेश प्रसाद के मन में संसार, शरीर और भोगों के प्रति उदासीनता भी क्रमशः बलवती होती गई और उन्होंने कुण्डलपुर में आश्रम के संस्थापक गुरुवर्य बाबा गोकुलदास जी से सातवीं प्रतिमा सहित ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण कर लिया। दीक्षित होकर वे "वर्णी जी" कहलाने लगे। यह सम्बोधन अन्त तक उनके महान व्यक्तित्व का प्रतीक बना रहा।

उनका यह त्यागमय जीवन प्रारम्भ से ही स्व-पर कल्याण की भावना से ओत प्रोत हो गया। उन्होंने समष्टि के कल्याण की दिशा में अनेक सफल प्रयास किए। सदैव दलित और पीड़ित वर्ग को त्राण दिलाया।

सैकड़ों समाज बहिष्कृत और उपेक्षित कुटुम्बों का उद्धार कराया और हजारों लोगों को आपसी द्वेष तथा पुरातन रूढ़ियों से मुक्ति दिलाई, फिर भी वे सदैव सबके सम्मान्य और श्रद्धास्पद रहे।

वर्णी जी की करुणा अनुपम थी। दीन-दुखी दुर्बल या आक्रान्त को देखकर उनका हृदय तड़प उठता था। वे मान का मर्दन करते हुए-लकड़हारे के पैर का कांटा निकाल कर, विषमता का परिहार करते हुए-दलित पिपासु को अपने पात्र से पानी पिलाकर या शीत से ठिठुरती भिखारिन को अपना चादरा ओढ़ाकर अपनी सदय वृत्ति का परिचय देते थे।

उनका विवेक जागृत और वाणी निर्भीक थी। राष्ट्रीय महत्व के प्रश्नों तक भी उनकी दृष्टि पहुँचती थी। जबलपुर की जनता ने उन्हें आजाद हिन्द सेना के बन्दियों की मुक्ति हेतु आशीर्वाद के साथ उनके शरीर पर की एक मात्र चादर दान करते हुए देखा है, जिसके फलस्वरूप जनता ने उक्त कार्य में अच्छा आर्थिक सहयोग देकर वह चादर पुनः उनके चरणों में अर्पित की। ललितपुर में आचार्य विनोवा भावे ने उनकी समता एवं निष्पृहता की सराहना करते हुए उन्हें प्रणाम किया।

समाज और राष्ट्र के जीवन में उन्होंने सदैव सदाचार और अपरिग्रह को अनिवार्य निरूपित किया। भारत के प्रथम गणतंत्र दिवस पर उन्होंने कहा थाः—

"भारत को स्वतंत्रता मिली परन्तु इसकी रक्षा निर्मल चरित्र से होगी। यदि हमारे अधिकारी महानुभाव अपरिग्रहवाद को अपनायें तथा अपने आपको स्वार्थ की गंध से दूर रखें तो सरल रीति से स्व-पर का भला कर सकते हैं।"

मानवता के प्रति वर्णीजी की जो दृढ़ आस्था थी उसी आधार पर "हरिजन मंदिर प्रवेश" जैसे क्रान्तिकारी प्रश्नों पर भी उनका अभिमत स्पष्ट, निर्भीक और दृढ़ रहा है। तत्सम्बन्धी विरोधों का सामना करते हुए उन्होंने कहा था—

"हरिजन भी संज्ञी, पंचेंद्रिय, पर्याप्त मनुष्य हैं। उनमें सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की सामर्थ्य और व्रत धारण करने की भी योग्यता है। समन्तभद्राचार्य ने तो सम्यग्दर्शन सम्पन्न चाण्डाल को भी देव की संज्ञा दी है; पर आज के मनुष्य धर्म की भावना जागृत होने पर भी उसे जिन दर्शन—मंदिर प्रवेश का अनधिकारी मानते हैं।"

"शूद्र-जिन्हें हरिजन कहते हैं—उनके भी व्रत प्रतिमा हो सकती है। ये बारह व्रत पाल सकते हैं। धर्म की भी अकाट्य श्रद्धा इनके हो सकती है, फिर इनको देव दर्शन से क्यों रोका जाय?

वर्णीजी की उस क्रान्तिकारी आवाज ने समाज में उथल-पुथल मचा दी थी। समाज के उदारता वादी प्रबुद्ध वर्ग ने एक ओर जहाँ इसके समर्थन की होड़ लगा दी वहीं कुछ संकीर्णतावादी

महानुभावों द्वारा इसका विरोध भी किया गया पर वर्णीजी ने चट्टान जैसी अडिगता से उसका सामना किया और अपनी समता का अलौकिक उदाहरण प्रस्तुत किया।

समाज कल्याण की इस क्रांतिकारी भावना के साथ वर्णीजी के मन में वैराग्य एवं त्याग की भावना भी निरन्तर उत्कर्षित हो रही थी। फाल्गुन शुक्ला ७ सं० २४७४ वीराब्द को उन्होंने बरुवा-सागर में भगवान जिनेन्द्र के समक्ष क्षुल्लक दीक्षा ग्रहण कर ली। हर प्रकार के वाहन का त्याग पहिले ही हो चुका था, अब एक कोपीन तथा एक वस्त्रखण्ड ही उनका परिग्रह था और दिन में एक ही बार आहार जल ग्रहण करने का नियम था।

वर्णीजी का इतिहास दिगम्बर जैन समाज के उत्कर्ष का इतिहास है। इस काल में जो अनेक महत्वपूर्ण कार्य हुए उनमें शतशः दुष्प्राप्य सैद्धांतिक ग्रन्थों का उद्धार, सम्पादन एवं प्रकाशन, अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद की स्थापना, अनेक विशाल शास्त्र भण्डारों की सूचियों का प्रकाशन, आदि उल्लेखनीय हैं। उनकी शिष्य परम्परा के अनेक सदाचारी विद्वान प्रायः देश भर में ज्ञान की ज्योति प्रज्ज्वलित करते हुए उनके सपनों को साकार कर रहे हैं।

फिरोजाबाद में सेठ छदामीलाल द्वारा माघ सं० २००७ में एक विराट मेले का आयोजन हुआ। उत्तर प्रदेश के तात्कालिक मुख्यमंत्री श्रीयुक्त पंडित गोविन्दवल्लभ पंत द्वारा उद्घाटित उस मेले में वर्णीजी का हीरक जयन्ती महोत्सव बड़ी धूमधाम से मनाया गया तथा देश के अग्रणी विचारक काका कालेलकर द्वारा उन्हें अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट किया गया।

वर्णीजी ने क्षुल्लक अवस्था में भी पदयात्रा करके अनेक वर्षों तक भ्रमण किया। उनके प्रवास से ग्वालियर, आगरा, मथुरा, अलीगढ़, मेरठ, खतौली, हस्तिनापुर, सरसावा, दिल्ली, इटावा, फिरोजाबाद, बरुवासागर, ललितपुर, टीकमगढ़, शाहगढ़, सागर आदि अनेक स्थानों की लक्ष-लक्ष जनता ने सदुपदेश और सम्बोधन प्राप्त किया। इसी बीच उन्होंने अतिशय क्षेत्र कुंडलपुर, पपौरा, अहार, खजुराहो तथा सिद्ध क्षेत्र द्रोणगिर, रेशंदीगिर आदि की वन्दना की।

वर्णीजी महाराज ने सं० २००९ में पुनः सम्मेदाचल के लिए प्रस्थान किया। बुन्देलखण्ड से यह उनकी अंतिम यात्रा थी। स्थान स्थान पर लाखों नर-नारियों ने अश्रुसिक्त श्रद्धासुमन चढ़ाकर उन्हें विदा दी और वे पदयात्रा करते हुए कुण्डलपुर, कटनी, सतना, मिरजापुर, वाराणसी, गया होते हुए ईसरी पहुँचे। मार्ग में गया में उनका चातुर्मास हुआ जहां समयसार पर उनका प्रवचन रिकार्ड किया गया। यहीं श्रावण कृष्णा १० सं० २०१० को सर्वोदयी संत आचार्य बिनोवा भावे से पुनः उनका मिलाप और वार्तालाप हुआ। संत बिनोवा भावे के प्रति उन्होंने कहा था—

"सर्व प्राणी सुख के पात्र हैं तथा कोई दुःख का अनुभव न करे यह भावना आप में पाई जाती है।"

पूज्य वर्णीजी महाराज मनुष्य मात्र को समान भाव से देखते थे। उनकी मान्यता थी कि श्रद्धा और सदाचार से प्रत्येक जीव अपना कल्याण कर सकता है। वे दिगम्बर जैन धर्म के सच्चे अनुयायी और प्रबल प्रचारक थे, परन्तु अन्य धर्मों की अच्छाइयों को भी उदारता पूर्वक स्वीकार करते थे। भगवान कुंदकुंदाचार्य का मर्म ग्रन्थ "समयसार" उनका अवलम्बन था और वे प्रायः प्रति समय उसका जपन, चिंतन, मनन और अनुभवन किया करते थे। समयसार की यह गाथा उनका गुरु मंत्र थी—

रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विराग संपत्तो।
एसो जिणोवदेसो तह्मा कम्मेसु मा रज्ज॥

–रागी प्राणी कर्मों को बांधता है। और राग रहित प्राणी कर्मों को छोड़ता है बंध के विषय में जिनेन्द्र भगवान् का यही उपदेश है अत: कर्मों में राग मत करो। भावों की समता और अभिप्राय की निर्मलता के साथ शुद्ध खादी की लँगोटी और चादर में आवृत वे पवित्रता, सरलता तथा भव्यता की प्रतिमूर्ति ज्ञात होते थे।

पूज्यश्री अपना अंत समय निराकुलता पूर्वक आत्मारावन में व्यतीत करना चाहते थे इस हेतु उन्होंने ईसरी के उदासीन आश्रम को अपना आवास बनाया था। यह संयोग की बात है कि पूर्व में उन्हीं के सदुपदेश और निमित्त से इस आश्रम की स्थापना और निर्माण हुआ था। यहां रह कर उन्होंने पांच बार भक्तिभाव-पूर्वक सम्मेदाचल की वन्दना की। यहीं उनकी छत्रछाया में वाराणसी और सागर के विद्यालयों के सविशेष स्वर्ण-जयन्ती महोत्सव सम्पन्न हुए। यहीं सं० २०१२ में भारतीय गणतंत्र के तत्कालीन राष्ट्रपति, भारतरत्न, डा० राजेन्द्रप्रसादजी ने उनका दर्शन किया। यहीं सं० २०१३ में सोनगढ़ के संत श्री कानजी स्वामी और सं० २०१६ में श्वेताम्बर तेरापंथी आचार्य तुलसी गणी उनसे मिले। यहीं से मानव मात्र की समानता का उद्घोषक उनका जन-कल्याणकारी अमृतमय उपदेश देश भर में सात वर्षों तक प्रसारित होता रहा।

उन्होंने संसार की दशा का अवलोकन करके, स्व-पर विवेक जागृत किया था। "समयसार" उनकी सांसों में बस गया था। शरीर आदि समस्त पर वस्तुओं में उनका राग क्षीण हो गया था और आत्म-शांति के अमृत का स्वाद उन्हें प्राप्त हो गया था। शरीर की अशक्ति को लक्ष्य करके उन्होंने सल्लेखना मरण अंगीकार किया तथा अन्न, दूध, फल आदि का क्रमश: त्याग करते हुए अंत में जल भी छोड़ दिया। अंत समय में सर्वपरिग्रह का बुद्धि-पूर्वक त्याग करके दिगम्बरी मुद्रा और पंचमहाव्रत उन्होंने धारण किए तथा उनका दीक्षा नाम "१०८ श्रीगणेश कीर्तिजी महाराज" घोषित हुआ। उनकी क्षुल्लक दीक्षा के समान यह दीक्षा भी भगवान जिनेन्द्र के समक्ष हुई।

उदासीन आश्रम के मध्य में जिस स्थान पर उनका पार्थिव शरीर भस्मीभूत हुआ उस स्थान पर "वर्णी स्मारक समिति" की ओर से एक विशाल और दर्शनीय स्मारक का निर्माण हो रहा है। श्रीमान् बाबू छोटेलालजी इस स्मारक के निर्माण में अपने चिंतनीय स्वास्थ्य के बावजूद दिन रात लगे रहते थे और आशा थी कि उनके परिश्रम से यह स्मारक पूज्य वर्णीजी के व्यक्तित्व और कृतित्व के अनुरूप ही निर्मित होगा तथा दीर्घकाल तक प्रकाश स्तम्भ की तरह हमें उनका संदेश स्मरण दिलाता रहेगा। दुःख है कि हमारी इस आशा के पूर्ण होने से पूर्व ही बाबूजी हमारे बीच नहीं रहे। उनके इस छोडे हुए कार्य को पूर्ण करना हमारा सबका कर्तव्य है।

बचावे लाज सतियों की
उसे रघुवीर कहते हैं ।
निभावे जो वचन अपना
उसे प्रणवीर कहते हैं ॥
अशक्तों को बचाता जो
उसे रणवीर कहते हैं ।
जो जीते अष्टकर्मों को
उसे महावीर कहते है ॥

—अज्ञात

————

आगमों व त्रिपिटकों के संदर्भ में : अभयकुमार

अणुव्रत परामर्शक—मुनि श्री नगराजजी

श्रेणिक बिम्बिसार व अजातशत्रु कूणिक से भी अधिक रहस्य का प्रश्न अभयकुमार का है। इसके लिए जैन और बौद्ध दोनों परम्परायें अपना-अपना अनुयायी होने का ही आग्रह नहीं करतीं, प्रत्युत अपने-अपने भिक्षु संघ में दीक्षित होने का भी निरूपण करती हैं। आगमिक उल्लेख के अनुसार वह स्वयं महावीर के पास दीक्षित होता है। त्रैपिटिक उल्लेख के अनुसार वह स्वयं बुद्ध के पास प्रव्रज्या पाता है।

जन्म

जैन परम्परा मानती है—वह श्रेणिक भंभसार की नन्दा नामक रानी से उत्पन्न हुआ था।[1] नन्दा बेन्नातट पुर[2] के धनावह नामक श्रेष्ठी की कन्या थी। श्रेणिक कुमारावस्था में निर्वासित होकर वहाँ पहुँचा था और उसने नन्दा के साथ पाणिग्रहण किया था। अभय कुमार आठ वर्ष तक अपनी माता के साथ ननिहाल ही रहा। उसके पश्चात् माता व पुत्र दोनों ही राजगृह आ गये।[3]

बौद्ध परम्परा में अभय कुमार को सर्वत्र 'अभय राजकुमार' कहा गया है। उसके अनुसार वह उज्जैनी की पद्मावती गणिका से उत्पन्न श्रेणिक बिम्बिसार का पुत्र था।[4] पद्मावती की लावण्य-ख्याति बिम्बिसार ने सुनी। वह उसकी ओर आकृष्ट हुआ। अपने मन की बात अपने पुरोहित से कही। पुरोहित की आराधना से कुम्भिर नामक यक्ष प्रकट हुआ। वह यक्ष बिम्बिसार का

---

१. तस्स णं सेनियस्स रन्नो पुत्ते नंदाए देवीए अत्तए अभय नामं कुमारे होत्था।

—निरयावलिका सूत्र, सूत्र २३

तस्स णं सेणियस्स पुत्ते नन्दाए देवीए अत्तए अभए नामं कुमारे होत्था।

—ज्ञाता धर्मकथांग सूत्र, श्रु० १, अ० १

अभयस्स णाणत्तं; रायगिहे नगरे, सेणिएराया, नंदादेवी माया, सेसं तहेव।

—अनुत्तरोपपातिक दशांग सूत्र, १।१

२. बेन्नातट नगर दक्षिण की कृष्णा नदी जहां पूर्व के समुद्र में गिरती है, वहां पर होना चाहिए। विशेष विवरण देखें; तीर्थंकर महावीर भा० २ पृ० ६४१-४३

३. भरतेश्वर-बाहुबली वृत्ति, पत्र ३६।

४. [illegible] के अनुसार अभयराजकुमार वैशाली की गणिका आम्रपाली से उत्पन्न बिम्बिसार का पुत्र था। [खण्ड ३, २, पृ० २२]। श्रेणिक से उत्पन्न अम्बपाली के पुत्र का नाम मूल पाली साहित्य में विमल कोण्डञ्ञ आता है, जो कि आगे चलकर बौद्ध भिक्षु बना। [थेर गाथा-अट्ठकथा, ६४]

त्याग किया है।" इस प्रकार अभय ने वह लोक चर्चा समाप्त की।[1]

अभयकुमार की धर्मानुरागिता के अनेकानेक घटना-प्रसंग जैन परम्परा में प्रचलित हैं। अभयकुमार की छींक का फल बताते हुये महावीर ने स्वयं उसे धर्मनिष्ठ कहा। अभयकुमार के संसर्ग से ही राजगृह के प्रसिद्ध कसाई कालशौरिक का पुत्र सुलसकुमार निगण्ठ धर्म का अनुयायी बना।[2] अभयकुमार ने ही आर्द्रककुमार को धर्मोपकरण उपहार रूप में भेजे थे, जिनसे प्रतिबुद्ध होकर वह भिक्षु बन गया।

अभयकुमार की प्रव्रज्या के विषय में बताए . ा है—भगवान् महावीर राजगृह में आये अभयकुमार भी वन्दन के लिये उद्यान में गए देशना के अन्त में अभयकुमार ने पूछा—'भग अन्तिम मोक्षगामी राजा कौन होगा?"[3] मह ने उत्तर दिया—"वीतभयपुर का राजा ए जो मेरे पास दीक्षित हुआ है, वही अन्तिम गामी राजा है।" अभयकुमार के मन "मैं यदि राजा बनकर फिर दीक्षित ह मेरे लिये मोक्षगामी होने का रास्ता जायेगा। क्यों न मैं कुमारावस्था में ही करूं।"

अभयकुमार श्रेणिक के पास की बात उसे कही। श्रेणिक ने क के दिन तो मेरे हैं, तुम्हारे तो के दिन हैं।" अभयकुमार के

श्रेणिक "दूरे हो ज

में स

---

१. धर्मरत्न प्रकरण, अभयक

२ हेमचन्द्र-योगशास्त्र [

३. यह भी माना जात वद्ध राजा के दीक्षि

एक रूप हिन्दू तुरुक, दूजी दशा न कोय।
मन की द्विविधा मानकर, भये एक से दोय॥
दोऊ भूले भरम में, करें वचन की टेक।
राम राम हिन्दू कहें, तुरक सलामालेक॥
इनके पुस्तक वांचिये, वेहूं पढ़े किते़ब।
एक वस्तु के नाम द्वय, जैसे शोभा जेब॥
तिनको द्विधा जे लखें, रंग विरंगी चाम।
मेरे नैनन देखिए घट-घट अन्तर राम॥

—बनारसीदास

भारत की जैन जातियाँ

(भंवरलाल पोल्या का जैनदर्शनाचार्य)

भारतवर्ष की जातियों में जैन जाति अपना एक विशिष्ट और महत्वपूर्ण स्थान रखती है। भारतीय संस्कृति, साहित्य और कला के क्षेत्र में इस जाति का अद्वितीय योगदान रहा है। जैन धर्म के प्रवर्तक व संस्थापक तीर्थंकर, आचार्य एवं साधु आदि काल से ही जातिवाद के विरुद्ध रहे हैं किन्तु उनके अनुयायी आज इतनी अधिक जातियों और उपजातियों में बंटे हुए हैं कि देखकर आश्चर्य होता है।

प्रायः ऐसा कहा जाता है कि जैनियों की ८४ जातियां हैं किन्तु खोज से यह बात गलत प्रमाणित होती है। सन् १९५९ में डा० विलास आदिनाथ संघवी की 'Jain Community; A social survey' नाम से एक पुस्तक प्रकाशित हुई है जिसमें उन्होंने उक्त पुस्तक के पृष्ठ १११ से परिशिष्ट रूप में कुछ सूचियां दी हैं इनमें से आदि की ५ सूचियों का आधार उनके कथनानुसार निम्न है :—

१–परिशिष्ट १. यति श्रीपालचन्दजी की 'जैन सम्प्रदाय शिक्षा'।

२–परिशिष्ट २. पी० डी० जैन द्वारा रामलालजी की 'महाजन वंश मुक्तावलि' से उद्धृत।

३–परिशिष्ट ३. विल्सन द्वारा 'वर्क्स बाई विल्सन' में दी गई सूचि।

४–परिशिष्ट ४. यति श्रीपाल की 'जैन संप्रदाय शिक्षा" में दी गई गुजरात के जैनों की सूचि।

५–परिशिष्ट ५. दक्षिण की जातियों की सूचि।

इनमें से परिशिष्ट २-३-४ की सूचियों में जातियों की संख्या ८४ ही है। परिशिष्ट १ में यद्यपि ऊपर तो 'जैनियों की ८४ जातियां' ऐसा लिखा है मगर नाम ८३ ही दिये हैं। परिशिष्ट ५ में जातियों की संख्या ९१ है।

इन सूचियों के अतिरिक्त लेखक की दृष्टि में २ और सूचियां आई हैं इनमें से एक तो जयपुर के गोधों के मन्दिर के शास्त्र भण्डार में है जो वीरवाणी वर्ष ६ के अंक ७ में श्री अनूपचन्दजी न्यायतीर्थ ने प्रकाशित कराई है तथा दूसरी सूची केकड़ी के पास पारां नामक ग्राम के जैन मंदिर में है जो शायद अभी तक अप्रकाशित है। इन दोनों सूचियों में भी जातियों की संख्या ८४ ही है। किन्तु ये सातों सूचियां आपस में नहीं मिलतीं। इन सूचियों को पृथक-पृथक हम यहां स्थानाभाव से नहीं दे रहे हैं किन्तु इन सब सूचियों में जैनियों की जिन-जातियों का उल्लेख मिलता है वे निम्न हैं। इनमें जो नाम इन सूचियों में से एक से अधिक सूचियों में आए हैं उनका यहां एक ही बार उल्लेख किया है—

१. श्रीमाल २. श्री श्रीमाल (श्री श्रीमाली), ३. अग्रवाल ४. ओसवाल (वंसावाला), (असवाल) (वोसवाल) ५. बटनेरा, ६. कपूला (कपोला), ७. खण्डायत (खाड़ायत), (खडायात), (खंडायता) ८. खण्डेलवाल (खण्डेरवाल) ९. चतुर्थ (चतुर्थ श्रावक) १०. चीतोड़ा (चित्रऊड़ा), ११. जायलावाला, (जायलवाला), (जलवाल) १२. जेसवाल १३. धुनमरा, (डुमारे) १४. दशोरा (दसारा)

१५. नागरा, (नागरिया), (नागर) १६. नरसिंह-पुरा (नरसिंहरा), (नरसिंघोड़ा) १७. पल्लीवाल १८. पटवार (परवाल) १६. पंचम (पंचमवाल), (पंचमश्रावक) २०. वघेरवाल (वगेरवाल), २१. वदनौरा (वदनेरा) २२. मेड़तावाला (मेड़तवाल) २३. लवेचू, (लमेचू) २४. लाड़, (लढ़ा) २५. हरसौरा, (हरसोला), २६. हुमड़, २७. श्रीखण्ड २८. श्री गुरु, २६. श्री गौड़, (श्री गडड़) ३०. अजमेरा, ३१. अजोधिया, (अयोध्यापुरी), (अयोध्यापर्व), ३२. अदलिया, ३३. अवकठवाला, (अवकथवाल) ३४. कठाड़ा, ३५. ककस्थान, ३६. काकड़िया ३७. खडवा, ३८. खेमावाला, ३६. गंगगाड़ा (गंगरड़ा), (गांगरड़ा), ४०. गहिलावाला, ४१. गोलावाला, ४२. गोगावास, (गोगूवाला), (गोगवार), ४३. गंगोदिया, (गुन्दोरिया) (गिन्दौड़िया), (डिडोरिया), ४४. चकोड़िया ४५. चांरगिया, ४६. जालौरा, (जालहरा), ४७. जम्बूनगरा, ४८. तिननौड़ा (तनतोड़िया), (तांनिड़) ४६. धवलकोठड़ी, ५०. धाकड़, (ढ़कर), (धाकड़िया), ५१. नारनगरेसा, ५२. नेमा, (नीवा) (नीमा), ५३. नवनभारा ५४. नागिन्द्र, ५५. नाथाचल्ला, (नाथचल्ला), ५६. नाचेला, ५७. नौनिया, (नौटिया). ५८. पोकर, ५६. पोरवाडा, (पोरवाड़), (पोरवाड) (नगाड़ा), ६०. पोसरा, ६१. बारामाका, ६२. बीड़ीयाड़ा ६३. भोगाड, (वोगारा), ६४. भावनेज ६५. भुंगाद्वारा, ६६. महेश्वरी, (डेडूनहश्री), ६७. माथुरिया, ६८. माड़ (माढ़) ६६. मण्डालिया, (माण्डलिया), (मोड़माण्डलिया), ७०. राजपुरा, ७१. राजिया, (राजीव), (रजिया) ७२. हरद (हरद). ७३. हाकड़िया, ७४. सांभर ७५. नदौला, ७६. नारिड़ावाला, (नारिड़वाला), ७७. नोरडवाला, (नोरटिया), ७८. मेवेवाला, ७९. मोहिल वाला ८०. सुरेन्द्र (स्वरिन्द्र), ८१. सोनिया, (सोनिया), (सोनी), ८२. सोरंदिया,

८३. ढूंढतवाला, ८४. पुकरवाला, (पुष्करवाल,) ८५. मगलवाला, (मंगल) ८६. दोसावाला ८७, करवाला, (जैन कल्लाल), ८८. रायकावाला, ८६. अचितवाला, (आरचिता वाला), ६०. श्रीमाली ६१. नानावाला, ६२. कारलाला, ६३. गुरुवाला, (गुरुचारा), ६४. अथसमय, परवारा, ६५. मूरीवारा, ६६. पदमावती पुरवार, (पदमावती परवाल), ६७. सारथिया पोरवाड़, (पोरवाल सोरठिया), ६८. दसेरा पोरवाड़, ६६. माली पोरवाड़, १००. जांगड़ा पोरवाड़, (जांगड पोरुयाड़) (परवार जागवाड़ा), १०१. अनदोरा, (अंश्रोरा), (अणदउरा) १०२. हरदोरा, (हरदरा), (हरधरा) १०३. सोहोरा, (सोहरवाल), १०४. नातेरा, १०५. सनदोरा, (सांधरा), १०६. लम्बूसरा, १०७. मझावारा, १०८. सांचोरा, (साचोरे), साचउरा, १०६. गोलापूरब, (गोलापुरा), ११०. गोलालारे, १११. गोलसिंघारे, ११२. बरैया, (वरहिया,), (वाहरिया), (वावरिया), ११३. सिरहिया, (सेहरिया), ११४. करहिया, ११५. करनसिया, ११६. गहपाटय, ११७. खदवड़ ११८. नारायण, ११६. डेढू, (दीढू) १२०. वसाकमकोमली, १२१. अकना, १२२. यवपाड़ा, १२३. भेराणा, १२४. माड़ाहाड़ा, (मड़ाहड़ा), १२५. धनोरा, १२६. कन्थाड़ा, (वन्थाड़ा), १२७. गंगरानी, १२८. वजव, १२६. घड़ी, १३०. धारक, १३१. सहेलवा, (सहिलवाल), १३२. भटनागर, १३३. गोधा, १३४. श्री गोधा १३५. कजपुरी, १३६. नागदा, (नागद्रहा), (नागदूहा), १३७. डेड़ाग्रह, १३८. पोरवाल, (पोरवाल पदमावत्या), १३६. गोलार, १४०. गजपूर्वी, १४१. पोरवार, (पोरवाड़), १४२. डेंड़ेरवाल, १४३. हिम्मार गुजराती, १४४. बरमोरा, १४५. खरब, १४६. खण्डोदा १४७. सतनोरा, १४८. कंबालिया, १४६. नदोला, १५०. नटोला, १५१. मोढ़िया, १५२. स्ट्रोग,

१५३. जोनरा, १५४. गहम्वण्डजा १५५. चोगडिया, १५६. भगेरीवाला, १५७. ब्रह्मटा, १५८. वेदूजा, १५९. ग्रन्दानुजा, १६०. गोगथ्या, १६१. मण्डवथा १६२. गोमवंशी वोगारा, (हेवगारा), १६३. डकथा, १६४. वैश्य, (वैस), १६५. नागधारा, १६६. पोरा १६७. कड़य, १६८. कांहारी, १६९. मय, १७०. कम्मेहा, (कम्में), (कमैया) १७१. मारकेया १७२. मोटवाला, (मोठ), (मोड़), १७३. श्वेतवाला, (सेतवार), १७४. चक्की छत्ता १७५. खण्डारथा १७६. नरिदचा, १७७. बीमंगई, १७८. विक्रिगा १७९. विश्वयगा, १८०. वेरासरी, १८१. ग्रष्टकी १८२. ग्रष्टधागा, १८३. पावरामी, १८४. ढक्का छाला, (ढकछाल), १८५. वोगोनरी, १८६. नगाया १८७. कोरगरिया, १८८. वमारिया, १८९. मेकगंनान्य, १९०. ग्रानन्दी, (ग्रानन्दे), १९१. नागोरा (नागोरी),(नागऊरा), १९२. पालस्त्य १९३. जम्नोरा १९४. नेमीलारा, १९५. धवली ज्योति १९६. ग्रनेरवाल, १९७. ग्राधावराजी, १९८. ग्रोरवाल १९९. कठेरवाल, २००. करवेरा, २०१. काकलिया, २०२. फाजोतीवाला, २०३. कोरटवाल, (कोरटथा), २०४. रभवोवाला, २०५. खातरवाल, २०६. खोर्मी, २०७. गमोरा, २०८. गूजरवाल २०९. गोपनवाल, २१०. नफाक, २११. चित्रवाल २१२. भगोरा, २१३. जीरणवाल, २१४. जीमा, २१५. जम्नु, २१६. भलियारा, २१७. ठाकरवाल, २१८. तोताणवाल, २१९. नेरोडा, २२०. तीपोरा, २२१. डोरवाल, २२२. पदमोरा, २२३. बटीवरा, २२४. वहरा, २२५. वाग्रीवा, २२६. वावरवाल, २२७.भामतवाल, २२८.वानमोवाल,२२९.वाहोरा, (महेरा). २३०. भारीजा, २३१. मुंगरवाल २३२ मूंगड़ा. (मुनड़ावाला), (मुगड़िया), २३३. मालरवाल, २३४. मेड़वाड़ा, (मेवाड़ा), २३५. मिहिलिया, २३६. मंगोरा २३७. मंड़ा हुवा, २३८. मेड़ुरा २३९. लाडी नाथा २४०. निगादन २४१. बाडरा २४२. मर्वी २४३. सूरवाल २४४. सिरकेरा २४५. सोजतवाल २४६. सारविया २४७. गैलवाड़ा २४८. गंगेरवाल २४९. विदियाडी २५०. ब्रह्माक २५१. प्रस्थवार २५२. वपूलवाड २५३. कन्दौया २५४. वदेना २५५. मनिया २५६. नकाचपा २५७. खण्डवस्त २५८. नरसिया २५९. भवनगेह २६०. करवस्तन २६१. सरउिगा २६२. पोमरा २६३. भाकरिया २६४. वदवड्या २६५. कारेगराया २६६. पहासया २६७ नकोडा २६८. वहडा २६९. धनवाला २७०. पवारछिया २७१. वागरोरा २७२. पीतडी २७३. नुडेला २७४. मिगारा २७५. महना २७६. डीमावाल २७७. भाभू २७८. दोहिल २७९. मुगाणा २८०. गुजर २८१. मुहडवाल २८२. नागरवाल २८३. कुकुटिया २८४. गोभलिया २८५. चण्डायन २८६. वायडा २८७. बावा २८८. करहिया २८९. काववबरा २९०. छालाग २९१. सिरखण्डेरा २९२. वयम २९३. हस्तकी २९४. कम्बो २९५. जिवडा २९६. भोगोउड़ा २९७.ग्रस्थित २९८. वांभ २९९. ग्रछितवाल ३००. काट ३०१. वालमीक ३०२. विसउरा ३०३. निलउरा ३०४. ग्रष्टवगी ३०५. वघनउरा (वघनोरा) ३०६. वियत्नू ३०७. पद्मावती ३०८. मोहरिया ३०९. जोहरिया ३१०. माथवर ३११. मऊवरवा ३१२. कालकोया ३१३. भड़ाया ३१४ ब्रह्मागा, (ब्राह्मण) ३१५, ग्राठमला ३१६. नऊसला ३१७. रत्नागरा ३१८. वारहसोनी ३१९. गजभोही ३२०. सवाराम् ३२१. विव्वसड़ा ३२२. चोरवाड़ ३२३. पठेवरा ३२४. नेगमा ३२५. धाचवा ३२६. रायकवाई ३२७. हुनरा ३२८, कुलवरा ३२९. बनवलु ३३०. वलगोड़ ३३१. चिन्ह कर्म ३३२. वेड ३३३. मुदवेड ३३४. वलारि गुलु ३३५. कोमटी ३३६ गंगाटिकार ३३७. नूतपा ३३८. नुन् ३३९. कंचारारा ३४०. नोगारा ३४१. श्वी ३४२. श्रावणपद्दीग ३४३. द्राविड़ ३४४ मालवनोकलु ३४५. पल्लानिया ३४६. जैन मालवी ३४७. दोहिलवासी ३४८. ग्रजैन श्रावक ३४९. जैन छीपा ३५०. जैन

कल्लाल ३५१. पंथड़वाल ३५२. गुरूचाई ३५३. गुजरवाल ३५४. गुजरानदेव ३५५. वामन श्रावग ३५६. वनोरा दक्षिण देसना ३५७. परवाड़ा ऊसाखा।

उपरोक्त सूचि में जो नाम ब्रेकेट में हैं वे विभिन्न सूचियों में लेखक की दृष्टि में विभिन्न प्रकार से लिखे हुए एक ही जाति विशेष के नाम हैं।

इस प्रकार इन सात सूचियों में ३५० से भी अधिक जैन जातियों का उल्लेख मिलता है और लेखक का विश्वास है कि यदि और सूचियों का *अध्ययन किया जाय जो कि भारत के अन्य स्थानों* के मंदिरों में प्राप्य है तो इससे भी अधिक जातियों का पता लग सकता है।

इन जातियों में से श्रीमाल, श्री श्रीमाल, अग्रवाल, ओसवाल, कठनेरा, कपूला, खण्डायत, खण्डेलवाल, चतुर्थ, चांतोड़ा, जैसवाल, धूनसरा, दसौरा, नागरा, नरसिंहपुरा, पल्लीवाल, पंचम, परवार, बघेरवाल, बदनोरा, मेड़तवाल, लमेचू, लाड़ हरसोरा, हूमड़, श्रीगुरु, अजोधिया, गांगरड़ा, गोगावारा, गंगोदिया, जालौरा आदि जातियां ऐसी है जिनका उल्लेख दो या दो से अधिक सूचियों में हुआ है।

ऐतिहासिक दृष्टि से इनमें से कुछ जातियों के प्राचीनतम उल्लेख निम्न प्रकार मिलते हैं—

अग्रवाल—सं० १२३४ कातिकसुदी १; मंदिर कटरा मैनपुरी में चन्द्रप्रभ की प्रतिमा का पादलेख।

बघेरवाल— सं० १२४८ पं. आशाधरजी इस समय हुए थे।

परवार— सं० १२०० कार्ति सुद ३ शिलालेख संग्रह भाग १ पृष्ठ ३४१।

हुम्बड़— संवत् १३७३ वैशाख सुदी ११ रतलाम का शांतिनाथ मंदिर।

लम्वकंचुक–संवत् १२१० वैशाख सुदी १३ अहार क्षेत्र।

प्राग्वाट— संवत् १२२१ मार्गसिर सुदी ६–मेड़ता रोड़ पार्श्वनाथ मंदिर, देहली।

गर्गराट (अन्वय)–सं० ११९९ चैत्र सुदी १३, अ० क्षे०।

कुटक (अन्वय) सं० १२१३, अ० क्षे०।

गोलापूर्व—सं० १२०२ चैत्र सुदी १३, अ० क्षे०।

अवधपुरी– (अन्वय) संवत् १२१४ फागुन वदी ४, अ० क्षे०।

माधुव (अन्वय) सं० १२०९ वैशाख सुदी १३, अ० क्षे०।

वैश्य— (अन्वय) सं० १२०३ माघ सुदी १३, अ० क्षे०।

माथुर— (अन्वय) सं० १२११ फागुन सुदी ८, अ० क्षे०।

देउवाल— (अन्वय) सं० ११२३ अ० क्षे०।

नागभट्ट— सं० १२५४ फागुण सुदी ११, अजमेर म्यूजियम।

श्री श्रीमाल–स १३७० चैत्र वदी ५, श्री अजितनाथ मदिर, सिरोही।

सिंहपुर— सं० १३८० माघ शुदि ११, मुनिसुव्रत मंदिर, मालपुरा।

ओसवाल—सं० १३९३ ज्येष्ठ वदि १, चन्द्रप्रभ मंदिर, कोटा।

नरसिंह— १४९० वैसाख सुदी ९।

खण्डेलवाल (अन्वय)–सं० १२०७ माघवदी ८, अ०क्षे०।

ऊकेश या ऊकेस–सं० १३९४।

डीसावाल—सं० १४१०।

गोलाराड़ (अन्वय)-सं० १८६२।

गोलशृंगार-संवत् १५४८ पार्श्वनाथ प्रतिमा मंदिर कटरा, मैनपुरी।

श्रीमाल— संवत् १३८६ चैत्र सुदी १३, पंचायती बड़ा मंदिर, मैनपुरी।

पवरीमल चांदवाड़-संवत् १२७२ माह सुदी ३, भरतपुर का जैन मंदिर।

गूजर वंश- संवत १३४० ज्येष्ठ सुदी १३, (गुर्जर ज्ञातीय) पंचायती मंदिर, जयपुर।

नागद्रहा- संवत् १५३४ फागुण सुदी १ बधेर वालों का मंदिर, आंवा।

परवाड़— संवत् १३०१, मंदिर तेरह पंथियान, जयपुर के संवत् १५३४ के गुटके में चउवीसी नामक रचना के रचनाकार हरिचन्द।

बरैया— सं० १५८५ वैसाख सुदी १०, पंचायती बड़ा मंदिर मैनपुरी।

गोलालार- सं० १८५० वैसाख सुदी १२, आदिनाथ प्रतिमा कटरा मैनपुरी।

[illegible]— संवत् १५५१ वैसाख सुदी १३, सुमतिनाथ समूह मंदिर कटरा, मैनपुरी।

पुंर— संवत् १६८८ फागुन सुदी ८ मंदिर कटरा, मैनपुरी।

पल्लीवाल—संवत् १५४६ वैसाख सुदी ३ अर्हन्त प्रतिमा दि० मं० कम्पिला।

गृहपति वंश-संवत् १२०३ आषाढ़ वदी ३, अहार क्षेत्र।

मेड़वाल (अन्वय)— संवत् १२०७ माह वदी ८, अहार क्षेत्र।

पौरपार (अन्वय)—संवत् १२०९ वैसाख सुदी १३, अहार क्षेत्र।

गोलाराड़ (अन्वय)–संवत् १२३७ मार्ग सुदी ३, अ० क्षे०।

इन उल्लेखों में कुछ नाम ऐसे भी हैं जिनका वर्णन लेख के प्रारम्भ में वर्णित सूचियों में से किसी में भी नहीं है। खोज से और भी जातियों का पता लग सकता है।

इन नामों में बहुत से नाम तो नगरों के नामों पर हैं इससे ऐसा ज्ञात होता है कि किसी विशेष नगर के लोग किसी दूसरे स्थान पर जाते थे तो वहां नये स्थान में उनको उस नगर के नाम पर ही अलग नाम दे दिया जाता था और ऐसे लोग शायद अपने समूह में ही लोक-व्यवहार करना अधिक सुविधाजनक समझते थे जो कालान्तर में जाकर एक जाति विशेष में परिणित हो जाते थे। अस्तु, कुछ भी हो। आज का युग विज्ञान का और अन्वेषण का है। अतः सम्पूर्ण जैन जाति के अथ से इति तक के इतिहास की आज अत्यन्त आवश्यकता है। अभिज्ञ विद्वानों का ध्यान इधर आकृष्ट हो इस हेतु ही हमने ये पंक्तियां लिखी हैं। आशा है हमारा उद्देश्य निकट भविष्य में ही पूर्ण होगा और कोटि समर्थ विद्वान इस कार्य को अपने हाथ में लेंगे।

मैं दूसरों के प्रति कैसा व्यवहार करता हूं, मैं उनके लिये क्या कर रहा हूं, मैं उनके विषय में कैसा विचार रखता हूँ, क्या उनके प्रति मेरे विचार और कार्य निःस्वार्थ प्रेम पर निर्धारित हैं, इत्यादि प्रश्नों को यदि मनुष्य नम्र होकर शांति के साथ एकान्त में अपनी आत्मा से पूछे तो इसमें तनिक संदेह नहीं कि उसे अपनी भूलों का पता लग जायगा।

—नरसिंहराव

————

बाबूछोटेलाल
जैन
ग्रंथ

३

साहित्य,
धर्म
और दर्शन

जैन दर्शन, पाश्चात्य दर्शन और विज्ञान में : आकाश और काल

(मुनि श्री महेन्द्रकुमार द्वितीय) बी० एस० सी० [ऑनर्स]

'विश्व क्या है ?' इस प्रश्न के अन्तर्गत विश्व के दो तत्व आकाश और काल की चर्चा महत्वपूर्ण स्थान रखती है। आकाश और काल के स्वरूप के विषय में विभिन्न दार्शनिकों और वैज्ञानिकों के विभिन्न अभिमत रहे हैं। यहां उनकी समीक्षा की जारही है।

पाश्चात्य दर्शन और जैन दर्शन—

आकाश तत्व की वास्तविकता एवं अवास्तविकता को लेकर पाश्चात्य दार्शनिकों के दो पक्ष हो जाते हैं। प्रथम पक्ष में जहां डेकार्ट्स, लाइबनीज, पाण्डित्यवादी दार्शनिक, कान्ट आदि आकाश को कोई स्वतंत्र वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता के रूप में स्वीकार नहीं करते वहां दूसरे पक्ष में प्लुतो, अरस्तु, गैसेन्डी आदि आकाश को एक स्वतंत्र वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता के रूप में मानते हैं। जैन दर्शन आकाश को एक 'अस्तिकाय' मानता है। इस प्रकार जैन दर्शन का आकाश की वास्तविकता के विषय का दृष्टिकोण दूसरे पक्ष के साथ सादृश्य रखता है। आकाश की शून्यात्मकता को लेकर भी दो पक्ष बन जाते हैं—एक पक्ष में शून्य आकाश (Vacuum) का अस्तित्व भी वास्तविक माना गया है, जबकि दूसरे पक्ष में पदार्थों के अभाव में आकाश का कोई अस्तित्व नहीं रह जाता। प्रथम पक्ष में परमाणुवादी दार्शनिक, कान्ट, गैसेन्डी आदि हैं जबकि दूसरे पक्ष में डेकार्ट्स, लाइबनीज, प्लुतो अरस्तु आदि हैं। जैनदर्शन सैद्धान्तिक दृष्टि से प्रथम पक्ष के साथ ही सादृश्य रखता है। अलोकाकाश सम्पूर्णतः रिक्त है, फिर भी वास्तविक है। लोकाकाश में भी सैद्धान्तिक दृष्टि से शून्यता की विद्यमानता स्वीकार की गई है, यद्यपि व्यावहारिक दृष्टि से तो सम्पूर्ण लोकाकाश पदार्थों से व्याप्त है।

आकाश के स्वरूप के विषय में प्रमुखतया तीन विचारधारायें बनती हैं—

१- आकाश केवल ज्ञाता-सापेक्ष तत्व है। अथवा प्राग्-अनुभव अन्तः दर्शन की उपज ही है।

२- आकाश भौतिक पदार्थों से जुड़ा हुआ या उनका ही गुण रूप या क्रम रूप तत्व है।

३- आकाश ज्ञाता(आत्मा) और भूत (Matter) से सर्वथा भिन्न एक स्वतंत्र वास्तविकता है।

इन तीनों विकल्पों में से प्रथम विकल्प को स्वीकार करने वाले हैं पाण्डित्यवादी, कान्ट आदि। पाण्डित्यवादी के अनुसार आकाश की कल्पना हम इसलिए करते हैं कि वास्तविक पदार्थों के विस्तार को देखते ही हमें यह अनुभव होता है कि इसका कोई न कोई आधार होना चाहिए। अतः आकाश स्वयं में कोई वास्तविक तत्त्व नहीं है, अपितु केवल हमारे मस्तिष्क की ही उपज है। किन्तु पाण्डित्यवादियों की यह धारणा तर्क संगत नहीं होती। क्योंकि वास्तविक पदार्थों का आधार

यदि वास्तविक नहीं होता है, तो काल्पनिक आश्रय के द्वारा उनका टिकाव कैसे हो सकता है ? अतः यह मानना ही पड़ता है कि आकाश का वास्तविक अस्तित्व है। इन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि शून्य आकाश का अस्तित्व भी शक्य है तथा आकाश स्व-अवस्थित और शाश्वत है किंतु वे मानते हैं कि ये सभी गुण हमारे द्वारा ही कल्पित हैं। यदि इनको हम वास्तविक मान लें, तो ईश्वर और आकाश में कोई अन्तर नहीं रह जायेगा।[1] यह मान्यता तर्क-संगत नहीं है। ईश्वर की सर्व व्यापकता की कल्पना स्वयं ही अनाधारित है। अतः आकाश को वास्तविक मानने में कोई दोष नहीं है।

कान्ट द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत है कि 'आकाश केवल एक प्राग्-अनुभव अन्तःदर्शन की उपज है' तर्क के आधार पर खरा नहीं उतरता।[2] अब युक्लिडियेतर भूमिति के आविष्कार के बाद तो कान्ट की इस मान्यता का प्रत्यक्षतः खण्डन हो जाता है।[3] कान्ट की विचारधारा में और जैन दर्शन की विचारधारा में केवल यही साम्य है कि दोनों ने शून्य आकाश के अस्तित्व को स्वीकार किया है।

दूसरी विचारधारा आकाश को भौतिक पदार्थ से सम्बन्धित मानती है। जैसे प्लेटो ने 'कोरा' तत्व को माना है तथा अरस्तु ने भी भौतिक-पदार्थ के अभाव में आकाश के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया है। इस मान्यता को भी हम स्वीकार नहीं कर सकते। यदि आकाश का वास्तविक अस्तित्व होता है तो वह भूत से सर्वथा भिन्न और स्वतंत्र होना चाहिए। क्योंकि आकाश अनंत है और भौतिक विश्व सांत है।

आकाश को भौतिक पदार्थ का गुण मानना भी उपयुक्त नहीं है, जैसे डेकार्ट्स ने माना है। स्थान पाना अथवा स्थान रोकना भौतिक पदार्थ का गुण हैं, परन्तु जिसमें स्थान पाया जाता है, वह तो उससे भिन्न ही है। एक ही स्थान में अनेक पदार्थों का आश्रित होना और एक ही पदार्थ का कालान्तर में अनेक स्थानों में आश्रित होना 'आश्रय' देने वाले तत्व को आश्रित तत्व से भिन्न सिद्ध कर देता है। जैन दर्शन के अनुसार तो आकाशास्तिकाय के एक प्रदेश पर अनंत भौतिक परमाणुओं का आश्रय होना सम्भव है।[4] इसके अतिरिक्त आकाश अमूर्त है, जबकि भौतिक पदार्थ वर्णादि गुण सहित है और मूर्त है। तब अमूर्त आकाश मूर्त पदार्थ का गुण कैसे बन सकता है ? इस प्रकार अनेकानेक प्रश्न आकाश को भौतिक पदार्थ का गुण मानने पर खड़े हो जाते हैं।

कुछ दार्शनिक (लाइबनीज आदि) आकाश को दृश्य पदार्थों का 'क्रम रूप' मानते हैं। इस मान्यता को आधुनिक वैज्ञानिक आइन्स्टीन आदि ने भी स्वीकार किया है। इसकी चर्चा वैज्ञानिकों के आकाश सम्बन्धी विचारों की समीक्षा में की जायेगी।

तीसरी विचारधारा पाश्चात्य दार्शनिकों में (गैसेन्डी आदि) तथा जैन दर्शन में समान रूप से प्रतिपादित हुई है। यही मान्यता न्यूटन के आकाश सम्बन्धी वैज्ञानिक निरूपण का आधार

१. कोस्मोलोजी, पृ० १०१
२. सापेक्षवादियों द्वारा किये गये कान्ट के विचारों के खण्डन के लिये देखें, वही पृ० ६०
३. वैज्ञानिक आधार पर इसके खण्डन के लिए देखें, फिजिक्स एण्ड फिलोसोफी ले० वरनर हाईसन बर्ग, पृ० ८२, फ्राम युक्लिड टू आइन्स्टन, पृ० १६, १७ दी फिलोसोफी आफ स्पेस एण्ड टाइम, इन्ट्रोडक्शन, पृ० ६०

यदि वास्तविक नहीं होता है, तो काल्पनिक आश्रय के द्वारा उनका टिकाव कैसे हो सकता है ? अतः यह मानना ही पड़ता है कि आकाश का वास्तविक अस्तित्व है। इन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि शून्य आकाश का अस्तित्व भी शक्य है तथा आकाश स्व-अवस्थित और शाश्वत है किंतु वे मानते हैं कि ये सभी गुण हमारे द्वारा ही कल्पित हैं। यदि इनको हम वास्तविक मान लें, तो ईश्वर और आकाश में कोई अन्तर नहीं रह जायेगा।[1] यह मान्यता तर्क-संगत नहीं है। ईश्वर की सर्व व्यापकता की कल्पना स्वयं ही अनाधारित है। अतः आकाश को वास्तविक मानने में कोई दोष नहीं है।

कान्ट द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत है कि 'आकाश केवल एक प्राग्-अनुभव अन्तःदर्शन की उपज है' तर्क के आधार पर खरा नहीं उतरता।[2] अब युक्लिडियेतर भूमिति के आविष्कार के बाद तो कान्ट की इन मान्यता का प्रत्यक्षतः खण्डन हो जाता है।[3] कान्ट की विचारधारा में और जैन दर्शन की विचारधारा में केवल यही साम्य है कि दोनों ने शून्य आकाश के अस्तित्व को स्वीकार किया है।

दूसरी विचारधारा आकाश को भौतिक पदार्थ से सम्बन्धित मानती है। जैसे प्लेटों ने 'कोरा' तत्व को माना है तथा अरस्तु ने भी भौतिक-पदार्थ के अभाव में आकाश के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया है। इस मान्यता को भी हम स्वीकार नहीं कर सकते। यदि आकाश का वास्तविक अस्तित्व होता है तो वह भूत से सर्वथा भिन्न और स्वतंत्र होना चाहिए। क्योंकि आकाश अनंत है और भौतिक विश्व सांत है।

आकाश को भौतिक पदार्थ का गुण मानना भी उपयुक्त नहीं है, जैसे डेकार्टस ने माना है। स्थान पाना अथवा स्थान रोकना भौतिक पदार्थ का गुण हैं, परन्तु जिसमें स्थान पाया जाता है, वह तो उससे भिन्न ही है। एक ही स्थान में अनेक पदार्थों का आश्रित होना और एक ही पदार्थ का कालान्तर में अनेक स्थानों में आश्रित होना 'आश्रय' देने वाले तत्व को आश्रित तत्व से भिन्न सिद्ध कर देता है। जैन दर्शन के अनुसार तो आकाशास्तिकाय के एक प्रदेश पर अनंत भौतिक परमाणुओं का आश्रय होना सम्भव है।[4] इसके अतिरिक्त आकाश अमूर्त है, जबकि भौतिक पदार्थ वर्णादि गुण सहित है और मूर्त है। तब अमूर्त आकाश मूर्त पदार्थ का गुण कैसे बन सकता है ? इस प्रकार अनेकानेक प्रश्न आकाश को भौतिक पदार्थ का गुण मानने पर खड़े हो जाते हैं।

कुछ दार्शनिक (लाइबनीज आदि) आकाश को दृश्य पदार्थों का 'क्रम रूप' मानते हैं। इस मान्यता को आधुनिक वैज्ञानिक आइन्स्टीन आदि ने भी स्वीकार किया है। इसकी चर्चा वैज्ञानिकों के आकाश सम्बधी विचारों की समीक्षा में की जायेगी।

तीसरी विचारधारा पाश्चात्य दार्शनिकों में (गेसेण्डी आदि) तथा जैन दर्शन में समान रूप से प्रतिपादित हुई है। यही मान्यता न्यूटन के आकाश सम्बन्धी वैज्ञानिक निरूपण का आधार

१. कोस्मोलोजी, पृ० १०१

२. पाण्डित्यवादियों द्वारा किये गये कान्ट के विचारों के खण्डन के लिये देखें, वही पृ० ९७

३. वैज्ञानिक आधार पर इसके खण्डन के लिए देखें, फिजिक्स एण्ड फिलोसोफी ले० वरनर हाईसन वर्ग, पृ० ८१, फ्राम युक्लिड टू एडिंग्टन, पृ० १६, १७ दी फिलोसोफी आफ स्पेस एण्ड टाइम, इन्ट्रोडक्शन, पृ० ९०

४. जैन सिद्धांत दीपिका, १।२९

रही है। इनकी समीक्षा भी वैज्ञानिकों के विचारों की समीक्षा में करना अधिक उपयुक्त होगा।

जिस प्रकार आकाश तत्त्व के विषय में दार्शनिकों में विवाद रहा है, उसी प्रकार 'काल' के विषय में अनेक प्रकार के सिद्धांत दार्शनिकों ने प्रस्तुत किये हैं। फिर भी कुछ-एक दार्शनिकों के अतिरिक्त अन्य सभी दार्शनिक काल को स्वतंत्र वास्तविकता के रूप में स्वीकार नहीं करते हैं। जैन दर्शन की श्वेताम्बर परम्परा में काल को स्वतंत्र या चरम वास्तविकता के रूप में नहीं माना गया है, जबकि दिगम्बर-परम्परा में कालाणुओं के रूप में काल को स्वतंत्र वास्तविकता बताया गया है। इस प्रकार अधिकांश पाश्चात्य दार्शनिकों की काल संबंधी मान्यता श्वेताम्बर परम्परा के प्रतिपादन के साथ सादृश्य रखती है। फिर भी सूक्ष्म विश्लेषण की दृष्टि से इनमें अन्तर रह जाता है। जैसे काण्ट ने काल को वास्तविकता के रूप में तो नहीं माना है, किन्तु केवल प्राग्-अनुभव ज्ञातः दर्शन की उपज ही माना है। जबकि जैन दर्शन काल के अस्तित्व को केवल काल्पनिक नहीं मानता। जैन दर्शन (श्वेताम्बर-परम्परा) के अनुसार काल (नैश्चयिक) अस्तिकायों (जीव, पुद्गल आदि अस्तिकायों) की पर्याय ही है। अतः 'काल' का अस्तित्व ज्ञाता सापेक्ष भी नहीं है। काण्ट का काल संबंधी सिद्धान्त सामान्य अनुभव भी स्वीकार नहीं कर सकता क्योंकि काल की धारणा परिवर्तन की अनुभूति के पश्चात्कालीन ही होती है।

प्रतिद्वन्द्ववादियों ने काल के विषय में जो विवेचन प्रस्तुत किया है, वह बहुत कुछ जैन दर्शन के साथ समानता रखता है। अन्तर केवल इतना है कि जैन दर्शन 'काल' को केवल मस्तिष्क की उपज नहीं मानता। जबकि प्रतिद्वन्द्ववादी काल की धारणा का आधार वास्तविक तथ्यों को मानते हुए भी मस्तिष्क के अतिरिक्त और कहीं उसके अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते।

लाइबनीज आदि का काल सम्बन्धी मन्तव्य आधुनिक वैज्ञानिकों के निरूपण के सदृश-सा ही है। अतः उसकी स्वतंत्र समीक्षा अधिक मूल्य नहीं रखती।

वैज्ञानिक और जैन दर्शन—

आकाश और काल सम्बन्धी वैज्ञानिकों की धारणाएं दार्शनिकों की धारणाओं की अपेक्षा से समीक्षा की दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान रखती है। विज्ञान-जगत् में आपेक्षिकता के सिद्धांत से पूर्व और पश्चात्कालीन धारणाएं परस्पर में अत्यन्त भिन्न प्रकार की दिखाई देती हैं। पहले हम प्राग् आईन्स्टीन युग की धारणा की समीक्षा करते हैं।

न्यूटन द्वारा किया गया आकाश का निरूपण जैन दर्शन के आकाशास्तिकाय के साथ अत्यधिक सदृशता रखता है। दोनों विचारधाराओं में आकाश को एक स्वतन्त्र वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता के रूप में स्वीकार किया गया है तथा उसको अगतिशील, एक, अखण्ड और शून्यता की क्षमता वाला स्वीकार किया गया है। फिर भी इनमें एक महत्वपूर्ण अन्तर रह जाता है। न्यूटनीय भौतिक विज्ञान ने आकाश के साथ भौतिक ईथर का अविच्छिन्न संबंध जोड़ कर गति की समस्या सुलझाने का प्रयत्न किया, जबकि जैन दर्शन अभौतिक ईथर (धर्म-द्रव्य, अधर्म-द्रव्य) के सिद्धांत से गतिस्थिति की समस्या का हल प्रस्तुत करता है। यही कारण था कि न्यूटन के सिद्धांतों ने नहीं सुलझने वाली एक ऐसी समस्या उत्पन्न कर दी, जिसके फलस्वरूप आपेक्षिकता के सिद्धांत ने न्यूटन के भौतिक ईथर को तिलांजलि दे दी। उसकी तर्क-सम्मतता अब भी अविच्छिन्न ही है। पश्चिम के सुप्रसिद्ध दार्शनिक बर्ट्रेण्ड रसेल ने इसको स्वीकार करते हुए लिखा है : "न्यूटन का निरपेक्ष आकाश का सिद्धांत उस दुविधा को दूर करता है, जो 'शून्य' और वास्तविकता के सम्बन्ध में उपस्थित होता है। तर्कशास्त्र

के आधार पर इस सिद्धांत का खण्डन नहीं किया जा सकता। इस सिद्धांत के विरोध में मुख्य कारण यही है कि निरपेक्ष आकाश को जानना कतई संभव नहीं है; इसीलिए प्रायोगिक विज्ञान में उसकी धारणा कोई अनिवार्य परिकल्पना नहीं बन सकती। इससे भी अधिक व्यावहारिक कारण यह है कि भौतिक विज्ञान की गाड़ी इसके बिना भी चल सकती है।"[1] इस उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है कि न्यूटन का 'निरपेक्ष आकाश' अथवा जैन दर्शन का आकाशास्तिकाय का सिद्धांत तर्क की दृष्टि से अकाट्य है। 'निरपेक्ष आकाश' के अस्तित्व पर आपेक्षिकता के सिद्धांत की चर्चा यथास्थान की जायेगी।

न्यूटन ने काल की जो परिभाषा दी है, उससे यह लगता है कि इन्होंने काल को वास्तविक तत्त्व या द्रव्य (Substance) के रूप में न मान कर वास्तविक तथ्य के रूप में प्रतिपादित किया है। जैन दर्शन (श्वेता० परम्परा) भी काल को वास्तविक तत्त्व (Real Substance) के रूप में स्वीकार नहीं करता। न्यूटन ने निरपेक्ष गाणितिक काल का सिद्धांत प्रस्तुत किया है। जैन दर्शन में निरपेक्ष काल-मान समय आदि उसी प्रकार के सिद्धांत का द्योतक है। इस प्रकार काल के विषय में भी दोनों सिद्धांतों में बहुत साम्य है, फिर भी न्यूटन के सिद्धांत ने प्रकाश-गति की सीमितता को अस्वीकार करने के कारण आकाश और काल के परस्पर सम्बन्ध को स्वीकार ही नहीं किया है, जबकि जैन दर्शन में प्रकाश गति की सीमितता के कारण आकाश और काल की की परस्पर सम्बन्धता का विरोध उपलब्ध नहीं होता है।

इस प्रकार प्राग्-आईन्स्टीनीय विज्ञान के क्षेत्र की आकाश काल सम्बन्धी धारणाएं जैन दर्शन की विचारधारा के साथ दार्शनिक (तत्त्व मैमांसिक) अपेक्षा से अधिक सादृश्य रखती है।

आईन्स्टीन द्वारा दिये गये आपेक्षिकता के सिद्धान्त के पश्चात् विज्ञान के क्षेत्र में जो नई क्रांति आई, उसका आकाश और काल की धारणाओं पर भी गहरा प्रभाव पड़ा।

आकाश और काल के विषय में आपेक्षिकता के सिद्धांत के दो पहलू हो जाते हैं।

१. आकाश और काल की सापेक्षता।

२. आकाश और काल की वास्तविकता।

आईन्स्टीन द्वारा प्रदत्त मूल आपेक्षिकता के सिद्धांत में कहा गया है—"किसी भी प्रकार के प्रयोग के द्वारा किसी भी गतिमान निकाय की निरपेक्ष गति का पता नहीं लगाया जा सकता।" इस सिद्धांत के आधार पर सामान्यतया यह तात्पर्य निकाला जाता है कि निरपेक्ष आकाश का कोई अस्तित्व नहीं है। यदि यही तात्पर्य सही हो तो जैन दर्शन का आकाशास्तिकाय का सिद्धांत आपेक्षिकता के सिद्धांत के साथ मेल नहीं खाता। किन्तु उक्त तात्पर्य निर्विवादतया मान्य नहीं है। सर्व प्रथम तो यह जानना आवश्यक है कि आपेक्षिकता के सिद्धांत में कथित अशक्यता ज्ञाता–सापेक्ष (Subjective) असमर्थता (In-adequacy) के कारण है अथवा वस्तु–सापेक्ष (Objective) असम्भवता के कारण है। यदि ज्ञाता-सापेक्ष असमर्थता के परिणाम रूप ही हम किसी भी गतिमान निकाय की निरपेक्ष गति को जानने में असमर्थ रहते हैं, तो निरपेक्ष गति के वास्तविक अस्तित्व का अन्त नहीं आ जाता। जैन दर्शन के आधार पर नहीं कहा जा सकता है कि उक्त अशक्यता ज्ञाता–सापेक्ष असमर्थता के कारण ही है न कि वस्तु–सापेक्ष असम्भवता के कारण। राईशवाख ने इस प्रकार के विपर्यय को स्पष्ट उदाहरण के द्वारा समझाया है—'अवश्य ऐसे बहुत सारे प्रसंग होते हैं, जहां भौतिक विज्ञान परिमाणों को निकालने में समर्थ नहीं होता।

१. हिस्ट्री आफ वेस्टर्न फिलोसोफी, पृ० ९५

आकाश के अस्तित्व को स्वीकार न करना गलत सिद्ध हो सकता है।

सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक प्रो० मार्गेनो भी इस बात को स्वीकार तो करते ही हैं कि निरपेक्ष आकाश एक संभवित कन्स्ट्रक्ट्स है "निरपेक्ष आकाश को स्वीकार करने वाला अपनी विचारधारा को इस सरल तथ्य पर आधारित करना है कि त्रिवैमितिक आकाश की कल्पना वह तभी कर सकता है, जब कि वह आकाश पदार्थ-शून्य हो। इस प्रकार का आकाश पदार्थ शून्य हो। इस प्रकार का आकाश एक सम्भवित कन्स्ट्रक्ट्स है और वह प्राथमिक प्रश्न के ढांचे में ही निरपेक्ष है।"[1] इससे आगे उन्होंने यही बताया है कि वैज्ञानिकों को इस प्रकार का आकाश उपयोगी न होने से वे इसको स्वीकार नहीं करते, फिर भी इतना तो स्पष्ट रूप से स्वीकार्य हो ही जाता है कि निरपेक्ष आकाश का अस्तित्व मिट नहीं गया है।

निरपेक्ष आकाश को जिस प्रकार के जैन दर्शन ने स्वीकार किया है, उसका खण्डन तो आपेक्षिकता के सिद्धान्त द्वारा किया ही नहीं जा सकता। हां यह अवश्य मानना पड़ता है कि विज्ञान के प्रायोगिक क्षेत्र में इस प्रकार के निष्क्रिय तत्त्व की कोई आवश्यकता प्रतीत न होने से उसके अस्तित्व को मानना भी आवश्यक न समझा जाये। इसी बात को हम रसेल के शब्दों में देख चुके हैं। अतः तार्किक क्षेत्र में निरपेक्ष आकाश की वास्तविकता तो अनिवार्य हो ही जाती है और यदि इसको वैज्ञानिक स्वीकार नहीं करते हैं, तो सम्भवतः विश्व प्रहेलिका से सम्बन्धित अन्य पहलुओं के उत्तर वे नहीं दे सकते।

आपेक्षिकता के सिद्धान्त का दूसरा पहलू है—आकाश और काल की वास्तविकता। हम देख चुके हैं कि वैज्ञानिक इस विषय में एकमत नहीं हैं। आईन्स्टीन आदि जहां आकाश और काल को चेतन (ज्ञाता) द्वारा कल्पित तत्व ही मानते हैं, वहां राईशनबाख आदि उसकी वास्तविकता को इन्कार नहीं करते। इस समस्या का हल प्राप्त करने के लिए हमें पहले कुछ धारणाओं का स्पष्टीकरण करना पड़ेगा। वैज्ञानिक शब्दावलि में आकाश (Space), काल (Time), आकाश काल की चतुर्वैमितिक सततता (Four Dimensional Continuum of Space Time), गुरुत्व क्षेत्र या आव्यूहीय क्षेत्र (Gravitational Field or metrical Field) तथा ईथर (ether) इन शब्दों के द्वारा किन-किन तथ्यों का निरूपण हुआ है और जैन दर्शन के पारिभाषिक शब्दों (आकाशास्तिकाय, काल, धर्म, अधर्म, द्रव्य) से ये कहां तक सम्बन्धित होते हैं, ये दो महत्वपूर्ण प्रश्न हैं। आकाश (Space) शब्द का प्रयोग आईन्स्टीन आदि केवल पदार्थक्रम के अर्थ में करते हैं, राइशनबाख आदि पदार्थ-क्रम के अतिरिक्त आकाश को एक स्वतन्त्र वास्तविकता के रूप में देखते हैं। जैन-दर्शन में भी आकाशास्तिकाय को आश्रय देने वाला वास्तविक द्रव्य कहा है। यह धारणा आईन्स्टीन की आकाश की धारणा से नितान्त भिन्न है। यदि आईन्स्टीन की आकाश की धारणा को स्वीकार किया जाताहै, तो उससे पदार्थों के आश्रय की समस्या नहीं सुलझती। अतः जहां हम तर्कशास्त्रीय भूमिका को लेते हैं, वहां आईन्स्टीन की 'आकाश' सम्बन्धी धारणा से काम नहीं चल सकता। इसके अतिरिक्त भी आईन्स्टीन की दी हुई परिभाषा पर्याप्त नहीं है। जैसा कि स्पष्ट हो चुका है सामान्य आपेक्षिकता के सिद्धान्त में आकाश और गुरुत्व क्षेत्र या आव्यूहीय क्षेत्र को एक बना दिया गया है। जहां आकाश केवल

---

१. दी नेचर आफ फिजिकल रियालिटि, पृ० १०५

पदार्थों का क्रम न रहकर वक्रता को धारण करने वाला कोई तत्व या क्षेत्र (Field) का रूप ले लेता है। अब वह क्षेत्र क्या स्वतंत्र वास्तविकता है ? इस प्रश्न का उत्तर यदि निषेध मे नहीं, तो यह क्षेत्र भी सम्भवतः वास्तविक 'आकाश' से अधिक भिन्न नहीं रह जाता। सामान्यतया यही माना जाता है कि वक्रता या क्षेत्र की उत्पत्ति पदार्थों की संहति से होती है। जहां पर भी संहति-वाला पदार्थ होता है, वह अपने आस-पास इस क्षेत्र को वैसे ही उत्पन्न कर देता है, जैसे चुम्बक के आस-पास चुम्बकीय क्षेत्र हो जाता है अथवा विद्युत्-प्रवाह के आस-पास विद्युत चुम्बकीय क्षेत्र उत्पन्न हो जाता है। तब यही कहा जा सकता है कि यह क्षेत्र कोई स्वतंत्र वास्तविकता नहीं है। किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। पदार्थों के अभाव में भी सूक्ष्म मात्रा में वक्रता या क्षेत्र का अस्तित्व बना रहता है। सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक सर आर्थर एडिंगटन ने इस तथ्य का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है—"उस प्रदेश में जहां किसी भी प्रकार के ज्ञात भौतिक पदार्थ या विद्युत् चुम्बकीय क्षेत्र का अभाव है, वहां पर भी एक निश्चित अल्प मात्रा में प्राकृतिक वक्रता होती है, जिसे सुख्यात रूप से विश्व सम्बन्धी अचल कहा जाता है। इस वक्रता का उत्तरदायी उस प्रदेश को रोकनेवाला कोई तत्व है, जिसे चाहे हम आकाश कहें, क्षेत्र कहें या ईथर[1] कहें।"[2] इस उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह निश्चित है कि भौतिक पदार्थ के अभाव में भी कोई ऐसा तत्व रह जाता है, जिसे हमें स्वतंत्र वास्तविकता का ही रूप मान लेना पड़ेगा। जैन दर्शन का 'आकाशास्तिकाय" तो सम्भवतः इससे भी भिन्न रह जायेगा। हां, जिस रूप में धर्मास्ति-काय की कल्पना की गई है, इससे यह सम्भव प्रतीत होता है कि वे इस प्राकृतिक वक्रता के लिए उत्तर-दायी हों। यद्यपि इस विषय में निश्चित रूप से कुछ भी कहना सम्भव नहीं है, फिर भी इतना तो स्पष्ट कि आईन्स्टीन की आकाश की परिभाषा इस रूप में गलत हो जाती है। उक्त विवेचन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि आकाशास्तिकाय नामक तत्व की जो धारणा जैन दर्शन में है उसकी पूर्ति वैज्ञानिकों की आकाश, क्षेत्र या ईथर संबंधी धारणा नहीं कर सकती।

'विश्व सम्बन्धी अचल' से सूचित होने वाली प्राकृतिक वक्रता को छोड़कर, अब हम सामान्यतया संहति (Mass) से उद्भूत वक्रता या क्षेत्र की समीक्षा करें। न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण नियम के स्थान में आईन्स्टीन ने इस वक्रता-सिद्धान्त की स्थापना की है। यह स्पष्ट है कि इस आकाश का अस्तित्व भौतिक पदार्थ या संहति से सम्बन्धित है। जहां पर भी 'संहति' का अस्तित्व होता है, उसके आस पास इस क्षेत्र या आकाश की उत्पत्ति हो जाती है। यदि संहति को वहां से हटा लिया जाता है, तो वह क्षेत्र भी वहां से हट जाता है। दूसरे शब्दों में यह क्षेत्र उसी तरह संहति के साथ सम्बन्धित है, जैसे चुम्बक के साथ चुम्बकीय क्षेत्र होता है। इसके दार्शनिक प्रतिपादन में यही धारणा बन सकती है कि गुरुत्व क्षेत्र भौतिक पदार्थ का ही एक अंग है, कोई स्वतंत्र वास्तविकता

१. एडिंगटन ने 'ईथर' सम्बन्धी एक नया सिद्धांत उपस्थित किया है। उनके अभिमत में आपेक्षिकता के सिद्धांत ने भौतिक ईथर का अस्तित्व मिटा दिया, किंतु तब भी अभौतिक ईथर का अस्तित्व तो सम्भव हो सकता है। एडिंगटन ने आकाश और ईथर में अविच्छिन्न सम्बन्ध की कल्पना की है और माना है कि आकाश, ईथर और क्षेत्र तीनों ही एक हैं। देखें, न्यूपाथवेज इन साइंस, पृ० ३८-४१

२. न्यू० पाथवेज इन साइन्स, पृ० ४७

नहीं है। अतः यह स्पष्ट है कि जैन दर्शन द्वारा प्रतिपादित आकाशास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय सहति द्वारा जनित इस गुरुत्व क्षेत्र से बिल्कुल भिन्न तत्व है।

अब, 'चतुर्वैमितिक आकाश–काल की सततता' की धारणा को लें। इसके विषय में आईन्स्टीन के विचारों को समझना कठिन है। वे इसे वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता के रूप में मानते हैं। विश्व क्या है? इस प्रश्न का उत्तर वे यही देते हैं कि विश्व चतुर्वैमितिक आकाश काल की सततता है।[1] विश्व पदार्थों से नहीं, घटनाओं से बना हुआ है और ये घटनाएं इस चतुर्वैमितिक आकाश काल की सततता की ही विविध अवस्थाएं हैं। इस प्रकार का विवेचन अत्यन्त ही उलझन पूर्ण लगता है। एक ओर से यह माना जाता है कि पदार्थ अपनी संहति के कारण चतुर्वैमितिक सततता में वक्रता उत्पन्न कर देता है–"जिस प्रकार सागर में तैरती मछली अपने आस-पास के पानी को आंदोलित कर देती है, उसी तरह एक तारा, पुच्छलतारा या ज्योतिर्माला उस आकाश काल को सततता में, जिसमें होकर वे गति करते हैं, परिवर्तन ला देते हैं।"[2] दूसरी ओर उन पदार्थों को ही उस सततता की अवस्था रूप माना जाता हैं। इस प्रकार चतुर्वैमितिक सततता का दार्शनिक अथवा तत्व-मैंमांसिक दृष्टि से अस्पष्ट प्रतिपादन होने के कारण आईन्स्टीन द्वारा किया गया आपेक्षिकता के सिद्धान्त का दार्शनिक प्रतिपादन अत्यन्त निर्बल हो जाता है। इसके सम्बन्ध में राइशनवाख ने स्पष्ट व्याख्याएं प्रस्तुत की हैं। वे आकाश, काल और पदार्थ तीनों को एक दूसरे से सम्बन्वित स्वीकार करते हैं। परन्तु इसको परस्पर मिला नहीं देते। उनका यह स्पष्ट अभिमत है कि आकाश–काल की चतुर्वैमितिक सततता से यह तात्पर्य निकालना कि काल आकाश की ही एक विमिति है, गलत होगा। जैन दर्शन का प्रतिपादन इस विषय में स्पष्ट और अधिक तर्क-संगत है। पुद्गलास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और काल को भिन्न मानकर चलने पर आपेक्षिकता के सिद्धान्त के साथ कोई विरोध प्रतीत नहीं होता। पुद्गलास्तिकाय के संहति, गति आदि गुणों का आकाशास्तिकाय पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। जैन दर्शन यह निश्चित रूप से मानता है कि पौद्गलिक प्रभावों से उत्पन्न होने वाले गुरुत्व क्षेत्र आदि भी पौद्गलिक होने चाहिए। अतः उनमें होनेवाले परिवर्तन पुद्गल से ही सम्बन्धित हैं, इसका आकाश के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

बर्टेण्ड रसेल द्वारा प्रतिपादित आकाश सम्बन्धी सिद्धांत वैज्ञानिकों की उलझन को और स्पष्ट कर देता है। एक तात्त्विक विवेचन के निष्कर्ष रूप उन्होंने लिखा है–"इस तरह दो प्रकार के आकाश हो जाते हैं एक तो ज्ञाता-सापेक्ष (Subjective) आकाश और दूसरा वस्तु-सापेक्ष (Objective) आकाश। एक हमारे अनुभव द्वारा ज्ञात और दूसरा केवल अनुमानित या प्रकल्पित। किन्तु इस अपेक्षा से आकाश और विषय-ग्रहण के अन्य पहलुओं जैसे रंग, शब्द आदि में कोई फर्क नहीं है। सबके सब अपने ज्ञाता सापेक्ष रूप में तो अनुभव द्वारा ज्ञात होते हैं, सब के सब अपने वस्तु-सापेक्ष रूप में कार्य कारणवाद के द्वारा प्रकल्पित होते हैं। वर्ण, शब्द और गन्ध के हमारे ज्ञान से आकाश के हमारे ज्ञान को किसी भी कारण से भिन्न नहीं माना जा सकता है।[3] रसेल द्वारा प्रतिपादित

१. दी यूनिवर्स एण्ड डा० आईन्स्टीन, पृ० ७६
२. वही, पृ० ८२
३. हिस्ट्री आफ वैस्टर्न फिलोसाफी, पृ० ७४४

इन दो प्रकार के आकाशों को अनुभव-ग्राह्य [Purceptual] आकाश और धारणात्मक [Conceptual] आकाश कहा जाता है। जैन दर्शन द्वारा प्रतिपादित आकाशास्तिकाय को रेसेल के शब्दों में 'धारणात्मक आकाश' कहा जा सकता है, जब कि वैज्ञानिकों का सम्बंध केवल अनुभव ग्राह्य आकाश के साथ रहता है, किन्तु धारणात्मक आकाश का अस्तित्व अस्वीकार करे बिना आश्रय-आश्रित सम्बन्ध की पहेली सुलझ नहीं सकती।

जैन दर्शन के दृष्टिकोण के अन्तर्गत आकाशास्तिकाय की तार्किक आधार पर अस्तित्व-सिद्धि की चर्चा की जा चुकी है। इस सम्बन्ध में एक आपत्ति यह उठाई जाती है कि यदि आकाश सब पदार्थों को आश्रय देने वाला है, तो आकाश को कौन आश्रय देता है और यदि उसको आश्रय देने वाला और कोई है तो फिर इस प्रकार चलने से अनवस्था दोष आ जायेगा। यह तर्क अति प्राचीन काल में पाश्चात्य दार्शनिक [Zeno] द्वारा उपस्थित किया गया था। इसका उत्तर यही है कि भौतिक पदार्थ को ही आश्रय देनेवाला तत्व मानने पर ही अनवस्था दोष आ सकता है। क्योंकि यह अनुभवगम्य है कि किसी भी प्रकार का भौतिक पदार्थ बिना आश्रय टिक नहीं सकता। इसलिए हम आकाश नामक अभौतिक द्रव्य की धारणा करते हैं। आकाश की परिभाषा ही यह है कि जो स्वयं तो स्वआधारित है और पदार्थों को आश्रय देने में समर्थ है। अतः आकाश को आधार देनेवाले किसी भी अन्य द्रव्य की कल्पना करने की आवश्यकता ही नहीं है।

इस प्रकार उक्त विवेचन के निष्कर्ष में यह कहा जा सकता है कि जैन दर्शन द्वारा प्रतिपादित आकाशास्तिकाय का सिद्धांत न केवल आपेक्षिकता के सिद्धांत द्वारा अखण्डित है, अपितु तर्क-सम्मत भी है।

अब हम आपेक्षिकता के सिद्धांत के भौतिक विज्ञान सम्बन्धी कुछ पहलुओं की समीक्षा करेंगे। आईन्स्टीन के विश्व सिद्धांत के अनुसार विश्व का कोई निश्चित आकार या बनावट नहीं है। जैसे लिंकन बारनेट ने लिखा है—'ऐसा नहीं समझा जाना चाहिए कि गुरुत्वाकर्षण सम्बन्धी आईन्स्टीन का सिद्धांत केवल एक गणित विषयक योजना है; क्योंकि इसका आधार वे गूढ़ धारणाएं है, जिनका सम्बन्ध विश्व से है। इन धारणाओं में से सर्वाधिक उल्लेखनीय यह है कि विश्व एक अपरिवर्तनीय और अचल ढांचा नहीं है, जहां स्वतंत्र पदार्थ स्वतंत्र आकाश और स्वतंत्र काल में स्थित हो। इसके विपरीत यह एक आकृति विहीन अखण्डता है, इसकी कोई निश्चित बनावट नहीं है। यह लचीला और विभिन्नतापूर्ण है एवं इसमें परिवर्तन अथवा विकृति सम्भव है। जहां भी पदार्थ और गति है, वहां सततता में व्यवधान पहुंचता है।[1] विश्व का यह चित्रण तर्क-संगत नहीं लगता, क्योंकि यदि विश्व-स्थित संहति की राशि (भौतिक शक्ति सहित) अचल रहती है तो चतुर्मितिक सततता पर पड़ने वाला उसका प्रभाव भी एक सा रहना चाहिए। यदि एक पदार्थ एक स्थान से दूसरे स्थान में गति करता है, तो विश्व की कुल संहति में तो न्यूनाधिकता नहीं होती; अतः विश्व की समग्र अखण्डता, जिसकी बनावट का आधार तो विश्व-स्थित समग्र संहति राशि होनी चाहिए, में परिवर्तन की कोई गुंजाईश नहीं रह जानी जाहिए। जैन दर्शन का यही प्रतिपादन है—लोकाकाश स्थित धर्म, अधर्म द्रव्य एक निश्चित आकार में सदा रहते है—इनकी बनावट में कोई परिवर्तन नहीं आता।

आपेक्षिकता के सिद्धांत का एक महत्वपूर्ण परिणाम है—आकाश-काल की विमितियों में

१. दी यूनिवर्स एण्ड डा० आईन्स्टीन, पृ० ९२

संकुचन (Contraction)। लोरेन्ट्ज द्वारा दिये गये समोकरणों से पता चल जाता है कि किसी भी पदार्थ की गति के साथ आकाश-काल की विमितियां संकुचित होती हैं। गतिमान पदार्थ की लम्बाई गति की दिशा में संकुचित हो जाती है—इसी को आकाशीय विमिति में संकुचन माना गया है। अब यदि इस संकुचन को वास्तविक आकाश का ही संकुचन मान लिया जाये तो यह गलत होगा। क्योंकि यह संकुचन भौतिक पदार्थ की ही एक अवस्था-परिवर्तन के फलस्वरूप है, न कि अभौतिक आकाश, जिसमें वह पदार्थ आश्रित है, के संकुचन के कारण।

काल विमिति का संकुचन कुछ दुरूहता उत्पन्न कर देता है, इसको समझने के लिए एक सरल उदाहरण लिया जाय। एक तारा पृथ्वी से ४० प्रकाश वर्ष दूर है। अब यदि एक राकेट २४०००० किलोमीटर प्रति सैकिण्ड की गति से वहां जाता है तो उसे वहां पहुँचने में कितना समय लगेगा? आपेक्षिकता के सिद्धांत के अनुसार उसके दो उत्तर हैं—

पृथ्वी स्थित मनुष्य की अपेक्षा से तो तारे पर पहुँचने में $\frac{३०००००\times४०}{२४००००}$=५० वर्ष लगेंगे। (क्योंकि प्रकाश की गति ३००००० कि० मी० प्रति सैकंड है।) किन्तु जो मनुष्य उस राकेट में बैठे हुए हैं, उनके लिए फिट्जगेराल्ड के संकुचन के नियमों के अनुसार काल विमिति में संकुचन हो जायेगा। यह संकोच १० : ६ के अनुपात में होगा अर्थात् राकेट में बैठे हुए मनुष्य के लिए तारे तक पहुँचने में $\frac{५०\times६}{१०}$=३० वर्ष लगेंगे।

उक्त उदाहरण से काल की विमिति के संकुचन को समझा जा सकता है। किंतु इसके दार्शनिक पक्ष में उलझन पैदा हो जाती है। मनुष्य की प्राकृतिक प्रक्रियाएं (जिसमें उसकी आयु भी है) क्या इस संकुचन से प्रभावित होती है? अर्थात् गति के प्रभाव से काल का जो संकुचन हुआ है, उसके अनुसार ही क्या मनुष्य की प्राकृतिक प्रतिक्रियाएं कार्य करती रहेंगी? इस प्रश्न के उत्तर में सम्भवतः वैज्ञानिक एक मत नहीं हैं। प्रो० मार्गेनौ इस विषय में यही अभिमत प्रकट करते हैं कि ये सभी संकुचन किसी भी अर्थ में वास्तविक ही हैं।[1] जब कि सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक सर आर्थर एडिंग्टन के सामने जब यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि 'क्या आकाश-काल के संकुचन वास्तविक हैं?' तब इसके उत्तर में उन्होंने कहा था—"हम बहुधा 'सत्य' और 'वास्तविक सत्य' के बीच भेद करते हैं। उसी के आधार पर गतिमान निकाय का संकुचन भी 'सत्य' कहा जा सकता है, पर 'वास्तविक सत्य' नहीं कहा जा सकता।"[2] सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक के इस कथन से तो यही फलित होता है कि गति से जनित आकाश-काल के संकुचन नैश्चयिक दृष्टि से वास्तविक नहीं हैं।

सामान्य बुद्धि भी इस बात को स्वीकार नहीं कर सकती कि राकेट में गति करने वाले मनुष्य की आयु पृथ्वी स्थित मनुष्य की आयु की अपेक्षा में बढ़ जाती है। इसका तात्पर्य यही होता है कि वस्तुतः आकाश-काल के निरपेक्ष मान हैं; उनका अस्तित्व मिट नहीं जाता। अन्यथा तो प्रकाश की गति को भी निरपेक्ष कहना उचित कैसे होगा? जैन-दर्शन के दृष्टिकोण से उक्त संकुचन के प्रश्न को देखा जाये तो यही कहा जा सकता है कि भौतिक परिणतियां सापेक्ष हो सकती हैं, किन्तु नैश्चयिक आकाश-काल के मानों की निरपेक्षता एक वास्तविक तथ्य है।

'आपेक्षिकता के सिद्धान्त' में आकाश और काल की परम्परापेक्षता को जो निरूपण किया गया है, वह निर्विवाद है। इसका आधार प्रकाश-

---

१. देखें, दी नेचर आफ फिजिकल रियालिटी पृ० १८०

२. न्यू पाथवेज इन साइन्स, पृ० २७५।

गति की सीमितता है। यह एक तथ्य है कि हमारी इन्द्रियों के द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह इस गति से तेज चलने वाले किसी भी साधन की सहायता से नहीं हो सकता। अतः घटना और द्रष्टा की (आकाशीय) दूरी के ऊपर युगपत्ता की परिभाषा आधारित हो जाती है। अत किसी भी घटना के पूर्ण विवेचन में आकाश और काल दोनों जुड़े हुए रहते हैं, यह सिद्धान्त निर्विवाद रूप से मान्य हो जाता है, किन्तु प्रकाश गति की सीमितता का क्षेत्र कहां तक है? –यह प्रश्न महत्वपूर्ण है।

आपेक्षिकता का सिद्धान्त इसी कल्पना पर आधारित है कि प्रकाश का वेग उत्कृष्टतम वेग है। इससे अधिक वेग किसी भी पदार्थ का नहीं हो सकता। यदि जैनदर्शन के दृष्टिकोण से इस प्रश्न को देखा जाय, तो यह सम्भव प्रतीत होता है कि यह कल्पना गलत हो। जैन दर्शन में जीव और पुद्गल दोनों को गतिमान माना है। जीव की गति भी दो प्रकार की कही जा सकती है–

१–आकाश में स्थानान्तर अर्थात् आकाश के एक भाग से दूसरे भाग में गमन।

२–एक ही स्थान में रहते हुए भी दूरस्थ पदार्थों का बाह्य साधनों की सहायता बिना ज्ञान कर लेना।

प्रथम प्रकार की गति जीव जब मृत्यु के बाद दूसरे जन्म को प्राप्त होता है या मुक्त दशा को प्राप्त होता है, तब होती है तथा विशिष्ट शक्ति वाले देवों की होती है। दूसरे प्रकार की गति स्थानान्तर की गति नहीं है, पर इसमें जीव (आत्मा) दूरस्थ पदार्थों का ज्ञान (ग्रहण) कर लेता है। इन गतियों में जो वेग होता है, वह प्रकाश के वेग से भी अत्यधिक हो सकता है। स्थानान्तर में जीव का वेग (मृत्यु और दूसरे जन्म के बीच) उत्कृष्टतया एक समय में रज्जुओं का अन्तर भी तय कर सकता है। अतीन्द्रिय ज्ञान से भी आत्मा एक समय में रज्जुओं दूर स्थित पदार्थों का ज्ञान कर लेता है।

यह तो जीव की गति की तीव्रता की सक्षमता है। पुद्गल भी आश्चर्यजनक वेग से गति करने में समर्थ होते हैं। पुद्गल की चरम इकाई परमाणु है, जो एक समय में समग्र लोक की ऊंचाई (१४ रज्जु) को पार कर सकता है। यह परमाणु की उत्कृष्टतम गति मानी गई है।

आपेक्षिकता के सिद्धान्त के अनुसार तो यह वेग तभी सम्भव हो सकता है, जब कि पदार्थ की संहति 'शून्य' हो। जैन दर्शन भी परमाणु को संहति-शून्य स्वीकार करता है। जैन दर्शन के अनुसार 'संहति' पुद्गल का मूलभूत गुण नहीं है। अतः शून्य संहति वाले पदार्थ का वेग यदि प्रकाश के वेग से भी अधिक हो जाये तो आपेक्षिकता के सिद्धान्त के अनुसार भी असंगत नहीं है। इस प्रकार सैद्धान्तिक रूप से तो यह सम्भव माना जा सकता है कि प्रकाश का वेग ही उत्कृष्टतम वेग है, ऐसा कहना गलत होगा।

आधुनिक युग में अन्तरिक्ष-यात्रा सम्बन्धी आविष्कारों की वृद्धि के साथ-साथ वैज्ञानिकों की कल्पना में प्रकाश के वेग की दीवार को पार करने की बात भी आई है। अन्तरिक्ष-यात्रा से सम्बन्धित एक उच्चस्तरीय वैज्ञानिक पुस्तक के लेखक आर्थर क्लार्क ने अपनी पुस्तक के अन्त में इस सम्भावना को प्रकट करते हुए लिखा है—क्या यह पूर्ण रूप से निश्चित है कि प्रकाश के वेग को कभी भी नहीं लांघा जा सकेगा? आपेक्षिकता का सिद्धान्त जो कुछ भी हो, आखिर तो एक सिद्धान्त ही है। क्या एक दिवस यह सिद्धान्त भी परिशोधित नहीं हो जायेगा? जैसे न्यूटन का गुरुत्वाकर्षण का नियम परिशोधित हुआ था, जो स्वयं शताब्दियों तक अखंडित रहा था और पूर्णतः सही माना जाता था।

"इस प्रश्न का उत्तर देने का कोई भी प्रयास हमें दर्शन के गहरे पानी में उतार देगा तथा आकाश में काल के मौलिक स्वरूप विषयक विचारों

को छूनेवाला होगा। यह संदिग्ध है कि कोई भी जीवित मनुष्य आज इस प्रकार की चर्चा में कोई मूल्यवान योग दे सकें; अतः इसका निर्णय तो भविष्य के ऊपर ही छोड़ देना होगा।''[1] इस प्रकार के उद्धरण से यह सम्भावना पुष्ट हो जाती है कि प्रकाश-वेग का उलंघन अशक्य नहीं है और यदि यह सम्भावना सत्य सिद्ध हो जाती है, तो आपेक्षिकता का सिद्धान्त जिस नींव पर खड़ा है, वह नींव ही ढह जाती है।

आपेक्षिकता के सिद्धान्त की सत्यता की कसौटी सम्भवतः तब तक हो सकेगी, जब स्थूल विश्व (Macrocosmos) के नियमों की समीचीनता सक्ष्म विश्व (Microcosmos) में भी यथावत् सिद्ध हो जायेगी। अब तक सूक्ष्म विश्व विषयक विज्ञान की ज्ञान-राशि अत्यधिक अल्प है; ऐसी स्थिति में वैज्ञानिक नियमों की सत्यता के विषय में अन्तिम रूप से कुछ भी कहना सम्भव नहीं माना जा सकता।

'आपेक्षिकता के सिद्धान्त' का जहां तक संबंध है, इसकी प्रायोगिक आधार पर की गई कसौटी भी पूर्ण नहीं मानी जाती। स्वयं हाइसनवर्ग ने यह स्वीकार किया है—'सामान्य आपेक्षिकता का सिद्धान्त अब तक भी वहुत सकड़ी प्रायोगिक आधार शिला पर खड़ा है और इसलिए इसकी विशिष्ट आपेक्षिकता के सिद्धान्त की अपेक्षा में और अधिक अनिश्चित मान लेना चाहिये।''[2]

विज्ञान की इस प्रगतिशीलता से सम्बन्धित अनेकों लेखों और पुस्तकों में वहुधा यह व्यक्त किया जाता है कि विज्ञान के भावी प्रयोग भूत के सिद्धांतों को गलत सिद्ध कर दें तो कोई आश्चर्य नहीं है। ऐसे ही एक लेख में रावर्ट सी॰ कावेन ने आईन्स्टीन के आपेक्षिकता के सिद्धान्त के बारे में निष्कर्ष रूप में लिखा था: "यद्यपि आपेक्षिकता के सिद्धान्त की प्रायोगिक आधार भूमि पुष्ट होती रही है, फिर भी भौतिक विज्ञान वेत्ता इस वृहत् सन्दर्भ में तो यही प्रश्न रखते रहेंगे—'क्या आईन्स्टीन सही था?''[3] उस लेख की विस्तृत चर्चा का सारांश ही दृढ़ क्यों न हो जाय, उसकी निश्चितता तो संदिग्ध रहेगी। यदि अन्य वैज्ञानिकों के इस सम्बन्धित विचारों को छोड़ भी दें तो आईन्स्टीन ने स्वयं इस बात को स्वीकार करते हुए कहा था:—"कितने ही प्रयोग क्यों न कर लिये जायें, मुझे वे कभी भी सत्य सिद्ध नहीं कर सकते, केवल एक ही प्रयोग मुझे कभी भी असत्य सिद्ध कर देगा।" आईन्स्टीन का यह कथन एक ओर जहां उस महान् वैज्ञानिक की निरभिमानता का द्योतक है, वहां दूसरी ओर भौतिक विज्ञान की अपूर्णता को भी अच्छी तरह प्रकाश में ला देता है।

समग्र विवेचन के निष्कर्ष में यही कहा जा सकता है कि प्रथम तो आपेक्षिकता का सिद्धान्त आकाश और काल सम्बन्धी जिन धारणाओं को उपस्थित करता है, उनकी सत्यता असंदिग्ध नहीं है और दूसरा इसका दार्शनिक प्रतिपादन सर्वसम्मत नहीं है। आईन्स्टीन आदि वैज्ञानिकों के द्वारा किया गया प्रतिपादन सम्भवतः ईश्वरवादी विचारधारा से प्रभावित है तथा स्पष्ट और तर्कसंगत भी नहीं है। आकाश-काल और विश्व की गति-स्थिति सम्बन्धी समस्याओं को हल करने वाले जैन-दर्शन के सिद्धांत

---

१. दी एस्टप्लोरेशन आफ स्पेस, पृ० १७५।

२. फिजिक्स एण्ड फिलोसाफी, पृ० १११।

३. भारत ज्योति [अंग्रेजी साप्ताहिक पत्र] ता० ३१ जुलाई १९६०।

वस्तुतः ही आज के वैज्ञानिकों के सामने एक सम्यक् दार्शनिक प्रणाली उपस्थित करता है। यह सही अर्थ में अस्तित्व का दर्शन है। जैन दर्शन में निरूपित सिद्धांत का स्रोत तर्क नहीं, अपितु अन्तः अनुभूति या विशिष्ट आत्म ज्ञान है, जिसमें तत्व से प्रत्यक्ष सम्पर्क बनता है। तर्क तो इन सिद्धातों की एक कसौटी मात्र बन सकती है। 'वास्तविकता' के पीछे रहे हुए 'क्यों' को हम सम्भवत: न तो तर्क के सहारे जान सकते हैं और न भौतिक साधन प्रसाधन तथा ऐन्द्रिय ज्ञान की सहायता से जान सकते हैं। प्रो० मार्गेनौ ने 'वास्तविकता के स्वरूप' नामक पुस्तक के अन्तिम पृष्ठों में कहीं लिखा है-"यह निश्चित है कि वास्तविकता का कोई भी कारण (भौतिक अर्थ में) हो नहीं सकता। ऐसे बिन्दु पर जाते ही वैज्ञानिक छुट्टी ले लेता है और अस्तित्व का दार्शनिक सूत्रधार बन जाता है।"

को स्वामी मम मित्र को, कहा देश में रीत।
खरच किता आमद किती, सदा वितवो भीत॥
जंत्र मंत्र औषधी हरे, तनकी व्याधि अनेक।
मनकी बाधा सब हरे, गुरु का दिया विवेक॥

—बुधजन

जैसे हम हैं दूसरों को भी वैसा ही समझते हैं। जो मनुष्य अविश्वासी होता है, वह संसार भर को अविश्वासी समझता है। झूठे आदमी को संसार में ऐसा एक भी आदमी नहीं दीख पड़ता जो सच बोलता हो। ईर्ष्या और द्वेष रखने वाले मनुष्य सबको अपने समान ही समझते हैं।

—नरसिंगराव

———

भूधरदास कृत पार्श्व पुराण और उसमें पशु-पक्षि वर्णन

डा० महेन्द्र सागर प्रचंडिया, एम० ए०, पी-एच० डी०,

अभिव्यक्ति एक शक्ति होती है। इसके अन्तरंग में उपार्जित सांसारिक जानकारी और अन्तर्लोक जन्य अनुभूतियों को व्यक्त करने की आरम्भ से ही व्यक्ति की इच्छा अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है। उपलब्ध जानकारी जब तक मुखरित न हो जाय नयी जानकारी के लिये प्रायः अवकाश कम रहता है। जानना व्यक्ति की आदिम आदत है और उसे पहिचानना उसका ज्ञान कहलाता है। कविवर भूधर दास ने अपने जीवन में जो जाना और पहचाना है उसे उन्होंने तत्कालीन काव्य शैली में शब्दायित भी किया है। इसी संदर्भ में उनके 'पार्श्वपुराण' में हमें श्रेष्ठ अभिव्यक्ति के दर्शन होते हैं।

कविवर भूधरदास आगरा निवासी खण्डेलवाल जैन थे। जैनशतक, पदसंग्रह और पार्श्वपुराण आपकी ज्ञात उल्लेखनीय कृतियां हैं। आपकी काव्य कृतियों में हमें सदाशय, चारित्रिक दृढ़ता, आत्मनिर्भरता, सज्जनता, नीतिवत्ता, विनयशीलता आदि जीवनोपयोगी तत्वों के दर्शन होते हैं। पार्श्वपुराण कवि का मौलिक प्रबन्ध काव्य है। इसमें ऐतिहासिक तेइसवें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ का जीवनवृत्त प्रतिपादित है। हिन्दी जैन साहित्य की प्रबन्धकाव्य परम्परा में कवि का यह प्रयास सर्वथा नव्य और भव्य है। बाबू कामता प्रसाद जैन, अलीगंज ने इस कृति को एक सुंदर स्वतंत्र काव्य कहा है।[1] पं० नाथूराम 'प्रेमी' ने संस्कृत और प्राकृत ग्रन्थों का अनुवाद कर हिन्दी जैन काव्य सृजन की परम्परा में 'पार्श्वपुराण' को [illegible] रूप में लिया गया माना है।[2] हिन्दी के सिद्ध-समालोचक आचार्य पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने प्रसाद गुण, [illegible], सुबोध भाषा शैली में रचित प्रभावोत्पादक काव्य कृति को श्रेष्ठ रचना कहा है। इसी कसौटी को ध्यान में रखकर यदि 'पार्श्वपुराण' का अध्ययन किया जाय तो इसे [illegible] में एक श्रेष्ठ कृति कहा जायगा। 'पार्श्वपुराण' [illegible] ज्ञान-भण्डार का [illegible] है जिसमें प्रसाद गुण सौन्दर्य [माधुर्य] गुणों का [illegible] प्रयोग हुआ है।

सत्यं, शिवं और सुन्दरं के [illegible] में हमें काव्य की आत्मानुभूति होती है। साक्षात् सत्य को आकार नहीं दिया जा सकता, आकार देने पर उसका निराकारत्व समाप्त हो जाता है; सत्य अदर्शी होता है और उसे मात्र अनुभूति की चीज कहा जाना चाहिए। फिर भी कवियों ने सत्य की अभिव्यक्ति करने की आरम्भ से ही चेष्टा की है। सामाजिक की सत्य के प्रति साधारणीकरण

---

१. हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास डा० कामता प्रसाद जैन, अलीगंज, एवं.

२. हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास प्रथम संस्करण, पं० नाथूरामजी प्रेमी, बम्बई।

रिक्त महादेवी, पंत, रत्नाकर आदि कवियों ने इस प्रकार का वर्णन किया है।

कविवर भूधरदास ने इन पशुओं का उपयोग कवि परम्परा की दृष्टि से तो किया ही है साथ ही भावों की अभिव्यक्ति के लिये उन्होंने अन्य अनेक पशुओं का उनके स्वभाव, प्रवृत्ति और प्रकृति के लिये उपयोग किया है। अनेक पशुओं को साहित्य में जो स्थान मिला है उसमें बहुत कुछ श्रेय भूधरदासजी को नव्य प्रयोग के लिये ही मिलना चाहिये। कवि परम्परा की दृष्टि से सिंह, मयूर, कोकिल, मैंढ़क, गाय और मृग का प्रयोग प्रायः आवश्यक हो जाता है परन्तु भूधरदास जी इस दृष्टि से जागरूक नहीं दिखाई पड़ते हैं। मेंढ़क का प्रयोग तो जैसे उन्होंने किया ही नहीं। इसी प्रकार वायस, गीध, कपोत, कुरकुट, डांस आदि का वर्णन भी गौण ही है। अस्तु यह कहना समीचीन होगा कि भूदरदास जी को कवि परम्परा की दृष्टि से पशु वर्णन करने का विचार नहीं रहा है। उन्होंने तो अपने भावों की अभिव्यक्ति को ही सर्वोपरि रखा है। रीतिकालीन कवि बिहारीलाल की भांति भूधरदासजी का चूहा वर्णन वस्तुतः अपने समय की पहली और अकेली बात है। अन्य अनेक पशुओं के उपयोग पक्ष मे भी भूधरदासजी का दृष्टिकोण प्रायः नव्य और भव्य रहा है। इस दृष्टि से शशक, बीछी, खजूरे, कच्छप और श्रृगाल आदि उल्लेखनीय हैं। स्वान का प्रयोग कवि की मौलिक सूझ का परिणाम कहा जा सकता है।

पशुओं की भांति संस्कृत और हिन्दी साहित्य में पक्षियों का भी महत्त्वपूर्ण उपयोग हुआ है। महाकवि कालिदास द्वारा रघुवंश के दशम और चतुर्दश तथा विलाप प्रसंग में मयूर, ऋतुसंहार में भ्रमर, भ्रमरी का विशद वर्णन हुआ है। नीति शतक में वर्षाकाल में मयूर और कोकिलों का कूकना प्रकृति सापेक्ष के रूप में उल्लिखित है। श्री हर्ष ने तो 'हंस' और नल का सम्वाद नैषध चरित में लिखा है।

संस्कृत कवियों की भांति अपभ्रंश और हिन्दी में पक्षियों के वर्णन की यह परम्परा आरम्भ से ही चली आरही है। चिरयु ग्रन्थों से लेकर मुक्तक काव्यों तक सभी में किसी न किसी रूप में पक्षियों का प्रयोग कवियों को करना ही पड़ा है। स्वयभू, धनपाल, और अब्दुल रहमान आदि कवियों ने अपने प्रकृति वर्णन में मयूर, कोकिल और हंस को चुना है।

हिन्दी में षट्ऋतु तथा बारहमासा वर्णन में इन पक्षियों का अभाव सम्भव नहीं है। अतः यहां प्रत्येक युग के कवियों द्वारा इन पक्षियों का वर्णन हुआ है।

कविवर भूधरदास भी इन्हीं पक्षियों में से केवल बारह प्रकार के पक्षियों को उपयोग में ला सके हैं। कवि ने अपने भावों-विभावों की अभिव्यक्ति के लिये भी इन पक्षियों का उपयोग किया है।

अब हम यहां 'पार्श्व पुराण' में व्यवहृत पशु पक्षियों की स्थिति पर विचार करेंगे।

१ गज—गज, गयंद, गयंदन, गजराज, गजईश, गजपति, गजदन्त, गजेन्द्र, हथिनी, हाथी, हस्ती, कुंजर, मातंग, करिन्द, वारण दिग्गज, नगकरी और ऐरावत नामक संज्ञाओं में चवालीस बार हाथी उल्लिखित है। गज नाम से दशबार प्रकृति वर्णन, स्वभाव-मतवालापन, स्थूल शरीर, काल को वशीभूत करना, सेनी जीव होने से संवेदनशील होना—आदि वर्णनों के लिये व्यवहृत हुआ है।[१] गयंद और गयंदन

१, पार्श्वपुराण—भूधरदासजी, जिनवाणी कार्यालय कलकत्ता-पृष्ठ, ६, १०, ११, १६, ४६, ४८, ५६, ६८।

संज्ञाओं में प्रकृति वर्णन के अतिरिक्त 'तुमुलनाद' के लिये भी व्यवहृत है।[१] गजराज, गजराय, गजईश तथा गजपति संज्ञाओं में हाथी प्रकृति वर्णन के लिये उल्लिखित है।[२] गजदन्त के रूप में केवल एक बार गज का उपयोग हुआ है।[३] हस्ती, हथिनी सात बार प्रकृति वर्णन के अतिरिक्त, 'संहार करने' के लिये, पानी में डूबने के प्रसंग में, तथा सवारी करने के प्रसंग में व्यवहृत है।[४] मातंग अपने मतवाले होने के स्वभाव में, करिन्द्र और वारण प्रकृति वर्णन के लिये उल्लिखित है।[५] दिग्गज आलंकारिक प्रयोग के लिये केवल एकबार प्रयोग में आया है।[६] नगकरी और ऐरावत क्रमशः प्रकृति उल्लेख और ऐश्वर्यपूर्ण सवारी के प्रसंग में व्यवहृत है।[७]

२ घोड़ा—तुरग और तुरंग संज्ञाओं में नौ वार प्रकृति वर्णन के लिये तथा स्वभाव से तेज चलने के लिये उल्लिखित है।[८]

३ मृग—कुरंग, मृग, और मिरग संज्ञाओं में पांच वार उल्लखित है। कुरंग प्रकृति वर्णन के लिये दो बार, मृग शारीरिक अंग समता नेत्र सौन्दर्य के लिये उपमान के रूप में आलंकारिक प्रयोग दो वार तथा मिरग स्वभाव दीन विचार के लिये केवल एक बार व्यवहृत हुआ है।[९]

४. सिंह—सिंह (श्वेतसिंह, सिंहासन, सिंह पीठ) केहरि, मृगेश्वर, बाघ नामक संज्ञाओं में अट्ठाइस वार उल्लेख हुआ है। सिंह-प्रकृति वर्णन के लिये, स्वभाव के लिये और आलंकारिक प्रयोग में उल्लिखित हैं। श्वेतसिंह-दर्शन करने से लाभ की सिद्धि होती है।[१०] सिंह-आसन और पीठ के लिये भी दसवार व्यवहृत हुआ है।[११] केहरी प्रकृति-वर्णन और स्वभाव-सिंहनाद के लिये चार वार उल्लिखित है।[१२] मृगेश्वर अपने प्रचंड स्वभाव के लिये केवल एक बार व्यवहार में आया है।[१३] बाघ

---

१. पार्श्वपुराण पृष्ठ १, १०, १५, ३४, ७२, ७३।
२. वही पृष्ठ १०, ११।
३. ,, ,, ७५।
४. ,, ,, ६, १०, ११, ३०, ३८, ५२।
५. ,, ,, १।
६. ,, ,, १०, ११, ८१।
७. ,, ,, ७०, ७५।
८. ,, ,, १०, १५, १६, ३६, ५६, ६० और ६३।
९. ,, ,, ६, १६ ४८, ६१, ८६।
१०. पार्श्वपुराण...पृष्ठ ४७।
११. ,, ,, ४६, ४७, ४८, ५३, ५५, ६०, ७० और ७३।
१२. ,, ,, ३३, ३४, १७, ५३, ६०, ६७, ७३, ७५।
१३. ,, ,, १।

प्रकृति-वर्णन के लिये और दूसरे को अपने नियंत्रण में करने के लिए केवल दो वार उल्लिखित है।[1]

५. सर्प—सर्प का नाग, नागराज, पन्नग, विषधर, अहि, भुजंग, भुजग, अजगर धरणिन्द और फणी संज्ञाओं में २३ वार उल्लेख हुआ है। नाग प्रकृति-वर्णन के लिये तथा राग-प्रसंग में पाँच बार प्रयोग में आया है।[2] नागराज कथा रूप में व्यक्ति-वाचक संज्ञा के रूप में दो वार उल्लिखित है।[3] पन्नग आलंकारिक प्रयोग में पाय उपमान के लिये व्यवहार में आया है।[4] विषधर अपने स्वभाव-डसना, वक्रचाल चलना-आदि रूपों में उल्लिखित है।[5] अहि प्रकृति प्रसंग में व्यवहृत है।[6] भुजंग जीभ उपमान के लिये प्रयोग में आया है।[7] अजगर अपने विशाल शरीर के लिये व्यवहृत है।[8] धर्णिद और फणी अपने विषैले स्वभाव तथा ऊचे फण करने के लिये उल्लिखित हैं।[9]

६. शशक—अपनी दीन-हीन अवस्था को अभिव्यक्त करने के उद्देश्य से कवि द्वारा शशक का उपयोग एक वार हुआ है।[10]

७. मूषक—हिलने डुलने के लिये केवल एक वार उल्लेख में आया है। कवि का यह प्रयोग नया ही कहा जायगा।[11]

८. रीछ—प्रकृति उल्लेख में डोलने के लिये केवल दो वार उल्लिखित है। वनस्थली में मग की भीषणता के प्रसंग में यह प्रयोग वस्तुतः दर्शनीय है।[12]

९. वीछी—वीछी और वीछू संज्ञाओं में विषैले होना तथा डंकमारने के स्वभाव वर्णन के लिये विवेच्य कृति में केवल दो वार उल्लेख हुआ है।[13]

१०. गायवत्स—गायवत्स 'प्रीतिस्थापना' के लिए व्यवहार में आया है। गऊ पति प्रकृति वर्णन दो वार व्यवहृत हुआ है। वृषभ और वृषभराज प्रकृति और डक्कारने के लिये दो वार उल्लिखित है।[14] कामधेनु

---

१. पार्श्वपुराण पृष्ठ १ और २३।
२. " " १, १६, ३३, ६२, ७८।
३. " " ४८ और ६९।
४. " " १ और १३।
५. " " १, ५ और ८।
६. " " ११ और २३।
७. " " १, ३७, ६३ और ६७।
८. " " १९, ३३, और ६५।
९. " " ७ और ६२।
१०. " " १।
११. " " २३।
१२. " " ९, ३३।
१३. " " २०, ३२।
१४. " " ३६, ४६, ६०।

उक्त परिचयात्मक विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि कविवर भूधरदास की मानवीय अनुभूतियों के साथ वस्तु उल्लेख में पशु-पक्षियों के स्वभाव, गुण और व्यवहार परक पेठ कितनी पेनी और गम्भीर थी। यद्यपि कवि का जीवन धार्मिक मर्यादाओं में नियंत्रित और सीमित बन गया था तथापि उन्हें जीवन की अनेक स्थिति-परिस्थितियों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म ज्ञान विज्ञान था। वे मानवीय भाव-विभाव और अनुभाव की अभिव्यक्ति अत्यन्त सहज, स्वाभाविक तथा सुबोध शैली में व्यक्त करने में सिद्धहस्त थे। रीतिकालीन हिन्दी जैन कवियों में कविवर भूधरदास इस दृष्टि से अपने समय के पहिले और अकेले कवि थे। वस्तु-विवेक की दृष्टि से भूधरदास-साहित्य का व्यापकरूप से अध्ययन अपेक्षित है।

———

जिन लोगों ने अपनी आत्मा में परमात्मा का अनुभव कर लिया है, वे प्राणी मात्र में ईश्वर दर्शन करते हैं।

—नरसिंगराव

———

समाधि योग

आचार्य श्री रजनीशजी

१—सत्य खोज की दो दिशायें हैं, एक विचार की ओर एक दर्शन की। विचार का मार्ग चक्रिल है। उसमें गति तो बहुत होती है पर गन्तव्य कभी भी नहीं आता। वह दिशा भ्रामक और मिथ्या है। जो उसमें पड़ते हैं, वे मतों में ही उलझकर रह जाते हैं मत और सत्य दो भिन्न बातें हैं, मत बौद्धिक धारणा है जबकि सत्य समग्र प्राणों की अनुभूति। मत बदल जाते हैं, तार्किक हवाओं के रुख पर उनकी स्थिति निर्भर करती है, उनमें कोई थिरता नहो होती। सत्य अपरिवर्तित होता है, उसकी उपलब्धि शाश्वत और सनातन में प्रतिष्ठा देती है।

२—विचार का मार्ग उधार है। दूसरों के विचारों को ही उसमें निज की सम्पत्ति मानकर चलना होता है। उनके ही ऊहापोह और नये नये संयोगों को बनाकर मौलिकता की आत्म वंचना पैदा की जाती है। जबकि विचार कभी भी मौलिक नहीं हो सकते हैं। दर्शन ही मौलिक होता है, क्योंकि उसका जन्म स्वयं की अन्तर्दृष्टि से होता है।

३—जो भी ज्ञात है, वह अज्ञात में नहीं ले जा सकता है। सत्य अज्ञात है तो ज्ञात विचार उस तक पहुंचने की सीढियां नहीं बन सकते हैं। उनके परित्याग से ही सत्य में प्रवेश होता है। निर्विचार चैतन्य के आकाश में ही सत्य के सूर्य के दर्शन होते हैं।

४—मनुष्य चित्त ऐंद्रिक अनुभवों को संगृहीत कर लेता है। ये सभी अनुभव वाह्य जगत के होते हैं, क्योंकि इन्द्रियां केवल उसे ही जानने में समर्थ हैं जो कि वाहर है। स्वय के भीतर जो है, उस तक इन्द्रियों की कोई पहुंच नहीं है। इन अनुभवों की सूक्ष्म तरंगें ही विचार की जन्मदात्री हैं। इसलिये विचार विज्ञान की खोज में तो सहयोगी हो सकता है किन्तु परम सत्य के अनुसंधान में नहीं। स्वयं के आंतरिक केन्द्र पर जो चेतना है, विचार के द्वारा उसे स्पर्श नहीं किया जा सकता है। क्योंकि वह तो इन्द्रियों के सदा पार्श्व में ही है।

५—यह स्मरण रखना आवश्यक है कि विचारों का आगमन वाहर से होता है। वे विजातीय तत्व हैं। उनसे स्वयं की सत्ता उद्घाटित नहीं, वरन् और आच्छादित ही होती है। उनकी धुन्ध और धुंआं जितना गहरा होगा, उतना ही स्व सत्ता में प्रवेश कठिन और दुर्गम हो जाता है। और जो स्वयं को ही नहीं जानता है, वह सत्य को कैसे जान सकता है? सत्य को जानने का द्वार स्वयं से होकर ही जाता है। और कोई दूसरा द्वार भी नहीं है।

६—सत्य की बौद्धिक विचारणाओं में पड़े रहना ऐसे ही है जैसा कि कोई अन्धा व्यक्ति प्रकाश का चिन्तन करता रहे। उसका सारा चिन्तन व्यर्थ ही होगा, क्योंकि प्रकाश सोचा नहीं, देखा जाता है। उसके लिये विचार नहीं आखों का उपचार आवश्यक है। उस दिशा में किसी विचारक की

नहीं, चिकित्सक की सलाहें ही उपादेय हो सकती हैं।

७—विचार चिन्तन है, दर्शन चिकित्सा है। प्रश्न प्रकाश का नहीं सदा ही आंखों का है। यही तत्व चिन्तन [Philosophy] और योग विभिन्न दिशाओं के यात्री हो जाते हैं। तत्व चिन्तन ग्रन्थों द्वारा प्रकाश की विचार और विवेचना है जबकि योग आंखें देता है और सत्य के दर्शन की सामर्थ्य और पात्रता उत्पन्न करता है।

८—योग समाधि का विज्ञान है। चित्त की शून्य और पूर्ण जागृत अवस्था को मैं समाधि कहता हूँ। विषयों [Objects] की दृष्टि से जब चित्त शून्य होता है और विषयी [Subjectivity] की दृष्टि से पूर्ण जागृत तब समाधि उपलब्ध होती है। समाधि सत्य के लिये चक्षु है।

९—हमारा चित्त साधारणतः विषयों, विचारों और उनके प्रति सूक्ष्म प्रतिक्रियाओं से आच्छन्न रहता है। इन अशाँत लहरों की क्रमशः एक मोटी दीवार बन जाती है। यही दीवार हमें स्वयं के बाहर रखती है। सूर्य जैसे सागर पर अपनी उत्तप्त किरणें फेंककर ऐसे बादल पैदा कर लेता है जो कि उसे ही ढांकने और आवृत करने में समर्थ हो जाते हैं। ऐसे ही मनुष्य चेतना भी विषयों के संसर्ग से विचार प्रतिक्रियाओं को उत्पन्न कर लेती है और फिर उन्हीं में भटक जाती है। अपने ही हाथों अपनी सत्ता तक पहुँचने के द्वार बंद करने के लिये मनुष्य स्वतन्त्र है।

१०—किन्तु, जो अपने पैरों में अपने हाथ से बेड़ियां डालने में समर्थ होता है, वह उन्हें तोड़ने की क्षमता भी अवश्य ही रखता है। स्वतन्त्रता हमेशा दोहरी होती है। बनाने की शक्ति में मिटाने की शक्ति भी अवश्य ही अंतर्निहित होती है। इस सचाई को ध्यान में रखना बहुत आवश्यक है।

११—स्वयं को या सत्य को पाने जो चलता है, उसे विजातीय प्रभावों को दूर करने के लिये उनकी दीवार पर दो बिंदुओं से आक्रमण करना होता है। एक आक्रमण को मैं जागरूकता (Awareness) के लिए आक्रमण कहता हूं और दूसरे को शून्यता (Emptiness) के लिये। इन दोनों की जहां पूर्णता होती है और संगम होता है, वहीं समाधि फलित होती है।

१२. जागरूकता के लिये कार्यों में या विचारों में अपनी मूर्च्छा और प्रमत्तता को छोड़ना पड़ता है। कोई भी कर्म या कोई भी विचार सोयी सी अवस्था में नहीं, परिपूर्ण सजगता में होना चाहिये। उसके होते समय भीतर उसके प्रति पूरा होश होना चाहिये। सतत् ऐसी धारणा करने पर स्वयं में साक्षी का जन्म होता है। जागरूकता के लिए निरंतर सचेत रहने और अपनी अर्ध निद्रा सी चित्त-दशा पर निरंतर आघात करने से स्वभावतः ही प्रसुप्त प्रज्ञा में जागरण प्रारम्भ हो जाता है फिर धीरे-धीरे एक बोध चेतना सहज ही साथ रहने लगती है। यहां तक कि निद्रा में भी उसका साथ नहीं छूटता है। यह पहला आक्रमण है।

१३—दूसरा सहयोगी आक्रमण शून्यता के लिये करना होता है। यह स्मरण रखना होता है कि चित जितना कम स्पंदित और आंदोलित हो उतना ही अच्छा है। ऐसे विचारों और भावों में स्वयं को पड़ने से रोकना पड़ता है, जिनका परिणाम चित्त को अशांत करता हो। चित्त की शांति को वैसे ही सम्हालना पड़ता है जैसे कि कोई पथिक रात्रि के अन्धकार में आंधियों से अपने दिये को बचाकर चलता हो। ऐसे कर्म, ऐसे विचार या ऐसी वाणी के प्रति सचेत होना होता है जो कि चित्त की झील पर लहरें पैदा करे और जिससे कि विक्षोभ उत्पन्न होता हो।

१४—दोनों आक्रमण सहयोगी आक्रमण हैं और एक के साधने से दूसरे में सहायता मिलती है।

जागरूकता साधने से शून्यता आती है और शून्यता साधने से जागरूकता आती है। उन दोनों में कौन महत्वपूर्ण है; यह कहना कठिन है। उनका सम्बन्ध मुर्गी के अंडे के सम्बन्ध जैसा ही है।

१५--शून्यता और जागरूकता जब पूर्ण हो जाती हैं तो चित्त एक ऐसी क्रांति से गुजरता है जिसकी कि साधारणतः हमें कोई कल्पना भी नहीं हो सकती थी। उस परिवर्तन से बड़ा कोई परिवर्तन मनुष्य जीवन में नहीं है। वह क्रांति आमूल है और उसके द्वारा सारा ही जीवन रूपांतरित हो जाता है। अन्धे को अनायास आंख मिल जाने के प्रतीक से ही उसे समझाया जा सकता है।

१६--इस क्रांति के द्वारा व्यक्ति स्वयं में प्रतिष्ठित होता है और अनिर्वचनीय आलोक को अनुभव करता है। इस आलोक में वह अपने सच्चिदानंद स्वरूप को जानता है। मृत्यु मिट जाती है और अमृत के दर्शन होते हैं। अन्धकार विलीन हो जाता है और सत्य से मिलन होता है। वास्तविक जीवन की शुरूआत इस अनुभूति के बाद ही होती है। उसके पूर्व हम मृतकों के समान हैं। जीवन सत्य को जो नहीं जानता है, उसे जीवित कहना बहुत अधूरे अर्थों में ही सच हो सकता है?

ज्ञानवन्त हठ गहै, निर्धन परिवार बढ़ावै।
विधवा करे गुमान, धनी सेवक ह्वै धावै॥
बुद्ध न समझे धर्म, नारि भर्त्ता अपमानै।
पंडित क्रिया विहीन, राय दुर्बुद्धि प्रमानै॥
कुलवन्त पुरुष कुलविधि तजे, बंधु न माने बंधुहित।
सन्यास धार धन संग्रहै, ए जग में मूरख विदित॥

—महाकवि बनारसीदास

अयं निजः परोवेति गणना लघुचेतसां ।
उदारचरितानां तु, वसुधैव कुटुम्बकं ॥

अर्थ—यह मेरा है, यह दूसरे का है, इस प्रकार के विचार तो ओछे लोगों के होते हैं। जो उदार स्वभाव वाले हैं उनके लिये तो सारी पृथ्वी ही उनके कुटुम्ब के समान है।

————

आचार्य सोमदेव और उनका यशस्तिलक चम्पू

मुनि श्री विद्यानन्द जी महाराज

ईसा की १० वीं शताब्दी विद्वानों, कवियों और साहित्यकारों की दृष्टि से महत्वपूर्ण कही जानी चाहिए। इस समय पम्प, पोन्न, इन्द्रनन्दी, पुष्पदन्त, भट्ट वादिघंघल और आचार्य सोमदेव जैसे कवि और शास्त्रकार आर्यभूमि भारत के प्राणों में सांस्कृतिक स्वर साधना कर रहे थे। आदिपुराण, विक्रमार्जुनविजय, शान्तिपुराण, महापुराण, जसहरचरिउ, तथा यशस्तिलकचम्पू जैसे उद्भट ग्रन्थों की रचना का यही समय है। आचार्य सोमदेव का यह समय भारत को यदि समुद्र कहें तो उसमें विश्रुत विद्वत्कल्लोल-संकुल कहा जाना चाहिए। सोमदेव की वैदुष्यप्रशस्ति उनके मुख्य ग्रन्थ यशस्तिलकचम्पू को लेकर है। यशस्तिलकचम्पू, नीतिवाक्यामृत और अध्यात्मतरंगिणी तीन कृतियों के यशस्वी निर्माता आचार्य सोमदेव अपनी आर्षदृष्टि के लिए प्रसिद्ध हैं। उन्होंने यशस्तिलकचम्पू द्वारा आगमिकवरिवस्या के साथ २ संस्कृतसाहित्य की जो सेवा की है, वह अकेली ही उन्हें यशोर्जाविता की अनेक शतकावली वितीर्ण करने में समर्थ है। किसी सूक्तिकार ने कहा हैं कि हे कुविन्द, तू नित्य ही एक नवीनवस्त्र बुनता है और कथंचित् अपना उदरभरण करता है। अरे मित्र, प्रतिदिन किये गये इस परिश्रम से क्या लाभ? अच्छा हो, यदि तू किसी नृपति चक्रवर्ती के लिए कौशेय बनावे और उस एक वस्त्र के बदले में तुम्हें इतना विपुल द्रव्य मिले कि तेरी पीढ़ियों के लिए सहारा हो जाए। ठीक यही उक्ति आचार्य सोमदेव के यशस्तिलक चम्पू के लिए कही जा सकती है, जिसने उन्हें चिरयशस्वी कवियों की पंक्ति का पांक्तेय बना दिया है।

सोमदेव की इस विशिष्ट रचना में उनके यावज्जीवन किये गये स्वाध्याय का दिग्दर्शन मिलता है। स्वाध्याय पर उनका बहुत अवधान था यह उन्हीं के शब्दों से विज्ञात होता है। वह लिखते हैं—धर्मश्रुतधनानां प्रतिदिनं लवोपि संगृह्यमाणो भवति समुद्रादप्यधिकः—अर्थात् धर्म, शास्त्र और धन का प्रतिदिन लवसंग्रह भी एक दिन समुद्र से भी अधिक हो जाता है। यह सूक्ति जहां अन्य सहस्रों का मार्ग दर्शन करने वाली है वहां स्वयं यशस्तिलककार के हृदय प्रदेश में अन्तर्निविष्ट भी है। क्योंकि यत्स्वरूपः कविस्तत्स्वरूपं तस्य काव्यम्—यह स्वाभाविक है। जिस कोटि के तंतु होंगे उसी कोटि का पट तैयार होगा। यशस्तिलक का अध्ययन करते समय पद पद पर यदि नाना शास्त्रों, पुराणों, कथानकों और भावानुभावों की सन्तत श्रृंखला की अहम्पूर्विक उपस्थिति का बोध होता है तो उसमें उनका निरन्तर स्वाध्याय ही दृग्गोचर होता है। संस्कृतसाहित्य में हरविजय नामक एक विशाल महाकाव्य है, उसके रचयिता ने काव्य समाप्ति पर एक उक्ति कही है —

हरविजयमहाकवेः प्रतिज्ञां शृणुत
कृतप्रणयो मम प्रबन्धे।
अपि शिशुरकविः कविप्रभावाद्
भवति कविश्च महाकविः क्रमेण॥

अर्थात् हरविजय काव्य के कवयिता की इस उक्ति को पाठक सुनें कि महाकवियों की कृतियों के स्वाध्याय के प्रसाद से अकवि कवि और कवि महाकवि बन जाते हैं। आचार्य सोमदेव के यशस्तिलक-चम्पू के विषय में भी इसी प्रकार की सम्भावना करना स्वाभाविक है। मेरा विचार है कि इस एक कृति का आमूलचूल अवगाहन करने से अध्येता को जैनशास्त्र का पर्याप्त ज्ञान तो मिलेगा ही, उसे संस्कृत भाषा की विज्ञता भी प्राप्त होगी।

सोमदेव शुष्क तार्किक थे, ऐसा मैं नहीं कह रहा हूँ, उन्होंने स्वयं कहा है। स्याद्वादाचलसिंह, तार्किकचक्रवर्ती, वादींभपंचानन, वाक्कल्लोलपयोनिधि तथा कविकुलराज उनकी उपाधियां थीं। अपने प्रखर पाण्डित्य द्वारा वादियों को विजय करने से तथा अस्खलितदोलायमान काव्यनिर्माण सामर्थ्य से यह यशःपताका उन्होंने अर्जित की थी। जैन दर्शन के उच्चकोटि के विद्वान् होने के साथ २ वह भारतीय अन्य दर्शनधाराओं के सुपरिचित मनीषी थे। उन्होंने वैदिक, वैशेषिक, वार्हस्पत्य, पाशुपत, कौल, सांख्य, कणाद, कापिल, गौतम और शंकर अद्वैतवाद का पूर्ण परिशीलन किया था। इसका परिचय उनका चम्पू पढ़ते समय सहज ही लग जाता है। चम्पू काव्यों की परम्परा है कि उनमें श्लेषबहुल शैली का प्रतिपादन करना होता है। यह श्लेष-बहुलता तब तक सांगोपांग नहीं हो पाती जब तक लेखक को विविधवाङ्मय का बोध न हो। उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों की विच्छित्तिमय भंगिमा को कवि ऐतिहासिक, पौराणिक तथा विविधसच्छास्त्रीय उदाहरणों से ओतप्रोत कर वर्णित करता है और इसी से उसके शास्त्रीय पौढ़त्व तथा कवित्व का पता चलता है। सोमदेव ने सारे काव्य में यथावसर अपनी नाना शास्त्रविशारदता का परिचय देते हुए इन वर्ण्य काव्यावयवों की अटूट शृंखला पिरो दी है। उन्होंने योगशास्त्र, कामशास्त्र, वैद्यक ज्योतिष, रत्नविज्ञान आदि विषयों का उत्तमता से निर्वहण किया है इससे सिद्ध है कि उन्हें इन विषयों की पर्याप्त जानकारी थी। ग्रन्थ के आरम्भ में ही उन्होंने कैश्चिदैन्द्रापिशलपाणिनीयाद्यनेकव्याकरणोपदिश्यमान इत्यादि कहते हुए अनेक वैयाकरणों का नामनिर्देश किया है और नीतिशास्त्रकारों का स्मरण किया है। इस अन्तः साक्ष्य से स्वतः प्रतीत होता है कि वे एक बहुज्ञ, व्युत्पत्तिमान् मनीषी थे और जिन उपाधियों ने उनका वरण किया था; वह उनके अनुकूल योग्य अधिकारी पात्र थे। उन्हें अपने वैदुष्यपर पूर्ण प्रत्यय था। अपने आप पर ऐसी अडिग आस्था का निर्माण प्रत्येक को नहीं होता और उन्हें तो सर्वथा नहीं हो पाता जो तलस्पर्शी हैं तथा चंचुप्रवेशी हैं। इसी आश्वस्तता से उद्विवत होकर उन्होंने लिखा था कि—

सकलसमयतर्के नाकलंकोसिवादी
न भवसि समयोक्तौ हंससिद्धान्तदेवः।
न च वचनविलासे पूज्यपादोसि तत्वं
वदसि कथमिदानीं सोमदेवेन सार्धम् ॥

नीतिवाक्यामृत०

अर्थात् हे वादिन्, न तो समस्त दर्शनों के तर्क में, ऊहापोह में तुम अकलंकदेव के समान हो, न समयोक्ति में हंस सिद्धांतदेव ही हो और वचन-विलास में पूज्यपाद आचार्य भी नहीं हो। तब तुम मुझ सोमदेव के साथ शास्त्रार्थ करने को कैसे—किस साहस पर प्रस्तुत हुए हो। आशय यह है कि मैं एकाकी ही अकलंक के तार्किकत्व, हंससिद्धांतदेव के आगमिक उचित नैपुण्य और पूज्यपाद के वचन सामर्थ्य से संवलित हूं। क्या तुम इन तीनों के समान बौद्धिक क्षमता रखते हो। यदि नहीं, तो मेरे साथ वार्तालाप के अधिकारी भी नहीं हो। यह अतिशयोक्ति अथवा दर्पोक्ति योग्यतावैशिष्ट्य से जब स्वभावोक्ति में परिणत हो जाती है तब उस वक्ता के व्यक्तित्व का सही बोध हो पाता है।

यह घटानां निर्मातुस्त्रिभुवनविधातुश्च कलहः--के समान नहीं है। प्रत्युत् उन विद्वज्जनों की कोटि का गर्व है जिन्होंने मात्र आत्मपरिचयपदी के रूप में यह सब लिखा है। संस्कृत साहित्य में ऐसी उक्तियों के द्वारा आत्मपरिचय देने वाले अनेक कवि-मनीषी हो गये हैं। शब्दकोष भण्डार धनंजय कवि का 'ब्रह्माणं समुपेत्य वेदनिनदव्याजात्तुषाराचल' पंडितराज जगन्नाथ का निर्माण यदि मार्मिकोसि नितरां' श्रीहर्ष का 'साहित्ये सुकुमारवस्तुनि दृढन्याय ग्रहग्रन्थिले' और वेदव्यास का, यदिहास्ति तदन्यत्र' ऐसी ही दर्पोक्ति परम्परा का निदर्शन है।

आचार्य सोमदेव मूलतः तार्किकशिरोमणि थे किन्तु कविता करना उन्हें बहुत प्रिय था। इसीलिए तो उन्होंने कहा कि हे कविते, तुम निद्रा को दूर करती हो, शास्त्र रसपान को रोक देती हो, सभी इन्द्रियों को असमर्थ कर देती हो इत्यादि। तथापि जिस पर तुम्हारी कृपा दृष्टि हो जाती है वह पुण्यशाली है।

कविता का उद्गम पुण्यशाली को प्राप्त होता है। जब हृदय में भाव तरंगित होते हैं तब वे एक विशिष्ट लय-तालबद्ध होने की चेष्टा करते हैं। यह तालबद्धता गीतात्मकता को जन्म देती है, जिसे छन्द कहते हैं। यह छन्द कविता का अभिव्यक्तिसेतु है। सोमदेव को इस कविता ने कृतार्थ कर दिया। गद्य और पद्य रचना में उनकी अबाध गति थी। चम्पू काव्य की रचना इसके बिना नहीं हो सकती। गद्य और पद्य में जो समान रूप से कुशल है वही चम्पू लिख सकता है और यह लिखना दिरुक्तिमात्र होगा कि यशस्तिलक चम्पू केवल जैनधर्म का अभिव्यंजित कोष ही नहीं है वह सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य का प्रतिनिधि चम्पू काव्य भी है।

आचार्य सोमदेव ने यशस्तिलक क्यों लिखा। यह प्रश्न सहज ही उठता है क्योंकि अन्य चम्पू काव्यों की परम्परा का शाब्दिक निर्वाह करते हुए भी यशस्तिलककी कथावस्तु नितान्त साहित्यिक नहीं है और उसमें पदे २ जैन धर्म का उद्घाटन किया प्रतीत होता है। अन्तिम तीन आश्वास तो शुद्ध उपासकाध्ययन ही हैं। शेष आरम्भिक भाग भी जैन धर्म की विशिष्टता की स्थापना करने में समाप्त हुए हैं। इतने उद्भट आचार्य के द्वारा काव्य लिखा जाना अवश्य कुछ विशेष प्रयोजन रखता है। वह प्रयोजन हमारी सम्मति में यह है कि उन्हें जैनतत्व को लोकहृद्यप्रणाली से परोसना पसन्द था। साहित्य के आचार्य मम्मटने कहा है कि काव्य कान्तासम्मित शब्द है। अर्थात् सदुपदेश देने की दो विधाएं हैं। एक है अनुशासनात्मक और दूसरी है प्रणयात्मक। आगम की भाषा अनुशासनात्मक होती है और काव्यों की भाषा प्रणयात्मक। शास्त्र सीधा आदेश करते हुए कहते हैं-हिंसा मत करो। सत्य बोलो नहीं तो निगोद में जाओगे। काव्य इसी को एक सुन्दर कथानक द्वारा कहने का प्रयत्न करते हैं। अंजन चोर की कथा काव्यात्मक है और उसका फलितार्थ शास्त्रीय है। लोग कभी कभी सत्य को भी कटु होने से पचाने की शक्ति नहीं रखते। इसीलिए रोगी को शर्करा में लिपटी हुई कुनैन देने का प्रयत्न किया जाता है। काव्य के शब्द पत्नीसम्मित होते हैं और स्त्री जिस प्रकार मधुर वचनों से पति को उन्मार्ग की ओर जाने से रोकती है उसी प्रकार काव्यात्मक शब्द भी हितमार्ग का मधुरवाणी में उपदेश करते हैं। सोमदेव ने भी काल प्रभाव को देखते हुए काव्य की भाषा का उपयोग किया और आगम के कथ्य को काव्यवाणी के माध्यम से भव्यों तक पहुँचाया। यह उनकी परिष्कृत रुचि का परिचायक है। एक अभयरुचि नामक मुनिकुमार ने राजा मारिदत्त को यह चम्पूकथा सुनायी है। वह राजा हिंसारत था और उनकी बलि देना चाहता था। किन्तु मुनिकुमारों को देखते ही उसकी जिज्ञासा उनके

एक प्रकार के पक्षी एक साथ उड़ते हैं और एक साथ बैठते हैं। इसी प्रकार मानसिक जगत् में भी प्रत्येक विचार अपने समान विचार से सम्बन्ध रखता है। कहने का सारांश यह है कि तुम दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार करो, जैसा तुम चाहते हो कि दूसरे तुम्हारे साथ करें।

—नरसिंगराव

जैन साहित्य में-शांत-रस

डा० नरेन्द्र भानावत, एम० ए० पी० एच० डी०

जैनधर्म और दर्शन का मूल स्वर आत्मा पर पड़े हुए विभिन्न कर्म पुद्‌गलों का आवरण हटाकर उसे अपने विशुद्ध सहज रूप में देखना है। यही मनोभूमि उसे साहित्य सृजन की ओर प्रेरित करती है। यही कारण है कि जैन साहित्य में जीवन के विविध पक्षों का निरूपण होते हुए भी उसकी अन्तिम परिणति शान्तरसात्मक ही है। विशुद्ध आनन्दानुभूति की अवस्था तभी प्राप्त हो सकती है जब आत्मा अपने प्रकृत स्वभाव में हो, राग द्वेष की स्थिति से विरत हो, दूसरे शब्दों में शांत हो, संकल्प विकल्प से ऊपर उठी हो। यही वह बिन्दु है जहां काव्यानन्द और ब्रह्मानंद दोनों मिलकर एक हो जाते हैं।

'रस' शब्द के विभिन्न प्रयोग—

लोक व्यवहार में रस शब्द चार रूपों में प्रचलित है। [१] पदार्थों का रस—जैन दर्शन में इसके पाँच प्रकार माने गये हैं-खट्टा, मीठा कड़वा, कषायला और तिक्त। [२] आयुर्वेद का रस–पारद का रस। [३] साहित्य का रस–काव्यानंद का रस। [४] मोक्ष का रस-आत्मा की विशुद्धावस्था में ब्रह्मानन्द का रस। जैन साहित्यकारों ने काव्य में शांत रस को प्रमुखता देकर साहित्य के रस को ब्रह्मानद के रस स्तर तक ऊपर उठा दिया है।

शांत रस की प्रमुखता—

संस्कृत आचार्यों ने शृंगार रस को रसराज माना है। भवभूति ने सभी रसों का अन्तर्भाव करुण रस में कर करुण रस का रसराजत्व सिद्ध किया है। जैन कवि प्रकृत राग द्वेषों का परिमार्जन कर, अव्यवस्था में व्यवस्था स्थापित कर, शरीर से आत्मा की ओर, रूप से भाव की ओर, राग से विराग की ओर बढ़ने में ही कवि कर्म की सार्थकता मानते थे। इसीलिए उन्होंने अन्य रसों की तुलना में शांत रस को प्रमुखता दी। रीति-कालीन विलासिता के युग में ये भी कवि बहिर्मुखी वृत्तियों के संकोच और अन्तर्मुखी वृत्तियों के विस्तार द्वारा आत्मा के अनन्त प्रकाश को विकीर्ण कर शांत रस में डुबकियां लगाते रहे। महाकवि बनारसीदास[1] ने शृंगारी कवियों की भर्त्सना करते हुए कहा है।

ऐसे मूढ़ कु-कवि कुधी, गहें मृषा पथ दौर।
रहें मगन अभिमान में, कहें और की और॥
वस्तु सरूप लखें नहीं, बाहिज दृष्टि प्रमान।
मृषा विलास विलोक के, करें मृषा गुणगान॥

कवि ने शृंगारी कवियों के इस 'मृषा गुणगान' का विश्लेषण इस प्रकार किया है—

---

१. बनारसीदास स्वयं प्रारंभ में शृंगारी कवि थे, पर बाद में शृंगार रस की सार्थकता न समझकर अपनी 'नवरस' शृंगार प्रधान रचना को गोमती के हवाले कर दिया।

मांस की ग्रन्थि कुच कंचन कलस कहैं,
कहैं मुखचन्द जो सलेषमा को घरू है।
हाड़ के दसन आहि हीरा मोती कहे ताहि,
मांस के अधर होठ करे बिम्बफरू है॥
हाड़ दंभ भुजा कहें कौल नाल काम जुधा,
हाड ही के थंभा जघां कहें रंभा तरू है।
यों ही झूटि जुगति बनावे औ कहावें कवि,
ऐते पै कहैं हमें शारदा को वरू है॥

भूधरदास ने स्तनों को दी जाने वाली परम्परागत स्वर्ण कलशों की उपमा को झुठलाते हुए कहा है.......

कंचन कुंभन की उपमा,
कहि देत उरोजन को कवि वारे।
ऊपर श्याम विलोकत के,
मनि नीलम ढंकनी ढंक ढ़ारे॥
यों सत बैन कहे न कु-पण्डित,
ये जुग आमिप पिण्ड उघारे।
साधन भार दई मुख छार,
भये इहीं हेत किधौं कुच कारे॥

रस सम्बन्धी नवीन दृष्टिकोण

रसके सम्बन्ध में इन कवियों की मान्यता रही है कि आत्मोन्मुख पुरुषार्थ का नाम ही रस है। जब तक आत्मानुभूति नहीं होती तब तक रसमयता आ नहीं सकती। विभाव, अनुभाव, संचारी भाव, जीव के मानसिक वाचिक और कायिक विचार हैं स्वभाव नहीं हैं। रस का वास्तविक उद्भव इन विकारों के दूर होने पर ही हो सकता है। जब तक ये विकार – क्रोध, मान, माया, मोह, लोभ आदि कषायों के रूप में बने रहते हैं तब तक शुभाशुभ प्रवृत्ति में आत्मा रमण करती रहती है। वह आवरण रहित होकर अपने मूल प्रकृत स्वभाव में अवस्थित नहीं होती। शुभाशुभ परिणतियों के विनष्ट होने पर ही आत्मरस छलकने लगता है।

इसलिए लौकिक समस्त रस यहां विरस है। बनारसीदास ने रस की लोकोत्तरता को इस प्रकार व्यक्त किया है—

जब सुबोध घट में परगासै।
नवरस विरस विषमता नासै॥
नवरस लखै एक रस माहीं।
तातैं विरस भाव मिटि जाहीं॥

अर्थात् जब हृदय में विवेक यथार्थ-ज्ञान का प्रकाश होता है तब विरसता और विषमता विनष्ट हो जाती हैं और निरन्तर आत्मानुभूति होने लगती है। इस अवस्था में इन्द्रिय-लिप्सा और शारीरिक भूख दूर हो जाती है। देह धर्मिता छूट जाती है। रस की यह दशा आनन्द की दशा है, चिदानन्द स्वरूप है। उपनिषदों में इसे 'रस सारः चिदानंद प्रकाशः' कह कर विश्लेपित किया गया है। "जिस प्रकार योगी उस चिदानंद प्रकाश का अपनी आत्मा में सहज साक्षात्कार करके, पूर्णतः तन्मय होकर ब्रह्मानंद का अनुभव करता है, उसी प्रकार सहृदय भी अपने मानस में नाटक या काव्य के सौन्दर्य का सहज साक्षात्कार करके काव्यानंद अनुभव करता है।"

इतना होने पर भी लौकिक रूप में रस का प्रयोग जैन साहित्य में अनेक स्थलों पर हुआ है। 'अभिधान राजेन्द्र कोश' में रस शब्द की विवेचना करते हुए कहा गया है...."रस्यन्ते अन्तरात्मनाऽनुभूयन्ते इति रसास्तत्सहकारिकारण सन्निधानेपु चेतो विकार विशेषेषु रसा. शृंगारादयः।"

अर्थात् अन्तर आत्मा की अनुभूति को रस कहते हैं तथा इसमें सहकारी कारण मिल जाने पर मन में जो विकार उत्पन्न होता है, वह शृंगारादि रूप रस कहलाता है। इसी को स्पष्ट करते हुए कहा गया है—

वाह्यार्थालम्वनो वस्तुविकारो मानसो भवेत् ।
स भावः कथ्यते सद्भिः तस्योत्कर्षो रस स्मृतः ।।

अर्थात् वाह्य वस्तु के आलम्बन से जो मानसिक विकार उत्पन्न होता है वह भाव कहलाता है और इसी भाव के उत्कर्ष को रस कहा जाता है। जिनसेन ने 'अलंकार चिन्तामणि' में रस का स्पष्टीकरण यों किया है—

क्षयोपशमने ज्ञानाऽऽवृत्ति वीर्यान्तराययोः ।
इन्द्रियानिन्द्रियर्जवित्विन्द्रिय ज्ञानमुद्भवेत् ।।
तेन संवेद्यमानो यो मोहनीय समुद्भवः ।
रसाभिव्यञ्जकः स्थायिभावश्चिद्वृत्ति पर्ययः ।।

अर्थात् ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय के क्षयोपशम होने पर इंद्रिय और मन के द्वारा जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह इन्द्रिय ज्ञान है। इस इन्द्रिय ज्ञान के संवेदन के साथ मोहनीय कर्म का उदय होने पर विकृत चैतन्य पर्याय जो कि स्थायी भाव रूप है, रस की अभिव्यक्ति कराती है। यह रस दशा लौकिक-स्तर की रस दशा है। इसे स्वीकार करते हुए भी इन कवियों की दृष्टि लोकोत्तर रस-दशा पर ही विशेष स्थित रही है।

वनारसीदास ने स्थायी भावों की नवीनतम वैज्ञानिक प्ररूपणा की। परम्परागत स्थायी भावों की स्थिति उन्हें पूर्ण नहीं लगी। उन्होंने शृंगार, हास्य, भयानक, करुण और वीर रस के स्थायी भावों को अधिक व्यापकता एवं व्यावहारिकता दी। उनके अनुसार—

शोभा में शृंगार बसे, वीर पुरुषारथ में,
कोमल हिये में करुणा वखानिये।
आनन्द में हास्य रुण्ड-मुण्ड में विराजे रुद्र,
वीभत्स वहां जहां ग्लानि मन आनिये ।।
चिन्ता में भयानक, अथाहता में अद्भुत,
माया की अरुचिता में शान्तरस मानिये।
ये ई नवरस भवरूप ये ई भावरूप,
इनको विलक्षण सुदृष्टि जगे जानिये ।।

अर्थात् शृंगार रस का स्थायीभाव शोभा, हास्यरस का आनन्द, करुण रस का कोमलता, रौद्र रस का क्रोध, वीररस का पुरुषार्थ, भयानक रस का चिन्ता, वीभत्स रस का ग्लानि, अद्भुत रस का आश्चर्य और शान्त रस का वैराग्य है।

परम्परागत शृंगार रस के स्थायी भाव रति का स्थानापन्न शोभा भाव अधिक तर्क संगत है। शोभा में जो व्यापकता और विशालता है वह रति में नहीं। एक स्त्री रति भाव विषयक चित्र को देखने से मुनि, कामुक और चित्रकार के हृदय में एक ही प्रकार की भावना जागृत नहीं होती, जब कि शोभा भाव का सम्वन्ध मानसिक वृत्ति से होने के कारण उसमें चित्तवृत्ति की तल्लीनता सार्वजनीन रूप से देखी जा सकती है। मन, वचन, और काय की एक निष्ठता जब किसी सौन्दर्य विशेष में होती है तभी शृंगार की सही अनुभूति होती है। रति के नाम पर जो उद्दाम वासना की धारा वही, उसका परिहार भी शोभा को शृंगार का स्थायी भाव मान लेने से हो जाता है। क्योंकि यहां कवि का लक्ष्य विभिन्न गुणों से आत्मा का शृंगार करना, उसकी शोभा को वढ़ाना रहता है। प्रकारान्तर से इस भाव में उन गुणों की ओर दृष्टि जाती है जिनसे मानवता का विकास होता है।

हास्य रस का स्थायी भाव आनन्द, हास की अपेक्षा अधिक मनोवैज्ञानिक है। हंसी का आना कई कारणों से हो सकता है। हम किसी की विवशता पर, मूर्खता पर और दयनीय स्थिति पर भी हंस सकते हैं। उसमें एक कटुता या वेदना का अंश निहित रह सकता है। यह हंसी मुक्त दशा की उन्मुक्त हंसी नहीं हो सकती। आनन्द की अवस्था में जो हंसी फूटती है वह निस्संग और निरपेक्ष होती है। उसमें किसी की विवशता या दुर्बलता

का लाभ नहीं उठाया जाता। उसका सम्बन्ध आनन्द से होता है, केवल हास से नहीं। जब तक यह आनन्दानुभूति नहीं होती तब तक हंसी फूट नहीं सकती। आन्तरिक आनन्दानुभूति ही हंसी का कारण होती है।

करुण रस का स्थायी भाव कोमलता परम्परागत शोक भाव की अपेक्षा अधिक युक्ति संगत है। शोक के मूल में चिन्ता की भावना होती है और चिन्ता से भय पैदा होता है। अतएव एकमात्र शोक की अनुभूति से करुण रस का परिपाक नहीं होता। करुणा का सामान्य अर्थ है दया और दया उसी व्यक्ति के हृदय में उत्पन्न हो सकती है जिसके अंतस्थल में कोमलता हो। अतएव कोमलता को करुण रस का स्थायी भाव मानना अधिक वैज्ञानिक है। आधुनिक मनोविज्ञानवेत्ताओं के अनुसार शोक-भाव में अन्तर्द्वन्द्वजन्य चिन्ता का मिश्रण रहता है जिससे वृत्ति में करुणरस की उत्पत्ति के लिए अपेक्षित उदारता व कोमलता का गुण आ नहीं सकता।

वीर रस का स्थायी भाव पुरुषार्थ, परम्परा से माने जाने वाले उत्साह स्थायी भाव की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक है। उत्साह में किसी कारण से मन्दता आ सकती है पर पुरुषार्थ में हमेशा आगे बढ़ने की व कुछ कर गुजरने की भावना बनी रहती है। पुरुषार्थ-वृत्ति अपने आप में स्वतंत्र-वृत्ति है। वह किसी पर अवलम्बित नहीं है उसमें कार्य साधन की तीव्र लगन और अगाध निष्ठा होती है।

भयानक रस का स्थायी भाव चिन्ता मानना भी भय की अपेक्षा अधिक युक्ति संगत लगता है। क्योंकि किसी भयानक दृश्य को देख कर या सुनकर भयभीत होने की भावना का जागृत होना आवश्यक नहीं। जब तक चिंता उत्पन्न नहीं होती, तब तक भय भी उत्पन्न नहीं हो सकता। चिन्ता शब्द भय की अपेक्षा अधिक व्यापक भी है।

इस प्रकार बनारसीदास ने प्रचलित स्थायी भावों के सम्बन्ध के अपना मौलिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया जो अधिक मनोवैज्ञानिक एवं स्वाभाविक प्रतीत होता है।

शान्त रस का रस राजत्व:

जैन साहित्यकारों ने शान्त रस को ही रस राज माना है। इस रस का स्थायीभाव है वैराग्य या शम। तत्त्व-चिन्तन, तप, ध्यान, स्वाध्याय, समाधि आदि विभाव हैं। काम, क्रोध, मान, माया लोभ, मोह का अभाव अनुभाव है, धृति, मति आदि संचारी भाव हैं। सच तो यह है कि जहां देह-धर्मिता छूट जाती है, समरसता की स्थिति आ जाती है वहीं शान्त रस का परिपाक होता है। शान्त रस का रस राजत्व इसलिए सिद्ध है कि सभी रसों का उद्‌गम भी इसी से होता है और सब का समावेश या विलय भी इसी में होता है। मानव-जीवन की समस्त प्रवृत्तियों का उद्‌गम शांति से ही होता है। शांति का अनंत भंडार आत्मा है, जब यह देह आदि पर पदार्थों से अपने को भिन्न अनुभव करने लगती है, तभी शान्त रस की उत्पत्ति होती है। यह अहंकार, राग-द्वेष आदि से परे विशुद्ध ज्ञान और आनन्द की दशा है। रति, उत्साह आदि अन्य मनोदशाओं का आविर्भाव इसी में होता है।

जैन आचार्यों ने वैराग्य-भावना की उत्पत्ति के दो साधन बताये हैं—तत्त्व ज्ञान और इष्ट-वियोग तथा अनिष्ट-संयोग। इनमें पहला स्थायी भाव है और दूसरा संचारी। यह मान्यता आधुनिक मनोविज्ञान के अनुकूल भी है। राग की क्लांत अवस्था ही वैराग्य है। महाकवि देव ने भी वैराग्य को राग की अतिशय प्रतिक्रिया माना है। इनके मतानुसार तीव्र राग ही क्लान्त होकर वैराग्य में परिणत हो जाता है। जैन कथा-काव्यों में जितने भी नायक हैं वे सामान्यत: भोग भोगकर ही योग-मार्ग की ओर अग्रसर होते हैं। जम्बू-स्वामी, स्थूलिभद्र आदि के कथानक इस प्रसंग में द्रष्टव्य हैं। राग की अतिशयता के ही कारण निर्वेद भावों की उत्पत्ति मानने से जैन साहित्य की शांत रसात्मक कृतियों में भी

शृंगार रस का जमकर वर्णन मिलता है। 'नवरसो' नाम से यहां ऐसे काव्य रूपों की परम्परा भी चली है। जिसमें एक ही नायक के व्यक्तित्व में 'नवरसों' का समाहार किया गया है।

श्री भगवानदास ने 'रस मीमांसा' में शान्त रस का रसराजत्व सिद्ध करते हुए लिखा है "इस महारस में अन्य सब रस देख पड़ते हैं, यह सबका समुच्चय श्रेष्ठ और प्रेष्ठ अन्तरात्मा परमात्मा का (अपने पर) परम प्रेय, महाकाम, महाशृंगार (अकाम; सर्वकामोवा...) संसार की विडम्बनाओं का उपहास, संसार के महातमस् अंधकार में भटकते हुए दीन जनों के लिए करुणा (संसारिणां करुणयाह पुराणानुह्यम्) षड्रिपुओं पर क्रोध (क्रोधे क्रोधः कथन्नते) इनको परास्त करने, इन्द्रियों की वासनाओं को जीतने, ज्ञान-दान से दीन जनों की सहायता करने के लिए उत्साह युयोध्यस्मजूहराणमेन) अन्तरारि षड्रिपु कहीं असावधान पाकर विवश न कर दें इसका भय (नरः प्रमादी स कथं न हन्यते यः सेवते पंचभिरेव पंच), इन्द्रियों के विषयों पर और हाड़-मांस के शरीर पर जुगुप्सा (मुखं लालाक्लिन्नं पिवति चषकं सासवमिव.......अहो मोहान्धानां किमिव रमणीयं न भवति) और क्रीड़ात्मक लीला स्वरूप अगाध, अनन्त जगत् का निर्माण विधान कराने वाली परमात्मा की (अपनी ही) शक्ति पर महाविस्मय (त्वेमेवैकोऽस्य सर्वस्य विधानस्य स्वयंभुव....)—सभी तो इस रस के अंतर्भूत हैं।"

कहाकवि बनारसीदास ने शांत रस का रसराजत्व सिद्ध करते हुए आत्मा में ही नवों रसों की स्थिति मानी है। श्री भगवानदास ने जिस प्रकार ऊपर शांत रस को संस्कृत साहित्य के उद्धरणों के साथ, रसराज सिद्ध किया है, उसी प्रकार जैन कवि ने आत्मानुभूति एवं तत्वज्ञान के द्वारा आत्मस्वरूप शांतरस में सभी रसों का अंतर्भाव किया है—

गुन विचार सिंगार, वीर उद्यम उदार रुख।
करुना समरस रीति, हास हिरदै उछाह सुख।
अष्ट करम दल मलन, रुद्र बरतै तिहि थानक।
तन विलेच्छ बीभच्छ, दुन्द मुख दसा भयानक।
अद्भुत अनंत बल चिंतवन, सांत सहज वैराग ध्रुव।
नव रस विलास परगास तब, सुबोध घट प्रगट हुव॥

अर्थात् आत्मा को ज्ञान-गुण से विभूषित करने का विचार शृंगार, कर्मनिर्जरा का उद्यम वीर रस, सब जीवों को अपने समान समझना करुण रस, हृदय में उत्साह और सुख का अनुभव करना हास्यरस; अष्ट कर्मों को नष्ट करना रौद्र रस, शरीर की अशुचिता का विचार करना वीभत्स रस, जन्म मरणादि का दुख-चिन्तन करना भयानक रस, आत्मा की अनन्त शक्ति को प्राप्त कर विस्मय करना अद्भुत रस और दृढ़ वैराग्य धारण करना तथा आत्मानुभाव में लीन होना शान्त रस है!

शांत रस के परिपाक में बनारसीदास ने चार अवस्थाओं का वर्णन किया है। प्रथम अवस्था में विभाव से हटकर स्वभाव रूप प्रवृत्ति होने लगती है। ऐंद्रियिक सुख क्षणिक प्रतीत होता है। यह आत्म दर्शन एवं आत्मशोधन की अवस्था है। द्वितीय अवस्था में आत्मोत्थान में बाधक प्रवृत्तियों को दूर करने का पुरुषार्थ जागृत होता है। साधक प्रमाद को दूर हटाकर आत्म-चिन्तन द्वारा आत्मानुभव प्राप्त करने लगता है। इस अवस्था में नवों रसों की अनुभूति होती है। तृतीय अवस्था में कषायादि वासनाओं का पूर्ण अभाव हो जाता है। समस्त बाधाएं दूर हट जाती हैं। आत्मा निर्मल एवं निर्विकार हो उठती है। चौथी अवस्था केवल ज्ञान प्राप्ति की अवस्था है। जहां आत्मा स्वयं परमात्मा बन जाती है। यहां पूर्ण शांत रस छलकने लगता है। इसे ही संतों ने परम पद की प्राप्ति और ब्रह्म-मिलन की संज्ञा दी है।

जैन आचार्यों ने स्थायी भावों की अवस्थिति मूलतः रागद्वेष मनोविकारों में मानी है। मानव

का अहंकार इनही दोनों रूपों में अभिव्यंजित होता है। रति, हास, उत्साह और विस्मय साधारणतः अहं भाव के उपकारक होने के कारण राग में अन्तर्भूत होते हैं और शोक, क्रोध, भय और जुगुप्सा द्वेष में जब राग और द्वेष में जब राग और द्वेष दोनों का परिमार्जन हो जाता है, तब वैराग्य की उत्पत्ति होती है। यह अहंभाव की समरसता की अवस्था है। है। आत्मा इसमें स्वोन्मुखी होकर रमण करती है, यहीं शांत रस छलकता है।

शान्त रस की अभिव्यक्ति :—

शांतरस की अभिव्यक्ति के लिए जैन कवियों ने एक ओर कथाकाव्यों के रूप में प्रबन्ध काव्यों का प्रणयन किया तो दूसरी ओर स्वतंत्र रूप से कई रूपकात्मक काव्य लिखे। कभी लौकिक पर्व और त्यौहारों को आध्यात्मिक रूप दिया, कभी बारह-मासा और पखवाड़ा वर्णन में विभिन्न महिनों और तिथियों के द्वारा चेतन आत्मा को साधना में प्रवृत्त होने की प्रेरणा दी, कभी 'कका बावनी' आदि लिख कर प्रत्येक वर्ण को आध्यात्मिक जागरण का उत्प्रेरक बताया। बुरी समझी जाने वाली कषायादि प्रवृत्तियों का उदात्तीकरण कर और प्रकृति के शृंगारिक उपादानों को सात्विक भावों के प्रतीक बनाकर भी इन कवियों ने शान्त रस की सृष्टि की।

जैन साहित्य में शांतरस की प्रमुखता देखकर कुछ लोग इसे वर्तमान जीवन के लिए उपयोगी नहीं मानते और सामाजिक हित में उसे बाधक समझते हैं। ऐसे लोगों द्वारा आक्षेप लगाये जाते हैं कि शांतरसात्मक यह साहित्य जीवन से पलायन करने की प्रेरणा देता है। इसे पढ़कर संसार से भागने की इच्छा होती है। वह हमें सामाजिक दायित्व से वंचित रखता है और वर्तमान जीवन की उपेक्षा करता है। सामान्य पाठक के मन में भले ही कभी ऐसे विचार उठें परन्तु प्रबुद्ध पाठक तो इस साहित्य की मानवीय संवेदना और विश्व बन्धुत्व की भावना से ही उत्प्रेरित होगा। यहां के नायक स्वार्थ सिद्धि के लिए नहीं वरन् मानवता को उबारने के लिए सन्यस्त होते हैं। पुनर्जन्म और कर्म सिद्धांत के विवेचन में जो कहानियां आई हैं उनमें वर्तमान जीव की यात्राओं का ही वर्णन नहीं है वरन् आत्मा की पूरी जीवन कथा वर्णित है। आत्मा को शरीर से विलग किन किन योनियों में किस किस प्रकार जीवन-यापन करना पड़ा, इसका भी विवरण यहां मिलता है। इन कहानियों की दृष्टि वर्तमान जीवन को अपेक्षित करने की नहीं है वरन् इसी जीवन द्वारा अपने लक्ष्य को प्राप्त करने की भावना है। इसी कारण आत्मालोचन या आत्म-निरीक्षण के रूप में भूतकालीन घटनाओं को प्रस्तुत किया जाता है। यहां भूतकाल को वर्तमान जीवन के दुख-सुख की व्याख्या करने और कारण निर्देश के लिए ही लाया जाता है।

कुछ लोग यह भी कहते हैं कि शांत रस की प्रमुखता जीवन को निराशा की ओर ले जाती है और व्यक्ति को अकर्मण्य बनाती है। पर यह कथन भी भ्रांति मूलक है। आत्मा को सर्वोत्तम विकास करने की जितनी सुविधा और अवसर जैन दर्शन ने प्रदान किये हैं, उन्हें देखते हुए यह कैसे कहा जा सकता है कि वहां नैराश्यमय जीवन को प्रश्रयित किया गया है। सच तो यह है कि जीवन को आशा उत्साह और पुरुषार्थ का आलोक बिखेरा है। जैन साहित्य की लोक संग्रह प्रवृत्ति ने करुणा, सहानुभूति, अहिंसा, विश्व-बन्धुत्व आदि भावनाओं का विस्तार कर जैन साहित्यकारों ने न केवल व्यक्ति को कर्मण्य बनाया है वरन् दूसरों के लिए जीने की सार्थकता भी प्रतिपादित की है। आत्मा को ईश्वरत्व की स्थिति तक पहुंचाने की क्रमबद्ध साधनामय जीवन-पद्धति को महत्व देकर जैन साहित्यकारों ने अपने नायकों को अपनी सम्पूर्ण

चेतना के साथ अपने समस्त बाहरी-भीतरी शत्रुओं से मुकाबला करने को सदैव जागरूक रखा है। उन्हें किसी की अपेक्षा नहीं है, वे स्वाश्रयी व स्वावलम्बी हैं व्यक्तित्व के विकास और महत्व की औदार्यपूर्ण गरिमा जैन साहित्यकारों ने प्रस्तुत की है।

जो नारी साधना के क्षेत्र में बाधक समझी जाती रही, उसे परमपद का अधिकारी बनाया। उसके शक्ति रूप और सतीत्व की विवेचना कर नारी को त्याग, श्रद्धा और सेवा की सजीव प्रतिमा के रूप में देखा। आधुनिक युग में 'प्रिय प्रवास', 'कामायनी' जैसे महाकाव्यों का अंत शांतरसात्मक बन पड़ा है। पर वे जीवन को अकर्मण्य, निराश या हेय नहीं घोषित करते। इनके मूल में लोक-कल्याण व स्वार्थ-त्याग की भावना ही रही है। राधा, उर्मिला आदि परम्परागत नारी पात्रों के चरित्र में जिस दृष्टि-बिन्दु से नया परिवर्तन आया है, जैन साहित्य का एप्रोच उससे भिन्न नहीं है।

———

लोकानुवृत्तये यस्य, कार्याणीह भवन्ति तुः।
स हि लोकेषणा क्रान्तो, न श्रद्धेयः कदाचन॥

अर्थ—जो मनुष्य केवल दूसरों को प्रसन्न करने के लिए ही कार्य करता है वह लोकेषणा के वशीभूत होने के कारण किसी भी प्रकार से विश्वास करने योग्य नहीं है।

—चैनसुखदास

वयमिह परितुष्टा वल्कलैस्त्वं दुकूलैः,
सममिह परितोषो निर्विशेषो विशेषः ।
सतु भवति दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला,
मनसि हि परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्रः ॥

भावार्थ—एक मनुष्य केवल फटे पुराने चीथड़ों में ही सन्तुष्ट रहता है और दूसरा मनुष्य रेशम के वस्त्र धारण करके भी दुःखी असंतुष्ट रहता है। ऐसी ही बात अन्य पदार्थों के सम्बन्ध में भी है। कोई मनुष्य भूखा प्यासा भी अपने को सुखी अनुभव करता है और कोई अपार सम्पत्ति होने पर भी अपने को दुःखी। वास्तव में दरिद्री वह नहीं है जिसके पास पैसा नहीं है, अपितु, दरिद्री वह है जिसकी तृष्णा बढ़ी हुई है। जो मनुष्य संतोषी है उसके लिये धन के आने और नष्ट होने में कोई भेद नहीं है अर्थात् वह दोनों ही अवस्था में संतुष्ट एवं सुखी रहता है।

————

साहित्य
व्युत्पत्ति और परिभाषा

रवीन्द्र कुमार जैन, एम०ए०, पी-एच०डी०

ज्ञान, भावना और क्रिया ये तीन मनोवृत्तियां मानव व्यक्तित्व को केन्द्रित किये हुए हैं। संसार की किसी वस्तु का सर्वप्रथम हमें इन्द्रिय माध्यम से बोध होता है, तत्पश्चात् उसके प्रति हमारी तीव्र या शिथिल भावना उत्पन्न होती है और तदनुरूप हम क्रियारत देखे जाते हैं। यहां हम सुविधा के लिए ज्ञान को अनुभूति, भावना को संवेग (Emotion) और क्रिया को अभिव्यक्ति के रूप में समझ सकते हैं। प्रायः हमारे जीवन में सैकड़ों सामान्य घटनाएं घटित होती रहती हैं, वे हमें आन्दोलित कदापि नहीं करतीं। दिन रात का क्रम तो अनवरत चलता है; सूर्य और चन्द्र भी अपना आतप और प्रकाश विकीर्ण करते ही रहते हैं। पर, शरच्चन्द्र, उदीयमान एवं अस्तोन्मुख रवि, भारी आंधी पानी का दिन, वसन्त की मादकता ये सब हममें एक आन्दोलन उत्पन्न करते हैं; एक स्फूर्ति से हमें भर देते हैं। स्पष्ट है हमारी बुद्धि, हमारा हृदय सामान्य, संकीर्ण, नीरस, उथले से स्फूर्ति ग्रहण नहीं करता, इन सबका उसके व्यक्तित्व में कोई संग्रह (Record) नहीं होता। क्यों? मानव व्यक्तित्व का विकास, उसकी आन्तरिक ऊर्जा का आस्फालन केवल संघर्ष में ही होता है। जो बात उसके व्यक्तित्व से टकराती है, उस पर हावी होना चाहती है, उसे झकझोरती है, उससे टकराते ही यदि उसमें कुछ ऊष्मा है, चिनगारी है तो वह प्रकट होगी और वह व्यक्ति गतिशील होगा। यदि व्यक्तित्व सामान्य है तो दब जाएगा, आघातों की छाया में ही जीवन को छोड़ देगा। ऐसा मुमूर्ष, एवं अधोगामी व्यक्तित्व भी सर्वथा अभिव्यक्तिहीन नहीं होता, परन्तु उसकी चेतना रमित होती है अतः वह अन्दर ही अन्दर घुटता है। तो यह अनुभूति और अभिव्यक्ति का क्रम मानव ने चिरकाल से अनेक कलापूर्ण माध्यमों द्वारा प्रस्तुत किया है। वास्तु, मूर्ति, चित्र, संगीत आदि ललित कलाओं में यह क्रम देखा जा सकता है। आंगिक इंगितों से भी यह कार्य सम्पन्न होता है। इन सभी माध्यमों से प्रबल और अधिक स्थायी माध्यम साहित्य है। ज्ञान, आवेग और संवेगक्रिया की जितनी सुन्दर, पूर्ण, प्रभावक एवं स्थायी अभिव्यक्ति साहित्य में हो सकती है उतनी किसी अन्य कला माध्यम द्वारा नहीं। जहां साहित्य में इतनी प्रभावकता और शक्ति है, वहां इसमें निपुणता प्राप्त करना भी सरल नहीं। साहित्य शब्द पर विचार करने से ही यह स्पष्ट हो जाएगा।

व्युत्पत्ति—साहित्य शब्द सहित से बना है। साहित्य में सामूहिकता का भाव है। सहित से ष्यञ् प्रत्यय और तत्पश्चात् वृद्धि करने पर यह शब्द निष्पन्न होता है। संस्कृत व्याकरण के आधार पर सहित शब्द की व्युत्पत्ति अनेक प्रकार से सम्भव है।

१—सह + हित; "तेन सहेति तुल्ययोगे" इस सूत्र से 'ह' का लोप हो जाता है और सहित शब्द बनता है इस निष्पत्ति से साथ साथ योग देने की भावना का द्योतन होता है।

२—सम् + हित ऐसी खण्ड व्यवस्था करने पर 'वोपसर्जनस्य' इस सूत्र से मकार का लोप है—

सहित बनता है। इस व्युत्पत्ति से सम्यक् हित का स्वर व्यंजित होता है।

हित शब्द की व्युत्पत्ति भी दो प्रकार से की जा सकती है:—

१—धा + क्त "दधातेर्हिः" इस सूत्र से धा धातु हि में परिवर्तित हो जाती है और क्त में से त शेप रहता है।

२—हि से ही प्रारम्भ करने पर हि + क्त से उक्त व्युत्पत्ति संभव है।

उल्लिखित व्युत्पत्तियों की छाया में साहित्य शब्द के अर्थ पर भी सुविधापूर्वक विचार किया जा सकता है। साथ-साथ, हित-साहित्य, सबको हित, समुचित-सम्यक् हित, धारण या पोषण करना, निक्षिप्त करना या जड़ना ये सभी अर्थ साहित्य शब्द में निहित हैं। क्रमशः इन सभी पर विचार करके हम एक व्यापक, पूर्ण एवं सुलझे हुए निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं।

साथ—साथ = साहित्य शब्द का अर्थ है सहितत्व अर्थात् सहित होने का भाव। 'सहितस्य भावः साहित्यं' इनमे भी सहभाव और साथ साथ होने या रहने की सूचना मिलती है। अब प्रश्न उठता है किसका किससे सहभाव और किसका किसमें सहितत्व ? उत्तर मिलता है शब्द और अर्थ का सहभाव, अभिव्यक्ति और अनुभूति की एक-रूपता। इस शब्दार्थ की सम्पृक्तता को कालिदास के प्रसिद्ध महाकाव्य रघुवंश के मंगलाचरण द्वारा भलीभांति समझा जा सकता है। शिव-पार्वती के अर्धनारीश्वर रूप का स्तवन कवि ने किया है—

वागर्थाविव संपृक्तौ, वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे, पार्वतीपरमेश्वरौ॥

शब्द और अर्थ की संपृक्तता को महाकवि ने अपने आराध्य शिव-पार्वती के संयोग का उपमान स्वीकार किया है। शिव और पार्वती की महत्ता पहले से ही असंदिग्ध है पर उनके संयुक्त हो जाने पर तो और भी अधिक परात्परता उसमें आ जाती है। इसी प्रकार कविवर तुलसीदास ने भी शब्द और अर्थ को जल और उसकी लहर की भांति अभिन्न माना है—

गिरा अर्थ जल बीचिसम, कहियत भिन्न न भिन्न।
वन्दौं सीताराम पद, जिन्हें सदाप्रिय खिन्न॥

इस प्रकार साहित्य में साथ-साथ या सहभाव से उसका लोकपक्ष अथवा उसकी सामाजिकता की अकाट्य सूचना मिलती है।

हित-सहित—'हितेन सहितं साहित्यं' यदि इस प्रकार विग्रह किया जाय तो अर्थ होगा कि साहित्य वह है जिससे हित हो। हित किसका—मानवमात्र का। अर्थात् वह रचना जिससे मानव में सद्वृत्तियों का उदय हो। मानव-हृदय में व्यापक संवेगों का उदय ही सबसे बड़ा हित है। हित के सम्बन्ध में भी महाकवि तुलसीदास की यह पंक्ति स्मरणीय है—

कीरति भनिति भूति भल सोई,
सुरसरि सम सब कहं हित कोई।

सब का हित–सम्यक् हित–स + हित में 'स' को समस्त या सम्यक् अर्थ का बोधक मान लेने पर अर्थ होगा-वह रचना जिससे सबका और उचित हित सम्पादित हो। यह अर्थ भी शत्रु मित्र, खल-सज्जन सभी के समान हित का व्यापक दृष्टिकोण लेकर चलता है—

धारण या पोषण करना—हित की व्युत्पत्ति यदि धा (पोषणे) धातु से की जाय तो साहित्य शब्द का अर्थ होगा ऐसी रचना जो शब्द और अर्थ को भली-भांति धारण कर उचित रूप से उनका पोषण भी करती है। साथ ही अधिक सार्थक अर्थ

है—वह रचना जो जन मानस के असाधारण-अनुभवों को धारण कर उन्हें परिपुष्टि करती है।

निक्षिप्त करना या जड़ना—यह अर्थ यद्यपि पूर्ववर्ती अर्थ से ही मेल खाता है परन्तु इसमें एक निजी विशेषता यह है कि इसमें बल और प्रेरणा प्रधान है। अर्थात् कवि का मन्तव्य वाणी के माध्यम से सहृदय सामाजिकों के मन में पूर्णतया जम जाता है, धस जाता है, घर कर लेता है। यहां हित का अर्थ होगा विदधाति इति हितम् अर्थात् जो कुछ करदे वह हित है।

अंग्रेजी में लिटरेचर और उर्दू में अदब शब्दों का साहित्य के लिए प्रयोग होता है। अंग्रेजी का Literature तो Letters से बना है। अतः समस्त अक्षरज्ञान का विस्तार ही साहित्य है। शुद्ध साहित्य को दृष्टि में रखकर इसका अर्थ होगा वाणी का पूर्ण भाव प्रधान एवं शक्तिसम्पन्न विस्तार ही साहित्य है। उर्दू में कोमलता, कला, शिष्टता और अदा को अधिक महत्त्व मिला है अतः वहां साहित्य को 'अदब' कहा गया है। इस प्रकार साहित्य शब्द की व्युत्पत्ति से प्राप्त इन अर्थों के आधार पर हम कुछ निष्कर्षों पर पहुँचते हैं। यथा—समस्त ज्ञानसामग्री साहित्य है। सम्पूर्ण वाङ्मय के ललित और सामान्य साहित्य के रूप में दो भेद किये जा सकते हैं। संवेगों का ही जिसमें प्राधान्य हो वह ललित साहित्य है। अंग्रेजी में भी ज्ञान-साहित्य (Literature of knowledge) और शक्ति-साहित्य (Literature of Power) के रूप में साहित्य के दो भेद किये गये हैं।

साहित्य शब्द को इतना समझ लेने पर भी एक अस्पष्टता रह जाती है। वह यह कि ज्ञान की सभी सामग्री शब्द और अर्थ की पूर्ण संगति में रची जाती है और पाठकों का पूर्ण रूपेण हित साधन करती है फिर ललित और विशिष्ट साहित्य में अतिरिक्त क्या है? शब्द और अर्थ सम्पृक्त होकर भी किस विशिष्ट शक्ति से अभिमंडित होकर साहित्य संज्ञा प्राप्त करते हैं? इस विषय में इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि अन्य ज्ञानात्मक विषय बुद्धि को प्रभावित करते हैं और साहित्य (प्रमुखतया कविता, संवेगों को प्रभावित-प्रेरित करने की वह शक्ति है जो साहित्य को स्थायी रुचि का विषय बनाती है और किसी कृति को साहित्यिकता प्रदान करती है। यही संवेगों का तीव्र प्रकाशन किसी कृति को अधिकाधिक मात्रा में लेखक के व्यक्तित्व से युक्त करता है और हम सहज ही कहने लगते हैं कि साहित्य लेखक के व्यक्तित्व का प्रकाशन है। साहित्य केवल (अन्य ज्ञानात्मक विषयों की भांति) तथ्यों का उद्घाटन नहीं करता अपितु उसमें तथ्य अपने संवेगात्मक प्रभावों के साथ प्रकट होते हैं। साहित्य में स्थायित्व बुद्धि का, ज्ञान का, आदर्शों का, वस्तु सत्यों का, गणित, दर्शन, वनस्पति शास्त्र आदि का नहीं; अपितु संवेगों का, रागों का, कल्पना का ही स्वीकृत हुआ है। भले ही वह शालीनता, सौम्यता, नैतिकता से युक्त न रहा हो और अन्य त्रुटियां भी उसमें हों, पर मानव हृदय ने सदा उसे ही अपनाया है; वह उसके साथ ही हंसा और रोया है और ऊपर से थोपे गए ज्ञानात्मक, नैतिक स्थायी मूल्यों के प्रति उसने सदा अस्वीकृत-मूलक सर हिलाया है। साहित्य उन पुस्तकों में नहीं है जो स्थायी बौद्धिक रुचि के तथ्यों और सत्यों से व्याप्त हैं अपितु उनमें है जो स्वयं ही स्थायी रुचि की हैं अर्थात् जिनका कभी भी किसी अन्य व्यक्ति द्वारा पुनः संस्थापन नहीं किया जा सकता। क्योंकि साहित्यिक कृति में कर्ता का व्यक्तित्व [संवेग संवलित] मिला रहता है जिसका स्थानापन्न दूसरा व्यक्तित्व नहीं हो सकता। इस कठिन परीक्षा में तथ्य और सत्यमयी दैत्यकाय पुस्तकें नहीं ठहरती; क्योंकि उनमें जो भी तथ्य है, वह भले ही स्थायी मूल्य का हो परन्तु उसे अनेक रूप और व्याख्याएं देकर अन्य पुस्तकों में रखा जा सकता है और इस प्रकार उन पुस्तकों का मूल्य समाप्त हो सकता है और

उनका तथ्य भी विशिष्ट से सामान्य हो जाता है। साहित्य में संवेगों का प्राधान्य है यह स्पष्ट हो चुका है परन्तु हमारे संवेग तभी वरेण्य एवं विश्वजनीन हो सकते हैं जबकि वे किसी गंभीर जीवन-सत्य से जन्मे हों।

साहित्य की व्युत्पत्ति और उसके केन्द्रीय तत्त्व पर इतना विचार उसकी परिभाषा की दिशा में हमारी महती सहायता करेगा। विभिन्न पौर्वात्य और पाश्चात्य विद्वानों की परिभाषाओं को छाया में हम एक सर्वमान्य परिभाषा पर आने का यत्न करेंगे। संस्कृत साहित्य शास्त्र में काव्य शब्द ही प्रायः साहित्य का पर्यायवाची रहा है, क्योंकि, सुदीर्घकाल तक साहित्य सृजन कविता में ही होता रहा। पौर्वात्य परम्परा रसवादी रही है पर, अभिव्यक्ति [कला-शैली] पक्ष को भी उसने पर्याप्त महत्व दिया है। यहां तक कि काव्य की आत्मा के सम्बन्ध में मतैक्य न होने के कारण छह सम्प्रदाय ही चल पड़े। यहां कुछ प्रसिद्ध आचार्यो की परिभाषाओं पर ही हम विचार करेंगे। सर्व प्रथम मम्मटाचार्य की परिभाषा विचारणीय है—

"तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि"

अर्थात् दोषरहित, गुणसहित तथा कहीं कहीं अनलंकृत भी शब्दार्थ का योग काव्य है। सामान्यतया इस परिभाषा में काव्य के सभी तत्व निहित हैं। परन्तु परिभाषा सुगठित नहीं है। कुछ त्रुटिपूर्ण भी लगती है। 'अदोषौ' एक अभावात्मक गुण है। उच्चकोटि के काव्य में भी कुछ दोष मिल जाते हैं फिर भी उनकी महत्ता, उनका काव्यत्व बना ही रहता है। दूसरी बात है कि जब काव्य अनलंकृत भी कहीं कहीं रह सकता है तो इस अनावश्यक उल्लेख की परिभाषा में क्या आवश्यकता थी। परिभाषा में तो नितांत आवश्यक बात ही आनी चाहिए। वस्तुतः आचार्य मम्मट 'अदोषौ' के बिना केवल 'सगुणौ' से अपना मन्तव्य प्रकट कर सकते थे। कविता में वे अलंकारों को अनिवार्य नहीं मानते। सुन्दर वस्तु अनलंकृत भी मनमोहक होती है—"किमिव हि मधुरं मण्डनं नाकृतीनाम्"। और भी—

नहीं मोहताज जेवर के,
जिन्हें खूबी खुदा ने दी।
वो कितना खुशनुमा लगता है,
देखो चांद बिन गहने।

आचार्य विश्वनाथ ने रस को ही काव्य का सर्वस्व माना है—"वाक्यं रसात्मकं काव्यम्" यह परिभाषा अत्यन्त सुगठित है। रस शब्द से संवेग, कल्पना और अनुभूति को समझा जा सकता है और 'वाक्य' से अभिव्यक्ति कलापक्ष को। हां, रस और वाक्य शब्दों में पूर्णता का अभाव भी देखा जा सकता है। परन्तु परिभाषा तो सूत्रात्मक ही होगी, भाष्य तो हो नहीं सकती। पंडितराज जगन्नाथ की परिभाषा भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। "रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्दः काव्यम्" अर्थात् रमणीय अर्थ को प्रतिपादित करने वाला शब्द ही काव्य है। इसमें 'रमणीय अर्थ' और 'शब्द' इन दोनों के द्वारा काव्य में रस, अलङ्कार और ध्वनि पक्षों का सुन्दर योग प्रतिपादित हो सका है। यह परिभाषा अपेक्षाकृत अधिक पूर्ण कही जा सकती है। वक्रोक्ति जीवितकार ने उक्ति चातुर्य को ही साहित्य कहा है—

साहित्य मनयो शोभाशालिनाम् प्रति काप्यसौ।
अन्य नानातिरिक्तत्वं मनोहारिण्यवस्थितिः॥

साहित्य में अलङ्कारों पर बल देते हुए हिन्दी के प्रसिद्ध आचार्य केशवदास ने कविप्रिया में स्पष्ट किया—

जदपि सुजाति सुलक्षणी, सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषण बिनु न विराजई, कविता वनिता मित्र॥

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने तो समस्त ज्ञानराशि को ही साहित्य स्वीकार किया है।

ललित और सामान्य का भी भेद नहीं रखा—"ज्ञानराशि के संचित कोष का नाम ही साहित्य है।" प्रेमचन्द ने मेथ्यूअर्नोल्ड की भांति साहित्य को जीवन की आलोचना के रूप में स्वीकार किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सामाजिक पक्ष के स्थायी अन्तःतत्त्व पर बल देते हुए कहा है—'साहित्य जनता की चित्रवृत्ति का संचित प्रतिविम्ब होता है।" यह वस्तुतः परिभाषा न होकर साहित्य और समाज के सम्बन्धों पर एक मत है।

कुछ प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वानों और साहित्यकारों की परिभाषाएं भी विचारणीय हैं।

प्रसिद्ध विचारक कारलाइल (Carlyle) ने साहित्य को चिन्तनशील आत्मा का विचार कहा है। "Literature is the thought of thinking souls." स्टीवेन्सन (Stevenson) साहित्य को श्रेष्ठ चर्चा की प्रायः छाया ही मानते हैं। "Literature in many of its branches is no other than the shadow of good talk.." आस्कर वाइल्ड (Oscarwilde) ने साहित्य को जीवन के प्रति कवि की निजी पूर्वकल्पना कहा है, साहित्य जीवन की प्रतिलिपि (जड़) नहीं है अर्थात् जीवन और उसकी घटनाओं का कैमरे की भांति या दर्पणवत् शुष्क एवं याथातथ्य चित्रण साहित्य नहीं करता। साहित्यकार का अपना व्यक्तित्व पूर्णतया जीवन और जगत के साथ मुखरित होता है और वह (कलाकार) अपने ढंग से जीवन को रूपायित करता है। आस्कर वाइल्ड ने अपनी परिभाषा—"Literature always anticipates life It does not copy it, but moulds it to its purpose." में साहित्यकार के व्यक्तित्व का प्राधान्य स्वीकार किया है; साथ ही सोद्देश्यता को भी दृष्टि में रखा है। मेथ्यू अर्नोल्ड ने जगत के सर्वोत्कृष्ट चिन्तन और कथन को ही साहित्य माना है। एक दूसरे रूप में वे साहित्य को जीवन की आलोचना भी मानते हैं। प्रसिद्ध आलोचक हडसन की परिभाषा भी महत्वपूर्ण है—

"Literature is only one of the many channels in which the energy of some age discharges itself in its political movement in religious thought, Philosophical speculation and in art."

अर्थात् साहित्य उन अनेक अभिव्यक्ति स्रोतों में से एक है जिनसे किसी युग की शक्ति मुखरित होती है, राजनैतिक आन्दोलन, धार्मिक मान्यता, दर्शन और कला भी ऐसे ही किसी युग की भावधारा के अभिव्यक्ति साधन हैं। इस विचारक ने साहित्य को युगशक्ति की अभिव्यक्ति कहकर एक सामान्य और गोल सी बात कह दी है; साथ ही दर्शन और राजनीति से उसमें कुछ वैशिष्ट्य है या नहीं इसका भी संकेत नहीं किया। परिभाषा में साहित्य के मूलभूत तत्त्वों का भी संकेत नहीं है। पारखी आलोचक ब्रूक (Brooke) ने अपनी परिभाषा में पूर्णता लाने का पर्याप्त प्रयत्न किया है—"The written thoughts and feelings of intelligent men and women arranged in a way that shall give pleasure to the reader." अर्थात् प्रत्युत्पन्न मति पुरुषों और महिलाओं के वे विचार, वे भावनाएं जो हृद्यशैली में गुम्फित होकर पाठक को आनन्द प्रदान करा सकें, साहित्य हैं। पीटर ने साहित्य को कलाकार के विशिष्ट व्यक्तित्व की ऊर्जा और शक्ति की प्रतिनिधि-अभिव्यक्ति माना है—"The representation of a spesific personality in its preference, its volition and power." भाव और कला के साथ लेखक के व्यक्तित्व-संस्पर्श की महिमा से युक्त सभी ग्रन्थ साहित्य है—इस प्रकार का

विचार आलोचक जे मोर्ले का है। परिभाषा पर्याप्त सुगठित है।

"Literature consists of all the books....where moral truths and human passion are touched with a certain largeness, sanity and attractiveness of form." अर्थात् नैतिक सत्य और मानवीय रागों की एक विशिष्ट शालीनता, पवित्रता और शिल्पगत आकर्षणमय अभिव्यक्ति जहां मिले वहीं साहित्य है। इन सभी विद्वानों की परिभाषाओं के साथ अमेरिका और ब्रिटेनिका विश्वकोषों की परिभाषाएं-व्याख्याएं भी द्रष्टव्य हैं। अमेरिकन विश्वकोष—"Literature in the widest sense is the expression, representation or manifestation of thought by means of alphabetical symbols of called letters. अर्थात् साहित्य अपने व्यापकतम अर्थ में प्रतीकात्मक शब्दों में विचारों की अभिव्यक्ति है। इस परिभाषा में मात्र विचारों को ही प्रश्रय मिला है। शैली, शिल्प, भावों और रागों को उपेक्षित ही कर दिया है। इस परिभाषा के आधार पर तो ज्ञान की ग्रन्थ पुस्तकें भी साहित्य कोटि में आ सकती हैं। ब्रिटेनिका विश्वकोष की परिभाषा वस्तुतः महत्वपूर्ण है—

"The best expression of the best thoughts reduced to writing." इस परिभाषा में शैली, शिल्प और भावधारा की रसावस्था को चरम कोटि में स्वीकृति मिली है। अर्थात् उत्कृष्ट विचार, उत्कृष्ट अभिव्यक्ति—संयत लेखन में ही साहित्य है।

उल्लिखित सभी परिभाषाएं साहित्य को उसके विविधपक्षों के साथ प्रस्तुत करती हैं। कुछ तो ऐसी भी हैं जो परिभाषाएं न होकर साहित्य की महत्ता और व्यापकता का ही प्रतिपादन करती हैं, तो कुछ साहित्य को सामान्य ज्ञान की कोटि में रख देती हैं। पंडितराज जगन्नाथ, विश्वनाथ, रामचन्द्र शुक्ल और पाश्चात्यों में अर्नोल्ड, ब्रुक, जे० मोर्ले की परिभाषाएं अपेक्षाकृत अधिक सुगठित एवं पूर्ण हैं। साहित्य में प्रमुख तीन तत्त्व हैं—(१) जीवन और जगत की प्रखर अनुभूति, (२) साहित्यकार का संवेग संवलित व्यक्तित्व, (३) ललित-प्रेरक शाब्दिक अभिव्यक्ति। इन तत्त्वों के आधार पर हम एक वैज्ञानिक परिभाषा जो सुगठित और पूर्ण हो बना सकते हैं और इस प्रकार इस दिशा में अपना एक प्रयास जोड़ सकते हैं। हमारी विनम्र मति से 'जीवन और जगत के प्रखर अनुभवों की संवेग-संवलित ललित शाब्दिक अभिव्यक्ति साहित्य है।'

साहित्य से मेल, लिटरेचर शब्द से ज्ञान और उर्दू के अदब शब्द से शिष्टता-शालीनता की सूचना मिलती है। वैसे ये तीनों शब्द व्याख्या करके स्वयं में पूर्ण सिद्ध किये जा सकते हैं परन्तु इन तीनों से तीन स्वतन्त्र दृष्टियां भी सामने आती हैं। भारतीय दृष्टि मेल (रस) पर बल देती है, उर्दू में कला-नजाकत को ही महत्व मिला है और पाश्चात्य दृष्टि बुद्धिप्रधान रही है। भारतीय दृष्टि सदा से

क्षणो वालो भूत्वा क्षणमपि युवा कामरसिकः
क्षणं वित्तैर्हीनः क्षणमपि च सम्पूर्ण विभवः ।
जराजीर्णैरङ्गैर्नट इव वली मण्डित तनु
र्नटः संसारङ्के विशति यमधानि जवनिकाम् ॥

अर्थ:—यह संसार एक तरह की रंगभूमि है।इसमें यह जीव नट के समान आचरण करता है। वह कभी बोधहीन बालक और कभी कामरसिक युवा बन जाता है। कभी वह जवान होता है और बुड्ढा बन जाता है। इस तरह अनेक प्रकार के वेष धारण करके यह अन्त में यमराज के घर रूपी यवनिका में प्रवेश कर जाता है।

————

फागु काव्य की नवोपलब्ध कृतियाँ

डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल एम० ए०, पी-एच० डी०

रास, बेलि बावनी, कथा, चौपई आदि के समान फागु भी प्राचीन साहित्य का एक प्रमुख काव्य रूप रहा है। १४ वीं शताब्दी से ही फागु की रचनाएं उपलब्ध होने लगती हैं और वह परम्परा १९ वीं शताब्दी तक कुछ परिवर्तनों के साथ अबाधित रूप से मिलती है। अब तक फागु काव्य की जितनी रचनाएं प्राप्त हुई हैं उनमें से अधिकांश रचनाएं जैन सन्तों एवं विद्वानों द्वारा लिखी गई हैं। राजस्थानी भाषा के प्रमुख विद्वान श्री अगरचंद नाहटा ने ऐसे फागु काव्यों की संख्या ७५ बतलायी है जिनकी शताब्दी वार संख्या निम्न प्रकार है।

जैन फागु काव्य		जैनेतर फागु काव्य	
१४ वीं शताब्दी	………२	१५ वीं शताब्दी	……१
१५ वीं "	………१७	१६ वी "	७
१६ वी "	………२२		
१७ वीं "	………२१		
१८ वीं "	………३		
१९ वीं "	………२		
	६७		८

फागु काव्यों पर श्री गोविन्द शर्मा रजनीश एम० ए० प्राध्यापक राजकीय डिग्री कालेज, करौली रिसर्च भी कर रहे हैं। आशा है उनकी खोज के आधार पर फागु साहित्य पर विद्वानों को नयी जानकारी प्राप्त होगी। डा० दशरथ ओझा एवं डा० दशरथ शर्मा ने भी अपने रास एवं रासान्वयी काव्य में ९ ऐसे काव्यों का उल्लेख किया है जिनका जैनधर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है। इन नो फागु काव्यों में ५ फागु काव्य तो वे ही हैं जिनका उल्लेख नाहटा जी अपनी पुस्तक में कर चुके हैं तथा शेष ४ फागु काव्य निम्न प्रकार हैं—

१. अज्ञात कविकृत………वसंत विलास फागु
२. सोनीराम कृत………वसंत विलास
३. अज्ञात कवि कृत………हरि विलास फागु
४. कामीजन विश्राम………तरंग गीत

उक्त ७९ फागु काव्यों के अतिरिक्त अभी लेखक को कुछ और फागु काव्य उपलब्ध हुये हैं जिनका उल्लेख अभी तक अन्यत्र नहीं मिलता हैं। ये सभी फागु काव्य जैन विद्वानों द्वारा लिखे हुये हैं और इनकी हस्तलिखित प्रतियां राजस्थान के विभिन्न शास्त्र भण्डारों में संगृहीत हैं। इन फागु काव्यों के नाम निम्न प्रकार हैं:—

१. वीर विलास फाग—भ० वीरचन्द्र
२. नेमिनाथ फाग—भ० रत्नकीर्ति
३. नेमीश्वर फाग—भ० विद्याभूषण
४. चैतन्य फाग—ब्र० कामराज
५. धर्मफाग— "
६. आलोचना— सेवक

१. वीरविलास फाग—

यह भट्टारक वीरचन्द्र की रचना है। वीरचंद्र जैन संत थे और भ० लक्ष्मीचंद के पश्चात् भट्टारक गद्दी पर बैठे थे। यह राजस्थानी के अच्छे विद्वान्

थे। अभी उनकी कितनी ही रचनाएं उपलब्ध हुई हैं जिनमें (१) जम्बूस्वामी वेलि (२) जिन आंतरा (३) वीर विलास फाग (४) संबोध सत्ताणु (५) सीमंधर स्वामी गीत आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। रचनाओं के अतिरिक्त उनके पद भी उपलब्ध होते हैं। उन्होंने किसी भी रचना में उसके समय का उल्लेख नहीं किया किन्तु इन्हीं के शिष्य ज्ञानभूषण ने अमरगीता को सं० १६०४ में समाप्त किया था।[१] इससे यह निश्चित है कि कवि १६ वीं शताब्दी के विद्वान थे। आपने नवसारी के शासक अर्जुन जीवराज से सम्मान पाया था तथा सोलह वर्ष तक नीरस आहार का सेवन किया।

वीरचन्द्र अपने समय के प्रसिद्ध भट्टारक थे और उन्होंने अपनी रचनाओं में गुरु परम्परा का जो उल्लेख किया है वह निम्न प्रकार है—

श्री मूलसंघि महिमानिलो,
  अनी तिलो श्री विद्यानन्द।
सूरी श्री मल्लिभूषण जयो,
  जयो सूरी लक्ष्मीचंद ॥ १३५ ॥
जयो सूरी श्री वीरचंद्र मुनिंद,
  रच्यो जिणि फाग।
गाली सभलता ए मनोहर,
  सुखकर श्री वीतराग ॥ १३६ ॥

वीर विलास फाग इनकी सबसे बड़ी रचना है। इसमें १३७ पद्य हैं। इसकी एक प्रति उदयपुर के खण्डेलवाल दि० जैन मन्दिर के शास्त्र भंडार के गुटके में संगृहीत है। इस ग्रन्थ की प्रति संवत् १६८६ में की गई थी ऐसा उस गुटके में लिखा हुआ है। वीरविलास फाग एक खण्ड काव्य है जिसमें नेमिनाथ के तोरण पर आकर वैराग्य धारण कर लेने की घटना का मुख्य रूप से वर्णन किया गया है। नेमिनाथ सर्वगुणसम्पन्न एवं अद्भुत सौन्दर्य वाले राजकुमार थे। वे श्यामल वर्ण के थे तथा सुन्दता में कामदेव को भी लज्जित करते थे। उनकी सुन्दरता का कवि ने निम्न प्रकार से वर्णन किया है:—

केलि कमलदल कोमल, सामल वरण शरीर।
त्रिभुवनपति त्रिभुवन गुण निलो गुणगंभीर ॥७॥

माननी मोहन जिनवर दिन दिन देह दिपंद।
प्रलंब प्रताप प्रभाकर भवहर श्री भगवंत ॥८॥

लीला ललित नेमीश्वर अलवश्वर उदार।
प्रहसित पंकज पंखड़ी अखंड़ी छवि अपार ॥९॥

इधर राजुल भी रूप एवं सौन्दर्य की मूर्ति ही थी, वह मृगलोचनी एवं चन्द्रवदनी थी तथा विलक्षण ज्ञानवाली थी।

कठिन सुपीन पयोधर मनोहर अति उतंग।
चंपकवर्नी चन्द्राननी माननी सोहि सुरंग ॥१७॥
हरणी हरावी निज नयणीइ वयणिइ साह सुरंग।
दंत सुपंती दीपंती सोहंती सिरवेणी बंध ॥१८॥

---

१. श्री लक्ष्मीचंद गुरु भलों तेरो पाटें हवो जानिराय।
श्री वीरचंद आदिवर, तप तेजे अनोपम काय॥
तेह कुल कमल दिवसपति जयो जति ज्ञान भण्डार।
ज्ञान भूषण गुरु पाय नमी कहा ने कहे ए सार॥
संवत् सोलह चार ऊपर जानो, कार्तिक सुदी पडवा वखानो।
सार ता शान्त सिद्ध तिताने अमर गीता कीधी नेग दाय॥

कनक केरी जसी पूतली पातली पद्मनी नारि।
सतीय शिरोमणि सुन्दरी अवतरी अवनिमझारी ॥१९॥
ज्ञान विज्ञान विलक्षणी सुलक्षणी कोमल काय।
दान सुपात्रह पोखती पुजती श्री जिनपाय ॥२०॥

राजुल एवं नेमिनाथ के विवाह की तैयारियां बड़े जोर से होने लगीं। सौभाग्यवती स्त्रियों ने मंगल गीत गाये। नगर के सभी गृहों को सजाया गया तथा वन्दरवारें लटकायी गईं। कुंकुम एवं अरगजा छिड़का गया।

ध्वजा तोरण सोहि घरि घरि,
घरि घरि वान रसाल।
फूल पराग भरया घरि घरि,
घरि घरि भाक भमाल॥
घरि घरि कुंकुम चंदन तणा,
छाटणाँ छडा देवराय॥
घरि घरि मणि मुगताफल
चाडल चोक पुराय॥
घरि घरि गीत वधावणा
रलियमणां मन मिलि।
घरि घरि अंग उल्लास
सुरासुरमि रलि ॥५०॥

नेमिनाथ की बारात बड़ी जोरदार थी। बड़े बड़े राजा महाराजा उसमें शामिल हुये थे। इधर नेमिनाथ के प्रथम दर्शन के लिये राजुल उत्सुक हो रही थी। और अपनी सखियों के साथ महल पर खड़ी हुई थी लेकिन रथ में बैठे हुये नेमिनाथ ने एक स्थान पर बहुत से पशुओं को एकत्रित देखा तो सारथी से उसका कारण जानना चाहा। और जब उन्हें मालूम पड़ा कि वे बरातियों के भक्ष्य बनने के लिये हैं तो नेमिनाथ ने विवाह कंगण तोड़ कर वैराग्य धारण करने की घोषणा कर दी। अहिंसा के प्रचार के लिये ऐसा त्याग सारे इतिहास की प्रथम एवं अन्तिम घटना है लेकिन यह घटना इतनी तेजीसे घटी कि किसी को कुछ कहने अथवा सुनने का अवसर ही नहीं मिला। राजुल सुनते ही मूर्छित हो गयी और जब होश आया तो कर कंगण तोड़ डाले और केशों को नोचने लगी।

चेत नहि उठि आरोवती,
जोवती नेमिकुमार।
अंग उभी थी ओछेरि,
नाखि निरधार ॥६८॥
प्रीय पाखि प्रेमे परजली,
बलि वलि बनीता अपार।
अचेत थई चेत लहिव,
जो ढलि ढलि पडि वारोवार ॥६९॥
कनक मि कंकण मोडती,
तोडती मणि सिहार।
लूंचती केश कलाप,
विलाप करि अनिवार ॥७०॥

राजुल पश्चाताप करने लगी। पहिले तो हार श्रृंगार, पुष्पहार, कोयल की मधुरवाणी आदि अच्छे लगते थे वे ही सब संताप के कारण बन गये। कभी कभी वह अपने पूर्व भवों में किये हुए कार्यों पर विचार करती तथा कहती कि उसने ऐसा कौनसा कार्य किया था जिसके कारण उसको ये दुःख देखने पड़े।

परभव पुन्य न कीधा,
न दीधमि पात्र दान।
किमि समकित व्रत नादरया,
नाचरया सुतप विधान॥
किमि जति जननि निवासी,
अविचारी दीधी गाल।
किमि रयणी भोजन करयां,
उलव्या पर धन उदालि॥

भाषा एवं रचना काल—

भाषा की अध्ययन की दृष्टि से यह फागु अत्यधिक महत्वपूर्ण है। इसे हम राजस्थानी डिंगल

भाषा की रचना कह सकते हैं। यद्यपि रचना वीर रस प्रधान नहीं है किन्तु भाषा में ओज है। शब्दों को दीर्घ स्वरान्त बना कर एवं न के स्थान पर ण का उपयोग किया गया है। भाषा के उदाहरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

राजमती रत्नीधामणी सोहामणी
सुमधरीय वाणी ।
भंवर तोली भामिनी
स्वामिनी सोहि सुराणी ॥२१॥

इन्द्र इन्द्राणी उवारणा
लद्धुणा करि धरणेस ।
नवरासि नाचि विलासणी,
सुहासणी भरे सीरसेस॥३४॥

विरह वेदना हयी आकुली
हविरलीइ मभकाय ।
किनि होन करावीया
मीरीयाँ मांणस ढोर ।
किनि चोरी द्रव्य संधव्या
वंच्या वाहो निचोर ॥१२६॥

अथिर मुगट मठ मंदिर
पुर पाटण परिवारा ।
अथिर जोवन धन जोवन,
तनु मन अथिर संसारा ॥१२७॥

यद्यपि रचना में रचना काल का कोई उल्लेख नहीं किया गया है किन्तु भट्टारक परम्परा के अनुसार भ० वीरचन्द्र १६ वीं शताब्दी के थे इसलिये यह रचना भी उसी शताब्दी की मानी जानी चाहिए।

२. नेमिनाथ फाग—

यह फाग भ० रत्नकीर्ति की रचना है। रत्नकीर्ति १७वीं शताब्दी के विद्वान थे। इनका समय सं० १५९० से १६५६ का माना जाता है। ये अपने समय के प्रमुख जैन सन्त थे और साहित्य सेवा में विशेष रुचि लेते थे। अब तक इनकी नेमिनाथ फाग, नेमिनाथ बारहमासा, नेमीश्वर हिण्डोलना एवं नेमिश्वररास आदि रचनाएं तथा ४० से अधिक पद उपलब्ध हो चुके हैं। कवि राजस्थान एवं गुजरात के सीमान्त प्रदेशों में अधिक भ्रमण किया करते थे इसीलिये उनकी रचनाओं पर गुजराती भाषा का पर्याप्त प्रभाव मिलता है।

नेमिनाथ फाग कवि की प्रमुख रचना है जिसमें नेमिनाथ एवं राजुल के विवाह, पशुओं की पुकार सुनकर विवाह किये बिना ही वैराग्य धारण कर लेना और अन्त में तपस्या करके मोक्ष जाने की अति संक्षिप्त कथा दी गई है। पूरा फाग ५७ पद्यों में लिपिवद्ध है तथा कवि ने उसे राग मधु, माधव, केदारों, दूहा एवं ढाल में लिखा है। फाग की रचना हांसोट नगर में हुई थी। लेकिन यह कब समाप्त हुई थी इसका कवि ने कोई उल्लेख नहीं किया है। उक्त रचना भ० यशःकीर्ति सरस्वती भवन रिषभदेव के एक गुटके के पृष्ठ १२७-१३२ पर संग्रहीत हैं।

रचना सुन्दर है तथा लघु होते हुये भी भाव पूर्ण है। भाषा आलंकारिक है एवं काव्यत्व गुण युक्त है। राजुल की सुन्दरता का एक वर्णन देखिए :—

चन्द्रवदनी मृगलोचनी मोचनी खंजन मीन।
वासग जीत्यो वेणिहं श्रेणिय मधुकर दीन॥

युगल डाल दीपे ससि, उपमा नाशा कीर।
अधर विद्रुम सम उपता दंतनू निर्मल नीर॥

ढाल—चित्रुक कमल पर षट पद आनन्द करे सुधापान।
ग्रीवा सुन्दर सोभनी, कंबु कपोतने वांन ॥१२॥
कोमल कमल कलश वे, उपरि मोती सोहे।
जांगे कमल केरी वेलडी, वेलडी बांहोडी मोहि ॥१३॥
कनक कलोयम सोभनुं, नाभि गंभीर विसेस।
जाणे विधाताइं आणुली, वालिय रूपनी रेस ॥१४॥

कटि हरि गति गज जीतिया, पूरिया वनमा वास ।
जंघाइ जीतिय कदलिय, अंगुली पद्म पलास ॥१५॥

आभरण अंग अनोपम, भूषण शरीर सोहंत ।
कवि कहेस्युं वखाणिये राजुल रूप अनंत ॥१६॥

नेमिनाथ राजकुमार थे। वैभव में पले थे। इसलिये जब उन्होंने विवाह के स्थान पर वैराग्य लेने का निश्चय किया तो उनका ऋतुओं के कष्टों की ओर ध्यान दिलाया गया। इसका एक प्रसंग देखिये :—

छए रति आरति अति घणी, वरसा ले रे विख्यात ।
नाथ वात नो हे सोहिली, देहिली शियालानी
राति ॥३१॥

सीयाले शीत पड़े, पड़े अति निर्मल हीम ।
हरी करी चरि मद मूके, चूके तापस नीम ॥३२॥

३. **नेमीश्वर फाग**-विद्या भूषण। पत्र संख्या ११। आकार–१०" × ५"। रचनाकाल– ×। लेखनकाल संवत् १६१४ कार्तिक शुक्ला ४। ग्रन्थ प्राप्ति स्थान यशःकीर्त्ति सरस्वती भवन रिषभदेव (राज)।

इस फाग के रचयिता भ० विद्याभूषण काष्ठा संघ के जैन संत (भट्टारक) थे। ये भ० विश्वसेन के शिष्य थे। अब तक इनकी भविष्यदत्त रास (र० सं० १६००) नेमीनाथ रास, कर्मदहन पूजा, चौवीसीपद तथा नेमीश्वर फाग-रचनाएं उपलब्ध हो चुकी हैं। भविष्यदत्तरास संभवतः इनकी प्रथम रचना है जिसे इन्होंने सं० १६०० में समाप्त की थी। नेमीश्वर फाग की जो प्रति अभी प्राप्त हुई है उसका लेखन काल सं० १६१४ है। इसलिये संभवतः यह कृति संवत् १६१० के आस पास की रचना होगी।

विद्या-भूषण की यह एक अच्छी साहित्यिक कृति है जिसमें उन्होंने नेमिनाथ के जीवन का २५१ पद्यों में वर्णन किया है। प्रारम्भ में दो पद्य संस्कृत में हैं और बीच बीच में भी कितने ही स्थानों पर संस्कृत के पद्य आये हैं। फाग के कुछ विशेष वर्णन देखिये :—

समुद्र तट वर्णन—

आहे रम्य प्रदेशनि निरखित परखिए अति मनोहार ।
विविध वनस्पति देखतां पेखतां हर्ष अपार ॥३७॥

आहे वाडीय वापीय कूप तडाग तणु नवि पार ।
मधुकर कोकिल हंस मयूर करि किंगार ॥३८॥

आहे ताल तमाल खजूरि एलच्या केरा वृक्ष ।
चंपक चंदन सरल तरु केरा वहु वृक्ष ॥३९॥

आहे किंसुक करणीय तरणीय कदली तणा जिहां वृंद ।
मांवची नाग लता शुभ मण्डप स्पर्शि चंदा ॥४०॥

× × × ×

नेमिनाथ का सौन्दर्य वर्णन—

आहे विमल कमल दल
मोचन भव वंध पाश ।
समुद्र विजय सुत निरखिए
हरखिए मनु उल्हास ॥१६॥

आहे चामी युगल अति सोहिए
माहिए अफर वृंद ।
जाणेय कामनुं चांपए
व्यापिए मोह नरेन्द्र ॥१७॥

आहे निर्धूप दीप शिखा
सम नाशाए निर्मल जाण ।
दंत जिशा दाडिम कली
सुर मिली करि वखाण ॥१८॥

आहे भुजा दंड अति सुन्दर
मंदर सम विक्रम्भ ।
चरण कमल भवन त्रय
पूजित धि बहु शर्म्म ॥१९॥

× × × ×

आहे विमल वदन राजीमती
वेगिं पहिरीय शृंगार।
मुखि रही अति हरषिए
निरखिए निज भर्त्तार ।।२०७।।

आहे सखी मागिय वधामणी
सोहामणी राजिल नारि।
हीर चीर तस आपिए
आपिए विविध शृंगार ।।२०८।।

आहे हर्ष भरी राजीमती
नेमि जोइं जिणी वार।
दयावंत जिन जांणीय
पशु ए कीधु रे पोकार ।।२०९।।

नव जिन सारथीनि
कहि कहि कुण कारण एह।
जीव वर्गा ए समिलिया
विविध प्रकारना देह ।।२१०।।

रचना का आदि अन्त भाग निम्न प्रकार है—

श्रीमद्देव समाज वंदित
पदं संसार विध्वंसकं।
दोपदं न कुकर्मणां सु तपसा
ते तार सत्युद्भुतं ।।
त्यक्त्वागारमनन्त सौख्य
जलधि मोहारि निर्नाशकं।
वंदेनंत गुणार्णव सुचरित
श्री आदिनाथ प्रभुं ।।१।।

श्रीनेमिं जिन नत्वा
स्तुत्वा जिनगुणांबुजान्।
निर्गता सारदा देवी
वंदे नेमि वसन्तकं ।।२।।

अथ फागु

आहे सरसति पइन पइन
जिन सारदा सारदा पाय।
गायतां दशह भवांतर
सहित नेमीश्वर राय ।।३।।
आहे जाणीय जस भवतार
सूसार इन्द्रादिक देव।
आणीय मेरू शिखिर लेइ
कीधी बहू परिसेव ।।४।।

अन्तिम भाग

आहे काष्ठाए संघ नंदी तट
गच्छ विद्यागण सार।
सूरिवर विश्वसुसेन ए
शासन ना सणगार ।।२४८।।

विद्याभूषण तस शिष्य ए
दक्ष परिण कृत फाग।
एक मनां सहूं सुणतां ए
भणतां ए हुइं वैराग्य ।।२४९।।

आहे नेमिजिनेश्वर केरु ए
फाग अनोपम जाण।
पंचदशाधिक त्रण्यशि
श्लोक तणू परिमाण ।।२५०।।

वितत्यां देवपल्लां च
पार्श्वस्थभुवनेमया।
विद्याभूषण नाम्नेव
रचितायां वसंतकः ।।२५१।।

श्लोक संख्या ३१५।। संवत् १६१४ वर्षे कार्तिक मासि शुक्ल पक्षे चतुर्थ्यां तिथौ भौम दिने लिखितमिदं पुस्तकं जयतु। श्रीं काष्ठासंघे नंदीतट गच्छे विद्यागणे भट्टारक विद्याभूषण तत् शिष्य ब्रह्म श्री तेजपाल पठनार्थं परोपकारार्थं शुभं भवतु।

५. चैतन्य फाग—

यह ब्र० कामराज की रचना है। कामराज संस्कृत के अच्छे विद्वान थे। इनका समय १५वीं शताब्दी का है। जयकुमार पुराण इनकी संस्कृत की एकमात्र रचना है जिसे इन्होंने संवत् १५५० में

समाप्त किया था। इसकी एक प्रति आमेर शास्त्र भण्डार जयपुर में संग्रहीत है। यह संवत् १६६१ की लिखी गई है और इसे स्वयं ब्र० कामराज को भेंट दी गई थी। कामराज भ० शुभचन्द्र के प्रशिष्य एवं सकलभूषण के शिष्य भट्टारक नरेन्द्रकीर्ति के शिष्य ब्र० सहवर्णी के शिष्य थे।

अभी इन्हीं कामराज की दो लघु रचनाएं उपलब्ध हुई हैं। दोनों ही सुन्दर कृतियां हैं तथा प्रकाशन योग्य हैं। प्रथम कृति धर्मफाग है जिसमें कवि ने धर्म की महिमा का गान गाया है। धर्म से ही धन दौलत, मकान, स्त्री, पुत्र एवं अच्छी गति मिलती है तथा धर्म ही अन्त में निर्वाण को प्राप्त कराता है। रचना के अन्त में धर्म क्या है इसका कवि ने वर्णन कर दिया है। उसके अनुसार जीव दया पालन एवं हिंसादि कार्यों से दूर रहना ही धर्म का मुख्य लक्षण है।

फाग की भाषा हिन्दी है लेकिन उस पर मेवाती एवं गुजराती का प्रभाव है।

कामराज की दूसरी रचना चैतन्य फाग है। इस फाग में चेतन अथवा जीव का विविध रूपों में वर्णन किया गया है। मनुष्य को जन्म लेने के पूर्व गर्भावस्था में कितना कष्ट उठाना पड़ता है तथा उसके पश्चात् भी उसे किस रूप में रहना पड़ता है इसका कवि ने संक्षिप्त में अच्छा वर्णन किया है। फाग उपदेशात्मक है तथा 'ध्रुपद' छन्द में लिखा हुआ है। फाग की डिंगल एवं मेवाती भाषा है। दोनों ही फागु काव्यों का रचना काल दिया हुआ नहीं है लेकिन यह अवश्य है कि ये १७वीं शताब्दी की प्रथम पाद की रचनाएं हैं। दोनों फागों को अविकल रूप से पाठकों के अवलोकनार्थ दिया जारहा है—

धर्म फाग

पहिले नमन देवा जिनेश्वरा,
नमनसार जे गणधरा गाजी।
नमन करीन जिनि ग्रंथ मुरा,
कवित प्रसन होइ जो दातारागाजी ॥१॥

आंचली

गाइन धरमा चा विस्तारू,
धरमे तरीजे सव सारू गाजी।
धरमे पाविजे मुगति दुवारु,
धमु करिति तिहि लोक उधारु गाजी
गाइन ॥२॥

धरमे मनुक्ष गति लाहि जे,
उत्तिम कुल पावी जे गाजी।
धरमे रूपवंत होई जे,
धरमे आउक्ष संपूर्ण भोगी जे गाजी ॥
गाइन ॥३॥

धरमे होई जे विद्यावंतु ग्यानी,
आगमि शास्त्र पुराणी गाजी।
धरमे होइ जगत्र मोहनी,
धरमे कीरति विस्तरे मेदिनी गाजी ॥
गाइन ॥४॥

धरमे पावि जे वर वी नारी,
गुणवंत सविचारु गाजी।
धरमे पुत्र कन्या वहु पारी,
लक्ष्मी अलंकृत घरु गाजी ॥गाइन ॥५॥

धरमे धवल हल सात खणा,
धरमे वत्तीस लक्षणा गाजी।
धरमे पालकी सुखासने,
जैसे देवाचि विमाने गाजी ॥गाइन॥६॥

धरमे राज्य पद पावी जे,
चक्रवत्ति होई जे गाजी।
धरमे सवै सुख भोगी जे,
गज तुरंगम रथ लाही जे गाजी ॥
गाइन ॥७॥

धरमे स्वर्ग लोका जाई जे,
इन्द्र पद पावि जे गाजी ।
धरमे अभीष्ट फल फलपावी जे,
अनुक्रमे मुगति साधी जो गाजी ॥
गाइन ॥८॥

धरमु माता जी धरमु पिता,
धरमु सहोदर बंधुगाजी ।
धरमु तिहीं लोकी तारता,
धरमु विन जीव अंधु गाजी ॥गाइन॥९॥
ऐसे जानुजी जीवा श्रमु करी,
सुखी होइ जे सब सारी गाजी ।
धरमु सोई रा पर नीचा,
जीव धरमु हितकारी गाजी ॥गाइन॥१०॥
संग्रामि जुझता धरमु रमण,
पाणि बूडता परोहण गाजी ।
अगिनि जलंता धरमु जीवन,
रोग दालिद्र हरण गाजी ॥गाइन॥११॥
धरमु धरमु भण तिलोका,
लोका नाहीं विवेकु गाजी ।
हींसा करमु करती लोका,
जीव दया विण धरमु फोक गाजी ॥
गाइन ॥१२॥
जीव दया धरमु पालती,
हिंसा पाप टालती गाजी ।
कामुराग त्यणे धरमु करीति,
सो जीव पावे मुगति गाजी ॥
गाइन ॥१३॥
इति धर्म फाग संपूर्ण समाप्ता ।

चैतन्य फाग—

विनोती भव निरखो होइ उदासु
दस चउरासी आंटेकरिता ग्हव्रासु ।
उत्तमपदवि तु आ साडिवासु,
ओध मानवा तु आउ करैत नासु ॥
॥ १ ॥

ध्रुपद—

आतमा चैतन्य राघो रामचन्द्रा,
अउढ हाथ कुंडी तुआ पांजरा ।
साप्तधान मैलोनी केला साजरा,
कर्मसूत्र धारि आयुण दृष्टि गोचरा ॥
आतमा ॥ २ ॥
एक से अढतालीस प्रकृत पारधि,
माया जाल घालूनी बांधला वुधि ।
आजुनी कांन धरसी आपुली सुधि,
मनुक्ष जनमी राधवापड सील वंधि ॥
आतमा ॥ ३ ॥
विख योवनिन को जातुं राघवा,
कामिणी नयण वांणे तु ते बीधवा ।
प्रीती में वली जणि करी राहावा,
पडसी मोह पंजरिमग कवणे काढावा ॥
आतमा ॥ ४ ॥
नव नाडी सोला सांधि, वहुत्तर कोठे,
तु भी या पांजरि राघो नवदा रोके ।
अष्टदल कमल सो डौनी कोठे,
मंभा वेला अणी जाउ दाही वाटे ॥
आतमा ॥ ५ ॥
प्रसन रसन घ्रांण चक्षु श्रुती पांचे,
ढांइ जाली राघो तु जीभता ।
सोडै या चा सगनु कोपडु भरांति,
मन वचन काया राखें निहती ॥
आतमा ॥ ६ ॥
धरमें वीरी राखें राघो करं पांथरा,
त्रयोदश व्रते फले चरै या चारा ।
राग द्वेख तया अणी जाऊ डुंगरा,
मान अहंकार तु ते करती चुकारा ॥
आतमा ॥ ७ ॥

तु कर्नीय पंजरि रावो विष्णा वार,
जनयला वीजे वेसा पांचरा ।
क्रोध वैरी तुज पुद्गल मांजरा वेसा,
वडगें त्याचं संघार करा ॥ आतमा ॥ ८ ॥

पंजरु घडि तु भरले नवमास,
सूत्र धरीतां तिनसे राढ दिवस ।
अस्थि चर्म त्वजा रुधिर मांस,
मलमूत्र वीरमि रचीला रही वास ॥
आतमा ॥ ९ ॥

काला गोरा नीला पीला नहवे सांवला,
ब्रह्मादि कांन कलेवरणां वेगला ।
पाहातां पाहाल तरि नदी से डोला,
अनाथ ध्वनि राघो बोले सकला ॥
आतमा ॥ १० ॥

आचार पवित्र राघो आहार पाणी,
सकले विकले देती तुज लागुनी ।
आगमु निर्गमु श्रुता बोली जे वांणी,
पांजरा भीतरि राही आपुले धनी ॥
आतमा ॥ ११ ॥

त्रेपन क्रीया राघो करी जे पंख,
सोलारे भावना रंगे रंगी जे मुख ।
चरित्र जी पदम सुरेख,
सिद्धान्त सुमती कंठी राखती रेख ॥
आतमा ॥ १२ ॥

सपा तत्व पंढी राघो रात्रि दीन,
पढ़ता गुणता राघो जाता सुजाण ।
स्वर्ग लोके हु न तु जएईल विमान,
प्रदीपीभवनि राही सुखे निधान ॥
आतमा ॥ १३ ॥

आत्मा चैतन्य राघो गापता परि,
अनन्त गुणे राघो तुजो असरी ।
जानता वेदतां राघो कवी ना परि,
कामराजु ह्यणें राघो वेगें ऊधांरी ॥
आतमा ॥ १४ ॥

॥ इति चैतन्य फाग समाप्त ॥

६. आलोचना फाग—

यह सेवक कवि की कृति है । कवि संभवतः १७-१८ वीं शताब्दी के थे । इसमें कवि ने अपने किए हुये कार्यों पर आलोचनात्मक दृष्टि से विचार किया है तथा जीवन में किसी भी पुण्य कार्य का सम्पादन न करने पर खेद प्रगट किया है ।

फागु लघु पर सुन्दर है । भाषा सरल एवं मधुर है । इसकी एक प्रति आमेर शास्त्र भण्डार के एक गुटके में संग्रहीत है । फागु लघु होने के कारण उसका पूरा पाठ पाठकों के अवलोकनार्थ प्रस्तुत किया जारहा है--

आलोचना फाग—

आहे प्रथम जिणेसर प्रणमसु,
प्रणमसु सारदा माय ।
आहे आलोचना फाग गायिस,
जिम मनि निरमल थापि ॥ १ ॥

आहे अनादि काल मझ आतोमा,
भमु इणि विषय संसार ।
आहे नरगक आदि गति चारि,
त्रस थावर मझारि ॥ २ ॥

आहे दुख सहामि अति घणा,
छेदन भेदन आदि ।
आहे सुखनी अंस न पायोई,
कर्म तणि प्रसादि ॥ ३ ॥

आहे कारक काल लब्धि मलि,
जाणु श्री जिनधर्म ।
आहे तुहि पापची नवि उसरि,
हजीमझ बुहला कर्म ॥ ४ ॥

आहे कुगुरू कुदेव. कुधरमउ,
परिमि आणु रंग ।
आहे तेरु पाप उदि आवि,
जीन आगन्या करू भंग ॥ ५ ॥

आहे मि कुग्यान अभ्यासि,
आपुर वापर विरोध ।
आहे तेह कर्म उदि आवता,
न्याय तणो करि रोध ॥ ६ ॥

आहे त्रस थावर हिंसा करी,
मि अग्यानी जीव ।
आहे हजां दया भाव नउ पजि,
नरगि को सुहरीव ॥ ७ ॥

आहि मयण पापी निवसि करि,
तीवर काम प्रणाम ।
आहे तेह तणो संसा करि,
नहीं ब्रह्मचरिजजू नाम ॥ ८ ॥

आहे असति बोलावि अति घणा,
पर धन हरी अपार ।
आहे हजी मझ एह अभ्यासड़ो,
तो माहरि दीरघ संसार ॥ ९ ॥

आहे धन आदि दस परिग्रह,
मन भमि मेलवा काजि ।
आहे तेम तणा फल सांभला,
तोहि नहीं मझ लाज ॥ १० ॥

आहे विकथा नेत्रा [illegible] विलसमा,
विस नात उद्यापि ।
आहे लूलि पखुह जीव विरलि,
तप निरन्तर निविधापि ॥ ११ ॥

आहे लोभ अनगि पसु परजले,
अनत ज्ञान ए जीव ।
आहे जिनवाणी बहु मानति,
जिना नहीं अजीव ॥ १२ ॥

आहे मान वाणी पेटू पीडीइ,
नहीं मन तुन नमाम ।

आहे कोमल पणु नवि आचरी,
तीर्ण होसि दूर्गति टाम ॥ १३ ॥

आहे मन वचन काया वाकी.
कुटल पशु सदा होइ ।
आहे सरल भाव नवि संपजि,
तो तरजंच गति जाइ ॥ १४ ॥

आहे लोभ मातंगि मिलुकरु,
खीण एक नहीं संतोस ।
आहे तीणि जीन धरम पी वंग,
तो किं हनि दीजि दोस ॥ । १५ ॥

आहे विकथा रसि धपुर जीउ,
हमूर खडा मार ।
आहे धर्म कथा करंता निद्रा,
आवि अपार ॥ १६ ॥

आहे मोह क्रमि अति मोहीइ,
हूँ पापीगुण हीन ।
आहे आठ मूल गुण आहिदी,
व्रत न पालें मि दीन ॥ १७ ॥

आहे आरति रुद्र धानि,
वास्यु छिप मुझ चित ।
आहे स्वस्तपणु नवि आविउ,
किम करु निज हित ॥ १८ ॥

आहे दानपूजा तप आदि,
अनेक पुंगना काज ।
आहे प्रमाद पणि नवि थापि,
वंधो नवि जिनराज ॥ १९ ॥

आहे अनंत अव गुणिहु भरू,
ते नु जाणो छि देव ।
आहे दीन उपरि क्रपा करी,
नम्हे गुण आयो देव ॥ २० ॥

आहे जिन जिन धर्म गुरू,
सेवता थापिसि कुमणी हाणि ।
अहे भव्य होसी तु प्रगढसि,
अनंत गुणानी खाणि ॥ २१ ॥

आहे जे जिन धरमनि आस्था,
तेह मनि न्याय विचार ।
आहे वैराग हेति ते चित,
जो सेवग बोलू सार ॥ २२ ॥

"इति आलोचना फाग समाप्त"

संयम
ही
जीवन में सफलता प्राप्त करने की कुञ्जी है ।

—स्वामी विवेकानन्द

मान्वेषय त्वं पर दूषणानि
गुणार्जना वद्धमतिः कदापि
एदद्धि लोके खल लक्षणांयद्
गुणान्विते वस्तुनि दोष दृष्टिः॥

अर्थः—हे भाई ! तू कभी भी दूसरों के दोष ढूंढ़ने की चेष्टा मत कर। ऐसा करने से ही गुणों की प्राप्ति हो सकती है। दुर्जन का लक्षण ही यह है कि जो इस संसार में गुण सहित वस्तुओं में भी केवल दोष ही दोष देखें।

—चैनसुखदास

जैन-दर्शन में अर्थाधिगम-चिन्तन

दरबारीलाल कोठिया

भारतीय दर्शन में अर्थाधिगम का साधनः प्रमाण

अन्तः और बाह्य पदार्थों के ज्ञापक साधनों पर प्रायः सभी भारतीय दर्शनों में विचार किया गया है और उनका ज्ञापक एक मात्र प्रमाण को स्वीकार किया है। 'प्रमाण धीना हि प्रमेय व्यवस्था' 'मानाधीना मेय स्थिति''प्रमेय सिद्धिः प्रमाणाद्धि' जैसे प्रतिपादनों द्वारा यही बतलाया गया है कि प्रमाण से प्रमेय की व्यवस्था, सिद्धि, अथवा ज्ञान होता है, उसके ज्ञान का और कोई उपाय नहीं है।

जैन दर्शन में अर्थाधिगम के साधनः प्रमाण और नयः

पर जैन-दर्शन में प्रमाण के अतिरिक्त नय को भी पदार्थो के अधिगम का साधन माना गया है। दर्शन के क्षेत्र में अधिगम के इन दो उपायों का निर्देश हमें प्रथमतः 'तत्वार्थ सूत्र' में मिलता है। तत्वार्थ सूत्रकार ने लिखा है कि तत्वार्थ का अधिगम दो तरह से होता है :—१, प्रमाण से और २, नय से। उनके परवर्ती सभी जैन विचारकों का[२] भी यही मत है। उन्ही के सम्बन्ध में यहा कुछ विचार किया जाता है।

प्रमाण

अन्य दर्शनों में जहां इन्द्रिय व्यापार, ज्ञातृ-व्यापार, कारक साकल्य, सन्निकर्ष आदि को प्रमाण माना गया है और उनसे ही अर्थ प्रमिति बतलाई गई है, वहां जैन-दर्शन में स्वार्थ-व्यवसायी ज्ञान को प्रमाण कहा गया है और उसके द्वारा अर्थ-परिच्छित्ति स्वीकार की गई है। इन्द्रिय व्यापार आदि को प्रमाण न मानने तथा ज्ञान को प्रमाण मानने में जैन चिन्तकों ने यह युक्ति दी है कि ज्ञान अर्थ प्रमिति में अव्यवहित-साक्षात् करण है और इन्द्रिय व्यापार आदि व्यवहित-परम्परा करण है तथा अव्यवहित करण को ही प्रमाजनक मानना युक्त है, व्यवहित को नहीं। उनकी दूसरी युक्ति यह है कि प्रमिति अर्थ-प्रकाश अथवा अज्ञान निवृत्ति-रूप है वह ज्ञान द्वारा ही सम्भव है, अज्ञान-रूप इन्द्रिय

---

१. 'प्रमाणनयैरधिगमः तत्वार्थ सू० १–६।

२. क 'तत्वज्ञानं प्रमाणं युगपत्सर्वभासनम्।
क्रमभावि च यज्जानं स्याद्वादनय–संस्कृनम्॥

समन्तभद्र, आप्तमी० का १०१।

[ख] 'प्रमाणनयाभ्यां हि विवेचिता जीवादयः सम्यगधिगम्यन्ते।
तद्व्यतिरेकेण जीवाद्यधिगमे प्रकारान्तरासम्भवान्।'

अभिनव धर्मभूषण, न्यायदी पृ० ४।

व्यापार आदि के द्वारा नहीं। प्रकाश द्वारा ही अन्धकार दूर होता है, घटपटादि द्वारा नहीं। तात्पर्य यह कि जैन-दर्शन में प्रमाण ज्ञान रूप है और वही अर्थ-परिच्छेदक है।

प्रमाण से दो प्रकार की परिच्छित्ति होती है : १ स्पष्ट (विशद) और २ अस्पष्ट (अविशद) जिस ज्ञान में इन्द्रिय, मन, प्रकाश आदि पर की अपेक्षा नहीं होती वह ज्ञान स्पष्ट होता है तथा असन्दिग्ध, अविपरीत एवं निर्णयात्मक होता हैं। जैन-दर्शन में ऐसे तीन ज्ञान स्वीकार किये गये हैं। वे हैं अवधि, मनः पर्यय और केवल ज्ञान। इन तीनों ज्ञानों को 'मुख्य' अथवा 'पारमार्थिक प्रत्यक्ष' कहा गया है[1]। पर जिन ज्ञानों में इन्द्रिय, मन, प्रकाश आदि पर की अपेक्षा रहती है वे ज्ञान अस्पष्ट होते हैं तथा जितने अंशों में वे व्यवहाराविसंवादी होते हैं उतने अंशों में वे असंदिग्ध, अविपरीत एवं निर्णयात्मक होते हैं, शेष अंशों में नहीं। ऐसे ज्ञान दो है :— १ मति और २ श्रुत। इन दोनों ज्ञानों में पर की अपेक्षा होने से उनकी 'परोक्ष' संज्ञा है। स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान, आगम जैसे परापेक्ष ज्ञानों का समावेश इसी परोक्ष (मति और श्रुत) में किया गया है। इस तरह प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप इन मति, श्रुत, अवधि, मनः पर्यय और केवल ज्ञान से अर्थाधिगम होता है। स्मरण रहे कि इन्द्रियादि की अपेक्षा से होने वाले चाक्षुप आदि ज्ञान प्रवृत्ति-निवृत्ति रूप लोक संव्यवहार के कारण होते है और उन्हें लोक में 'प्रत्यक्ष' कहा जाता है। अतः इन ज्ञानों को लोकव्यवहार की दृष्टि से जैन चिन्तकों ने 'सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष, भी कहा है वैसे वे हैं परोक्ष ही।

अर्थाधिगमका हेतु नय, और प्रमाण से उसका कथंचित् पार्थक्य :

अब प्रश्न है कि नय भी यदि अर्थाधिगम का साधन है तो वह ज्ञानरूप है या नहीं? यदि ज्ञान रूप है तो वह प्रमाण है या अप्रमाण? यदि प्रमाण है तो उसे प्रमाण से पृथक् अर्थाधिगमका उपाय बताने की क्या आवश्यकता थी? अन्य दर्शनों की भांति एकमात्र 'प्रमाण' को ही अधिगमोपाय बताना पर्याप्त था? यदि अप्रमाण है तो उससे यथार्थ अर्थाधिगम कैसे हो सकता है, अन्यथा संशयादि मिथ्या ज्ञानों से भी यथार्थ अर्थाधिगम होना चाहिए? और यदि नय ज्ञानरूप नहीं है तो उसे सन्निकर्षादि की तरह ज्ञापक स्वीकार नहीं किया जा सकता?

ये कतिपय प्रश्न हैं, जो नय को अर्थाधिगमोपाय माननेवाले जैन-दर्शन के सामने उठते हैं। जैन मनीषियों ने इन सभी प्रश्नों पर बड़े ऊहापोह के साथ विचार किया है।

इसमें सन्देह नहीं कि नयको अर्थाधिगमोपाय के रूप में अन्य दर्शनों में स्वीकार नहीं किया गया है और जैन-दर्शन में ही उसे अंगीकार किया गया है। वास्तव में 'नय' ज्ञान का एक अंश है और इसलिये वह न प्रमाण है और न अप्रमाण, किन्तु ज्ञानात्मक प्रमाण का एक देश है। जब ज्ञाता या वक्ता ज्ञान द्वारा या वचनों द्वारा पदार्थ में अंश कल्पना करके उसे ग्रहण करता है तो उसका वह ज्ञान अथवा वचन नय कहा जाता है। और जब पदार्थ में अंश-कल्पना किये विना समग्र रूप में ग्रहण करता है तब वह ज्ञान प्रमाण रूप से व्यव-

---

१. २. मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्, 'तत्प्रमाणे', 'आद्ये परोक्षम्', 'प्रत्यक्षमन्यत्'–तत्त्वार्थसू० १–९, १०, ११, १२।

३. 'मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्'।—तत्त्वार्थसू० १–१३।

१. प्रमाणैकदेशाश्च नयाः········।' पूज्यपाद, सर्वार्थ० १–३२,

हृत होता है। ऊपर हम देख चुके हैं कि मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल इन पांच ज्ञानों को प्रमाण कहा गया है और उन्हें प्रत्यक्ष तथा परोक्ष इन दो भेदों (वर्गों) में विभक्त किया गया है। जिन ज्ञानों में विषय अस्पष्ट एवं अपूर्ण झलकता है उन्हें परोक्ष तथा जिनमें विषय स्पष्ट एवं पूर्ण प्रतिविम्बित होता है उन्हें प्रत्यक्ष निरूपित किया गया है। मति और श्रुत इन दो ज्ञानों में विषय अस्पष्ट एवं अपूर्ण झलकता है, इसलिए उन्हें 'परोक्ष' कहा है तथा शेष तीन ज्ञानों (अवधि, मनःपर्यय और केवल) में विषय स्पष्ट एवं पूर्ण प्रतिफलित होता है ? अतः उन्हें 'प्रत्यक्ष' प्रतिपादन किया है।

प्रतिपत्ति-भेद से भी प्रमाण-भेद का निरूपण किया गया है। यह निरूपण हमें पूज्यपाद-देवनन्दि की सर्वार्थसिद्धि में उपलब्ध होता है। पूज्यपाद ने लिखा है[२] कि प्रमाण दो प्रकार का है:—१, स्वार्थ और २. परार्थ। श्रुतज्ञान को छोड़कर शेष चारों (मति, अवधि, मनःपर्यय और केवल) ज्ञान स्वार्थ-प्रमाण हैं, क्योंकि उनके द्वारा स्वार्थ (ज्ञाता के लिये) प्रतिपत्ति होती है, परार्थ (श्रोता या विनेय जनों के लिये) नहीं। परार्थ-प्रतिपत्ति के तो एकमात्र साधन वचन हैं और ये चारों ज्ञान वचनात्मक नहीं है। किन्तु श्रुत-प्रमाण स्वार्थ और परार्थ दोनों प्रकार का है। ज्ञानात्मक प्रमाणों को स्वार्थ-प्रमाण और वचनात्मक प्रमाण को परार्थ-प्रमाण कहा गया है। वस्तुतः श्रुत प्रमाण के द्वारा स्वार्थ-प्रतिपत्ति और परार्थ-प्रतिपत्ति दोनों होती हैं। ज्ञानात्मक श्रुत-प्रमाण द्वारा स्वार्थ-प्रतिपत्ति और वचनात्मक परार्थ-श्रुत-प्रमाण द्वारा परार्थ-प्रतिपत्ति होती है। ज्ञाता-वक्ता जब किसी वस्तु का दूसरे को ज्ञान कराने के लिए शब्दोच्चारण करता है तो वह अपने अभिप्रायानुसार उस वस्तु में अंश-कल्पना (घट, पट, काला, सफेद, छोटा, बड़ा आदि भेद) द्वारा उसका श्रोता या विनेयों को ज्ञान कराता है। ज्ञाता या वक्ता का यह शब्दोच्चारण उपचारतः वचनात्मक परार्थश्रुत-प्रमाण है और श्रोता को जो वक्ता के शब्दों से बोध होता है वह वास्तव में परार्थश्रुत-प्रमाण है तथा ज्ञाता या वक्ता का जो अभिप्राय रहता है और जो अंश ग्राही है वह ज्ञानात्मक स्वार्थ श्रुत प्रमाण दोनों नय हैं। यही कारण है कि जैन दर्शन-ग्रन्थों में ज्ञान-नय और वचन-नय के भेद से दो प्रकार के नयों का भी विवेचन मिलता है।[3]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि नय श्रुत प्रमाण का अंश है, वह मति, अवधि तथा मनः पर्यय ज्ञान का अंश नहीं है, क्योंकि मत्यादि द्वारा ज्ञान सीमित अर्थ के अंश में नय की प्रवृत्ति नहीं होती। नय तो पदार्थों के समस्त अंशों का एकैकशः निश्चायक है, जब कि मत्यादि तीनों ज्ञान उनको विषय नहीं करते। यद्यपि केवल ज्ञान उन समस्त

---

१. 'तज्जयति परं ज्योतिः समं समस्तैरनन्तपर्यायैः।
दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थ मालिका यत्र ॥

अमृतचन्द्र, पुरुषार्थ सि० का १।

२. तत्र प्रमाणं द्विविधं स्वार्थं परार्थं च। तत्र स्वार्थ प्रमाणं श्रुत वर्ज्जम्। श्रुतं पुनः स्वार्थं भवति परार्थं च। ज्ञानात्मकं स्वार्थं वचनात्मकं परार्थम्। तद्विकल्पा नयाः।

पूज्यपाद, सर्वार्थसि० १–६।

३. 'ततः परार्थाधिगमः प्रमाणनयैर्वचनात्मभिः कर्त्तव्यः स्वार्थ इव ज्ञानात्मभिः (प्रमाण-नयैः)। अन्यथा कार्त्स्न्येनैकदेशेन तत्त्वार्थाधिगमानुपपत्तेः।

विद्यानन्द, तत्त्वार्थश्लोक वा० पृ० १४२।

पदार्थों के समस्त अंशों में प्रवृत्त होता है और इसलिए नय को केवल ज्ञान का अंश माना जा सकता है किन्तु नय उन्हें परोक्ष (अस्पष्ट) रूप से जानता है और केवल ज्ञान प्रत्यक्ष (स्पष्ट) रूप से उनका साक्षात्कार करता है। अतः नय केवल मूलक भी नहीं है। वह सिर्फ अस्पष्टात्मक परोक्ष श्रुत प्रमाणमूलक ही है[1]।

वह न अज्ञान रूप हैं, न प्रमाण रूप है और न अप्रमाण रूप अपितु प्रमाण का एक देश है। इसी से उसे प्रमाण से पृथक् अधिगमोपाय निरूपित किया गया है। अंश प्रतिपत्ति का एक मात्र साधन वही है अंशी वस्तु का प्रमाण से जानकर अनन्तर किसी एक अंश अवस्था द्वारा पदार्थ का निश्चय करना 'नय' कहा गया है[2]। प्रमाण और नय के पारस्परिक अन्तर को स्पष्ट करते हुए जैन मनीषियों ने कहा है[3] कि प्रमाण समग्र को विषय करता है और नय असमग्र को।

प्रखर तार्किक विद्यानन्द ने तो उपर्युक्त प्रश्नों का युक्ति एवं उदाहरण द्वारा समाधान करके प्रमाण और नय के पार्थक्य का बड़े अच्छे ढंग से

---

१. 'मतेरवधितो वाऽपि मनः पर्ययतोऽपि वा।
ज्ञातस्यार्थस्य नांशेऽस्ति नयानां वर्तनं ननु ॥ २४ ॥
निःशेषः देशकालार्थं गोचरत्व विनिश्चयात।
तस्येति भाषितं कैश्चिद्युक्त मेव तथेष्टितः ॥ २५ ॥

न हि मत्यवधिमनः पर्यायाणामन्यतमेनापि प्रमाणेन गृहीतस्यार्थस्यांशे नयाः प्रवर्तन्ते, तेषां निःशेष देश कालार्थ गोचरत्वात्, मत्यादीनां तदगोचरत्वात्। न हि मनोमतिरप्य शेष विषया करणविषये तज्जातीये वा प्रवृत्तेः।

त्रिकालगोचरा शेष पदार्थांशेषु वृत्तितः।
केवलज्ञान मूलत्वमपि तेषां न युज्यते ॥ २६ ॥
परोक्षाकारतावृते स्पष्टत्वात् केवलस्य तु
श्रममूला नयाः सिद्धा वक्ष्यमाणाः प्रमाणवत् ॥ २७ ॥

यथैव हि श्रुतं प्रमाणमधिगमज सम्यग्दर्शन निबन्धन तत्वार्थाधिगमोपायभूतं मत्यवधिमनः पर्ययकेवलात्मकं च वक्ष्यमाण तथा श्रुतमूला नयाः सिद्धास्तेषां परोक्षाकारतया वृत्तेः। ततः (ननु ?) केवलमूला नयास्त्रिकाल गोचराशेष पदार्थांशेषु वर्तनादिति न युक्त मुत्पश्यामस्तेषां स्पष्टत्वप्रसंगात्।
विद्यानन्द, तत्त्वार्थश्लो १-६, पृ० १२४

२. (क) 'एवं हि उक्तम्-प्रगृह्य प्रमाणतः पा[illegible] र्थान्[illegible]णां नयः।' सर्वार्थ सि० १-६।
(ख) 'वस्तुन्यनेकान्तात्मन्यविरोधेन हि [illegible]

३. (क) सकलादेशः प्रमाणाधीनो
(ख) अर्थस्यानेक रूपस्य धीः
नयो धर्मान्तरापेक्षी दुर्न[illegible]

विवेचन किया है। वे जैन-दर्शन के मूर्धन्य ग्रन्थ अपने तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक में कहते है[1] कि नय न प्रमाण हैं और न अप्रमाण, अपितु प्रमाणैक देश हैं। ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार समुद्र से लाया गया घड़ा भर पानी न समुद्र है और न असमुद्र, समुद्रैक देश है। यदि उसे समुद्र मान लिया जाय तो शेष सारा पानी असमुद्र कहा जायगा और यदि उसे समुद्र कहा जाय तो वहुत समुद्रों की कल्पना करनी पड़ेगी। ऐसी स्थिति में किसी को 'समुद्र का ज्ञाता' नहीं कहा जायगा, अपितु उसे 'समुद्रों का ज्ञाता' माना जायगा।

अतः नयको प्रमाणैक देश मानकर उसे जैन-दर्शन में प्रमाण से पृथक अधिगमोपाय वताया गया हैं। वस्तुतः अल्पज्ञ ज्ञाता, वक्ता और श्रोता की दृष्टि से उसका पृथक् निरूपण अत्यावश्यक है। संसार के समस्त व्यवहार और वचनप्रवृत्ति नयों के आधार पर ही चलते हैं। अनन्तधर्मात्मक वस्तु के एक एक अंश को जानना या कह कर दूसरों को जनाना नय का काम है और उस पूरी वस्तु को जानना प्रमाण का कार्य है। यदि नय न हो तो विविध प्रश्न, उनके विविध समाधान, विविध वाद और उनका समन्वय आदि कोई भी नहीं वन सकता। स्वार्थ-प्रमाण गूंगा है। वह वोल नही सकता और न विविध वाद एवं प्रश्नों को सुलझा सकता है। वह शक्ति नय में ही हैं। अतः जैन दर्शन का नयवाद एक विशेष उपलब्धि है और भारतीय दर्शन को अनुपम देन है।

उपसंहार :

वस्तु अनेकधर्मात्मक है, इसका पूरा वोध हम इन्द्रियों या वचन द्वारा नहीं कर सकते। हां, नयों के द्वारा एक एक धर्म का वोध करते हुए अनगिनत धर्मों का ज्ञान कर सकते हैं। वस्तु को जव द्रव्य या पर्यायरूप, नित्य या अनित्य, एक या अनेक आदि कहते हैं तो उसके एक अंश का ही कथन या ग्रहण होता है। इस प्रकार का ग्रहण नय द्वारा ही संभव हैं, प्रमाण द्वारा नहीं। प्रसिद्ध जैन तार्किक सिद्धसेन ने नयवाद की आवश्यकता पर वल देते हुए लिखा है कि जितने वचनःमार्ग है उतने ही नय हैं। अतएव मूल में दो नय स्वीकार किये गये है :—१, द्रव्यार्थिक और २ पर्यायार्थिक; द्रव्य, सामान्य, अन्वय का ग्राहक द्रव्यार्थिक और पर्याय विशेष, व्यतिरेक का ग्राही पर्यायार्थिक नय है। द्रव्य और पर्याय ये सव मिलकर प्रमाण का विषय हैं। इस प्रकार विदित है कि प्रमाण और नय ये दो वस्तु अधिगम के साधन है और दोनो ही अपने-अपने क्षेत्र में वस्तु के ज्ञापक एवं व्यवस्थापक है।

---

१. (क) ना प्रमाणं प्रमाणं वा नयो ज्ञानात्मको मतः।
स्यात्प्रमाणैकदेशस्तु सर्वथाप्यविरोधतः॥ त० श्लो० पृ० १२३।

(ख) नायं वस्तु न चावस्तु वस्त्वंशः कथ्यनेयतः।
ना समुद्रः समुद्रो वा समुद्रांशो यथोच्यते॥
तन्मात्रस्य समुद्रत्वे शेषांशस्या समुद्रता।
समुद्रवहुत्वं वा स्यान्तच्चेत्क्वास्तु समुद्रवित्॥ त० श्लो० पृ० ११८।
का० हि० वि० वि; वाराणसी,
दि० १४-४-६५.

२. 'जावइया वयणपहा तावइया चेव होंति णयवाया' सन्मतितर्क गा०

३. 'नयो द्विविधः, द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च। पर्यायार्थिकनयेन भाव तत्त्वमधिगन्तव्यम्। इतरेषां त्रयाणां द्रव्यार्थिकनयेन, सामान्यात्मकत्वात्। द्रव्यमर्थः प्रयोजनमस्येत्यसो द्रव्यार्थिकः। पर्यायोऽर्थः प्रयोजनमस्येन्यसौ पर्यायार्थिकः तत्सर्वं समुदितं प्रमाणेनाधिगन्तव्यम्।' सर्वार्थ सि० १-३३।

ते पापिनो ये खलु दूषणानि
पश्यन्त्य भद्राशयतः परेषाम्
तेषां न भद्रं भवतीह लोके
परत्र वा क्षोद कराशयानाम् ।।

अर्थ:—वे मनुष्य जो बुरी नीयत से दूसरों के केवल दूषण ही देखते हैं उनके गुण नहीं देखते वे पापी हैं ऐसे लोगों का न इस लोक में और न परलोक में ही कोई कल्याण हो सकता है क्योंकि उनकी इच्छा सर्वदा दूसरों की त्रुटियां देखने में ही लगी रहती हैं।

—चैनसुखदास

दर्शन और विज्ञान में आत्मा

'उदय' नागोरी जैन बी० ए० सिद्धांत

"नहि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित" यहां मनुष्य से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है क्योंकि उसके पास विकसित मस्तिष्क है। एक चिर चिन्तनशील प्राणी होने के कारण मनुष्य आदि काल से ही कुछ न कुछ सोचता आया है। एक प्रश्न जो समय और स्थान की परिधि को लांघकर मनुष्य को उद्वेलित करता रहा है वह है 'आत्मा क्या है और इसका अस्तित्व क्या है'' ? इसी प्रकार मनुष्य सोचता है, "मैं कौन हूं, कहां से आया हूं, मुझे कहां जाना है ?" इन प्रश्नों के दो उत्तर हो सकते हैं प्रथम—तुम एक शाश्वत् इकाई कृत कर्मों के अनुसार नाना योनियों में भ्रमण करने वाले, चैतन्य गुणोपेत एक स्वतन्त्र सत्ता हो, निःश्रेयस को पाना तुम्हारा लक्ष्य है। और द्वितीय वर्तमान जीवन के पूर्व तुम न कुछ थे और न इसके बाद ही रहोगे। दोनों में रात दिन का अन्तर है परन्तु यह निश्चित है कि ये प्रश्न शाश्वत हैं।

विज्ञान में भी "किं तत्वं" की खोज करते करते असंख्य आविष्कार हुए हैं। स्पेन्सर ने आत्मा को 'अज्ञेय' माना, कान्ट ने 'अज्ञात'। और अन्य ने 'अन्धकार ग्रस्त कन्दरा'। दर्शन और विज्ञान का चरम लक्ष्य एक ही है क्योंकि दोनों ही सत्य तक पहुंचने के उपक्रम हैं। फिर भी दोनों में अन्तर स्पष्ट है। दर्शन का सत्य चिंतन प्राप्त सत्य है जो स्थूल रूप में प्राप्त नहीं होता जबकि विज्ञान का सत्य प्रयोग-प्राप्त। दोनों विपरीत दिशाओं के पथिक होते हुए भी एक ही ओर बढ़ते हैं। नए वैज्ञानिक उन्मेषों से दोनों के बीच की खाई पटती जा रही है।

पाश्चात्य दर्शन में अहम् [Self] को आत्मा का समानार्थक माना है। अमरिकी दार्शनिक पाल वेस्स के अनुसार "किसी का अहम् वह बोध है जिससे वह स्वयं को समझता है। यह अपरिवर्तनीय है। शरीर बदलता है, विकसित होता है और अन्त में एक दिन नष्ट हो जाता है परन्तु मृत्यु पर्यन्त वह अपने को 'स्वयं' ही सोचता है।" वह यह भी मानता है कि मनुष्य की आत्मा ही उसे जीवित रखती है और यह अनित्य है।[1]

अरस्तू, पाईथागोरस और लाक आत्मा का अस्तित्व जन्म से पूर्व ही स्वीकार करते हैं। डाक्टर वैलेन्ड लिखते है—

"कुछ मूल तत्व मस्तिष्क की शक्तियों की उत्पत्ति में सहायक होते है। शायद यह मूल तत्व ही आत्मा है।"[2]

१६ वीं शताब्दी के चिन्तक, दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक विलियम जेम्स लिखते हैं—'यदि मुझे पूछा जाय कि आत्मा क्या है तो मैं तत्परता से जवाब दूंगा—"आत्मा जीवन का अस्तित्व है।"[3]

1. Modes of being p. 47-52.
2. Elements of intellectual philosophy.
3. Principles of psychology.

आत्मा का शरीर में क्या स्थान है इसकी भी कई मान्यताएं हैं। कोई इसे सिर में, कोई हृदय में और कोई आंखों में मानते हैं। परन्तु आत्मा का शरीर के किसी भी विशेष अंग से संबंध नहीं है। यह सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है। मनुष्य के जन्म के सभय से लेकर उसके पूर्ण विकसित होने तक यह उसके शरीर में व्याप्त रहता है और मृत्यु के समय पुन: बीजरूप होकर पुर्नजन्म के लिए तत्पर रहता है।

मन मनुष्य को भरमाता है और आत्मा मन रूपी घोडे की लगाम खींचकर उसे नियन्त्रित करता है। प्राय: मनुष्य मन के वशीभूत होकर दुःष्कार्यों में लीन रहता है और आत्मा को दबा देता है आत्मा हर कुकर्म में प्रवृत होने के समय हमें सचेत करता है परन्तु हम इस पर ध्यान न देकर मन के दास हो जाते हैं। आत्मा वास्तव में मन से पृथक् है और जड़ से भिन्न तत्व है।

आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व सात प्रमाणों से जाना जा सकता है:--१. **स्वसंवेद साधक प्रमाण**:--देहधारी न्यूनाधिक रूप में अज्ञान के आवरण में घिरे हुए हैं और स्वयं के अस्तित्व में भी सन्देह करते हैं। परन्तु स्थिर वुद्धि के समय ही "मैं हूं" की स्फुरणा होती है--

"सर्वो ह्यात्मा अस्तित्वं प्रत्येति, न नाहमस्मीति"

२. **बाधक प्रमाण का अभाव**—मन, इन्द्रियां और सूक्ष्मदर्शक यन्त्र आत्मा का निषेध नहीं कर सकते। इन्द्रियां भौतिक और सीमित ज्ञान रखती हैं। इन्द्रियां स्थूल, निकटवर्ती और नियत विषयों को बाह्य रूप में ही जान सकती हैं। मन इन्द्रियों से अधिक सामर्थ्यवान होने पर भी अपने चंचलता के कारण इन्द्रियों का दास होता है। मन में राजस और तामस वृत्तियां उत्पन्न होती हैं सात्विक नहीं। स्पष्ट है कि आत्मा इनसे भिन्न कुछ विशेष शक्ति है जो हमें संचालित कर रही है। जैसा कि कहा गया है:--

"इन्द्रियाणाँ हि चरतां यन्मनो अनुविधीयते।
तदस्य प्रति प्रज्ञां वायुर्नावभिवाम्भसि।"[1]

३. **निषेध से निषेध करनेवाले की सिद्धि**-जो आत्मा के अस्तित्व को अस्वीकार करते हैं उन्हें भी निषेध करने वाला आत्मा है जैसा कि शंकराचार्य ने कहा है—

"य एव हि निराकर्ता तदेव ही तस्य स्वरूपम्"

४. **तर्क**:--प्राय: सभी विशेषताओं के विपरीत मूलक शब्द होते है जैसे अन्धकार--प्रकाश, मृत्यु-अमरता, ज्ञान-अज्ञान- सुख-दुःख। अतः जड़ का विपरीत चेतन भी है ही। जड़ और चेतन दो स्वतन्त्र तत्व है हमारे शरीर से चेतन का निष्क्रमण होने पर वह जड़ हो जाता है क्योंकि जीवन की सत्ता ही चेतन है।

५, **शास्त्र**--प्राचीन शास्त्रों और महापुरुषों के प्रमाणों से सिद्ध है कि आत्मा का अस्तित्व है।

६. **वैज्ञानिक**--वैज्ञानिकों ने भौतिक तत्व से परे आत्म-तत्व पर भी अपनी दृष्टि डाली है। सर आँलिवा लॉज और लार्ड केलविन के नाम विशेष उल्लेखनीय है। दोनों ने समर्थन किया है कि चेतन जड़ से पृथक् है।

७. **पुनर्जन्म**—अपने संचित कर्म और संस्कार से हमें पुनर्जन्म में फल मिलता है। कट्टर निरीश्वर वादी जर्मन विद्वान् नितशे भी पुनर्जन्म को मानता है।

---

१. गीता अ. २, श्लोक ६७.

उपरोक्त विवेचन के पश्चात् अब हम यह देखते हैं कि भारतीय दर्शन, पाश्चात्य दर्शन और विज्ञान में आत्मा विषयक क्या मान्यताएं हैं।

भारतीय दर्शन

वैदिक परम्परा में आत्मा—

कठोपनिषद् में नचिकेता को यमराज द्वारा आत्मज्ञान का बोध कराया गया। आत्म विद्या और समग्र योग विधि पाकर उसने ब्रह्म का अनुभव किया और अमरता प्राप्त की।[1] साथ ही यमराज ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि आत्मा शरीर रूपी रथ का स्वामी है, बुद्धि सारथि है और मन लगाम है। इससे भी सिद्ध है कि आत्मा पृथक् तत्व है।

"आत्मानम् रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धि तु सारथि विद्धि मनः प्रगहमेव च ॥"[2]

श्वेताश्वरोपनिषद् सूत्र में वर्णन किया गया है कि आत्मा न तो स्त्री है न पुरुष और न नपुंसक ही। यह शरीर से संबंधित है और उसमें मिश्रित है—

'नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः।
यद् यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यत।"

आत्मा के स्थान के विषय में इसे 'अविरोध-श्चन्दनंवत्' बताया गया है अर्थात् यह चन्दनवत शरीर में यत्र तत्र सर्वत्र व्याप्त है।

अद्वैत-वेदांत के अनुसार आत्मा एक है, सच्चिदानंद है, नित्य और स्व-प्रकाश चैतन्य है। यह न तो ज्ञाता है न ज्ञेय और न अहम् ही। विशिष्टाद्वैत मतानुसार आत्मा केवल ज्ञान नहीं है बल्कि एक ज्ञाता है जो अहम् कहा जाता है

"ज्ञाता अहमर्थ एवात्मा।"

मनुस्मृति—

मनुस्मृति में भी आत्मा का वर्णन है। इसमें बताया गया कि सब ज्ञानों में श्रेष्ठतम आत्म-ज्ञान है, वही सब विद्याओं में अग्रणी विद्या है जिससे मनुष्य को अमृत [मोक्ष] मिलता है।

"सर्वेषामपि चैतेषा, मात्मज्ञानं परं स्मृतम्।
तद्ध्यग्र्यं सर्व विद्यानां, प्राप्यते ह्यमृतं ततः॥[3]

भागवद् गीता—

भगवान् कृष्ण ने भागवद्गीता में आत्मा के स्वरूप का वर्णन किया है और बताया है कि जिस प्रकार हम जीर्ण वस्त्रों को त्यागकर नवीन वस्त्र धारण करते हैं उसी प्रकार आत्मा नवीन शरीर धारण करती है।

"वासांसि जीर्णानि यथा विहाय,
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्-
न्यानि संयाति नवानि देही॥[4]

और आगे यह भी कहा गया है कि आत्मा को न तो कोई शस्त्र छेद सकता है न अग्नि जला सकती है और न ही हवा सुखा सकती है।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥[5]

---

१. कठोपनिषद् ६-१८
२. वही ३-३.
३. मनुस्मृति अ. १२.
४. भ. गीता अ, २ श्लोक २२
५. भ. गीता अ. २ श्लोक २३.

चार्वाक दर्शन—

चार्वाक् के अनुसार आत्मा शरीर से भिन्न अभौतिक सत्ता नहीं है अर्थात् शरीर चैतन्य रहित या आत्मा रहित नहीं है क्योंकि जहां एक जगह निषेध है उसका अस्तित्व अवश्य है।

"यन्निविद्यते तत् सामान्येन विद्यते एव।"[1]

चार्वाक मानते हैं कि "चैतन्य विशिष्टो देह एव आत्मा" अर्थात् चेतना शरीर [जो जड़ तत्वों से बना है] में है। परन्तु यह जड़वादी मत है इसे ठीक नहीं माना जा सकता।

सांख्य दर्शन—

सांख्य मतानुसार आत्मा स्वयंसिद्ध, अखंड, नित्य और सर्वव्यापी है। आत्मा ज्ञान नहीं सदैव ज्ञाता है और कभी सांसारिक विषय नहीं बन सकता।

योग—

जब चित्त किसी वृत्ति में परिणित हो जाता है तब उस पर आत्माका प्रकाश पड़ता है और वह आत्मसात हो जाता है। जन्म मरण आदि तो शारीरिक विकार है आत्मा का इनसे कोई संबंध नहीं। आत्मा अजन्मा और अमर है। इसी प्रकार ध्यान, कल्पना, स्मृति, विस्मृति मन की प्रवृत्तियाँ हैं। आत्मा इन सभी विकारों से परे है।

मीमांसा—

आत्मा नित्य और अविनाशी द्रव्य है जो वास्तविक जगत में वास्तविक शरीर के साथ संयुक्त रहता है आत्मा मृत्यूपरान्त कर्मों का फल भोगता है। मीमांसा के अनुसार प्रत्येक जीव में पृथकात्मा है और चैतन्य आत्मा का वास्तविक गुण नहीं वरन् एक औपाधिक गुण है जो अवस्था विशेष में उत्पन्न होता है। सुषुप्तावस्था और मोक्षावस्था में आत्मा चैतन्य रहित हो जाता है।

न्याय—

जब तक आत्मा शरीर ग्रस्त रहता है तब तक इसके लिए दुःखों का पूर्ण विनाश सम्भव नहीं है। शरीर मुक्त होने पर आत्मा के दुःखों और सुखों का अन्त होकर वह अनुभूति रहित हो जाता है अर्थात्।

शरीर + आत्मा = सुख दुःख।
शरीर — आत्मा = अचेतन, मुक्त।

अचेतन की चरमावस्था ही अभयम्, अजरम् और अमृत्युपदम् कहलाती है।

आत्मा शरीर, इन्द्रिय, मन एवं विज्ञान प्रवाह से भिन्न है। चैतन्य के लिए आत्मा आश्रय द्रव्य है। आत्मा ज्ञान नहीं वरन् ज्ञाता है जो अहंकार का आश्रय तथा भोक्ता भी है। जैसे कहा गया है कि:—

"चैतन्य आत्मा का स्वरूप नहीं है। इसमें चेतना का संचार तभी होता है जब इसका मन के साथ, मन का इन्द्रियों के साथ और इन्द्रियों का बाह्य पदार्थों के साथ सम्पर्क होता है। शरीर मुक्त होने पर इसमें ज्ञान का अभाव रहता है।[2]

किन्तु नव्य नैयायिक मानते हैं कि मानस प्रत्यक्ष के द्वारा आत्मा का साक्षात् ज्ञान होता है। जैसे 'मै हूं' प्रतिध्वनित करने पर मन और आत्मा का योग है। बुद्धि चलित कार्यों का कारण यह अचेतन शरीर नहीं हो सकता। उनके लिए आत्मा की आवश्यकता है।[3]

---

१. षड दर्शन समुच्चय पृष्ठ ४८–४९ –गुणरत्न
२. न्यायसूत्र और भाष्य ३. १, ४.
३. तर्कभाषा पृ. ६, तर्क कौमुदी पृ. ८

वैशेषिक दर्शन—

वैशेषिक मत वस्तुवादी है। इसके अनुसार आत्मा एक ऐसा द्रव्य है जिसमें बुद्धि या ज्ञान, सुख-दुःख, रागद्वेष, इच्छा वृत्ति या प्रयत्न आदि गुण के रूप में वर्तमान रहते हैं। ये गुण जड़-द्रव्यों से भिन्न होते है। आत्मा नित्य और सर्वव्यापी है। यह चैतन्य का आधार है। आत्मा की न उत्पत्ति है और न यह नष्ट ही होती है। यह विभु है।

आत्मा दो प्रकार की होती है १. जीवात्मा जो सबके शरीरों में भिन्न-भिन्न आत्मा है क्योंकि उनके अनुभव एक दूसरे से पृथक् हैं। इसका ज्ञान मानस प्रत्यक्ष से होता है। २. परमात्मा—यह एक है और जगत्कर्ता है।

बौद्ध दर्शन—

यद्यपि बौद्ध दर्शन में शून्यवाद पर जोर दिया गया है फिर भी पुण्य, पाप, पुनर्जन्म और मुक्ति को माना गया है। परिवर्तनशील दृष्ट धर्मों के अतिरिक्त किसी भी अदृष्ट स्थायी द्रव्य को नहीं मानने से आत्मा को भी नहीं मानते। आत्मा पुद्गल, जीव, सत्ता की समानार्थक है। बौद्ध मतानुसार जीवन विभिन्न क्रमबद्ध और अव्यवहित अवस्थाओं का एक प्रवाह है और आत्मा विज्ञानों का प्रवाह है। लोक व्यवहार के लिए आत्मा की सत्ता है जो रूप, विज्ञान, वेदना, संज्ञा, संस्कार पंच स्कंधों का संघात मात्र है जो अव्यक्त है। इनके अतिरिक्त आत्मा कोई परमार्थ भूत पदार्थ नहीं है।

कर्मफल में विश्वास रखने के कारण भगवान बुद्ध ने धम्मपद में आत्मा को शुद्ध करने और किसी प्रकार का पाप न करने की आज्ञा दी है। यह भी बताया गया है कि वर्तमान जीवन की अन्तिम अवस्था से भविष्य की प्रथम अवस्था की उत्पति होती है। आत्मा को नित्य मानने से इस पर अनुराग आसक्ति बढ़ती है जो दुःख का कारण है।

जैन-दर्शन—

दर्शन-क्षेत्र में जैन-दर्शन का विशेष महत्व है। इसमें जीव अजीव का सिद्धान्त बहुत महत्वपूर्ण है। जैन-दर्शन वैज्ञानिक दर्शन है। इसके अनुसार चेतन द्रव्य को जीव या आत्मा कहते हैं। चैतन्य ही प्रत्येक जीव का स्वरूप है।

"चेतना लक्षणो जीवः"[1]

आत्मा को सूर्य से उपमा दी गई है। आत्मा के साथ ही जीव है अन्यथा मृतक है। बन्धनयुक्त होने पर आत्मा की शक्ति परिमित हो जाती है। आत्मा जीव है और जीव का अस्तित्व जीव शब्द से ही सिद्ध है। आत्मा शरीर से भिन्न है और सर्वत्र व्याप्त है। इसका अर्थ यह नहीं कि यह जड़ द्रव्यों की तरह विस्तार करता है परन्तु इसमें शरीर के भिन्न अङ्गों के अनुभव वर्तमान है। आत्मा आलोक की तरह शरीर के किसी स्थान में चैतन्य द्वारा व्याप्त रहता है। यह शरीर का परिचालक है और इन्द्रियां साधन हैं। शरीर और चैतन्य में कार्य-कारण का सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता। शरीर के साथ चैतन्य का सहचर्य नित्य नहीं होता जैसे निद्रा और मूर्च्छा के समय चैतन्य अपना कार्य करता रहता है।

जिसे बुद्ध ने अव्यक्त की संज्ञा देकर छोड़ दिया उसे भगवान महावीर ने सरल शब्दों में व्यक्त

---

१. षड्दर्शन समुच्चय—पृ. ४७

चार्वाक दर्शन—

चार्वाक् के अनुसार आत्मा शरीर से भिन्न अभौतिक सत्ता नहीं है अर्थात् शरीर चैतन्य रहित या आत्मा रहित नहीं है क्योंकि जहां एक जगह निषेध है उसका अस्तित्व अवश्य है।

"यन्निविद्यते तत् सामान्येन विद्यते एव।"[1]

चार्वाक मानते हैं कि "चैतन्य विशिष्टो देह एव आत्मा" अर्थात् चेतना शरीर [जो जड़ तत्वों से बना है] में है। परन्तु यह जड़वादी मत है इसे ठीक नहीं माना जा सकता।

सांख्य दर्शन—

सांख्य मतानुसार आत्मा स्वयंसिद्ध, अखंड, नित्य और सर्वव्यापी है। आत्मा ज्ञान नहीं सदैव ज्ञाता है और कभी सांसारिक विषय नहीं बन सकता।

योग—

जब चित्त किसी वृति में परिणित हो जाता है तब उस पर आत्माका प्रकाश पड़ता है और वह आत्मसात हो जाता है। जन्म मरण आदि तो शारीरिक विकार है आत्मा का इनसे कोई संबंध नहीं। आत्मा अजन्मा और अमर है। इसी प्रकार ध्यान, कल्पना, स्मृति, विस्मृति मन की प्रवृत्तियाँ हैं।आत्मा इन सभी विकारों से परे है।

मीमांसा—

आत्मा नित्य और अविनाशी द्रव्य है जो वास्तविक जगत में वास्तविक शरीर के साथ संयुक्त रहता है आत्मा मृत्यूपरान्त कर्मों का फल भोगता है। मीमांसा के अनुसार प्रत्येक जीव में पृथकात्मा है और चैतन्य आत्मा का वा गुण नहीं वरन् एक औपाधिक गुण है जो अ विशेष में उत्पन्न होता है। सुषुप्तावस्था और स वस्था में आत्मा चैतन्य रहित हो जाता है।

न्याय—

जब तक आत्मा शरीर ग्रस्त रहता है तब इसके लिए दुःखों का पूर्ण विनाश सम्भव नहीं शरीर मुक्त होने पर आत्मा के दुःखों और सुखों अन्त होकर वह अनुभूति रहित हो जाता अर्थात्।

शरीर + आत्मा = सुख दुःख।
शरीर — आत्मा = अचेतन, मुक्त।

अचेतन की चरमावस्था ही अभयम्, अ और अमृत्युपदम् कहलाती है।

आत्मा शरीर, इन्द्रिय, मन एवं विज्ञान प्र से भिन्न है। चैतन्य के लिए आत्मा आश्रय द्रव्य आत्मा ज्ञान नहीं वरन् ज्ञाता है जो अहंकार आश्रय तथा भोक्ता भी है। जैसे कहा है कि:—

"चैतन्य आत्मा का स्वरूप नहीं है। चेतना का संचार तभी होता है जब इसका . साथ, मन का इन्द्रियों के साथ और इन्द्रियों बाह्य पदार्थों के साथ सम्पर्क होता है। शरीर . होने पर इसमें ज्ञान का अभाव रहता है।[2]

किन्तु नव्य नैयायिक मानते हैं कि म प्रत्यक्ष के द्वारा आत्मा का साक्षात् ज्ञान होता जैसे 'मैं हूं' प्रतिध्वनित करने पर मन और . का योग है। बुद्धि चलित कार्यों का कारण अचेतन शरीर नहीं हो सकता। उनके लिए अ की आवश्यकता है।[3]

---

१. षड दर्शन समुच्चय पृष्ठ ४८–४९ –गुणरत्न
२. न्यायसूत्र और भाष्य ३. १, ४.
३. तर्कभाषा पृ. ६, तर्क कौमुदी पृ. ८

वैशेषिक दर्शन—

वैशेषिक मत वस्तुवादी है। इसके अनुसार आत्मा एक ऐसा द्रव्य है जिसमें बुद्धि या ज्ञान, सुख-दुःख, रागद्वेष, इच्छा वृत्ति या प्रयत्न आदि गुण के रूप में वर्तमान रहते हैं। ये गुण जड़-द्रव्यों से भिन्न होते है। आत्मा नित्य और सर्वव्यापी है। यह चैतन्य का आधार है। आत्मा की न उत्पत्ति है और न यह नष्ट ही होती है। यह विभु है।

आत्मा दो प्रकार की होती है १. जीवात्मा जो सबके शरीरों में भिन्न-भिन्न आत्मा है क्योंकि उनके अनुभव एक दूसरे से पृथक् हैं। इसका ज्ञान मानस प्रत्यक्ष से होता है। २. परमात्मा—यह एक है और जगत्कर्ता है।

बौद्ध दर्शन—

यद्यपि बौद्ध दर्शन में शून्यवाद पर जोर दिया गया है फिर भी पुण्य, पाप, पुनर्जन्म और मुक्ति को माना गया है। परिवर्तनशील दृष्ट धर्मों के अतिरिक्त किसी भी अदृष्ट स्थायी द्रव्य को नहीं मानने से आत्मा को भी नहीं मानते। आत्मा पुद्-गल, जीव, सत्ता की समानार्थक है। बौद्ध मतानुसार जीवन विभिन्न क्रमबद्ध और अव्यवहित अवस्थाओं का एक प्रवाह है और आत्मा विज्ञानों का प्रवाह है। लोक व्यवहार के लिए आत्मा की सत्ता है जो रूप, विज्ञान, वेदना, संज्ञा, संस्कार पंच स्कंधों का संघात मात्र है जो अव्यक्त है। इनके अतिरिक्त आत्मा कोई परमार्थ भूत पदार्थ नहीं है।

कर्मफल में विश्वास रखने के कारण भगवान बुद्ध ने धम्मपद में आत्मा को शुद्ध करने और किसी प्रकार का पाप न करने की आज्ञा दी है। यह भी बताया गया है कि वर्तमान जीवन की अन्तिम अवस्था से भविष्य की प्रथम अवस्था की उत्पत्ति होती है। आत्मा को नित्य मानने से इस पर अनुराग आसक्ति बढ़ती है जो दुःख का कारण है।

जैन-दर्शन—

दर्शन-क्षेत्र में जैन-दर्शन का विशेष महत्व है। इसमें जीव अजीव का सिद्धान्त बहुत महत्वपूर्ण है। जैन-दर्शन वैज्ञानिक दर्शन है। इसके अनुसार चेतन द्रव्य को जीव या आत्मा कहते हैं। चैतन्य ही प्रत्येक जीव का स्वरूप है।

"चेतना लक्षणो जीवः"[1]

आत्मा को सूर्य से उपमा दी गई है। आत्मा के साथ ही जीव है अन्यथा मृतक है। बन्धनयुक्त होने पर आत्मा की शक्ति परिमित हो जाती है। आत्मा जीव है और जीव का अस्तित्व जीव शब्द से ही सिद्ध है। आत्मा शरीर से भिन्न है और सर्वत्र व्याप्त है। इसका अर्थ यह नहीं कि यह जड़ द्रव्यों की तरह विस्तार करता है परन्तु इसमें शरीर के भिन्न अङ्गों के अनुभव वर्तमान है। आत्मा आलोक की तरह शरीर के किसी स्थान में चैतन्य द्वारा व्याप्त रहता है। यह शरीर का परिचालक है और इन्द्रियां साधन हैं। शरीर और चैतन्य में कार्य-कारण का सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता। शरीर के साथ चैतन्य का सहचर्य नित्य नहीं होता जैसे निद्रा और मूर्च्छा के समय चैतन्य अपना कार्य करता रहता है।

जिसे बुद्ध ने अव्यक्त की संज्ञा देकर छोड़ दिया उसे भगवान महावीर ने सरल शब्दों में व्यक्त

---

१. षड् दर्शन समुच्चय—पृ. ४७

किया है। आत्मा को वैतरणी नदी और कामधेनु (अप्पा नई वेयरणी, अप्पा काम धेणू) बताते हुए महावीर कहते हैं—

"अप्पा कत्ता विकत्ता य सुहाण य दुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च सुपट्ठिय दुपट्ठिओ ॥"

अर्थात् आत्मा ही कर्ता और विकर्ता है, वही सुख और दुःख का भोक्ता है। आत्मा ही मित्र, अमित्र, सुप्रयुक्त और दुष्प्रयुक्त है। और भी—

"अप्पादंतो सुही होई अस्सि लोए परत्थय।"[२]

अर्थात् आत्मा का दमन करने वाला दोनों लोकों में सुखी होता है। आत्मा के लक्षण बताते हुए कहा गया है:—

"नाणं च दंसणं चेव चरित्तं च तवो तहा।
वीरियं उवओगो य एयं जीवस्स लक्खणं ॥"[१]

अर्थात् ज्ञान, दर्शन, चरित्र, तप, वीर्य और उपयोग आत्मा के लक्षण हैं।

चैतन्य आत्मा का ही गुण हो सकता है। पांचों इन्द्रियों जनित विषय की समष्टिरूप से अनुभूति करने वाला द्रव्य आत्मा है। आत्मा शाश्वत स्वतंत्र द्रव्य है और किसी अखण्ड सत्ता का अंश नहीं है। उपादान के अभाव में इसकी उत्पत्ति नहीं होती और इसका विनाश भी नहीं होता जैसा कि कहा गया है:—

"जीवो अणाइ अनिधणो,
अविणासी अक्खओ धुओ णिच्चं।"

अर्थात् जीव (आत्मा) अनादि, अनिधन, अविनाशी, अक्षय, ध्रुव और नित्य है। जीव की पर्याय बदलती रहती है। एक ही जीव नाना योनियें भटकता है या बचपन, तारुण्य, वार्द्धक्य की ... अपनाता है। संकोच, विकोच इसका स्वभाव इसके असंख्य प्रदेश होते हैं।

आत्मा का ध्येय जन्ममरणशील संसार पार पहुँचना है। यह संसार समुद्र है, शरीर और जीव नाविक हैं। इस संसार समुद्र को ... ही पार कर सकते हैं—

"सरीरमाहु नावुत्ति जीवो वुच्चइ नाविओ।
संसारो अण्णवो वुत्तो जं तरन्ति महेसिणो ॥"

कषाय की आंधी से कर्मरूपी धूल उड़ ... आत्मा की दीवारों पर चिपक जाती है। इस क... की चिपक जितनी मजबूत होती है उतनी ही उसे छुड़ाने में लगती है। कर्मों से मुक्त होने पर आत्मा सिद्ध होता है और ऐसी अवस्था में पहुँच... है जहां जन्म नहीं, मरण नहीं, भय नहीं, रोग न... शोक नहीं, दुःख नहीं, दारिद्र नहीं, कर्म नहीं, का... नहीं, मोह नहीं, माया नहीं। जैसा कि दशवैकालि... सूत्र में कहा गया है:—

जया कम्मं खवित्ताणं सिद्धिं गच्छइ नीरओ।
तया लोगमत्थयत्थो सिद्धो हवइ सासओ ॥[१]

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन-दर्शन आत्मा का स्पष्ट रूप मिलता है।

पाश्चात्य दर्शन—

पाश्चात्य दर्शन में भी आत्मा का ...स्तित्व स्वीकार किया गया है परन्तु भारतीय दर्शन से साम्य भी है और वैषम्य भी। पाश्चात्य जगत के आदि-दार्शनिक प्लेटो मानते थे कि संसार के समस्त

---

२. उत्तराध्ययन सूत्र १–१५.

१. दशवैकालिक सूत्र
अ. ४ गा. १६.

पदार्थ द्वन्द्वात्मक है अतः जीवन के पश्चात् मृत्यु और मृत्यु के पश्चात् जीवन अनिवार्य है। सुकरात और अरस्तू भी पुनर्जन्म में विश्वास करते थे।

रेने डेकार्ट ने सरल उदाहरण से इस विषय को स्पष्ट किया है। "मैं चिन्तन करता हूं" इसका अर्थ "मैं" हूँ और इसमें "मैं" या आत्मा की ध्वनि होती है। आत्मा और प्रकृति एक दूसरे पर क्रिया प्रतिक्रिया करते हैं।

स्पिनोजा यह मानते थे कि प्रत्येक द्रव्य में अनन्तगुण हैं और प्रत्येक गुण भी अनन्त है। हमारा ज्ञान दो गुणों तक ही सीमित है—चेतन और विस्तार। चेतना के असंख्य रूप हैं और हर रूप आत्मा है। विस्तार के भी असख्य रूप हैं। प्रत्येक रूप प्राकृत पदार्थ कहलाता है। ये दोनों गुण सदा एक साथ मिलते हैं। ये एक ही द्रव्य के दो पक्ष हैं; दो स्वतंत्र द्रव्यों के गुण नहीं। एक ही द्रव्य एक ओर से चेतन और दूसरी ओर से विस्तृत है।

प्रत्येक गुण व्यापक चेतना या व्यापक विस्तार का एक आकार है। जो पुरुष समस्त प्राणियों को आत्मा में और आत्मा को सर्वप्राणियों में देखता है वह किसी से घृणा नहीं कर सकता।

लाइबनित्ज़—ने बताया कि आत्मा शरीर से पृथक् कहीं विद्यमान नहीं। इसका एक ही अपवाद है और वह परमात्मा है।

जॉन लॉक—जॉन लॉक ने बताया कि आत्मा प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय है। "मैं चिन्तन करता हूँ मैं तर्क करता हूँ, मैं सुख दु ख का अनुभव करता हूँ।" से अपनी सत्ता का अनुभव होता है और ज्ञान होता है। इससे कह सकते हैं कि आत्मा ज्ञान का विषय है।

जार्ज बर्कले—बर्कले ने सारे विश्व की सत्ता को तीन भागों में विभक्त कर दिया। १—आत्मा और उनके बोध २—परमात्मा ३—बाह्य पदार्थ। उनके अनुसार आत्मा का तत्व चिंतन है। आत्मा कभी भी चिंतन या चेतना के बिना नहीं रह सकती। बर्कले ने लॉक की स्वप्न रहित निन्द्रा को मानने से अस्वीकार कर दिया।

डेकार्ट, लॉक और बर्कले ने आत्मा की सत्ता को स्वयंसिद्ध स्वीकार किया था अतः उनके अनुसार किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं थी। ह्यूम ने आत्मा को भी प्रकृति की तरह एक कल्पना मात्र माना। फ्रीखटे ने "मैं हूँ" से प्रकट किया कि 'मैं' ज्ञेय से भिन्न है। मैं और ज्ञेय एक दूसरे से ओतप्रोत हैं।

हीगेल—का आत्मा सम्बन्धी सिद्धान्त विशेष उल्लेखनीय है। हीगेल के अनुसार स्वाधीनता ही आत्मा का सार है। आत्मा का तत्व अपने आप में पर्याप्त होता है। आत्मा को अपने साथ ही सघर्ष करना पड़ता है। परन्तु इससे आगे हीगेल के सिद्धान्त में दार्शनिकता नहीं रह जाती क्योंकि उनके अनुसार उन्नति की यात्रा में आत्मा अन्त में राष्ट्र का रूप धारण कर लेती है।

आर्थर शॉपेन हावर के अनुसार जीवन बुरा है; इससे चिपटे रहने की इच्छा और भी बुरी है। मेधावी पुरुष में इच्छाएँ निर्बल होती हैं और मनन प्रबल।

नीत्शे मानते हैं कि आत्मा के लिए अनेक बोझ हैं। बलवान आत्मा ही बोझ उठाने की क्षमता रखती है। चेतना में सदा नूतनता प्रकट होती है। हमारी आत्मा हमें सदा ही नया बनाने में लगी हुई है।

अमरिकी दर्शन—

अमेरिकी दार्शनिक चार्ल्स सेंडर्स पीअर्स का मत सांख्य से साम्य रखता है। उनके अनुसार चेतन

किया है। आत्मा को वैतरणी नदी और कामधेनू (अप्पा नई वेइरणी, अप्पा काम धेणू) बताते हुए महावीर कहते हैं—

"अप्पा कत्ता विकत्ता य सुहाण य दुहाण य।
अप्पा मित्तममित्त च सुपट्ठि य दुपट्ठि यो॥"

अर्थात् आत्मा ही कर्ता और विकर्ता हैं, यही सुख और दुःख का भोक्ता है। आत्मा ही मित्र, अमित्र, सुप्रयुक्त और दुष्प्रयुक्त है। और भी—

"अप्पादंतो सुही होई असि लोए परत्थय।"[२]

अर्थात् आत्मा का दमन करने वाला दोनों लोकों में सुखी होता है। आत्मा के लक्षण बताते हुए कहा गया है:—

"नाणं च दंसणं चेव चरितं च तवो तहा।
वीरियं उवभोगो च एवं जीवस्स लक्खणं॥"[१]

अर्थात् ज्ञान, दर्शन, चरित्र, तप, वीर्य और उपभोग आत्मा के लक्षण हैं।

चैतन्य आत्मा का ही गुण हो सकता है। पांचों इन्द्रियां जनित विषय की समष्टिरूप से अनुभूति करने वाला द्रव्य आत्मा है। आत्मा शाश्वत स्वतंत्र द्रव्य है और किसी अखण्ड सत्ता का अंश नहीं है। उपादान के अभाव में इसकी उत्पत्ति नहीं होती और इसका विनाश भी नहीं होता जैसा कि कहा गया है:—

"जीवो अणाइ अनिधनो,
अविणासी अक्खओ धुओ णिच्चं।"

अर्थात् जीव (आत्मा) अनादि, अनिधन, अविनाशी, अक्षय, ध्रुव और नित्य है। जीव की पर्याय बदलती रहती है। एक ही जीव नाना योनियों में भटकता है या बचपन, तारुण्य, वार्द्धक्य की स्थितियां अपनाता है। संकोच, विकोच इसका स्वभाव है। इसके असंख्य प्रदेश होते हैं।

आत्मा का ध्येय जन्ममरणशील संसार के पार पहुँचना है। यह संसार समुद्र है, शरीर नाव और जीव नाविक हैं। इस संसार समुद्र को महर्षि ही पार कर सकते हैं—

"सरीरमाहु नावुति जीवो वच्चई नाविओ।
संसारो अण्णवो वुत्तो जं तरन्ति महेसिणो॥"

कषाय की आंधी से कर्मरूपी धूल उड़कर आत्मा की दीवारों पर चिपक जाती है। इन कर्मों की चिपक जितनी मजबूत होती है उतनी ही देर उसे छुड़ाने में लगती है। कर्मों से मुक्त होने पर ही आत्मा सिद्ध होता है और ऐसी अवस्था में पहुँचता है जहां जन्म नहीं, मरण नहीं, भय नहीं, रोग नहीं, शोक नहीं, दुःख नहीं, दारिद्र नहीं, कर्म नहीं, काया नहीं, मोह नहीं, माया नहीं। जैसा कि दशवें कालिक सूत्र में कहा गया है:—

जया कम्मं खविताणं सिद्धिं गच्छई नीरओ।
तया लोगमत्थयन्थो सिद्धों हवई सासओ॥[१]

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन-दर्शन में आत्मा का स्पष्ट रूप मिलता है।

पाश्चात्य दर्शन—

पाश्चात्य दर्शन में भी आत्मा का अस्तित्व स्वीकार किया गया है परन्तु भारतीय दर्शन से साम्य भी है और वैषम्य भी। पाश्चात्य जगत के आदि-दार्शनिक प्लेटो मानते थे कि संसार के समस्त

---

२. उत्तराध्ययन सूत्र १-१५.

१. दशवैकालिक सूत्र
 ४ गा. १६.

3. The philosophy of Spinora J. Fredrick.

4. Outlines of Jainism J. L. Jain.

5. The key of Knowledge C. R. Jain.

6. Jain Philosophy Dr. M. L. Mehta.

7. Jainism–H. Warren.

8. Modes of Being–Pal James.

9. The elements of Indian Logic B. C. Atrey.

10. Elements of Intellectual philosophy–Dr. waland.

11. Encyclopaedia of Religion and Ethics.

हिन्दी—

12. भारतीय दर्शन–दत्त और चौधरी

13. दर्शन और चिन्तन–पं० सुखलाल

14, आत्मा के अस्तित्व की समस्या–सुदर्शन पान्डे

15. कठोपनिषद् 16. श्वेताश्वरोपनिषद्

17. धर्म और विज्ञान–रामधारी सिंह दिनकर

18. विज्ञान और दर्शन–मुनि नगराज

19. पश्चिमी दर्शन-दिवान चन्द्र

20. आभास और सत्–बैडले

21. दशवें कालिक सूत्र

22. भगवती सूत्र

23. उत्तराध्ययन सूत्र

आत्मा में नियम के साथ अनिश्चितता का अच्छा अंश भी मौजूद है अर्थात् आत्मा पुरानी आदत त्यागकर नई बना सकती है।

विलियम जेम्स और जॉन ड्यूई के अनुसार जीवन का तत्व संघर्ष में है। संघर्ष से अनेकवाद का समर्थन होता है।

विज्ञान और आत्मा—

वैज्ञानिकों ने भी आत्मा के सम्बन्ध में अनुसंधान किए हैं परन्तु अभी तक किसी निश्चय निर्णय पर नहीं पहुँच पाए है। आत्मा उनके लिए पहेली बनी हुई है। सर्वप्रथम अभिनव विज्ञान के जनक बेकन ने दर्शन में पृथक् वैज्ञानिक परिभाषाएं दीं जिनसे कल्पना की सीमाएं विस्तृत हुईं। भौतिकवादी वैज्ञानिक प्रकृति में सर्वत्र गुणात्मक परिवर्तन देखते हैं और यह मानते हैं कि सभी पदार्थों की पर्याय बदलती रहती हैं। यह भी सिद्ध है कि कोई पदार्थ कभी भी नष्ट नहीं होता चाहे उसके रूप बदल जाय। अर्थात् आत्मा भी सदा रहती है परन्तु वह है क्या यह नहीं कहा जा सकता। कुछ वैज्ञानिकों ने तो स्वीकार कर लिया है कि विज्ञान अभी तक चरम सत्य तक नहीं पहुँच पाया है।[1]

सर ए. एस. एडिंगटन The Modern Review of Calcutta July 1936 में लिखते हैं—"कुछ अज्ञात [illegible] चीज हो रही है परन्तु क्या? यह अव्यक्त है। य[illegible] आत्मा और मस्तिष्क से सम्बन्धित है और इसे टुकड़[illegible] [illegible]या नहीं जा सकता।"

इसी [illegible] Sir Ol[illegible]iver Lodge लिखते हैं—The [illegible] of [illegible]an passes between d[illegible] and rebirth in this world as he passes through dreams in the night. अर्थात् मनुष्य जिस प्रकार स्वप्न लोक में भ्रमण करता है उसी प्रकार मनुष्य की आत्मा मृत्यु और पुनर्जन्म के बीच भ्रमण करती है।

उन्होंने यह भी स्वीकार किया कि वह विश्व भौतिक की अपेक्षा आध्यात्मिक अधिक है। "The universe is a more spiritual entity that we thought. The real fact is that we are in the midst of a Spiritual world which dominates the material."

इस प्रकार उपरोक्त तुलनात्मक अध्ययन से ज्ञात होता है कि आदि दार्शनिकों से लेकर आज तक के वैज्ञानिकों और दार्शनिकों ने आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार किया है। सभी ने यह माना है कि आत्मा शरीर से भिन्न द्रव्य है जो शाश्वत और स्वतन्त्र सत्ता है। आत्मा शरीर के दुःखों से प्रभावित नहीं होती। आत्मा की मुक्ति से ही जीव की मुक्ति होती है। वैज्ञानिकों द्वारा सतत् अनुसन्धान किए जा रहे हैं और समय आ सकता है जब इस विषय का स्पष्ट ज्ञान मालूम हो जायगा।

× × ×

सहायक ग्रन्थ सूची

English.

1. The philosophy of Kant
   K. J. Fredrick.
2. The philosophy of Hegel
   K. J. Fredrick.

[illegible] [illegible] —[illegible] yet in contact with ultimate reality"
[illegible] [illegible] —[illegible] rious universe page iii.
[illegible]

दृष्टिकोणों का दृष्टिकोण

कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'

दिल्ली गया था। नयी दिल्ली में एक विशाल प्रदर्शनी हो रही थी। मैं भी उसे देखने चला तो सवारी मिली तांगा। तांगे वाला एक पुराना खानदानी आदमी था, दिल्ली की ईंट-ईंट से परिचित। मुझे रास्ते की चीजों का हालचाल बताते तांगा हांक रहा था।

बातों-बातों में बोला, 'बाबूजी, घूमने का मजा इन कम्बख्त मोटरों, मोटर-रिक्शाओं और बसों ने खो दिया। लाख सवारियां हों, पर घूमने का मजा तांगे में है कि धीरे-धीरे चले जा रहे हैं, यह देखा, वह देखा। घर पहुँचे तो लगा कि दुनियां देख आए। अब मोटर में क्या है? जा रहे हैं दौड़े हुए कि जैसे बाढ़ में बहे जा रहे हों; न किसी बिल्डिंग की कारीगरी दिखायी दे, न साइनबोर्डों के नाम पढ़े जायें। अब भला कोई पूछे इन से कि अरे भाई, सैर के लिए निकले हो तो सैर की तरह सैर करो, कुछ लुत्फ लो। यह क्या कि जा रहे हो लुढ़के-पुढ़के, जैसे आंधी में पत्ते।"

तांगे वाले की भाषा तो लच्छेदार थी ही, कहने का ढंग भी रसीला था। सोचा—"यह आदमी तो विश्व की सवारी-परिषद में भारत का प्रतिनिधि होने लायक है।"

प्रदर्शिनी देखकर लौटा, तो मिली टैक्सी। सरदारजी ड्राइवर ही न थे, स्वयं मालिक भी थे—पुराने खानदानी मोटर वाले। मन में आया इनकी राय भी मालूम की जाय। जरा घुमाकर कहा "जाते समय तो सरदारजी, हम तांगे में गये थे। टैक्सी कोई मिली ही नहीं।"

बस बात चल पड़ी और सरदारजी जिस चौराहे पर आये वह यह था—"बाबूजी, यों बैठ जाओ चाहे तांगे में और चाहे डोली में, पर शाही सवारी तो मोटर ही है। आंधी आये या लू चले और चाहे बादल १०० बार अपनी ऐसी-तैसी खा लें, बस बैठे जा रहे हैं। जैसे मा की गोद हो कि न दलक न दचक। चले जाओ बैठे हुए, जैसे साहब का ड्राइंग रूम ही उड़ा जा रहा हो। यह बात और किस सवारी में मिल सकती है बाबूजी?"

मैंने सोचा: तांगे वाले की बात सुनी थी, मोटर वाले की भी सुनली। दोनों की बहस आमने-सामने हमारी पार्लमिण्ट में हो तो बहुत से गमसूदड़ सदस्य भौंचक देखें, पर प्रश्न तो यह है कि दोनों की भाषा पर नम्बर देने के लिए निर्णायक मुझे बना दिया जाये, तो मैं किसे प्रथम और किसे द्वितीय कहूँगा?

दिल्ली से घर आते समय रेल में एक भले यात्री का साथ रहा। बातों-बातों में तांगे मोटर का यह दृष्टिकोण-भेद उन्हें सुनाया, तो खूब हंसे और बोले, "दृष्टिकोण के सम्बन्ध में एक संस्मरण मेरा भी है। दिल्ली से अम्बाला जाते समय पिछली बार पैसेंजर गाड़ी में बैठना पड़ा, तो बहुत अखरा कि एक सौ कुछ मील के सफर में ८–९ घण्टे लग गये, पर अम्बाला से मैं अपने गांव गया, तो सुना

धर्मेण हन्यते व्याधिः
धर्मेण हन्यते ग्रहाः ॥
धर्मेण हन्यते शत्रुः
यतो धर्मस्ततो जयः ॥

येन विज्ञानेन सर्वमिदं जानाति तद्विजिज्ञासस्व ।

जिन के जानने से इस सम्पूर्ण जगत् को जान सको उस ही के जानने का प्रयत्न करो ।

—भृगुवल्ली

दृष्टिकोणों का दृष्टिकोण

कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'

दिल्ली गया था। नयी दिल्ली में एक विशाल प्रदर्शनी हो रही थी। मैं भी उसे देखने चला तो सवारी मिली तांगा। तांगे वाला एक पुराना खानदानी आदमी था, दिल्ली की ईंट-ईंट से परिचित। मुझे रास्ते की चीजों का हालचाल बताते तांगा हांक रहा था।

बातों-बातों में बोला, 'बाबूजी, घूमने का मजा इन कम्बख्त मोटरों, मोटर-रिक्शाओं और बसों ने खो दिया। लाख सवारियां हों, पर घूमने का मजा तांगे में है कि धीरे-धीरे चले जा रहे हैं, यह देखा, वह देखा। घर पहुँचे तो लगा कि दुनियां देख आए। अब मोटर में क्या है? जा रहे हैं दोड़े हुए कि जैसे बाढ़ में बहे जा रहे हों; न किसी बिल्डिंग की कारीगरी दिखायी दे, न साइनबोर्डों के नाम पढ़े जायें। अब भला कोई पूछे इन से कि अरे भाई, सैर के लिए निकले हो तो सैर की तरह सैर करो, कुछ लुत्फ लो। यह क्या कि जा रहे हो लुढ़के-पुढ़के, जैसे आंधी में पत्ते।"

तांगे वाले की भाषा तो लच्छेदार थी ही, कहने का ढंग भी रसीला था। सोचा—"यह आदमी तो विश्व की सवारी-परिषद में भारत का प्रतिनिधि होने लायक है।"

प्रदर्शिनी देखकर लौटा, तो मिली टैक्सी। सरदारजी ड्राइवर ही न थे, स्वयं मालिक भी थे—पुराने खानदानी मोटर वाले। मन में आया इनकी राय भी मालूम की जाय। जरा घुमाकर कहा "जाते समय तो सरदारजी, हम तांगे में गये थे। टैक्सी कोई मिली ही नहीं।"

बस बात चल पड़ी और सरदारजी जिस चौराहे पर आये वह यह था—"बाबूजी, यों बैठ जाओ चाहे तांगे में और चाहे डोली में, पर शाही सवारी तो मोटर ही है। आंधी आये या लू चले और चाहे बादल १०० बार अपनी ऐसी-तैसी खा लें, बस बैठे जा रहे हैं। जैसे मा की गोद हो कि न दलक न दचक। चले जाओ बैठे हुए, जैसे साहब का ड्राइंग रूम ही उड़ा जा रहा हो। यह बात और किस सवारी में मिल सकती है बाबूजी?"

मैंने सोचा: तांगे वाले की बात सुनी थी, मोटर वाले की भी सुनली। दोनों की बहस आमने-सामने हमारी पार्लमेण्ट में हो तो बहुत से गमसूदड़ सदस्य भौंचक देखें, पर प्रश्न तो यह है कि दोनों की भाषा पर नम्बर देने के लिए निर्णायक मुझे बना दिया जाये, तो मैं किसे प्रथम और किसे द्वितीय कहूँगा?

दिल्ली से घर आते समय रेल में एक भले यात्री का साथ रहा। बातों-बातों में तांगे मोटर का यह दृष्टिकोण-भेद उन्हें सुनाया, तो खू और बोले, "दृष्टिकोण के सम्बन्ध में एक सं मेरा भी है। दिल्ली से अम्बाला जाते समय बार पैसेंजर गाड़ी में बैठना पड़ा, तो बहुत कि एक सौ कुछ मील के सफर में ८-६ गये, पर अम्बाल[illegible] गव गया,

वैद्य : "आप लोगों के वार्तालाप के बीच में मैं बोल रहा हूं। मुझे क्षमा कर देना। महाराज अधिक बोलने की परिस्थिति में नहीं हैं। आशा है कि इस बात को आप लोग नहीं भूलेंगे।"

मारसिंह : चावुंडराय, सावधानी से आप सुन रहे हैं न, इसलिए अपने मन की बात को मैं शीघ्र ही कह देता हूं।"

चावुंडराय : "प्रभु ! फरमाइये।"

मारसिंह : "चावुंडराय, अब तक भाग्य हमारे पक्ष में था। पर आज वह विपक्ष में है। अन्यथा राष्ट्रकूट साम्राज्य में मध्याह्न में ही अंधकार नहीं आ जाता ! खैर, भाग्य को किसने जीता है ? इस समय हमारे विधाता प्रतिकूल है। अनुकूल होने तक उसकी प्रतीक्षा करनी होगी। तब तक राष्ट्रकूट उपवन में अवशिष्ट एकमात्र पुष्प इन्द्रदेव को आपकी रक्षा में सौंप देता हूं। आप इसकी रक्षा कीजिये। आज इन्द्रदेव के पास साम्राज्य नहीं; राजधानी नहीं; सिंहासन भी नहीं है। फिर भी आप इसे चक्रवर्ती की तरह देखें। इन्द्रदेव का किसी प्रकार का अपाय न आने पावे। जब तक आप रहेंगे तब तक गंग राज्य को कोई भय नहीं है। इस बात को मैं अच्छी तरह जानता हूँ। राष्ट्रकूट सिरा की रक्षा ही मेरी एक मात्र असीम चिन्ता है। चावुंडराय, खासकर मेरे लिये इतना अवश्य कर देना।"

चावुंडराय : प्रभु ! इसके लिए आप इतनी चिन्ता क्यों करते हैं ? आज्ञा दीजिये। आपकी आज्ञा के लिये मेरी तलवार ही नहीं, मस्तक भी तैयार है।"

मारसिंह : "ठीक है, तब मैं निश्चित हो गया।" चावुंडराय के हाथ को अपने ही हाथ में धारकर, अपने वामपार्श्व में बैठे हुए इन्द्रदेव की ओर घूमकर उसके हाथ को अपने हाथ में लेकर दोनों अर्थात् चावुंडराय और इन्द्रदेव के हाथों को मिलाकर, मारसिंह ने इस प्रकार कहा—

"इन्द्रदेव, आज से यही तुम्हारी तलवार, किला, सिंहासन और सर्वस्व है। अपने चक्रवर्ती को आदेश देने की शक्ति मुझ में नहीं; उससे बढ़ कर मेरी सहोदरी सोमिदेवी के पुत्र हो। इसीलिए में तुमको मामा के वात्सल्य से कह रहा हूं। कभी भी तुम इनके विरुद्ध नहीं चलना। यह तुमको चक्रवर्ती की ही तरह देखें। किन्तु तुम इनके साथ चक्रवर्ती का सा व्यवहार मत करना। कहो तुम इस प्रकार चलोगे ?"

इन्द्रदेव : "मामा ! आपकी बातको मैं कभी नहीं टालूंगा। आप जैसे कहेंगे वैसा ही चलूंगा।"

दुःख से रुद्ध कण्ठ द्वारा कही हुई इन्द्रदेव की बात सुनकर मारसिंह ने कहा—

"आप दोनों के आश्वासन के उपरांत मेरा कर्तव्य समाप्त हुआ। चावुंडराय, आप और आचार्य जी मिलकर मेरी एक अन्तिम आशा को पूर्ण कर देंगे ?"

अजितसेन—"वह क्या ?"

मेरे नेत्रों में देखने की शक्ति लुप्त होने के पूर्व ही, इन्द्रदेव को साम्राज्यपट्ट प्रदानकर पट्टबन्धोत्सव मनावें। राष्ट्रकूट चक्रवर्ती को प्रणाम कर मैं अपने प्राणों को विसर्जन कर दूंगा। यह मेरी पहली आशा है। दूसरी…………"

चावुंडराय: "दूसरी क्या ?"

मारसिंह : "वह तो आचार्यजी का काम है। वे मुझे कृपया समाधिमरण प्रदान करदें।"

मारसिंह की बात सुनकर चावुंडराय घबराकर—

"यह क्या प्रभु ! आप स्वयं मृत्यु को आमंत्रण दे रहे हैं ?"

मारसिंह :"चावुंडराय, आप जैनधर्म के रहस्य को जानकर भी मत घबराइए। प्रतीकार रहित उपसर्ग, दुर्भिक्ष, वृद्धत्व और व्याधि में आत्म-कल्याणार्थ अपने शरीर को निर्ममता पूर्वक त्यागने की आज्ञा देने वाले पूज्य आचार्यों के उपदेश को स्मरण कीजिए। राग-द्वेषादि विकारों को भले प्रकार कृशकर बाह्य वस्तुओं के त्यागपूर्वक शुभ परिणाम से अपने शरीर को त्याग करना ही सल्लेखना अथवा समाधिमरण है। इसमें आत्म-हत्या की शंका के लिए स्थान ही नहीं है। कषायों की तीव्रता से मन को संपूर्ण रूप से दूषित कर विष, शस्त्र आदि के द्वारा अकाल में मृत्यु को बुलाना आत्म हत्या है सल्लेखना में कषाय का भाव ही नहीं है। जब तक शरीर स्वस्थ है, तब तक उसे योग्य आहार-विहारादि द्वारा स्वस्थ रखकर उससे धार्मिक एवं तदविरूद्ध लौकिक कार्यों को लेना चाहिए। जब वह शरीर इन कार्यों के के लिए सर्वथा असमर्थ हो जाता है तब बिल्कुल मोह त्यागकर उसे धर्म की दृष्टि से तुरत त्याग देना चाहिए। यह ही विवेकियों का कर्तव्य है।"

अजितसेनः "ठीक है, महाराजा की बात यथार्थ है। जैन धर्म में सल्लेखना का महत्वपूर्ण स्थान है। इस धर्म में यह एक परमावश्यक अनुष्ठान है। इसके द्वारा जन्म सफल होता है सल्लेखना सिर्फ गृहस्थों के लिए ही नहीं, मुनियों के लिए भी अनिवार्य है। वस्तुतः स्वयं नष्ट होने वाले, मल मूत्रों आदि से भरे हुए इस नश्वर शरीर को धर्मध्यान पूर्वक शुभ परिणाम से त्याग देने को कोई बुरा नहीं कह सकता। प्रत्येक आस्तिक धर्म के अनुसार शरीर बार-बार मिल सकता है, पर धर्म नहीं।"

मारसिंह : "आचार्य महाराज! अब मैं अधिक नहीं बोल सकता। आप मुझे सल्लेखना-दीक्षा प्रदान कीजिए।"

अजितसेन : "महाराजा, राजा को भी युद्ध में हाथी, घोड़ा, रथ, सेना, पराक्रम तथा तलवार आदि जब तक क्रूर यम मुंह खोलकर नहीं आता तब तक ही काम देते हैं। यम कराल वेष में जब सामने आकर खड़ा होता है, तब किसी का भी प्रताप काम नहीं आता। विकराल यम के सामने आने पर सभी के कार्यों में शिथिलता स्वयं आजाती है। इसलिए काल के आगमन के पूर्व ही आत्महित को साधना ज्ञानियों का कर्तव्य है। पूर्वोपार्जित पाप-कर्मों के कारण राजा भी निरा दरिद्र बन जाता है। निरोगी दृढ़काय युवक भी शीघ्र रोग-ग्रस्त हो, मृत्यु का आलिंगन कर लेता है। और और बातों को जाने दीजिए। इस संसार में सारभूत समझे जाने वाले धन और जीवन भी क्षण भंगुर हैं। अतः गर्व करना विवेकी के लिए शोभा नहीं देता। यमराज के अधीन होते ही सब अभिमान तत्काल नष्ट हो जाता है। हे भव्य, विधिपूर्वक सल्लेखना स्वीकार करो।"

गंगनरेश मारसिंह विधिपूर्वक सल्लेखना स्वीकार कर, दृढ़ता से उसे पालन करके शुभ परिणाम से स्वर्गासीन हुआ। गंगराज्य से जैनधर्म का सम्बन्ध प्रारम्भ से ही घनिष्ट रहा। गंगवंश के अनेक शिलालेखों से प्रमाणित होता है कि आचार्य सिंहनन्दी ने इस राजवंश की स्थापना में अत्यधिक सहायता प्रदान की थी।

शिलालेखों के अतिरिक्त 'गोम्मटसार वृत्ति' के मान्य रचयिता अभयचन्द्र त्रैविद्यचक्रवर्ती ने भी अपनी बहुमूल्य कृति की उत्थानिका में भी इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया है।

गंगनरेश मारसिंह का प्रताप श्रवण बेल्गोल के लेख में नं० ३८,५९, में विस्तार से वर्णित है। नरेश ने अनेक बड़े-बड़े युद्धों में विजय पाकर, कई किलों को स्वाधीन कर अनेक जिनालय एवं

केवल एक की ही चर्चा यहां की जा रही है और प्रसंगवश सामान्यरूप में कुछ तुलनात्मक चर्चा भी आवश्यक है।

धर्म का सांस्कृतिक रूप

जैन धर्म लोकजीवन का नियमन करते हुए जब उसका नियंत्रण करता है, तब उसका विशुद्ध सांस्कृतिक रूप निखर जाता है। यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि जैनधर्म दार्शनिक सिद्धातों की इतनी अपेक्षा नहीं रखता, जितनी अपेक्षा उसको अपने उस सांस्कृतिक रूप की है, जो लोकजीवन के व्यवहार के माध्यम से प्रकट होता है। उसके इस सांस्कृतिक रूप का निखार मानव जीवन के युगों-युगों के प्रयोगात्मक परिष्कार का परिणाम है। परिष्कार की इस प्रक्रिया का सूत्रपात सृष्टि के प्रारम्भकाल में हुआ और भगवान महावीर तक वह प्रक्रिया निरन्तर व सतत चलती रही। प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव ने लोकव्यवहार की जो मर्यादा स्थिर की, उसमें परिवर्धन निरन्तर होते गए। इसीलिए तो उनके वाद से भगवान महावीर के समय तक कुल २४ तीर्थंकरों का अस्तित्व स्वीकार किया जाता है और सब लोकव्यवहार की मर्यादा का निरन्तर परिष्कार करते रहे हैं। भगवान ऋषभदेव ने मानव जीवन के नियमन और नियंत्रण के लिए साम्य भावना को विशेष महत्व दिया। साम्य भावना को ही गीता में आत्मौपम्य दृष्टि कहा गया है और गीता का समत्व योग भी साम्यभावना का ही समर्थक है। साम्यभावना के बिना मानव जीवन का व्यवहार निभ ही नहीं सकता। परन्तु साम्य भावना को सब कुछ मानकर उससे सन्तुष्ट हो सकना भी सम्भव न हो सका। इस साम्य भावना में से अहिंसा, सत्य, अस्त्येय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह आदि तत्वों का विकास क्रमशः हुआ और उनको विकसित करने का श्रेय है विभिन्न समयों में प्रकट होने वाले तीर्थंकरों को। ये सब भावनात्मक तत्व एक दूसरे के पूरक की हैं और उनकी पूर्णता से ही मानव जीवन के लोकव्यवहार का पूर्णता को प्राप्त होना सम्भव हो सका है। साम्यमूलक भावना को परिपूर्ण करने के लिए अहिंसा की आवश्यकता अनुभव की गई। अहिंसा भावना के लिए सत्य का आश्रय लेना आवश्यक हो गया। सत्य की प्रतिष्ठा के लिए अस्तेय का सहारा आवश्यक हो गया। अस्तेय भावना की पूर्णता के लिए ब्रह्मचर्य के रूप में इन्द्रिय निग्रह आवश्यक समझा गया और इन्द्रिय-निग्रह अथवा ब्रह्मचय के लिए ही अपरिग्रह का पालन अनिवार्य बन गया। इस प्रकार ये पांचों व्रत मानव जीवन के लोक व्यवहार की पूर्णता के लिए आधारभूत तत्व बन गए और उसकी परि-पूर्णता के लिए उनको महाव्रतों का नाम दिया गया। महाव्रतों का पालन करने वाले यति मुनि अथवा साधु के जीवन को मानव जीवन की परि-पूर्णता के लिए उनको महाव्रतों का नाम दिया गया। महाव्रतों का पालन करने वाले यति मुनि अथवा साधु के जीवन को मानव जीवन की पूर्णता का यहां तक प्रतीक माना गया कि उसको 'भग-वान' मानकर पूजा जाने लगा। यह पूजा वस्तुतः आत्म साधना की पूर्णता की ही पूजा है। मानव जीवन के व्यवहार में इन तत्वों का समावेश जिस प्रक्रिया से हुआ, उसी से उस धर्म का परिष्कार अथवा निखार हुआ, जिसको जैन धर्म कहा जाता है। इस प्रकार जैनधर्म को ऐसा धर्म मानना चाहिए, जो सदा ही परिवर्धनशील होने के कारण विकासोन्मुख रहा है।

सिद्धान्त और जीवन व्यवहार

इसीलिए [हमारी मान्यता यह है कि जैनधर्म अपने विशुद्ध रूप में संस्कृति प्रधान धर्म है। उसको उन धर्मों की तरह सिद्धान्त-प्रधान नहीं कहना चाहिए, जो लोक-व्यवहार से उदासीन रहकर केवल सिद्धान्तों की दार्शनिक मीमांसा की भूल

भुलैया में भटकते रहते है और साधारण बुद्धि मानव के लिए गूढ़ पहेली बनकर रह जाते हैं। इसी कारण जैनधर्म मुख्यतया न तो शास्त्रपरक है, न व्यक्तिपरक है, न चमत्कारपरक है और न कालपरक है। अन्य धर्मों की स्थिति ऐसी नहीं है। वे अधिकतर शास्त्रपरक हैं। उदाहरण के लिए वैदिक धर्म के मूल आधार वेद हैं। इसी प्रकार ईसाई धर्म का मूल आधार बाइबिल, इस्लाम का कुरानशरीफ और पारसी धर्म का जिन्दावस्था है। जैनधर्म किसी एक शास्त्र अथवा आगम तक सीमित नहीं है। व्यक्तिपरक से अभिप्राय यह है कि अन्य अधिकतर धर्म व्यक्ति विशेष की वाणी से आदेश या उपदेश के रूप में प्रकट हुए हैं। उदाहरण के लिए बौद्ध धर्म का प्रादुर्भाव भगवान बुद्ध से, ईसाई धर्म का ईसामसीह से, इस्लाम का हजरत मुहम्मद साहब से और पारसी धर्म का जरदुश्त से हुआ। जैनधर्म की स्थिति यह नहीं है। वह किसी एक ही व्यक्ति विशेष की वाणी से प्रकट हुआ आदेश या उपदेश नहीं है। चमत्कारपरक से तात्पर्य यह है कि अनेक धर्म अपने अनुयायियों को चमत्कारों के चक्र में उलझाये रहते हैं। उनमें सिद्ध पुरुषों की चमत्कारपूर्ण मोहमाया का जंजाल कुछ ऐसा फैला हुआ है कि साधारण बुद्धि मानव उसमें उलझ जाता है और जादू-टोने तथा तंत्र-मंत्र आदि में ही धर्म की इतिश्री मान बैठता है। जैनधर्म में ऐसे जंजाल का कोई स्थान नहीं है। वह एकमात्र लोक-व्यवहार पर निर्भर है। वैदिक धर्म की परिणति जब ब्राह्मण धर्म के रूप में हुई, तब वह उस कर्म काण्ड पर निर्भर रह गया, जिसका रूप अन्त में चमत्कारपरक ही बन गया। पुत्रैषणा वित्तैषणा तथा लोकैषणा आदि सब की पूर्ति के लिए यज्ञपरक कर्म-काण्ड का सहारा लिया जाने लगा। ब्राह्मणों के विविध प्रकार के यज्ञानुष्ठान में उन दैवी शक्तियों की कल्पना की गई, जिसके कारण उनको मानव की समस्त आकांक्षाओं की पूर्ति का साधन मान लिया गया। इसी कारण गीता में श्रीकृष्ण ने भोगैश्वर्यप्रधान कर्मकाण्ड का भयानक रूप में निषेध किया और उन्होंने वेदों को उस कर्मकाण्ड का मूल मान कर उनका प्रतिवाद करने में भी तनिक सा संकोच नहीं किया। जैन धर्म में ऐसे कर्मकाण्ड का कोई स्थान नहीं है। कालपरक से अभिप्राय यह है कि अधिकतर धर्मों का प्रादुर्भाव कालविशेष तथा परिस्थिति विशेष में हुआ है। उनका महत्व भी काल विशेष तथा परिस्थिति विशेष तक ही सीमित है। वे कालातीत नहीं हैं और त्रिकाल की आवश्यकताओं की समानरूप से पूर्ति की उनमें क्षमता ही नहीं है। उनको एक कालिक कहा जा सकता है। वे त्रिकालिक नहीं हैं।

इसी प्रसंग में एक और दृष्टि से भी विचार करना अनुचित न होगा। ब्राह्मण और श्रमण संस्कृतियों में धार्मिक दृष्टि से जो बड़ा अन्तर है और जिसको महाभाष्यकार ने शाश्वत विरोध कहा है, वह उनके नाम से भी स्पष्ट है। "ब्राह्मण" शब्द का अभिप्राय यज्ञपरक कर्मकाण्ड पर निर्भर व्यवस्था से है और श्रमण शब्द श्रमपरक अथवा श्रम प्रधान व्यवस्था का बोधक है। श्रमण संस्कृति हर व्यक्ति के अपने जीवन व्यवहार पर निर्भर है, जब कि ब्राह्मण संस्कृति की सम्पूर्ण व्यवस्था व्यक्ति के अपने श्रम पर निर्भर न रहकर दूसरे के श्रम पर निर्भर होने से पराश्रित कही जा सकती है ब्राह्मण संस्कृति के अनुसार ब्राह्मण द्वारा किया गया कर्मकाण्ड दूसरे के लिए भी फलदायक हो सकता है। पुरोहित की व्यवस्था यजमान के लिए इसी हेतु से की गई है कि वह उसके लिए धर्म कर्म का यथाविधि अनुष्ठान करता है। ब्राह्मण धर्म कर्म के लिए इस प्रकार दूसरों का एजेण्ट बन गया और दान-दक्षिणा आदि लेकर दूसरों के लिए धर्म-कर्म करने में लग गया। इसी कारण ब्राह्मण का धर्म कर्म धार्मिक अनुष्ठान की अपेक्षा धार्मिक व्यवसाय अधिक बन गया। ब्राह्मण दी गई दान दक्षिणा और मन्दिरों आदि पर चढ़

आदि के अनुपात से धर्म-कर्म का पुण्य प्राप्त होने की भावना बद्धमूल हो गई। ब्राह्मण से धर्म कर्म का पुण्य प्राप्त होने की भावना बद्धमूल हो गई। ब्राह्मण ने धर्म कर्म के अनुष्ठान की सारी जिम्मेवारी अपने पर लेकर शेष समाज को उस से विमुख कर दिया और स्वयं भी दान-दक्षिणा आदि पर निर्भर होने के कारण निठल्ला बन गया। यह निठल्लापन तब चरमसीमा पर पहुँच गया, जब धार्मिक व सामाजिक व्यवस्था का मूल आधार जन्म की आकस्मिक घटना को मान लिया गया। "ब्राह्मणत्व" की प्राप्ति के लिए जब ब्राह्मण के घर में पैदा होना पर्याप्त समझ लिया गया, तब उसके सम्पादन करने के लिए किसी भी प्रकार का श्रम करने की आवश्यकता नहीं रही। शूद्र के घर में पैदा होने वाले के लिए कितना भी श्रम करने पर शूद्रत्व से छुटकारा पाना सम्भव न रहा। सारांश यह है कि ब्राह्मण धर्म की व्यवस्था में श्रम का महत्व नहीं रहा। इसके विपरीत श्रमण संस्कृति का मूल आधार वह श्रम है, जिसके द्वारा आत्मविकास में संलग्न व्यक्ति अणुव्रतों और महाव्रतों का पालन करते हुए इसी जन्म में इसी तन के साथ भगवान पद की प्राप्ति कर सकता है। उसके लिए तन त्यागने के बाद ही मोक्ष प्राप्ति की अनिवार्यता नहीं है। लोकभाषा में यह कहा जा सकता है कि जैन धर्म की मान्यता यह है कि 'जैसा करोगे, वैसा भरोगे'। अपने श्रम के अनुसार हर व्यक्ति को उसका परिणाम भोगना ही होगा। किसी भी कर्मकाण्ड द्वारा इस व्यवस्था को बदला नहीं जा सकता। हर व्यक्ति की आत्मसाधना उसके अपने श्रम पर निर्भर है। उसके लिए वह किसी दूसरे को दान दक्षिणा देकर कमीशन एजेण्ट अथवा ठेकेदार नहीं बना सकता। यह दोनों संस्कृतियों में मूलभूत अन्तर है और इसी को महाभाष्यकार पातंजलि की परिभाषा में शाश्वत विरोध कहा गया है।

जैन धर्म की आत्म साधना—

इस भावना को दूसरे शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है कि जैन धर्म आत्मसाधना प्रधान है। जिस 'जिन' शब्द से जैन शब्द का प्रादुर्भाव हुआ है उसका अर्थ है जितेन्द्रियता अथवा ब्रह्मचर्य, जो इन्द्रियजन्य विषय-वासना के अपरिग्रह की पराकाष्ठा है। गीता ने भी स्वीकार किया है कि "विषयाग्निवर्द्धन्ते निराहारस्य देहिनः" अर्थात आहार व्यवहार में नियन्त्रण रखने वाला ही इन्द्रियों के विषयों से मुक्त हो सकता है। आहार व्यवहार के इस नियन्त्रण को गीता में निराहार कहा गया है। सब खान पान तथा व्यवहार छोड़कर सर्वथा एकांत में सिर्फ हवा पर तो निर्भर नहीं रहा जा सकता, किन्तु जैन धर्म अथवा श्रमण संस्कृति के अनुसार महाव्रतों का पालन करते हुये अपरिग्रह स्थिति तो मानव के लिये असंभव नहीं है। अणुव्रतों द्वारा इस आत्म साधना का उपक्रम शुरू होता है और अन्त में महाव्रतों के माध्यम से वह चरम सीमा पर पहुँच सकता है। अपने को इस साधना में संलग्न करना ही जैन धर्म का व्यवहारिक रूप है और वही मानव के लिये अपने जीवन में ग्राह्य अथवा उपादेय है। भगवान महावीर के समकालीन जितेन्द्रियता के लिए अपरिग्रह का महत्व समझने वाले अन्य भी "जिन" हुए हैं। परन्तु महावीर की चौदह वर्ष की अटूट तपस्या परम साधना का उच्चतम आदर्श उपस्थित करती है। इसी कारण उनको "भगवान" मानकर पूजा गया और यह भ्रान्त धारणा सामान्य जनता में घर कर गई कि जैन धर्म के प्रवर्तक भगवान महावीर हैं। इसमें सन्देह नहीं कि आत्म-साधना का उच्चतम अनुकरणीय आदर्श उपस्थित करके भगवान् महावीर ने श्रमण संस्कृति के परिष्कार की प्रक्रिया को चरमसीमा पर पहुँचा दिया और उनकी उत्कृष्ट जितेन्द्रियता अथवा अपरिग्रह की इस परम साधना के ही कारण

धर्म के लिए जैन शब्द का व्यवहार प्रारम्भ हुआ उनके काल में धर्म के इस नामकरण का अभिप्राय यह नहीं कि वे उसके प्रवर्तक हैं। वे तो २४ वें तीर्थंकर हैं। उनके पूर्ववर्ती २३ तीर्थंकरों द्वारा भी धर्मव्यवहार के परिष्कार की इस सांस्कृतिक प्रक्रिया को निरन्तर प्रश्रय मिलता रहा है। ऐतिहासिक सच्चाई और वास्तविक स्थिति यह है कि परिष्कार की यह प्रक्रिया जैन धर्म में भगवान महावीर के बाद भी निरन्तर चालू रही है और उससे जैन धर्म का निरन्तर जो निखार होता रहा, उसी के कारण वह दूसरों के घोर विरोध में भी टिका रहा और बौद्ध धर्म की तरह अपने देश में नामशेष नहीं हुआ। जैनधर्म और बौद्ध धर्म का यह तुलनात्मक अध्ययन बड़ा ही उपयोगी और महत्वपूर्ण है कि हमारे देश में इतने प्रबल वेग से चारों ओर फैलने वाला बौद्ध धर्म अशोक, कनिष्क तथा हर्ष सरीखे प्रतापी सम्राटों का प्रश्रय पाकर भी क्यों नाम शेष हो गया और जैन धर्म की स्थिति क्यों यथावत बनी रही? संक्षेप में यहां इतना ही कहना पर्याप्त होना चाहिए कि जैनधर्म का रूप व्यावहारिक दृष्टि से निरन्तर साधना प्रधान बना रहा और उसके इस रूप का भगवान महावीर के बाद भी निरन्तर निखार होता रहा। २४ तीर्थंकरों द्वारा प्रश्रय प्राप्त उत्क्रान्तिमूलक परम्परा जैनधर्म में निरन्तर बनी रही और वह उसका निखार व परिष्कार करती रही। स्थानकवासी और तेरापंथी शाखाओं के प्रादुर्भाव का मुख्य परियोजन उत्क्रान्तिमूलक उस परम्परा को ही जीवित रखना था। परन्तु बौद्ध धर्म की स्थिति इससे सर्वथा विपरित रही। उसमें हीनयान, महायान, मंत्रयान और वज्रयान आदि शाखाओं का प्रादुर्भाव उसके व्यावहारिक रूप को निरन्तर विकृत ही करता गया। परिणाम यह हुआ कि लोक व्यवहार साधना-प्रधान न रहकर विषय वासना प्रधान बन गया और वह वैसे ही बौद्ध धर्म को ले डूबा, जैसे कि ब्राह्मण धर्म को भोगैश्वर्य प्रधान कर्म काण्ड ले डूबा। इस प्रकार जैनधर्म के अस्तित्व का मुख्य आधार उसका साधनाप्रधान जीवन व्यवहार है।

सांस्कृतिक प्रयोगों का सार

अन्त में संक्षेप में इतना ही कहना अभीष्ट है कि जैनधर्म का वर्तमान रूप मानव जीवन में युगों तक किए गए सांस्कृतिक प्रयोगों का सार अथवा निचौड़ है। उसको बिना किसी संकोच के परिवर्धनशील और इसीलिए परिवर्तनशील भी कहा जा सकता है। यह एक मत से स्वीकार किया गया है कि जिस धर्म को भगवान महावीर के काल में जैन नाम दिया गया, वह उनसे पूर्व भी विद्यमान था और उसको अन्य नामों से पुकारा जाता था। भगवान नेमिनाथ और भगवान पार्श्वनाथ के काल में उसको निर्ग्रन्थ नाम से पुकारा जाता था। उनके काल में निर्ग्रन्थ धर्म में अहिंसा के साथ साथ तप और त्याग की भावना को अपरिहार्य महत्व प्राप्त हुआ। बाहरी त्याग और तपस्या को आत्मशुद्धि तथा आत्मोपम्य साम्य भावना की दृष्टि से जब पर्याप्त न समझा गया, तब आन्तरिक वृत्तियों पर विजय पाने की आध्यात्मिक भावना प्रबल हुई। भगवान् महावीर ने इस अध्यात्म भावना को जीवन की साधना का प्रमुख अंग बना दिया और मानव की आन्तरिक प्रवृत्तियों पर पूर्ण विजय प्राप्त करने के आदर्श को मूर्त रूप दे दिया। व्रतों तथा महाव्रतों की दृष्टि से जिस धर्म को केवल चार व्रत तथा महाव्रत होने के कारण से भी चातुर्याम कहा जाता था, उसमें इस अध्यात्म भावना के कारण पाचवें व्रत तथा महाव्रत का समावेश हुआ और ये पांचों व्रत तथा महाव्रत उसके मूलभूत आधार बन गए। इसलिए यह स्वीकार करना होगा कि धर्म के विकासक्रम में वे भावनाऐं समाविष्ट होती रहती हैं, जो

उत्तरोत्तर प्रकट होती हैं और मूलभूत भावनाओं का विरोध न कर उनको प्रबल तथा सम्पुष्ट बनाने का ही काम करती है। धर्म विकास का सम्पूर्ण इतिहास इसका साक्षी है और जैनधर्म का विकास क्रम भी उसका समर्थक है। इस विकास क्रम को उस पेड़ से उपमा दी जा सकती है जो अपने फूलों व फलों के विकास से उपयोगी एवं महत्वशाली बनता है।

इतिहास की चेतावनी और चुनौती

इस दृष्टि से यदि विचार किया जा सके, तो जैनधर्म के मूलभूत तत्वों की व्याख्या इस रूप में अवश्य ही की जानी चाहिए कि वे वर्तमान कालीन राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का सर्वसम्मत हल उपस्थित कर सकें। जो धर्म अपने मौलिक तत्वों द्वारा वर्तमान युग की मांग अथवा आवश्यकता की पूर्ति की सामर्थ खो बैठता है, उसका अस्तित्व खतरे में पड़ जाता है। अन्य अनेक धर्मों का अस्तित्व इसी कारण खतरे में पड़ गया और इतिहास में वे नामशेष रह गए। इतिहास की यह एक चेतावनी अथवा चुनौती है। बौद्धधर्म तथा ब्राह्मण धर्म की तरह जैनधर्म पतनमुखी न होकर सदैव उत्क्रान्ति मूलक रहा है और उसका अस्तित्व युग-युगान्तरों की विनाशकारी परिस्थितियों में भी बना रहा है। इसी कारण इसको इतिहास की इस चेतावनी अथवा चुनौती पर समय रहते ध्यान देना ही चाहिये। स्पष्ट शब्दों में यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि जब समाज में धर्म से निराश होकर धर्मनिपेक्ष भावना प्रबल हो रही है, तब जैनधर्म के अनुयायियों को यह सिद्ध कर देना चाहिये कि उनका धर्म विकासोन्मुखी होने के कारण सदा ही परिवर्धनशील रहा है. हर युग की मांग तथा आवश्यकता की उसने पूर्ति की है और आज भी उसमें 'राष्ट्रधर्म' की आवश्यकता की पूर्ति करने की क्षमता विद्यमान है।

साम्यता व क्षमा अहिंसा और स्याद्वाद आदि आधारभूत सिद्धान्तों के सम्बन्ध में प्रस्तुत लेख में विचार नहीं किया गया है। सामायिक, साम्य भावना अथवा समाजवाद का अत्यन्त उत्कृष्ट एवं शाश्वत आध्यात्मिक रूप है। जैन धर्म का साम्य-भाव या समाजवाद केवल मानव समाज तक सीमित नहीं है। प्राणिमात्र उसकी परिधि में समा जाते हैं। ब्राह्मण धर्म "नान्यःपन्था विद्यते अयनाय" अथवा "मामेकम् व्रज" के रूप में एकान्तवादी है। जब कि जैन धर्म उसके सर्वथा विपरीत है। वह विपक्षी के लिए भी अपने ही समान गुंजाइश रखता है। यदि दूसरे के लिए गुंजाइश रखकर जीवन व्यवहार किया जाय तो संघर्ष की संभावना नहीं रहती। एक नियत दिवस पर ज्ञात-अज्ञात भूलों अथवा अवज्ञाओं के लिए हार्दिक क्षमा-याचना, विश्वबन्धुत्व तथा विश्वशांति की नींव बन सकती है। इस प्रकार व्यवहारिक रूप में जैनधर्म की क्षमता असीम है। दुर्भाग्य यह है कि जैनधर्म के अभिमानी लोगों में ही विश्वास, श्रद्धा तथा निष्ठा की कमी उसकी क्षमता के लिये घातक सिद्ध हो रही है। भारतीय जीवन महानद के दोनों किनारों को पुष्ट करने के बजाय हम उनको कमजोर करने में लगे हैं। इस वस्तुस्थिति को जितनी जल्दी समझा जा सकेगा, उतना ही हमारा कल्याण सुनिश्चित और सुरक्षित है।

———

अपभ्रंश साहित्य और मणिधारी श्री जिनचन्द्र सूरि कृत 'व्यवस्था-शिक्षा-कुलकम्'

डा० हीरालाल माहेश्वरी, एम.ए., एल. एल. बी., डी. फिल.

हिन्दी भाषा और साहित्य की पृष्ठ-भूमि के रूप में अपभ्रंशभाषा और साहित्य का महत्व निसंदिग्ध रूप से मान्य है। भाषा-विकास, काव्य-रूपों और परम्पराओं, साहित्यिक प्रवृत्तियों एवं विचार धाराओं, छन्दःबंध, कथानक-रूढ़ियों और अनेक लोक-कथाओं के मूल उत्स तथा कतिपय प्रादेशिक विभिन्नताओं के अनन्तर भी समग्र आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं की मूलभित्ति के रूप में अपभ्रंश भाषा और साहित्य का निराला महत्व है। अपभ्रंश किसी वर्तमान भारतीय आर्य-भाषा विशेष की सम्पत्ति न होकर सबकी सामान्य थाती है। वह उस पीहर के घर के समान है, जिसमें सब बेटियों को आने जाने के समान अधिकार हैं। यह पृथक बात है कि कई बेटियां वहां बिल्कुल ही न जाएं और ममता-स्वरूप माता-पिता की दी हुई सम्पत्ति न लें। हिन्दी, मारू-गुर्जर, मराठी, बंगाली, पंजाबी आदि साहित्यों के इतिहास लेखकों ने किसी न किसी रूप में कम-बेशी, अपभ्रंश का उल्लेख अवश्य किया है। अतः केवल हिन्दी का 'ही' उस पर अधिकार न मानकर हिन्दी का 'भी' अधिकार मानना चाहिए।

वर्तमान में अनेक विद्वानों के सत्-प्रयास से साहित्य जगत को अपभ्रंश की अनेक प्रकार की बहुत सी रचनाओं का पता लग चुका है जिनमें कइयों का प्रकाशन हुआ है और कइयों का हो रहा है। अध्ययन की दृष्टि से इसके तीन पहलू रहे हैं:—[१[भाषा-विषयक [२] मूल रचना का सम्पादन, संकलन तथा [३] साहित्यिक। इनमें अभी तक भाषा-विषयक अध्ययन अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन है और कदाचित् विस्तृत भी।

अद्यावधि उपलब्ध सामग्री के आधार पर, रचयिताओं की दृष्टि से यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि अपभ्रंश साहित्य का बहुलांश जैन मुनियों और विद्वानों द्वारा निर्मित है। एतद् विषयक सामग्री को देखते हुए किसी भी विद्वान की यही धारणा होगी। इस साहित्य के संरक्षण का श्रेय भी जैनियों को है। महत्व की दृष्टि से जैनेतर रचनाओं का भी अपना मूल्य है, क्योंकि वे भिन्न दिशा और क्षेत्र से सम्बन्धित हैं और नए भाव-क्षितिज को हमारे सन्मुख प्रस्तुत करती हैं। बौद्ध-सिद्धों और इतर कवियों की कृतियां इसी कोटि की हैं? इस प्रकार, समूचा अपभ्रंश साहित्य जैनों बौद्ध-सिद्धों और इतर कवियों की निर्मिति है। विषय की दृष्टि से वह धर्म, तत्व-ज्ञान और उपदेश प्रधान है। संदेशरासक, कीर्तिलता आदि कृतियां जो इतर कवियों की रचनाएं हैं ऐहिकता परक हैं, अतः भिन्न कोटि की हैं। किन्तु ऐसी रचनाओं की संख्या बहुत ही कम है। नीचे मोटे रूप में अपभ्रंश साहित्य के वर्गीकरण के साथ कतिपय प्रसिद्ध रचनाओ के नामोल्लेख किए गए हैं, जिससे इस बात का पता लगेगा कि इसके निर्माण में जैनों का कितना योगदान रहा है।

अपभ्रंश साहित्य

- प्रबन्ध
  - महाकाव्य
    - [जैन रचनाएं]
      - पउमचरिउ
      - रिट्ठणेमिचरिउ
      - तिसट्ठिमहापुरिस-गुणालंकार
      - भविसयत्तकहा
      - हरिवंश पुराण
      - पद्म पुराण
      - पाण्डव पुराण
  - खण्डकाव्य
    - धार्मिक [जैन रचनाएं]
      - णायकुमारचरिउ
      - जसहर चरिउ
      - जंबुस्वामि चरिउ
      - सुदसण चरिउ
      - करकंड चरिउ
      - पउमसिरिचरिउ
      - पास चरिउ
      - पासणाहचरिउ
      - सुकुमाल चरिउ
      - भविसयत्तचरिउ
      - सुलोचना चरिउ
      - पज्जुण्ण चरिउ
      - जिणदत्त चरिउ
      - णेमिणाह चरिउ
      - चंदप्पहचरिउ
      - सुकौशल चरिउ
      - आदि आदि
    - ऐहिकतापरक [लौकिक] [जैनेतर रचनाएं]
      - संदेश रासक
      - कीर्तिलता
- मुक्तक
  - जैन धर्म सम्बन्धी
  - बौद्ध धर्म संबंधी (सिद्धों की)
    - सिद्धांत प्रधान
    - खंडन मंडन प्रधान
  - ऐहिकतापरक (विषय प्रेम, वीर, शृङ्गार = दोहे + चर्यागीति पदावली = जैन + जैनतर, दोनों)
  - (जैन धर्म सम्बन्धी एवं ऐहिकतापरक के अंतर्गत:)
    - प्रबंधाभासमुक्तक
      - (१) रूपक काव्य
      - (२) कथा-काव्य—
        - कथा कोष
        - स्थूलिभद्र कथा
        - धम्मपरिक्खा आदि
      - (३) स्फुट
        - भरतबाहुबलि रास
        - पार्श्वनाथ स्तुति
        - सिरिथूलिभद्द फागु
        - नेमिनाथ चतुष्पदिका
        - जंबुस्वामि रास
        - रेवंतगिरि रास
        - उवएसमालकहाणयछप्पय
        - गयसुकुमाल रास
        - समरारासु
        - सालिभद्दकक्क आदि
    - अध्यात्म-प्रधान
      - परमात्म प्रकाश
      - योग सार
      - पाहुड़ दोहा
      - वैराग्य सार
    - उपदेश-प्रधान
      - सावयधम्म दोहा
      - उपदेश रसायन रास
      - कालस्वरूप कुलक
      - भावना संधि प्रकरण
      - संयम मंजरी
      - द्वादश भावना
      - व्यवस्था शिक्षा कुलकम्
      - आदि

आगे, मणिधारी श्री जिनचन्द्र सूरिकृत 'व्यवस्था शिक्षा-कुलकम्' की विवेचना की जा रही है। उल्लिखित वर्गीकरण से स्पष्ट है कि यह अपभ्रंश-मुक्तक रचनाओं के अन्तर्गत, जैनधर्म सम्बन्धी, उपदेश प्रधान रचना है। स्मरणीय है कि अपभ्रंश के विद्वानों द्वारा इसका उल्लेख नहीं किया गया हैं यद्यपि इसका प्रकाशन लगभग २५ वर्ष पूर्व हो चुका था।[1]

श्री जिनचन्द्र सूरि का जन्म विक्रमपुर (जैसलमेर) में संवत् ११९७ में हुआ। इनके पिता का नाम शाह रासल और माता का देल्हणदेवी था। संवत् १२०३ में अजमेर में इनकी दीक्षा हुई और संवत् १२०५ में विक्रमपुर में श्री जिनदत्तसूरिजी ने इनको आचार्य पद प्रदान कर प्रस्तुत नाम दिया। अध्ययन भी गुरु ने इनको करवाया। संवत् १२११ में अजमेर में श्री जिनदत्त सूरिजी के स्वर्गवास के पश्चात् ये गच्छनायक बने। इन्होंने अनेक स्थानों में भ्रमण किया था। संवत् १२२३ में अल्पायु में ही ये स्वर्गवासी हुए। इनके द्वारा दिल्ली के तत्कालीन महाराजा मदनपाल को प्रबुद्ध किए जाने की कथा अत्यन्त प्रसिद्ध और महत्वपूर्ण है। इनकी एक अपभ्रंश कृति व्यवस्था शिक्षा कुलकम् प्रकाश में आई है जो ७४ पण्टों की रचना है।

इन्होंने अपने गुरू का, उनको जिन भगवान के समान ही जानकर, अत्यन्त सम्मान और श्रद्धा के साथ उल्लेख किया है :

जिणदत्ताणमासज्ज जं कीरइ तयं हियं।
जो तं लंघई मोहा-भवारन्ने भमेइ सो ॥११॥

श्री जिनदत्ताज्ञा को पाकर जो अनुष्ठान किया जाता है, वह हितकारी होता है। जो मोह से उसका उल्लंघन करता है, वह भवाटवी में भटकता है।

यही नहीं रचना के अंतिम छन्द से तो ध्वनित होता है कि मानों यह 'व्यवस्था-शिक्षा' वे स्वयं न कह कर अपने गुरू द्वारा निर्देशित आज्ञाओं का कथन कर रहे है जो उनकी गुरू-भक्ति, विनयशीलता और निरहंकारिता का सुन्दर उदाहरण है :—

एयं जिणदत्ताणं करेइ जो कारवेइ मन्नेइ।
सो सव्व दुहाण लहुं जलंजलिं देइ सिव मेइ ॥७४॥

इस प्रकार श्री जिनदत्तसूरि गुरूदेव की आज्ञा को जो आचरता है, दूसरों से आचरण करवाता है, मानता है, वह सब दुखों को शीघ्र ही जलांजलि देता है और मोक्ष-वास करता है।

रचना का उद्देश्य सूरिजी ने मंगलाचरण के प्रथमछंद के पश्चात् ही बता दिया है :—

साहूण साहुणीणं, तह सावय-सावियाण गुणहेउं।
संखेवेण दंसेमि, सुद्धसद्धम्मववहारं ॥२॥

साधु-साध्वियों के लिए तथा श्रावक-श्राविकाओं के गुण के कारण रूप शुद्ध सत्यधर्म के व्यवहार को संक्षेप से दिखाता हूं। ऐसा ही कथन पुनः रचना के अन्त में भी किया है।[2] इन कथनों से प्रस्तुत कृति का वर्ण्य विषय अत्यन्त स्पष्ट है। इसके द्वारा सूरिजी ने व्यक्तिगत और सामूहिक-

१. 'मणिधारी श्री जिनचन्द्रसूरि'—लेखकः सर्वश्री अगरचन्द भंवरलाल नाहटा, प्रकाशकः शङ्करदान शुभैराज नाहटा, कलकत्ता, संवत् १९९७। इसमें परिशिष्ट (१) में, पृ० ३१–५९ में यह रचना दी गई है।

२. संखेवेण मिहत्तमागममयं गीयत्थसत्थो चियं,
कीरंतं गुणहेउनिव्वुइकरं भव्वाण सव्वेसिजं।
साहूगं समणोगणस्सय सया सड्ढाण सड्ढीण य
सिक्खत्थं जिणचंदसूरि पयवीसंसाहगं सव्वहा ॥७३॥

दोनों रूपों में, जैनधर्म और समाज के लिए एक सुव्यवस्थित, सुगठित व्यवस्था प्रदान करने का प्रयास किया है। यह नहीं कि उनकी बातें सर्वथा नवीन हैं–स्वयं सूरिजी भी ऐसा नहीं कहते, प्रत्युत यह कि जैन धर्म, समाज के सुचारु रूप से परिचालित रहने के लिए सामयिक आवश्यकता समझकर इन्होंने इनका उल्लेख किया है और जिनके मूल में, धार्मिक उन्नति और आत्मोत्थान के प्रति सूरिजी की जागरूकता और आग्रह है।

संक्षेप में, इस कृति में इन विषयों पर विचार किया गया है–(१) [क] गुरू-लक्षण:–जिनमें मन में सर्वथा पतित आचारवालों का भय नहीं है, जो विद्या-तत्त्व को जानते हैं, क्षमादि गुणों से युक्त हैं[1]; वाद-विवादी उनके सम्मुख विजयी नहीं हो सकते, वे युग प्रधान गुरु सबको सौख्य प्रदान करने वाले होते हैं।[2]

(ख) किसी कार्य के लिए गुरू-आज्ञा आवश्यक:–पढ़ना, सुनना, ध्यान करना, विहार करना, गुनना, तपश्चर्या, क्रिया-विधान, सीना, तुनना, भोजन, शयन, दान आदि कर्म गुरु-आज्ञा से ही करने चाहिए।[3] गृहस्थों को गुरू के प्रति सम्मान प्रदर्शित करना आवश्यक है।[4] उनकी रक्षा यावज्जीवन येनकेन कारेण करनी चाहिए।[5]

(ग) अङ्गपूजा : आचार्य के चरणों में चंदन लगाना युक्त है न कि कर्पूर आदि का खेना। श्राविकाओं को धवल देना और मंगलगीत गाना चाहिए। यदि गुरू श्री जिनवल्लभजी जैसे समर्थ वाचनाचार्य हों, तो मस्तक पर कर्पूरवास का डालना भी युक्त है।[6]

(घ) धर्मोपदेशक: प्रवचनाचार्य : जो सम्यग् दर्शन और ज्ञान से संयुक्त हैं और क्षेत्र और काल के अनुसार ही चरित्र में वर्तमान हैं, ऐसे ही साधु पुरुष धर्मोपदेशक हो सकते हैं।[7] प्रवचनाचार्य तीन प्रकार के कहे गए हैं–सिंह, बैल और शृगाल के समान। इनकी पूजा क्रमशः विस्तार से, सामान्य-रूप में तथा अत्यन्त संक्षेप से करनी चाहिए।[8]

[१] शिष्य-सेवक श्रावक-श्राविकाएं : [२] साधु-साध्विएं : आर्याएं :––(क) साधु-असाधु जिनकी गुरू में भक्ति, सम्मान, गौरव है, जो उनसे डरते

---

१. पासत्थाइ भयं जस्स-माणसे नत्थि सव्वहा।
सव्व विज्जाय तत्तन्नु खमाइ गुण संजुओ ॥७॥

२. पुरओ जस्स नन्नस्स जओ होज्ज विवाइणो।
भवे जुगप्पहाणो सो सव्वसोक्खकरो गुरू ॥८॥

३. पढणं सवणं झाणं, विहारो गुणणं तहा।
तवो कम्म विहाणं च, सीवणं तुन्नणाइवि ॥१२॥ तथा छन्द संख्या १३, १४ तथा २२

४. छन्द संख्या २१

५. यावज्जीवं गुरुणो सुद्धमसुद्धेण वावि कायव्वं।
वसहे वारसवासा अट्ठारस भिक्खुणो मासा ॥५६॥

६. पाएसु चंदणं जुत्तं न कप्पुराइ खेवणं।
साविया धवले दिंति एसो सुगुरु दिक्खिओ ॥१६॥ तथा छन्द १७॥

७. नाणदंसण संजुत्तो खेतकालाणुसारओ।
चारित्ते वट्टमाणो जो सुद्धसद्धम्मदेसओ ॥६॥

८. देखें छन्द संख्या १९ तथा २०

हैं, बुरा काम करने में लज्जा का अनुभव करते हैं और गुरु के प्रति स्नेह भाव रखते हैं, उन साधु पुरुषों का गुरुकुलवास सफल हो जाता है,[1] किन्तु जो शिष्य अनम्र, अभिमानी, छिद्रान्वेषी और स्वयं को ही बुद्धिमान समझने वाले हैं, उनको गुरू के शिष्य नहीं, शत्रु मानने चाहिए ।[2]

(ख) श्रावक-श्राविकाएं : धार्मिक कुटुम्बों को स्थानीय साधु-साध्वियों के अन्नवस्त्र की चिन्ता रखनी चाहिए [छन्द ४१]; श्रावकों के धन के तीन भेद हैं–देव, ज्ञान और साधारण द्रव्य [छन्द २६] तीन स्थानों में देव, गुरु, ज्ञान द्रव्यों की मद में श्रावक एक हिस्सा दे। उत्सवादिकों में अधिक भी दे, अन्यथा सम्यक्त्वी नहीं हो सकता [छन्द ४५] अशुद्ध लेना और देना दोनों ही त्याज्य हैं [छन्द ५२]।

(ग) साधु-साध्विएं : आर्याएँ : जो साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका परस्पर कलह करते हैं,[3] जो साधु-साध्विएं ज्ञान-पूजा कराके स्वयं ग्रहण करते हैं,[4] गृहस्थियों के घर से आहारादि लाकर अकारण फेंक देते हैं,[5] बिना गुरू-आज्ञा के द्रव्य-संग्रह करते हैं,[6] वे ज्ञान-भ्रष्ट हैं।

नियुक्त किए गए पालक को आर्याओं की रक्षा करनी चाहिए [छन्द २३] और आर्याओं को भी उस पालक की आज्ञा को सादर करते हुए, सन्मान करना चाहिए [छन्द २४]। उनको पालक की आज्ञा से ही स्वजन-सम्बन्धी का दिया हुआ वस्त्र ग्रहण करना चाहिए [छन्द २५] और सर्वप्रथम वह उस पालक को ही अर्पण करना चाहिए, तत्पश्चात् उसकी आज्ञा से ही लेना चाहिए [छन्द २६] किन्तु जो आर्याएं स्वेच्छा से ही ग्रहण करती हैं, वे आज्ञा-भ्रष्ट हैं और मण्डली में रहने योग्य नहीं हैं।[7] पालक भी यदि उन वस्त्रादिक को आर्याओं को नहीं देता है तो अपने गुरूत्व से भ्रष्ट होता है। ऐसा पालक भी मण्डली का पालन नहीं कर सकता।[8]

---

१. जेसिं गुरुंमि भत्ती बहुमाणो गउरवं भयं लज्जा ।
नेहो वि अत्थि तेसिं, गुरुकुलवासो भवे सहलो ॥४॥
२. अवन्नआइणो सीसा, माणिणो छिद्दपेसिणो ।
सबुद्धिकयमाहप्पा, गुरुणो रिउणोव्व ते नेया ॥५॥
३. सज्जओ सज्जई सड्ढो, सड्ढी वा कलहंकरे ।
चुक्कंति दंसणाओ ते होउं तप्पभावगा ॥३१॥
४. साहू वा साहुणीओ वा कारित्ता नाणपूअणं ।
गिण्हंता सयं जंति आणा भट्ठाय दुग्गइं ॥३०॥
५. गिहीणं जे उ गेहाओ, आणित्तासणपाणगं ।
निक्कारणं विच्छड्डंता, जंति ते सुगइं नहं ॥३२॥
६. संगहंति य जे दव्वं गुरुणं न कहंतिय
ते वि भट्ठाहमा विठ्ठा भमंति भवसागरे ॥३३॥
७. जइ तस्स न निवेयन्ति तं गिण्हंति जहामई ।
आणा भट्ठा तया अज्जा पावंति य न मंडलिं ॥२७॥
८. जइ सो न देइ अज्जाणं लद्धवत्थाइ लोहओ
सुगुरुत्ताओ चुक्को मण्डलिं पावए कहिं ॥२८॥

दोनों रूपों में, जैनधर्म और समाज के लिए एक सुव्यवस्थित, सुगठित व्यवस्था प्रदान करने का प्रयास किया है। यह नहीं कि उनकी बातें सर्वथा नवीन हैं–स्वयं सूरिजी भी ऐसा नहीं कहते, प्रत्युत यह कि जैन धर्म, समाज के सुचारु रूप से परिचालित रहने के लिए सामयिक आवश्यकता समझकर इन्होंने इनका उल्लेख किया है और जिनके मूल में, धार्मिक उन्नति और आत्मोत्थान के प्रति सूरिजी की जागरूकता और आग्रह है।

संक्षेप में, इस कृति में इन विषयों पर विचार किया गया है–(१) [क] गुरू-लक्षण:–जिनमें मन में सर्वथा पतित आचारवालों का भय नहीं है, जो विद्या-तत्त्व को जानते हैं, क्षमादि गुणों से युक्त हैं[१]; वाद-विवादी उनके सम्मुख विजयी नहीं हो सकते, वे युग प्रधान गुरु सबको सौख्य प्रदान करने वाले होते हैं।[२]

(ख) किसी कार्य के लिए गुरू-आज्ञा आवश्यक:–पढ़ना, सुनना, ध्यान करना, विहार करना, गुनना, तपश्चर्या, क्रिया-विधान, सीना, तुनना, भोजन, शयन, दान आदि कर्म गुरु-आज्ञा से ही करने चाहिए।[३] गृहस्थों को गुरू के प्रति सम्मान प्रदर्शित करना आवश्यक है।[४] उनकी रक्षा यावज्जीवन येनकेन कारेण करनी चाहिए।[५]

(ग) अङ्गपूजा : आचार्य के चरणों में चंदन लगाना युक्त है न कि कर्पूर आदि का खेना। श्राविकाओं को धवल देना और मंगलगीत गाना चाहिए। यदि गुरू श्री जिनवल्लभजी जैसे समर्थ वाचनाचार्य हों, तो मस्तक पर कर्पूरवास का डालना भी युक्त है।[६]

(घ) धर्मोपदेशक: प्रवचनाचार्य : जो सम्यग् दर्शन और ज्ञान से संयुक्त हैं और क्षेत्र और काल के अनुसार ही चरित्र में वर्तमान हैं, ऐसे ही साधु पुरुष धर्मोपदेशक हो सकते हैं।[७] प्रवचनाचार्य तीन प्रकार के कहे गए हैं–सिंह, बैल और शृगाल के समान। इनकी पूजा क्रमशः विस्तार से, सामान्य-रूप में तथा अत्यन्त संक्षेप से करनी चाहिए।[८]

[१] शिष्य-सेवक श्रावक-श्राविकाएं : [२] साधु-साध्विएं : आर्याएं :—(क) साधु-असाधु जिनकी गुरू में भक्ति, सम्मान, गौरव है, जो उनसे डरते

१. पासत्थाइ भयं जस्स-माणसे नत्थि सव्वहा।
सव्व विज्जाय तत्तन्नु खमाइ गुण संजुओ ॥७॥
२. पुरओ जस्स नन्नस्स जओ होज्ज विवाइणो।
भवे जुगप्पहाणो सो सव्वसोक्खकरो गुरू ॥८॥
३. पढणं सवणं झाणं, विहारो गुणणं तहा।
तवो कम्म विहाणं च, सीवणं तुन्नणाइवि ॥१२॥ तथा छन्द संख्या १३, १४ तथा २२
४. छन्द संख्या २१
५. यावज्जीवं गुरुणो सुद्धमसुद्धेण वावि कायव्वं।
वसहे वारसवासा अट्ठारस भिक्खुणो मासा ॥५६॥
६. पाएसु चंदणं जुत्तं न कप्पुराइ खेवणं।
साविया धवले दिंति एसो सुगुरु दिक्खिओ ॥१६॥तथा छन्द १७॥
७. नाणदंसण संजुत्तो खेतकालाणुसारओ।
चारित्ते वट्टमाणो जो सुद्धसद्धम्मदेसओ ॥६॥
८. देखें छन्द संख्या १६ तथा २०

हैं, बुरा काम करने में लज्जा का अनुभव करते हैं और गुरू के प्रति स्नेह भाव रखते हैं, उन साधु पुरुषों का गुरूकुलवास सफल हो जाता हैं,[1] किन्तु जो शिष्य अनम्र, अभिमानी, छिद्रान्वेषी और स्वयं को ही बुद्धिमान समझने वाले हैं, उनको गुरू के शिष्य नहीं, शत्रु मानने चाहिए।[2]

(ख) श्रावक-श्राविकाएं : धार्मिक कुटुम्बों को स्थानीय साधु-साध्वियों के अन्नवस्त्र की चिन्ता रखनी चाहिए [छन्द ४१]; श्रावकों के धन के तीन भेद हैं-देव, ज्ञान और साधारण द्रव्य [छन्द २६] तीन स्थानों में देव, गुरु, ज्ञान द्रव्यों की मद में श्रावक एक हिस्सा दे। उत्सवादिकों में अधिक भी दे, अन्यथा सम्यक्त्वी नहीं हो सकता [छन्द ४५] अशुद्ध लेना और देना दोनों ही त्याज्य हैं [छन्द ५२]।

(ग) साधु-साध्विएं; : आर्याएँ : जो साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका परस्पर कलह करते हैं,[3] जो साधु-साध्विएं ज्ञान-पूजा कराके स्वयं ग्रहण करते हैं,[4] गृहस्थियों के घर से आहारादि लाकर अकारण फेंक देते हैं,[5] बिना गुरू-आज्ञा के द्रव्य-संग्रह करते हैं,[6] वे ज्ञान-भ्रष्ट हैं।

नियुक्त किए गए पालक को आर्याओं की रक्षा करनी चाहिए [छन्द २३] और आर्याओं को भी उस पालक की आज्ञा को सादर करते हुए, सन्मान करना चाहिए [छन्द २४]। उनको पालक की आज्ञा से ही स्वजन-सम्बन्धी का दिया हुआ वस्त्र ग्रहण करना चाहिए [छन्द २५] और सर्वप्रथम वह उस पालक को ही अर्पण करना चाहिए, तत्पश्चात् उसकी आज्ञा से ही लेना चाहिए [छन्द २६] किन्तु जो आर्याएं स्वेच्छा से ही ग्रहण करती हैं, वे आज्ञा-भ्रष्ट हैं और मण्डली में रहने योग्य नहीं हैं।[7] पालक भी यदि उन वस्त्रादिक को आर्याओं को नहीं देता है तो अपने गुरुत्व से भ्रष्ट होता है। ऐसा पालक भी मण्डली का पालन नहीं कर सकता।[8]

---

१. जेसिं गुरुमि भत्ती बहुमाणो गउरवं भयं लज्जा।
नेहो वि अत्थि तेति, गुरुकुलवासो भवे सहलो ॥४॥

२. अवन्नत्राइणो सीसा, माणिणो छिद्दपेसिणो।
सबुद्धिकयमाहप्पा, गुरुणो रिउणोव्व ते नेया ॥५॥

३. सञ्जओ सञ्जई सढ्ढो, सढ्ढी वा कलहंकरे।
चुक्कंति दंसणाओ ते होउं तप्पभावगा ॥३१॥

४. साहू वा साहुणीओ वा कारित्ता नाणपूअणं।
गिण्हंता सयं जंति आणा भट्ठाय दुग्गइं ॥३०॥

५. गिहीणं जे उ गेहाओ, आणित्तासणपाणगं।
निक्कारणं विच्छड्डंता, जंति ते सुगइं कहं ॥३२॥

६. संगहंति य जे दव्वं गुरुणं न कहंतिय
ते वि भठ्ठाहमा धिठ्ठा भमंति भवसागरे ॥३३॥

७. जइ तस्स न निवेयन्ति तं गिण्हंति जहामई।
आणा भट्ठा तया अज्जा पावंति य न मंडलिं ॥२७॥

८. जइ सो न देइ अज्जाणं लद्धवत्थाइ लोहओ
सुगुरुत्ताओ चुक्को मण्डलिं पावए कहिं ॥२८॥

[३] सम्यक्त्व : धर्म-महिमा :—शुद्ध सद्धर्म करने वाले गुरुओं के पास जो शुद्ध सम्यग्-दर्शन-सम्यक्त्व लेते हैं, उनके लिए वह गुण स्वर्ग-सिद्धि के मुख को करनेवाला होता है।[1] दूसरे का धन लेने वाला और अपने पास धन होने पर भी न देनेवाला सम्यक्त्वी नहीं है;[2] और झूठा व्यक्ति तो सम्यक्त्व की जड़ ही काटता है।[3] धर्म-व्यवहार अनर्थ-समूह को हरने वाला है—'वा धमत्थमणत्थ सत्थ हरं' (छंद ३) धर्मरूप पेड़ की रक्षार्थ जो साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविकाएं बाड़ के समान हैं, वे वस्त्र, खान-पान आदि से आदर पूर्वक पालने योग्य हैं, उनकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए :—

पालणिज्जा पयत्तेण वत्थपाणासणाइणा।
सायरं सो न हेसिसु करिज्जा समुवेहणं ।।६६।।

[४] अन्य सम्बन्धित विषय : इनके अतिरिक्त सूरिजी ने निन्दा करने वालों की कठोर शब्दों में भर्त्सना की है[4] तथा निरहंकारी (छन्द ७१) और दूसरों के दुर्वचन सुनकर जो क्रोधित नहीं होता[5] उन पुरुषों की प्रशंसा की है। साधु-साध्वियों के लिए आपत्तिकाल में धर्मपालन और चिकित्सा की आवश्यकता आदि पर भी अपना मन्तव्य दिया है [छन्द ५४ तथा ५७]।

रचना का महत्व—

[१] भाषा की दृष्टि से इससे विक्रम की तेरहवीं शताब्दी के आरम्भिक वर्षों की भाषा-स्थिति का पता चलता है। इस सम्बन्ध में इस रचना में प्रयुक्त, निम्नलिखित कतिपय शब्दों का उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है जो पुरानी राजस्थानी और हिन्दी के पूर्व रूप से लगते हैं—

धरेइ (वरति) ९; पावए (प्राप्नुयात्) १०; लंघई (लङ्घयति), भमेइ (भमिति) ११; सुवणं (शयनं), जाणं (यानं) ठाणं, (स्थानं), पोत्थ (पुस्तक), आणाए (आज्ञया) १३; चउक्की (चतुष्पदिका) १५; सरिसो (सदृश) १७; दिपहे (दीपते) २१; लेई (लाति) २२; आणा (आज्ञा) २०, ३०, ६८; चुक्कंति (भ्रश्यन्ति), होउं (भूत्वा) ३१; अवेलाए (अवेलायां) ३४; जइवि (यद्यपि) ४४; जाणिउ (ज्ञात्वा) ४७; जंपियं (जल्पितम्) ५०; जंइ (यदि) ५४, ६७; वारस (द्वादश) ५६; सालं-

---

१. सुद्धसद्धम्मकारीणं जे सुगुरुणमंतिए
सुद्धं सद्दंसणं लिंति सग्गा सिद्धि सुहावहं ।।३६।।

२. साहम्मियाण जो दव्वं लेइनो दाउमिच्छइ।
संते वित्ते सगेहेवि होज्जा किं तस्सदंसणं ।।६१।।

३. पचक्खं सो मुसावाई लोए वि अपभावणं।
कुणंतो छिदइ मूलं सो दंसण महद्दुमं ।।६३।।

४. जइ सो वि तिगुणो नाउं समईए वि निंदई।
सावाड़ी उक्खया तेण संति धम्मद्दुरक्खगा ।।६७।।

५. चोयंग पिहु मो देइ जो दाउं जाणइ तयं।
परदुव्वयणं सोच्चा जो रोसेण न जिप्पइ ।।७०।। तथा छन्द ७१

बणो (सालम्बन) ५६; धारेइ (धारयति) ५६; गीय (गीत), होइ (भवति) ६०; लेइ (लाति), होज्जा (भवेत्) ६१; जाणं तो (जान्नपि) ६२।

[२] जैन-समाज में प्रचलित तत्कालीन आचार-संहिता की दृष्टि से।

[३] जैनों और जैन-समाज के करणीय कर्त्तव्यों की दृष्टि से।

[४] प्राकृत-अपभ्रंश को जैन-उपदेश प्रधान रचनाओं की परम्परा में एक कड़ी के रूप में। तथा-

[५] गच्छनायक की धार्मिक-सामाजिक उन्नति भावना के रूप में।

————

जो खुद मेहनत

न

क रे

उसे खाने का हक

ही

क्या है।

—महात्मा गांधी

यद्देशान्नजलानिलैः शुभतरैः पुष्टिं गता ते तनु-
स्तद्देशोन्नतयेऽस्तु ते धनमनस्तन्वर्पणम् सर्वथा।
या भूमिर्जननीव पालनपरा स्वर्गादपि श्रेयसी
तस्याः स्वल्पमनिष्टचिन्तनमहो ! तज्जस्य पापावहम् ॥

भावार्थ—जिस देश के उत्तम अन्न, जल और वायु से तुम्हारा शरीर पुष्ट हुवा है, तुम्हारा कर्त्तव्य है कि उस देश की उन्नति के लिये अपना तन, मन और धन अर्पण कर दो। जो भूमि माता के समान पालन पोषण करने वाली है तथा स्वर्ग से भी अधिक सुख देने वाली है उस मातृभूमि का किञ्चिन्मात्र भी बुरा चिन्तन करना उसकी सन्तान के लिए महान् पापबंध का कारण है।

—मुनि श्री रतनचन्द्रजी महाराज
(कर्त्तव्य कौमुदी से)

—:x:x:—

संस्कृत के जैन संदेश काव्य

गोपीलाल अमर एम० ए० 'साहित्य रत्न'

प्रारम्भिक—

संस्कृत साहित्य के संसार-प्रसिद्ध होने में उसके सन्देश काव्य प्रधान कारण हैं । काव्य की सन्देश शैली में नायक द्वारा नायिका के प्रति या नायिका द्वारा नायक के प्रति किसी दूत के माध्यम से प्रेम सन्देश भेजा जाता है । दूत की भूमिका कोई पुरुष, पक्षी, भ्रमर, मेघ, पवन, चन्द्रमा, चरणचिन्ह, मन या शील आदि निबाहते हैं। अतः इस शैली में प्रायः दो तत्त्व अवश्य होते हैं. प्रथम वियोग और द्वितीय प्रकृति या भावना का मानवीकरण। प्रासंगिक रूप से नगर, पर्वत, समुद्र, नदी, सूर्योदय, वसन्त और केलिक्रीडा आदि का वर्णन रहते हुए भी अपने संक्षिप्त आकार के कारण ये काव्य महाकाव्य नहीं कहे जा सकते, उन्हें खण्डकाव्य या गीतिकाव्य ही कहना होगा।

सन्देश शैली का प्रारम्भ महाकवि कालिदास के मेघदूत से माना जाता है जिसमें कोई विरही यक्ष मेघ द्वारा अपनी यक्षिणी को सन्देश भेजता है । मेघदूत के उत्तर में—यक्ष से प्राप्त सन्देश के उत्तर में यक्षिणी द्वारा भेजे गये उत्तर के रूप में—भी कुछ काव्य लिखे गये। कुछ काव्य मेघदूत की पंक्तियों की समस्यापूर्ति में भी लिखे गये। कुछ काव्यों के नायक-नायिका राधा-कृष्ण या नेमि-राजुल आदि भी बनाये गये और कुछ में शिष्य की प्रार्थना लेकर किसी दूत को गुरू के पास भेजा गया। अतः कुछ काव्यों में शृङ्गार के विपरीत, भक्ति या श्रद्धा की प्रधानता हो गई है। आज तक, संस्कृत में सत्तर-पचहत्तर और हिन्दी में बीस-पचीस सन्देश काव्यों की रचना हो चुकी है। विदेशों में भी कुछ सन्देश काव्य लिखे गये हैं।

जैन साहित्यकारों ने भी सन्देश शैली में अनेक काव्य लिखे हैं। उन्होंने अपने काव्यों को सांसारिक वासनाओं से काफी ऊंचा उठाकर आध्यात्मिक भूमिका पर प्रस्तुत किया है। समूचे मेघदूत को अपने काव्यों में संजोकर उसकी क्रमशः एक-एक या दो-दो पंक्तियों को अपने एक-एक श्लोक में फिट करके उन्होंने जहां अपनी गुणग्राहकता का परिचय दिया है वहीं अपनी प्रखर प्रतिभा भी प्रदर्शित की है। अवसर पाकर दार्शनिक सिद्धांतों का प्रतिपादन करना भी वे नहीं भूले हैं। इन तीनों विशेषताओं के रहते हुए भी हम पाते हैं कि जैन सन्देश काव्यों में कहीं भी न तो साहित्यिक सौन्दर्य और सरसता में फीकापन आने पाया है और न ही सरलता एवं प्रवाहमयता खोने पाई है हम यहां कुछ जैन सन्देश काव्यों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करेंगे।

पार्श्वाभ्युदय : आचार्य जिनसेन (नौवीं शती वि०)—

आचार्य वीरसेन के शिष्य, आचार्य विनयसेन के सहपाठी और राष्ट्रकूटवंशी शासक अमोघवर्ष (८७१–९३४ ई०) के समकालीन आचार्य जिनसेन ही आदिपुराण महाकाव्य के भी यशस्वी लेखक हैं।

पार्श्वाभ्युदय में ४ सर्ग और ३६४ श्लोक हैं। मेघदूत की समस्यापूर्ति में लिखा होने से इसमें

मन्द्राक्रान्ता छन्द ही होना स्वाभाविक है। केवल चतुर्थ सर्ग के अन्तिम ६ श्लोकों में से ५ मालिनी और छठवां वसन्ततिलका है एक सन्देशकाव्य की समस्यापूर्ति में लिखा होने से ही पार्श्वाभ्युदय को सन्देश काव्य कह सकते हैं, वैसे सन्देश शैली का कोई लक्षण उसमें नहीं है। इस काव्य पर पण्डिताचार्य चारुकीर्ति की एक टीका भी उपलब्ध है।

राजा अरविन्द के द्वारा बहिष्कृत होकर कमठ तपस्या करने लगता है। उसका अनुज मरुभूति (भगवान पार्श्वनाथ का जीव) उसके प्रति सहानुभूति दिखाने आता है परन्तु कमठ पूर्व वैर का स्मरण करके उस पर अनेक अत्याचार करता है। वह मरुभूति से बार बार स्वर्गस्थित अलकापुरी का रास्ता नापने को कहता है और इसी सिलसिले में रामगिरि से अलकापुरी तक के मार्ग का निर्देश करता है। हर संभव प्रयत्न करने पर भी जब कमठ उसे विचलित नहीं कर पाता तब वह उसके चरणों पर गिर पड़ता है। और मरुभूति (भगवान् पार्श्वनाथ) के यशोगान के साथ काव्य समाप्त होता है।

समग्र काव्य का अनुशीलन करने के बाद यह निष्पक्ष रूप से कहा जा सकता है कि समस्या पूर्ति की दृष्टि से यह काव्य अपने ढंग का सर्वप्रथम है और ऐसे ही अनेक काव्यों का प्रेरणास्रोत है। कालिदास के मूल भावों को कवि ने कहीं तो बड़े सुन्दर ढंग से पल्लवित किया है और कहीं प्रसंगान्तर में सूक्ष्मता से संनिविष्ट करने की सफल चेष्टा की है। आचार्य पद पर आसीन होकर भी लेखक का ऐसी सरस रचना लिख सकना वस्तुतः उसकी विद्वत्ता और सहृदयता सिद्ध करता है। संस्कृत साहित्य में अद्वितीय काव्य रत्न होने के साथ-साथ जैन साहित्य में भी यह अपना विशिष्ट स्थान रखता है। एक-दो, दस-पच्चीस पंक्तियों की समस्यापूर्ति तो एक बात है पर समूचे काव्य की ही समस्यापूर्ति आचार्य जिनसेन की ही विशेषता है।

नेमिदूत : विक्रम कवि (चौदहवीं शती वि०)

विक्रम कवि की एक मात्र उपलब्ध कृति नेमिदूत है जिसकी कुछ प्रतियों से वह सांगण का और कुछ प्रतियों से झांझण का पुत्र ज्ञात होता है। कोई अन्य सूचना नेमिदूत उसके विषय में नहीं देता। अलबत्ता कुछ अन्य प्रमाणों से उसे खम्भात का रहने वाला तथा श्वेताम्बर एवं खरतर *गच्छाधीश श्री जिनेश्वर सूरि का श्रावक भक्त कहा* जा सकता है।

मेघदूत के पद्यों के अन्तिम चरणों को लेकर समस्यापूर्ति के रूप में यह काव्य लिखा गया है। १२६ श्लोक हैं। पूर्वभाग और उत्तरभाग या सर्गों का विभाजन नहीं है। पार्श्वाभ्युदय की भांति इसमें भी सन्देश शैली का कोई लक्षण नहीं है। एक सन्देश काव्य की समस्यापूर्ति होने से तथा भगवान् नेमिनाथ के चरित्र की प्रधानता होने से ही इसे नेमिदूत नाम दे दिया गया है। सर्वत्र वियोग शृङ्गार और शांत रस का अपूर्व दर्शनीय संगम बन पड़ा है। मेघदूत में नायक का विरह प्रधान है जबकि इसमें नायिका का।

विवाह-भोज के लिए एकत्र किये गये पशुओं का करुण क्रन्दन सुनकर दूल्हा नेमिनाथ विरक्त होकर सन्यास ले लेते हैं। दुलहिन राजुलमती एक वृद्ध ब्राह्मण को दूत बनाकर उन्हें मनाने को भेजती है। रैवतक पर्वत से द्वारिका तक के मार्ग का वर्णन होता है अन्ततोगत्वा राजुलमती भी सन्यासिनी हो जाती है।

कवि ने समस्यापूर्ति के साथसाथ, अपनी रचना में मूल भावों की भी रक्षा की है। मेघदूत के श्लोकों की चतुर्थ पंक्तियां प्रसंगान्तर में कदाचित् ही प्रयुक्त की गई हैं। भाषा और भाव, दोनों

की दृष्टि से काव्य सरस भी है और सुन्दर भी। शान्तरस प्रधान होने पर भी नेमिदूत विरहकाव्य अधिक है। मेघदूत की समस्या पूर्ति में लिखे गए अन्य काव्यों की अपेक्षा यह काव्य कहीं अधिक प्रसाद गुण युक्त है और लेखक की सहृदयता का परिचय देता है।

जैन मेघदूत : आचार्य मेरुतुङ्ग (१४०३–१४७१ वि०)—

इतिहास में मेरुतुङ्ग नाम के तीन विद्वानों का उल्लेख मिलता है। मारवाड़ स्थित नाणी ग्राम के पोरवाल वशीय बहोरा वैरसिंह और उनकी पत्नी नालदेवी के सुपुत्र मेरुतुङ्ग का जन्म वि० सं० १४०३ में हुआ था। अञ्चलगच्छीय महेन्द्र प्रभ सूरि से संस्कृत और प्राकृत आदि का गम्भीर अध्ययन करके उन्होंने वि० सं० १४२६ में सूरि पद और फाल्गुण कृष्णा एकादशी, वि० सं० १४४५ में गच्छनायक पद प्राप्त किया। जैन मेघदूत आदि आठ से भी अधिक ग्रन्थों की रचना करके ये मार्ग शीर्ष शुक्ल पूर्णिमा, वि० सं० १४७१ को पाटन में स्वर्गवासी हुए प्रायः सभी ग्रन्थों में इन्होंने अपनी प्रशस्ति दी है।

कथा, उपर्युक्त नेमिदूत की भांति है किन्तु इसमें दूत मेघ को बनाया जाता है और सन्देश-काव्य के सभी लक्षण विद्यमान हैं। इसमें कालिदास के मेघदूत की समस्यापूर्ति नहीं है यद्यपि छन्द मन्दाक्रान्ता ही है। ४ सर्ग और १९६ श्लोक हैं।

विचारों के तारतम्य और रस की दृष्टि से यह काव्य अत्यन्त उच्चोटि का है। क्लिष्ट वाक्य-रचना, अलङ्कारों का बाहुल्य और व्याकरण के प्रयोगों का बलात् सन्निवेश काव्य को दुरूह बना देता है। वैसे, कवि का भाषा पर पर्याप्त अधिकार है। कुल मिलाकर यह काव्य संस्कृत साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखता है।

शीलदूत : चारित्र सुन्दर गणि (१४८७ वि०)

सततपोगच्छ के नेता श्री रत्नसिंह सूरि के शिष्य श्री चारित्र सुन्दर गणि ने शीलदूत की रचना १४८७ वि० में की थी। इन्होंने कुमारपाल महाकाव्य, महीपाल चरित और आचारोपदेश आदि और भी कुछ ग्रन्थ लिखे हैं।

शीलदूत में १३१ श्लोक है और पूर्व भाग एवं उत्तरभाग या सर्गों का विभाजन नहीं है। काव्य का नायक स्थूलभद्र अपनी प्रेयसी कोशा को अपने शील के प्रभाव से जैन धर्म से दीक्षित कर लेता है। इसमें किसी ने किसी के पास किसी को दूत बनाकर नहीं भेजा है अलबत्ता एक स्थल पर कोशा की सखी चतुरा कोशा की तरफ से स्थूलभद्र को पुनः गृहस्थाश्रम में आने के लिए प्रेरित करती है। मेघदूत के प्रत्येक पद्य के अन्तिम चरण को लेकर समस्यापूर्ति के रूप में लिखो जाने के कारण ही और शील की प्रधानता होने से ही इस काव्य को शीलदूत नाम दिया गया है।

काव्य की भाषा अत्यन्त सरल एवं ललित है। दीर्घ समास प्रायः नहीं हैं। उत्प्रेक्षाओं की मौलिकता दर्शनीय है। मेघदूत की शृङ्गार परक पंक्तियों को शांत रसपरक बनाने में कवि ने अद्भुत प्रतिभा दिखाई है। अनुभूति की तीव्रता और विरह की वेदना अत्यन्त मार्मिक बन पड़ी है। शील जैसे भाव को दूत का रूप देकर कवि ने अपनी मौलिक कल्पना शक्ति का अच्छा परिचय दिया है।

पवनदूत : वादिचन्द्र सूरि (सत्रहवीं शती वि०, लगभग)—

वादिचन्द्र सूरि दिगम्बर आचार्य थे और १५८० वि० से सत्रहवीं शती वि० तक कभी हुए हैं।

समस्यापूर्ति के रूप में न होकर भी यह काव्य मेघदूत के ही अनुकरण पर लिखा गया है। १०१ मन्दाक्रांता श्लोक हैं और विभाजन नहीं है। कथा काल्पनिक प्रतीत होती है।

उज्जयिनी के एक शासक विजयनरेश की रानी तारा को अशनिवेग नामक विद्याधर हर ले जाता है। विजयनरेश पवन को दूत बनाकर और अभीष्ट निर्देश देकर तारा के पास भेजता है। साम, दाम, दण्ड और भेद के प्रयोग से पवन, अन्ततोगत्वा तारा को लाकर वापिस विजयनरेश को सौंप देता है।

पवनदूत एक विरहकाव्य है। वियोग शृङ्गार का चित्रण ही काव्य का मुख्य उद्देश्य है। फिर भी काव्य में मनोरञ्जन के अतिरिक्त शिक्षा की भी विपुल सामग्री विद्यमान है। लेखक का नैतिक सामाजिक और धार्मिक दृष्टिकोण अत्यन्त उच्च-कोटि का है। रचना में प्रसाद गुण सर्वत्र विद्यमान है। भाषा में प्रवाह उल्लेखनीय है। लेखक को काफी सफल कहा जा सकता है।

चेतोदूत : अज्ञात (अठारहवीं शती वि० लगभग)

चेतोदूत से उसके लेखक के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं होता।

मेघदूत की समस्यापूर्ति होने के कारण काव्य में मन्दाक्रान्ता छन्द का ही प्रयोग हुआ है। १२९ श्लोक हैं और विभाजन नहीं है। कथा का विषय शृङ्गारमय न होकर धार्मिक है। नगरी इत्यादि के वर्णन में मेघदूत के समान ही तारतम्य है।

इस काव्य में कोई विशेष कथा नहीं है। एक शिष्य अपने गुरू की कृपा दृष्टि को ही अपनी प्रेयसी मानकर उसके पास अपने चित को दूत बनाकर भेजता है। इसी सिलसिले में गुरू के यश, विवेक और वैराग्य आदि का विस्तृत वर्णन किया गया है। अन्त में चित अपने कार्य में सफल होकर लौट आता है और शिष्य की प्रसन्नता के साथ, काव्य समाप्त होता है।

काव्य के अनुशीलन से यह स्पष्ट है कि मेघदूत के शृङ्गाररस पूर्ण वातावरण से प्रेरणा लेकर कवि ने अपनी अद्वितीय प्रतिभा से शान्तरस के एक सुन्दर सन्देशकाव्य की सृष्टि कर दी है। प्रसाद गुण पर्याप्त मात्रा में है। भाषा में प्रवाह है और भावों में सौन्दर्य। मनोरञ्जन के साथ-साथ यह काव्य पाठकों में धार्मिक रुचि भी उत्पन्न करता है।

इन्दुदूत : विनयविजय गणि (अठारहवीं शती, पूर्वार्ध, वि०)

उपकेशवंशी श्रेष्ठी तेजपाल के पुत्र और तपोगच्छीय श्री विजयप्रभू सूरि के शिष्य तथा हैमलघुप्रक्रिया, लोकप्रकाश, कल्पसूत्रसुबोधिकाऔर श्रीपालचरित आदि के लेखक श्री विनयविजय गणि ही ही इन्दुदूत के लेखक हैं।

इस काव्य में १३१ मन्दाक्रान्ता छन्द हैं। मेघदूत के अनुकरण पर लिखा जाकर भी यह काव्य विषय और रस की दृष्टि से सर्वथा नवीन है।

श्री विजयप्रभ सूरीश्वर महाराज सूर्यपुर (सूरत) में चातुर्मास योग करते हैं। उनकी आज्ञा से उनके शिष्य श्री विनयविजय गणि जोधपुर में चातुर्मास योग करते हैं। चातुर्मास के अन्त में भाद्रपद पूर्णिमा को रात्रि के अन्त में चन्द्रमा को देखकर उनका विचार होता है कि उसके द्वारा अपने गुरू के पास वे अपना सांवत्सरिक क्षमापणा सन्देश और अभिवन्दन भेजें। चन्द्रमाको दूतकार्य में नियुक्त करने से पूर्व वे उसका स्वागत करते हैं, उसकी कुशल पूछते हैं और फिर उसकी तथा उसके सम्बन्धियों, समुद्र, पारिजात, लक्ष्मी और रात्रि

आदि की प्रशंसा करते हैं। अन्त में वे उसे मार्ग का निर्देश देकर विदा करते हैं।

काव्य की भाषा प्रवाहमय और प्रसादपूर्ण है। कवि की वर्णनशक्ति और उच्च विचारों ने इस काव्य को सन्देशकाव्यों की परम्परा में उल्लेखनीय बना दिया है। जोधपुर, जालोर, सिरोही, आबू-पर्वत, सिद्धपुर, अहमदाबाद, बड़ोदा, भड़ोंच और सूरत जैसे विख्यात नगरों के मध्यकालीन वैभव पर भी यह काव्य पर्याप्त प्रकाश डालता है। भारत के इस भूभाग के भौगोलिक तथा सामाजिक अध्ययन के लिए इस काव्य की उपयोगिता को अस्वीकृत नहीं किया जा सकता।

मेघदूतसमस्यालेख : श्रीमेघविजय (१७२७ वि०)

अकबर बादशाह से जगद्गुरू की उपाधि पाने वाले, वृहत्तपागच्छ के नायक श्री कृपाविजयजी के शिष्य तथा व्याकरण, ज्योतिष, न्याय, धर्म-शास्त्र और अध्यात्म के प्रकाण्ड विद्वान् एवं सप्त-सन्धान काव्य आदि ग्रन्थों के प्रणेता श्री मेघविजय जी मेघदूत समस्या लेख के रचयिता थे।

जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, इस काव्य में मेघदूत के पद्यों के अन्तिम चरणों की समस्यापूर्ति की गई है। इसमें १३० मन्दाक्रान्ता और अन्त में १ अनुष्टुप्श्लोक हैं। उपर्युक्त काव्य की भांति इसमें भी, किसी प्रिय का अपनी प्रेयसी के लिए सन्देश न होकर, एक भक्त शिष्य द्वारा अपने गुरू के पास, मेघ को दूत बनाकर सन्देश भेजा गया है। मेघदूत की ही भांति मेघ का दर्शन और स्वागत आदि क्रम इसमें भी मिलता है।

श्री मेघविजयजी नव्यरंगपुरी (औरंगाबाद) में चातुर्मास योग करते हैं। उसके अन्त में वे गुरू के चिरवियोग से व्यथित होकर, मेघ को दूत बना-कर उनके पास अपना सन्देश भेजते हैं। तभी औरंगाबाद से देवपत्तन (गुजरात) तक के मार्ग का वर्णन आता है। मेघ भी गुरू के पास जाता है और सन्देश सुनाता है तथा प्रतिसन्देश लेकर लौट आता है। शिष्य की प्रसन्नता के साथ काव्य समाप्त होता है।

विषय, भाव, भाषा और शैली की दृष्टि से यह काव्य समूचे सन्देश काव्यों में अनुपम है। शान्तरस, माधुर्य तथा प्रसाद गुण और वैदर्भी रीति की इसमें विशेषता है। समस्यापूर्ति होने पर भी यह काव्य क्लिष्ट नहीं हुआ है और मेघदूत का सा ही आनन्द देता है। यह उल्लेखनीय है कि इस काव्य और उसके लेखक के नामों में तो मेघ शब्द आया ही है मेघदूत से समस्याएं ली गई हैं और मेघ को ही दूत बनाया गया है। सन्देशकाव्यों और समस्यापूर्तिपरक काव्यों में इस काव्य का स्थान सर्वोच्च है।

अन्य

उक्त आठ सन्देशकाव्यों के अतिरिक्त पांच जैन सन्देशकाव्य और भी उल्लेखनीय हैं। जिनके नाम निम्न प्रकार हैं—

इन्दुदूत (चन्द्रदूत) : श्रीजम्बूकवि। डॉ० जे० बी० चौधरी, कलकत्ता द्वारा प्रथमबार १९४१ ई० में सम्पादित तथा प्रकाशित।

चन्द्रदूत : श्रीविनयप्रभ। बम्बई क्षेत्र में संस्कृत के हस्तलिखित ग्रन्थों की पीटर्सन द्वारा की गई खोज के विवरण, भाग ३, संख्या २९२ में उल्लिखित।

चन्द्रदूत : श्री विमलकीर्ति गणि। मेघदूत की समस्यापूर्ति श्रीजिनदत्त सूरि ज्ञानभण्डार, सूरत से २००९ वि० में प्रकाशित।

मनोदूत : जैनग्रन्थावलि, संख्या ३३२ में उल्लिखित। श्वेताम्बर जैन कांफ्रेंस, बम्बई द्वारा १९०९ ई० में प्रकाशित।

मयूरदूत : मुनि श्री धुरन्धरविजय जी। अहमदाबाद से २००० वि० में प्रकाशित।

उपसंहार

इन सबके अतिरिक्त अभी और भी इतर काव्य उपलब्ध हो सकते हैं इसलिए संस्कृत के जैन सन्देश काव्यों पर शोध की आवश्यकता है।

———

"हम किसी चीज का संग्रह न करें जिसकी हमें दरकार नहीं है।"

\+ + +

"श्रद्धा से मनुष्य क्या नहीं कर सकता ? सब कुछ कर सकता है।"

\+ + +

सच्चा सुख बाहर से नहीं मिलता, अन्तर से ही मिलता है।"

—महात्मा गांधी

वाग्भटालङ्कार : एक परिशीलन

अमृतलाल शास्त्री

विपुल संस्कृत साहित्य में अलंकार शास्त्र का विशिष्ट स्थान है। मानव जाति का हित अन्तर्निहित रहने से यों तो सभी शास्त्र उपादेय हैं, पर अलंकार शास्त्र की उपादेयता अन्य शास्त्रों से कहीं अधिक है; क्योंकि वह शास्त्र और शास्त्रों के अध्ययन—मनन एवं प्रणयन में भी परम सहायक होता है, जैसा कि राजशेखर के मत [काव्य मीमांसा द्वि० अ०] से भी ध्वनित होता है। इसीलिये इस शास्त्र के प्रणयन की ओर बड़े-बड़े विद्वानों का ध्यान आकृष्ट हुआ है।

अलंकार शास्त्र का सर्व प्रथम ग्रन्थ कौनसा रहा, तथा उसके निर्माण का सौभाग्य किसे प्राप्त हुआ, यह अभी तक अज्ञात है, पर इतना तो सभी को ज्ञात है कि उपलब्ध अलंकार ग्रन्थों में आचार्य भामह का काव्यालंकार सब से पुराना है। इसकी रचना छठी शताब्दी में हुई थी। इसके पश्चात् अठारहवीं शती पर्यन्त प्रायः प्रत्येक शताब्दी में नये-नये अलंकार ग्रन्थ लिखे गये। हिन्दी में तो अभी भी लिखे जा रहे हैं, जो संस्कृत अलंकार ग्रन्थों के ऋणी हैं।

संस्कृत अलंकार ग्रन्थों के आधार पर सन् १६०१ में प्रथमतः कविप्रिया की रचना हिन्दी में हुई थी। इसके रचयिता केशवदास हैं। इनके पश्चात् जसवन्त सिंह ने भाषाभूषण [सन् १६४३] चिन्तामणि ने कविकल्पतरु [सन् १६५०] और मतिराम ने ललित-ललाम [सन् १६६१] की रचना की। इनके बाद सैकड़ों विद्वानों ने हिन्दी में अलंकार ग्रन्थ लिख कर संस्कृत अलंकार ग्रन्थों के गौरव को बढ़ाया है।

अभी तक कुल मिलाकर सात सौ अलंकार ग्रन्थों का पता लग चुका है, जिनमें से लगभग सौ प्रकाशित भी हो चुके है।

प्रकाशित संस्कृत अलंकार ग्रन्थों में सबसे बड़ा रसगङ्गाधर है और सबसे छोटा वाग्भटालङ्कार। यद्यपि चन्द्रालोक भी छोटा माना जाता है पर वह भी वाग्भटालङ्कार से कुछ बड़ा है। चन्द्रालोक के कुल पद्यों की संख्या २८४ है और वाग्भटालङ्कार के पद्यों की २६०। सरलता की दृष्टि से भी वाग्भटालङ्कार की गणना चन्द्रालोक से पहले की जाती है। संभवतः इसीलिए बङ्गाल और पंजाब के संस्कृतज्ञ मनीषियों का ध्यान वाग्भटालंकार की ओर गया।

चन्द्रालोक की भांति वाग्भटालंकार पर भी अनेक टीकाएं लिखी गई हैं। यद्यपि इसका लेखक श्वेताम्बर जैन है किन्तु इस पर श्वेताम्बरों के साथ दिगम्बरों एवं जैनेतरों ने भी टीकाएं लिखी हैं जो इसके गौरव को अभिव्यक्त करती हैं।

वाग्भटालंकार इस दृष्टि से भी आकर्षक है कि इसमें चन्द्रालोक की भांति यत्र-तत्र छोटे-छोटे पद्यों

के भी पूर्वार्ध में लक्षण और उत्तरार्ध में उदाहरण गुम्फित हैं।[1]

अलङ्कार शास्त्र पांच सम्प्रदायों में विभक्त हैं– [१] रससम्प्रदाय, [२] अलङ्कारसम्प्रदाय, [३] रीतिसम्प्रदाय, [४] वक्रोक्तिसम्प्रदाय और [५] ध्वनिसम्प्रदाय। भरत के नाट्य शास्त्र से लेकर आज तक अलङ्कार शास्त्र विषयक जितने भी ग्रन्थ लिखे गये हैं वे सबके सब उक्त पांचों में से किसी न किसी एक सम्प्रदाय में गर्भित किये जा सकते हैं। वाग्भटालङ्कार किस सम्प्रदाय में गर्भित हो सकताहै—इसका उत्तर इसी के अन्तः साक्ष्य के आधार पर दिया जा सकता है।

अलंकार शास्त्र का प्रथम ग्रन्थ भामह का काव्यालंकार है। इसी को दृष्टि में रख कर वाग्भट ने भी अपने ग्रन्थ का नाम वाग्भटालङ्कार या काव्यालङ्कार रखा है। भामहालङ्कार की भांति वाग्भटालंकार में भी अलंकारों का विस्तृत विवेचन है। इसका चौथा परिच्छेद अन्य चारों

---

१. हतवृत्तमनुक्तोऽपिच्छन्दोदोषश्चकास्ति चेत्।
विशाललोचने पश्याम्बरं तारातरङ्गितम्॥चन्द्रालोक २.१७
छन्दः शास्त्रविरुद्धं यच्छन्दोभ्रष्टं हि तद्यथा।
स जयतु जिनपतिः परब्रह्ममहानिधिः॥वाग्भटालङ्कार २. २३
भग्नप्रक्रममारब्ध शब्दनिर्वाहहीनता।
अक्रमः कृष्ण पूज्यन्ते त्वामनाराध्य देवताः॥च० २. २७
यथा भुक्त्वा कृतस्नानो गुरुन् देवांश्च वन्दते॥वा० २. २२
व्याहतश्चेद विरोधः स्यान् मिथः पूर्वापरार्थयोः॥
सहस्रपत्रमित्रं ते वक्त्रं केनोपमीयते।
कुतस्तत्रोपमा यत्र पुनरुक्तः सुधाकरः॥च० २. ३०–३१
व्याहतार्थं यदिष्टार्थं वाधकार्थान्तराश्रयम्।
रतस्त्वमेव भूपाल भूतलोपकृतौ यथा॥वा० २. १०
नेयार्थं लक्षणात्यन्त प्रसरादमनोहरम्।
हिमांशो हरिधिक्कार जागरे यामिकाः कराः॥च० २. ११
स्वसंकेत प्रक्लृप्तार्थं नेयार्थान्तरवाचकम्।
यथा विभाति शैलोऽयं पुष्पितैर्वानरध्वजैः॥वा० २. १२
पतत्प्रकर्षं हीनानुप्रासादित्वे यथोत्तरम्।
गम्भीरारम्भदम्भोलिपाणिरेप समागतः॥च० २.२०
रीतिभ्रष्टमनिर्वाहो यत्र रीतेर्भवेद् यथा।
जिनो जयति स श्रीमानिन्द्राद्यमरवन्दितः॥वा० २.२४
व्यनक्त्यनुचितार्थं यत् पदमाहुस्तदेव तत्।
इयमद्भुतशाख्यग्रकेलिकौतुकवानरी॥च० २.५
यद्यत्रानुचितं तद्धि तत्र ग्राम्य स्मृतं यथा।
छादयित्वा सुरान् पुष्पैः पुरो धान्यं क्षिपाम्यहम्॥वा० २. १५

परिच्छेदों से बड़ा है, जिसमें अलंकारों का विवेचन १५४ श्लोकों में समाप्त हुआ है, जब कि प्रस्तुत ग्रन्थ के सम्पूर्ण श्लोकों की संख्या २६० ही है।

चतुर्थ परिच्छेद के अन्त में लिखा है—काव्य, जिस अर्थ के द्वारा विद्वानों के मन में अधिक चमत्कार उत्पन्न करता है उसी को अलंकार समझना चाहिए—

अर्थेन येनातिचमत्करोति प्रायः
कवित्वं कृतिनां मनः सु ।
अलङ्क्रियात्वेन स एव
तस्मिन्नभ्यूह्यतां हन्त दिशानयैव ॥

इस पद्य के रेखाङ्कित तीनों पद बड़े महत्त्व के हैं। इनके पढ़ते ही ध्वन्यालोक की दूसरी कारिका-'योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः ।' की याद आ जाती है, जिसका अभिप्राय है—जो अर्थ सहृदय-श्लाघ्य हो वह काव्य की आत्मा है। यहां ध्यान देने की बात यह है कि ध्वन्यालोक की दृष्टि से सहृदय-श्लाघ्य अर्थ का मुख्य अभिप्राय प्रतीयमान अर्थ या ध्वनि है और वाग्भटालङ्कार के उक्त पद्य की दृष्टि से अतिचमत्काराधायक [सहृदय श्लाघ्य] अर्थ का मुख्य अभिप्राय अलङ्कार है। निष्कर्ष यह कि वाग्भटालङ्कार की दृष्टि से ध्वनि का अन्तर्भाव अलङ्कारों में हो जाता है। फलतः वाग्भटालङ्कार अलङ्कार सम्प्रदाय का ग्रन्थ प्रतीत होता है। हां, इतना निश्चित है कि प्रस्तुत ग्रन्थ में कट्टरता नहीं है। इसके अन्तः साक्ष्य के आधार पर यह स्पष्ट है कि प्रस्तुत ग्रन्थ में समन्वय को ग्रन्थ में भामहालङ्कार जैसी कट्टरता नहीं है। दूसरी बात यह भी है कि रस सम्प्रदाय वाले रस को, अलङ्कार सम्प्रदाय वाले अलङ्कार को, रीति सम्प्रदाय वाले रीति को, वक्रोक्तिसम्प्रदायवाले वक्रोक्ति को और ध्वनि सम्प्रदाय वाले ध्वनि को काव्य का सर्वस्व मानते हैं, किन्तु वाग्भट ने अपने काव्यालङ्कार में अलङ्कार, रीति तथा रस-इन तीनों का समन्वय किया है—

साधुशब्दार्थसन्दर्भं गुणालङ्कारभूषितम् ।
स्फुटरीतिरसोपेतं काव्यं कुर्वीत कीर्तये ॥ वा० १. २

विषय परिचय

वाग्भटालङ्कार पांच परिच्छेदों में विभक्त है। पहले में कवि शिक्षा, दूसरे में दोष, तीसरे में गुण, चौथे में अलङ्कार और पांचवें में रस वर्णित हैं।

प्रथम परिच्छेद

निर्दोष शब्द और निर्दोष अर्थ से जिसकी रचना की गई हो, जो गुणों एवं अलङ्कारों से भूषित हो और जो स्पष्ट अनुभव में आने योग्य रीति तथा रस से युक्त हो उसे काव्य कहते हैं। उसका प्रयोजन कीर्ति है। काव्य का मुख्य हेतु प्रतिभा है, व्युत्पत्ति उसका आभूषण है और अभ्यास संपोषक। अभ्यास से काव्य की रचना शीघ्र होने लगती है। जिस तरह घट के निर्माण में दण्ड, चक्र और चीवर तीनों आवश्यक होते हैं उसी तरह काव्य के निर्माण में प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास तीनों ही आवश्यक हैं, न कि एक या दो, जैसा कि कुछ आचार्यों का अभिमत है।

इसकी चिन्ता न करें जैसे शालिनी छन्द के अभ्यास के लिए इस प्रकार से पदावली रखे—

मगण तगण तगण गु० गु०

ऽऽऽ ऽऽ।ऽऽ।

देव श्रेणी कीर्तिनिस्फूर्तिरेणी
धर्माधर्मप्राप्तये धर्ममानः।
विश्वाधानं मन्यमानं समानं
मातृस्नेहा रोहिणीवप्रदीपाः॥

यहां गणों के अनुसार सुन्दर पदावली रखी गई है, जिसका कोई सम्बद्ध अर्थ नहीं है। इसी तरह सभी छन्दों का अभ्यास करना चाहिये।

कविता की सुन्दरता के लिये तीन बातें नितांत आवश्यक हैं—(१) संयुक्त वर्ण के संयोग से पिछले वर्ण का गुरू होना, (२) विसर्गों का लोप न होना और [३] (क) सन्धिरहित पदों का प्रयोग न करना तथा (ख) अश्लीलता एवं कर्णकटुता को उत्पन्न करने वाली सन्धि का अभाव। जैसे—

निपीय यस्य क्षितिरक्षिणः कथां
तथाद्रियन्ते न बुधाः सुधामपि।
नलः सितच्छत्रितकीर्तिमण्डलः,
स राशिरासोन्महसां महोज्ज्वलः॥

यहां 'यस्य क्षितिरक्षिणः' और 'सितच्छत्रित-कीर्तिमण्डलः' पदों के रेखाङ्कित वर्ण संयुक्त वर्णों के संयोग से गुरु हुये हैं। पूर्वार्ध में दो तथा उत्तरार्ध में तीन स्थानों पर विसर्ग रखे हुये हैं। उनका लोप नहीं हुआ। 'धिक् तां च तां च मदनं च इमां च मां च' भर्तृहरिकृत इस पद्य की भांति उक्त श्री हर्ष कृत पद्य में सन्धिरहित एक भी पद नहीं है और 'नर्वाली' (नव+आली) एव 'मर्वाली' (मरु+आली) की भांति प्रस्तुत पद्य में विरूप सन्धि भी नहीं की गई। अतएव यहां सभी प्रकार की चारुता विद्यमान है।

यदि नवसिखिया होने से कवि को नया अर्थ न सूझे तो वह व्यावहारिक बातों को आधार बना कर कविता लिखे। जैसे—

आगम्यतां सखे गाढमालिङ्ग्यात्र निषीद च।
सन्दिष्टं यन्निजभ्रातृजायया तन्निवेदय॥ वा० १. ११

–मित्र, आइये और गाढ आलिङ्गन करके यहां बैठिये तथा भाभी (आपकी श्रीमती) जी ने जो कुछ सन्देश भेजा हो उसे सुनाइये।

नवीन अर्थ न सूझने पर दूसरे कवि के भावों को लेकर कविता करना उचित नहीं; क्योंकि यह सरासर चोरी है। समस्या पूर्ति की बात अलग है।

मन की प्रसन्नता, प्रतिभा, प्रभात वेला, उद्योग और अनेक शास्त्रों का परिशीलन—ये नवीन अर्थ की स्फूर्ति के निमित्त हैं।

पद्यों के पूर्वभाग में प्रतिपाद्य विषय को लिखकर उत्तरार्ध में अर्थान्तरन्यास आदि अलङ्कारों की योजना करे। ऐसे पदों का प्रयोग न करे जो भ्रामक हों—ऐसे पदों का प्रयोग करे जिनमें तत्पुरुष और बहुव्रीहि का शीघ्र ही पृथक् पृथक् निश्चय हो सके। किसी एक ही अर्थ को संक्षेप और विस्तार से नाना अलङ्कारों में वर्णन करने की क्षमता प्राप्त करे। चारों चरणों के अन्तिम वर्णों को गुरू होना चाहिये। हां, पढ़ने में शैथिल्य न होता हो तो बड़े छन्दों के अन्त्य लघु वर्ण भी गुरू माने जा सकते हैं। पाद के प्रारम्भ में चकार या वकार आदि का प्रयोग न करे।

कवि समय—

काव्य निर्माण करने से पहले कवि समय का ज्ञान अत्यावश्यक है। कवि समय में लोकों की संख्या तीन, सात या चौदह है। कीर्ति शुभ्र और अकीर्ति कृष्ण होती हैं। ऐरावत धवल होता है। समुद्र चार या सात होते हैं तथा दिशाएं चार, आठ या दस होती हैं।

यमक, श्लेष और चित्र—इन अलङ्कारों में 'व' 'व' तथा 'ड' और 'ल' में भेद नहीं होता तथा अनुस्वार या विसर्गों के रहने-न रहने से कोई बाधा नहीं मानी जाती।

इस तरह प्रथम परिच्छेद में यह बतलाया गया है कि परिश्रम पूर्वक सभी शास्त्रों को पढ़कर मनचाहे अर्थ को अभिव्यक्त करने में समर्थ पदों के प्रयोग करने की क्षमता प्राप्त करें एवं कवि समय को जान ले फिर जब भी मन प्रसन्न हो कविता लिखने बैठ जाय।

दूसरा परिच्छेद—

संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और पैशाची (प्राचीन प्राकृत) इन चारों भाषाओं में काव्य लिखे जा सकते हैं।

काव्य तीन प्रकार के होते हैं—[१] गद्य, [२] पद्य और [३] मिश्र [चम्पू आदि]

निर्दोष काव्य की रचना करने से कवि को कीर्ति प्राप्त होती है जो स्वर्ग की सीढ़ी है। अतः काव्य को दोषों से बचाना चाहिये।

संक्षेप में दोष तीन प्रकार के होते हैं—[१] पददोष, [२] वाक्य दोष और [३] अर्थदोष।

पददोष आठ प्रकार के होते हैं–[१] अनर्थक, [२] श्रुतिकटु, [३] व्याहतार्थ, [४] अलक्षण, [५] स्व संकेत प्रक्लृप्तार्थ, [६] अप्रसिद्ध, [७] असम्मत और [८] ग्राम्य।

इन आठों का अभिप्राय यह है कि कवि अपने काव्य में ऐसे पदों का प्रयोग न करे जो निरर्थक, कर्णकटु, व्याहतार्थ–विपरीत अर्थ से बाधित, व्याकरण से असिद्ध, रूढि या प्रयोजन के विना लक्षणया प्रयुक्त, अप्रसिद्ध, असम्मत और ग्राम्य हों। हां हास्य रस के प्रसङ्ग में ऐसे पदों का प्रयोग किया जा सकता है।

वाक्य दोष आठ प्रकार के होते हैं—[१] खण्डित, [२] व्यस्त सम्बन्ध, [३] असम्मित, [४] अपक्रम, [५] छन्दो भ्रष्ट, [६] रीतिभ्रष्ट, [७] यतिभ्रष्ट और [८] असत्क्रिय।

अर्थात् खण्डित जहां एक वाक्य के वीच में दूसरा वाक्य आगया हो, व्यस्त सम्बन्ध दूरान्वय, असम्मित—जहाँ शब्द अधिक और अर्थ कम हो, अपक्रम जहां शास्त्रीय या लौकिक क्रम का उल्लङ्घन हो, छन्दोभ्रष्ट–जहां छन्द शास्त्र के नियमों का उल्लङ्घन हो, रीतिभ्रष्ट—जहां आदि से अन्त तक किसी एक रीति का प्रयोग न हो सका हो, यतिभ्रष्ट जहां किसी पद के मध्यम में ही विराम हो गया हो और असत्क्रिय–जहां माङ्गलीक क्रिया छोड़ दी गई हो–ऐसे वाक्यों को कवि अपने काव्य में स्थान न दे। हां अमाङ्गलीक क्रियाओं के छोड़ने पर दोष नहीं होता। जैसे—

या भुजङ्गास्तरङ्गिण्यो
मृगेन्द्राः क्रूरदन्तिनः।
भवन्तं वत्स संप्राप्तं
पन्थानः सन्तु ते शिवाः॥

बेटे! मार्ग में तुम्हें नाग (मा दांक्षुः–न डंसलें), नदियां (मा नैषुः—न बहा ले जायं) और सिंह (मा दार्षुः—विदीर्ण न कर डाले)। मार्ग कल्याण-कारी हो।

यहां ब्रेकिट में दी गई क्रियाएं अमाङ्गलीक होने से छोड़ दी गई हैं।

अर्थदोष—

प्रवेशे चैत्रस्य स्फुरत्कुटजराजीस्मित दिशि,
प्रचण्डे मार्तण्डे हिमकण समनोष्म महसि
जलक्रीडायातं मरुसरसि बाल द्विपकुलं
मदेनान्धं विध्यन्त्यसम शरपातैः प्रशमिनः॥

इसकी चिन्ता न करें जैसे शालिनी छन्द के अभ्यास के लिए इस प्रकार से पदावली रखे—

मगण तगण तगण गु० गु०

ऽऽऽ ऽऽ।ऽऽ।

देव श्रेणी कीर्तिनिस्फूर्तिरेणी
धर्माधर्मप्राप्तये धर्ममानः ।
विश्वाधानं मन्यमानं समानं
मातृस्नेहा रोहिणीवप्रदीपाः ॥

यहां गणों के अनुसार सुन्दर पदावली रखी गई है, जिसका कोई सम्बद्ध अर्थ नहीं है। इसी तरह सभी छन्दों का अभ्यास करना चाहिये।

कविता की सुन्दरता के लिये तीन बातें नितांत आवश्यक हैं—(१) संयुक्त वर्ण के संयोग से पिछले वर्ण का गुरू होना, (२) विसर्गों का लोप न होना और [३] (क) सन्धिरहित पदों का प्रयोग न करना तथा (ख) अश्लीलता एवं कर्णकटुता को उत्पन्न करने वाली सन्धि का अभाव। जैसे—

निपीय यस्य क्षितिरक्षिणः कथां
तथाद्रियन्ते न बुधाः सुधामपि।
नलः सितच्छत्रितकीर्तिमण्डलः,
स राशिरासोन्महसां महोज्ज्वलः ।।

यहां 'यस्य क्षितिरक्षिणः' और 'सितच्छत्रितकीर्तिमण्डलः' पदों के रेखाङ्कित वर्ण संयुक्त वर्णों के संयोग से गुरू हुये हैं। पूर्वार्ध में दो तथा उत्तरार्ध में तीन स्थानों पर विसर्ग रखे हुये हैं। उनका लोप नहीं हुआ। 'धिक् तां च तां च मदनं च इमां च मां च' भर्तृहरिकृत इस पद्य की भांति उक्त श्री हर्ष कृत पद्य में सन्धिरहित एक भी पद नहीं है और 'तर्वाली' (तरु + आली) एव 'मर्वाली' (मरु + आली) की भांति प्रस्तुत पद्य में विरूप सन्धि भी नहीं की गई। अतएव यहां सभी प्रकार की चारुता विद्यमान है।

यदि नवसिखिया होने से कवि को नया अर्थ न सूझे तो वह व्यावहारिक बातों को आधार बना कर कविता लिखे। जैसे—

आगम्यतां सखे गाढमालिङ्ग्यात्र निषीद च।
सन्दिष्टं यन्निजभ्रातृजायया तन्निवेदय ॥ वा० १. ११

—मित्र, आइये और गाढ आलिङ्गन करके यहां बैठिये तथा भाभी (आपकी श्रीमती) जी ने जो कुछ सन्देश भेजा हो उसे सुनाइये।

नवीन अर्थ न सूझने पर दूसरे कवि के भावों को लेकर कविता करना उचित नहीं; क्योंकि यह सरासर चोरी है। समस्या पूर्ति की बात अलग है।

मन की प्रसन्नता, प्रतिभा, प्रभात वेला, उद्योग और अनेक शास्त्रों का परिशीलन—ये नवीन अर्थ की स्फूर्ति के निमित्त हैं।

पद्यों के पूर्वभाग में प्रतिपाद्य विषय को लिखकर उत्तरार्ध में अर्थान्तरन्यास आदि अलङ्कारों की योजना करे। ऐसे पदों का प्रयोग न करे जो भ्रामक हों—ऐसे पदों का प्रयोग करे जिनमें तत्पुरुष और बहुव्रीहि का शीघ्र ही पृथक् पृथक् निश्चय हो सके। किसी एक ही अर्थ को संक्षेप और विस्तार से नाना अलङ्कारों में वर्णन करने की क्षमता प्राप्त करे। चारों चरणों के अन्तिम वर्णों को गुरू होना चाहिये। हां, पढ़ने में शैथिल्य न होता हो तो बड़े छन्दों के अन्त्य लघु वर्ण भी गुरू माने जा सकते हैं। पाद के प्रारम्भ में चकार या वकार आदि का प्रयोग न करे।

कवि समय—

काव्य निर्माण करने से पहले कवि समय का ज्ञान अत्यावश्यक है। कवि समय में लोकों की संख्या तीन, सात या चौदह है। कीर्ति शुभ्र और अकीर्ति कृष्ण होती हैं। ऐरावत धवल होता है। समुद्र चार या सात होते हैं तथा दिशाएं चार, आठ या दस होती हैं।

यमक, श्लेप और चित्र—इन अलङ्कारों में 'ब' 'व' तथा 'ड' और 'ल' में भेद नहीं होता तथा अनुस्वार या विसर्गों के रहने-न रहने से कोई बाधा नहीं मानी जाती।

इस तरह प्रथम परिच्छेद में यह बतलाया गया है कि परिश्रम पूर्वक सभी शास्त्रों को पढ़कर मनचाहे अर्थ को अभिव्यक्त करने में समर्थ पदों के प्रयोग करने की क्षमता प्राप्त करें एवं कवि समय को जान ले फिर जब भी मन प्रसन्न हो कविता लिखने बैठ जाय।

दूसरा परिच्छेद—

संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और पैशाची (प्राचीन प्राकृत) इन चारों भाषाओं में काव्य लिखे जा सकते हैं।

काव्य तीन प्रकार के होते हैं—[१] गद्य, [२] पद्य और [३] मिश्र [चम्पू आदि]

निर्दोष काव्य की रचना करने से कवि को कीर्ति प्राप्त होती है जो स्वर्ग की सीढ़ी है। अतः काव्य को दोषों से बचाना चाहिये।

संक्षेप में दोष तीन प्रकार के होते हैं—[१] पददोष, [२] वाक्य दोष और [३] अर्थदोष।

पददोष आठ प्रकार के होते हैं–[१] अनर्थक, [२] श्रुतिकटु, [३] व्याहतार्थ, [४] अलक्षण, [५] स्व संकेत प्रक्लृप्तार्थ, [६] अप्रसिद्ध, [७] असम्मत और [८] ग्राम्य।

इन आठों का अभिप्राय यह है कि कवि अपने काव्य में ऐसे पदों का प्रयोग न करे जो निरर्थक, कर्णकटु, व्याहतार्थ–विपरीत अर्थ से बाधित, व्याकरण से असिद्ध, रूढ़ि या प्रयोजन के बिना लक्षणया प्रयुक्त, अप्रसिद्ध, असम्मत और ग्राम्य हों। हां हास्य रस के प्रसङ्ग में ऐसे पदों का प्रयोग किया जा सकता है।

वाक्य दोष आठ प्रकार के होते हैं—[१] खण्डित, [२] व्यस्त सम्बन्ध, [३] असम्भित, [४] अपक्रम, [५] छन्दो भ्रष्ट, [६] रीतिभ्रष्ट, [७] यतिभ्रष्ट और [८] असत्क्रिय।

अर्थात् खण्डित जहां एक वाक्य के बीच में दूसरा वाक्य आगया हो, व्यस्त सम्बन्ध दूरान्वय, असम्भित—जहाँ शब्द अधिक और अर्थ कम हो, अपक्रम जहां शास्त्रीय या लौकिक क्रम का उल्लङ्घन हो, छन्दोभ्रष्ट–जहां छन्द शास्त्र के नियमों का उल्लङ्घन हो, रीतिभ्रष्ट—जहां आदि से अन्त तक किसी एक रीति का प्रयोग न हो सका हो, यतिभ्रष्ट जहां किसी पद के मध्यम में ही विराम हो गया हो और असत्क्रिय–जहां माङ्गलीक क्रिया छोड़ दी गई हो–ऐसे वाक्यों को कवि अपने काव्य में स्थान न दे। हां अमाङ्गलीक क्रियाओं के छोड़ने पर दोष नहीं होता। जैसे—

या भुजङ्गास्तरङ्गिण्यो
मृगेन्द्राः क्रूरदन्तिनः।
भवन्तं वत्स संप्राप्तं
पन्थानः सन्तु ते शिवाः॥

बेटे ! मार्ग में तुम्हें नाग (मा दांक्षुः–न डसलें), नदियां (मा नैपुः—न बहा ले जायं) और सिंह (मा दार्पुः—विदीर्ण न कर डाले)। मार्ग कल्याण-कारी हो।

यहां ब्रेकिट में दी गई क्रियाएं अमाङ्गलीक होने से छोड़ दी गई हैं।

अर्थदोष—

प्रवेशे चैत्रस्य स्फुटकुटजराजीस्मित दिशि,
प्रचण्डे मार्तण्डे हिमकरण रागनोदम [illegible]
जलक्रीडा[illegible] [illegible] बाल सिन्दूर[illegible]
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ॥

—चैत्र मास के प्रारम्भ में ज्यों ही दिशाएं खिली हुई कुटज-पुष्पों की पंक्ति के अलंकृत होकर मुस्कराती-सी जान पड़ने लगीं, प्रचण्ड सूर्य का तेज बर्फ जैसा गर्म हो उठा और मरुस्थल के जलाशय में मदान्ध करिशावक जलक्रीड़ा के लिये आने लगे त्यों ही अत्यन्त शांत परिणामी साधुओं ने तीखे बाणों से उनका शिकार करना प्रारम्भ कर दिया।

यहां चैत्र के प्रारम्भ में कुटज पुष्पों के विकास का वर्णन काल विरुद्ध है; क्योंकि कुटज पुष्प बरसात में विकसित होते हैं। प्रखर सूर्य के तेज को हिम जैसा उष्ण बतलाना द्रव्य विरुद्ध है; क्योंकि हिम में उष्णता नहीं होती। मरुभूमि में जलाशय का वर्णन देश विरुद्ध है; क्योंकि मरुभूमि में जलाशय नहीं होते। हाथियों के छोटे-छोटे बच्चो को मदान्ध बतलाना अवस्था विरुद्ध है; क्योंकि हाथियों का मद यौवन में ही झरता है। साधुओं के शिकार खेलने का वर्णन धर्मशास्त्र विरुद्ध है तथा हाथियों का शिकार नहीं खेला जाता, यह नीति शास्त्र का निर्देश है, इसलिये यहां हाथियों के शिकार का वर्णन नीतिशास्त्र विरुद्ध भी है।

कवि के हृदय रूपी समुद्र से उत्पन्न हुआ काव्यामृत यदि पद-दोष, वाक्य दोष और अर्थदोष इन तीन प्रकार के दोष रूपी विष के संसर्ग से मुक्त हो तो वह विबुध वृन्द के लिये आस्वाद्य हो जाता है।

तीसरा परिच्छेद—

काव्य सर्वथा निर्दोष होकर भी गुणों के बिना च... ण योग्य नहीं होता। अतः सत्कवि को गुणों श्री ... र अवश्य ही ध्यान देना चाहिये।

और ...

आली) ... दस प्रकार के होते हैं—[१] ... नहो ... ना, [३] कान्ति [४] अर्थ व्यक्ति ... चारुता वि...

प्रसन्नता, [६] समाधि, [७] श्लेप, [८] ओज, [६] माधुर्य, और [१०] सुकुमारता।

औदार्य—अर्थ की सुन्दरता को बढ़ाने वाले पदों के साथ अन्य पदों की योजना। जैसे गन्ध के साथ इभ का प्रयोग—गन्धेभ। इसी तरह श्री-लीला, क्रीड़ागिरि आदि। समता—रचना में विषमता का अभाव। कान्ति—उज्ज्वलता। अर्थ-व्यक्ति—अर्थ लगाने में खींचातानी का अभाव, अर्थ की स्पष्टता। प्रसन्नता—प्रसाद। समाधि—एक के गुण का अन्य के गुण पर आरोप। श्लेष—भिन्न पदों का अभिन्न जैसा प्रतीत होना। ओज—समास की बहुलता। माधुर्य—मधुरता या सरसता। सौकुमार्य—निष्ठुरता का अभाव।

इन दस गुणों से गुम्फित कवि-वाणी, मुक्ता-माला की भांति, भारती के कण्ठ में आभरण की सुषमा को प्राप्त करती है।

चौथा परिच्छेद—

जैसे आभूषणों के बिना नायिका का रूप सुशोभित नहीं होता उसी तरह अलङ्कारों के बिना काव्य भी सुशोभित नहीं होता, भले ही वह निर्दोष हो और हो सगुण।

अलङ्कारों के भेद-प्रभेद—

अलङ्कार दो प्रकार के ... हैं—(१) शब्दा-लङ्कार और (२) अर्थाल... के चार भेद हैं—(१) चित्र ... (३) अनुप्रास और (४) यमक ... पैंतीस भेद है—(१) जाति, (... रूपक, (४) प्रतिवस्तूपमा, (५) ... (७) संशय, (८) दृष्टान्त, ... अपह्नुति, (११) तुल्य योगि...) अर्थान्तरन्यास, (१४) ... ा, (१६) दीपक,

(१८) हेतु, (१९) पर्यायोक्त, (२०) समाहित, (२१) परिवृत्ति, (२२) यथा संख्य, (२३) विषम, (२४) सहोक्ति, (२५) विरोध, (२६) अवसर, (२७) सार, (२८) श्लेष, (२९) समुच्चय, (३०) अप्रस्तुत प्रशंसा, (३१) एकावली, (३२) अनुमान, (३३) परिसंख्या, (३४) प्रश्नोत्तर और (३५) सङ्कर।

संक्षिप्त स्वरूप—

चित्र—ऐसे वर्णों की योजना करना, जिनसे कमल आदि के आकार बन जायं तथा स्वर एवं व्यञ्जनों का चमत्कार। चित्र का चमत्कार प्रसाद गुण के रहने से और भी बढ़ जाता है।

चित्र–चित्रालङ्कार चार प्रकार का होता है–(१) आकार चित्र, (२) जाति चित्र, (३) स्वर-चित्र और (४) व्यञ्जन चित्र। इनमें से स्वर चित्र के उदाहरण यों हैं—

मात्रा च्युतक—

मूलस्थितिमधः कुर्वन्
पात्रैः जुष्टो गताक्षरैः।
विटः सेव्यः कुलीनस्य
तिष्ठतः पथि कस्य सः ॥ वा० ४.१०

विट के पक्ष में-

कुल की मूल मर्यादा को तोड़ने वाला और अपढ़ लोगों की संङ्गति करने वाला विट-गुण्डा सन्मार्ग पर स्थित किस कुलीन व्यक्ति के लिये सेव्य हो सकता है ?

वट के पक्ष में-

अपनी जड़ों या पायों को नीचे की ओर ले जाने वाला और पत्तों से युक्त वट—बरगद का पेड़ नीचे आकर बैठे या लुटे हुए राहगीर को आश्रय देने योग्य होता है।

यहां 'विट' से इकार को निकालने पर एक नया अर्थ निकल पड़ता है, जो चमत्कार जनक है।

बिन्दुच्युतक-

धर्माधर्मविदः साधु पक्षपात समुद्यतः।
गुरूणां वञ्चने निष्ठा नरकं यान्ति दु खिताम् ॥

पहला अर्थ—नर-हे मानव ! जो धर्म और अधर्म को समझते हैं, अच्छे पुरुषों के प्रति विशेष अनुराग रखने में तत्पर रहते हैं और गुरूओं की आज्ञा को शिरोधार्य समझते हैं, श्रद्धा रखते हैं, क्या वे दुःख उठाते हैं ? नहीं।

दूसरा अर्थ—जो धर्म को अधर्म समझते हैं, अच्छे पुरुषों के सहायकों को गिराने में तत्पर रहते है और गुरूजनों को धोखा देने में संलग्न रहते हैं, वे नरकों के दुःख भोगते है।

यहां बिन्दु का चमत्कार है। वञ्चनें (वंचने) में बिन्दु के न रहने पर एक अर्थ निकलता है और उसके न रहने पर (वचने) दूसरा।

वक्रोक्ति—जहां वक्ता के अभिप्राय को समङ्ग या अभङ्ग श्लेष के सहारे बदल कर उत्तर दिया जाय।

अनुप्रास–जहां वर्णों की आवृत्ति हो–वर्ण साम्य हो। यह दो प्रकार का होता है–(१)छेकानुप्रास और (२) लाटानुप्रास।

यमक-जहां पाद, पद और वर्ण की आदि मध्य या अन्त में संयुतावृत्ति अथवा असंयुतावृत्ति हो।

अनुप्रास में स्वरों की समानता विवक्षित नहीं होती यमक में होती है—यही इन दोनों में अन्तर है।

इसके अठारह भेद हैं—पदगत, पादगत और वर्णगत। इन तीनों के आदिगत, मध्यगत और अन्तगत होने से नौ भेद होते हैं और इनमें से प्रत्येक की संयुतावृत्ति (व्यवधान रहित आवृत्ति) तथा असंयुतावृत्ति (व्यवधान सहित आवृत्ति) होती है अतः कुल मिलाकर अठारह भेद हो जाते हैं।

जाति—जङ्गम या स्थावर पदार्थ के स्वभाव की उक्ति वे जैसे हैं उनका हू-बहू वैसा ही वर्णन। हीनजाति, भीत और बच्चों के स्वाभाविक वर्णन में इस अलङ्कार की विशेष सुन्दरता देखी जाती है। स्वभावोक्ति इसी का दूसरा नाम है।

उपमा—जहां उपमेय की उपमान के साथ समानता बतलाई जाय।

अन्योन्योपमा—जहां उपमेय की उपमान के साथ तथा उपमान की उपमेय के साथ समानता प्रतिपादित हो। उपमेयोपमा इसका दूसरा नाम है।

अनन्वयोपमा—जहां एक ही पदार्थ में उपमान उपमेय भाव हो।

उपमान और उपमेय में लिङ्ग और वचन का साम्य होना चाहिए तथा दोनों के विशेषणों में न्यूनाधिकता नहीं होनी चाहिये।

हीनोपमा तथा अधिकोपमा का प्रयोग दोषावह होता है—

शुनीयं गृह देवीव प्रत्यक्षा प्रतिभासते।
खद्योत इव सर्वत्र प्रतापश्च विराजते॥ वा० ४ ई०

यह कुतिया प्रत्यक्ष (साक्षात्) गृह देवी सरीखी जंच रही है और प्रताप जुगनू की भांति सभी जगह सुशोभित हो रहा है।

यहां पूर्वार्ध में शुनी उपमेय है और गृहदेवी उपमान। यहां कुतिया को गृह देवी की उपमा दी गई है, जो बहुत बड़ी है अतः यह अधिकोपमा का उदाहरण हुआ। उत्तरार्ध में प्रताप उपमेय है और खद्योत उपमान। पूर्वभाग में उपमान (गृहदेवी) बड़ा है तो उत्तरार्ध में वह-उपमान (खद्योत) छोटा है, अतः यह हीनोपमा है। ऐसी उपमाओं का प्रयोग नहीं करना चाहिये।

रूपक—जहां उपमेय और उपमान में अभेद हो।

उपमा में उपमेय और उपमान में भेद रहता है और रूपक में अभेद यही उपमा तथा रूपक में अन्तर है।

प्रतिवस्तूपमा—जहां एक वस्तु (उपमेय वाक्यार्थ) का प्रतिवस्तु (उपमान वाक्यार्थ) के साथ साम्य प्रतीत होता हो।

उपमालङ्कार में एक वाक्य होता है और प्रतिवस्तूपमा में दो, तथा उपमा में इव आदि उपमावाचक शब्दों का प्रयोग होता है, प्रतिवस्तूपमा में नहीं—यही इन दोनों में स्थूल अन्तर है।

भ्रान्तिमान्—जहां एक वस्तु (उपमेय) में अन्य वस्तु (उपमान) की भ्रांति हो।

आक्षेप—जहां निषेध की उक्ति या प्रतीति हो। जैसे—

यस्यास्ति नरकक्रोडनिवासे रसिकं मनः।
सोऽस्तु हिंसानृतस्तेयतत्परः सुतरां जनः॥

जिस मानव का मन, नरक के बिलों में निवास करने के लिए उत्सुक हो वह हिंसा, झूठ तथा चोरी के कार्यों में खूब तत्पर रहे।

यहां हिंसा, आदि के निषेध की प्रतीति हो रही है—हिंसा आदि का निषेध व्यङ्ग्य है (न कि वाच्य)।

संशय—जहां अनेक वस्तुओं के सादृश्य के कारण उनमें से किसी एक को देखकर यह 'अमुक है या अमुक' ऐसी बुद्धि उत्पन्न हो। जहां हेतुओं के बल पर अन्त में निश्चय हो वहां निश्चयान्त सन्देह या संशय होता है।

दृष्टान्त—जहां किसी व्यापार के द्वारा प्रकृत और अप्रकृत के अन्वय-साम्य का कथन हो।

व्यतिरेक—जहां उपमेय और उपमान में से किसी भी एक के प्रकर्ष का कथन हो।

अपह्नुति—जहां दो पदार्थों के सादृश्य के कारण एक का अपलाप करके दूसरे का कथन हो।

तुल्ययोगिता—जहां उपमेय को उपमान के समान बतलाने के लिए एक ही समय में होने वाली किसी एक ही क्रिया के द्वारा दोनों का सम्बन्ध वर्णित हो।

उत्प्रेक्षा—जहां औचित्य के आधार पर सत् पदार्थ की अन्य रूप में कल्पना की जाय। इव मन्ये शङ्के आदि के रहने से वह वाच्य मानी जाती है।

अर्थान्तरन्यास—जहां प्रतिपादित अर्थ की सिद्धि के लिए युक्ति पूर्वक अन्य अर्थ का प्रतिपादन हो। श्लिष्ट और अश्लिष्ट के भेद से यह अलङ्कार दो प्रकार का होता है।

समासोक्ति—जहां प्रस्तुत अर्थ की प्रतीति कराने के लिये समर्थ अप्रस्तुत अर्थ की उक्ति हो।

विभावना—जहां स्वाभाविक गुणों के उत्कर्ष को प्रकट करने की भावना से कारण विना कार्य का होना दिखलाया जाय।

दीपक—जहां आदि, मध्य या अन्त में स्थित किसी एक पदार्थ के द्वारा वाक्य की सन्दीप्ति देखी जाय।

अतिशय—जहाँ प्रस्तुत वस्तु के उत्कर्ष को अस-

यथासंख्य—जहां प्रतिपादित पदार्थों से सम्बद्ध अर्थ पुनः उसी क्रम से वर्णित हों।

विषम—जहां किसी अनौचित्य के कारण कवि दो पदार्थों के सम्बन्ध को असम्भव बतलाये।

सहोक्ति—जहां कार्य और कारण का एक ही साथ होना वर्णित हो।

विरोध—जहां आपाततः विरोध का आभास हो, वस्तुतः हो नहीं। विरोधाभास इसी का दूसरा नाम है।

अवसर—जहां अन्य उत्कृष्ट अर्थ प्रस्तुत अर्थ का उपलक्षण हो।

सार—जहां गुणोत्कर्ष सारभूत किसी एक वस्तु में अन्य वस्तुओं का सार उत्तरोत्तर अधिक बतलाया जाय। जैसे—इस संसार में सर्वाधिक सारभूत वस्तु मानव पर्याय है और उससे बढ़कर कुलीनता, कुलीनता से बढ़कर धार्मिकता तथा धार्मिकता से बढ़कर दयालुता है—

संसारे मानुष्यं सारं मानुष्ये च कौलीन्यम्।
कौलीन्ये धर्मित्वं धर्मित्वे चापि सदयत्वम्॥

वा० ४।१३६

श्लेष—जहां एक ही वाक्य अनेक उन्हीं पदों के द्वारा या उनसे भिन्न पदों के द्वारा अनेक अर्थों का प्रतिपादन करे।

अप्रस्तुत प्रशंसा—जहां अप्रस्तुत वस्तु की प्रशंसा हो (जहां प्रस्तुत की प्रतीति कराने के लिए अप्रस्तुत की प्रशंसा-चर्चा की जाय) ।

एकावली–जहां पूर्व-पूर्व में प्रतिपादित वस्तुओं की विशेषता बतलाने वाली वस्तुओं की उत्तरोत्तर रचना हो ।

अनुमान—जहां प्रत्यक्ष गोचर लिङ्ग (साधन) से त्रिकालवर्ती लिङ्गी (साध्य) का ज्ञान वर्णित हो ।

परिसंख्या—जहां किसी साधारण वस्तु का प्रतिपादन अन्यत्र उसके निषेध के लिए किया जाय ।

प्रश्नोत्तर—जहां प्रश्न होने पर उसका व्यक्त, अव्यक्त अथवा व्यक्ता-व्यक्त उत्तर दिया जाय ।

सङ्कर–जहां पूर्वोक्त अलङ्कारों का संमिश्रण हो ।

उक्त चार शब्दालङ्कारों तथा पैंतीस अर्थालङ्कारों के सिवा अन्य अलङ्कारों में चमत्कार नहीं है, इसलिये उन्हें छोड़ दिया गया है, यदि किन्हीं में है भी तो उनका अन्तर्भाव इन्हीं में कर लिया गया है–इसी कारण से और अलङ्कारों का वर्णन नहीं किया गया —

अचमत्कारिता वा स्यादुक्तान्तर्भाव एव च ।
अलङ्क्रियाणामन्यासामनिबन्धे निबन्धनम् ॥
वा० ४. १४६

रीति दो प्रकार की होती है—[१] गौड़ीया और [२] वैदर्भी । जहां समास की बहुलता हो वहां गौड़ीया और जहां समास की बहुलता न हो वहां वैदर्भी रीति होती है । इन दोनों का क्रमशः गौड एवं विदर्भ देश में प्रचार रहा ।

पञ्चम परिच्छेद

जैसे खूब पका हुआ भोजन यदि अलौना हो तो वह बेस्वाद होता है उसी तरह काव्य यदि नीरस हो तो वह आस्वाद्य नहीं होता । अतः काव्य में रसों का होना आवश्यक है ।

विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी और सात्विक भावों से उत्कर्ष को प्राप्त कराया गया स्थायी भाव रस कहलाता है ।

रस नौ होते हैं-(१) शृङ्गार, (२) वीर, (३) करुण, (४) हास्य, (५) अद्भुत (६) भयानक, (७) रौद्र (८) वीभत्स और (९) शान्त ।

उक्त रसों के स्थायी भावों की संख्या नौ है–(१) रति, (२) उत्साह, (३) शोक, (४) हास (५) विस्मय, (६) भय, (७) क्रोध, (८) जुगुप्सा और (९) शम ।

इस प्रकार पांचों परिच्छेदों में क्रम से कवि शिक्षा, दोष, गुण, अलङ्कार और रसों पर संक्षिप्त किन्तु स्पष्ट प्रकाश डाला गया है ।

रचना काल—

प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना जयसिंह नरेश के महामात्य वाग्भट ने उनके शासनकाल में की थी । उनका शासनकाल वि० सं० ११५० से ११९९ तक निश्चित है,[1] किन्तु पं० बलदेवजी उपाध्याय ने न जाने १५ शतक का पूर्वार्ध किस आधार पर लिखा ।[2]

---

१. जैन साहित्य और इतिहास–स्व पं० नाथूराम जी प्रेमी पृ० ३२८

२. संस्कृत साहित्य का इतिहास पञ्चम संस्करण पृ० ६४५

प्रस्तुत वाग्भट नेमिनिर्वाण, काव्यानुशासन और अष्टाङ्गहृदय आदि के लेखकों से भिन्न हैं, पर अनेक विद्वानों को इस विषय में भी भ्रम बना हुआ है।[3]

---

१. वाग्भट प्रथम श्वेताम्बर सम्प्रदाय के जैन थे। 'वाहट' इनका प्राकृत नाम था। नेमि निर्वाण महाकाव्य के रचयिता भी यही थे।

—संस्कृत साहित्य का इतिहास–वाचस्पति गैरोला पृ० ९६१

१. 'वाग्भटालङ्कार,' २. 'काव्यानुशासन,' ३. 'नेमिनिर्वाण महाकाव्य,' ४. 'ऋषभदेव चरित,' ५. 'छन्दोऽनुशासन' और आयुर्वेद के प्रसिद्ध ग्रन्थ ६. 'अष्टाङ्ग हृदय' आदि ग्रन्थों के रचयिता वाग्भट माने जाते हैं।..............................वास्तव में इन सब ग्रन्थों के रचयिता वाग्भट नाम के एक ही व्यक्ति प्रतीत होते हैं।

—काव्य प्रकाश भूमिका–आ० विश्वेश्वर पृ० ८०

ऐसे व्यक्ति से बचो
जो
धर्म की ऊंची
बातें
करता है।

—रवीन्द्रनाथ टैगोर

"शत्रुओं से प्रेम करो। जो तुम्हें शाप देते हैं उन्हें आशीर्वाद दो, जो तुमसे द्वेष करते हैं उनका भला करो, जो तुम्हारे साथ घृणा का बर्ताव करते हैं या तुम पर अत्याचार करते हैं उनके लिए परमात्मा से प्रार्थना करो, क्योंकि यदि तुम उन लोगों से प्रेम करते हो जो तुम्हें चाहते हैं तो तुम्हें क्या पारितोषिक मिलेगा ? क्या साधारण मनुष्य भी ऐसा नहीं करते ?"

—महात्मा ईसा (बाईबिल)

सिद्धसेन का अभेदवाद और दिगम्बर परम्परा

सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री

जैन सिद्धान्त में जीव का लक्षण उपयोग कहा है। तथा चैतन्यानुविधायी परिणाम को उपयोग कहा है। उस उपयोग के दो भेद हैं–ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग। दर्शनोपयोग पूर्वक ही ज्ञानोपयोग होता है। किन्तु केवली को लेकर जैन परम्परा में मतभेद है। श्वेताम्बर परम्परा केवली के भी दर्शनोपयोगपूर्वक ही ज्ञानोपयोग मानती है और दिगम्बर परम्परा केवली के दोनों उपयोग युगपद् मानती है। इन दोनों से अतिरिक्त तीसरा मत है आचार्य सिद्धसेन का। उन्होंने अपने सन्मति तर्क के दूसरे काण्ड में क्रमवादी और युगपद्वादी पक्षों का खण्डन करके केवली में ज्ञान और दर्शन के अभेद की स्थापना की है।

क्रमवादी पक्ष की समीक्षा करते हुए आचार्य सिद्धसेन कहते हैं 'मनः पर्यय ज्ञान तक तो दर्शन और ज्ञान में भेद है, किन्तु केवल ज्ञान होने पर ज्ञान और दर्शन एक साथ होते हैं। परन्तु किन्हीं का ऐसा कहना है कि जब केवली जानते हैं तब देखते नहीं है। ऐसा कहने वालों को तीर्थङ्कर की आसादना का भय नहीं है—(सन्मति० २।३, ४)।

इसका खुलासा यह है कि जैन सिद्धांत में पांच ज्ञान और चार दर्शन माने गये है। इनमें से मति, श्रुत, अवधि और मनः पर्यय ज्ञान तक तो दर्शन पूर्वक ही ज्ञान होता है। इसमें कोई विवाद नहीं है। अर्थात् अल्पज्ञ, अवस्था में होने वाले सावरण उपयोगों में ज्ञान और दर्शन काल क्रम से होते ही हैं किन्तु निरावरण केवलोपयोग के विषय में ऐसा नहीं है। वस्तु सामान्य विशेषात्मक है और सामान्य का ग्रहण दर्शन है तथा विशेष का ग्रहण ज्ञान है। क्रमवादी पक्ष का कहना है कि चेतना सामान्य और विशेष का ग्रहण एक साथ का हो नहीं सकती क्योंकि आगम में भी लिखा है कि जब केवली देखते हैं तब जानते नहीं हैं।

इस क्रमवादी पक्ष के खंडन के लिये आचार्य सिद्धसेन युगपद्वादी पक्ष को उपस्थित करते हैं। युगपद्वादी क्रमवादी के सामने तीन युक्तियां रखता है।

१ जैसे केवल ज्ञानावरण का क्षय होने पर केवल ज्ञान प्रकट होता है वैसे ही उसी समय दर्शनावरण कार्य का क्षय होने पर केवल दर्शन भी प्रकट हो जाता है अतः ज्ञान काल में ही दर्शन भी होना चाहिए। (सन्मति० २।५)

२ जैसे सब ज्ञानावरण कर्मों का क्षय हो जाने से केवली में मति आदि ज्ञान भिन्न नहीं होते, वैसे ही दर्शनावरण कर्म का क्षय होने पर केवली में ज्ञान से भिन्न समय में दर्शन नहीं हो सकता। —(सन्मति २।६)

३ आगम में केवल ज्ञान और केवल दर्शन को सादि अनन्त कहा है। यदि उनको क्रम से माना जाता है तो केवल दर्शन के समय में केवल ज्ञान का और केवल ज्ञान के समय में केवल दर्शन का अभाव होने से दोनों ही सादि

मान्त सिद्ध होते हैं। —(सन्मति २।७, ८) इस तरह युगपद्वादी के द्वारा क्रमवाद में दूषण दिखाकर आचार्य सिद्धसेन अपने अभेद पक्ष का समर्थन करते हुए कहते हैं—

दर्शनावरण और ज्ञानावरण का क्षय एक काल में होने पर दर्शन और ज्ञान में से किसकी उत्पत्ति पहले होगी ? ऐसा कोई पूछे तो यही कहना होगा कि दोनों की उत्पत्ति साथ में होगी। किन्तु यह युगपद्वाद भी ठीक नहीं है क्योंकि केवली दशा में दो उपयोग नहीं हैं, वस्तुतः एक ही उपयोग है। (सन्मति २।६)

यदि दो उपयोग एक साथ भी मानेंगे तो केवल ज्ञान का विषय मात्र विशेष है और केवल दर्शन का विषय मात्र सामान्य है। अतः कोई भी एक उपयोग सर्वग्राहक न होने से सर्वज्ञत्व और सर्वदर्शित्व किस प्रकार घट सकेगा। यदि कहोगे कि सर्वज्ञ एक समय में सब साकार जानता है तो उस तरह सदा ही होना चाहिए और ऐसा होने से एक ही उपयोग के द्वारा सबका ग्रहण मानना पड़ेगा। (स०, २।१०)

ज्ञान साकार होने से व्यक्त होता है, दर्शन अनाकार होने से अव्यक्त होता है। किन्तु क्षीण आवरण वाले केवली में यह व्यक्त और अव्यक्त का भेद कैसे घटेगा। —(स० २।११)

तथा यदि दोनों उपयोगों को पृथक् माना जाता है तो केवली सदा अदृष्ट और अज्ञात का ही उपदेश देते है वह सिद्ध होता है। एक साथ ज्ञात और दृष्ट का उपदेश नहीं बनता। तथा जैसे आगम में केवल ज्ञान को अनन्त कहा है वैसे ही केवल दर्शन को भी अनन्त कहा है। यदि दर्शन को ज्ञान से भिन्न माना जाता है तो ज्ञान से दर्शन अनाकार होने से अवश्य ही अल्प विषय वाला ठहरता है। (२।१२, १४)

यदि दो उपयोग नहीं हैं तो उन्हे भिन्न भिन्न क्यों बतलाया है ? इस आशंका के परिहार के लिये आचार्य कहते हैं कि—शास्त्र में चक्षु अचक्षु अवधि और केवल के भेद से दर्शन के भेद कहे हैं। अतः केवल ज्ञान और केवल दर्शन भिन्न है। किंतु ज्ञान दर्शन पूर्वक होता है परन्तु दर्शन ज्ञान पूर्वक नहीं होता। अतः हम यथार्थ रूप से निश्चय करते हैं कि केवली अवस्था में दर्शन और ज्ञान का भेद नहीं है। (२।२०–२२)।

इस प्रकार आचार्य सिद्ध सेन ने क्रमवादी पक्ष श्वेताम्बर परम्परा और युगपद्वादी पक्ष दिगम्बर परम्परा में दूषण देकर एकोपयोगवाद की स्थापना की है। क्रमवादी पक्ष के अनुयायी जिनभद्र गणि श्रमण ने अपने विशेषावश्यक भाष्य में सिद्धसेन के उक्त मत का खण्डन जोरदार तरीके से किया है किन्तु युगपद्वादी पक्ष ने सिद्धसेन के मत का विरोध तो किया है किन्तु वह विरोध प्रवल नहीं है।

यद्यपि आचार्य कुन्दकुन्द[1], समन्तभद्र[2] और पूज्यपाद देवनन्दि[3] ने युगपद्वाद का कथन तो किया है किन्तु किसी विरोधी पक्ष का उल्लेख तक नहीं किया है। अकलंकदेव ने अष्टशती[4] में युगपद्वाद

---

१ नियमसार गा० १५६

२ आप्तमीमांसा, का० १०१

३ सर्वार्थसिद्धि २।६

४ अष्टसहस्री पृ० २८१

का समर्थन करते हुए क्रमवाद का खण्डन किया है और तत्त्वार्थवार्तिक[1] में एक स्थान पर केवली के क्रम से ज्ञान और दर्शन मानने वालों को केवली का निन्दक कहा है तो दूसरे स्थान[2] पर केवली के ज्ञान ही दर्शन है, ऐसा मानकर दोनों को एक मानने वालों का निरसन किया है। यह निरसन अवश्य ही सिद्धसेन के सन्मति को लेकर किया गया है। मगर बहुत चलता हुआ सा है, जिनभद्र गणि की तरह जोरदार नहीं है।

वीरसेन स्वामी ने जयधवला टीका में सिद्धसेन की क्रमोपयोगवाद और युगपद्वाद के विरोध से लिखी गई गाथाओं को उपस्थित करके दर्शन की आगमिक व्याख्या की स्थापना की है। दर्शन की यह व्याख्या दिगम्बर परम्परा में ही मिलती है। आगे हम जयधवला से उस चर्चा को देते हैं।

चर्चा का सूत्रपात एक शंका से होता है। कसाय पाहुड गाथा १६ में केवल ज्ञान और केवल दर्शन का उत्कृष्ट उपयोग काल अन्तर्मुहूर्त कहा है इस पर से यह शंका उत्पन्न हुई कि केवल ज्ञान और केवल दर्शन की प्रवृत्ति एक साथ नहीं होती। यदि ऐसा होता तो तद्भवस्थ केवली के केवल ज्ञान और केवल दर्शन के उपयोग का काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण नहीं होना चाहिये। इतना कह कर शङ्काकार अपने पक्ष के समर्थन में सन्मति की 'केई भणंति' आदि गाथा (२।४) उपस्थित करता है। इसके समाधानार्थ वीरसेन स्वामी सन्मति की गाथा (२।५) उपस्थित करते हैं जिसमें कहा है कि जिस प्रकार केवलज्ञानावरण के क्षय होने पर केवल ज्ञान उत्पन्न होता है उसी प्रकार उसी समय केवल दर्शनावरण के क्षय हो जाने पर केवल दर्शन की भी उत्पत्ति होती है।

इस पर शंकाकार पुनः कहता है कि केवल ज्ञान और केवल दर्शन की उत्पत्ति भले ही साथ हो; क्योंकि दोनों के आवारक कर्म एक साथ नष्ट होते हैं। परन्तु दोनों उपयोग क्रम से ही होते हैं; क्योंकि केवल दर्शन सामान्यग्राही होने से अव्यक्त रूप है और केवल ज्ञान विशेषग्राही होने से व्यक्त रूप है। अतः दोनों एक साथ कैसे हो सकते हैं। इतना कह कर शंकाकार अपने पक्ष के समर्थन में सन्मति की गाथा (२।९) उपस्थित करता है। पहले बतला आये हैं कि इस गाथा के द्वारा सिद्धसेन ने क्रमवादी के विरोध में युगपद्वादी को खड़ा करके अन्त में अपने अभेदवादी पक्ष को स्थापित किया है। सिद्धसेन ने अपने पक्ष के समर्थन में जो युक्तियां दी हैं उन्हीं के आधार पर आचार्य वीरसेन दर्शन की नई परिभाषा को स्थापित करने की भूमिका बांधते हुए उक्त शंका का समाधान करते हुए कहते हैं—

यदि केवल ज्ञान केवल विशेष का और केवल दर्शन केवल सामान्य का ग्राही होता तो उक्त दोष सम्भव होता। किन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि केवल सामान्य और केवल विशेष रूप कोई विषय ही नहीं है। अतः जब वस्तु सामान्यविशेषात्मक ही है तो केवल दर्शन को केवल सामान्य का ग्राही और केवल ज्ञान को केवल विशेष का ग्राही मानने पर दोनों ही उपयोगों का अभाव प्राप्त होता है क्योंकि केवल सामान्य और केवल विशेष रूप वस्तु का अभाव है।

इतना कहने के पश्चात् वीरसेन स्वामी अपने कथन के समर्थन में सन्मति की दो गाथा (२।१२, १३) उपस्थित करते हैं जो सिद्धसेन ने युगपद्वाद के विरोध में कही हैं। पुनः कहते हैं कि ऊपर कहे गये दोष न आवें, इसलिए अन्तरंग उद्योत केवल ज्ञान है और बहिरंग पदार्थों को विषय करने वाला

---

१ पृ० ५२४
२ पृ० ५१८

मान्त सिद्ध होते हैं। —(सन्मति २।७, ८)
इस तरह युगपद्वादी के द्वारा क्रमवाद में दूषण दिखाकर आचार्य सिद्धसेन अपने अभेद पक्ष का समर्थन करते हुए कहते हैं—

दर्शनावरण और ज्ञानावरण का क्षय एक काल में होने पर दर्शन और ज्ञान में से किसकी उत्पत्ति पहले होगी ? ऐसा कोई पूछे तो यही कहना होगा कि दोनों की उत्पत्ति साथ में होगी। किन्तु यह युगपद्वाद भी ठीक नहीं है क्योंकि केवली दशा में दो उपयोग नहीं हैं, वस्तुतः एक ही उपयोग है।
(सन्मति २।९)

यदि दो उपयोग एक साथ भी मानेंगे तो केवल ज्ञान का विषय मात्र विशेष है और केवल दर्शन का विषय मात्र सामान्य है। अतः कोई भी एक उपयोग सर्वग्राहक न होने से सर्वज्ञत्व और सर्वदर्शित्व किस प्रकार घट सकेगा। यदि कहोगे कि सर्वज्ञ एक समय में सब साकार जानता है तो उस तरह सदा ही होना चाहिए और ऐसा होने से एक ही उपयोग के द्वारा सबका ग्रहण मानना पड़ेगा।
(स०, २।१०)

ज्ञान साकार होने से व्यक्त होता है, दर्शन अनाकार होने से अव्यक्त होता है। किन्तु क्षीण आवरण वाले केवली में यह व्यक्त और अव्यक्त का भेद कैसे घटेगा। —(स० २।११)

तथा यदि दोनों उपयोगों को पृथक् माना जाता है तो केवली सदा अदृष्ट और अज्ञात का ही उपदेश देते है वह सिद्ध होता है। एक साथ ज्ञात और दृष्ट का उपदेश नहीं बनता। तथा जैसे आगम में केवल ज्ञान को अनन्त कहा है वैसे ही केवल दर्शन को भी अनन्त कहा है। यदि दर्शन को ज्ञान से भिन्न माना जाता है तो ज्ञान से दर्शन अनाकार होने से अवश्य ही अल्प विषय वाला ठहरता है।
(२।१२, १४)

यदि दो उपयोग नहीं हैं तो उन्हे भिन्न भिन्न क्यों बतलाया है ? इस आशंका के परिहार के लिये आचार्य कहते हैं कि—शास्त्र में चक्षु अचक्षु अवधि और केवल के भेद से दर्शन के भेद कहे हैं। अतः केवल ज्ञान और केवल दर्शन भिन्न है। किंतु ज्ञान दर्शन पूर्वक होता है परन्तु दर्शन ज्ञान पूर्वक नहीं होता। अतः हम यथार्थ रूप से निश्चय करते हैं कि केवली अवस्था में दर्शन और ज्ञान का भेद नहीं है। (२।२०–२२)।

इस प्रकार आचार्य सिद्ध सेन ने क्रमवादी पक्ष श्वेताम्बर परम्परा और युगपद्वादी पक्ष दिगम्बर परम्परा में दूषण देकर एकोपयोगवाद की स्थापना की है। क्रमवादी पक्ष के अनुयायी जिनभद्र गणि श्रमण ने अपने विशेषावश्यक भाष्य में सिद्धसेन के उक्त मत का खण्डन जोरदार तरीके से किया है किन्तु युगपद्वादी पक्ष ने सिद्धसेन के मत का विरोध तो किया है किन्तु वह विरोध प्रबल नहीं है।

यद्यपि आचार्य कुन्दकुन्द[1], समन्तभद्र[2] और पूज्यपाद देवनन्दि[3] ने युगपद्वाद का कथन तो किया है किन्तु किसी विरोधी पक्ष का उल्लेख तक नहीं किया है। अकलंकदेव ने अष्टशती[4] में युगपद्वाद

---

१ नियमसार गा० १५९
२ आप्तमीमांसा, का० १०१
३ सर्वार्थसिद्धि २।९
४ अष्टसहस्री पृ० २८१

किया है। उसकी वृत्ति में वृत्तिकार ने शङ्का उठाई है कि 'स्वरूप ग्रहण को दर्शन कहते हैं इस सिद्धांत के साथ दर्शन की 'सत्तालोक' रूप व्याख्या का विरोध क्यों नहीं है? इसके समाधान में वृत्तिकार ने कहा है कि दोनों के अभिप्राय में भेद है। न्याय शास्त्र का उद्देश्य दूसरों के विवादों को दूर करना है अतः न्याय शास्त्र में स्वीकृत निर्विकल्पक दर्शन के प्रामाण्य का विघात करने के लिये स्याद्वादी सामान्य ग्रहण को दर्शन कहते हैं। स्वरूप ग्रहण की अवस्था में अल्पज्ञ जन बाह्य अर्थ का ग्रहण नहीं कर सकते। और प्रामाण्य का विचार बाह्य अर्थ की अपेक्षा से ही किया जाता है। अतः दर्शन तो बाह्य अर्थ के व्यवहार में अनुपयोगी है और ज्ञान उपयोगी है अतः उसे ही प्रमाण कहा जाता है क्योंकि ज्ञान सविकल्पक होता है परन्तु तात्विक दृष्टि से तो स्वरूप ग्रहण ही दर्शन है क्योंकि केवली के दर्शन और ज्ञान एक साथ होते हैं। यदि सामान्य ग्रहण को दर्शन और विशेष ग्रहण को ज्ञान मानते हैं तो ज्ञान का विषय सामान्य विशेषात्मक वस्तु नहीं रहेगी।

इस परिभाषा के अनुसार दर्शन का विषय है आत्मा और ज्ञान का विषय है बाह्य पदार्थ। केवली एक साथ स्व पर दोनों को जानता है अतः उसके केवल ज्ञान और केवल दर्शन एक साथ होते हैं। किन्तु निश्चय दृष्टि से तो आत्मा एक अखण्ड रूप है। गुणकृत भेद तो व्यवहार दृष्टि से है। अतः आत्मा रूप से दर्शन और ज्ञान भिन्न नहीं है। व्यवहार दृष्टि से आत्मा और ज्ञान पर प्रकाशक है इसलिये दर्शन भी पर प्रकाशक है। और निश्चय दृष्टि से आत्मा और ज्ञान स्व प्रकाशक है। निश्चय दृष्टि से तो केवली आत्म स्वरूप को ही जानता है लोक अलोक को नहीं जानता। अतः वहां दर्शन और ज्ञान का भेद ही नहीं है। इस तरह जहां कुन्दकुन्द की निश्चय दृष्टि से केवली के ज्ञान दर्शन अभिन्न हैं वहां सिद्धसेन की तार्किक दृष्टि में अभिन्न हैं। शायद इसी से सिद्धसेन के अभेदवाद का प्रबल विरोध दिगम्बर परम्परा में नहीं मिलता, बल्कि प्रकारान्तर से समर्थन ही मिलता है।

o:o:o:o:o

ऐसी बानी बोलिये, मन का आपा खोय।
औरन को शीतल करे, आपहु शीतल होय॥
गोधन गजधन बाजिधन, और रतन धनखान।
जब आवे संतोष धन, सब धन धूरि समान॥

—महात्मा कबीर

केवल ज्ञान है, ऐसा मानना चाहिए। ऐसा मान लेने में दोनों उपयोगों की एक साथ प्रवृत्ति मानने में भी विरोध नहीं आता है।

आशय यह है कि वीरसेन स्वामी के अनुसार जीव या आत्मा तो स्वपर प्रकाशक है, और उसके दो उपयोगों में से केवल ज्ञान केवल पर प्रकाशक है और केवल दर्शन स्वप्रकाशक है। अर्थात् एक का विषय स्वात्मा है तो दूसरे का विषय सब बाह्य पदार्थ है। आगम में जो दर्शन को सामान्य ग्राही कहा है वहां सामान्य से जीव का ग्रहण माना गया है क्योंकि जीव समस्त पदार्थों को बिना किसी भेद-भाव के ग्रहण करता है और उसमें रागद्वेष का अभाव होने से यह समानता पाई जाती है। अतः स्व और पर के प्रकाशक दोनों उपयोग केवली के एक साथ बन जाते हैं क्योंकि वे स्व और पर को एक साथ[1] जानते हैं। इस तरह अभेदवादी तार्किक सिद्धसेन की अभेदवादी युक्तियों के प्रकाश में ही वीरसेन ने दर्शन की नई परिभाषा बांधकर युगपद्वाद की ही रक्षा की है।

वे अपनी परिभाषा को आगमिक बतलाते हैं और कुन्दकुन्द के नियमसार को देखने से उनके कथन का समर्थन होता है। साथ ही सिद्धसेन ने जिस अभेदवाद की स्थापना की उसके बीज भी उसमें दृष्टिगोचर होते हैं। अतः संक्षेप में उसे भी दे देना रुचिकर होगा। यह चर्चा गाथा १५९ से १७१ तक में चर्चित है।

कुन्दकुन्द से परिचित पाठक जानते हैं कि उन्होंने वस्तु तत्त्व का विवेचन निश्चय और व्यवहार दृष्टिकोण से किया है अतः शुद्धोपयोग अधिकार का अवतरण करते हुए सर्व प्रथम वे दोनों दृष्टियों से सर्वज्ञ का स्वरूप बतलाते हैं कि व्यवहार नय से केवली भगवान सबको जानते देखते हैं किन्तु निश्चयनय से केवल ज्ञानी आत्मा को ही जानता है। जैसे सूर्य में प्रताप और प्रकाश एक साथ रहते हैं वैसे ही केवल ज्ञानी में दर्शन तथा ज्ञान एक साथ रहते हैं ॥ १५९-१६० ॥

इसके बाद आचार्य कुन्द-कुन्द कहते हैं-यदि तू ऐसा मानता है कि ज्ञान पर प्रकाशक है, दर्शन आत्म प्रकाशक है और आत्मा स्वपर प्रकाशक है तो यदि ज्ञान पर प्रकाशक हो तो ज्ञान से दर्शन भिन्न सिद्ध होगा; क्योंकि 'दर्शन पर द्रव्यगत नहीं है ऐसा पहले कहा है ॥ १६२ ॥ यदि आत्मा पर प्रकाशक हो तो आत्मा से दर्शन भिन्न सिद्ध होगा क्योंकि दर्शन पर प्रकाशक नहीं है ऐसा पहले कहा है ॥ १६३ ॥ व्यवहारनय से ज्ञान पर प्रकाशक है इसलिये दर्शन पर प्रकाशक है। व्यवहार नय से आत्मा पर प्रकाशक है इसलिये दर्शन पर प्रकाशक है ॥ १६४ ॥ निश्चयनय से ज्ञान स्व प्रकाशक है इसलिये दर्शन स्वप्रकाशक है। निश्चयनय से आत्मा स्वप्रकाशक है इसलिये दर्शन स्व प्रकाशक है। ॥ १६५ ॥

आगे कहते हैं कि—भगवान् केवली आत्म-स्वरूप को देखते हैं, लोक आलोक को नहीं, यदि कोई ऐसा कहता है तो उसमें क्या दोष है? अर्थात् कुछ दोष नहीं है ॥ १६६ ॥

उक्त कथन से यह स्पष्ट है कि वीरसेन स्वामी ने दर्शन की जो नई परिभाषा स्थापित की है वह नई नहीं है आगमिक है। कुन्दकुन्दाचार्य ने भी वही परिभाषा की है। दूसरी प्रचलित परिभाषा कैसे प्रयोग में आई, इसके सम्बन्ध में भट्टाकलंक देव कृत लघीयस्त्रय के वृत्तिकार अभय चन्द्रसूरि ने कुछ प्रकाश डाला है। अकलंक देव ने 'अक्षार्थ योगे सत्ता लोको' (कारिका ५) आदि कारिका के द्वारा दर्शन पूर्वक अवग्रह का वर्णन

---

[1] कसायपा०, भा० १, पृ० ३६०

किया है। उसकी वृत्ति में वृत्तिकार ने शङ्का उठाई है कि 'स्वरूप ग्रहण को दर्शन कहते हैं इस सिद्धांत के साथ दर्शन की 'सत्तालोक' रूप व्याख्या का विरोध क्यों नहीं है? इसके समाधान में वृत्तिकार ने कहा है कि दोनों के अभिप्राय में भेद है। न्याय शास्त्र का उद्देश्य दूसरों के विवादों को दूर करना है अतः न्याय शास्त्र में स्वीकृत निर्विकल्पक दर्शन के प्रामाण्य का विघात करने के लिये स्याद्वादी सामान्य ग्रहण को दर्शन कहते हैं। स्वरूप ग्रहण की अवस्था में अल्पज्ञ जन बाह्य अर्थ का ग्रहण नहीं कर सकते। और प्रामाण्य का विचार बाह्य अर्थ को अपेक्षा से ही किया जाता है। अतः दर्शन तो बाह्य अर्थ के व्यवहार में अनुपयोगी है और ज्ञान उपयोगी है अतः उसे ही प्रमाण कहा जाता है क्योंकि ज्ञान सविकल्पक होता है परन्तु तात्विक दृष्टि से तो स्वरूप ग्रहण ही दर्शन है क्योंकि केवली के दर्शन और ज्ञान एक साथ होते हैं। यदि सामान्य ग्रहण को दर्शन और विशेष ग्रहण को ज्ञान मानते हैं तो ज्ञान का विषय सामान्य विशेषात्मक वस्तु नहीं रहेगी।

इस परिभाषा के अनुसार दर्शन का विषय है आत्मा और ज्ञान का विषय है बाह्य पदार्थ। केवली एक साथ स्व पर दोनों को जानता है अतः उसके केवल ज्ञान और केवल दर्शन एक साथ होते हैं। किन्तु निश्चय दृष्टि से तो आत्मा एक अखण्ड रूप है। गुणकृत भेद तो व्यवहार दृष्टि से है। अतः आत्मा रूप से दर्शन और ज्ञान भिन्न नहीं है। व्यवहार दृष्टि से आत्मा और ज्ञान पर प्रकाशक है इसलिये दर्शन भी पर प्रकाशक है। और निश्चय दृष्टि से आत्मा और ज्ञान स्व प्रकाशक है। निश्चय दृष्टि से तो केवली आत्म स्वरूप को ही जानता है लोक अलोक को नहीं जानता। अतः वहां दर्शन और ज्ञान का भेद ही नहीं है। इस तरह जहां कुन्दकुन्द की निश्चय दृष्टि से केवली के ज्ञान दर्शन अभिन्न हैं वहां सिद्धसेन की तार्किक दृष्टि में अभिन्न हैं। शायद इसी से सिद्धसेन के अभेदवाद का प्रबल विरोध दिगम्बर परम्परा में नहीं मिलता, बल्कि प्रकारान्तर से समर्थन ही मिलता है।

o:o:o:o:o

ऐसी बानी बोलिये, मन का आपा खोय।
औरन को शीतल करे, आपहु शीतल होय॥
गोधन गजधन बाजिधन, और रतन धनखान।
जब आवे संतोष धन, सब धन धूरि समान॥

—महात्मा कबीर

"तुझे कोई गाली दे और गाली ही नहीं तेरे गात्र पर कोई थप्पड़ भी मार दे या पत्थर या अन्य हथियारों से तुझ पर वार करे, तुझे मारे, तो भी तेरे मन में, तेरी आत्मा में विकार नहीं आना चाहिए, तेरे मुंह से गन्दे शब्द नहीं निकलने चाहिएं, तेरे मन में उस समय भी तेरे शत्रु के प्रति अनुकम्पा और मैत्री का भाव रहना चाहिए और किसी भी अवस्था में क्रोध नहीं आना चाहिये।"

—मज्झिमनिकाय

हिन्दी जैन भक्त कवियों की मधुर भावना

श्री रंजनसूरि देव, पटना

हिन्दी जैन भक्ति-काव्य शान्तरस का मूर्त्त रूप है। इसलिए, यह स्वाभाविक है कि जैन भक्तकवि ज्ञान और वैराग्य की ही अहोरात्र चर्चा करें। किन्तु, यह बात बिलकुल सही नहीं है कि जैन भक्ति-काव्य केवल ज्ञानमार्गी शाखा की प्रखरता और रूक्षता से ही भरा हुआ है, अपितु मनोयोगपूर्वक अध्ययन करनेवालों ने जैन भक्ति-काव्य में पुष्टिमार्गी माधुर्य भावना के प्राचुर्य को भी प्राप्त किया है। साहित्येतिहासिक दृष्टि से हिन्दी जैन भक्तिकाव्य की माधुर्य-धारा विक्रम की पन्द्रहवीं शती से अधिक वेग से प्रवाहित दृष्टिगत होती है।

अभयदेवसूरी की परम्परा में तिलकसूरि के शिष्य राजशेखरसूरि (वि० सं० सं० १४०५) ने अपनी प्रसिद्ध हिन्दी-कृति 'नेमिनाथ फागु' में राजिमती (राजुल) के वर्णन में उसकी शृंगारमधुर मूर्त्ति की बड़ी सरसता के साथ अवतारणा की है। 'नेमिनाथ फागु' में बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ और उनकी भावी पत्नी की वेधक कथा का काव्यमय चित्रण किया गया है। नेमिनाथ कृष्ण के छोटे भाई थे। जूनागढ़ के राजा उग्रसेन की कन्या राजिमती (राजुल) के साथ उनका विवाह निश्चित हुआ। बरात जब राजुल के दरवाजे पर लगी, तब वहां उन्हें बरातियों के भोज्य-स्वागत के लिए एकत्र किये गये पशुओं के करुण क्रन्दन सुनाई पड़े। उनका हृदय दयार्द्र हो आया। उन्होंने विवाह से विरत होकर वैराग्य ले लिया और गिरिनार पर्वत पर तप करने चले गये। राजुल ने भी दूसरा विवाह नहीं किया और नेमिनाथ के भक्तिपूर्ण विरह में सारा जीवन बिता दिया।

नेमिनाथ फागु सत्ताईस पद्यों का छोटा-सा खण्ड-काव्य है। इसमें नेमिनाथ की भक्ति की प्रधानता है। दृश्यों को कवि ने बड़ी रसिकता और व्युत्पन्नता से शब्दित किया है। विवाह के लिए सज्जित राजुल का एक सरस चित्र—

किम किम राजलदेवि तणउ सिणगारु भणेवउ।
चंपइगोरी अइधोई अंगि चंदनु लेवउ॥
खुंपु भराविउ जाइ कुसुम कस्तूरी सारी।
सीमंतइ सिंदूररेह मोतीसरि सारी॥
नवरंगि कुंकुमि तिलय किय रयण तिलउ तसु भाले।
मोती कुंडल कन्नि थिय बिंबालिय कर जाले॥
नरतिय कज्जलरेह नयणि मुंह कमलि तंबोलो।
नागोदर कंठलउ कंठि अनुहार विरोलो॥
मरगद जादर कंचुयउ फुड फुल्लह माला।
करे कंकण मणिवलउ चूड खलकावइ बाला॥
रुणुझुणु रुणुझुणु रुणुणएं कडि घाघरियाली।
रिमझिमि रिमझिमि रिमिझिमिएं पयनेउर जुयली॥
नहि अलत्तउ बलवत्तउ से अंसुय किमिसि।
अखंडियाली रायमइ पिउजो अइ मनरसि॥

अर्थात्, राजुल चम्पक-कली की भांति गोरी है। उसके शरीर पर चन्दन का लेप है। सीमन्त में सिन्दूर की रेखा खिची है। नवरंगी कुंकुम का तिलक भाल पर विराजमान है। मोतियों के कुण्डल कान में सुशोभित हैं। मुख-कमल पान की लालिमा से रंजित है। कण्ठ में हार विलस रहा है। कंचुकी में कसा यौवन और उस पर पड़ी मनोज्ञमाला,

हाथों में कंगन और खनकती मणिमय चूड़ियों में जैसे आज भी राजुल का विवाहोत्साह फूटा पड़ता है। उसकी घाघरी की रुनझुन और पायजेब की रिमझिम तो आज भी कानों में पड़ रही है। उसकी टगाटग आंखें मन में विराजित अपने पति को देख रही हैं।

हिन्दी जैन भक्तिकाव्य के विद्वान् डा० प्रेमसागरजी जैन ने कहा है कि राजुल की यह शोभा 'राधासुधानिधि' में वर्णित राधा की शोभा से *बहुत: साम्य रखती है।* रचना-प्रकार की दृष्टि से भी राजुलवर्णनपरक उपर्युक्त पद्य का स्वर उसी प्रकार की सरसता से आप्लुत है, जिस प्रकार 'राधासुधानिधि' के राधावर्णनपरक पदों का। मानो, साक्षात् राधा ने अपनी मोहिनी मूर्ति राजुल में अन्तर्निविष्ट कर दी हो और राजुल राधा की प्रतिमूर्ति बन गई हो एवं उसकी रूपमाधुरी विश्व के कण कण में जा रमी हो।

नेमिनाथ के विवाह-विरक्त हो गिरिनार पर चले जाने की बात सुनकर राजुल बेचैन हो उठी। उस समय की राजुल की कातरता और आतुरता सत्रहवीं सदी के हेम विजय (वि० सं० १६७०) की लेखनी के द्वारा बड़ी निपुणता से शब्दित हुई है। राजुल बेचैन होकर गिरिनार की ओर अकेली ही दौड़ पड़ी। यहां लोक-मर्यादा का बन्धन उसे न बांध सका। राजुल की दृष्टि में वह नेमिनाथ की पत्नी थी। भारतीय कन्या एक बार पति चुनती है, बार बार नहीं। इसी कारण सखियों के मना करने पर भी किसी की परवाह किये बिना वर्षा की भयंकरता की उपेक्षा करती हुई उस ओर दौड़ गई, जिस ओर उनका गन्तव्य था।

एतद्विषयक दो मधुमय पद्य द्रष्टव्य और

सखिरी सगिरी अंगुरी मुहि वाहि,
करति बहुत इसे निहुरे॥
अबही तबही कबही जबही,
जदुराय कूं जाय इसी कहुरे।
मुनि हेम के साहिब नेमजी हो,
अब तोरन तें तुम्ह क्यूं बहुरे॥
घनघोर घटा उनई जु नई,
इततें उततें चमकी बिजली।
'पिउरे पिउरे' पपिहा बिलबिलाति जु,
मोर किंगार करंति मिली॥
बिच बिन्दु परे दृग आंसु झरैं,
दुनि धार अपार इसी निकली।
मुनि हेम के साहब देखन कूं,
उग्रसेन लली सु अकेली चली॥

मिलन आतुरता के इस चित्र की तुलना गो० तुलसीदास की 'उमगि नदी अबुधि पहँ आई' से बहुत अच्छी जमेगी। सचमुच, राजुल-रूप नदी का नेमिनाथ रूप समुद्र की ओर आवेग के साथ प्रवाहित होना बड़ा ही तीव्र और वेधक है।

संवत् १५२१ के जैनभक्त कवि लघुराज (उपनाम लावण्यसमय) की कवित्व-शक्ति की ख्याति चतुर्दिग्व्यापिनी थी। इनके पूर्वज अहमदाबाद के निकटस्थ पाटणनगर के आदिनिवासी थे। इन्होंने अनेक भक्तिपरक कृतियों की सर्जना की। कवि ने अपनी विक्रमाब्द १५६८ की एक प्रसिद्ध कृति 'विमलप्रबन्ध' में लिखा है कि सोलहवें वर्ष में मुझ पर सरस्वती की कृपा हुई और मुझ में कवित्व-शक्ति का जन्म हुआ। फलतः मैं छन्द, कवित्त, चौपई, रास और अनेक प्रकार के गीत एवं राग-रागिनियों की रचना करने में समर्थ हो सका। लघुराज ने सरस्वती का रसमय गीत 'रंग रत्नाकर नेमिनाथ प्रबन्ध' में कई पद्यों में गाया है। निम्नांकित पद्य में सरस्वती की आंगिक सौन्दर्यमाधुरी का मांसल चित्रण द्रष्टव्य है।

तुझ तनु सोहई उज्ज्वल कंति,
पूनिम ससिहर परिझलकंति ।
पय धमधम घुग्घर धमकंति,
हंसगमणि चालइ चमकंति ॥
चालइ चमकंती, जगि जयवंती,
वीणा पुस्तक पवर धरई ।
करि कमल कमंडल काने कुंडल,
रविमंडल परिकंति करइ ॥

लघुराज ने सरस्वती को 'सरसवचना' और 'दयामयी देवी' माना है और इनका विश्वास है कि सरस्वती के विमल चरणों की वन्दना मनुष्य की दुर्मति दूर कर उसे सुमति प्रदान करती है ।

सोलहवीं शती के समर्थ राजस्थानी कवि छीहल (वि० सं० १५७५) अपनी रसमयी भक्ति के लिए परम प्रख्यात थे । इन्होंने अनेक कृतियों की रचना की थी । शोध में प्राप्त इनकी विप्रलम्भ-शृंगार-विषयक एक गीतकृति 'पंचसहेली गीत' की मधुरता मन को रमानेवाली है। इसमें ६८ पद्य हैं। मालिन, तमोलिन, छीपिन, कलालिन और सुनारिन ये पांच सहेलियां हैं। पांचों ने अपने-अपने प्रिय के विरह का वर्णन किया है। वस्तुतः वह विरह परमात्मा का ही है। प्रिय-मिलन होता है और सबको परमानन्द की प्राप्ति होती है।

मालिन का पति, उसे भरे यौवन में छोड़कर कहीं चला गया है। उसका दुःख अनन्त है। कमल जैसा मुंह मुरझा गया है और शिशिर की वनराजि जैसा शरीर सूख गया है। प्रियतम के विना उसे एक-एक क्षण एक-एक बरस के बराबर लगता है। जिस शरीर-रूपी वृक्ष पर यौवन-रस से भरे स्तन-रूपी दो नारंगी लगे थे, वह विरह की अग्नि में सूखने लगा है, और सींचनेवाला दूर है। उसने चम्पा की पखुड़ियों से एक नया हार गूंथा था। यदि वह इसे पति के विना पहने, तो वह अंगों को अंगारा जैसा लगे। मूल पद्य इस प्रकार है—

कमलवदन कुमलाइया सूकी सब वनराइ ।
विन पीया रइ एक पिन बरस बराबरि जाइ ॥
तन तरवर फल लग्गीया दुइ नारिंग रसपूरि ।
सूकन लागा विरह झल सींचन हारा दूरि ॥
चम्पा केरी पंखडी गूंथा नवसर हार ।
जइ हु पहिरउ पीव विन लागइ अंग अगार ॥

इसी प्रकार पति के विना विरह ने तमोलिन की चोली के भीतर घुसकर उसके शरीर को आहत किया है। वसन्त की रात काटना दूभर हो गया है। ग्रीष्म के सन्तप्त दिन भी कैसे कटें, छाया देनेवाला पति परदेश चला गया है। छींपिन के हृदय की पीडा को दूसरा जान ही नहीं सकता। उसके तन-रूप कपड़े को विरह-रूप दरजी दुःख रूप कैंची से दिन-रात काटता चला जा रहा है। कलालिन की देह पर उन्मद यौवन की फागवाली मधुऋतु बिखरी हुई है। किन्तु, उसका पति दूर है, अतः वह किसके साथ होली खेले। उसे तो केवल अपने अधूरे अरमानों के साथ बिसूर-बिसूरकर मरना है। सुनारिन विरह-रूप समुद्र में इस प्रकार डूब गई है कि उसकी थाह ही नहीं मिलती। उसके प्राणों को मदन-रूप सुनार ने हृदय रूप अंगीठी पर विरह-रूप आग में जला-जलाकर कोयला कर दिया है।

कतिपय दिनों के बाद फिर वे पांचों सहेलियां मिलीं। उनके चेहरे खिले खुले थे। उनके प्रियतम आ गये थे और उनके दिन सुख से बीत रहे थे। तमोलिन का मिलन सुख दृष्टव्य है—

चोली खोल तमोलनी काढ्या गात अपार ।
रंग कीया बहु प्रीयसूं नयन मिलाई तार ॥

तमोलिन का यह मिलन कबीर के विख्यात रहस्यवाद की तुरीयावस्था है। कवि छीहल ने इसका वर्णन जिस रूपक के सहारे किया है, वह आनन्द कादम्बिनी की धारा में पाठकों को मग्न करने वाला है। मधुर भावना की चरम परिणति इसी 'लस आलिगन' या 'एकांगीभवन' में है।

सत्रहवीं शती के जहांगीर-शासनकालीन कवि भगवतीदास ने संवत् १६८४ में 'बृहत्सीतासतु' का निर्माण किया था। उसी का संक्षिप्त रूपान्तर 'लघुसीतासतु' के नाम से प्रस्तुत किया। इसमें रावण की पत्नी मन्दोदरी और रामप्रिया सीता संवाद बड़ी ही रसाक्त शैली में दिया गया है इससे कवि की माधुरी भावना का संकेत मिलता है। मन्दोदरी सीता को रावण के साथ रमण के लिए उत्सुक करती है और सीता अपने हिमशैल से अचल सतीत्व पर दृढ़ रहती है। यह संवाद 'बारहमासा' के रूप में लिखा गया है। आषाढ के संवाद की कतिपय पंक्तियां —

मन्दोदरी—

तब बोलइ मन्दोदरि रानी,
झनि अषाढ़ घनघट घहरानी।
पीय गए ते फिर घर आवा,
पामर नर नित मंदिर छावा॥
लवहि पपीहे दादुर मोरा,
हियरा उमग धरत नहि भोरा।
बादर उमहि रहे चौपासा,
तिय पिय बिनु लिहि उसन उसासा॥
नन्हीं बूंद झरन झर लावा,
पावस नभ आगमु दरसावा।
दामिनि दमकत निरा अंधियारी,
विरहिनि काम बान उरिमारी॥
भुगतहि भोग सुनहि सिखभोरी,
जानत काहे भई मति भोरी।
मदन रसाइन हुई जग माह,
संजम नेमु कथन विवहारु॥
जब लगु हंस सरीर मांहि,
तब लगु कीजइ भोगु।
राज तजहिं भिखा ममहि,
हउ भूला सब लोगु॥

सीता—

सुकनासिक मृगदृग पिकवइनी,
जानुकि वचन लवइ सुखि रइनी।
अपना पिय पइ अमृत जानी,
अवर पुरुष रविदुग्ध समानी॥
पिय चितवनि चितु रहइ अनदा,
पिय गुन सरत बढ़त जस कंदा।
प्रीतम प्रेम रहइ मनपूरी,
तिनि बालिमु संगु नाहिं दूरी॥

सुख चाहइ ते बावरी, परपति संग रति मानि।
जिउ कपि सीत बिथा मरइ, तापत गुन्जा आनि॥

तृस्ना तो न बुझाइ, जलु जब खारी पीजिये।
मिरगु मरइ धपि धाइ, जल धोखइ थलि रेतकइ॥

यह वर्णन मधुर होते हुए भी मनोवृत्ति को सम्यक् चारित्र की ओर ले जाने वाला है।

जैनाचार संयमनया अवदमन के द्वारा इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने का आदेश देता है। यही कारण है कि परम्परया अधिकांश हिन्दी के जैन कवि माधुर्य भावना का प्रत्यक्ष वर्णन करने से हिचकते थे। इसलिए जैन काव्य में भक्ति के मधुर पक्ष का प्रायशः अभाव है। ऐसे कवि अंगुलिगण्य ही हैं, जिन्होंने खुलकर मधुर भावना का समीचीन चित्रण किया हो। जो हैं भी उन्होंने प्रत्यक्ष वर्णन न कर विभिन्न रूपकों का आश्रय लिया है।

पन्द्रहवीं शती के जिनोदयसूरि के शिष्य मेरुनन्दन उपाध्याय ने 'जिनोदय सूरि विवाहलउ' नामक काव्य में कुछ इसी प्रकार रूपकाश्रित वर्णन किये हैं। हालांकि इस काव्य को सही मानी में ललित और सरस काव्य कहा जायगा। वर्णन-वैचित्र्य और पद-लालित्य पदे-पदे परिलक्षित होता है। जैसे—

अत्थि गूजर धरा सुन्दरी सुंदरे,
उखरे रयण हारो वमाणं ।
लच्छि केलिहरं नयरू पल्हणपुरं,
सुरपुरं जेम सिद्धाभिहाणं ॥

अर्थात्, गुर्जरधरा-रूपी सुन्दरी के हृदय पर रत्नों के हार की भांति पह्लणपुर विराजमान है, जो लक्ष्मी की क्रीडाभूमि है और सिद्धों से प्रतिष्ठित स्वर्गपुरी-जैसी शोभित है।

इस काव्य के कथानायक सेठ रूद्रपाल के पुत्र समरकुमार को गुरूवर श्री जिनकुशल सूरि दीक्षा देना चाहते हैं। इसी को ललित काव्य की रस मयी रूपकाश्रित भाषा में इस प्रकार कहा गया है—

अह सयल लक्खणं जाणि सुवियक्खणं,
सूरि दट्ठूण समरं कुमारं ।
भविय तुह नंदणो नयण आनंदणो,
परिणओ अम्ह दिक्खा कुमारिं ॥

अर्थात्, सूरिजी ने समर को देखकर कहा कि यह तुम्हारा समरकुमार सम्पूर्ण श्रेष्ठ गुणों से युक्त है और सुविचक्षण भी है। नेत्रों को आनन्द देने वाले अपने इस पुत्र का विवाह मेरी दीक्षाकुमारी के साथ कर लो।

सही बात तो यह है कि हिन्दी के सभी जैन कवि प्रायःभक्त ही होते थे, गृहस्थ नहीं के बराबर। इसलिए उन्होंने दाम्पत्यरति के संबंध को भौतिक धरातल पर नहीं उतारा। सब कुछ आध्यात्मिक स्तर की ही बात रही। उसकी अभिव्यक्ति के माध्यम को भी विलासिता के स्पर्श से सतर्कता पूर्वक अलग रखा गया। उपमा और उत्प्रेक्षाएं भी अधिकांश अमांसल ही रहीं। इन कवियों ने विलासिता या मधुर भावना को ही भक्ति के क्षेत्र में अशांति का कारण माना, फिर भी ये मधुर भावना से अछूते रहे, ऐसा भी नहीं ही कहा जा सकता है।

—:x:—

"बलवान होने में बड़प्पन नहीं है, बड़प्पन बल का सदुपयोग करने में है।"

—एच. डबल्यू. बीचर

सत्रहवीं शती के जहांगीर-शासनकालीन कवि भगवतीदास ने संवत् १६८४ में 'बृहत्सीतासतु' का निर्माण किया था। उसी का संक्षिप्त रूपान्तर 'लघुसीतासतु' के नाम से प्रस्तुत किया। इसमें रावण की पत्नी मन्दोदरी और रामप्रिया सीता संवाद बड़ी ही रसाक्त शैली में दिया गया है इससे कवि की माधुरी भावना का संकेत मिलता है। मन्दोदरी सीता को रावण के साथ रमण के लिए उत्सुक करती है और सीता अपने हिमशैल से अचल सतीत्व पर दृढ़ रहती है। यह संवाद 'बारहमासा' के रूप में लिखा गया है। आषाढ़ के संवाद की कतिपय पंक्तियां —

मन्दोदरी—

तव बोलइ मन्दोदरि रानी,
        ऋति अषाढ़ घनघट घहरानी।
पीय गए ते फिर घर आवा,
        पामर नर नित मंदिर छावा ॥
लवहि पपीहे दादुर मोरा,
        हियरा उमग धरत नहिं भोरा।
बादर उमहि रहे चौपासा,
        तिय पिय बिनु लिहि उसन उसासा ॥
नन्हीं बूंद झरत झर लावा,
        पावस नभ आगमु दरसावा।
दामिनि दमकत निसि अंधियारी,
        विरहिनि काम बान उरिमारी ॥
सुनहि मोर सुनहि सिखमोरी,
        जानत काहे भई मति भोरी।
मदन रसाइन हुई जग माहि,
        संजम नेमु कथन विवहारु ॥
जब लगु हंस सरीर महि,
        तब लगु कीजइ भोगु।
मान सर्माह सिखा नमहि,
        हुउं मूआ सब लोगु ॥

सीता—

सुकनासिक मृगदृग पिकवइनी,
        जानुकि वचन लवइ सुखि रइनी।
अपना पिय पइ अमृत जानी,
        अवर पुरुष रविदुग्ध समानी ॥
पिय चितवनि चितु रहइ अनदा,
        पिय गुन सरत बढ़त जस कंदा।
प्रीतम प्रेम रहइ मनपूरी,
        तिनि बालिमु संगु नाहिं दूरी ॥

सुख चाहइ ते बावरी, परपति संग रति मानि
जिउ कपि सीत विथा मरइ, तापत गुन्जा आनि

तृस्ना तो न बुझाइ, जलु जब खारी पीजिये
मिरगु मरइ धपि धाइ, जल धोखइ थलि रेतक

यह वर्णन मधुर होते हुए भी मनोवृत्ति को चारित्र की ओर ले जाने वाला है।

जैनाचार संयमतया अवदमन के द्वारा पर विजय प्राप्त करने का आदेश देता कारण है कि परम्परया अधिकांश हिन कवि माधुर्य भावना का प्रत्यक्ष वर्ण हिचकते थे। इसलिए जैन काव्य में भ पक्ष का प्रायशः अभाव है। ऐसे कवि ही हैं, जिन्होंने खुलकर मधुर भावन चित्रण किया हो। जो हैं भी उन्होंने न कर विभिन्न रूपकों का आश्रय लि

पन्द्रहवीं शती के जिनोदय मेरुनन्दन उपाध्याय ने 'जिनोदय नामक काव्य में कुछ इसी प्रका किये हैं। हालांकि इस काव्य ललित और सरस काव्य का वैचित्र्य और पद-लालित्य प है। जैसे—

नसीहियाय या पत्ना वके हि राज मिति निचिन तानि वाम वा (I) स (f) तानि पूजानुरत उवाम (ग) (खा) रवेल सिरिना जीव देह (सिरि) का परि खिता—

पंक्ति १५—सुव्रता समण सुविहि तानम् । अरहन-निसीदिया समीपे पाभारे वराकार समुथा पेना हि अनेक योजना हिताहि य सि ओ····सिलाहि सिंह पथ रानी मिधुलाय निसयानि—।

विदित हो कि भारत मे अभी तक प्राप्त समस्त शिलालेखों में यह सब से पुराना अर्थात् २२०० वर्ष प्राचीन है। ब्राह्मी लिपि में लिखित होने एवं बीच-बीच में प्रस्तर-अंश खिर जाने से यद्यपि उक्त शिलालेख अभी तक ठीक तौर से पढ़ा या समझा नहीं जा सका है, फिर भी सामान्य रूप से यह तो ज्ञात हो ही जाता है कि उसमें महाराज खारवेल के राज्य-कालीन वर्षों में किये गए कार्यों का विवरण है।

ऊपर उद्धृत १४वीं और १५वीं पंक्ति में आए हुए 'अरहत' पद स्पष्ट रूप से अरिहन्त परमेष्ठी के बोधक हैं और 'निसीहिया' या निसीदिया' पद तो बहुत स्पष्ट ही अपने वाच्यार्थ को प्रकट कर रहा है।

मुक्ति, मोक्ष, श्मसानभूमि, तीर्थंकर या सामान्य केवली का निर्वाण-स्थान, स्तूप और समाधि अर्थ किया गया है। आवश्यक चूर्णि में-शरीर, वसतिका (साधुओं के रहने का स्थान और स्थण्डिल अर्थात् निर्जीव भूमि) अर्थ किया गया है।

गौतम-गणधर-ग्रंथित माने जाने वाले दिगम्बर प्रतिक्रमण सूत्र में निसीहियाओं की वन्दना करते हुए—

'जाओ अण्णाओ काओ वि णिसीहियाओ जीवलोयम्मि' यह पाठ आया है-अर्थात् इस जीवलोक में जितनी भी निषीधिकाएँ हैं, उन्हें नमस्कार है।

उक्त प्रतिक्रमण सूत्र के संस्कृत टीकाकार आ० प्रभाचन्द्र ने—जो कि प्रमेयकमल मार्तण्ड, न्यायकुमुदचन्द्र जैसे अनेक दार्शनिक ग्रन्थों के रचयिता और समाधितंत्र, रत्नकरण्डक, आदि अनेक ग्रन्थों के टीकाकार हैं-निषीधिका के अनेक अर्थों का उल्लेख करते हुए अपने कथन की पुष्टि में कुछ प्राचीन गाथाएं उद्धृत की हैं, जो इस प्रकार हैं—

जिण-सिद्धबिंब-णिलया किदगाकिदगोय
रिद्धिजुद साहू।
णाण जुदा मुणि-पवरा
णाणुप्पत्तीय णाणजुद खेत्तं ॥१॥
सिद्धाय सिद्धभूमो सिद्धाण समासिओ णहो देसो।
सम्मत्तादिचउक्कं उप्पण्णं जेसु तेहिं सिदखेत्तं ॥२॥
चत्तं तेहिं य देहं तट्ठविदं जेसु ता णिसीहाओ।
जेसु विसुद्धा जोगा जोगधरा जेसु संठिया सम्मं ॥३॥
जोग परिमुक्क देहा पंडियमरणट्ठिदा णिसीहाओ।
तिविहं पंडियमरणे चिट्ठंति महामुणी समाहीए ॥४॥
एदाओ अण्णाओ णिसीहियाओ सया वंदे।

अर्थात्—कृत्रिम और अकृत्रिम जिन-बिम्ब, सिद्ध-प्रतिबिम्ब, जिनालय, सिद्धालय, ऋद्धि-संपन्न साधु, तदाश्रित क्षेत्र, अवधि, मनःपर्यय और केवल

इसका अर्थ करते हैं कि 'यदि कोई देवादिक भगवान के दर्शन पूजनादि कर रहा हो, तो वह दूर हट जाय, या एक ओर हो जाय' पर देव-दर्शन के लिए मन्दिर में प्रवेश करते हुए तीन वार 'निस्सही' बोलकर 'नमोऽस्तु' बोलने का यह अभिप्राय नहीं रहा है। किन्तु जैसा कि 'निषिद्धिका-दंडक' का उद्धरण देकर ऊपर बतलाया जा चुका है कि 'निसीहिया या निषिधिका' का अर्थ जिन, जिन-बिम्ब, सिद्ध, सिद्ध-बिम्ब होता है। तदनुसार दर्शन करनेवाला तीन वार 'निस्सही-जो कि णिसीहियाए' का संक्षिप्त या अपभ्रंश रूप हैं—को बोलकर उसे तीन वार नमस्कार करता है। यथार्थ में हमें मन्दिर में प्रवेश करते समय 'णमो णिसीहियाए' इसका संस्कृत रूप 'निषीधिकायै नमोऽस्तु,' तथा 'णमोत्थु णिसीहियाए' पाठ बोलना चाहिए।

वहां यह शंका की जा सकती है

कंदर-पुलिण-गुहादिसु पवेसकाले णिसिद्धियं कुज्जा।
तेहितो णिग्गमणे तहासिया होदि कायव्वा ॥१३४॥
(समाचारी अधिकार)

अर्थात्—गिरि-कन्दरा, नदी आदि के पुलिन (मध्यवर्त्ती जल-रहित स्थान, और गुफा आदि में प्रवेश करते हुए निषिद्धिका समाचार करे, और यहां से निकलते या जाते समय आशिका समाचार करे। इन दोनों समाचारों का अर्थ टीकाकर आ० वसुनन्दी ने इस प्रकार किया है—

टीका—"पविसंते य प्रविशति च प्रवेशकाले णिसिही निषेधिका तत्र स्थानमभ्युपगम्य स्थान करणम्, सम्यग्दर्शनादिषु स्थिरभावो वा। णिग्गमणे निर्गमनकाले आसिया देव-गृहस्थादीन् परिपृच्छ्य यानम्, पापक्रियादिभ्यो मनोनिवर्तनं वा।"

अर्थात्—साधु जिस स्थान में प्रवेश करें, उस स्थान के स्वामी से आज्ञा लेकर प्रवेश करें। यदि

एवं कालगदस्स दु शरीरमंतो बहिज्ज वाहिं वा ।
विज्जाविच्चकरा तं सयं विकिंचंति जदणाए ॥१६६६॥
समणाणं ठिदिकप्पो वासवासे तहेव उडुबन्धे ।
पडिलिहिदव्या णियमा णिसीहिया सव्वसाधूहिं ॥
१६६७॥

एगंता सालोगा णादिविकिट्ठा ण चावि आसण्णा ।
वित्थिण्णा विद्धत्ता णिसीहिया दूरमागाढा॥१६६८॥
अभिसुआ असुसिरा अघसा
उज्जोवा बहुसमा य असिणिद्धा ।
णिज्जंतुगा अहरिदा अविला य तहा अणाबाधा ॥
१६६९॥

जा अवर दक्खिणाए व दक्खिणाए व अध व अवराए ।
वसधीदो वण्णिज्जदि णिसीधिया सा पसत्थ त्ति ॥
१९७०॥

अर्थात्—इस प्रकार समाधि के साथ कालगत हुए साधु के शरीर को वैयावृत्य करने वाले साधु नगर से बाहर स्वयं ही यतना के साथ प्रतिष्ठापन करें। साधुओं को चाहिए कि वर्षावास के वर्षा ऋतु के प्रारम्भ में निषीधिका का नियम से प्रतिलेखन कर ले, वही क्षमणों का स्थितिकल्प है। वह निषीधिका कैसी भूमि में हो, इसका वर्णन करते हुए कहा गया है—वह एकान्त स्थान में हो, प्रकाश-युक्त हो, वसतिकासे न बहुत दूर हो, न बहुत पास हो, विध्वस्त या खण्डित न हो, दूर तक जिसकी भूमि दृढ़ या ठोस हो, दीमक चींठी आदि से रहित हो, छिद्र-रहित हो, घिसी हुई या नीची-ऊंची न हो, सम-स्थल हो, उद्योतवती हो, स्निग्ध या चिकनी फिसलने वाली भूमि न हो, निर्जन्तुक हो, हरित काय से रहित हो, बिलों से रहित हो, गीली या दल-दल युक्त न हो, और मनुष्य-तिर्यचादिकी बाधा से रहित हो। वह निषीधिका वसतिका से नैऋत्य, दक्षिण, या पश्चिम दिशा में प्रशस्त मानी गई है।

इससे आगे भगवती आराधना कार ने विभिन्न दिशाओं में होनेवाली निषीधिकाओं के शुभाशुभ फल का वर्णन इस प्रकार किया है—

यदि वसतिका से निषीधिका नैऋत्य दिशा में हो, तो साधु-संघ में शान्ति और समाधि रहती है। दक्षिण दिशा में हो तो संघ को आहार सुलभता से मिलता है। पश्चिम दिशा में हो तो संघ का विहार सुख से होता है और उसे ज्ञान एवं संयम के उपकरणों का लाभ होता है। यदि निषीधिका आग्नेय कोण में हो तो संघ में स्पर्धा अर्थात् तू-तू मैं-मैं होती है। वायव्य दिशा में हो तो संघ में कलह उत्पन्न होता है। उत्तर दिशा में हो तो संघस्थ जनों में व्याधि उत्पन्न होती है। पूर्व दिशा में हो तो परस्पर में खींचातानी होती है और संघ में भेद पड़ जाता है। ईशान दिशा में हो तो किसी अन्य साधु का मरण होता है।

(भग० आराधना गाथा–१९७१–१९७३)

इस विवेचन से वसतिका और निषीधिका का भेद बिलकुल स्पष्ट हो जाता है। ऊपर उद्धृत गाथा नं० १९७० में यह साफ शब्दों में कहा गया है कि वसतिका से दक्षिण, नैऋत्य और पश्चिम दिशा वाली निषीधिका प्रशस्त मानी गई है। यदि निषीधिका वसतिका का ही पर्यायवाची नाम होता, तो ऐसा पृथक् वर्णन क्यों किया जाता।

प्राकृत 'णिसीहिया' या 'निसीहिया' का अपभ्रंश रूप ही आज निसी, निसिदि, नसिया और नशियां के रूप में व्यवहृत होने लगा है।

आज-कल लोग जिन-मन्दिर में प्रवेश करते हुए 'ओं जय जय जय, निस्सही निस्सही निस्सही, नमोऽस्तु नमोऽस्तु नमोऽस्तु, पाठ बोलते हैं। यहां बोले जाने वाले 'निस्सही' पद से क्या अर्थ अभिप्रेत था और आज लोगों ने उसे किस अर्थ में ले रखा है, यह भी एक विचारणीय बात है। कुछ लोग

इसका अर्थ करते हैं कि 'यदि कोई देवादिक भगवान के दर्शन पूजनादि कर रहा हो, तो वह दूर हट जाय, या एक ओर हो जाय' पर देव-दर्शन के लिए मन्दिर में प्रवेश करते हुए तीन बार 'निस्सही' बोलकर 'नमोऽस्तु' बोलने का यह अभिप्राय नहीं रहा है। किन्तु जैसा कि 'निषिद्धिका-दंडक' का उद्धरण देकर ऊपर बतलाया जा चुका है कि 'निसीहिया या निषिधिका' का अर्थ जिन, जिन-बिम्ब, सिद्ध, सिद्ध-बिम्ब होता है। तदनुसार दर्शन करनेवाला तीन बार 'निस्सही-जो कि णिसीहियाए' का संक्षिप्त या अपभ्रंश रूप हैं—को बोलकर उसे तीन बार नमस्कार करता है। यथार्थ में हमें मन्दिर में प्रवेश करते समय णमो णिसीहियाए' या इसका संस्कृत रूप 'निषीधिकायै नमोऽस्तु,' अथवा 'णमोत्थु णिसीहियाए' पाठ बोलना चाहिए।

यहां यह शंका की जा सकती है कि फिर यह अर्थ कैसे प्रचलित हुआ—कि यदि कोई देवादिक दर्शन-पूजन कर रहा हो, तो वह दूर हो जाय? मेरी समझ में इसका कारण 'निसही या निस्सही' जैसे अशुद्ध पदके मूल रूप को ठीक तौर से न समझ सकने के कारण निर् उपसर्ग पूर्वक सृ गमनार्थक धातुका आज्ञा के मध्यम पुरुष-एकवचन का बिगड़ा रूप मानकर लोगों ने वैसी कल्पना कर ली है। अथवा दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि किसी नवीन स्थान में प्रवेश करने या वहां से जाने के समय साधुओं को निसी-हिया और आसिया करने का विधान है। उसकी नकल करके लोगों ने मन्दिर-प्रवेश के समय बोले जानेवाले 'निसीहिया' पदका भी वही अर्थ लगा लिया है।

साधुओं के १० प्रकार के¹ समाचारों में निसी-हिया और आसिया नाम के दो समाचार हैं। उनका वर्णन मूलाचार में इस प्रकार किया गया है—

कंदर-पुलिण-गुहादिसु पवेसकाले णिसिद्धियं कुज्जा।
तेहितो णिग्गमणे तहासिया होदि कायव्वा ॥१३४॥
(समाचारी अधिकार)

अर्थात्—गिरि-कन्दरा, नदी आदि के पुलिन (मध्यवर्त्ती जल-रहित स्थान, और गुफा आदि में प्रवेश करते हुए निषिद्धिका समाचार करे, और यहां से निकलते या जाते समय आशिका समाचार करे। इन दोनों समाचारों का अर्थ टीकाकर आ० वसुनन्दी ने इस प्रकार किया है—

टीका—"पविसंते य प्रविशति च प्रवेशकाले णिसिही निषेधिका तत्र स्थानमभ्युपगम्य स्थान करणम्, सम्यग्दर्शनादिषु स्थिरभावो वा। णिग्गमणे निर्गमनकाले आसिया देव-गृहस्थादीन् परिपृच्छ्य यानंम्, पापक्रियादिभ्यो मनोनिवर्तनं वा।"

अर्थात्—साधु जिस स्थान में प्रवेश करें, उस स्थान के स्वामी से आज्ञा लेकर प्रवेश करें। यदि उस स्थान का स्वामी कोई मनुष्य है; तो उससे पूछें। और यदि मनुष्य नहीं हैं, तो उस स्थान के अधिष्ठाता देवता को सम्बोधन कर उससे पूछें। इसी का नाम निसीहिका समाचार है। इसी प्रकार उस स्थान से जाते समय भी उसके स्वामी मनुष्य या क्षेत्रपाल देव को पूछकर और उसका स्थान उसे संभलवा करके जावें। यह उनका आसिका समाचार है। अथवा करके इन दोनों पदों का टीकाकार ने एक दूसरा भी अर्थ किया है। वह यह कि विवक्षित स्थान में प्रवेश करके सम्यग्दर्श-नादि में स्थिर होने का नाम निसीहिया और पाप-क्रियाओं से मन के निवर्तन का नाम आसिया है।

आचार सार के कर्त्ता आ० वीरनन्दीने उक्त दोनों समाचारों का इस प्रकार वर्णन किया है—

जीवानां व्यन्तरादीनां बाधायै यन्निषेधनम्।
अस्माभिः स्थीयते युष्मद्दिष्टयै वेति
निषिद्धिकाम् ॥११॥

1. साधुओं का अपने गुरु या अन्य साधुओं के साथ जो पारस्परिक शिष्टाचार का व्यवहार होता है, उसे समाचार कहते हैं।

प्रवासावसरे कन्दरावासादेर्निषिद्धिका।
तस्मान्निर्गमने कार्या स्यादाशीर्वैर हारिणी ॥१२॥
(आचारसार० द्वि० अ०)

अर्थात् व्यन्तरादिक जीवों की बाधा दूर करने के लिए जो निषेधात्मक वचन कहे जाते हैं कि भो क्षेत्रपाल यक्ष, हम लोग तुम्हारी आज्ञा से यहां निवास करते हैं तुम लोग रुष्ट मत होना, इत्यादि व्यवहार को निषिद्धिका समाचार कहते हैं। और वहां से जाते समय उन्हें वैर दूर करने वाला आशीर्वाद देना, यह आशिका समाचार है।

ऐसा ज्ञात होता है कि लोगों ने साधुओं के लिए विधान किये गये उक्त समाचारों का अनुकरण किया और "व्यन्तरादीनां बाधायै यन्निषेवनम्" पद का अर्थ मन्दिर-प्रवेश के समय भी लगा लिया कि यदि कोई व्यन्तरादिक देव दर्शनादिक कर रहा हो तो वह दूर हो जाय और हमें बाधा न दे। पर वास्तव में 'निस्सही' पद बोलने का अभिप्राय मन्दिर-प्रवेशकाल में जिन देव के स्मरण करनेवाले स्थान या उनके प्रतिबिम्ब के लिए किये जाने वाले नमस्कार का रहा है।

उपसंहार

मूल में 'निसीहिया' पद मृत साधुओं के शरीर-प्रतिष्ठापन योग्य स्थान के लिए प्रयुक्त किया जाता था। पीछे उस स्थान पर जो स्वस्तिक, चबूतरा या छतरी आदि बनाये जाने लगे, उनके लिए भी उसका प्रयोग किया जाने लगा। मध्ययुग में साधुओं के समाधिमरण करने के लिए जो खास स्थान बनाये जाते थे, उन्हें भी निषिधि या निसीहिया कहा जाता था। कालान्तर में वहां उस साधु की चरण-पादुका आदि बनाई जाने लगीं, उनके लिए भी निसीहिया शब्द प्रयुक्त होने लगा। आज कल उस स्थान पर मन्दिर, धर्मशाला, कूप उद्यान आदि भी बनाये जाने लगे और उस समस्त स्थान को 'नशियाँ' नाम से कहा जाने लगा, जो वस्तुतः निसीहिया का ही रूपान्तर है और निशि, निसिधि उसके ही नामान्तर हैं।

—०:०:०—

"मैं नरक में भी उत्तम पुस्तकों का स्वागत करूंगा क्योंकि इनमें वह शक्ति है जो उसे (नरक को भी) स्वर्ग में बदल देगी।"

—लोकमान्य तिलक

सत्त्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं
क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम् ।
माध्यस्थ भावं विपरीतवृत्तौ
सदा ममात्मा विदधातु देव ।।

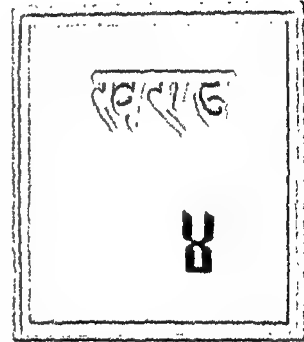
—आचार्य अमितगति

अनुवाद – हे जिनेन्द्र सब जीवन से, हो मैत्री भाव हमारे।
दुख दर्द पीड़ित प्राणन पर, करूं दया हर बारे ।।
गुणधारी सत्पुरुषन पर हो, हर्षित मन अधिकारे।
नहीं प्रेम नहीं द्वेष वहाँ, विपरीत भाव जो धारे ।।

—छन्दानुवादक—ब्र० शीतलप्रसाद जी



बाबूछोटेलाल जैन स्मृतिग्रंथ



आंग्ल भाषा
(English Section)

CONTENTS



Jainism as I understand

By

Shri Narendra Singh Singhi

God:—Does Jainism believe in God? The very idea of religion brings up the question. No, the Jainas do not believe in God as an eternally free and omnipotent person, or as creator of the universe or the all pervading soul. But if God stands for a perfect being—perfect in all respects, in knowledge, in bliss and independence—the Jainas agree to accept his existence, provided such a being is not perfect eternally without beginning, but has worked out his perfection by human efforts, through beginningless chain of rebirths in hell, heaven and the animal-cum-human world. Of course, a soul is intrinsically perfect for all times. But such perfection remains obscured and the obscuration is without beginning. This is the crux of the problem. Why should the obscuration be without beginning? And if without beginning, why should it come to an end instead of being endless? Jainism does not appear to consider the problem any further, and whatever considerations it has attempted to offer do not appear to improve the position.

A relevant issue in this connection is the Jain philosopher's distinction of a category of perfect souls who, though spiritually equal with other perfect souls are superior as founders and promulgators of proper codes of life or religions. The Jaina Tīrthaṃkaras belong to this category, and their number is also strictly limited and fixed. This conception of the Jainas may be considered as the homologue of the concept of God in so far as God is the revealer of moral and religious codes. The Tīrthaṃkaras of the Jainas, it should be noted, are neither the creators of the universe, nor dispensers of the fruits of good and bad deeds, nor grantors of grace. A Tīrthaṃkara is moreover a human being who has attained the status by his own efforts through countless births and remains established in it for a limited period of time, attaining Nirvāṇa or enternal disembodied existence thereafter, absolutely dissociated from the world. He is not capable of assuming incarnation any more, like any other soul who has attained Nirvāṇa, and is likewise not associated with the vicissitudes of the universe except in so far as his preaching might have salutory effects on the spiritual well-being of the world.

Worship and Rituals:-If Jainism does not believe in God as the grantor of grace or dispenser of the fruits of karma, what is the justification of God-worship in it? The Jainas go to the temple and offer worship to the deity's image like others who believe in God as the omnipotent being on whose grace depends the existence of the universe. The Jainas

consider worship as an expression of gratitude to the Tīrthaṃkaras and devotion to the religion preached by them. But the Tīrthaṃkara is absolutely free from all association with things and events of the world. This enigmatic aspect of worship in Jainism is responsible for various iconoclastic movements in the history of the Jaina church, their predominant note always being the moral code of self-purification and austerity.

But on the whole the Jainas are as much believers in popular rituals and rites as any other community, Hindu or Buddhist. They have erected magnificent temples and images and worship them with utmost zeal and fervour, accompanied with music. Another important aspect of their religion is Tapasyā or fasting for self purification. Processions of the Deity are also arranged on important occasions with great pomp and grandeur, followed by social gatherings and seminars on religious issues.

and nuns and their costums and habits. The Jaina monks and nuns have no fixed abodes. They wander from place to place preaching the moral code and depending for their maintenance on the Jaina laity. There is perhaps truth in the popular impression that the healthy growth and cohesion of Jaina community owe considerably to these wandering monks and nuns who are also traditionally reputed for their scholarly pursuits. In fact, there was a time, for instance the period of compilation of the Jaina scriptures, when no branch of the sciences or humanities prevalent at the time was left untouched and untapped. And the tradition was maintained till the advent of the modern age, which could put forth a prodigy like Kalikālasarvajña Ācharyā Hemchandra in the twelfth century of the Christian era. Of course, the tradition demands reorientation in consonance with the needs of a modern man living in an epoch of rapid development of science, technology and changing social and moral values.

The Laity:—There is a common tie of social and moral life, binding the Jaina laity living in the different regions of the country. Jainsim has certain distinctive features which characterize its followers. One can easily discern these features in their customs and habits and even in the menu of their daily diets.

possible and mould his food habits in consonance with his vow of non-injury. He is also encouraged to observe fasts and desist from worldly activities on prescribed occasions. A Jaina considers the world as full of living beings and feels horror-stricken at the sight of animal sacrifice or meat-eating or any other activity involving injury to life. A reverence for life is ingrained in his character and formulates all his activities. Emotional devotion is subordinated to the practical needs of the moral life. The vows of truthfulness, non-stealing, continence and restriction of wants and needs, in their limited application, as followed by the Jaina house-holders, give an over-all impression of having given a practical orientation to their social and national life. The inordinate stress of the Jaina scriptures on moral life, as implied by their doctrine of Karma, has played a vital role in moulding the character of the Jaina laity. The moral character of the Jainas is moreover fostered by the ethical code so arduously preached and practised by their holy men—monks and nuns. It is, therefore, no wonder that Jainism in the past could achieve the reputation of nurturing honest traders, disciplined administrators, liberal donors, fearless warriors and benevolent potentates. The tradition is carried on in modern times in the way that welfare institutions like Dharmashalas, Piñjrapolas, hospitals, Gurukulas and libraries grow and prosperunder the care of philanthropic .Jainas who participate liberally in all kinds of activities calculatedto promote public well-being.

"Ahimsa is the true character of life, for it appeals to all the men and beasts alike. It engenders in them love, truth and friendliness.

Ahimsa brings peace and prosperity to all by enjoining restraint and self-denial on one's own self, rather than any co-ertion or repression on others.

Ahimsa is the art of living by which one can live and let others live.

Ahimsa is double blessing, it blesses him that gives and him that takes.

Ahimsa is the perfect weapon which kills the evil, without hurting the doer."

—Jai Bhagwan Jain

Jainism in the eye of Svami Vivekananda

By

Samaresh Bandyopadhyay, *M. A.,*
University of Calcutta.

THE object of Svāmi Vivekānanda as regards India is indeed clear from one of his private conversations with Sister Nivedita. As he would often say, it was "to make Hinduism aggressive".[1] The Eternal Faith, according to the Svāmiji, must become active and proselytizing, capable of sending out special missions, of making converts, of taking back into her roomy fold those of her own children who had been perverted from her, and of the concious and deliberate assimilation of new elements. It is well known that the Svāmiji was extremely jealous of any attempt to exclude from Hinduism any of her numerous branches and offshoots. What regard, if at all, for Jainism Svāmiji had, is indeed interesting to note.

by some of her children—the Jainas for example-yet the Jainas, according to him, were none the less Hindus for that. "All that is true is Veda, and the Jaina is to the full as much bound by his view of truth as any other. For he would extend the sphere of the Hindu Culture to its utmost."[2] With her two wings he would cover all her fledglings.

The claim of the Jaina to a place within the fold of Hinduism, according to Svāmiji, was a matter of social and historical demonstration. "The Jainas of Western India", writes Sister Nivedita, "would be indignant to this day, if their *right to rank as Hindus* were seriously questioned. Even now they exchange daughters in marriage, with orthodox houses, of caste correspondent to their own, and even now, their temples are served occasionally by ordinary Brahmins."[3]

Sister Nivedita[4] informs us that by the good offices of some of his Jaina friends Svāmiji had the opportunity to go through some of their sacred books, not easily and usually accessible, except to

members of their own congregations. From this study he was deeply impressed with the authenticity of their doctrines and traditions, and with the important part which they had played in the evolution of Hinduism. It is generally held that the Indian religion necessarily includes amongst its strongest ideas a regard for the imminent humanity in dumb animals, and deep devotion to the ascetic ideal of sainthood. These two features, had been isolated and emphasized by the Jainas. In their clear pronouncements on the Germ Theory, moreover, confirmed as these have been by the researches of modern science, there was sufficient evidence of the intellectual and spiritual stature of the founders of the school. "The Jain is obviously right," said Svāmiji, "in claiming that his doctrines were in the first place declared by Rishis."[5]

Live and Let live.
Love all. Serve all.
May all beings be happy and secure,
May they be happy minded.

Let no one deceive another, let him not despise another in any place, let him not out of anger or resentment wish harm to another.

5. Ibid, p. 238 lines 12-15.

Ahimsa in Indian Thought

By
Dr. Sukumar Sen

From very early times Ahimsa, which started from a respect for life in any form and ended in non-destruction of life in any form and refusing food obtained from animal killing, has pervaded religious thought in India. Respect for life has led on the one hand to the Vedic conception of Brahma as the only and ultimate reality and on the other hand to the Jain monastic practice of walking carefully so that the tiniest insect may not be crushed to death. In Brahmanical faith killing has not been always prohibited. As a matter of fact non-killing is accepted only in Vaishnavism where there was probably Buddhistic and Jain influence at work. The faith that all is Brahman lifts one above killing (*hiṃsā*) and non-killing (*ahiṃsā*). So the Gita must not cause any mental disturbance or bodily harm to any being whatsoever.

There is not a single statement in Rigveda where we can detect the slightest hints leading to *ahiṃsā*. Ahiṃsā starts from the Upanishads which were also the spring of the conception of *Brahmavāda* (there is nothing but Brahman). At the time of the Upanishads the religious men formed two distinct groups. One was the group of the Brāhmaṇas, that is those who lived a householder's life and the other was the group of *Śramaṇas* who discarded a householder's life and practised penance and austerities. To the first group *ahiṃsā* stood for unnecessary killing while to the second group it meant complete non-killing. The latter would never kill under any circumstance but they would not reject animal food if it came to them unasked, in the normal way. (The *Śramaṇas* did not cook or collect food; they would accept food unasked and only once before sunset). This was the custom of early Śramaṇas, the forerunners of the Buddhist and Jain monks. The Buddhist monks did not deviate from this custom but the Jain monks went much further. They would never take animal food (excepting of course milk which does not involve slaughter).

It is however remarkable that Buddhism and Jainism which subscribe to complete *ahiṃsā* does not accept the theory of universal Brahman nor they believe in the Creator of the universe. It may be asked : if there is no God or Brahman and no emancipation (*mukti*) or merging into Brahman (*bramhabhūya*) what is the harm in *hiṃsā* (killing) ? The answer is simple. The Buddhists and Jains believe in the annihilation of self as the highest end of a religious man. That would mean release from the chain of succeeding births and deaths (*saṃsāra*) The chain of *saṃsāra* is woven by the threads of *karman* (action, mental and moral) during the life time of man. A thread of *karman* can be snapped only by having true knowledge and by penance. A new thread of *karman* is availed by inactivity of the mind (*akarman*). *Hiṃsā* is a forceful activity of the mind and weaves strong thread of *karman*. Ahiṃsā therefore is the best way of doing away, with the threads of *Karman* which fetters a man to the chain or wheel of birth and rebirth.

Awake ! Arise ! The hour is late. Angels are knocking at thy door, they are in haste and can not wait, and once departed come no more.

It is an irony of life, that while people wrangle for Religion, fight for Religion and die for Religion, they never care to live for it.

—H. H. Yogi Sri George

•

Whenever I see meat and fish ridden dining table, I know that I am looking upon one of the seeds of War and hatred—a seed that develops into an ugly weed of atrocity.

—G. R. Arundle

Place of Jaina Philosophy in Indian Thought

By

Mahamahopadhaya Dr. Umesha Misra,
Allahabad.

Like so many other philosophical systems of India, the Jaina School of thought also began with a code of discipline. Gradually, it developed into a well-thought of philosophical system with a view to realise the highest aim of life. The ultimate end of all the various branches of Indian thought is to achieve the highest goal of life, that is freedom from worldly pains. This is possible through the direct visualisation of Ātman as it has been said in the text ātmā vā are dṛṣṭavyaḥ. This is the maxim which is the backbone of Indian thought and life. Having full faith in this authoritative adage enquiries began to realize the ultimate End from different quarters by qualified persons (*adhikārins*). According to their different equipment for the realisation of the Ultimate truth, they marched towards the goal and saw for themselves the nature of the truth. Their experiences have been recorded as their particular contribution to the realm of thought.

In a similar fashion the Jaina Sādhaka also searched after the truth. It is not correct to call him an independent seeker (jiñājsu) through an altogether separate approach to the problem, he is just like so many other Jijñāsus making their own contributions towards the realisation of the truth from a distinct stand-point, no doubt, but on the same line.

We judge about the final nature of the particular contribution from different angles of vision in respect of their conception of Jñāna, jñeya and Jñāta. Of these, again, the nature of the first and the last, determines the true aspect of the thought. According to the Jaina School, the world is real, independent of the thoughts within. The thoughts are, however, self-illumined (Svaprakāśa) while the last is neither atomic nor all pervasive. It occupies a middle form and yet it is eternal. This is only a phase of the vision of the Sādhaka.

In order to achieve their end, the Jainas have also approached the same goal from different angles of vision and have prescribed different methods of approach walking on the same single line. It is not correct to say that the Jainas did not visualise the ultimate truth and stopped at some lower stage. The fact is that their aim, like that of others, was to confine their treatment within the limited scope in order to give a comprehensive and firm idea to the followers of the particular way of approach. It was also felt that it was not possible to lead the followers to infinite end, for

fear of confusing them. Therefore, the Jainas began at a particular stage, confined their treatment within a certain limit and stopped at a particular stage in their enquiry after the ultimate nature of the highest goal. So their contribution to philosophy is also only an aspect of the entire metaphysical contribution to Indian thought. It is not desirable, nor perhaps correct, to criticise Jainas from one particular angle of vision. No doubt, the vision from one particular angle will certainly differ from another angle, but all of them form part of the same enquiry after the nature of the same ultimate truth.

In order to be a perfect scientific pursuit, there cannot but be a synthetic approach to the problems. It is immaterial whether one process of enquiry follows the other, in details. I would rather think that in details there can be no agreement whatsoever, because the two approaches are from two different steps. The correct nature of the system is to be determined not independently, but along with the contributions made by other schools of thought. The difference in treatment is due to difference in our tastes, but not to the real nature of the object.

Keeping all these facts in mind, I have welcomed contributions made by Jainas to our thoughts as indispensable as any other for the realisation of the highest truth. We cannot deny the difference in our tastes. Again when the highest goal is pūrna and akhaṇḍa, we cannot neglect to include all possible approaches within our scope of enquiry. People of different interest have, due to certain sentiments, been quarrelling among themselves, which is not desirable from philosophical point of view. Sentiments naturally differ, but an enquiry into the philosophical problems is something different from sentiments. Therefore, Jainism is as much an essential contribution to Indian thought as Śaṅkara Rāmānuja, Nyāya and Vaiśesika, etc.

Let your tempered self have bath
In Cool stream of forgiveness,
Give no quarter to resentment, Wrath
And soft feelings you do possess.

—**V. P. Jain**

The bold Jaina conception of the Nature of Reality

By

Dr. Bhakti Bhattacharya, *M.A., Ph.D.*

The Jaina philosophy is positive in its assertion that truth requires data of experience, as a base to establish it. The Jaina philosophers are, however, particular enough to suggest that the data have to be analysed and carefully examined, with great caution with a view to eliminate the possibility of error. Insight and judgment are essential in the handling of the data. Neither the authority and tradition nor speculation is a sufficient guide as it goes against the fundamental nature of humanity. The Jaina is not so much concerned with the science of philosophy as with right living, that alone assists him in liberating the spirit from the bondage of the flesh. A philosopher, has, therefore, to grapple with the perinnial problems of life that persists. Thus collection of facts and accumulation of evidence are not only important but also fundamentals for valid knowledge.

Logic has to work on data which may appear as a mass of unconnected facts; but they are the initial pre-requisites for a critical analysis resulting in references being drawn, explanation being suggested and theories being formulated. The necessity for framing theories arises from the consideration of different views of life and doctrine professed by different people. 'When they come in touch with each other, interpretation of thought takes place. This naturally gives rise to particular development of feeling and belief, and Jainism is one noble manifestation of this mental unrest.' Pursuit of mere philosophical speculation was considered useless and barren by the Jaina, as it does not concern itself with the development of man into a superman. The central theme of the Jaina philosophy is its strict adherence to ethics. In facts its metaphysics is inseparable from its ethics. Liberation from mundane miseries is the principle objective of mankind. The Jaina ethics in principle compares well with the great saying in the *Bhagawad Gita* : "*duhkhes vanudvignamanah, sukhesu vigat-asprhah*", as it teaches indifference to pain and pleasure.

Morality is considered by the Jaina, essential, for bringing out the reformation of man's nature. The Jaina metaphysics has no faith in theories that are unconcerned with ethical responsibility. The Jaina is a realist out and out. The Universe according to him has neither

beginning nor end. Though it lasts for ever, it has its rise and fall. It consists of two categories (*tattvas*), Jīva and Ajīva, the conscious and unconscious. The Jīva does not represent the universal soul of the Upaniṣads but the individual souls, hence is the pluralistic realism of the Jainas. Two separate tendencies are at work in Jīvas. The universe consists of self and not self, *sat* and *asat*. The *sat* is real, the soul is omniscient. The *asat* obscures this omniscience and gives the Jīva his individuality. According to the Jaina, there cannot be anything which is devoid of its modifications of birth and decay. On the other hand modification cannot exist without an abiding or eternal something—a permanent substance; for birth, decay and stability or continuance, constitute the characteristics of a substance or entity, These three characters must dwell together in harmony to make a real definition of a thing in its integral form. Reaiity is a unity in difference. Every Jīva is a composite of body and soul, the former is subject to birth and decay while the latter persists. In its perfect condition, soul is perfect knowledge, perfect power and perfect tranquility. The causes of soul's bondage are passions and emotion. Right Faith, right knowledge and right conduct together, constitute the path to liberation. Knowledge of real nature free from doubts and mistakes of any kind is knowledge. Perfect knowledge comprehends all substances and their modifications or qualities. It is, therefore, essential to have a clear conception of the true nature of the qualities from which the souls, in embodiment, have to be alienated We know from experience that an existent, say a man, changes continually, both physically and mentally. The change is so great that we completely fail to recognise in our old age the most intimate friends of our youth. Again although Mr. 'A' in his old age, is not recognisable as Mr. 'A' of his youth, he is identified as Mr. 'A' all the same, irrespective of the changes both physical and mental that had been working in him from birth to death. The recognition may not be immediate as it would require collection of information (data) that would be convincing enough to establish the identity of the person present before us with the one whom we had known and known well in the past, possessing entirely different physical and mental equipments. So qualities and characteristics undergo transformation, while the identity persists. The statement 'this soul' or 'this man' is made because at the time this statement is made there is no sense of distinction of substance and the modifications-its attributes and characteristics, in the mind of the man making the statement. In such cases, only the substance is acknowledged because of the non-separateness of it and the modifications. When however this soul or man is considered with referencc to several modifications only—knowledge, preception etc, then the modifications stand out and not some substance called 'self' or 'man'. Some position is true in respect of other substances. What is then true nature of a substance or reality? In determining the nature of reality we should first ascertain the sources that help us to determine it. In other words what is the basis of our knowledge of a substance

or reality or of thing, that is, what are the instruments on which we depend for knowledge of things. Some Buddhist logicians hold that all our experiences of objects of senses and thought are mental phenomena; they are true of mind only. There is no reality outside the mind. The Jaina refuses to accept this stand. To him mind is merely an instrument of discovery just as the sense organs are. Mind cannot originate facts. If our experiences of things such as what we see, hear, smell, taste, and touch be unreal, there is no reason for putting a premium on internal experiences also. Since both physical and mental experiences are concerned with reality, why should internal experience and thought be taken as valid and external experience condemned? Thus, according to the Jaina thinkers, the knowledge of reality rests both on external experience and induction. Sense organ and mind co-operate in producing knowledge. Again the Jaina is not prepared to accept the limitation imposed by the Buddhist on the scope of sense perception that it is capable of giving insight into particulars alone and not of universals. He accepts both external and internal sources of knowledge as valid. Things, according to him, are concrete wholes (entities) having both particulars and universals. When we see an individual, say a cow, in the first instance we do not see the cow only but along with our experience of the cow we notice certain characteristics—the cow universal (*gotva*) which help us to recognise all other unperceived cows. Naiyāyikas and Mīmāṁsists hold the same view of the nature of reality. Universal to them also is not a thought product. It exists in the real, thought only helps us to discover it. Particular and universal are both elements of a real. That things exist and are diverse, is a fact of experience. Since things are different, they have different characters and since they have generic qualities that bind them to a class, partiular and Universal both together constitute a concrete reality. Logical problems need solution on the basis of logic. Problem of truth being a logical one, should likewise be determined logically. Our thought process has a logic and it is not opposed to experience, as it has facts of experience as data to work upon. According to Jaina conception, experience which holds within its compass both external and internal cognitions, includes not only perceptual cognition, inferential and verbal judgements, as held by the Naiyāyika, but memory also. If our mind is free from prejudices and if we use all our faculties with caution and circumspection, there is no reason why it should not be possible for us to find out, without error, how the objects behave and the laws that govern such behaviour. Jaina Philosophers have probed deep into the 'Laws of Thought' as propounded in the traditional schools and have come to the conclusion that the principles are true. The difficulty however lies in their abstract definition, since the nature of the actual data for evaluation is too complex, the scope of the laws must be limited by restrictive qualifications to agree with the constantly changing nature of the data of experience. The above stand of the Jaina school will be better appreciated if the position of at least one of the undernoted three formulations be stated

with reference to a concrete example. (1) The law of Identity: 'what is, is'; (2) The law of contradiction: Nothing can both be and not be', and (3) The law of excluded middle :'Everything can both be and not be,' Let us again take the instance of 'Mr. A' previously cited with reference to a different content. When we affirm that 'Mr. A' is 'Mr. A' and no other, we do it with reference to his substance, time, place etc. But being an existent a real, he is undergoing change constantly and consequently, he is not absolutely the same person at the next moment. The old and experienced 'Mr. A' and the young and in experienced 'Mr. A', are, as stated, not ausolutely different also; because 'Mr. A' continues to be 'Mr. A', i. e., his identity persists, inspite of the change. The Vedantic idealist treats this change as illusory on the basis of the law of Identity. According to him there is nothing in experience which may be taken as fundamental. Our senses may play false to us, our memory may elude us, and the forms of the world may be a pure fancy. The object of knowledge may be open to doubt, but the doubter himself cannot be doubted. The real is Brahman, the one and without a second, absolutely unchanging consciousness whose nature is pure intelligence. He is free, pure and eternal. The reality is thus one universal existence—'whatever is, is'. In refutation of this charge, the authority, in support of the idealist's conception, is demanded as this assertion is contrary to experience. The validity of the law of Identity should be determined by the testimony of experience and not 'a priori'. Again if the real be one and devoid of all differences, it will also deny the eternity and other attributes of Brahman. The Buddhist fluxist holds a different view. He believes that reals are atomic particulars, each absolutely different from the rest. They have no underlying common. principle to bind them together.

The Naiyāyika has another point of view. He believes both universal and particular to be combined in an individual, yet retaining their two separate characteristics, different and distinct. Accordingly he considers that the real is an aggregate of the universal and particular, and not a true synthesis.

The Jaina is unable to accept these contentions of the different schools. According to him, universal and particular are two distinct features of a real, which is at once identical with both as also different from them. A real is a unique synthesis which is different from both the particular and the individual, severally and jointly and yet include them in its fold. There is no absolute contradiction between being and not being, when understood in relation to definite contexts and settings abstracted from which they would have no reality of their own. The Jaina further contends that a particular existent or a thing has certain qualities and distinctive marks. Form and matter have validity only when they are manifestations of the substance, they reside in. These individual characters are different in different individuals. Experience also, shows that there exists a relation between the fundamental truth of existence and the multifarious form in which existence

present itself to our experience. Since every object is related to every object, this relation involves the appearance of a relational quality. Thus the original qualities of an object together with those that are produced from these original qualities, induced by relations make the object the possessor of an infinite number of qualities and characteristics. Relation between two things having different individual characteristics is possible only when there subsists, in them, an identity of a common nature and difference in respect of a specific individuality that alienates one from the other. In absence of an underlying common principle, things absolutely different and discrete would fall apart and result in chaos and would not comprise (include) them into a system. Non-acceptance of the validity of experience is preposterous and experience stands guarantee for the validity of relation. The Jaina explains 'relation' by reference to an internal change of the terms, i.e., the qualities that reside in the real, that is, the attributes that constitute the real. This makes their formation and entity inevitable. Although the terms do not have the mutual identity, but coming into relation, they change into an identity of differents. A relation has no objective status outside the terms. It is the result of an internal change in the terms. The nature of reality, because of its infinite attributes and characters, is not entirely comprehensible by the logical thought or expressable by language. It can be realised by experience alone. Relation also shares this unique character which cannot be exhausted by categories of thought. The denial is possible by vir ue of relational thought. The central theory of Jaina is that reals are different (unlike) and each real is equally diversified. As already stated, relations induce this diversification. The conclusion is thus legitimate that each real is possessed of an infinite number of modes at every moment. The number of reals is infinite and consequently their relations with one another are infinite. Further the nature of reality is such that absolute unqualified affirmation of existence is impossible. Again absolute negation of existence is also not possible as it is self-contradictory. How can an existent be absolutely non-existent. It should, therefore, be accepted that a thing is neither real or unreal, either eternal or non-eternal, in an absolute sense, but pertakes of both characteristics. This theory does not, in any way, go against the canons of logic. Just as there is no opposition between the unit of being and plurality aspects, there is also no contradiction in the case of a permanent cause, possessing diverse powers of expression. The Jaina does not face any trouble in resolving the difficulties in regard to the correct appreciation of the true nature of real (an object, a thing, soul etc;) or a clause, for the matter of that, by means of the law of Anekāntavāda—the doctrine of many-sideness of reality. The realistic classification of being, by the Jaina, which is a reconciliation of the two extreme views of 'Absolution' and 'Non-absolution' held respectively by the Advaita and Buddha systems, cannot but attract attention and admiration, and merits extensive study. ●

The Basic Idea of God

By

Dr. Haristya Bhattacharyya, *M.A.,B.L., Ph.D.*

Subjectively speaking, religion is a consciousness, establishing the closest possible relationship between a man and being, transcending that man's ordinary empirical self. Religious beliefs and practices are due to the various attempts to establish that relationship. Although this general statement may be made about all the religions, current or past, in their positive and concrete forms, they have differed from each other more or less widely. Some religions are polytheistic, believing in a number of gods; some, henotheistic, in which one of the gods is given the supreme position, w. ile the others are more or less subordinated to him; Zoroastrianism, in some of its aspects, seems to posit two contending deities; while monotheism admits only one God. As regards the question of the God's creating the universe, the religions do not seem to have been unanimous. Some maintained that God created the universe out of nothing; some held that matter in its ultimacy was independent of God and was only shaped and moulded in definite forms by the creator; others contended that not only matter but time, space and an infinite number of souls had had independent realities of their own and that the creator's business was only to build up bodies and environments or requisite circumstances for those psychical beings. It is, however, manifest that creation involves an internal urge in the Creator and as such implies some sort of imperfection in him. Accordingly it is only a finite being that can be a creator in any sense, so that if God be conceived as the supreme Being with infinite perfection, he cannot be supposed to be the Creator of the Universe. As a matter of fact, some of the rational religions maintain that man alone is the creator of his own destiny and dispense with the hypothesis of the world-creator.

Amidst the variednesses of religions, it is certainly difficult to pick out the fundamental features which can be found in all religions. The conception of some sort of God as a being superior to the finite beings is of course the central doctrine in all forms of religion but differences crop up when we look to the positive contents of this idea of God. We have seen how world-creation has not been attributed to God by some religions. Upon a careful survey of all the most basic doctrines, connected with the theories of God, it appears that all religions, of whatever age and in whatever stage of development they may be, agree in attributing 'power' to their God or Gods. Even in totemism,

present itself to our experience. Since every object is related to every object, this relation involves the appearance of a relational quality. Thus the original qualities of an object together with those that are produced from these original qualities, induced by relations make the object the possessor of an infinite number of qualities and characteristics. Relation between two things having different individual characteristics is possible only when there subsists, in them, an identity of a common nature and difference in respect of a specific individuality that alienates one from the other. In absence of an underlying common principle, things absolutely different and discrete would fall apart and result in chaos and would not comprise (include) them into a system. Non-acceptance of the validity of experience is preposterous and experience stands guarantee for the validity of relation. The Jaina explains 'relation' by reference to an internal change of the terms, i.e., the qualities that reside in the real, that is, the attributes that constitute the real. This makes their formation and entity inevitable. Although the terms do not have the mutual identity, but coming into relation, they change into an identity of differents. A relation has no objective status outside the terms. It is the result of an internal change in the terms. The nature of reality, because of its infinite attributes and characters, is not entirely comprehensible by the logical thought or expressable by language. It can be realised by experience alone. Relation also shares this unique character which cannot be exhausted by categories of thought. The denial is possible by vir ue of relational thought. The central theory of Jaina is that reals are different (unlike) and each real is equally diversified. As already stated, relations induce this diversification. The conclusion is thus legitimate that each real is possessed of an infinite number of modes at every moment. The number of reals is infinite and consequently their relations with one another are infinite. Further the nature of reality is such that absolute unqualified affirmation of existence is impossible. Again absolute negation of existence is also not possible as it is self-contradictory. How can an existent be absolutely non-existent. It should, therefore, be accepted that a thing is neither real or unreal, either eternal or non-eternal, in an absolute sense, but pertakes of both characteristics. This theory does not, in any way, go against the canons of logic. Just as there is no opposition between the unit of being and plurality aspects, there is also no contradiction in the case of a permanent cause, possessing diverse powers of expression. The Jaina does not face any trouble in resolving the difficulties in regard to the correct appreciation of the true nature of real (an object, a thing, soul etc;) or a clause, for the matter of that, by means of the law of Anekāntavāda—the doctrine of many-sideness of reality. The realistic classification of being, by the Jaina, which is a reconciliation of the two extreme views of 'Absolution' and 'Non-absolution' held respectively by the Advaita and Buddha systems, cannot but attract attention and admiration, and merits extensive study. ●

The Basic Idea of God

By

Dr. Haristya Bhattacharyya, *M.A.,B.L., Ph.D.*

Subjectively speaking, religion is a consciousness, establishing the closest possible relationship between a man and being, transcending that man's ordinary empirical self. Religious beliefs and practices are due to the various attempts to establish that relationship. Although this general statement may be made about all the religions, current or past, in their positive and concrete forms, they have differed from each other more or less widely. Some religions are polytheistic, believing in a number of gods; some, henotheistic, in which one of the gods is given the supreme position, while the others are more or less subordinated to him; Zoroastrianism, in some of its aspects, seems to posit two contending deities; while monotheism admits only one God. As regards the question of the God's creating the universe, the religions do not seem to have been unanimous. Some maintained that God created the universe out of nothing; some held that matter in its ultimacy was independent of God and was only shaped and moulded in definite forms by the creator; others contended that not only matter but time, space and an infinite number of souls had had independent realities of their own and that the creator's business was only to build up bodies and environments or requisite circumstances for those psychical beings. It is, however, manifest that creation involves an internal urge in the Creator and as such implies some sort of imperfection in him. *Accordingly it is only a finite being* that can be a creator in any sense, so that if God be conceived as the supreme Being with infinite perfection, he cannot be supposed to be the Creator of the Universe. As a matter of fact, some of the rational religions maintain that man alone is the creator of his own destiny and dispense with the hypothesis of the world-creator.

Amidst the variednesses of religions, it is certainly difficult to pick out the fundamental features which can be found in all religions. The conception of some sort of God as a being superior to the finite beings is of course the central doctrine in all forms of religion but differences crop up when we look to the positive contents of this idea of God. We have seen how world-creation has not been attributed to God by some religions. Upon a careful survey of all the most basic doctrines. connected with the theories of God, it appears that all religions, of whatever age and in whatever stage of development they may be, agree in attributing 'power' to their God or Gods. Even in totemism,

a 'totem' is held sacred because it is supposed to have the 'power' of protecting the worshipper from evil or of curing his disease; because, in other words, beneficial influences are believed to be exercised upon the worshipper by the 'totem', while it is held to punish the disregard of its sacredness. Similarly, in fetichism; the 'fetich' e.g., a stick or a piece of stone is venerated, because a peculiar 'potency' is attributed to it by reason of some peculiarity in its structure or of its being informed by a powerful spirit or of its being a sign or a representation of a transeending deity. God is thus in all religions, essentially a 'powerful' being. Another fundamental characteristic of the God in all religions is that he has the 'immediate apprehension' of all things. A third similar divine feature is the 'Omniscience' of God, i.e, the fact of his truly knowing all things and phenomena. The last attribute that is ascribed to God in every religion is that he is essentially a being in uninturrupted 'joy'. So, these four,–infinite 'power', infinite 'apprehension' infinite 'knowledge' and infinite 'joy' are the features, attributed to God, in every religion.

The finding that an idea of God with the above-mentioned four attributes, is immanent in all forms of religion leads one to make a guess about the fundamentals of a universal religion. i.e., a religion, acceptable to all the religious-minded people. It is that the God of the universal religion, is the God of supreme 'power', of infinite 'apprehension', of 'omniscience' and of unobstructed 'joy'. It is to be noted. however, that while the belief in such a God is traceable in all religions, it would be wrong to hold that this belief is fully rationalised and perfected in all of them, so far as its object is concerned. It may be that people of all ages have an instinctive belief in some form of Divinity with its four aspects, as indicated above; but this intuition must be held in the process of continuous rationalisation throughout the course of the religious history of a people. In the course of evolution, the native religious predisposition is supplemented by the intellectualism of the people, so that they come to develop a more and more perfected idea of God and his four features. Often-times, a religious hero who is much in advance of the ordinary people and who is variously regarded as a 'Messiah', a 'Prophet', a 'Seer' or 'God's own begotten', gives a more comprehensive and rational account of God. Sometimes, thinkers again apply their intelligence to the problem and arrive at a more perfect conception of God. But whether the religious idea is developed in the former manner by the teachings of a 'Revealer', i.e., the so-called 'founder' of the religion or amplified by the speculations of philosophers, there is always that original basis or intuitive propensity for the religious attitude which underlies the later belief, based upon argumentation or the faith founded upon the instructions of the 'Teacher'.

The extremists of the evolutionist school do not admit the above innate religious tendency in man to believe in a God and try to prove that man

began with a clean mind, clear of all religious pre-dispositions. But however much down in the mentality of primitive people we go, we always come across a groping there towards an 'indifinite' beyond the presentations of the senses, a leaving towards a 'being beyond', a 'more than-I'—'this 'indefinite being beyond' this 'more-the-I', being held as fit for being venerated, awed, believed in and depended upon. Accordingty, the genetic or the so-called scientific theory about the evolution of religion should not be unmindful of the intuitive basis. In fact, the intuition-theory and the evolution-theory have both their importance and usefulness in the history of religious progress. Evolution does not mean continuous and successive new creations out of nothing ; it always implies a development or amplification of what already is,- may be, as potentiality or implicit possibility ; evolution thus signifies a constituitve permanent element and a contingent element of change as well. The instinct-theory of religion,-in however vague a manner it may do,-affirms that man has a native sense of the divinity with its four attributes. The business of the evolution school to show how the history of a religion has been continuously bringing out the inner and the real significance of that intuitive idea of God.

"Religion is intimately wrapped up", says W.Wallace, "with the tillage of the fields the pasture of the flocks, the rules and modes of wed-lock' the customs of the market, with sanitary rules, with the treatment of disease". In fact, the religious position of a man is connected with his whole psychical nature more or less intimately and is in this respect distinguishable from a particular theory of his, regarding, say, a particular icular physical or chemical phenomena. The religious consciousness is immediate and involves a commanding persuasion ; in the words of Schilling, it means, "What is at once heroism, faith, fidelity to yourself and to God,-a trust and confidence in the divine which excludes or abolishes all choice". This signifies that one's religion or theory of God is essentially a conviction,-not merely a credulity nor even a critical knowledge of facts but rather a realisation of a law, in which he lives, acts, and has his being, This inseparable connection between god-conscionsness and the consciousness of one's own essential nature explains the best results we have of the rationalisation of a religion or of the original primitive notion of God. Kant's critical researches led him to find out that some of the most essential matters of life, for their solution in accordance with the principle of practical reason, pointed to a regulative law, underlying and unifying them and that this law was identifiable with God, who is thus in a very real sense immanent in the spiritual nature of man. God is no doubt conceived in most religions as an external being "Something beyond the cloud, some one beyond nature, the Great One who breaks the law and works his will for his own. "There is no denial also that this transcendent God with some of the primitive people is identified with the Law-giver, the priest, prophet of the Seer. But with the progress of the process of rationalisation, all this came only to mean that God is more than the

perishing individual, a reality, greater than ones empirical self. Religion in the process of rationalisation is thus a progress from the objective to the subjective consciousness of God, the former, characterising generally the primitive and the less advanced outlook and the latter representing the more advanced, "finding the voice of God mainly in the inner shrine of the heart" E.Caird. So far as the God-consciousness was concerned, the school of Schlimacher did away with all dualism between Verstand and Kernnufi, the gulf between the pure and the practical reasons and found in the eseential emotional nature of man, the explanation of the religious sense.

For the discovery of the true grounds of religious consciousness and for the matter of that, of the true nature of God in his aforesaid four-fold aspects, we are thus led to fall back upon the true nature of man. Now, undeniably man is a social being, he feels that there are other beings who are essentially like him ; that, in other words, there are spiritual realities other than but similar to him. Even the primitive man has the sense that he is not religious by himself, that his God is not exclusively his, that he has not the liberty to choose his own God nor the exclusive claim to enjoy his blessings alone. The nature of man is thus inseparably related to that of others like him. If then rationalisation requires that God is to be sought in the nature of man, there are apparent psychological reasons for an individual's looking upon his community as something divine. The State, for example, was looked upon as Divinity by some peoples and for similar reasons the religious Brother-hood, the Church, was recognised as God by most of the social religions. The most pronounced and unambiguous form of acceptance of a collection of man as the sole Divinity is that introduced by Auguste Comte in which the supreme God is identified with Humanity, whose worship is to be performed by an organised priesthood and Church through an elaborate system of rituals.

While it may be admitted that all rationalised religions must be based on a recognition of the other realities, separate from, yet similar to the individual, it is never right to obliterate the individual and fix upon the 'other element' as the sole real Divinity. For, the 'other consciousness' is not the whole of one's consciousness ; if a person has the apprehension in him, of persons other than him, he has also the conciousness of himself as an indubitable direct reality. This conciousness of the individual self as the primary reality asserts itself in a prominent manner in the religious theories and practices of a people. It is surmised that the practice of Sacrifice as a religious act was due to a sense of union or communion between a group of men and their Diety manifesting itself in the social banquet in which all the members of the community took their part. Sacrifice was thus due to the religious consciousness in its social aspect. But on the other hand, the practice of Magic also in some form can be traced in all primitive religions. Magic consisted in attempts to interpret the past, to foretell the future, to cure diseases, to remove evils, to bring about health and prosperity and so on. It was

believed that the powers of the magician to do these acts were due to his acquisition of some sort of control over nature. These powers were the magician's own individual attainments and were exercised by him alone through mysterious formulas and acts. The magical acts, it has been surmised by some, were not wholly fanciful acts but some of them at least were certainly due to the magician's careful observation of some natural phenomena. Whatever that might have been Magic, as distinguished from Sacrifice, consisted in setting up an individual's strictly private relation to the divine powers of nature and in divinising the individual man, so to say, in some manner. Comte's religion of Humanity had few adherents outside France ; and Huxley characterised it as 'Chatholicism minus Christianity'. Humanity as a whole or a collective body has only a notional reality and the attribution to it of the four-fold divine features of power, apprehension, omniscience and blessedness can only be figurative. The individuals are real and each one of them can be accepted as the God, The fact of there being a number of individuals having similar natures may determine the nature of an individual in certain manners but this does not invest the totality of the community with any real living reality or negate the reality of the individual altogether. Comte's God was thus an unreal abstraction and could not accordingly command the heart-felt veneration of any truly religious-minded people. Another serious defect from which the so-called religion of Humanity suffers was that it identified divinity with the ordinary experimental nature of man, Comte was right in finding his only God *in the nature of man* but erred in holding that a man or a collection of men as finite beings and subject to all the ills, infirmities, misfortunes and limitations of a worldly life could nevertheless be regarded as God. God in a rationalised religon is certainly man,-or for the matter of that, any being having the principles of life and consciousness in him ; but divinity attaches, not to the ephemeral and the transitory aspect of the creatures nature but to what is eternal and fundamental in it.

A word of caution is necessary again when recognising the divinity in the essential nature of man, an ordinary animal suffering from the vicissitudes of the ordinary life, is not God ; it is only his pure nature to which divinity can be attributed ; and in this sense, it is but natural to look upon the high souled beings,–the super-ordinary persons who by their self-culture and self-development have realised their pure selves, as divine beings. This is done in most of the positive religions and is justifiable. But this would not warrant one to confine God-hood within the limited number of the prophets or messiahs of those religons. We must on the other hand recognise that every living being is essentially pure and has the capacity of fully developing its own nature. We must recognise, in other words, that every conscious creature is a God in potentiality and that when thus developed to perfection, this potential God in a living being appears in its true light, i.e., as a fullfledged God with his four-fold attributes.

The basic idea of God in all religions is thus one in which he is characterised by the four-fold features of infinite 'power', infinite 'apprehension', infinite 'knowledge' and infinite 'joy'. This fundamental God-idea when rationalised is found to be attributable not to any external transcendent being, but to the essential nature of every living being. The central feature in a conceivable universal religion is thus the recognition of the fundamental nature of all conscious beings, high or low, as divine.

It would be interesting to see how Jainism which is ordinarily dubbed as atheistic, fully recognises divinity of a rationalised religion, as described above. God in Jainism is not an outside being, creating the world. Divinity is to be attributed to the nature of man, as suggested by the Comtian school; but unlike Comte; Jainism refuses to recognise God in the empirical man; it holds that man and, for the matter of that,-every animal is a divine potentiality, so that when perfected and fully developed, this potentiality is realised as the true God with the four-fold glories of infinite Power, Knowledge, Apprehension and Joy,-'Ananta-catuṣṭaya' as they are called by the Jainas.

"My faith in non-voilence remains as strong as ever. I am quite sure that only should it answer all our requirements in our Country, but that it should, if properly applied, prevent the bloodshed that is going on outside India and is threatening to overhelm the Western World."

—Gandhiji

Omniscience A Fiction or a Fact

By

Prof. G. R. Jain,
Danaoli, Lashkar, Gwalior

Every thought is preceded by material vibrations in the brain. These brain waves are not a myth now, but hard facts of experiment. It has been possible to record them on paper and the records are known as incephalograms. They have been transmitted across the Atlantic and received at the other end (a sort of telephatic transmission with the help of machines). In fact they are electro-magnetic waves of ultra-ultra-short wave lengths. When the brain acting like a miniature radio-receiver is properly tuned, the waves from outside are received in. In fact a thought can be looked upon as influx of foreign energy into the soul. Prof. Albert Einstein astounded the world by his great discovery that energy is matter and matter is energy. Every thought, therefore, which precedes our action, involves coming in of some foreign matter unto the soul. The Jaina theory of Karmas which postulates the association of subtle matter with the soul at every moment of our life, and which has been given the name Karma-vargaṇā and is included amongst the six divisions into which Matter has been divided under the name Sūkṣma.

Souls are divided into two categories, mundane and pure. A mundane soul is closely associated with matter which flows in as a result of our thoughts and consequent actions. As every kind of matter in subject to Newtonian forces of gravitation, the poor mundane soul stands no chances of flying away from the grip of the Universe which is filled with matter on all its corners. But when this association with Karmic matter is annihilated, the soul begins its upward journey like a hydrogen balloon. Hydrogen atom is the lightest among matter and, therefore, a hydrogen balloon would go up as far as meets the hydrogen layer of the upper atmosphere provided it is prevented from bursting by the rays of the sun. Soul is lighter still; in fact, it is the lightest we can think of, because it is non-material and rises to the top of the universe beyond which there is no medium of motion.

Pure soul is Effulgence Divine in which the consciousness inheres although the science of today is trying to search consciousness in the protein molecule. If some day the biologists succeed in manufacturing the protoplasm, the philosophers will have to discard the soul and think in some other way. Already some constituents of protoplasm like nucleic acid have been synthesised. For the present we have to fall back upon the hypothesis that a pure soul is all Know-

The basic idea of God in all religions is thus one in which he is characterised by the four-fold features of infinite 'power', infinite 'apprehension', infinite 'knowledge' and infinite 'joy'. This fundamental God-idea when rationalised is found to be attributable not to any external transcendent being, but to the essential nature of every living being. The central feature in a conceivable universal religion is thus the recognition of the fundamental nature of all conscious beings, high or low, as divine.

It would be interesting to see how Jainism which is ordinarily dubbed as atheistic, fully recognises divinity of a rationalised religion, as described above. God in Jainism is not an outside being, creating the world. Divinity is to be attributed to the nature of man, as suggested by the Comtian school; but unlike Comte; Jainism refuses to recognise God in the empirical man; it holds that man and, for the matter of that,-every animal is a divine potentiality, so that when perfected and fully developed, this potentiality is realised as the true God with the four-fold glories of infinite Power, Knowledge, Apprehension and Joy,-'Ananta-catuṣṭaya' as they are called by the Jainas.

"My faith in non-voilence remains as strong as ever. I am quite sure that only should it answer all our requirements in our Country, but that it should, if properly applied, prevent the bloodshed that is going on outside India and is threatening to overhelm the Western World."

—Gandhiji

Adams, which is two thousand times denser than platinum, the heaviest metal known on earth. The formation of such a matter in certain stars can be explained in no other way but by saying that somehow a very large number of atoms have become packed in a small compass in nuclear matter. Writing about the nuc'ear matter the great astro-physicist A. S. Eddington once said that one ton of nuclear matter can be easily carried in a waist coat pocket.

(2) **Einstein's Principle of Equivalence between Matter and Energy** :- This principle is epitomised in the equation $E = mc^2$; and in the common parlance it means that one gram of any kind of matter when fully changed into energy is equivalent to quantity of heat which would be produced by the burning of three thousand tons of best variety of coal. If we peep into the history of development of science, we come across very funny ideas about heat, light and electricity. That these are manifestations of energy was realised very late. It is a bit surprising that in the Jaina scriptures it is clearly mentioned that out of the six different forms into which matter manifests itself, namely, solid, liquid, gases, energy. Karmic matter and elementary particles, heat. light and electricity belong to sthūla-sūkṣma class, that is, energy chāyātapādyāh sthūletarāḥ It means that the perfect identity between matter and energy was known to us although the quantitative relation given by Einstein was missing. It is this identity between matter and energy which ultimately led to the development of the atom bomb.

(3) **Pudgala** :-This is rather a peculiar word for prakṛiti (Nature) or what is more popularly known as matter. But it is full of inner meaning as defined in the following words "Purayanti galayanti iti pudgalāḥ" (that which undergoes modifications by combinations and dissociations). Today one whole branch of physics deals with these disintegrations, natural and artificial. We know that an atom of uranium naturally dissociates into an atom of radium and finally after undergoing some intermediate changes into the form of lead. When the nucleus of nitrogen atom is bombarded by an alpha particle the alpha particle becomes enbedded into the nucleus and an atom of exygen is formed. This is an example of change in *Pudgala* by Pūrayanti process. When a lithium atom is bombarded by a proton the resulting atom bursts and two alpha-particles fly in opposite directions. This is a case where modification is introduced into matter by *galayanti* (fission) process. Such examples are without number and need not be multiplied. The atom bomb is a case of *galayanti* process and a hydrogen bomb a case of purayanti (fusion) process.

(4) **The Electrical Nature of the Atom** : Kaṇāda is said to be the father of ancient atom who explained the position of atom into the matter. Many Greek philosophers like Democritus and his followers, John Dalton in the nineteenth century, gave a clear concept of the atom until we come to the time of Sir Rutherford about 1919 who gave the planetary model of the atom and pointed out that atom is an assemblage of positive and negative

ledge and all things and events are automatically reflected in it-past, present and the future. In other words, pure soul means perfect knowledge. According to Jaina school of thougt, as a mundane soul gradually purifies itself more and more its power of knowing the truth increases and when it becomes fully purified the whole Truth dawns upon him automatically just as a mirror begins to reflect things when dust is wiped off from its surface; that is, we can know the truth by Eye Divine or divya-dṛṣṭi. This is one way of knowing the truth where there are no chances of making any mistake through illusion. The second method is the method adopted by the modern science, viz., experimental. Experiments are performed by different people all over the world; and if they arrive at the same result, the conclusion drawn is regarded as correct or true. Even some scientists of today are of opinion that the experimental method is not the only method of arriving at the truth,

Without going into philosophical implications of Omniscience as defined by Jaina Ācāryas, I am giving below some points in answer to a question once asked by a friend of mine, namely 'what evidence is there to prove that the Jaina Tīrtham-karas were Omniscient' ?

The ancient writers, like the author of Nandī-Sūtra, have tried to overawe us by saying that the Fourteen Pūrvas which constitute a negligible portion of the entire Jaina canon, required such a huge sea of ink into which over sixteen thousand elephants, one mounted over the other, would be completely submerged or that it will take a few billion years to utter the twelve Aṅgas of Jaina vāṇī at the rate of a few thousand words per minute. Naturally, words spoken so fast would lose their intelligibility and would appear like a row of thunder, So, they said that the entire body of a Tīrthaṃkara vibrates and the sound produced is inarticulate which is analysed into different languages of human beings, and those of birds and beasts, as if by some natural process akin to the mechanical process adopted in the meetings of the United Nations where the talk of a speaker in any language is automatically analysed and heard in the language of one's choice.

In the modern age of science, arguments of the above type would be regarded as silly to prove the perfection of knowledge of any person on earth. But the whole problem cannot be dismissed cursorily. We take points one after the other.

(1) **The Unit of three Dimensional Space** :—It corresponds to Euclidean space point. In Jaina terminology it is called Pradeśa and has been defined as the smallest volume of space in which only one atom can reside, but in which an infinite number of atoms can reside under special circumstances. This is a contradiction in itself. How can an infinite number of atoms occupy the same space which only one atom occupies? And the answer given is Sūkṣma-pariṇāma–avagāhana-śakti-yogāt (on account of the subtelty and accommodating power of molecules). The modern science has discovered a substance called nuclear matter, first of all discovered by

of motion for matter and energy, and the other the electro-magnetic field which they have called *adharma-dravya.* Both of them are non-material and all-pervading. In order to account for the stability of the Universe Einstein postulated the idea of curved space a very hard pill to swallow. If the Universe is to remain stable its total energy content should remain the same. If it were losing energy constantly its stability cannot be guaranteed. In order to prevent energy from going out Einstein said our Universe is finite in three spatial directions and infinite along the fourth dimension of time. In a curved space like it, the energy travelling outward would be reflected at the boundaries of the Universe and there will be no loss of energy. The Jaina thinkers gave an alternative explanation. According to them there is no medium of motion beyond the finite Universe and therefore matter or energy in any form cannot go beyond it and they have accordingly divided space into two divisions the lokākāśa and the alokākāśa, the finite Universe and the infinite universe beyond it. This is a more simple explanation of a difficult puzzle. The *adharma dravya* is the cause of cosmic unity through which those forces operate which keep the fundamental particles from flying away inside the atom, keeps the atom inside the molecules and the molecules inside the crystehls.

We started to give an answer to the question: Were the Tīrthaṃkars omniscient ?' and we have come to the end of our reply. Whether they were omniscient within the perview of the definition given, I leave the reader to judge for himself. What I have placed before the reader is that the facts described within the last half a dozen paragraphs (1) to (6) which have been discovered by the great pioneers of science working day and night in their laboratories and elsewhere and spending stupendous sums of money were already placed before us (not of course with very great details) by our Jaina Tīrthaṃkaras. We can only imagine what a divine foresight they must have possessed who laid bare before us the mysteries of the biggest and the smallest, the Universe and the atom.

Any healthy criticism on this subject would be welcome.

" Tough a man can conquer thousands and thousands of Valient foes, yet greater will be his victory, if he conquers no body but himself."

electricity. It is significant to note that the electrical nature of the atom was already known to the Jaina writers and we read in Sūtra 33 of Tattvārthādhigama Sūtra Chaper V "Snigdha-rūkṣatvād bandhaḥ". These words *snigdha* and rūkṣa refer to positive and negative electrifications because Umāsuāmi in the Sarvārtha-siddhi clearly states that lightening discharge in clouds is produced by the qualities of *snigdha* and rūkṣa that is due to the development of positive and regative charges. The same thing has been hinted at by Dr. B. N. Seal in his book "*The Positive Sciences of ancient Hindus*" (London) when he says that the crude and immensely suggestive theory of chemical combinations (of the Jainas) is possibly based on the observed electrification of smooth and rough surfaces as a result of rubbing.

(5) **The Size of the Universe** :-Leaving aside the question of the shape of the Universe, the Jaina writers have given the volume of the Universe as 343 cubic Rajjūs according to Digambars and 239 according to Svetāmberas where according to Colebrooke Rajjū is the distance which Deva flies in 6 months at the rate of 2,057,152 Yojanas in one kṣaṇa or instant of time. Compare it with the size calculated by Einstein according to which the radius of the Universe is 1068 millon light-years, where light-year is the distance travelled by a ray of light in one year at the rate of 186000 miles per second. Although on account of the uncertainties involved in the magnitudes of the yojana and the instant of time, it is difficult to make a comparison. However, the Rajjū comes out of the order of 1021 miles (that is 1 followed by 21 zeroes.) There are various theories about the creation of the Universe, the Big Bang theory being the most popular which postulates that in the beginning of time the Universe was in the form of material highly concentrated corresponding to Brahma's golden egg, which began expanding suddenly and is expanding even today. This expansion of the Universe has been concluded on the basis of the feable red shift of the spectral lines. The present theory about the creation of the Universe which is known as continuous creation theory is at present finding favour with the scientists and represents the Jaina view according to which the Universe is not expanding, has a fixed volume, and will continue to exist as such in future. Shri Deepak Basu of the Institute of Radio Physics of Calcutta has published a very learned article in *Science and Culture* in April 1964. He writes as follows:

"The well-known red shift has been explained recently from Einsteins' theory of Relativity as due to gravitational field of the galaxies. In case this theory is accepted the idea of the expansion of Universe will be ruled out and the other two theories discussed so long evolutionary and steady state which are based on expanding mechanism will be abandoned."

(6) **The Ether and the Field** :—So far as the constituents of the Universe are concerned two things are very peculiar to Jainism. One is the luminiferous either pervading every iota of space (to which they have given a peculiar name *dharma dravya*) which accounts for the medium

in character, all philosophy, metaphysic and Logic necessarily limited to the contents and their knowledge that obtain within the lokakasa or the world of human experience.

The contents of the world of our experience are divided into Jivas and Ajivas, Souls and non-souls. The souls are Svaprakasa, self-luminous, and svasamvedana, self-knowing or self-conscious. The non-souls are jadu aprakasa or unconscious, The souls are independent of one another and are a plurality, and so are non-souls a plurality. Both the souls and non-souls are self-existent reals. They are not cre-ated or evolved by any higher being called God. Jaina metaphysic is thus dualistic or rather pluralistic Realism. Each and every one of these reals, conscious or unconscious is never static or immobile, but is always parinami or evolvent. But nevertheless inspite of its constant change or parinama it keeps up its stability or character as an identical substance in and through its changes or parinamas. It is thus a *parinam nitya* as Umasvati puts it, utpadavyayadhrauvya yuktam sat. The sat or real is characterised by utpada or origin and *vyaya* or annihilation. It does not originate out of nothing, nor does it lose its identity of substance in this annihilation, but it always has the third characteristic of dhrauvya or stability, for otherwise it will forego its character as a *sat* or real. Changes or parinamas are indeed going on in its life, but in the midst of its changes it retains its identity through its character as dhrauvya, permanence or stability. The gunas or qualities and paryayas or modifications that originate and are annihilated are replenished so as not to lose its character as *sat* or real by its dhrauvya aspect. The Jaina metaphysic is thus distinctly realistic. Now the souls are conscious, and the non-souls are unconscious, one having nothing in common with the other. Here, as in all forms of Realism, explanation of knowledge, of how the soul knows the non-soul is a problem. Descartes dualistic realism in western philosophy has offered Interactionism to explain knowledge by the mind of matter on physiological ground of a hypothetical pinealqland, and we all know how the flimsiness of this explanation has led his followers to introduce divine agency, spinoza having recourse to 500 as Absolute substance whose parallel attributes are mind and matter consciousness and coleism and heibriz to his hypothesis of pre-established Harmony whereby Goo, or Master-minded who is the sufficient reason for effecting the harmony or knowledge relation between the two other-wise unrelated entities of mind and matter. This intervention of divine agency in explaining the problem of knowledge is evidently a mere sueterfuge, and has come down to us as a pseudo explanation of the relation between mind and matter in which all knowledge consists, and has been criticised as *deus ex machina* explanations of the knowledge problem. Hegel in order to get out of this untrasse has reduced mind and matter to a common spiritual determination by showing that both mind and matter have their origin from the *One* Absolute spirit a God, and their difference is only a form of duality and not a rigid insoluble dualism. Thus the legacy of Dualism left by Descartes in modern Western

Essentials of Jaina Metaphysic and Epistemology

By

Hari Mohan Bhattacharya, M. A.,
(Phil. & Sans.)

The contributions of the Jaina mind to Indian Culture are at once immense and outstanding. The Jain literature and Art, Religion and Ethics, Science and Metaphysics, Logic and Epistemology still pose indeed an alluring problem for explores of whom there have been a few in India and still fewer abroad. Among the continental scholars of Jainism. Professors Jacobi, Schubring and Winternitz deserve the high honour of pioneers in the field. Drs. S. C. Vidyabhusan, P. L. Viadya and A. N. Upadhyaya are perhaps among the top-ranking Jain Scholars of India. Deplorable and disappointing laments are repeated to this day, and there is no knowing if these laments will silenced as to the neglect and apathy towards Jaina Culture, inspite of the fact that there is no dearth of finance among the Jainas, nor any dearth of scholars still in India who might take up the task of exploration of the buried treasures of Jaina Culture. What is really wanting is the warmth and enthusiasm among its votaries.

When invitation came to me for contributing an article to the felicitation volume of Sri Chhote Lal Jain, the Jaina scholar and cultural enthusiast, I most thankfully accepted the invitation to write out "The Essentials of Jaina Metaphysic and Logic" to which, I claim, I have devoted my energies for a considerable time. I... indulgence from my readers however, for brevity of my treatment of this comprehensive subject due to the limits within which I must have to keep myself for a comparatively elaborate treatment bringing out the rich and manifold implications of the subject I would like to refer my readers to my book "Jaina Logic and Epistemology" to be published shortly by the Calcutta University.

1. **Metaphysical portion of the Jaina.** Jaina metaphysic is dualistic or rather pluralistic Realism. The entire existence, according to the Jaina, is devided into two hemispheres, of Alokakasa and the Loka-Kasa. The Alokakasa is peopled by the siddhas or Arhans who have attained moksa and who are thus beyond the sphere of metaphysical and logical speculation. Lokakasa is the abode of the Samsarins who have to philosophise about its contents and have to formulate their conceptions as to the Bung and knowledge of these contents and thus we have metaphysic and Logic of the Jainas. The Aloka Kasa or the Sutramundane sphere being transcendental and a logical

in character, all philosophy, metaphysic and Logic necessarily limited to the contents and their knowledge that obtain within the lokakasa or the world of human experience.

The contents of the world of our experience are divided into Jivas and Ajivas, Souls and non-souls. The souls are Svaprakasa, self-luminous, and svasamvedana, self-knowing or self-conscious. The non-souls are jadu aprakasa or unconscious, The souls are independent of one another and are a plurality, and so are non-souls a plurality. Both the souls and non-souls are self-existent reals. They are not cre-ated or evolved by any higher being called God. Jaina metaphysic is thus dualistic or rather pluralistic Realism. Each and every one of these reals, conscious or unconscious is never static or immobile, but is always parinami or evolvent. But nevertheless inspite of its constant change or parinama it keeps up its stability or character as an identical substance in and through its changes or parinamas. It is thus a *parinam nitya* as Umasvati puts it, utpadavyayadhrauvya yuktam sat. The sat or real is characterised by utpada or origin and *vyaya* or annihilation. It does not originate out of nothing, nor does it lose its identity of substance in this annihilation, but it always has the third charactcristic of dhrauvya or stability, for otherwise it will forego its character as a *sat* or real. Changes or parinamas are indeed going on in its life, but in the midst of its changes it retains its identity through its character as dhrauvya, permanence or stability. The gunas or qualities and paryayas or modifications that originate and are annihilated are replenished so as not to lose its character as *sat* or real by its dhrauvya aspect. The Jaina metaphysic is thus distinctly realistic. Now the souls are conscious, and the non-souls are unconscious, one having nothing in common with the other. Here, as in all forms of Realism, explanation of knowledge, of how the soul knows the non-soul is a problem. Descartes dualistic realism in western philosophy has offered Interactionism to explain knowledge by the mind of matter on physiological ground of a hypothetical pinealqland, and we all know how the flimsiness of this explanation has led his followers to introduce divine agency, spinoza having recourse to Goo as Absolute substance whose parallel attributes are mind and matter consciousness and coleism and heibriz to his hypothesis of pre-established Harmony whereby Goo, or Master-minded who is the sufficient reason for effecting the harmony or knowledge relation between the two other-wise unrelated entities of mind and matter. This intervention of divine agency in explaining the problem of knowledge is evidently a mere sueterfuge, and has come down to us as a pseudo explanation of the relation between mind and matter in which all knowledge consists, and has been criticised as *deus ex machina* explanations of the knowledge problem. Hegel in order to get out of this untrasse has reduced mind and matter to a common spiritual determination by showing that both mind and matter have their origin from the *One* Absolute spirit a God, and their difference is only a form of duality and not a rigid insoluble dualism. Thus the legacy of Dualism left by Descartes in modern Weste

Philosophy was reduced to Absolute Mouism, by Hegel who claimed monistic explanation of the relation between mind and matter which alone, he thinks is the proper explanation of knowledge.

But the Jaina with all candoen and freedom of thought, bases his findings on the headrock of commonsense and experience which should not be behind and flouted by any speculative bias and sowes the problem of knowledge as it persents itself to his mind as something crystal clear from experience (*pratiti-siddha*), As I have understood the Jaina position, he has evinced a unique departure of thought in his explanation of knowledge consistently with his dualism between *Jiva* and Ajiva, soul and non-soul. From the very native of parinamitva of both soul and non-soul The non-soul modifies itself into the paryaya of *being known*, and the soul modifies itself into the paryaya of *knowing*. This parinama of the soul and the non-soul is, according to the Jaina gives us the real explanation of knowledge of matter by the mind, of the non-soul by the soul. The aparinami or static real, conscious or unconscious cannot aford us the *paricchitti* or knowledge which results only from the nature parinams, evolution or change in the ever evolving paryayas of the soul and the non-soul. The dualism of Descartes and his followers in western philosophy could not be solved because of their static view of mind and matter which were diametrically opposed to each other. We notice here that this *Evolutionary Realism* of the Jaina is indeed a unique explanation of knowledge within the frame-wests of dualistic metaphysic which presented a, Stumbling block to the European thinkers. Hegels nomistic Idealism reduces matter to mind against the palpable difference of mind and matter revealed in experience, *pratiti,* and thus offends against common sense and experience. Bertrand Russell's reduction of mind to a feeling of organisation is opposite offence against realism which he himself profess, and unknowingly glides into the materialism of a worse type. The Jaina true to his dualistic metaphysics offers a better explanation of the knowledge-problem keeping himself within the bounds of Common sence and experience when he thinks that mind and matter, or in his language, soul and non soul enter into knowledge-relation, by evolving into the paryaya of knowing and paryaya of 'being known' respectively.

2. Another unique contriubtion of the Jaina is his outstanding solution of the relation between the soul to its knowledge. Jnana or knowledge is to him, in a relation of identity the essence with the soul. Kunda Kundacarya, who is perhaps the oldest of the Jaina epistemologists and stands as a link between the canoincal and later classical ways of thinking, remarks in his Pravacana Sara: '*jo janadi so nanam;*' he who knows is knowledge. He means to say that knowledge to be of real significance must be regarded as identical in essence with the soul, which in knowing only modifies itself into knowledge: there is no separation possible of any kind between the knower and its knowledge, the soul which is parinami cannot be regarded as something different from its parinama. *Knowledge* as parinama *is the soul knowing.*

Now this may be said to be the key-note in solving the problem of knowledge as such, which we find has beffled the Naiyayika, and the Mimamsaka who have taken the sepnaratist view of the relation between the soul and its knowledge, the Advaitist who has taken a hubious view and the Buddhists ingeneral who have denied one of the relata viz. mind as a reality which ought to enter into the knowledge relation. To the Naiyayika knowledge is not the essential but an audential quality of the soul as a static reality to which knowledge comes and goes according to the presence or absence of the collection of the conditions (karanasamagri) of knowledge and he goes to the extreme of supposing that since knowledge is the source of karma and therefore of all sin, it should better be climinated to attain moksa which is thus the the swooming back of the soul unto . the Mimansaka fares no better in explaining the relation of knowledge to the soul when he described it as an avastha or state that comes and goes just like the *kundalavastha* or the *arjavavastha* in the body of a snake in its own character. The Advaitist errs, the Jaina thinks, in so far as in the Advaita theory the soul which is free from all activity and process, knowledge is not due to the soul but only to the *antah karna vrittis* which have in themselves nothing like the charactor of illumination of its object. for the antahkarna, though an internal sense is no better than the outer sense which is jada or unilluming in reality. The Advaitist tries to save himself from this difficulty by his suppossition of the soul as *saksi* or transcendental witness to all intellectual activities. But the point remains that as a witness it cannot lend that as a witness it cannot lend its illuming character to knowledge of objects nor is his position improved by calling to his aid the principle of adhyasa the empirical application of the transcendental power of Avidya which rules the realm of empirical knowledge, when he declares *anatmamatmopacarat.* The admittedly anatamatva of the *antahkarana* changed into anything of the atmah by mere magic of *Adhyasa* and as such the antahkarna java by nature, really fails to account for the illumination or knowledge of objects. Here also we notice the same inefficiency to explain knowledge owing to his failure to see that knowledge is always by the soul and occurs in the soul if it occurs anywhere as its own modification and knowledge shares in the illumining character of the soul of which it is a modification. As the Jaina repeatedly tells us that knowledge is soul in knowing. So in so far as the Jaina insists that soul and in an intimate and in seperable relation to each other, and that knowledge is both self-revealing and also revealing its object as a parinama or evolution of the self-luminous soul he...clears of the difficulties of the separatist view or dubious view of the other Indian systems of thought as noted above, and thus seems to have struck the keynote of the proper relation that should subsist between the soul and its knowledge.

Apart from the above mentioned fundamental problem of Logic, the Jaina has contributed many others which bring to the fore-front their dialectical acumen in conltast with those of the orthodox

logical thinkers of contemporary India and these together make up that glorious history of Indian dialectical thought which any country may feel proud of.

3. In the sphere of systemic logic Siddha Sena Divakara's contributions seem the most outstanding. His Nyaya-vatara and Sammatitarka Prakarana reveal the height of logical thought and stil stand unparalleled. Compelled as we are to confine our statements within certain limits we would do well to mention only a few of their outstanding logical and epistemological contributions to the dialectical thought of India. The Jaina divides *Pramana* or valid knowledge into Pratyaksa and Paroksa: Pratyaksa with the Jaina is that form of direct valid knowledge which marks itself out from the pratyaksa of the orthodox Indian systems by the very fact that it undernithes their common concept of Indriya Sannikarsa or contant of the senses with the object of percotion. The Jaina with his fundamental stand that all Pramana is constituted by Svapara-bhasi Jnana points out that it is a knowledge whose character is that it always illumines itself and its other, the object, it does not require any element which is other than conscious. The senses and the object in perceptual knowledge being mucouseious or jada came of have any direct determining part to play in the art of perception, though they may have a secondary roles in the completion of such knowledge Manikya-nandi tells us that pratyaksam is *Visadam* as apposed to Paroksam which is *avisadam*. Its character of *Vaisadiem* consists in its distinctness and clearness due to immediacy. Immediacy to him means its independence of any other condition. All the varieties of paroksha, such as Samarana annmana and Pratya-vijnana, lack this independence to ensure its validity depending, as they all do, upon some other factors which enter into them for their validity. This contention in their distinction between Pratyaksa and Parohksa which the Jaina carries out in a marvellously novel fashion at once brings out their important departure from the steriotyped orthodox way of treatment of the same problem The inquisitive reader would do well to refer for this problem to the outstanding discussions given by Siddhasena, Abhayadeva Suri and Hema Chandra, embodied in my work "Jaina Logic and Epistemology."

In his treatment of the problem of Anumana, the logical aceemen of the Jaina appears in a bold relief. The *vyapti* or Avinabhava, as the Jaina more often calls it is the inseparable relation between the Hetu and Sadhya, familiar with the orthodox thinkers. But the Jaina reozicutates the same relation to include within its compass the part played by the Paksa and he reviews the entire situation of Inferential knowledge and insists that the vyapti to be a really effective instrument for inference cannot afford to ignore the Paksa which is also inseparably related to the vyapti, the veritable logical basis of inference, and thus anticipates in a remarkable manner the nineteenth century logical savant of the West namely Hegel who, in his 'Principles of Ligic' Part II has made it clear that the minor term in a sylloims

has no less to contribute to the completion of the relation, than the major and the midle, which the fuller understanding of the syllogism rests. I must mention in this connection that *Uha* or Tarka, which has been by passed by the orthodox writers, has been discussed with meticulous case by the Jaina who by his well reasoned arguments has shown that Uha or Tarka is the real means of knowledge whereby vyapti or abinabhava or inseparable relation between the Hetu and the sadhya has to be reached. It is indeed a treat to go through the Jaina argument here for eleminating, according other pramanas, the vaisesika, contention that the knowledge of vyapti is in the last analysis, the result of pratyaksa of the positive and negative instances and the Naiyayika position that the knowledge of vyapti is obtained by the combined acts of partyaksa and Tarka and his conclusion is that *Uha* or Tarka is an independent pramana whose content is the knowledge of *vyapti* on which anumana rests (cf. Pramana minansa of Hema Candra Sutra-5 ch II).

Anekantavadh and Saptabhang Naya

Without going further into othedetails of Jaina metaphysics logical contri butions we would do well to satisfy ourselves with the most outstanding jaina doctrine of Anekantavadh and its logical deduction of Saptabhanginaya, the theory of sevenfold prediction which distinguishes Jaina philosophy from that of the other Indian systems of thought. Nay, it may be said to be the unique contribution to world philosophy. As already indicated in the beginning of our paper, the Jaina is a professed realist depending upon the deliverances of common sense and experience. Experience reveals that a real is manifold in its facets or characters which it is impossible for experience to exhaust. So he begins by pointing out that it would be wrong to view the real absolutely in terms of one characteristic. The immediate target of his attack is on the one hand the Advaitist absolutism of the one spiritual real the stman, static and immetable in essence and on the other absolute phenomenalism of the Buddhist to whom change to the only reality. Each of this angles of thought is an *Ekanta* or one extreme, and thus fails of its purpose of delivering us the truly concrete real which is neither purely static and immutable nor is pure change without the background of the changeless. The Jaina goes even deeper into the question and avers that the real may be regarded from one stand point as existent and from another, as non-existent, that we may... the real as conditions and circumstance under which we view it. and the Jaina has given us these conditions and circumstances which are four in number, viz. the substance (dravya) of the real, its state (*Bhava*), the time (Kala) and the space (desa) in which it exists. From each of these conditions and circumstances the same real will be regarded as existent and will be regarded as nonexistent from the condition and circumstances other than the given one. Similarly the Jaina will regard the real as samanya or the versal from one stand point and visesa or particular from another standpoint, it will be regarded as nitya or eternal from one standpoint and anitya or non-eternal from another. In one

of word the Jaina is Chary of committing himself to one-sidedness in his view the real, for the real for sooth, is anekadharmatmak or manifold in character. The Jaina contends, very much in the same spirit as the modern realist and pragmatish that in spite of the *privative* or relative character of the specific concepts or judgments, the vedantist, the Sankhyist the Nyaya vaiseseka thinkers and the Buddhists have each in his own way taken specific concepts or judgments, to represent the whole or absolute truth and heve been led to the supposition that because a thing has one definable character it cannot have any other, that the formal priciple of Identity or of contradiction has invulnerable regidity alike in the realms of thought and things. An unbiased examination of facts, however, reveals the contrary. Each object of our experience to a home of apparently contradictory characters, a harbour of opposites which are governed not by the principle of contradiction, but only by principle of *coutrariety* rendering them predicable of the reality under alternative conditions. Hence the Jaina directs it dialectic still against what William James calls "Vicious Intellectualism or "Abstrartionism". as exhibited by each of the Advaitist, the Sankhya, the Nyaya-vaisesikas, and the Buddhist in so far as each of them uses concepts *privatively* L. S. confines them to one or other specific aspects of the concrete reality which is the finitely rich (*Anekadharmatmaka*). To express the Jaina stand point in the language of Prof. Perry, the American Realist, "The world may be truly conceived as permanent and unified since it is such *in a certain respect*: But this should not lead us, as it has led certain intellectualists, to suppose that the world is therefore not changing and plural. We must not identify our world with one conception of it. In its concrete richness it leds itself to many conceptions. And the same is true of the least thing in the world. It has many aspects none of which is exhaustive of it. It may be taken in many relations and orders and be given different houses accordingly." (Prof. Perry, *Present Philosophical Tendencies* P. 228). The Jaina has pointed out that any particular judgment confining us to any one partciular aspect of the reality, such as pure sat or existent, nitya or eternal, dravya or Substance, pure paryaya or modification, or change, pure Samanya or universal, visesa or particular, as against the opposite alternative aspect of which it is capable, will be sheer abstraction or Nayabhasa as he calls it. The reality is in its proper character is on the other hand is Anekadharmatmak or mainfold in its character. But a question may be raised, if it is mainfold and therefore in exhaustible in our estimate of it, our knowledge of it in its true character is impossible, and we must turnout againstic.

But the Jaina has guarded us against angosticism or scepticism as absolutism of knowledge and has pointed to Relativism as the proper attitude to knowledge. He has argued that we can arrive at knowledge of the reality by adopting any one of its mainfold aspects and developing what he calls Saptabhanginaya out of that one chosen aspect. We can effectively establish this Saptabhanginaya

or the doctrine of the Sevenfold judgment neither more, nor less, which is the logical and dialutical way of expressing and understanding the nature of reality. Since any one of the seven possible jugments cannot claim to .stand for no more than one of the many possible aspects, its relativistic character is best expressed by appending the term *Syat* which means *Possibly* and hence the Jaina has designated his doctrine of Truth and Reality and their expression by the significant term Syadvada. The underlying implication of Syadvada apparently is that Reality is not unknown and unknowable, is not unifold, but manifold it is not a unity but a plurality, that but that plural and manifold reality is best knowable in terms of the sevenfold judgment, saptabhanginaya,

An orientation of the Jaina position from the stand point of modern life reveals that it is at once a check to Agnosticism and nihilism and offers the doctrine of alternative truths in the sphere of thinking, and thus claims the credit of having resolved the present day conflict of ideologies the source of hatred and war that threatens the very existence of man and his civilization and culture.

"Jainism is one of the great religions of the East which has moulded the lines of Countless people to a higher plane of mental discipline and purity of thought. I am much attracted by the teachings of Lord Mahavira."

Ahmad Ali,
Former Dy. High Commr.
PAKISTAN.

"War is the negation of truth and humanity. War may be unavoidable some-times but its progeny are terrible to contemplate. Not mere killing for man must die, but the deliberate and persistent propagation of hatred and falsehood, which gradually become the normal habits of the people. It is dangerous and harmful to be guided in our life-course by hatred and aversion for they are wasteful of energy and limit and times the mind and prevent it from perceiving the truth"

—**Pt. Jawahar Lal Nehru**

The Jaina Architecture—Ancient and Mediaeval

By

Dr. Jyoti Prasad Jain,

M.A., LL.B, Ph,D., Lucknow

Jainism, as a religious and cultural system, is complete in itself, is purely indigenous and is believed to be the oldest living representative of that ancient current of Indian culture which is known as the Śramaṇa (to distinguish it from the Brahmaṇa) and which was in its origin non-vedic, probably non Aryan and even pre-Aryan. Moreover, since the beginning of historical times it has been drawing its adherents from the various races, castes and classes inhabiting the different parts of the sub-continent. The Jaina community has thus ever-formed an important section of the Indian people and made valuable contributions in the different spheres of Indian life and culture including the art of architecture which is only a part of the rich and unique cultural heritage of the Jainas.

It may be noted at the outset that the Jaina art has been essentially religious and as with everything else in life it would appear that the Jainas have carried their spirit of acute analysis and even asceticism into the sphere of art and architecture so much so that in the conventional Jaina art the ethical object predominates and we sometimes find in it a lack of the purely aesthetic element conducive to its own growth. There are minute details, for instance in texts like Mānasāra, which show that there was a regular system of sculpture and architecture to which the workers in those arts were expected to conform strictly. But, the same thing holds true of the ancient Buddhist and Brahmanical arts which were equally religious and required adherence to prescribed rules or conventions. If there was any difference it was only of degree, and the Jaina art, with all its peculiarities and distinctive features, was not at any time something very different from or independent of the contemporary general Indian art. Moreover, even religion is emotional, and this fact gave ample scope for the talent of the artist.

STUPA: The earliest form of architecture which the Jainas seem to have favoured was perhaps the stupa. The Jaina Stūpa, which was once called the Vodva Stūpa and was unearthed at the Kankali Tila site of Mathura (in Uttar Pradesh) in the early nineties of the last century, was considered to be not only the oldest known structure of that type but also as perhaps the earliest extant building in India[1], apart, of course, from the prehistoric Indus valley discoveries which came to light later. Dr. Führer, who superintended the excavation of the Stūpa

1. Smith, V. A.: The Jaina Stupa and other Antiquities of Mathura. (Allahadad, 1901), pp. 12, 13.

discovered an Inscription there which described the monument as 'the Vodva Stūpa, built by the gods'. Hence he concluded that "the Stūpa was so ancient at the time when the inscription was incised that its origin had been forgotten. On the evidence of the characters the date of the inscription may be referred with certainty to the Indo-Scythian era and is equivalent to A.D. 156. The Stūpa must, therefore, have been built several centuries before the beginning of the Christian era, for the name of its builders would assuredly have been known if it had been erected during the period when the Jainas of Mathura carefully kept recort of their donations."[2] Vincent Smith actually thought that "600 B.C. is not too early a date for its erection."[3] The Tibetan Buddhist historian Taranath calls Asokan art as the Yakṣa art, wherefore, Dr. V. S. Agrawala surmises that the pre-Mauryan art must have been known as the Deva art and that, therefore, the Stūpa must have belonged to times prior to those of the Buddha and Mahāvīra[4]. Originally this Stūpa is said to have been golden, but perhaps it was made of mud.[5] Some time during the interval between the nirvana of Pārśvanātha (777 B. C.) and the birth of Mahāvīra (599 B.C.) It was encased in brick, and in the Mauryan period (probably in the 3rd century B. C.) its repair and renovation were undertaken using stone freely for the first time. Unfortunately the excavation of the site was handled so carelessly that at present it is no more than a bare flat and irregular mound without any trace of there ever having been an ancient structure on its surface. But a beautifully sculptured Toraṇa lintel, or what Smith described as the central portion of the lowest beam of a Toraṇa archway belonging to the railing round a Stūpa, most probably the ancient Vodva Stūpa, gives an idea of what the general appearance of that Stūpa may have been for one side of this lintel bears in the middle the likeness of the stūpa which is being worshipped by Kinnaras and Suparṇas (half men and half birds). On the reverse is represented a procession probably on its way to the Stūpa.[6]

With the rise of Buddhism and the growing popularity of the Stūpa form of architecture with the followers of that creed, particularly since the time of Asoka (about the middle of the 3rd century B. C.), it began to lose ground with the Jainas and a time came when all such structures were unhesitatingly attributed to the Buddhists. Fleet rightly observed, "The prejudice that all Stūpas and stone railings must necessarily be Buddhist has probably prevented the recognition of Jaina structures as such."[7] Smith also says, "In some cases,

2. Fuhrer, A. : Museum Report, 1890-91.
3. Smith, op. cit.
4. Agrawala, V. S : Mathura-Kala, (Ahmedabad, 1994), pp. 78-79.
5 Ibid.
6 Smith, op. cit. pp. 3,22; Handiqui, K. K. : Yasasatilaka and Indian Culture, (Sholapur, 1949), p. 433)
7. Imperial Gazetteer, Vol. II, p. 111.

monuments which are really Jaina have been erroneously described as Buddhist."[8] It may be noted here that the practice of maintaining and repairing old Stūpas and even of erecting new ones continued with the Jainas till late mediaeval times.

Caves and Cave-Temples : The early Jaina monks being mostly forest recluses (vanavāsīs) and wandering ascetics natural caves or caverns on the sides or top of hills situated away from habitation served as veritable though temporary places of residence for them. The earliest examples of such Jaina caves are those at Singhanpur (in Raigarh, M. P.), Barabar and Rajgir (in Bihar), Girnar (in Gujarat), Mohida (in Maharastra), Ramkond (in Andhra) and Sittanavasal and some other places in the erstwhile Pudukotta state (in South India). Some of the last named contain polished stone-beds which are believed to have been the Sallekhanā beds of Jaina ascetics. Inscriptions in the Brāhmī script of the third-second century B. C. discovered therein conclusively prove them to be Adhiṣṭhāna or Jaina monasteries. They were probably the places resorted to for worship or penance and continued to be so till under the Pallava rulers of Siṃhavishṇu's line cave-temples were scooped out of the rocks, those on the western slopes of the Sittanavasala hill being cut in the reign of Mahendravarman I (circa 600 A. D).[9].

It was only from the third-fourth Century A. D. onwards that the practice of caityavāsa, or living more or less in temples or establishments, began gradually to gain ground. It gave encouragement to the making of cave temples, yet not so much as in the case of the Buddhists and the Brahmanas because the Jaina monks could never do away with their asceticism in a considerable degree. As Smith says, "The varying practical requirements, of course, has an effect on the nature of the buildings required for particular purposes.[10]" It is why even in the days of Ajanta and Ellora but few Jaina caves were built. According to Burgess as against 720 Buddhist and 160 Brahmanical we have only 35 Jaina cave temples all of which are Digambara and earliest of which belong to the 5th or 6th century A.D. and the latest perhaps to the 12th.

Of the earlier examples apart from the very early ones like those of Khandagiri–Udayagiri (in Orissa), Udaigiri (near Vidiśha in Madhya Pradesh), Rajgir (in Bihar), and Chandragiri (at Shravana Belgola in Mysore), are the Jaina excavations at Badāmi, Aihole, Patany, Nasik, Dharashiva, Ankai, Junagarh and Kulumulu (in the Tinnevelly district, Madras). The caves of Dharashiva (37 miles north of Sholapur) are perhaps the largest of these, and that at Kulumulu, now used by the Śaivas, is described as a gem of its class'[12]. The Nasik caves have large

8 Smith, op. cit., pp. 4—5.

9. Venkataramana, K. R.: 'The Jainas in Pudukkotta State' — AIOC, IXth session (Trivendrum, 1937); Jaina Antiquary, Vol. III, No. 4, pp. 103—106.

10. Smith, V. A.: History of Fine Arts in India and Ceylon, p. 9.

11. Burgess, J.: Cave Temples of India, pp. 170—171.

12. Sharma, S. R.: 'Jaina Art in South India' — Jaina Antiquary, Vol. I, No. 3, pp. 52—53.

The torana itself is a fine piece of sculpture, bearing on one side a relief representing a stupa worshipped on both sides by Kinnaras and Suparṇas, and on the other a grand procession probably on its way to that place of worship. Moreover, a pilaster with inscription in characters of the Saka-Kushāna period has been cut out of the back of an ancient naked Jina image, and a small statue with a similar inscription has been carved out of the back of a sculptured panel, bearing on the adverse a rather archaic inscription. These facts, in the words of Vincent Smith, prove that the Jains of the Indo-Scythian period at Māthura used for their sculptures materials from an older temple.[20] Jaina temples continued to be repaired maintained and build in the Mathura region till at least the twelfth century A. D. Examples of Jaina temples of the Gupta period have been discovered in Mathura, Ahichchhatra, Kahaon and Deogarh and of the contemporary Chalukya age at Aihole and Shravana Belgola. From the 9th-10th century onwards structural architecture began to replace fast the rockhewn architecture and made a rapid and remarkable development particularly under the Chandellas of Jejakabhukti, the solankis of Gujarat and Hoyasalas of Karnataka.

Unfortunately the iconoclastic zeal of Mahmud of Ghazni in the first quarter of the 11th century and a regular crusade against temples and religious idols undertaken by the Muslim Sultans and kings of Delhi and their provincial governors have allowed to remain few traces of the temples built prior to the 12th century. Most of them were ruthlessly destroyed, burnt down, or converted into mosques. And during the whole of the mediaeval period people seldom dared to build a fine or conspicuous temple particularly in regions where Muslim political influence was predominant. Some fine structures, no doubt, belong to this period, but they are to be found only in the interior of Rajasthan and in some out of the way places.

In their temple architecture the Jainas, as was natural, adopted the art styles-Indo-Aryan or Nāgara in the north and Dravidian or Besara in the South-prevalent in the region and the times where and when they built their temples, of course, introducing certain characteristic features of their own which tended to make it a distinct Jaina art in many respects. Then, they created in certain places whole 'cities of temples,' such as in Shravana Belgola, Mudbidire, Deogarh, Abu, Palithana, Sonagir, etc.

The Jainas are said, by the art connossieurs, to have distinguished themselves by their decorative sculpture, and to have attained a considerable degree of excellence in the perfection of their pillared chambers which were once forlong their favourite form of architecture. These took various shapes and gave full play to a variety of designs, differing according to the locality, the nature of the climate or the substance available out of which to execute their artistic

20 Ibid.

ideals.[21] About the ancient and mediaeval Jaina temples of South India, Logan says, "The Jainas seen to have left behind them one of their peculiar styles of temple architecture; for the Hindu temples, and even the Mohammedan mosques of Malabar, are all built in the style peculiar to the Jainas, as it is still to be seen in the Jaina basadis at Mudabidri and other places in South Canara."[22] About the pillars found in these temples, Fergusson says, "Nothing can exceed the richness or the variety with which they are carved. No two pillars are alike, and many are ornamented to an extent that may almost seem fantastic. Their massiveness and richness of carving bear evidence to their being copies of wooden models."[23] Some of these temples have been declared as the finest specimens of ancient Indian architecture. Many of the decorative carvings are so full of human interest that the austere asceticism, which symbolised itself in huge, stoic and naked Tīrthankara images, was more than counterbalanced by the abundance and variety of these sculptures, which in a sense gave expression to the later and emotional Jainism.

Another peculiar contribution of the Jainas, not only to Indian art, but perhaps to the entire Eastern art, is the free standing pillar found in front of Jaina temples, of the basadis in South India. There are about 20 such old pillars in the district or South Canara alone.[24] The Mathura Jaina Elephant Capital of the year 38 (A. D. 116), the Kahaun (in the Gorakhpur district of U.P.) Jaina pillar with the images of the Panch Jinendras carved on it dated G. E. 141 (A. D. 460), the Deogarh (in the Jhansi district of U. P.) Jaina Pillar of V. S. 919 (A. D. 862) of the reign of Bhojadeva of Kannuaj, and the Jaina Victory Pillar of Chittor (Rajasthan), are some of the notable North Indian examples. These Jaina pillars are usually known as Mānastambhas and are tall and elegant structures with a small pavillion on the capital at the top, surmounted by a dome or Śikhara. They are quite different from, and perhaps earlier than, the dipastambhas (lamp-posts) of Hindu temples, Writing on the Jaina Mānastambhas of South India, Walhouse remarks, "The whole capital and canopy are a wonder of light, elegant, lightly decorated stone work; and nothing can surpass the stately grace of these beautiful pillars whose proportions and adaptations to sorrounding scenery are always perfect and whose richness of decoration never offends."[25]

The Jainas of the South seem to have never taken to the Stūpa about which their correligionists even in the north are found to have been not very enthusiastic, the rasult being that in the south perhaps always and in the north since the late mediaeval period the open pavillion type nșeadyās have been erected as funerary monuments instead of Stūpas.

21. Sharma, S. R., op. cit., p. 53.
22. Logan: Malabar. p. 88 ff
23. Fergusson, J: A History of Indian and Eastern Architecture, Vol. III, pp. 78—79.
24. Sharma, S. R., op. cit., p. 52.
25. Indian Antiquary, Vol. V p. 39.

It is also noteworthy that the Jainas showed taste in always selecting the best views for their temples and caves. At Ellora they came perhaps too late when the best sites had already been appropriated by the Buddhists and the Śaivas, but spreaking of the Jaina ruins at Hampi, Longhurst says, "Unlike the Hindus, the Jainas almost invariably selected a picturesque site for their temples ,valuing rightly the effect of environment on architecture."[26] The hill originally occupied by the Jainas, south of the great Pampapati temple, is significantly called the Hemakūṭam or the Golden Peak [27] There is also not a more picturesque spot in the vicinity than that chosen or occupied by the Jainas at Śravan-Belgola, their chief centre in the south. Similarly Mudabīdre, their great stronghold in South Canara, is marked by natural beauty and convenience and shows how wise the Jainas were in choosing the site of their establishments.[28] The same holds true of the majority of their important sites and places of pilgrimmage elsewhere, such as Parasnath Hill, Rajgir, Pavapur, Khandagiri-Udayagiri, Sonagir, Deogarh, Abu, Girnar, etc.

It would be interesting to note that the Jainas did not neglect the theoretical side of the subject either. Works like the Vāstusāra and Prāsāda-mandana of Ṭhakkar Pheru, a Jaina engineer of Delhi who wrote his works about 1315 A. D. in the reign of Alauddin Khalji, enumerate twenty-five different kinds of temple buildings, and must have served as practical handbooks for the architects of Jaina temples during the mediaeval period.[29]

This is only a brief resume of the contribution of the ancient and early mediaeval Jainas to the art of Indian architecture, a proper and detailed study of which is yet a desideratum.

---

26 Longhurst : Hampi Ruins, p 99

27 Ibid, pp. 15—26.

28 Sharma op. cit : Jain, J P., op cit , pp. 240—241.

29 Journal of the U P Historical Society, Vol. XVI, part 1, pp. 112, 116.

Religious Syncretism as Revealed in the Jaina Sculptural Art of the Eastern India

By

D. K. Chakravarty, M. A.
Superintendent of Archaeology, Govt. of West Bengal.

Jainism which had its origin in the eastern India like all the other major religions that originated on the Indian soil gradually assimilated the basic elements of the other religions, art and symbolism, while certain aspects of the Pre-Aryan or non-Aryan religious concepts and traditions steadily persist in the Jaina mythology and its subsequent expression through the visual arts. It may be appropriate to quote the observations of Heinrich Zimmer that "the Jaina art deserves whatever vigor it possesses from its kinship with popular art—its obvious affinities with the fetishes of the primitive layers of the population. The origins of this art reach back, like the origins of Jainism itself, to the remotest depths of the un-recorded Indian past". The discovery of a number of stone objects, more or less realistically modelled as phalli from the proto-historic sites of the Indus valley and the interpretation of the epithet Śśnadeva in the Rigvedic literature have been interlinked by some scholars with a people accustomed to a cult of phallic worship and even a few among them have got a foretaste in such worship about the religious practices which were followed by the Jaina ascetics and the laity belonging to the Digambara sect several centuries later. It may also be interesting to refer to the seal No. 430, p. I, No. XCIV in E. Mackay's "*Further Excavation at Mohenjo-daro*", VOL. II; notes at pp. 337-338; VOL I, an enlarged photograph of which also appears in Pl. XCIX (A) of VOL. II; ibid, wherein representation of a nude male figure standing under a tree with his arms hanging on sides like the Jinas in the Kāyotsarga posture attended by a half kneeling votary above whom a serpent spread its head and who is paying obeisance to the standing figure to his right may be seen. In the lower register there appear seven standing human figures in a row facing to the front who have also got similar head dress. In this seal R. P. Chanda has observed some resemblance of the main figure with those embodied in the nude figures of the Jaina Tīrthaṃkaras in kāyotsarga pose. While sharing the views already expressed by R. P. Chanda it is rather tempting to conjecture that in the representation of this particular seal we have got a foretaste of the legends and anecdotes narrated in the Jaina canonical literature specially with those connected with the life and career of the Jina Pārśvanātha, his antagonism with Sarivara, a demigod and the resultant initiative taken by the serpent-king Dharṇendra to protect the saviour from annihilation

which event is commemorated by representing the same Tīrthaṃkara protected by a canopy of seven-hooded serpent. The seven standing figures in the lower register of the seal are quite symbolic in the Buddhist and the Brahmanical art of India and this representation of seven figures in the seal reminds us about the sculptural association of the Sapta-Mātṛkas with the Buddhist, Brahmanical and Jaina religious edifices of the mediaeval period of the Indian history.

The legend just narrated tries to establish that the Nāga worship and the Nāga emblem from the time immemorial have been a popular form of worship among the primitive population; and the Nāgas have been considered as superhuman in wisdom, yet so close to earthly beings and in course of times they made deep impression upon the ancient indigenous artistic tradition of our country be it Brahmanical, Buddhist or Jaina and their presence was conspicuously felt on the visual arts. The early Buddhist and Jaina religious texts also supply us many interesting details about the prevalance of the snake-cult in India and the sculptural representations of the Nāga chiefs like Elāpatra and Muchalinda in the Buddhist Art of the early Indian School are worth mentioning. In the rock-shelters at Udayagiri and Khaṇḍagiri near Bhuvaneswar in Orissa associated with the Jaina ascetics representations of the Nāga emblems are to be noticed. Head of a three-hooded snake has been carved on the facade of the narrow verandah of the Sarpa-Gumphā (Cave No. 13 of the Udayagiri Hill), while the figures of twin serpents on the door-arches of the Ananta-Gumphā (Cave No. 3 of the Khaṇḍagiri Hill) encircling a tympanum and depicting a scene of tree worship (Pl. XIV B, pp. 48-49, Udayagiri and Khaṇḍagiri by Debala Mitra) are perhaps to be associated with the serpent-king Dharaṇendra and his wife who jointly protected the life of the Jaina Tīrthaṃkara Pārśavanātha as narrated above. Jainism like all the other religions as practised in the early period of the Indian history did not involve the worship of images and the representation of the tree within a railing under an umbrella being worshipped by a man and a woman (personifying the anthropomorphic form of the Nāga king and the queen) may perhaps singnify the Kevala-tree under which Tīrthaṃkara Pārśavanātha attained his Kevalajnāna.

Tree-worship is a very ancient and interesting feature of the religious traditions of the Indians; and quite a lot of voluminous literature has been produced on the subject. After studying these in a nut-shell it may be observed that the tree-motifs on the Indus Valley seals have got some cult significance although the designs painted on the potsherds from the Harappa and other protohistoric sites are but natural representations of the floral and vegetal motifs. Under the shade of the trees the Buddha and also the previous Buddhas attained enlightenment like those of the Jinas who also attained Kevalajnāna and in the sculptural art of the Jainas this tree-motif has been best illustrated in the Bārabhujī-gumphā of the Khaṇḍagiri Hill, Orissa where the figures of the Tīrthaṃkaras in yoga-mudrā seated beneath the trees

(Kevala-tree) have been carved (cf. plates in "Sāsanadevīs in the Khaṇḍagiri Caves" Debala Mitra : *Jour-Asiatic Society*, Vol. 1, No. 2,1959) The Sāsanadevī like Ambā or Ambikā is also represented in the canonical literature as seated or standing under a mango tree (mahāmra-viṭapi-cchāyaṃ śṛtā) and the sculptural representations of the same diety from Barkota district Bankurā, West Bengal (preserved in the State Archaeological Gallery, West Bengal) and the one still to be noticed as standing amidst the ruins at Pakbirra, dt. Purulia, West Bengal, illustrate some of the best illustrations about Jaina iconography of this particular deity.

Associated with this tree-worship there was another class of supernatural beings styled as 'Yakṣas' whose images were placed under big leafy trees and who were deified as folk divinities. Patañjali's evidence regarding the existence of Yakṣa images and shrines is corroborated by early Buddhist and Jaina texts and "many such figures in the early Buddhist art of India leave little doubt about the existence of an elaborate iconography of the primitive deities long before the iconographic details of the higher cult gods and goddesses were systematised some on the lines of these earlier folk deities". On the Bharhut railings we have noticed the Yaksa Kubera along with other figures as worshippers of Buddha. In the mediaeval Brahmanical shrines images of Kubera have been installed as one of the asṭa-dikapālas. In the Jaina canonical literature the Yaksas with their female counterpart styled as Yaksṇīs or Śāsanadevis figure as subsidiary deities and have found to be associated with the principal attendant of the Jinas. Kubera has been mentioned in the Jaina pantheon as the Yaksa or Upāsaka of the nineteenth Tīrthaṃkara, Mallinātha; and it may be interesting to note that a pot-bellied mutilated stone figurine perhaps personifying the Yaksa Kubera has since been recoverd from the ruined Jaina Temples at Pakbirra, district Purulia, West Bengal, and which is now being preserved in the State Archaeological Gallery. At the same place one can have a glimpse of two beautiful sculptures showing a couple seated under the spreading branches of a tree and having miniature figures in Yogāsana (representing the Jina) placed above the branches of tree. These sculptures actually represent the Yaksas and Śāsanadevīs with their respective Jinas which were mistaken by Beglar as 'Buddhist sculptures', but there can be no doubt that this type of composite iconography was perhaps inspired by the Mahāyāna Buddhist iconography where we find a vast panoply of sculptural representations of different deities with their Śaktis emanating from the respective Dhyāni Buddhas.

The Gandharvas, Kinnaras and the Vidyādharas styled as Vyantara Devatās in the Jaina canonical literature are common heritage to all the major religions in India; and they prominently figure on the prabhā-Valaya of the images be it Brahmanical, Buddhist or Jaina. In the friezes of the Udayagiri and Khaṇḍagiri caves, Orissa, beautiful representations of the vidyādharas flying through the air in haste, sometimes carrying garlands and flowers may be noticed.

There is also a class of Jaina divinity styled as *Jyotisi* or *Jyotiska* representing the stellar world. In the early Jaina art the Stellar world was represented by the symbols; and Ramachandran and Chhotelal Jainiji have drawn our attention to a relief in the mañchāpuri Cave in Orissa where a scene narrating the event of worship of some Jaina religious symbol probably Kaliṅga-Jina has been depicted. The symbol of twenty-four petalled lotus having five stellar symbols in the centre of it stands for the stellar world or the sun; and this lotus symbol we find invariably carved on the hands of the Sun-god as his main emblem. Whenever we find the sculptural representation of this Brahmanical divinity. (cf. "The Manchāpuri Cave" — T. N. Ramachandran : Ind. Historial Quarterly VOL.XXVII, No. 2).

The Gaja-lakṣmī motif as depicted in a tympanum in Cave 3 of the Khaṇḍagiri Caves, Orissa (Pl XIV A, Udayagiri and Khaṇḍagiri by Debala Mitra) is an auspicious motif for the Jainas. "The motif forms one of the fourteen dreams seen by Triśalā, mother of Mahāvīra, when the latter was transferred to her womb from that of Devanandā. However, Gaja-lakṣmī, symbolizing prosperity is as much a Jaina motif as Buddhist and Brahmanical. It frequently occurs not only on the early reliefs of Bharhut, Bodh-Gayā and Sanchi but is also a common symbol on early coins and seals. Even foreign rulers of India adopted it on their coins. It continued to be in use till latter periods, for it occurs at the centre of the lintel of the temples specially in Orissa irrespective of their cult-association."

The Navagrahas which decorated the Brahmanical shrines came to be associated with the Jainas also and we find them generally figured vertically on the prabhāvalaya of the Jaina Sculptures personifying the Tīrthaṃkaras. In the iconographic representation of the Grahadevatās, the prevailing custom was followed and there apears to be little or no deviation from the Hindu or Buddhist iconography. In the Jaina sculptures from the eastern India we find them associated with the standing Jinas and the standing two Jaina sculptures now being displayed in the State-Archaeological Gallery, West Bengal, prominently display the Grahadevatās (here eight in number) carved vertically on both sides of the standing Tīrthaṃkara.

In the early Jaina art the worship of symbols was the current religious practice like the Brahmanical and Buddhists, and we have narrated a few of such instances before. Further references like those depicted on the back wall of the Cave 3 (Ananta-Gumphā of the Khaṇḍagiri Hill may be cited where there "appears a nandipāda on a pedestal flanked on either side by a set of there symbols, a triangle-headed one (Bhadrāsana ? or Sthāpanā ?) Srīvatsa and Svastika, without forming part of any scene, all of which are also represented on the Jaina āyāgapaṭas, of the Kushan period from Mathura. These symbols are regarded by the Jainas as of good omen and form four of the eight auspicious objects (aṣṭa-maṅgalas) often worshipped by the Jainas". This reminds

us about the symbols appearing on the early punch-marked and cast coins of the ancient India and which seem to have been undoubtedly based on the religious practices of their issues. After studying the symbols appearing on such coins Coomaraswamy observes that the vocabulary of these symbols was equally available to all seats, Brahmans, Buddhists and Jainas, each employing them in senses of their own', It may however be suggested "that some of the symbols punched on the silver-punch marked coins which gained wide currency throughout India during the time of the Mauryas have definitely got some religious association and the symbols like Ṣvastika and its variants and the Yugmamīna (a pair of fish) struck on the silver punch marked coins from Lohapur in Birbhum district, West Bengal, and other parts of India are perhaps to be connected with the Jaina aṣṭa-mangalas". These multiplicity of symbols has led Zimmer to ob erve that "we are confronted with a basic fact in the history of religious symbols, and of symbols in general, as expressed in the traditional motifs of art. They are endowed with an almost incredible life-force; they outlive eras and the declines of civilisations. Differring generations and for separated cultures pour into them the contents of their heart and imaginations. Whatever spiritual energies may be in need of adequate manifastations in the visible realm can find in them a tangible, meaningful pattern. They lend themseleves willingy to the service of the most divergent functions, and so knit together in a wondrous repetition, the whole adventure of man". In course of centuries, as the times passed on, the aniconic symbols gave way to the developed iconographic featurers and in mediaeval times we find a long list of the Jaina hierarchy, which like the Dhyāni Buddhas and Boddhisattvas of the Mahāyāna Buddhist pantheon, came to be stereotyped at a later period.

The respective lānchanas of the Tīrthaṃakaras made a very late appearance on the sculptural representations, and the different cognisances, specially the different animal symbols, signify the influence of a primitive religion and society based on totemism upon Jainism. The vṛsa lānchana pertaining to the first Jina Ādinātha or Ṛsabhanātha speaks about the influence of the 'bull cult' Jainism, and traces of which may be seen manifested on the Indus Valley Seals of the dim protohistoric past. In the pīṭhikā of the early Jaina sculptures we do not find such a varied form of lānchana instead of we find below their seat the *dharama-cakra* like the Buddha image. On the pedestal of a sculpture from Rajgir belonging to circa 9th century A. D. and representing the twentieth Tīrthaṃkara, Munisuvrata with his Śāsanadevī, the wheel has been placed between the two lions instead of his usual lānchana tortoise. (cf : "Iconographic Notes : (B) Bahurupiṇī"-Debala Mitra, *Journal of the Asiatic Society*, No. 1, No. 1, 1959, p,39 Pl IIIB.)

But in the mediaeval period of our history this spirit of religious syncretism developed a great deal by following up a spirit of tolerence and mutual give and take policy. Initiated by the idea of Pancāyatana-pūjā for which Sankarācarya

6. Dasgupta, P. C. : *Archaeological Discoveries in West Bengal*—Bulletin of the Directorate of Archaeology, West Bengal VOL No. 1.

7. Ghatage A. M. : "*Jainism*"—History and Culture of the Indian People, VOL. II.

8. Majumdar N. G. : *A Guide to the Sculptures in the Indian Museum*—Part I, Early Indian Schools, Delhi, 1937.

9. Majumdar R. C. : *Religion and Philosophy*—"General Introduction" History and Culture of the Indian People VOLS. II and IV.

10. Mitra Debala : *Udayagiri and Khandagiri*—New Delhi, 1960.

11. Pusalkar A. D. : "*Jainism*"—History and Culture of the Indian People VOL.IV.

12. Ramachandran T. N. and Chhotelal Jain : Khandagiri-Udayagiri Caves Culcutta-1951.

13. Zimmer, H. : *The Art of Indian Asia*, its mythology and transformations New York, 1955. VOLS I & II

"What am I ! From where have I Come ? What is my True Nature ? Brood over these problems, You will get the clew of self knowledge."

—Rai Chand ji

Mathura—The Centre of Jaina Art

By
Mihir Mohan Mukhopadhyay

In the history of Indian art Mathurā occupies a place which is simply unique. The celebrated centre of Indian art is also very important both in content and output, so far as Jaina art from the earliest times right down to the Mohamadan invasion is concerned.

Jaina art in Mathurā, at the present state of our knowledge goes, back to the 2nd century B.C.[1] if not earlier. The 'Devanirmita-stūpa'[1] (āyāgapattas ?) was probably raised during this period. A second stūpa was built by the side of the first with still more magniticient gateways, and railings with more proportionate and balanced one in the First century A.D.

From the earliest period the site at Kankāli Tila at Mathurā is a veritable store-house of Jaina art and architecture. Toranas, āyāgapatas on the one hand and the railing pillars with reliefs representing demi-gods and goddesses, scenes from the lives of the Tirthankaras represents Jaina art full breadth in the early centuries of the Christian era.

The Āmohini relief represents Āryavati[2] perhaps another name of the mother of Mahāvīra, in royal costume with an attendant holding a parasol. This incidence clearly suggests that the parents of the Jinas received special homage from an early date. the Āmohini relief, in all probability Pre-Kuṣāna in date, exhibits all the mass and volume of early India art as also its character of relief composition.[3]

Scenes of the five-auspicious events (Pañca-Kalyānakas) from the life of the each Jinas were possibly carved as decorative motifs. Nemesa, who is famous in Jaina text for his act of transferring the embryo of Mahāvira from a Brahmin lady, has been ably represented by the sculptors of Mathurā.[4] The panel showing the dance of Nilanjañā[5] (preserved in the Lucknow Museum, J 354) is very interesting. The entire composition is well executed and compact. The sitting and standing arrangements show the proportion of balance and harmony. And above all the very movement of the pose of dancing is simply unique.

A new direction on Indian art was with the introduction of cult icons in general tenour of art movement

1. 'Contribution 'of Jainism to the art tradition of India'—Dr. V. S. Agrawala (Exhibit of Jaina Art, Brochurs pp. 23)
2. Guerinot : Repertoire D'epigraphie Jaina, Paris pp. 32.
3. S. K. Saraswati : A Survey of Indian Sculpture. pp. 68.
4. Buhler : Specimens of Jaina Sculptures from Mathura; Epigrophia Indica Vol. II,,
5. U. P. Shah: Studies in Jaina Art, Fig. 5.

respect of Hindu and Buddhist iconography, introdution of Visnu, Śiva etc in the one hand and Buddha on the other. Similarly that tendency was revealed in the Jaina art by the emergence of the Tīrthankaras and other deities in the Jaina pantheon.

As stūpas cannot be the only object of adoration, the Caitya-tree, the dharma-cakra, ā̦āgapaṭas' dhvaja-sthambas and auspicious symbols etc. also included in the list. And finally Jaina Tīrthankaras came into the scene.

A particular type of Jaina sculpture in Mathurā is represented by votive slabs known as 'āyāgapattas'. They were erected in Jaina shrines for the worship of the Arhats. That the ayāgapaṭṭas were very popular among the worshippers of the Jaina faith is evident from the availability of a number of tablets from different sites at Mathura.

Tablet VIII (Fig. 11, studies in Jaina Art: Shah), now preserved in the Lucknow Museum (J 250), is very significant. The earlier tablets were meant for the worship of the 'dharma-cakra' (Tab. I), 'tri-ratna' as well as of the 'stūpa'. But the present panel shows the worship of the auspicious symbols viz. Svastika, Śrīvatsa, a pair of fish and a bhadrāsana. In the centre of ... ie panel the Jaina and the tri-ratnas ... shown. The circle round the big ... ika shows the male and female ... nner, a Caitya-tree enclosed in ... ipa and another object ... d) represented on four ... m of the circle. There is a highly defaced inscription on the pedestal along with certain auspicious symbols. Tablet No.V is also very interesting because it depicts all the above mentioned symbols and the figure of the Jina. The compositions represent a pleasing study of auspcious symbols and motifs treated with a remarkable sense of harmonious and decorative grouping.

The so called 'Hol-relief' belongs to this group (Now preserved in the Mathurā museum) the artists attempt to represent the perspective is worth noticing. These votive slabs are essentially Indian in conception and treatment. The figures and other features of the composition followed the indegenious art movement, in every detail.

In respect of the figures of the Jaina Tīrthankaras, whether in the dhyānā mudrā or Kāyotsarga pose, and the figures of few other semi-goddesses, the sculpture of this period retained fully the characteristic feature of the art tradition of the Mathurā school. In the early phase the art of this region was closely associated with the Central Indian School of Bhārut and Sāñchi accompanied with the local trends. But with the coming of the Kuṣānas a new wave was felt in art and iconography.

The Four-fold Jina figure (inscription reads as Pratimā-Sarvato-bhadrikā) constitutes a remarkable specimen of art in the Kuṣāna period.[6] From the epigraphic and archaeological finds it is quite evident that a number of stupas, tablets, images of Tīrthankaras and other deities were dedicated and installed by the

...tupa and other antiquities of Mathura. pp. 46 ff pl. xc.

devotees of the Jaina faith in and around Mathurā from the early centuries of the Christian era to the end of the Śaka-Kuṣāna period.[7] This fact shows the strong prevalence of the Jaina faith in this region.

Gupta age is the classical age of Indian art. The main centre of Gupta art was no doubt at Sarnath, but Mathurā was no less hesitant to show all the best qualities of Gupta plastic art. Plasticity of the fully rounded form, disciplined body and conquered mind which were true to the Brahmanical and Buddhist sculptures were fully maintained in the Jaina sculptures.

The massive standing Jaina Colossus of early Fourth Century A.D. (in the Lucknow Museum), though reminiscent of the old Yakṣa type, reveals an honest and successful attempt to import a spiritualised character by subjecting the body to some kind of restraint and discipline. That massiveness did not last long. The Jaina image from Kankāli Tilā of the Fifth Century (now in the Lucknow Museum), by a smooth and refined attenuation signifies the spirit of calm and peaceful contemplation. The new aesthetic idiom has been fully pronounced. A colossal statue of the seated Jina in the Archaeological Museum Mathurā (No.B.-1) in the dhyāna mudra is also an interesting example of the Gupta sculpture of the Mathurā Studio. The seated figure in complete nudity–with half open eyes and schematic curls- the abstract conception of the body and above all the entirely generalised treatment of curves imparts a feeling of tremendous volume and illustrate the perfection of a great seer in Yogic trance.

The plasticity of the fully rounded form cantained within a fluid linear outline was the basic principle of the Classical Indian sculpture. Under the unified rule of the Guptas that trend was extended to the different directions of India. The decline of the Guptas in the political arena ushered in also a gradual decadeness of the classical idiom in the field of art, by the middle of the Seventh Century A.D. The history of the Indian art movement from this time onwards, is the history of the rise and development of the regional or Provincial schools of art, in the different provinces. Whatever attempt has been made to resist the spirit of seperatism was a negligible one and in practice it had very little effect. With the rise of the regional powers in the political field, closely followed the social, economic and religious conditions which determined the position of art. Gangā-Yamunā doab for a considerable period of time came under the direct control of the Gurjara-Pratihāras by this time. From the quantitative points of view the productions of this region were not negligible. But it certainly lacks quality. That plastic texture of classical Indian art has already disappeared. A tendency towards linear sharpness is clearly noticeable. Swelling round smooth lines developed sharp edges. The contours became sharper and as a matter of fact the plastic content grew more stiffened. But occa-

7. Guerinot: Op. CIT., pp. 23, 32–33.

sionally smooth and softened plasticity and suave contours offered a pleasing contrast to the general trends and tendencies of the medieval concept. Iconogra phy had a very significant role by this time. All the recognising symbols (lānchh anās) of the various Tīrthankaras have already developed in full fledged forms, and pedestal of the Jaina figures contained decorative scenes. There was also introduced the images of Jaina Devīs (goddesses) and of Yakṣas and other semi devine figures.

From the number of varied sculptures of the medieval period preserved mainly in the Mathurā and Lucknow museums, it is quite logical to assert that profuse sculptures belonging to the Jaina sect were produced in the mathurā studio along with those of other sectarian belief in this time.

The Four-fold Jaina figure (ht. 2' 10"), each seated cross legged in meditation, preserved in the Archaeological Museum at Mathurā (No.OO.B65)[8] is an interesting specimen of the medieval period. One wears a seven hooded Nāga hood, and another has straight hair falling on both shoulders. Two are seated on a throne each supported by a pair of lions between which stands a wheel with the rim facing. A similar wheel in the same position is found on the two remaining sides, but here it is placed between the two squatting figures, one a corpulent male figure holding a cup in his right and a money bag in his left hand, the other famale figure holding an infant in her left arm, and in her right an indistinct object. These figures most probably represent the Jaina counterparts of the god and the goddes of abundance in other pantheons.

Another Jina figure (Mathurā Museum 00.B 19, ht. 2'22") seated cross legged in the attitude of meditation, with Usnisa on the head and the Srivatsa mark on the chest, is also a typical example of the medieval period. A miniature attendant stands on lotus wearing a fly-whisk on each side of the main figure. The two flying figures in the two upper corners apparently carry garlands.

The relief is enclosed between two pillars indicating a chapel in which the image was supposed to be placed. The image is made of red sand stone and though slighliy mutilated is otherwise in an excellent state of preservation. It may be rightly assigned to the 11-12th Century A. D. on stylistic grounds.

Without crowding the list of illustrations it is more reasonable to suggest that upto the time of the Mohammadan invasion in the North, the sculpture are in general and the Jaina art in particular, had a very positive role in Mathurā It has lost its quality. The brilliance of the classic period is already gone. But from the quantitative points of view it has presented a lot. 'The Eleventh, Twelvth and thirteenth Centuries', says Mrs. Stevenson, 'saw the Zenith of Jaina prosperity'. But the centre was not Mathurā proper, it was shifted to Central India and Western India. What is

8. Dr. V. S. Agrawala : Catalogue of the Mathura Museum, Jupas.
9. Stevenson : Heart of Jainism.

interesting is to observe that a predominantly religious character is the most distinguishing feature of Mathura. Jainism, Buddhism and Hinduism have distinguished themselves from each other by the importance they have attached to the visual representation of their ideals and have each contributed their share to the building up of that superb edifice of the Indian pantheon. It retained the spirit of catholicity in the true sense of the term.



It is true, 'you know the Truth and it will make you free and happy.' But merely reading and talking too much about truth never brings any good. If you want to be free and happy, you must live for Truth and in Truth.

—K. P. Jain

THE FREE MAN

A free man thinks of death least of all things; and his wisdom is a meditation not of death but of life.

If men were born free, they would, so long as they remained free, form no conception of good and evil.

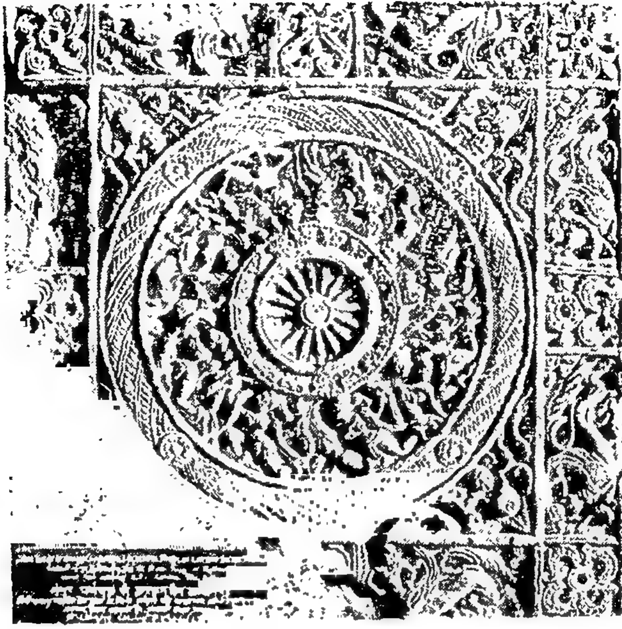
The virtue of a free man is seen to be as great, when it declines danger, as when it overcomes them.

The free man, who lives among the ignorant, strives, as far as he can to avoid receiving favours from them.

The free man never acts fraudulently, but always in good faith.

The man who is guided by reason, is mere free in a state, where he lives under a general system of lord, than in solitude, where he is independent.

—Spinoza



Ayagpata Showing Symbolical Worship of an Arhat
Early 1st Cent. A. D.



Ayagapata Showing Parsvatha in Centre
Early 1st Cent. A. D.

The Early Phase of Jaina Iconography

By

R. C. Sharma,

Assistant Curator, State Museum, Lucknow.

As Varāhamihira speaks 'the distinguishing features of Jaina figure are its long hanging arms, the Srīvatsa symbol, the mild form, youthful body and nudity :

आजानुलम्बबाहुश्रीवत्साङ्कः प्रशान्त मूर्तिश्च ।
दिग्वासास्तरुणो रूपवांश्च कार्योऽर्हतां देवः ॥

(*Brhatsamhıta Ch. 58 Vs. 45*)

These characteristics are almost common in all Tīrthankara images of all periods.

Traditionally the antiquity of image worship in Jainism is associated with the origin of the religion which is said to have been founded by Ṛṣabhanātha, the first Tirthaṅkara. The gap between the 18th Jina (Aranātha) and the 19th Jina (Mallinātha) is said to have been of one thousand crores of years and the period of the earlier Tīrthaṅkaras has not been given in the duration of years. Thus on the basis of the traditions we can not trace the antiquity of image worship in Jainism.

Historically too the prevalence of the images cannot be put back with the origin of the creed. Pārsanātha the 23rd Tīrthaṅkara is regarded as a historical person and his life time has been assigned in the 9-8th century B. C. He may be held responsible for giving birth to Jainism. His successor was Mahāvīra, the 24th and the last Tīrthankara who flourished in the 6th century B. C. The archaeological remains of such an early period (pertaining to Jainism) have not come to light and therefore, it is not possible to establish the relationship of the image worship with the foundation of creed in the present stage of our knowledge.

If the nude stone torso discovered at Lohanipur, Patna, is assumed as the image of a Jaina monk, it becomes the earliest image of the Jaina statuary. From its typical polish scholars are generally inclined to place it in the late Maurya or early Śunga (3rd-2nd cent. B. C.) period. It would then also fall in the catagory of one of the earliest round images of India. As Dr. A. M. Ghatage observes, Its nudity the stiff straight pose of its arms hanging down by its sides indicative of Kāyotsarga attitude characteristic of the Jainas, and its general outlook unmistakably prove that it was originally the image of one of the Tīrthankaras" (The Age of Imperial Unity P. 425). But for this piece, archaeology is silent for about 200 years; and it is from the Ist cent. A. D. that the process of manufacture of the Jaina icons appears to be a regular feature.

We, however, come across on epigraphic evidence in the Hathigumpha inscrip-

tion of king Khāravela of the Ist century B. C, giving us a testimony of the reinstallation of an image of a Tīrthankara in Kalinga. This image, as the inscription informs us, was removed 300 years ago by the king Nanda of Magadha. On the basis of this document the image which was brought back by Khāravela should be dated at least in the 4th century B C. The Khaṇḍagiri and Udayagiri caves which were excavated in late Ist century B. C. also perhaps bear some Jaina figures. The panel carved in the Rani Nur cave at Udayagiri has been identified by some scholars as a frieze depicting the life events of Pārśvanātha, the 23rd Tīrthankara.

Reference to the images of the Jaina deities is found in the Arthaśāstra of Kauṭilya. In his chapter on Town Planning he mentions that in the centre of a city there should be an abode of gods. In the list he includes some Jaina deities namely Jayanta, Vaijayanta and Aparājita. The date of the Arthaśāstra has been given as the 4th century B. C. (Prof. Jolly Z. D. G., Vol. 67 P. 49-96). But as stated above, we are not left with any iconographic remains (except the controversial Lohanipur torso discussed earlier) which can prove the image making in Jainism before the beginning of the Christian era.

A chronological sequence of the Jaina iconography starts with the square stone slabs, labelled in the inscriptions as "Āyāgapaṭas". These were excavated at Mathura and are now displayed in the galleries of the Archaeological Section of the State Museum, Lucknow. The term "Āyāgapaṭa" has been translated by Dr. Buhler as a 'tablet o since these were ir for the worship of Dr. V. S. Agrawala Ayāga should be d meaning "honourabl reverence" (J. U. P. I p. 58)

Regarding their d inferred here that none bears any date. It is on and epigraphic grounds have assigned a period. charya thinks that these an age anterior to Kushān devoid of any mark of influence and are purely of (Jaina Iconography p. 47). D puts them in the early fir These of course appear to bel beginning of the Christian represent a phase when the syn image worship flourished side b Some Āyāgapaṭas are carved wi figure of the presiding deity, wh others existence of deity has been conv through the mediums of symbols, s as Dharmacakra, Stūpa and oth Even in the tablets which are mark with the figure of the deity, emphasi has been laid on the depiction of symbols. Sometimes the Ayagapatas bear various auspicious symbols or sectarian marks which according to Dr. Fuhrer are (1) the Svastika, (2) mirror, (3) pot, (4) cane seat, (5-6) two small fish, (7) flower jar and (8) book. These are known as the Aṣṭa-māngalika-cinhas.

The attempt which the sculptor hesitatingly made in the presentation of deity in the centre of some Āyāgapaṭas

was perhaps received with a gesture of welcome and he proceeded further. The material and the ideal was at hand. The free-standing colossal Yakṣa statues served as proto-type. After the consent of religious and a favourable reaction among the devotees he (artist) sharpened his chisel for carving out images in round. This was the beginning of Kushāna period which ushered with the introduction of the Buddha image either in Mathura or Gandhara studio. It was an important event in the history of Indian art, giving a new direction not only to the development of plastic art but also to the growth of various sects. The popularity of a sect was now dependent on the erection of the Maṭhas or Viharas and the installation of images. Thus the contemporary religious atmosphere was a ripe moment for manufacture of Jaina icos in large number.

The Jaina image in the Kushāna period are found in two postures viz., standing and sitting. The standing pose is known as Daṇda or Kāyotsarga which reminds the extremity of austerity of a Jina when he sacrifices even his body. The second pose shows a Tīrthankara seated in meditation. B.C. Bhattacharya has divided the Jaina figures of this period into three varieties viz., first in which the Jina figures form part of a sculptured panel, second in which the figures are represented as images for worship, third figures in the middle of the Āyāgapaṭas.

From the stand-point of art the Tīrthaṅkara images of Kushāna period are broad chested, shaven headed or with very small curls in hair, round and almound shaped eyes and a little smiling expression on their faces. The halo round the head is plain, devoid of concentric bands but carved only with the scalloped border (hastinakha). Śrīvatsa on the chest of the Jina is invariably met with. Generally the soles of the feet and palms are marked with Cakra and Triratna symbols. These were known as the marks of great man- (Mahāpurusa-laksaṇa). The Jina images were generally shown seated on pedestal representing a lion throne which usually bore an inscription giving the name of the donor and name and the year of the reigning king.

The depiction of life events of the Jinas in early period is seen only with rarity. Fortunately the State Museum, Lucknow, possesses an interesting slab which represents the transfer of the embroy of Mahāvīra from the womb of the Brāhmaṇa lady Devanandā to that of Trisalā who was Ksatriya by caste. A small inscription, inscribed on the characters of the early 1st century A.D. labels the deity as "Bhagava Nemeso" meaning the vanerable Nemeso. He has been represented as a goat headed male and identified as Naigamesin. In both Brahmanical and Jaina mythology he has been regarded as a guardian deity of children.

Dr. Bühler gives the following version of the Kalpasūtra in identification of the sculpture:- "when Indra became aware that Mahāvīra had taken the form of an embryo in the Brāhmaṇī Devanandā's body, he paid his reverence to the Arhat that was to be born. It then occurred to him that an Arhat ought not to be born in a low Brahmanical family, but only in

a noble royal race, and that it was and always had been the duty of the reigning Indra to transfer the embryo, in case through the influence of his Karman an Arhat had descended into the body of a female of the Brāhman caste. In order to fulfil this duty, Indra directed Harinegamesin, the divine commander of infantry, to transfer Mahāvīra from the body of Devanandā to Trisalā, a lady of the Jnātṛ family of Ksatriyas, who was also with child. Harinaigamesin then repaired first to the Brāhmanical quarter of Kuṇḍagrāma, took Mahāvīra from Devanandā, cleansing him from all impurity, and carried him carefully in his folded hands to the Kshatriya quarter of the same town. There he took Trisalā's embryo from her, likewise duly cleansing it, and put Mahāvīra in its place. Next he returned to Devanandā and placed Trisalā's child in her body. During these operation the two ladies and their attendants lay in a deep magic sleep. Finally, the deity returned to Indra's abode and reported to him that his orders had been carried out."

(*Smith, Jaina Stupa P.25*)

As will be known from the above story Jainism from the very beginning did not hesitate in assimilating the deities of the Brahmanic pantheon. It will be interesting to note that the earliest Sarasvatī image is associated with Jainism. It was excavated at Mathura and is now in the collection of the Lucknow Museum. According to the inscription it was set up by Gova a smith by profession, son of Siha, at the instance of the preacher Āryaka-Deva, the Srādhacaro of the Ganin Ārya Māghahasti, the pupil of the preacher Ārya Hastahasti from the Koṭṭiya gana, the Sthāniya kula, the Vaira Sākha, and the Srigrha Sambhoga.........

The record is of great significance as it imparts a detailed information regarding the organisation of the Jaina church.

A favourite variety of the Jaina images is known as Sarvatobhadra-Pratimā, i.e., auspicious from all sides. Such images bear the figures of four Tirthankaras in four directions. Like obelisk these were installed in open or in a hall where the devotees could circumbulate and see them from all sides. Now these are popularly known as "Caumukhī". Regarding the identification of different Jinas in a quadruple image this may be diferred here that their names are not inscribed and we donot notice any cognizance or the mark of indentification(Lānchanas) in the early images. Only two Tīrthaṅkaras can be recognised with their symbols; Ṛṣabhanātha by the fall of hair on his shoulder and Pārśanātha by a snake canopy in which the number of the hoods is usually seven. For the remaining 22 Jinas we remain in dark. It was only in the early medieval period that each Jina was marked with his lānchana (cognizance). Besides, he was represented being attended by his individual Upāsaka and Śāsanadevatā or yaksa and Yaksiṇī. The problem of identification of 24 Tīrthaṅkaras was thus solved.

Some of the early pedestals through their inscriptions shed a valuable light on the contemporary social, economic, political and religious conditions. The image of Sarasvatī (No.J.24) has been discussed. Sculpture No.J.20 is another important

piece which deserves attention. It represents a beautifully carved Triratna to left and three female worshippers with a little girl to right. They hold a long stalked lotus flower. Their style of dress is peculiar in which the fall of the Saree covers their left shoulder. This is what is known in modern time as Ulṭā Pallu. They are perhaps Śaka ladies as indicated from their ethnic features. On the basis of the information supplied in the inscription of this sculpture Dr.V.A. Smith thinks that the Devanirmita Vodva Stūpa of Mathura is perhaps the oldest known building in India.

(Jaina Stupa P. 13)

"Religion is the prop of all beings, everything is embraced in Religion, therefore, Religion is said to be excellent over every-thing else."

Taitarya-ranyak

'The Voice of peace was heard through ages,
And can be heard at every time,
But only by spiritual men or pious sages,
In fascinating and unworldly rhyme.

—V. P. Jain



"Guard watchfully against errings of the mind;
See it falls not from noble to base mood.
Such is the only way to fill with Peace
Of mind and heart the life upon this earth;
Such is the essence of what Jina taught."

—Rai Chand Ji

The Iconography of Sacciya Devi

By

M. A. Dhaky

Osia, Ukesa or Upakesa of the *Pratihāra* and Cāhamāna times, had been one of the foremost theistic centres in Marumaṇdala sector of north-western Rajasthan. Incidentally, it is one of the principal sites where art and architecture flourished without inhibition from late eighth century to about the end of twelfth century. Osia is today famous for the temple of Mahāvira and the sanctuary of Sacciyā mā'ā,[1] the patron goddess of the Oswal banias who are mostly Jainas and whose ultimate place of origin is Osia.[2] Her large present shrine on a hilly eminence is a magnificent piece of the mediaeval Māru-Gurjara style of architecture which prevailed in Western India from the beginning of the second millenium. With an ensemble comprising four other smaller shrines, all within a strong wall, it seems an aedicule of a celestial world descended on the earth for the benefit of the mortals. Sacciyā devi is held in considerable reverence not only by the Oswal Jainas; but She is worshipped by the Brahmanists also in Rajasthan. The history as well as the original iconography of the goddess poses a few interesting problems not as yet solved satisfactorily. A careful scrutiny of the Sacciyā mā'ā group of temples clarisy the mist on a few aspects of the problems, though it does not give a definite answer with a real force of finality. All the same, it points out for certain to the sequence of events that probably happened.

The first step in the inquiry is the evaluation and interpretation of the legends told, and recorded in the literary accounts, followed by their rationalization with the epigraphic data found within or connected with the shrine. At the same time the information gathered from iconographic and architectural sources help intensify the luminosity of the deductions possible from inscriptional sources.

The Brahmanical legend twice recorded at some length by D.R. BHANDARKAR[3] states that a Jaina Jati by name Ratan Prabhu, disciple of Hemācārya, failing to convert the chieftain and the

---

1. Saccika devi of the inscriptions. Dr. M. R. Majumdar feels that the godness could have some connection with Sanchor (Satyapura), as he told the author in a personal discussion. A detailed paper on the issue by the great savant will be found most welcome to the problems connected with Sacciya mata.
2. The Oswal Jaina of Saurashtra, such as at Jamnagar and Prabhas Ptan, have lost memory of the goddess of Osia.
3. Progress Report of the Archaeological Survey of India, Western Circle, 1986—7, p. 36, ASIAR, 190S-9.

local populace of Osia to Jainism, resorted to magic, an unethical means, and created circumstances which compelled them to embrace Jainism. From that moment Goddess Sacciyā could not obtain her regular sacrifice of live beings which enraged her. She cursed the people that they could stay in Osia only under peril of destruction. People fled in all directions, propitiated of Goddess and requested her to allow them to make at least the offerings to her after the performance of marriage ceremonies. Today no Oswal Jain stays in Osia on the night of the day he pays his homages to Sacciyā.

BHANDARKAR casually mentioned the Jaina legend recorded in Upakesa-gaccha-paṭṭāvali; he somehow did not compare it with the Brahmanical one. It was left to SHRI R. C. AGARWAL to study its contents and implications.[4] This eminent authority has also brought to light some iconographic and inscriptional data of exceptional significance to the enigma of Sacciyā mātā.[5] The Jaina source states that Ratnaprabha-sūri preached the people not to enter the blood-stained sanctuary of the cruel, sinister Goddess, the devourer of the buffalo and other animals.[6] The people were scared that the terrific Goddess would destroy them with their families if they did so. The legend says the Goddess made her appearance before the pontiff and demanded the offerings. The Sūri offered sweetmeats and the like but the Goddess insisted on a live sacrifice. The Sūri expressed his inability to do that. Thereupon the Goddess renounced her terrific aspect and embraced the Jaina path.

The analysis of the two stories to the surmise of certain factual truths in regard to the Goddess. Firstly She was Mahiṣamardinī. Shri R. C. Agrawal has conclusively proved so by producing an evidence of an inscribed image of Saccikā dated S. 1237 (AD 1181) from Juna where She is portrayed as Mahisamardinī. Secondly, bloody rites were performed at her altar. Thirdly, the Jaina pointiff Ratnaprabha-sūri intervened and got the bloody sacrifices stopped. Fourthly, (and this is not free from speculation), the priests dissatisfied with the non-violent way of worship, spread the superstition of the curse; coincidentally, this might have been backed by some calamity, pestilence, famine, or something of the sort which did frighten the people who agreed to make offerings but did not revert to the bloody ways and chose to run away from Osia the night they made offerings. After all, what they offered was originally not needed by the Goddess and there was that stigma of deception which urged

4. 'Rajasthan mem Jaina-Devi Saccika pujana' (Hindi) Jaina Vijnana-Bhaskara, bhaga 21, kirana I.
5. Ibid.
6. Ibid.
7. The bodily presence of the Goddess is not implied while the Suri conversed with her. Some priest pretending to be possessed by the Goddess may have acted as a medium. The bloody rites recall the temple of Diana; but in Indian context, the temple is not destroyed. She assumes gentle aspect.



The probable Original image of Saccika Devi (Ksemankari ?) Osia

them to leave the place and escape the wrath of the Goddess. At the opposite end, it is equally certain that the bloody offerings could not be continued in the shrine of Sacciyā. The Jainas, particularly the Oswals, and most probably those having their allegiance to the Ukesa gaccha, did love and adore the Goddess, a sentimental harking back, and did not hesitate in establishing her image in Jaina sanctuaries.[8]

The problems are: who this Ratnaprabha-sūri could be; When did he flourish. How did he really managed to stop the sacrifices at the altar of Sacchikā. Has the name Saccikā anything to do with this event? What could be her original iconography?

It is at this juncture that the monumental group comes in the picture. The two tall pillars with finely carved medallions in the octagonal section in the extension of the Mukhacatuskī (Porch) of the outer prākāra (enclosure) are of the late century. The camara (fly-whick bearer) on either side of the stairway as well as the inner pillars of the Porch are of the late eighth century. Next follows the Pratolī (Gate house) of the inner prākāra constructed at some later date but containing some older engaged pillars of the late eighth century. A dvārapāla (door-keeper) figure in the vicinity is also of the same age. Inside the prākāra, on either side of the Pratoli, runs a corridor containing older pillars such as are known from the smaller Sun temple below to the south of the hill. On the wall of the corridor are fixed early images such as of Pārvatī, Varāha, Revanta, Nṛsiṃha, Balarāma etc. Originally these images and pillars belonged to some late eighth century shrine, presumably on the hill, which has disappeared in antiquiry. Facing the Pratolī is the commodious Rangamaṇḍapa of the temple of Sacciyā mātā whose sāndhāra[9] Mūlaprāsada (Shrine Proper) is just behind it. The great temple of the Goddess faces west. To the left of the Mūlaprā āda of this temple stands the shrine of Sūrya datable to late eighth century. Its maṇḍapa coalesces with the part of the great Hall of Sacciya mā ā. The southern bhadra of this Hall is articulated with the porch of a small Visṇu shrine datable to late tenth century.[10] The little shrine faces the north. To the north of the Hall stands a pair of southerly oriented Visṇu chapels which stylistically belong to the first quarter of eleventh century.[11] The mūlaprāsāda of Sacciyā mā a is without a pīṭha (socle) and rises directly from the vedībandha of the wall. It is about 9.40 ms. wide with three projecting balconies at the bhadra which are provided with candrāvalokana (trellises). The dwarf pillars are of finely carved

8. Shri R. C. Agrawal quotes Dr. U. P. Shah, the foremost among the modern authorities on Western Indian art and iconography, on this point.

9. Possessing ambulatory.

10. The temple indicates a transition from Maha Maru to Maru-Gurjara style of temple architecture.

11. These chapels indicate the full-fledged Maru-Gurjara style now penetrated in this area. Their presence interefered, it would seem, the construction of the northern bhadra of the great Hall.

ghaṭapallava (vase-and-foliage) class. The maṇḍovara (wall) is otherwise left plain save for a medial moulding. The garbhagṛha (cella) within, some 3.90 ms. wide, is likewise moulded and possesses images of Sitalā, Mahiṣamardinī, and Cāmuṇḍā on the north, west, and south bhadra of the cella respectively. An inscription carved beside the image of Mahisamardini tells that the jaṅghā with the images of Sitalā, Cāmuṇḍā, Saccikā devī, Ksemankarī, and Ksetrapāla was constructed (in or with?) the Saccikā devī prāsāda in S. 1234 (A D 1178). The three images on the wall of the cella conform to the three of the five stated in the inscription. Their style too agrees with the date of the inscription. Not only that; the mouldings of the cella as well as the Mūlaprāsāda are stylistically not of an age earlier than the latter half of twelfth century. The jāla of its beauti Sikhara is characteristically of late twelfth century. And above all, the Rangamaṇdapa with its pillars and the central ceiling reveals a style which exactly accords to the late twelfth century. Conclusively, therefore, the entire temple is an erection in 1178 by some donor or a batch of donors. Incidentally on the strength of the inscription, the image of Mahisamardinī on the back wall of the Cella remains equated with Saccikā. The cult image within the cella is also of Mahisamardinī.

The temple of Sacciyā is not only the largest; it is the latest of the whole group. The space left between the adjoining Sun temple and the large Mūlaprāsāda of Sacciyā is uncomfortably narrow. And there seems every possibility that it is a structure erected with the view to replacing some older fame. The oriention of the three Viṣṇu chapels which are older in age than Sacciyā māṭā temple, indicates that some earlier shrine of consequence existed right at the spot where the great temple stands. The older one could be smaller and located at a little more respectable distance from the neighbouring temple of the Sun. But whose temple it could be, and of what age?

As pointed out in the foregoing discussion, there are quite a few older images and pillars of some vanished shrine in the corridor. Attributable to the same group are an image of Gajalaksmī and another one of some unidentifiable goddess fixed in the Porch of the great Hall. The preponderation of Vaiṣṇava images in this assembly, if taken on face value, may suggest a shrine of Viṣṇu in place of the present shrine of Sacciyā mātā. It may be remarked that among the existing shrines of the Pratīhāra Age at Osia five are sacred to Viṣṇu, three are dedicated to Sūrya, two each to Shiva and Devī, and one to Jina Mahāvīra. The comparative figures suggest a fair proportion of Viṣṇu shrines at Osia. And there is nothing to wonder if there existed one more on the hill. In about 1178, the supposed Viṣnu shrine was demolished to give place to the present one of the Sacciyā mātā. Is this probable? Would it meet the sanction of the worshippers of Viṣṇu? Most unlikely. There is another possibility. The shrine could be a Vaiṣṇava one in another sense. It could have been dedicated to some Vaiṣṇavi Śakti.

Durgā is a Vaiṣṇavī śakti. Durgā, either Mahismardini or in some other form, could be the deity to which the original temple belonged. There exists, fortunately, one such material evidence to support such a conjecture. To the left of the Sun temple, lying in a corner, is seen an old, abraided, discarded image of a goddess shown in the illustration. The serene, supple bodied goddess stands in samabhanga pose on a lotus supported by two lions standing back to back. A female attendent stands on either side of the goddess. The prabhāmaṇdala (aureole) is circumscribed by a large, deeply and tastefully carved valaya. The upper right hand of the goddess bears a trident. The remaining three hands are mutilated. The image, as revealed by the very first glance, seems upāsya one. It was entitled to an independent sanctuary. The physiognomic features, the style of carving, the ornamental details, all point to late eighth century as its age confirmed by a comparision with the imagery carved on the walls of the older shrines below the hill. If this be so, why could it not be the cult image, the original Saccikā Devī of the Pratihāra Age, of the shrine dismantled to erect the present one? There is a later parallel, of the early tenth century, to be found in the northern bhadra niche of Āmther mātā shrine at Vadnagar in North Gujarat. The goddess there likewise stands on two lions and wields padma, trisūla, sankha and respectively from right to left. The position of the trident is exactly similar in both the cases. The missing attributes in Osia image, if these were the same, would emphesize the Vaisnava aspect of the goddess. The Aparajita-pṛcchā (3rd quarter of 12th cent.) is perhaps the oldest text which prescribes the iconography of Nava-Durgā. Out of these nine forms, only one, Ksemankari, comes nearer to the Vadnagar example : padma and trisula are stated in exactly the same position in the text. It seems that Āmther mā ā example is possibly the earlier iconographic form of Ksemankari; by the same token, the Osia example may be taken to represent Ksemankari. In other words, the original image of Saccikā was Ksemankari iconographically. After all, Saccikā is a local name having perhaps no canonical authority behind it. We are, incidentally, reminded of two other hill shrines, one at Vasantgarh (Vaṭapura) and the other one at Bhinmal (Bhillamāla) of Ksemankerī. Ksemārya of Vaṭapura has been mentioned in an inscription of A. D. 625; the Bhillamāla one is known in Srīmāla-purāṇa. There is nothing unusual if her third ancient shrine were located once more on a hill-top, now at Ukesa. It may also be remarked that all the local names of goddesses need be of Caṇdikā or Mahisamardinī. Some were already there. At Unwas in Mewad a temple was built for housing goddess Piplāda in 960. At Osia itself there is an old temple of Piplā mātā (that is Piplāda) where the sanctuary as well as the cult image is of late eighth century; and the cult image is of Mahisamardinī. The famous Aṃbikā of Arasur (Ārāsaṇa) in North Gujarat was Mahisamardinī both according to Skandhapurāṇa as well as the material presence of an image of Mahisamardinī of about the late seventh century now discarded in the compound. The discarded early image in

Osian context is, significantly, not of Mahisamardinī even if one hesitates in identifying it with Ksemankari.[12]

But some of the original questions still remain to be answered. What prompted to replace the older fane of Sacciya and to alter her iconogram?

That brings us back to Ratnaprabha Suri about whose time and identification we have so far stated nothings. The Upakesa-gaccha-pattavali makes him the progenetor of Ukesa gaccha and place him in the fifth century B C, an obvious absurdity in face of all known facts including the one that Osia itself does not seem to be in existence before the last quarter of eighth century as agreed upon by literary sources and the archaeological remains at Osia. As one of our greatest authorities on Jaina history MUNI SHRI JINAVIJAYAJI believes,[13] the wave of Jainism spread from Surasena over Rajasthan sometime in late seventh century as unequivocally indicated by literary sources backed by archaeological evidences. There is no point in attaching a very early date to Ratnaprabha-suri. As the Jaina sources indicate, there is only one prominent figure of that name; and he flourished in the twelfth century. He was not the disciple of the illustrious Hemacandra as Brahmanical legend purports to say, but of Hemacandras senior contemporary Vādi Devasuri of Vada-gaccha. His two works of known date are the Neminātha-caritra (in Prakrit) completed in AD 1277 and Upadesamālā-vriti completed in AD 1282. His dates are, significantly, very close to the date of the erection of a new fane for Sacciya. The twelfth century, particulary its second and third quarters, saw Svetambara Jainism at its climax in Western India. It had secured a strong support of the Sōlanki Emperor Kumārapāla who, it may be recalled, had stopped the animal sacrifices at the altar of Devi Kantesvari whose shrine was founded in the middle of eighth century at Anhilapātaka by Vanārāja Cāpotkata and who was the kulāmbā of the Cāpotkatas and subsequently of the Solankis of Gujarat. The Cāhamānas of Nadol (Naddula) too respected Jainism. At this age, throughout Western India, the teachings of the learned Jaina Munis were listened with respect by the princes as well as the populace. It is not easy to tell whether Ratnaprabha-suri invoked the temporal power or used persuasive means to stop the sacrifices at the altar of Sacciyā. Kumārapāla had passed away in 1175. Between 1175 and 1178 ruled his nephew, the tyrant Ajayapāla, a deadly hater of Kumārapāla's Jaina learnings and his deeds for the Jainas. But it is not certain whether the power of Kumārapala or his successor ever extended as far as Osia. The general atmosphere of the age which favour non-violence under Jaina influence and the piety of the great Jaina Sage may have ultimately helped compel the animal killers at the door of Sacciyā to stop their violent acts. It is they, the frustrated ones, who could have spread rumours and cooked the story to defame Ratnaprabha-suri, a story told to BHANDARKAR by their descendents perhaps.

12. This caution is necessary since all the attributes of the image are not available

13. In a personal discussion with the author at Ahmedabad.

The rigour of its ethical code and its austere discipline never attracted, unlike Buddhism, a large following, though its followers were always influencial people in the State and as well as the society. At the same time, the high moral conduct of the Jaina teachers commanded respect, as it does even now, from the Brahmanical populace as well, a fact must be remembered while assessing the role of Ratnaprabha-sūri.

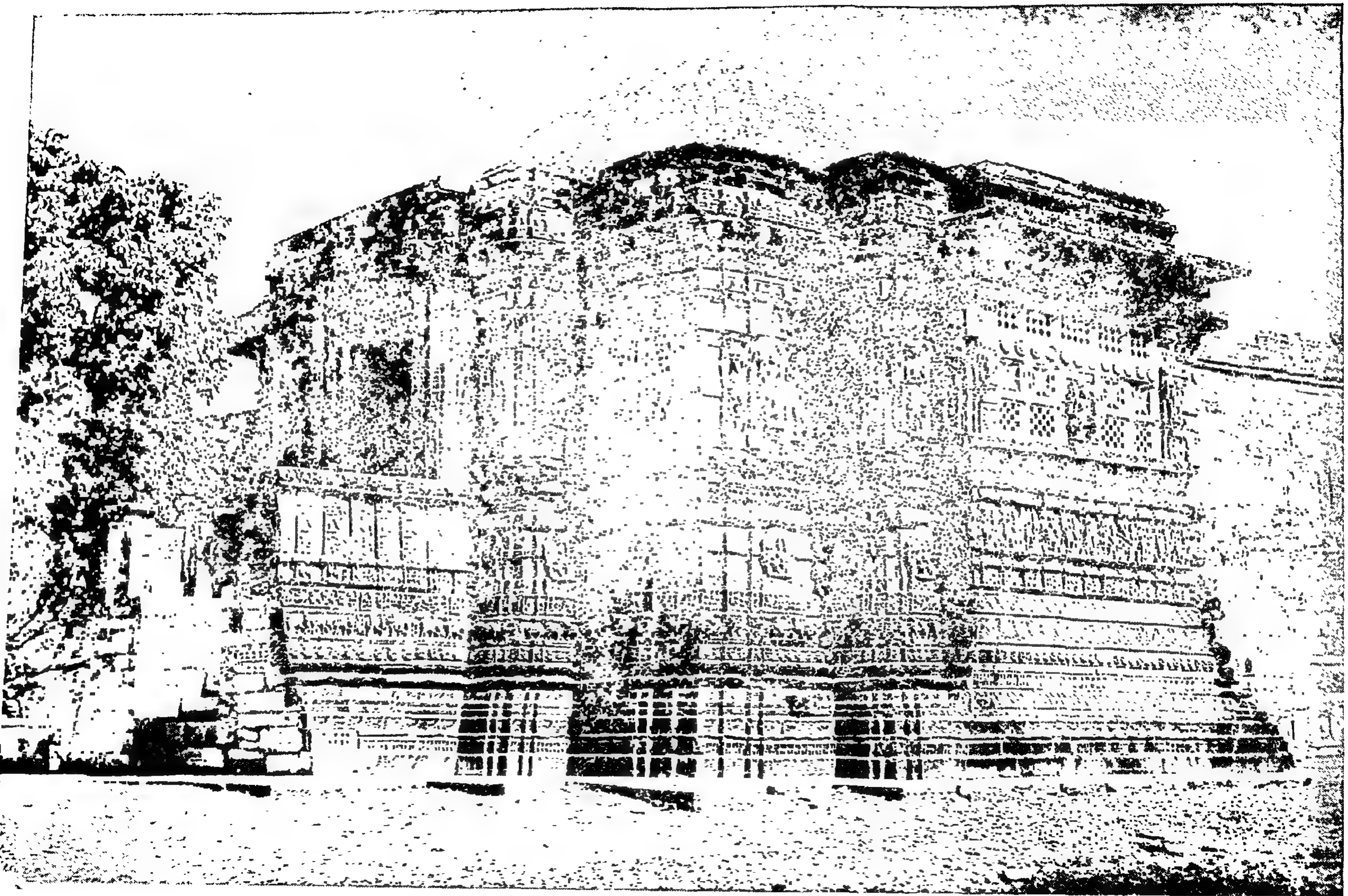
It is hard to tell whether Ratnaprabha-sūri advised to remove the older blood stained foundation and replace it by a large new temple. The fact remains that a new fane was constructed in 1178 and at that moment the cult image was of Mahisamardini. There is no explanation why the cult image was changed not only bodily but iconographically as well. The sanctuary had not changed its Brahmanical character, though, under Jaina influence it conceded to stop animal sacrifice. It is equally not easy to determine whether Ratnaprabha-suri came on the scene after the erection of the new fane which was presumably under the hands of the tāntrikas then. As inferred from Juna image, though depicted as Mahisamardini, Saccika had becon Sātvikā before 1181. It may be remer bered that, that image was set up by Jaina ganini. A Jaina nun would nev adore an aghora image. The fin decision on the point can be taken aft examining the Mahisamardini images the Jaina temples in Rajasthan. Th will reveal some new clues on the da of Ratnaprabha-suri and the assumptic of sātvika aspect by Saccikā. Osia w the stronghold of Jainism as far back the last quarter of eighth century evidenced by the Large temple of Mah vira of that date there. It was also t centre from which Ukesa gaccha ema ated. The Jaina influence at the pla if weakened during the peri d befc 1178, it made itself felt once more. Tł is all. That is what the great Suri d Jainas had no objection in accepti adopting, or continuing a Brahmani deity as their patron goddess. E today many Jaina families have Brahn nical goddesses as their kulāmbā and r the Jaina Yaksis. Sacciki had r changed the pantheon but the aspect, a symbolizes the happy concord of Brah anism and Jainism that prevailed Western India.

"Truth is a cause for the pleasure of God. I have seen no one who has been lost on the straight road."

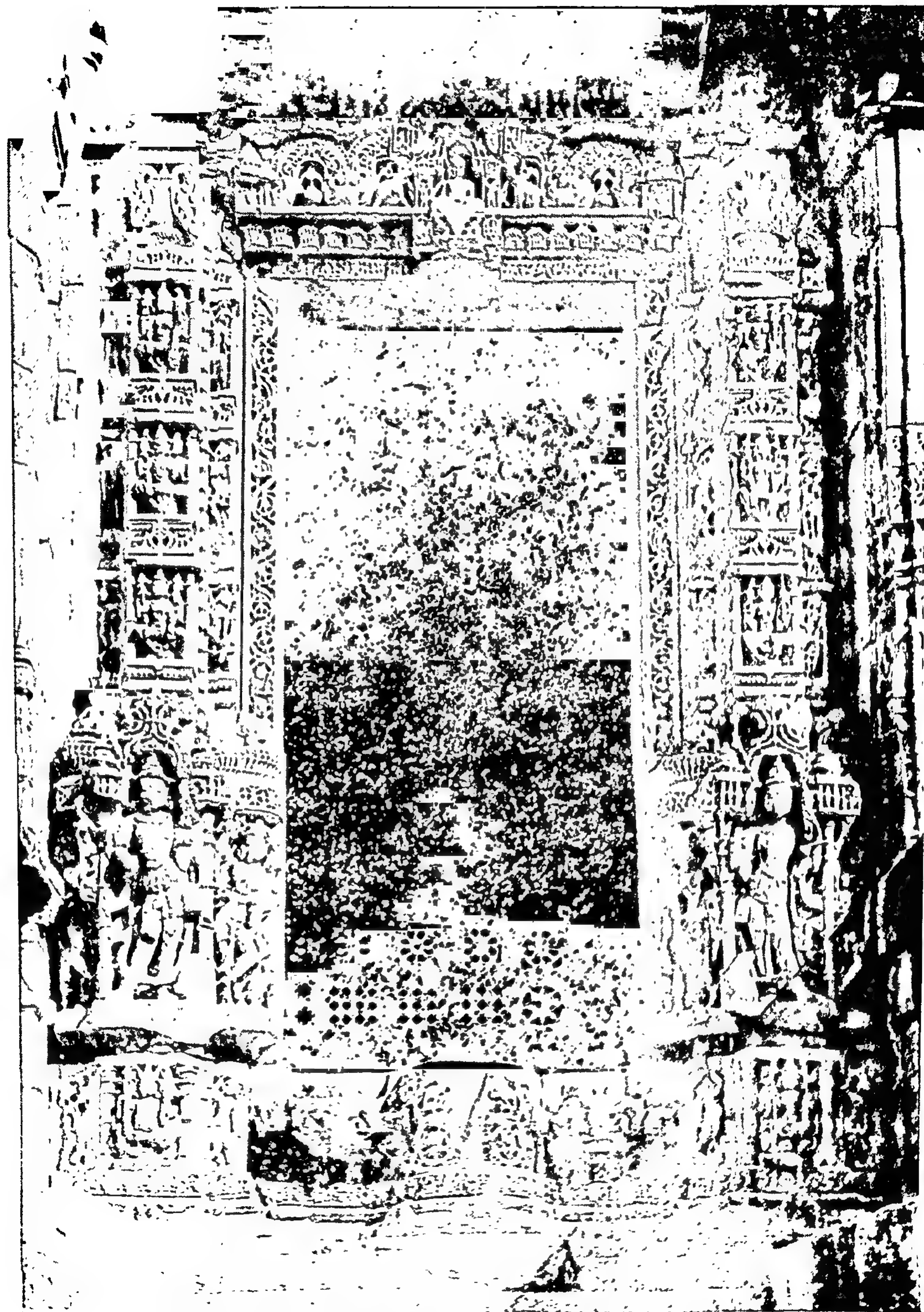
—**Hafiz**



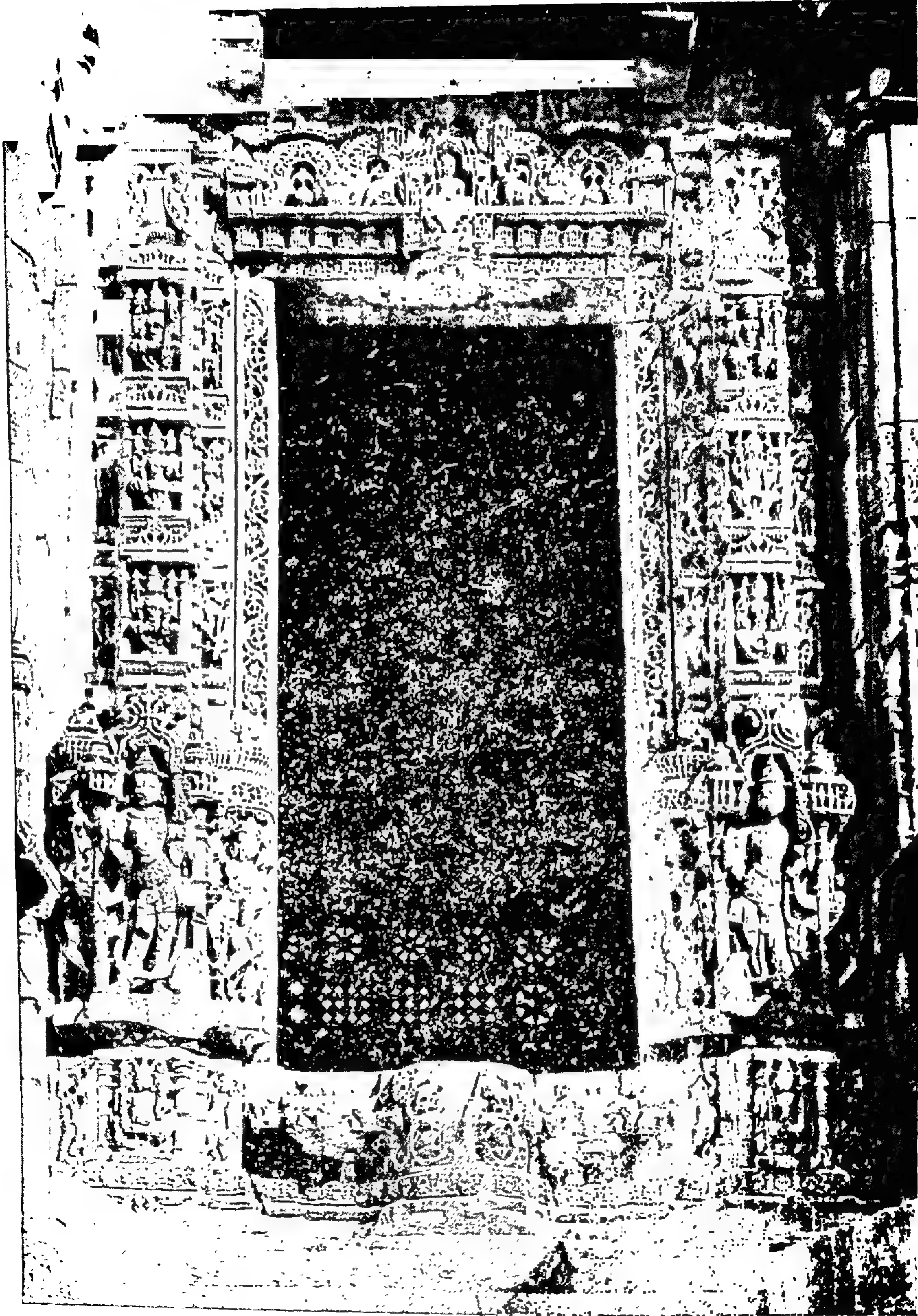
What does the voice of God say to us ? It says through our consciences, to you and to me and to every one in the world, "Love me and love your neighbours and your life will be like blessed calm in the midst of this world's storms."



Chittorgarh Sringar Chauri; General view of the Temple



Chittorgarh Sringar Chauri Western door of the Temple



Chittorgarh Sringar Chauri Western door of the Temple

height of the sculptures of the yakshinīs on the eastern bhadra, along with elephant and other bands of decorations. The same is the case with the rathas on the south eastern corner ending at the southern bhadra. All these indicate that the sculptures and structural portions above and below it are earlier.

The impression that it was originally designed as a sarvatobhadra temple, gains further ground from the north eastern corner (Fig. 5.left). The secular scenes which are possibly tirthankar-charitra, the antarapatra, the fighting elephants, yakshinīs within kuṭas at regular intervals and the apsarās all end here. The walls of the eastern and southern varaṇdikas have totally different decorations (Fig. 5). The style indicating difference in age. They commence from the eastern back wall of the garbhagṛiha, over the rathas and Salilantaras terminating at the corners. The conclusion therefore is irresistible, that the present orientation is a later work and the present eastern and southern back walls were repairs to a desecrated fane. One may pardonably enquire why and when.

As a typical example of the plastic and architectural values of the temple let us take one section. The northern re-entrant corner made by the eastern wall of the mannḍapa northern wall of the temple, depict at the highest level apsarās in various moods, such as dancing, pointing to her sinthī playing mṛidanga that is mṛidanginī, playing vīnā; a mutilated figure of a Siddha and finally a yaksha, holding a snake in his right upper hand, pot (Kamaṇḍalu) in right lower hand. The left hands are damaged. The salitantras have vyālas (leogryphs). The eastern bhadra too, posseses sculptures of yakshinīs, alternating with apsarās in various poses, at the highest level. But the varaṇdikā has a jāli window with chess and floral patterns and yakshinī flanked by apsarās (Fig. 5) almost at the centre.

It has already been indicated that for determination of the ages of sculptures Vasanta-paṭṭika found at intervals is the best. It occures at the N.E. corner upto the eastern bhadra. It appears again on the S. E. rathas to disappear near the southern bhadra. I had also occassion to point out that at particular corners where it terminates it is found at the breast level of the sculptures of the mekhalā containing figures of yakshinīs. It can therefore be inferred, that the portions in which it exists are earlier than the rest. The date of earlier portion is fixed by the dedicatory inscription in the maṇdapa. These are similar to the sculptures occuring on the Kālikā-Mātā mandir, the kumbhaśyāmā temple etc.

The Kālikā Mātā temple was originally dedicated to Surya, and is ascribed a date of C. 600—700 A.D., when Hūṇas were possibly ruling at Chittorgarh. But I personally feel that it was erected during Pratihāra period (C. 800—900 A.D.). At least the maṇdapa pillars with plain bases and Nāgas and Naginīs issuing out of bhadra-ghaṭas are possibly of their age, since they were extremely devoted to decadent Gupta classicism. Pillars with exactly similar capitals, I found at Mainālgarh, re-utilised by Bhaba-Bramha in his monastery - a Saiva ascetic, in Mālava (Vikrama-samvat) 1226 (C. 1168

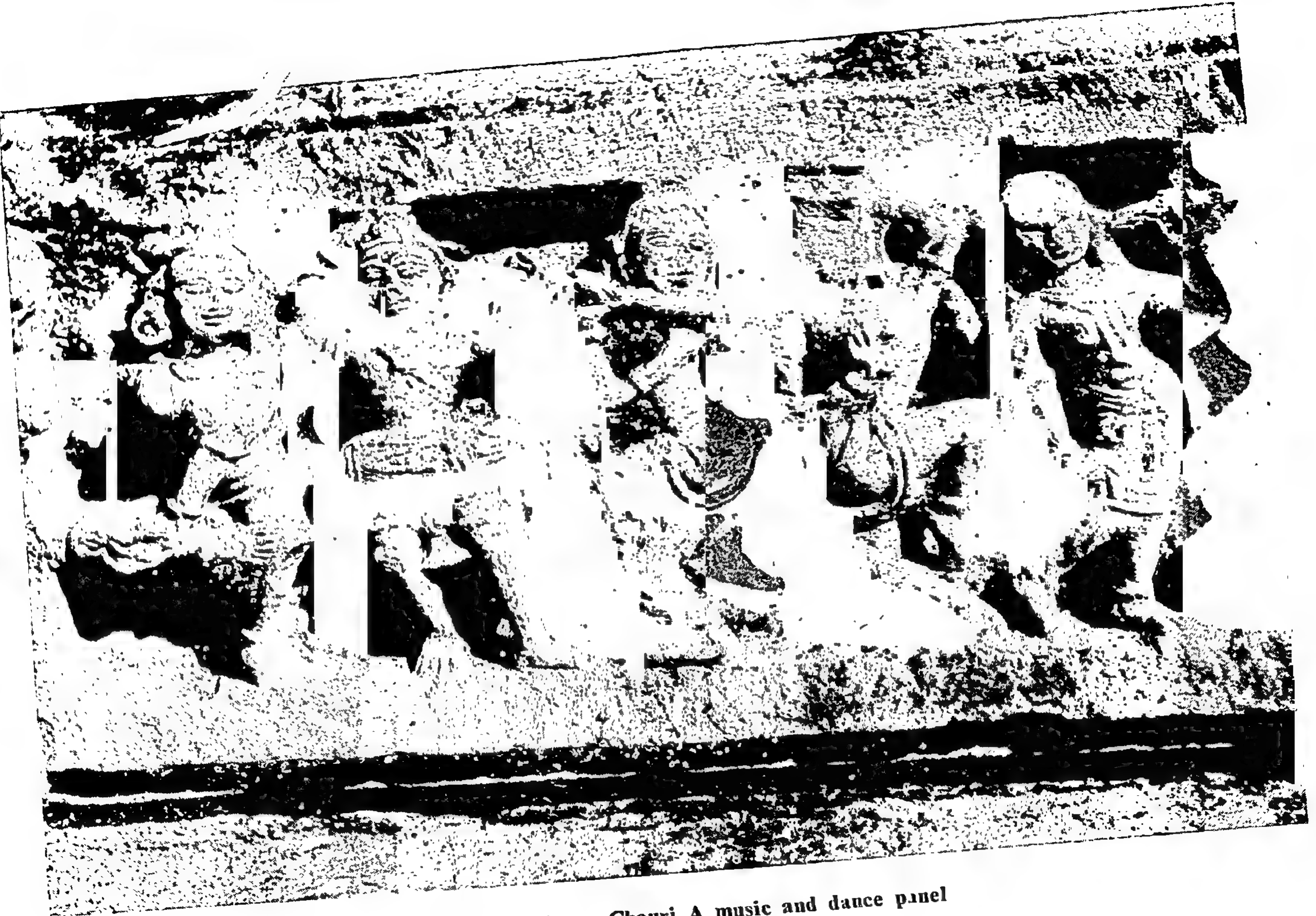
69 A. D.), when Prithvīrāja II (C. 1165-69 A. D.) was ruling. The rest belongs to Kumbha's reign.

Kumbhasyāmā temple was originally dedicated to Varāha. The samsthānaka and the ambulatory are similar to that of Kālikā-Mātā, but the sculptures belong to C. 15th century A. D. Even the names of stone-masons are found on this, the Jayastambha of Kumbha and Adbhutanātha temple are common, demonstrating that their jirṇoddhāra was made in the reign of Kumbha, after they were desecrated by Turco-Afghans. Therefore both subjectively and objectively there are unimpeachable evidence to conclude that it was erected originally in the reign of Mahārāṇā Kumbha.

The garbhagṛiha is a plain square room. Both the western and northern maṇḍapas are similar in style and ornate. The door frames are of pancha-shākhā class, if the pillars on both sides are taken into consideration. The udumvara or the high threshold bears yakshas with tortoises on either side of the mandāraka (central projection). The five antefagments (shākhās) are: (1) pillar, (2) apsarās, (3) yakshinīs, (4) mithuna and (5) patra. The lalāṭa-vimba of the urddhvapaṭṭikā flanked by purṇa-ghaṭas has a Jina figure seated in samvasarana, on either side of whom are elephants, kīrttimukhas and jars. Uttarānga has a mythical scene. On either side of the bottom are dvārapālas. Inside the sanctum the pīṭha is supported on four large stones (stambhas), the top of which probably bore a silken or velvet canopy. The present writer agrees with Henry Consens in thinking that a pratimā sarvato-bhadrikā of four or one and the same tirthaṅkara, was originally placed on it. But late Sobhlal Śāstrī thought that "under the canopy was ashṭapāda arrangement of four images of Jaina tirthaṇkaras, according to which 2 images are placed in the east, 4 in the south, 8 in the west and 10 in the north, seated back to back[1]." But exactly on what grounds, in the absence of any cult image he came to this conclusion, has not been clarified. Though the theory is not at all impossible, the conclusion appears to be unwarranted by evidence at our disposal. On each corner there are two niches.

Let us now attempt to evaluate the evidence of closing the northern and eastern maṇḍapas. It is undeniable that it was dedicated in C. 1448-49 A. D., when Kumbha was ruling Mewar. In many respects, he was an unfortunate monarch. He succeeded his father-Mokal, as a minor. He was murdered by his own son. He was a successful general and annexed Nagar, Ābu, Māṇḍor Gargāun, Mandāsor, Ajmer, Ranthambhor, Bundi, Kotā, Bambaodā and had won some battles against the Sultans of Malwa in A.D. 1437. He also succeeded in taking Sultan Māhmud prisoner. The Tower of Victory was erected to commemorate it. He was a poet, an antiquary, author of treatises on art and architecture. He continued the plastic activity initiated by his father. He was a great builder of temples and forts, most celebrated of which is the Kumbhalgarh. The present road to the top of the plateau with seven gates, is ascribed to him. The

1. Chittorgarh, Udaipur, 1928, p 55



Chittorgarh Sringar Chauri A music and dance panel

temple was possibly violated in A. D. 1534-35 by Bāhādur Shāh of Gujarāt. The terminus ad quaem of the repairs to Śriṅgāra-Chaurī is the wall reported to have been erected by Vaṇavīra (C. 1536-40 A. D.); because it was walled up in side it. The massive wall can still be seen on the eastern and western side of it. The eastern and southern varaṇḍikās could have been erected between C. 1535-40 A. D.

It is seldom realised that as far as plastic activity in northern India is concerned, India witnessed several so-called renaissances. First was in the 4th Century A. D., under the Guptas, the second was in the fifteenth Century in Rajasthan under the Guhilots of Mewar; while Muslim India witnessed it in painting under Jahāngir and in architecture under Akbar. Finally in the 20th Century under the British. The ruins of Nāgdā, sculptures from Jagat, the temples of Badoli, clearly suggest that the Rajputs retreating and fighting for the possession of inhospitable lands of Rajasthan, 'merely erected clumsy adaptations of ruins and funeral stalae etc.', is not a just and fair evaluation.[1] The ball was set rolling due to a desire to repair the ravages of repeated Turco-Afghan incursions aided by the discovery of silver mine at Jawad. Ālāūddin Khalji came after a mirage of beauty, which he found reduced to ashes, when he entered Chittor. But he sacked it and before its fall had devastated the whole countryside. On this occasion there was no Jayasimha-Surī, to record the sufferings in a second Hammira-mada-mardana. Soon Chittor regained independence and Mokal (C. 1419-43 A. D.) planned to repair the ruins.

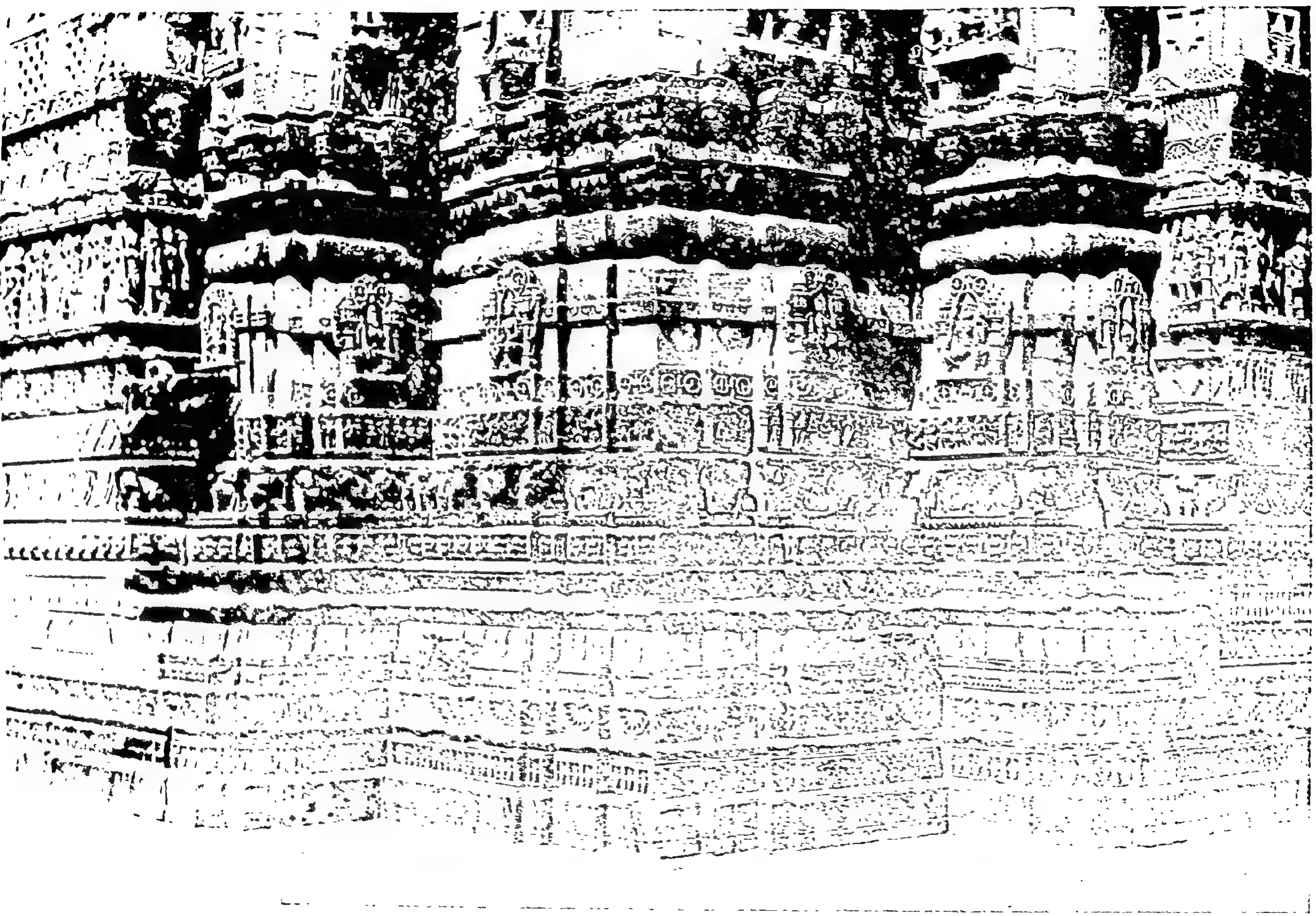
Fortunately his son and successor Kumbha was an able prince. It was in their reigns that the renaissance gained momentum. Intensive researches in art and architecture were carried out and few of his architects and engineers (Somapurīs) are known. Majority of them hailed from Gujarat, who sought shelter in Mewar. The result was the transplantation of the same architectural canons and principles creating diversity in typology of shrines. A major share was taken by the Jainas. Amongst the know (Somapurīs) of Kumbha were Māṇdana Miśra, Sutrdhara Jaita and his sons Napa, Puja and Poma. The last four were : responsible for the design and execution of Jayastambha or Kumbhameru, Kumbhaśyāmā, Kumbhalgarh Fort, Achalagarh etc. This revival was not a new innovation, a new art created by the genious of renascent Rajasthan, but deep rooted in the traditional esthetics of the country. It co-incided with a revival in religion and literature, both amongst the Hindus and Jainas. The Hindu religion discarded the emphasis on book learning and accidents of birth, but leaned heavily on a broader human outlook, not orthodoxy but conservatism. Just as in the distant south, Vaishṇava alvārs and Śaiva nāyanara had done, Śaiva, Vaishṇava and Jaina missionaries and teachers performed in Rajasthan. Rāmānandā's teaching of equality of man before god was followed by vallabhāchāryā ; while devotees like Tulsīdāsa, Haridāsa, Mīrabāi, Suradāsa

1. H. Goetz—(India (Fifteen Thousand years of Indian Art.) 1960, p. 158.

through Vraja-bhāshā carried the new message of hope, Survival and ultimate salvation to millions of illiterate and literate homes throughout northern India.

Like all other religions, Jainism had decayed by the comencement of eightth century of the Christian era. But it was saved by Haribhadra Surī of Chittor who lived from C. 700-770 A. D. according to Muni Jinavijayanji. He found the Chaityavāsīns in the first place violating the law of constant movement, personally using the funds collected for the church, wearing scented and coloured clothes forbidden to true followers of Jina and many other malpractices. Both in words and in writing he attempted to reform the Jaina Church. His reforms were continued by others, particularly Kharatara gachchha Teachers. Most celebrated of these were Jinesvara Sūrī, Abhayadeva Suri and Jinaparabha, a native of Hansi. He choose Rajasthan as his field. He was opposed. But with his headquarters at Chittor (Sīc. Chitrakuṭa) where he succeeded in establishing a vidhi Chaitya carried out his missionary activities in Mewar, Bāgāda. Malwā etc. On his death in V. S. 1167 (=1110-11 A. D.) his work was continued by Jinadatta Sūri who adopted Apabhraṃśa in preference to Sanskrit etc. He was a contemporary of Arṇorāja, the Chauhan. In the time of his successors, Hemachandra Sūri recognised the justification of reforms.

Naturally art, both painting and sculptures, could not remain aloof from it. Out of the rubble and shambles of its classical heritage, it seems to have searched out existing canons of architecture and art, studied the ruins of existing monuments, their design and applied sculptures. The result was not an old art-which had outlived its utility-merely to serve feudal purposes; but an young art with Vitality, re-utilising traditional motifs and patterns, garbed in contemporary costumes, ornaments, coiffures etc- They are veritable encyclopidea of contemporary arts, crafts and industries, trades and professions, such as textiles, lapidiaries art armourers, musical instruments, dances, animals, furniture, soldiers, weapons of cavelry, infantry, elephant and camel corps. Even the scenes portrayal were borrowed from every day life of rural and urban areas, full of trivilia-ties, rather than oligarchic, based on collective social goodwill of all classes of the society, including aboriginals. And, Śriṅgāra Chaurī belongs to the classic phase of this art.



Chittorgarh Sringar Chauri; view of the plinth S. E.

An Introduction to The Iconography of Padmavati, The Jaina Sasanadevata

By

A. K. Bhattacharya, *M.A.P.R.S.A.M.A.* (London)

European researches on the symbolism of the serpent resulted in connecting it with the Sun, Time or Eternity. From its connection with the sun-spirit, it came to signify enlightenment and creation. But while there is general agreement in accepting the order in the symbolic objects adored by man, as given by Gen. Forlong in his "Rivers of Life", wherein the serpent comes the third, the Tree and the Phallic preceding in order, there is reason to doubt the theory that gods and men transformed themselves into trees, plants or beasts'. It is rather that the process was quite the reverse and the ancient thinkers found in the quick movement, spiritedness etc., e.g. in the serpent, a reflection of the dynamicity of human life, its ideas of growth and expansion. Subsequently, human thought tried to assimilate such objects, sensate or insensate, as were met with readily and could attract their attention as the embodiment and source of life and its essence.

The *tradition* of serpent-worship in India is very old being traceable to the Atharvaveda[2] nay even to some obscure passages in the Rgveda itself. The word 'sarpa' occurs only once in the Rgveda and that in the tenth mandala of the Samhita[3]. Although there is much doubt as to the meaning of the term, the word 'ahi' meaning a serpent is comparatively more frequent in these portions of the text. The most conspicuous feature of this tradition is that the earliest reference to the serpent in the Rgveda is in the form of the enemy of India. Ahi or Ahi budhnya of the Rgveda is but another, and perhaps milder form of the great

1. C, S. Wake—Serpent Worship, p. 6
2. Rigveda—X. 189, 1—3.

   Ayam gauh prsnirakramidasadanmataram purah pitaram ca prayantsvah etc cf. Sayana on the above Sukta: ayamgauriti trcamastatrimsat suktam. gayatram sarparajni nama rsika saiva devata suryo veti tatha canukrantam ayam gauh sarparajnyatmadaivatam sauryai veti............vada tvidam suktam sarparajnya atmastutih tada suryatmana stuvata ityavagantavyam

   The term Sarparajni has no Direct connection with the snakes according to Sayana Sarparajni was to be identified with the Earth-goddess or the Sun-god. Mahidhara, another commentator, however, goes so far as to suggest that she was none else than Kadru, the serpent mother in *the form* of the earth. *Cf.* Satapatha Brahmana II. pp. 28-9. See, also N. K. Bhattasali—Iconography of Buddhist and Brahminical Sculptures in the Dacca Museum, p. 212 ff.

3. Rv. X. 16, 6

enemy of India, viz., Vrtra, the serpent. This demoniac feature of the serpent was later in the Brahmanas and the Sutras metamorphosed into the semi-divine character attributed to it when it is classed with Gandharva etc.[4] It is here also that we meet with the term Naga for the first time, attended with anthropomorphic features. It is also noteworthy that both in the Samhitas and in the Sutras it is the virile male energy that is embodied in the enemy of Indra, called Ahi. The transformation of the masculine personality into the feminine was achievement of the epic writers with whom the serpent was the embodiment of the principle of creation and preservation. It is perhaps because of this that the tradition in its in later phase centres round the worship of a female deity as the serpent goddess. The name 'Sarpa' in the masculine finds mention in some verses in the Vajasaneya samhita of the white Yajurveda where, according to the commentator Mahidhara, it means just a heavenly or a terrestrial or even an atmospheric 'abode.[5]

In the epic age which, of course, had a big gap after the Vedic, extending over several centuries this tradition and the cult assumed a shape which pervaded the entire mythological setting of Aryavarta of the time. The snake-sacrifice of Janamejaya is a major episode in the drama of the entire heroice poetry that had grown up round the Kuru-battle. Although we have in Vasuki, the King of the serpents, we see in his sister, Jaratkaru, the serpent goddess in the making. Vasuki's sister Jaratkaru and wife of the sage of the same name was the mother of Astika and this latter conception was responsible for the important position she came to occupy in Hindu mythology as the presiding deity over the serpent spirits. But the person that actually had been endowed with the power of curing snake-bites was Kasyapa. It is again, Kadru that is associated with the serpents as their mother. It seems, therefore, that the mythological ideologies, as current in the epics developed in a modified form in later ages and emerged in the Puranas in a new light. Thus the female serpent-Goddess Nanasa as we find in the Brahmavaivarta-Purana, the earliest Purana to mention her, is ideologically a combination of the above personal features. While Kadru[6] is conceived as the wife of the sage Kasyapa, the Primordial

4. The higher creation is devided into the following classes: gods, men, Gandharvas, Apsaras, sarpas, and Manes. Cf. Aitareya Brahmana, III, 31.5

5. Vaj. Ye Ch. 13 Kandika 6-8—'namastu sarpebhyo ye ke ca' prthivimanu ye antarikse ye divi tebhyah sarpebhyo namah...6...etc. On the above Mahidhra says: 'ime vai lokha sarpah' iti sruteh sarpasabdena loka ucyante.

6. The Dhyana in the Tithitattvatika definitely identifies Jaratkaru with the serpent-goddess Manasa, although in earlier mythology Jaratkaru has nothing to claim the status of serpent-deity. The description of serpent ornaments of her holding a pair of Nagas in her hands makes it clear that the reference is to the serpent goddess who is further called Astikamata which latter epithet, on the other hand, makes her identical with Jaratkaru.

Cf: Himambhuja[illegible] hasadvisadharalamkara samasobhitam
[illegible] mahanagaganaih samsevyamanam sada
[illegible] apinatungastanim
[illegible] naga-yugalam sambibhratimasraye

male creation, Manasa came to be regarded as the daughter of Shiva in later mythology, Shiva of course, being the energy to whom the destruction of the Universe is attributed. Thus although in a Stotra in the Bhavisya Purana we have the assertion that she is the mind-born one of Kasyapa, her origin from the seed of Siva has also found much favour with the Puranites. The above two concepts, again, were reconciled greatly in the Brahmavairta Purana where she is called the mind-born of Kasyapa and the spiritual daughter of Shiva.[7] In the Puranic age the serpent-chief Sesa is sometimes associated or identical with Balarama who is reperesented as having a serpent-wreath and with a club in hand. In medieval sculptures, too images of Balarama are found bearing the canopy of a seven-hooded serpent[9]

The conception of Manasā or Padmā as a serpent Goddess, is, however, a very late development. The lotus symbol was primarily associated with the Goddess of wealth, Lakṣmī. The images of certain other Vishnuite gods and goddesses also exhibit the same symbol. The mythological account of Nā āyaṇa Himself having a lotus-stalk rising up from his navel is certainly not very early, and it was at first the Lokapitā Prajāpati Brahmā that was lotus-seated. In art too, such representation can not go further than the 5th or the 6th century A. D. The name Padmā is certainly reminiscent of her intimate association with the lotus. In the Purāṇa literature, at least in its later phase, Padmā, as mentioned along with Serasvatī, the Goddess of Learning, has no other significance than that of Lakṣmī, the Goddess of Wealth.[12] Indeed, the commonest dhyāna of the goddess makes her ride on a swan,[13] the popular vāhana of Sarasvatī. The fact of her attaining the knowledge of Brahma in the form of the Earth, as already mentioned above, bespeaks of this connection with Brahmāṇī or Sarasvatī.

The Buddhists too knew of the serpent-goddess under the name Jānguli. She is

7. Brahmavaivarta Purana, Prakrti khandam, ch. 45, v. 2
cf. Kanya sa ca Bhagavati Kasyapasya camanasi
Teneyam Manasa devi manasa ya ca divyati. 2.
also, Siva-sisya ca sa devi tena saivati kirtita. 8.
8. Mahabharata, XIII, 147, 54 ff.
9. The figure from Bodoh in Gwalior, of Balrama, belonging to the medieval period is canopied by a seven-hooded serpent. Vide, pl. XVIII—A Guide to the Archaeological Museum at Gwalior.
10. A. K. Coomarswamy: Elements, of Buddhist Iconography, p. 68.
11. It is interesting to note that as many as nine of the 15 Manasa images preserved in the Varendra Research Society, have been collected from a tank called Padumshahar in Dist. Rajshahi, vide, Cat., Varendra Research Society, p. 30.
12. Agni Purana, XLII. 7-8,
cf. Nairrtyamambikam sthapya Vayavye tu Sarasvatim
Padmamaise Vasudevam madhye Narayanca va etc.
13. Bhavisya Purana—
cf. Hamsarudhamudaramarunitavasanam sarvadam sarvadaiva.

perhaps the nearest approach iconographically speaking, to the Jaina Goddess Padmāvatī. Jāṅguli as the snake-Goddess emanates from Aksobhyā, the 2nd Dhyani Buddha. Like Padmāvatī she is the Goddess curing snake-bites and also preventing it. According to a Sangītī in the Sādhanamālā, Jānguli is as old as Buddha Himself who is said to have given to Ānanda the secret mantra for her worship. It is worthy of note that Jānguli has been called in the Sādhanamālā Tārā, i.e., a variety of the latter.[14] It is indeed curious that Jānguli should be so-called in Buddhist tradition also. We know, of the eight kinds of "fear" which are dispelled by Tārā, to which fact she owes her name, the fear from serpent is one.[15] That Padmāvatī is but the same goddess in Jaina pantheon as Tārā is in the Buddhist, is also stated clearly in the Padmāvatistotram.[16] We know, however, that the group of goddesses going by the name of Tārā is generally an emanation of Amoghasiddhi. In the Sādhanamālā Amoghasiddhi, the 4th or according to the Nepalese Buddhists, the 5th Dhyāni Buddha, has for his vāhana, a pair of Garudas. Although according to the Pauraṇic mythology, Garuda and the searpents are mutually intolerant of each other, their close relation, too, can hardly be denied. In fact, notwithstanding the description in the Sādhanamala representations of Amoghasiddhi have been found wherein a seven-hooded serpent forms the background of the main image, in the form of an umbrella.[17] The number of the hoods is very significant. It bears close resemblance to the representation of Pārśvanātha who must have either three, seven, or eleven hoods as his canopy. These numbers are to be the distinguising features in recognising a figure of Pārśvanātha as distinct from those of Supārsvanātha whose canopy of serpent-hood must be either 1, 5 or 9 hoods.[18]

The name Jānguli of the Buddhist goddess most probably suggests her popular origin, as the goddess of the forest-sides or more properly a rural goddess.

Jānguli as a snake goddess curing snake-bite or preventing it, is not however, altogether unknown to the Jainas. References to her in their literature are

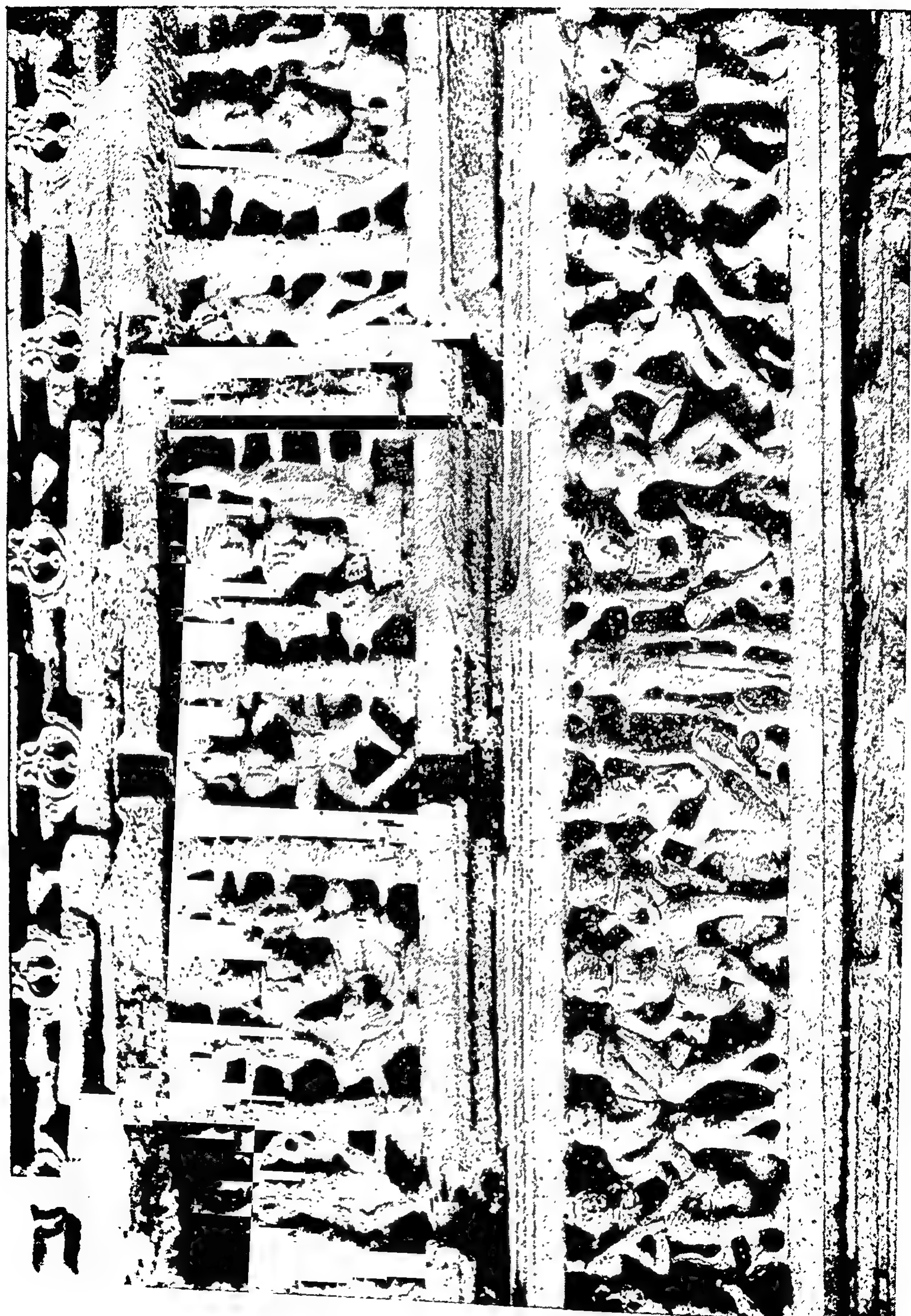
14 B. Bhattacharyya: Indian Buddhist Iconography, p. 185, also Foucher: E'tude Sur l' Iconographic Bouddhique de l' Inde, p. 8[illegible].

15. The writer owes this suggestion to the kindness of Dr. J. N. Banerjee, M. A., Ph. D., Lecturer, Calcutta University, who has drawn his attention to this current etymology of Tara. We should also note that Jangulika came to mean poison-curer in general in later [illegible]. See, Amarakosa, Patalavarga. II.

16. Cf. Tara [illegible] Bhagavati Gauriti Saivagame
[illegible] Padmavati visruta.
[illegible] Samkhyayne
[illegible] samastam tvaya. 19.
Ms. No. [illegible] Collection; cf. also,
Tara [illegible] Bhagavati Devi ca Padmavati 27.
[illegible] Padmavati-kalpa, p. 2[illegible].

17. B. Bhattacharyya: Indian Buddhist Iconography, p. [illegible] VIII, c.

18. [illegible] Bhattacharyya: Jaina Iconography, pp. [illegible] & 32.



numerous. It is not unlikely too, that apart from the conception of padmāvati, Jānguli had an important place in Jaina mythology. A ms. dated sam. 1546 i. e., 1489 A. D. from Jaisalmere mentions,[19] her name as a Snake-goddess[20] Buddhist Tantricism came to have any perceptible influence on Indian mind not before the 8th cent. of the Christian era. On the evidence of Tāranātha on which the above conclusion is based, it was the 7th and the 8th centuries which saw the emergence of Tantricism in India specially in eastern parts thereof, notably Bengal. Tantricism which is characterised by the worship of female energy is further said to have been diffused through such cults as Sahaja-Yāna which found its first exponent in Lakṣmi devi, daughter of Indrabhūti, who, according to a Tibetan tradition, flourished about the eighth cent.[21] A. D. The feminine spirits as the prefiding deity over the snakes is the product of this Tantricism and her form as conceived in Buddhist retualistic texts had not altogether ailed to leave its mark on the other Indian religious sects. The text referred to above is said to have been composed in Sam. 1352 or 1295 A. D. by Jinaprapha Sūri.[22] Thus it is clear that as early as the 13th cent. A. D. and most certainly a few centuries earlier the Buddhist Serpent goddess Janguli was also familiar to the Jaina writers although as a distinct goddess in any definite iconic form she was not known to the latter. The form of Jāṅgulī as a deity appearing along with the central figure of Khadiravani Tārā is best illustrated in a miniature painting on a 9th cent. ms. of Pañcavimsatisāhasrikā Prajnāpāramitā preserved in the Museum and Picture Gallery, Baroda. The figure of Jāngulī on the right is two-handed and has a canopy of five hoods of a serpent with a halo at the back. The left hand holds a serpent while the right hand seems to hold a vajra. Her seat appears to be a coiled serpent.[23] What, however, is the iconographic form of Jānguli in Jainism is not very clear either in the texts or in any extant image thereof.

We may also draw the attention of scholars to the fact that the conception of Padmā or Visahari is being accompanied by Eight principal Nāgas, regarded as her sons, as given in the Padmāpurana of Vijaya Gupta as also the Bhavisya Purāna[24] has found an exaet counterpart in the conception of Suklā Kurukullā, a Goddess emanating from Dhyāni Buddha Amitābha, who has been described as being attended on by the Eight Nagas, Ananta, Vāsuki, Taksaka, Kārbotaka, Padmā, Mahāpadma, Sankhapāla and and Kulika, each having a distinct colour

19. Compare the ms. in the Buddreedass Temple Collection.
20. Cf. Durdantasabdikammanyadarpasarpaika-Janguli.
Nityam jagarti Jihvagre visesavidusamiyam. 2.
21. For a detailed discussion, see, Indian Buddhist Iconography, introduction, p. XXVI.
22. Cf. Paksesu sakti shashibhrnmita-vikramalde dhatryankite Kalatitham puri yoginiam
Katantrabibhrama iha vyatanista tikamapraudhadhirapi Jinaprabhasuriretam
23. See, the ms exhibited at the Picture Gallery, Baroda State Museum, Baroda.
24. Cf. Astanagasahita ma esa Padmavati-Padmapurana (3rd Ed by Pearymohan Dasgupta), p 2; and Vandeham sastanagamurukucayugalam, yoginim kamarupam - Bhavisya Puraṇa

of its own.[25] The names of these Eight Nāgas tally[26] exactly with the names given in the Tithitatva of Raghunandana.[27] The names of the Eight Nāgas also tally with those given X, 14 of Bhairava-Padmāvatikalpa. The inconographic descriptions of these Eight Nāgas are given as follows in X. 15-16 of the said Bhairava Padmāvatikalpa of Mallisena[28] Vasuki and Sankha, born of ksatriya clan are of red colour, Kārkola and Padmā born of Sudra clan are black, Ananta and Kulika of the Brahmin clan possess white colour like the moon-stone, and Taksaka and Mahapadma of the Vaisya clan have yellow colour. In fact, the mutual influence of the Buddhist Kurukullā and Jaina Padmavati is very prominent as the Bhairava-Padmavati-kalpa itself mentions Kurukallā in X.41.[29]

We may, however, discuss here as to whether these Nagas are really noth'ng other than water-symbols as has been supposed by Coomaraswamy. No doubt the names of some of these so-called Nagas, go to strengthen the above view, yet it is very significant that Padma as the Goddess of Wealth and Prosperity, being identical with the deity known as Sri, most naturally had the ādhāra or constituent elements in the accepted eight kinds of treasures or nidhis in the shape of Padma, Mahapadma, Makara, Kacchapa, Mukunda, Nila, Nanda and Sankha. It also stands to reason to suppose that the nidhis came to be identified with serpents because of the fact that the principal kinds of snakes had each a special variety of jewel on its hood, and that the snakes being residents of the neither regions were aptly considered the carriers of them from out of waters, the ocean or ratnakara as it is signaficantly known.[30] The transformation thus of the wealth Goddess Laksmi into Padma, the serpent goddess entailed as a necessary change, of the eight kinds of treasures into the eight kinds of Nagas or serpents, and we know Goddess Laksmi was born out of the

---

25 Indian Buddhist Iconography, p. 56.

26 A slight difference in the names of the Eight Nagas, is however, to be noticed in the [illegible]-Padmavati-kalpa, IV, 49 cf.

[illegible] syu tanantavasukinau
[illegible]-Kamala-Mahakamala-Sankha-Kulijayastadadhah.

27 [illegible] p. 135.

28 [illegible] article on the date of the Bhairava-Padmavati-kalpa in the [illegible], Vol. XI, No. 4. The date according to the calculations made therein [illegible] with other works of Mallisena, who was a Digambara Jain [illegible] in the second quarter of the 11th cent. A. D.

29 [illegible]-Padmavati-Kalpa, X, 41.

30 [illegible] Laksmi [illegible]
[illegible]
[illegible] Makara-Kacchapau
[illegible] Sankhasca vastama nidhih
[illegible] quoting from [illegible]
[illegible] The Development of Hindu Iconography, p. 116 fn. 1.

ocean, the abode of both the nidhis or treasures and the serpents.

As a serpent Goddess Padmavati is perhaps the most popular figure in the Jaina pantheon. From a study of the general description and the list of the boons conferred by her, one can easily recognise in her the most homely of Jaina Goddesses. Even at a stage of development of her personality into an independent deity from the status of the sasanadevi of Parsvanatha, we are constantly reminded of the fact of her origin, although a study of the numerous stotras in her honour and the elaborate system of ritual that had grown up round her worship as also the varied objects prayed for and apparently she was capable of bestowing on the devotee, leaves but little doubt about the important position as an independent and influential goddess, she had risen to occupy in the Jaina pantheon.

In order to make a study of the iconography of Padmavati or any other god or goddess it is imperative to make an investigation about her affiliation to any of the Highest Divine of the mythology concerned. In is interesting, however, that in the case of Padmavati, she has been most systematically affiliated to one or other of the Higher Divinitis either in Brahmanism, Budhism or in Jainism. Not only that, there is ideological similarity among all these Higher Divinities to whom the serpent goddess is affiliated in all the three principal religious systems of India. We have already discussed to some extent the connection of Janguli and Sukla Kurukulla with Aksobhya and Amitabha whose emanations they are taken to be and are often repesented in art as bearing their effigies on the aureole behind or on the crest. (Reference may also be made in this connection to an inscription of the 2nd cent. B. C. which mentions an apsaras Padmavati as being in attendance on the Buddha after his enlightenment. The inscription was found on one of the Bharhut gateways in Central India. The name Padmavati, further, as that of the capital cities of Naga kings who flourished in the 3rd cent. A.D., is also significant. It is mentioned in the Vishnu Purana and the entire scene of the play Mālatimādhava by Bhavabhuti is laid in that city.[31]) The connection of the eight Nāgas as attendants on Amitabha, the Dhyāni Buddha for Shuklā Kurukullā, is also to be compared with the conception according to which Padmavati is attended on by the same Eight Nagas, both according to the Brahmanic and the Jaina mythology.[32] In the Padmapurana, cited above, whose date according to data given in the text itself falls sometime in the latter half of the 15th cent. A.D.[33] says that Padmavati was

31. The site of Padmavati by M. B. Garde, A. S. I., Ann. Rep. 1915-16, pp. 104-5.

32. See, ante; also, Padmapurana, p. 2 and Bhavisya Purana, also Bhairava-Padmavatikalpa, X, 14

33. Cf. Rtu-sunya-veda-shashi-parimita shak
Sulatan Hosen saha nrpatitilak.
-Padmapurana, p. 4

The date however, is disputed Another ms. of the same text has : 'Rtusasivedasasi... ' which gives a date 1416 Sak. (1494 A. D.) as opposed to 1406 Sak. (1484 A. D.) given in the verse quoted above.

of its own.[25] The names of these Eight Nāgas tally[26] exactly with the names given in the Tithitatva of Raghunandana.[27] The names of the Eight Nāgas also tally with those given X, 14 of Bhairava-Padmāvatikalpa. The inconographic descriptions of these Eight Nāgas are given as follows in X. 15-16 of the said Bhairava Padmāvatikalpa of Mallisena[28] Vasuki and Sankha, born of ksatriya clan are of red colour, Kārkola and Padmā born of Sudra clan are black, Ananta and Kulika of the Brahmin clan possess white colour like the moon-stone, and Taksaka and Mahapadma of the Vaisya clan have yellow colour. In fact, the mutual influence of the Buddhist Kurukullā and Jaina Padmavati is very prominent as the Bhairava-Padmavatikalpa itself mentions Kurukallā in X.41.[29]

We may, however, discuss here as to whether these Nagas are really nothing other than water-symbols as has been supposed by Coomaraswamy. No doubt the names of some of these so-called Nagas, go to strengthen the above view, yet it is very significant that Padma as the Goddess of Wealth and Prosperity, being identical with the deity known as Sri, most naturally had the ādhāra or constituent elements in the accepted eight kinds of treasures or nidhis in the shape of Padma, Mahapadma, Makara, Kacchapa, Mukunda, Nila, Nanda and Sankha. It also stands to reason to suppose that the nidhis came to be identified with serpents because of the fact that the principal kinds of snakes had each a special variety of jewel on its hood, and that the snakes being residents of the neither regions were aptly considered the carriers of them from out of waters, the ocean or ratnakara as it is signaficantly known.[30] The transformation thus of the wealth Goddess Laksmi into Padma, the serpent goddess entailed as a necessary change, of the eight kinds of treasures into the eight kinds of Nagas or serpents, and we know Goddess Laksmi was born out of the

emanations of the respective Tirthankaras seem to be a later development in Jaina mythology. These were originally the principal converts, male and female, who as zealous defenders of the faith were to be associated with each Tirthankara with whom some mythological stories or legends are related to connect them. The Pravacanasāroddhāra telling of the character of a Yaksa only lays down that they are none but sincere adherents to the faith. The Pratisṭhā kalpa says that a sāsanadevatā is one that upholds the knowledge preached by the Jina.[37] The Ācāradinakara of Vardhamāna Sūri characterises Yaksas as those that maintained and guarded the Srī Sangha of the Jainas.[38] We may draw attention to the Gaṇadhara-cult in Jainism. With somewhat similar, if not the same, zeal Gaṇadharas, the main converts to the faith and the principal disciples, are offered worship and much in the same way as the Sāsanadevās represented in art. Thus Gautama, the Gaṇadhara of Mahāvīra is offered worship in connection with the worship of Pārsvanātha and Padmāvati.[39]

A Yaksa, however, came to be regarded as an emanation of the particular Tīrthankara to whom one was attached as his Sāsandeva. By about the 11th cent. A. D. this was firmly established as we find in the Nirvānakalikā of Padalipta Sūri mention of the Yaksas as emanations of the Tīrthankaras.[40] It is however to be borne in mind that the name Yaksa as originally used in connection with the sāsandevatās of the Tīrthankaras, came gradually to signify a higher status than its more commonplace use does. We may refer here to the kāya-theory of the Buddhists who adopting the principle of the Tri-kāya suppose that each Buddha has a three-fold kāya or body is aspect In virtue of these 'aspects' or natures there are three distinct manifestations or existences of each Buddha on earth, in Nirvāna and in the heavens respectively. These aspects are 'Nirmāna-kāya' or 'the body of Transformation' which is according to some scholors a 'magical' body or an illusion,[41] Dharmā kāya or 'state or body of essential purity', and Sambhoga-kāya or 'body of supreme Happiness'. These three states of exis-

The 'Pannagadhipa' referred to in the above verse may as well and more consistently refer to Parsvanatha who is primarily the deity of Serpents (Pannaga). This is also in consonance with the numerous representations of the serpent-goddess Padmavati shown with effigy of parsvanatha on the crest or on the aureole. On the other hand no image or painting of Padmavati is found with Dharanendra shown on the crest or the aureole.

37. Cf. Ya patusasanam Jainam sadyah pratyuhanasini ...... bhuyat sasanadevata
- quoted in Jaina Iconography, p 92.

38. Cf. Ye kevale suragane milite Jinagre Srisamgharaksanavica-ksanatam vidadhyuh.
Yaksasta eva paramarddhivivrddhibhaja ayantu santahrdaya Jina-pujanetra.
- Acaradinakara, p. 173.

39. Cf. Om Hrim aim sri-Gautamaganarajaya svaha.
- Bhairava-Padmavati-kalpa, App. VIII, p. 56

40. Nirvanakalika (Ed. 67 M. B. Zaveri), p, 34

41. M, de la vallee Paussin: The Three Bobies of a Buddha (J. R. A. S. G E. I , October, 1905)

tence are characterised by practical Bodhi, essential Bodhi and reflected Bodhi, respectively. And this kāya-theory is responsible for regarding the Mānushī-Buddha as an emanation from the Dhyani-Buddha. For the Dhyani-Buddha as an embodiment of the absolute purity manifests his earthy form in the Mānushi-Buddha, the mortal manifestation of the immortal abstraction. The necessity for this manifestation lay in the fact of the Mānushi-Buddha as the mortal ascetic preaching the Law on earth and helping its preservation in that way,[42] Although there is great difference in the fundamentals of the two theories of emanation as obtained in Buddhism, put forth above and as in Jainism, as implied in the concept of the Śā[illegible]andevas, the function of the preaching, or more properly of the preservation, of the Law is generally attributed to the forms emanating, in both. And although this common attribute was there, the difference, nevertheless, was very much conspicuous, as also was it inevitable because of the fact that in the Buddhist the divine mystic element was predominant while in the Jaina it is the human. Consequently what we easily find [illegible] transformation in the case of Buddhism in the Jaina it is merely a [illegible] put on earthly persons, [illegible] him just adorable as a Servant of the Faith. Moreover, a Yaksa or a Yaksini as was the name obtainable with regard to the Sāsanadevatas, was quite different from the Yaksa of usual significance and application. In fact, a Yaksa or a Yaksini originally attached as such to a Tīrthankara came to be attended on by other Yaksas and Yaksiṇīs, where in the latter application the term seems to have retained its usual sense of a demi-god.[43] Thus we find in the growth of Jaina mythology, Padmāvatī was in the first stage a śāsanadevatā attached to the 23rd Tīrthankara, Pārsvanātha,[44] but afterwards raised to the status of an independent deity who received worship as a serpent goddess curing snake bites as also as a deity to be invoked for such purposes as māraṇa, uccāṭana, vaśīkaraṇa etc.

The iconographic details of Padmāvatī are vide and varied. The Padmāvatī-stotram of an anonymous writer conceives her as the Ādimāyā or the Primordial Power, the Ādi Śakti. She is also identified with almost all the important goddesses in Jaina mythology. In other words, Padmāvatī has been conceived of as the Primordial Power, the source and fountain-head of all the different powers or Presiding deities represented as so many goddesses in the hierarchy of the Jaina pantheon.

Jaina Art of Mathura

By

Dr. V. S. Agrawal

Mathura was an ancient centre of Jainism, like the Brahmanas and the Buddhists the Jainas also made it the seat of their religion. It appears that the Jaina community at Mathura was rich and influential as shown by the magnificent monuments left behind by them. Indeed the Jainas have maintained their holy traditions at Mathura upto this day.

The excavations at Kaṅkālī Tīā yielded a number of sculptures and architectural pieces, which once belonged to the two Stūpas at the site. A very early Jaina Stūpa existed at Mathura which as we know from the inscriptions was called Devanirmīta Stupa (Epigraphia Indica, Vol. II, 20) may probably be assigned to the 3rd century B. C. An image of Arhat Nandyavarta was installed in this Stupa in the year 89(A.D.167) The word Devanirmit points to an extremely early tradition attributing the Stūpa to a divine origin. It probably confirms the belief that the original Stūpa was made of gold and precious gems which was later on encased by larger Stūpas of bricks and stone. The brilliant description of the Vimana of Suryabhadeva in the Rayapaseniya Sutta has recorded the tradition of an archetypal devanirmita Stūpa. Taranath records a tradition that the Mauryan monuments were believed to be the works of the Yaksas and that the art monuments of the preceding age were the works of the Devas. Although there is a mythical element in this description it does give some indication of the high antiquity of the original Jaina Stupa. According to Jinaprabha Suri it was believed that the ancient Stupa was erected by Kubera yaksi in honour of the seventh pontiff Supārśva. At a later date the first Stupa was encased in bricks in the time of the twenty-third Tirthankara Parsvanatha. Thirteen hundred years after Mahavira Bappabhatta Suri organised a restoration of the older Stupa which seems to be confirmed by the post-Gupta and Gupta sculpturs found here. It appears that there were more than one restorations. The original Stupa probably a small one was a mound of earth which concealed a miniature Stupa of gold and gems. Later on, as the tradition says it was converted into a brick Stupa. In the third stage the same was transformed into a stone Stupa together with the addition of a large stones railing and gateways with a good deal of carving to give it the form of a lotusrailing, Padmavaravedikā, as described above on the basis of the actual art specimens and the description in the Rayapaseniya Sutta.

We are informed of an interesting fact by the Vyavaharasutra bhashya that the Buddhist wanted to encroach upon the Jaina Stupa claiming it as their own

but after six months of quarrel the king gave a decision in the favour of the Jaina Samgha. The fact seems to be that quite in proximity of the Jaina Stupa almost across the road the Buddhists also built a Stupa of their own at the site now called Bhutesvara where a large number of Buddhist railing pillars have been found. Since in the earlier Jaina Stupa which was intact at that time there were no images to show its religious affiliation, as we have seen above in the description of the Padmavaravedika, the Buddhists laid claim to its possession but were thwarted in their attempt by royal intervention. In persuance of the art movement during the Kushana period the Jaina comunity, however seems to have decided to build word Āyāga is from Skt. Āryaka, meaning worshipful and is the same as in āyakakhambha of the Nagarjunikonda Stūpa. These slabs were installed round the Stūpa to receive offerings and worship somewhat corresponding to the platforms for flower-offering known as pupphādhāna (Mahāvaṃsa 30.51,56) or Pushpagrahnī vedikā (Saddharma pundarika, 239.3). Āyāgapata No J 555 (Smith Jaina Stūpa, pl. XX) actually illustrates their position round the Stūpa where worshippers are offering flowers heaped on these platforms. Sixteen of them were installed round a stūpa four in each direction as can be gathered from the Mathura figure. In the Nārāyana Vātaka inscription from Gosundī there is mention of Pūjasilā which corresponds to an āyāgapata.

based entirely on the conception of symbols. It is a Cakrapaṭṭa showing a sixteen spoke cakra in the centre surrounded by three bands; the first one showing sixteen triratna symbols, second one eight maidens of space (ashṭadik-kumārikā) floating in the air and offering garlands, and lotuses and the third showing a coiled heavy garland, and in the four corners supported by atlantes, figures of triratnas (mahoraga) round a square forming in which on the four sides were shown four religious symbols like srivatsa, triratna etc. each worshipped by a pair of human figures, male and female having wings and hind parts of lions.

The next stage is shown by another āyāgapaṭa known as Svastikapatta (pkt. Sotthiyapaṭṭa) so called owing to the presence of a conspicuous svastika motif disposed round the figure of a seated Tīrthaṇkara under a chatra in the central medallion encircled by four triratna symbols. Inside the four arms of the svastika again are auspicious symbols, viz. mīna-mithuna (pair of fish) vaijayantī (tringle-headed-standars), svastika and srīvatsa. In the outer circular band are depicted four auspicious symbols, viz. bodhi tree in railing, Stūpa, a defaced object and a Tīrthaṇkara being worshipped by 16 Vidyadhara couples. In the four corners are mahoraga figures in atlantic attitude, one side of the outer square frame has been widened to find place for a row of eight auspicious signs a svastika, a fish, a srivatsa. The cakrapaṭṭa and svastikapaṭṭa were also carved in the Buddhist art at Amaravatī. The former mentioned in a pillar inscription (chakrapata, No. 1253 Luder's list) and the latter (sothikapaṭa) in inscription No. 1287 of Amaravati (Luder's list). A third kind of āyāgapaṭas were named as chaityapaṭas of which two specimens have been found among Mathura āyāgapaṭas; No. J. 255 in the Lucknow museum showing a Stūpa with sopāna toraṇa vedikā, two side pillars śālabhanjikā figures and an elongated Stūpa or chaitya after which the name was derived. Strangely enough we also have a Buddhist chaitya slab cetiyapaṭa at Amravatī (Luder's List Insc. no. 1225) which records the gift of two Chaitya slabs as at Mathura.

The other caityapatta from Mathura in No Q.2 in the Mathura museum of which the exact place of origin is not certain but which was installed in a Devakula of Nirgrantha Arhats and hence in all probability belonged to the Jaina sanctuality of Kaṇkālīlā. On this slab (height 2′ 4″, width 1′9¾″) is carved a Stūpa of Chaitya surrounded by a railing and an ornamented gateway approached by means of the flight of steps. The Stupa is flanked by two pillars, the one topped by a wheel (cakradhvaja) and the other by the sejant lion (simhadhvaja). On each side of the Stūpa are two flying naked munis, two śālbhanjikā figures. On each side of the stair-case is an arched niche containing a human figure representing the male and female donors. It may thus appear that the artists at Amaravati were indebted to Mathura which supplied them the prototype of these slabs.

From the point of view of art highest the art of place is taken by the

"O Arhan ! you are equipped with the arrow of [illegible]swarupa, the law of teaching and the ornaments of the four infinite qualities. O Arhan ! you have attained the omniscient knowledge in which the entire universe is reflected. O Arhan ! you are protecting all the Jeevas in the world. O ! the destroyer of kama (Lust) ! There is no strong power equal to you."

—Yajur Veda, Chapter 19, Mantra 14

The Tīrthankara images are distinguised by the Sṛīvatsa symbol in the centre of the chest and haloes round their head except where there is a canopy of Nāga hoods. On the pedestals we see either a chakra either a alone or placed on pillar or a seated Jina or a lion figure, In some cases the name of the Tīrthankara is mentioned e. g. pedestal No 490 stating it to be Vardhamāna pratimā dated in the year 84 of Kushāṇa era. It should be noted that the śṛīvatsa symbol is found only on Jaina images and never on Buddha images. The Jainas had adopted quite early the śṛīvatsa as their distinctive sign as we find it in the beginning of the Hathigumpha inscription of Khārvela. In seated Tīrthankara figure we find only one mudrā, viz. dhyana mudra.

The Jaina community of Mathura was interested in particular kind of vyūha worship as shown by a number of conjoint fourfold images pratimā sarvatobhadrikā (inscriptions, Smith, p. 46–7) the four pontiffs selected for this purpose being Rishabhanātha the first, Supārsva the Seventh with a canopy of serpent hoods, Parsvanātha the twenty-third and Mahāvīra the twenty-fourth Tīrthankara.

"By truth the winds of heaven blow and the sun shines. Truth is excellent, on it depends every thing, wherefore truth is said to be most exalted."

—**Taitarya-ranyak**

The Image of Heaven in the Ceilings of the Adinatha Temple at Ranakpur

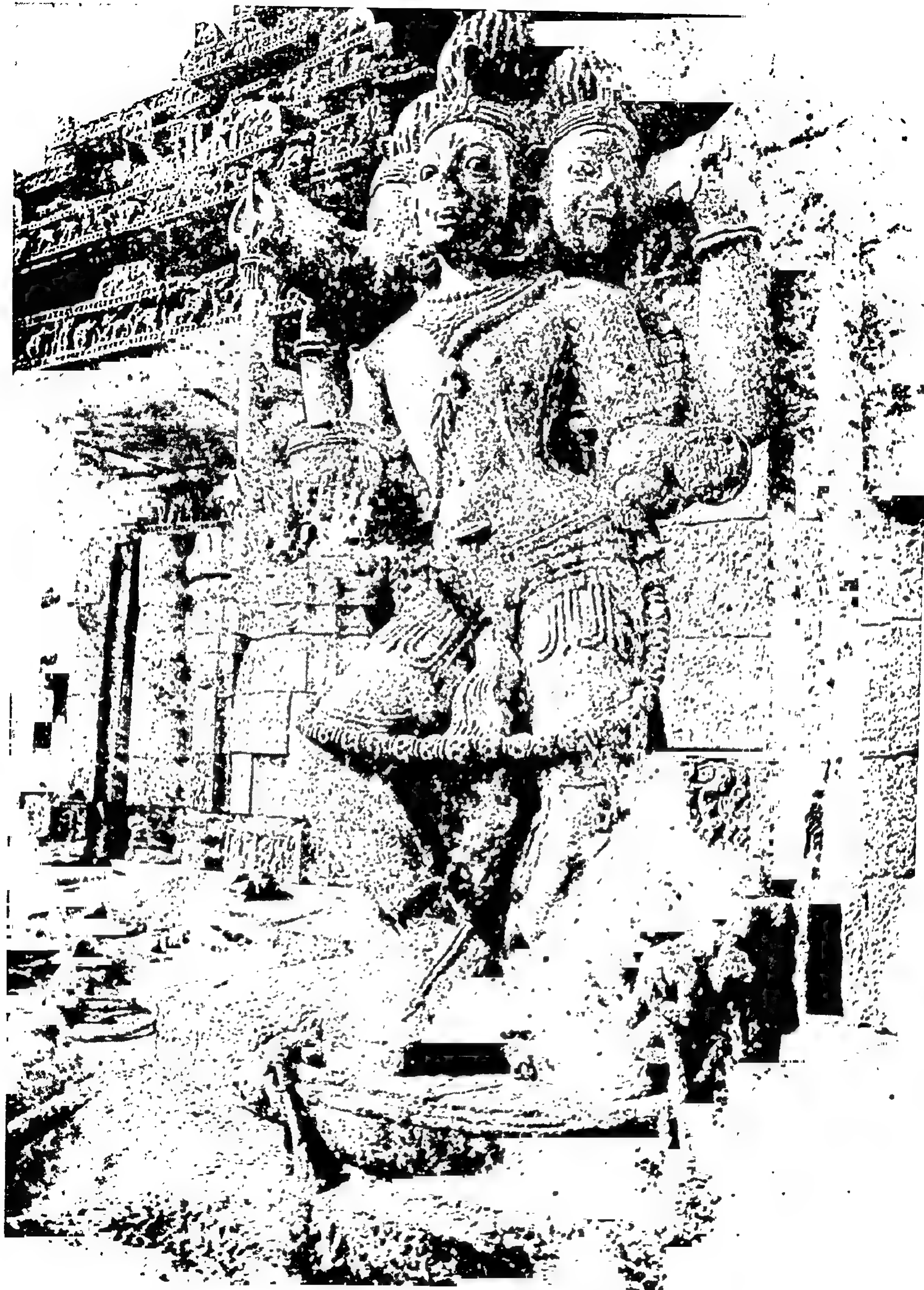
By

Dr. Klans Fisher, Bonn

Shri Chhotelal Jain extended his generous help which during the past decades had enjoyed so many foreign Orientalists to my archeological research when I came to Calcutta in 1952. The last time I met him at the International Conference on Asian Archeology—Delhi 1961—and as usually he assisted me in my studies of Jaina temples. Due to the fact that after my travels my address was known neither to him or to his friends the kind invitation to contribute to his Felicitation Volume reached me one week before the dead-line of supplying the manuscripts. Lest I might not fail to express my reverence I ask him to accept these few lines. They deal with a type of monuments that I visited in Central and Northwest India well provided with letters of introduction by Shri Chhotelal to the Jaina Communities of these regions. As an example I have chosen the Chaumukh temple of Ādinātha at Ranakpur: earlier references to this outstanding building were collected by the scholar himself whose birthday we are celebrating whilst new remarks and illustrations are frequently appearing in books on Indian art[1]).

Students of comparative art history interpreting the "iconology of architecture"—i.e. the social, philosophic and religious, basically cosmic meaning of building types as well as of construction forms—throughout Eurasia have realized the special importance of Indian secular or sacral wooden structures, caves, rock sanctuaries and brick or stone built temples[2]. The house not only means, but is the Universe, and the temple represents an imitation of both house and Universe, rites performed during the erection of houses or sanctuaries repeat the creation of the world, indicate the centre of the world[3] and convey happiness to all human beings. In order to propitiate supernatural forces and to secure their power to human activities, Indian architects conceived temples of the Hindus, Buddhists and Jainas as of symbols the

1. Ch L. Jain: Jaina Bibliography, Calcutta 1945, 60, 118, 119. - T. N. Ramachandran, Jaina monuments and places of first class importance, Calcutta 1944, 14 P. Brown: Indian architecture I, 31956. 165, Pl. 120 Fig. 2. Pl. 123 K. Fischer: Caves and temples of the Jains, Aliganj 1956, 15-17 and 5 Pl. in the appendix. J. M. Nanvati & M. A. Dhaky: The ceilings in the temples of Gujarat, Baroda 1963, 31, 48 (n. 22 ref. to A. P. Shah, Ranakpur -ni pancatirthi).
2. H. Sedlmayr: Epochen und Werke, Wien 1960, 211 in the chapter "Architektur als abildende Kunst".
3. M. Eliade: Centre du monde, temple, maison in: Le Symbolisme cosmique des monuments religieux, Rome Oriental Series 14, 1957, 67.



Martanda Bhairava, Konarak, 13th Century A. D.

believed like the still earlier ancients of Kālidāsa's times and like lovers of art of all times that Nāṭya was the sole kalā that could entertain one and all :

> Nāṭyam bhinnarucer-janasya
> bahudhāp-yekam samārādhakam

Hindu Brahmanical architecture opened in the early Gupta period beginning with a series of archaic, simple, flat-roofed temples without śikhara or pinnacle as we find at Tigowa, Eran, Garhwa, Nacknakutar and Bhumra. The Hindu temples of North India culminate in a little shrine dedicated to Śiva set up at Deogarh (District Jhansi) in the 6th century A.D. But the Hindu temples achieved their fullest fullfilment in the series of Rekhā-Deuls which are rectilinear in shape, with āmalaka crowns, known as the Nāgara style which developed in Orissa, at Bhuvanesvar, Konarak and Puri, raised by the devotion of Kesari, Gajapati and Chodaganga dynasties. This school has hundreds of monuments ranging over 6 centuries. The masterpieces of the Orissan or Kalinga school are best illustrated by the Lingarāja temple at Bhuvanesvar (about 1000 A. D.) and the world famous Sun temple (The Black Pagoda) at Konarak (1264 A. D.), surviving in the ruin of the main vimāna with a sloping roof in three stages decorated with large sized monumental sculptures of epic grandeur, softened with lyrical forms of exquisite refinement.

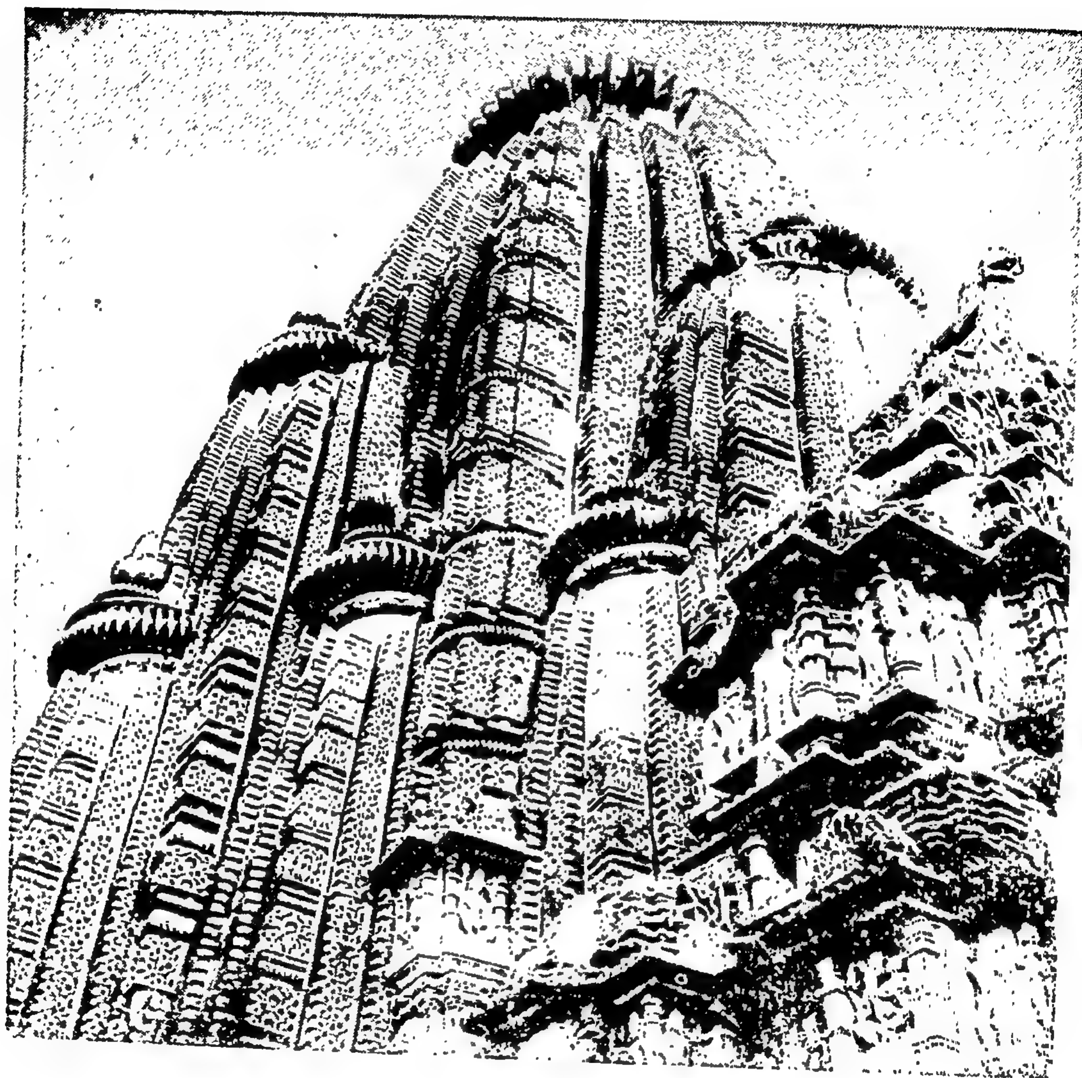
Khajuraho—The next development of the Nāgara style is a series of new forms set up at Khajuraho, in the old Chandella capital of Bundelkhand. Erected a little after 850 A.D. and extending beyond 1100 A.D. and almost contemporary with the Orissan group the Khajuraho series culminate in the masterpiece of the Kandarya (Skandarya) Mahadeva temple (116 ft. high) towering above a series of about 30 shrines of different sizes. The Khajuraho temples achieved their monumental beauty by a clever emphasising of the vertical lines by the repetitions of the replicas of the tower-forms round the principal tower (vimāna). The temples of Khajuraho are built of a fine grained sandstone from the quarries of Panna and relate to a cognate style. Though the temples belong to Śaiva, Vaishṇava and Jaina sects, the *architectural and sculptural* schemes are so homogeneous except for a few cult images, that it is difficult to distinguish a Vaishṇava temple from a Śaiva one or a Saiva one from a Jaina temple. The temples which are lofty and compect, without an enclosure wall, are erected on a high jagati or plateform-terrace which affords the structure necessary elevation from its environment and an open circumambulation path for going round the temple. The various parts of the temple are inter-connected internally as well as externally being planned in one axis and run east-west. The ardha-maṇḍapa, maṇḍapa, antarāla and garbha-gṛiha are the essential elements of the plan. In the larger temples, the maṇdapa is turned into a mahā-maṇdapa by adding lateral transepts, with balconied windows to the maṇdapa. The mahā-maṇdapa is a hypostyle hall of great height and size, closed except for the balconied windows. The ardha-maṇdapa and maṇdapa are low hypostyle compartments, open on three sides. The larger temples have also

an inner ambulatory around the sanctum and to this is added another pair of lateral transepts going the axis. The larger temples (sandhara) resemble in plan a Latin cross with two principal arms, while the nirandhara temples show one cross-arm. In some of the larger temples we have a subsidiary shrine at the rear of each of the four corners of the jagati, and this feature makes the structure a complete panchāyatana. Like the plan, the elevation of these temples presents distinctive features such as a lofty jagati-terrace, a high adhiṣṭhāna or basement-storey consisting of ornamental mouldings presenting a fine relief for light and shade. Over this base is the wall portion of the temple (jangha) which consists of walls alternating with voids or aisles of inner compartments. Above the central zone rises the roof in a series of graded peaks resembling a mountain (the Kailāsa or Meru) with which an Indian temple is compared. These peaks arrayed along the [illegible] line, rise and fall alternately, yet maintain their upward ascent and culminate in the tallest sikhara springing directly over the garbha-griha. The [illegible] restless upward movement of the [illegible] and masses of the entire [illegible] the progressive ascent and [illegible] of the superstructures con[illegible] to the [illegible] pinnacle lend a [illegible] quality and rhythm to the [illegible] temples.

[illegible] extend up[illegible] or neck-course [illegible] by a large [illegible] [illegible] a [illegible] Vijapu[illegible] The [illegible] of the [illegible]

kas, one large and the other small, on the pinnacle of the sikhara constitute the peculuarities of the Central Indian temple style as the Khajuraho temples exhibit.

Coming to the interior plan, the ardha-mandapa or the entrance porch is entered through an ornate makara-torana (e. g., Lakshmana, Kandariya-Mahadeva and Javari temples). The ardha-maṇḍapa and maṇḍapa which lead into the mahā-maṇḍapa are open on three sides and enclosed by sloping balustrades (Kakshāsana), while their roof is carried on dwarf-pillars and balustrades. In the larger temples, the mahā-maṇḍapa which is a closed hall shows in the centre four tall pillars carrying square framework of architraves which is first turned into an octagon and then into a circle enclosing a ceiling of concentric courses. The mahā-maṇḍapa and the garbha-griha are connected by the antarāla or vestibule. The ornate doorway of the garbha-griha is entered through one or more moon-stones (Chandrasilā) found on the vestibule. The interior shows an exuberance of the decorative details and sculptural wealth on the door ways, pillars, architraves and ceilings. The cusped and coffered ceilings, repesenting intricate geometrical and floral desings, the latter *frequently showing* prominent staminal tubes, exhibit an uncommon skill and ingenuity. These designs consist of kola and gajatālu courses, based essentially on the patterns of shell-cusps with ribs and intersecting circles. Even more remarkable than the ornate ceiling are the bracket-figures of apsarases and śālabhañjikās, tenoned into the bhūta-brackets or the ceiling-girders, which, with their [illegible]



Tower at Khajuraho in Madhya Pradesh

modelling, charming postures and exquisite finish, constitute masterpieces of medieval sculpture. Like the exterior, the interior also emphasises the vertical aspiration. Imposing flights of steps lead to the jagati terrace, then to the ardha-maṇḍapa and thence to the maha-maṇḍapa and antarāla, each having successively higher floors. The garbha-griha is at the highest level and is approached through a series of chandrasiḷās, from the antarāle. Thus an individual feature that the Khajuraho temples present is that the garbha-griha is saptaratha on plan and in elevation. The cubical portion below the sikhara is divided into seven segments (saptāṅga-bada) showing two series of mouldings of the adhiṣṭhāna and three sculptured registers on the jangha. Numerous projections and recesses of the elevation follow the indentations of the plan, produce a contrast of light and shade, converge to the final unity of the sikhara and intensify the vertical aspiration of the monument. Rhythmic accentuation is the keynote of the Khajuraho temple and this is further characterised by a harmonious integration of sculpture with architecture. With an enormous array of lovely sculptured forms ever present. the texture of the Khajuraho temple vibrates with a rare exuberance of human warmth, which is unparalleled in any other art.

Saptaratha sanctum with sapatāṅga-bada marks highest development of Indian architectural design. How does the Khajuraho temple differ from the temples of Orissa, Rajasthan, Gujarat and Kathiawad ? The temple of Orissa generally has a pancharatha sanctum with panchāṅga-bada. The temple of Rajasthan and Gujarat and Kathiawad has also Pancha-ratha sanctum with normal tryanga-bada. In plan, design and composition, the temple of Orissa considerably differs from the Khajuraho one. In Orissa, the sikhara shows a characteristic vertical outline, without being encumbered by subsidiary towers and with a pronounced curve only near the top. The Orissan temple maṇḍapa is astylar with plain and gloomy interior in contrast to the hypostyle, well-lighted hall of Khajuraho. In the developed Orissan temple as in Puari, Bhuvanesvar and Konarak, the four principal parts, sanctum, mandapa and two separate ancillary halls, known as Rekha-deul, Jagmohana, Nata-mandapa and Bhoga mandapa respectively are disposed axially and combinedly become long and inorganic in glaring contrast to the compact Khajuraho complex.

The sculptural art of Khajuraho can be best understood by grouping the sculptures under 5 heads —

(1) cult-images in the round which reveal a thin aesthetic vision,

(2) Parivāra, Pārsva and āvarna-devatās and numerous gods and goddesses which occur in niches or against the walls of the temples and are executed in the round or in high or medium relief.

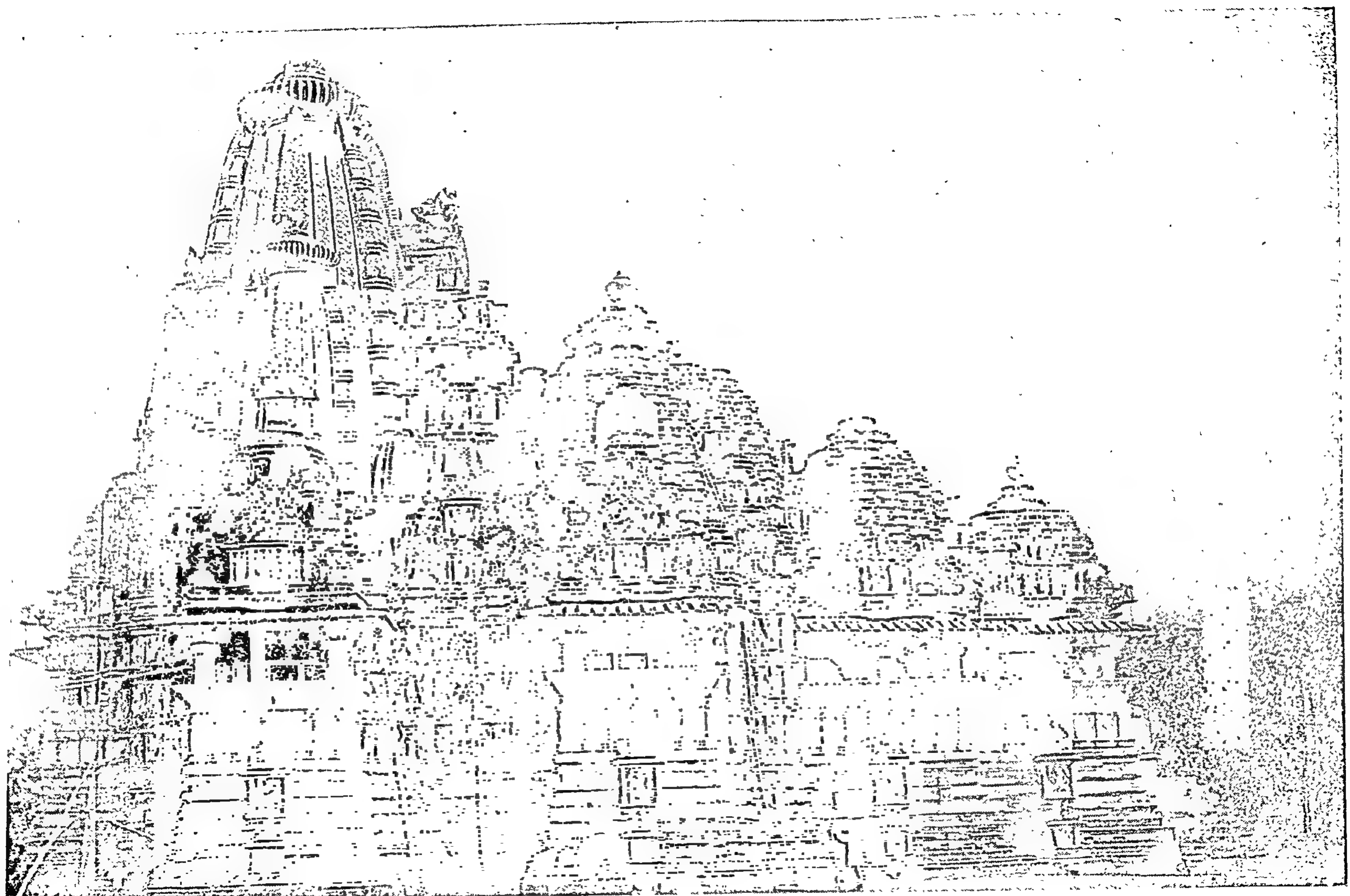
(3) sculptures of apsarases or sura-sundarīs that form the finest of Khajuraho fashioned in the round or in high or medium relief. The apsarases are handsome youthful nymphs of winsome grace and charm decorated with gems and elegant garment. They dance in various postures. They show anjali, carry lot

flower, mirror, water-jar, ornaments etc. as offerings or in ablution or toilet. More often they express common human moods and emotions; sometimes they are shown disrobing, yawning scraching the back, touching the breasts, rinsing water from the hair, removing thorn, fondling a baby, with pet parrots and monkeys, writing a letter, playing on a flute or vīṇā, painting the feet, applying collyrium to the eye, painting designs on the wall or bedecking themselves. Behind the familiar human actions of the apsarases is hidden deeper symbolism, such as the nymph sporting with a hall which recalls to our mind the legend of Vishnu who sported with a ball (Kanduka krīdā) as Mohini and enchanted the asuras with such voluptuous charms as to delude them of their share of immortality (am- [illegible] This motif symbolises the power of [illegible] of beauty in her ego which leads to delusion.

(4) The fourth category relates to secular sculptures depicting domestic scenes, dancers and musicians, teachers and disciples and erotic couples or [illegible]. Some of the erotic couples [illegible] sensitiveness and warmth [illegible] emotion while those of the [illegible] temple reveal rapture which [illegible] from the physical to the [illegible]

it is a happy combination of the sensuousness of the east with the nervous angular modelling of the western idiom. It pulsates with an amazing human vitality. The Khajuraho modelling lacks the flow of Gupta sculpture. The plastic volume is ample and there is a thinning down of the plastic vision. Full-round and modelled form is replaced by sharp edges and pointed angles with undue stress on horizontals, diagonals and verticals. The art of Khajuraho surpasses the medieval school of Orissa in revealing sensuous but hidden many sided charms of the human body. The Khajuraho artist admires the human body from the most fascinating angle giving us profiles, back views and unusual three quarter profils. Khajuraho forms a veritable gallery of beautiful female types, displaying their voluptuous charms in a variety of lovely attitudes with a subtle but purposive sensuous provocation. Coquettishness and frank erotism distinguish the Khajuraho art from other contemporary schools of art.

The Chandella temple style went through the stages of infancy, adolescence, maturity and decline and complete record of such evidence is presented by the temples of Khajuraho. The earlier group, e. g., Lalguan-Mahadeva



Kandarva Mahadeva Temple. Khajuraho.

the elaboration of what is called the Sabhā-maṇḍapa or assembly hall supported by elaborate pillars. A majestic example of this elaboration is the Sun Temple at modhera. This new style attains further development, nay refinement, in the Jaina Dilwara temples of Mount Abu, raised by Vimala Shah (1032 A. D.) and Tejpala (1232 A. D.) In these temples, the tower (sikhara) looses its importance. The beauty of the plans is confined to the interiors, to the ornate porches and halls, supported by fine pillars, strutting brackets and magnificiently designed ceilings which surpass the beauty of Gothic cathedrals. In these temples the very elaborate architectural conception and also sculptural decoration in which marble reaching an amazing degree of perfection have made the interior of the temples a dreamland of elegance with rich figure work on the pillars, corbels, brackets, the dome and the door-jambs and toraṇa-arches.

"We need men who will teach us first how to live. Living quite invariably precedes dying. This also is true that when we once know how to live, and live in accordance with what we know, then the dying as we term it, will in a wonderfully beautiful manner take care of itself."

—Ralph Waldo Trine

There's a magic in forgiveness
Its home is the heart,
And existence must cease,
Ere its power depart.
It calmeth our passions,
And sorrows—then let
Us remember the moto:
"Forgive and Forget !"

Nayanar Temple

By

Jeevabandhu Sripal

This research article is the history of an ancient temple built in Madras in memory of the author of famous Thirukural.

Thiruvalluvar Temple in Mylapore, Madras, is well known to many.

Although the temple is now called Thiruvalluvar temple, about twenty years ago it was known as only 'Nayanar Temple'.

The history has it that since the temple came into existence for centuries it was known as only Nayanar temple. Nayanar means Jina. From ancient times, Jain Munis and Tirthankaras were addressed as Nayanar by the Jains. Illangovadigal, in Silapathikaram, begins the chapter Madurai Kandam with prayers to Arhat. In his commentary on the prayers, Adiyarkku Nallar says that Arhat temple stands for Nayanar temple. Even today it may be seen in Kalugumalai (Eagle Mountain), particulars of Jain Munis are written on stone indicating that they were Nayanars. Stone inscriptions found in Thiruvadikai speak of Jain temple as Nayanar temple.

The details in the stone inscription in the temple of Thiruparithikunram speak of Thirthankaras as Nayanar. The learned Tamil pandits know well that Mylai Nather in his commentary on Nannul grammer introduces, a Jain scholar as Avi Nayanar. In some other very ancient stone inscriptions Jain Tirthankaras and Munis are recorded as Nainar. In particulars in one of the Jain temples in Koliyanur, Villupiram Jn. Swasti-Sri Nainar temple is written; and Koliyanur Nallur Nainar Nayar temple is also inscribed. The author of Thirukkural got his surnames Nayanar and Thever in the background of this tradition. The history of Thevar is well known to man. The first Thirthankara was called Rishabdev and many Jain Munis were also addressed as Thevars. So we learn from this that Thirthankaras and Munis were the first to be surnamed as Nayanar and Thevar.

With this background we shall trace the history of Thirukkural author's temple in Mylapore. There was a temple of Nemi Nather in Mylapore. The book Thirunootranthathi contains many songs in praise of Neminather. Similar poems, stone images, stone inscriptions unearthed in Mylapore speak abudantly that the place was once the seat of learned Jains. In this famous place, Mylapore, Nannul commentator Mylainather, Avirothe-

nather, Guna Veera Pandit of Nemi-Nather fame lived. This fact has been brought to light by many research scholars. Just as they worship Neminather, the Jains in Mylapore of ancient times erected a temple for the author of Thirukkural also installing therein the foot prints of Thevar and worshiped.

It will be crystal clear from the history of our Bharat that the Jains were the first to install and worship foot prints of Thirthankaras, Acharyas and Munis. It will be seen, in particular, foot prints of Thirthankaras in Kailash, Champapuri Sammedasikar, Pavapuri, and Girnar. In Tamil Nad, even today can be seen the foot prints of Gunda Gunda Acharya of Thirukkural, his birthplace of Gunda Gunda mountain, Ponnur Hill, and foot prints of Akalanka Thevar in Thiruppanamur, Vamana Muni in Jina Kanchi and Ganasapur of Vizukkam.

The foot prints of Badra Bahu Swami and Chandra Gupta Mouriya can be seen worshipped in Sravanabelgola in memory of their visit to South India in 3 B.C. In accordance with this practice, the Jains of ancient Mylapore worshipped the foot prints of the author of Thirukkural, calling them by special names Thiruvalluva Nayanar and Thiruvulla Thevar. In this worship non Jains also [illegible] devotion. And these people [illegible] called the temple as Nayanar temple every time they went to worship. Even today that devotion prevails among the people around the temple.

About a decade ago when asked about Thiruvalluvar Temple the people living in the streets around the temple would blink exposing their ignorance. If asked about Nayanar temple, they would immediately pointout to the temple. The reason why they called the temple as Nainar Temple was upto 17th century A. D. the majority of the people that lived in Mylapore were Nainars (Jains). That Mylapore was the seat of Jains in those days is evidenced in the old Thothirathirattu (collections of songs of prayers) called Mylapore Pattu. Inter alia the ancient work says that Mylapore was crowded with prosperous Sravakas (Jains). From this it is clear that Jains were not only learned and prosperous but also lived in large numbers in Mylapore. Even today, the Jains in Tamil nad have the distinguished title of Nainar. As a result of evil influence, even those Jains who embraced other religion have not renounced the Nainar title. This is evidenced by those converts, Neerpoosi Vellaras, found in Nellikuppam, Panruti, Gingee, Arni, Kappalur, Kalasapalayam village, have still retained their Nainar title. Among many South Indian musalmans, the Nainar title is still prevalent. There are evidences to show that these muslims were once converted from Jains. In certain parts of Tinnelvely District such as Alwar Thirunagar, SriVaikundam, Tenkasi, Velala Saivait still hold on to the title and call themselves as Nainar Pillai. Besides, in many parts of Tamilnad, one hears of conclusive evidence to show that Jains lived in large numbers in these places. From these concrete evidences, it can be safely said that the temple dedicated and worshiped as Nayanar Temple has now come to be known as Thiruvalluvar Temple.

Where are those foot prints ?

The Jains of ancient Mylapore who worshipped the foot prints of the author of Thirukkural became extinct, their temple idols, having been either changed or buried, It is impossible to contradict this historical truth. About 100 or 120 years ago, in the name of the author of Thirukkural an idol was made with awkward beard and mustache and installed the hideous image just behind the sacred foot prints. Following this nefarious practice the very foot prints were removed to an un-known place.

On seeing this diabolic act, the public of that place started agitation against the Poojari and those who were responsible for this damage. When the Poojari found the agitation getting momentum, the foot prints were brought out with certain changes and damage and installed them in a hall outside the temple. In this condition the prints remained in the hall for sometime. But the Poojaris did not like the prints to continue to remain there. And the reason for this hatred may be traced to the continued public devotion to the foot prints. After some years, the Poojaris went a little further by burying the prints in the temple wall. When the public came to know this they started agitation again resulting in the foot prints being unearthed and put in public view. Non Jains were responsible for all these continued agitation. It is because of their continued devotion to the right of worship of the prints. The reason for this conspiracy is not far to seek. The prints were held sacred by the Jains and therefore the sacred name of Thiruvalluva Nayanar must be changed into Thiruvalluvar Temple.

About two decades ago, I heard the history of all the happenings as aforesaid from the elders who lived in the house opposite to the temple. I conveyed this news to the revered scholars Thiru V. Ka. and the learned Prof. A. Chakravarthi. On hearing the news both of them felt surprise, and they went to the spot and made enquiries from an old gentleman who stood in the house opposite to the temple and came to know the truth.

In 1945, I got made a block of the sacred foot prints and published a pamphlet bearing the picture of the prints. In 1947, February 16th, the Anniversary of Thiruvvaluvar Kazhagam was celebrated in Kuyapet, Veerapumal Street, Mylapore. On tne advice and insistance of Tamil Scholar Thiru V. Ka, I presided over the deliberations. The learned scholar asked me to speak on the antiquity of the temple in my preliminary speech. Accordingly I spoke in clear, unequivocal terms what I have said previously in this article. The public and the learned who had gathered there were much imporessed. Not only that, but they felt sorry for all the silly happenings in olden days in the name of religion. On the deliberations of that night's function were over, all those learned who took part Thiru V. Ka, Sri T. P. Meenakshi Sundaranar, M.A B. L., M. O. L. Rao., Arul Shangayya, Sri S. Lakshmi Radan Bharathi B.A.,B.L Sri K. Anbazhagan, M. L. A., and other learned pandits visited the Thiruvalluvar Temple. Just as explained in my address they

converted into a temple, with the overhanging rock serving as the roof. The paintings occur on the walls and on the under-surface of the overhanging rock. The temple at Tiruparuttikunram is a built structure, which is similar to temples so common in S. India. The ceilings of the Malāmaṇṭapa contain the paintings.

6. The paintings at these four sites have suffered considerable damage. They have suffered more damage during comparatively recent times than ever before. The paintings at Sittannavasal have been exposed to the sun, high winds and the spray from the rain water. The Village officials had put census markings on some of the most wonderful paintings on the pillars. They have made use of tar to the markings in. It is very difficult to remove them. In these respects, the paintings at the other three sites are more favourably situated.

7. The paintings at all these sites were covered with insect nests, cocoons, insect wax, moss and lichens. Dust and dirt carried by winds, especially as at Sittannavasal, have been deposited on the paintings In certain places exposed to sun and moisture, moss and lichens have grown on the painted surface and darkened it, and completely covered the artistic workmanship. The Ellora caves were probably used by wayfarers as a place of rest. They lighted fires and probably did their cooking. The paintings received repeated coats of oil and soot, which hardened in course of time and cemented the accretions to the painted surface. All these are the direct result of the long neglect of the paintings. Most of these accretions have now been removed by scientific means.

8. We shall now examine some of the features of these paintings, which distinguish them from some of the world famous paintings in India like those at Ajanta or Bagh. At Sittannavasal the painted stucco consists of a coat of rough lime plaster, which is applied to the wall and the ceiling to a thickness of about 2.5 m m. There is a coating of fine plaster of lime (or lime wash) which has been put over the rough plaster to a thickness of about 0.5 m.m. The paint is applied over the layer of fine plaster to a thickness of about 0.4 m.m. It is difficult to separate the lime which has adhered firmly to the layer of paint film. The thickness of the actual paint film must, therefore, be much less. The pigments have been mixed with lime water and applied. In certain places, the pigments have been mixed with water only and applied to the still wet lime plaster. There is firm adherence between the layer of rough plaster and the fine plaster on the one hand and between the fine plaster and the paint film on the other. Elaborate precautions have been taken in the preparation of the lime by freeing it of all deleterious impurities. The lime was probably allowed to ripen and some sort of pit lime has been used.

9. This technique is entirely different from that at Ajanta or Bagh. At Ajanta, there is the first coat of rough plaster of mud applied to the walls and ceilings to a thickness varying from 9.3 m.m. to 54.1 m.m. A coat of lime wash was put thereon to a thickness of 0.1

m.m. The pigments have been mixed a water soluble adhesive like gum or glue and applied over the fine plaster to a thickness of 0.1 m.m. A similar technique has been followed at Bagh. It will be seen that the rough plaster at Ajanta is nearly 4 to 22 times thicker than its counterpart at Sittannavasal.

10. Any mud plaster is crude in comparison with the lime plaster. The mud plaster at Ajanta is not well consolidated. It is fragile. It contains vegetable fibres to help even this feeble consolidation. In contrast to this, the rough lime plaster at Sittannavasal is firm, well consolidated and holds firmly to the wall. The paint film has also adhered very firmly to the lime plaster. In fact, the writer and Mr. Rutherford J. Gettens of the Freer Art Gallery of the Smithsonian Institution of Washington independently tried experiments on two samples of painted stucco from Sittannavasal. Our object was to remove the hardened lichens, which covered the painted layer and made it jet black. We used fimely ground abrasive and water (with a little of caustic soda) and succeeded in exposing the painted layer. Mr. Gettens wrote to the writer that the painted stucco withstood a great deal of "punishment." The painted stucco of Ajanta or Bagh will not stand this treatment.

11. For the first time in India, the classical artists of Sittannavasal have realised the merits of the lime plaster as a medium of artistic expression. They have discarded the weak, relatively ill-consolidated, fragile mud plaster of Ajanta and Bagh with the pigments applied in a water soluble medium. They have selected a new tehnique with lime plaster and the pigments applied in lime medium. This certainly was an advance on the then existing technique. In the Sri Brihadisvara temple at Tanjore, the Chola artists have further improved on this technique and introduced the pure fresco technique (with the polishing of the painted surface as is evident from the glossy surface), for the first time in India.

12. The technique of painting adopted at Tirumalai and Tiruparuttikunram is similar to that at Sittannavasal, although at the hands of less skilful artists. There is the rough plaster and fine plaster of lime (or lime wash) of almost the same thickness & the pigments applied In lime medium.

13. The unique qualities of lime as a binder in paintings, which were noticed by the Jaina artists, have been independently made use of by Prof. Lind to conserve thecrumbling wall paintings in many of the churches in Denmark, which were peeling off in many places. At the suggestion of Dr. A. J. Plenderleith, then Director of the Research Laboratory of the British Museum, London, and now Director of the International Centre for Conservation in Rome, the writer has examined the work of prof. Lind in Denmark as early as 1955 and has been impressed with it and with its possibilities for paintings in India.

14. It is reported that, at one of the conferences on paintings held recently in India, a popular art historian wondered how pigments could be fixed with lime. He seems to have ridiculed the whole

idea. It seems also that there was none present at that conference, who had specialised scientific knowledge to correct him. The work of Prof. Lind, which has impressed scientists, and the lime medium which gives a strong binding to the pigments at Sittannavasal are the only fitting answers to this art historian and to others of his way of thinking.

15. Of all the ancient remains, paintings are the most delicate. They are susceptible to the most unexpected damage in the most unexpected manner. Our wall paintings are no exceptions. Many of them are in out-of-the-way places, where expert advice may not be easily available in good time. It may not, therefore, be possible to take timely action through scientific conservation.

16. The problems of scientific conservation of wall paintings have been considered by experts all over the world, and especially in India, which is rich in wall paintings. One of the most effective ways of conservation consists in stripping the wall paintings and mounting them on canvas. The stripped paintings consists of the entire paint film skilfully stripped. At worst, it contains a thin layer of lime plaster or lime wash adhering to its back. The painted surface gets brightened in this process without any further treatment. The painting is then mounted on canvas. The stripped and mounted piece is so thin and flexible that it may be rolled as if it were a piece of cloth or carpet. In Spain, many of the church paintings have been stripped, mounted on canvas and put back in its original position, but isolated from the wall. A casual observer will take them only for wall paintings in situ. He will never imagine that they are stripped wall paintings skilfully so placed. In Italy, and especially in the Central Institute of Restoration, Rome, one finds wall paintings stripped, mounted on canvas and kept in long rolls, as if they were so many long rolls of carpet.

17. The isolation of the paintings from the wall (as is done in Spain in the manner described above) has great advantages. Often times, the walls are porous. Moisture and salts are drawn from the foundation through capillary action and thrown out through the pores of the walls and plaster. There is, therefore, efflorescence on the painted surface and the consequent detachment of the painted layer. Thus the salts and moisture have deleterious effects on the paintings. By isolating the paintings from the wall, this action is prevented.

18. If the stripped and mounted paintings are transferred to a museum, they will be under the watchful eye of the scientific conservator. Even if the stripped paintings are kept back in their original position, their removal to a laboratory for conservation will not present any difficulty, in as much as stripped paintings are easily transportable. They may be periodically brought to the conservation laboratory for scientific examination and conservation.

19. With these points in view, the author conducted some investigations on the stripping of wall paintings as early as 1948. Some of the Nayak paintings in the Brihadisvara temple at Tanjore

have been stripped and mounted on cloth. This was done at a time when no expert or technical information was available in India ; nor was the author acquainted with the work done in West. The work at Tanjore is the first real attempt at the stripping of wall paintings in India.

20. It may not be out of place to mention here that Sir Aurel Stein cut blocks of walls containing paintings from many of the sites round about the Great Taklamakan Desert in Chinese Turkestan. Mr. Andrews thinned down the stuccoes, assembled them and mounted them. But it is not a case of stripping of wall paintings in the sense in which wall paintings are stripped in Italy or were stripped at Tanjore.

21. Recently, and with the training received at the Central Institute of Restoration in Rome, some Chemists of the National Museum, New Delhi, have stripped wall paintings in Himachal Pradesh, brought them to Delhi, mounted them and exhibited them. If the Jaina paintings, or at least the best of them are to be preserved for ever the author cannot think of any other method than stripping and mounting.

" Nonvoilence and Kindness to living beings is Kindness to oneself. For thereby one's ownself is saved from various Kinds of sins and resultant sufferings and is able to secure his own welfare."

—Lord Mahavira

" In conclusion let me assert my conviction that Jainism is an original system:, quite distinct and independent from all others; and that therefore it is of great importance for the study of philosophical thought and religious life in ancient India.

—Dr. Hermann Jacobi

" Jainism is of a very high order. Its important teachings are based upon science. The more the scientific knowledge advances the more the Jain teachings will be proved."

—L. P. Tessitori, Italy.

Jain Mythology and Rituals

By

Prof. Chintaharan Chakravarti, *M. A.*, Kavya Tirtha

The Jainas have a rich mythology which contains interesting versions of well-known stories found in the Brahmanical Purāṇas.[1] They also have a galaxy of religious festivals[2] some of which agree in name or form (though differing in other respects especially in mythological background) with those observed by the Brahmanical or Vedic Hindus. It is, however, a matter of regret that these have received scant attention at the hands of scholars; and they are little known to the people at large.[3] But a careful and compartive study of these is expected to yield much valuable and interesting results. I will in this short note refer to a few points in this connection.

Though it is not possible at this stage of our knowledge to determine the comparative antiquity of the Jaina and Brahmanic things the realistic and rationalistic tone in the former does not fail to attract the notice of even a casual observer. Thus in the Jaina version of the Rāmāyaṇa we are told that the Vānaras and Rākṣasas mentioned in the epic were not so many lower animals but were Vidyādharas or demigods endowed with many supernatural qualities. Beastly and uncouth behaviours are not attributed to them in the Jaina version; on the other hand they are depicted as highly civilised people. The Rākṣasas were so called because they were descended from one whose name was Rākṣasa. As regards

1. Reference may be made to the Jaina versions of the stories of Rama, Krishna and other epic heroes.

2. Mention may be made in this connection of *Aksayatrtiya*, Raksabandhana, Rsipancami, Ananta-caturdasi, Navaratri, Devali and Rathayatra. The Jains have their sixteen samskaras (sacraments) closely resembling with the ten of the Brahminical Hindus. Homes (sacrifices) performed on these occasions reveal interesting points of similarity and some pecularities when compared with such rites of the Brahminical Hindus.

3. The present writer had at one time taken up this study under the auspicies of the Banga Bihar- Ahimsa Parishad and undertaken the task of popularising Jaina Mythology and Religion among the people of Bengal. Papers on religious festivals and Jaina versions of the stories of Rama and Krshna were published in different Bengali Journals including the 'Jinavani' introduced by the above Parishad but discontinued after some time for want of funds.

the Vānaras they owed their name to the custom prevailing among them of wearing symbols of a monkey on their crowns and flags.[1] Similarly it is stated that Kṛṣṇa bore on his hands and feet symbols of conch-shell, wheel, mace and lotus; and he had a flag with a Garuda mark.[2] A sage named viṣṇukumāra (and not Lord Viṣṇu) is represented by the Jainas as having put the arrogant Bali to shame.

The Jainas have interesting stories about the origin of the popular festivals Rakṣābandhana and Dipāvali (Dewali). It is stated that the former perpetuates the memory and symbolises the saving by sage Viṣṇu Kumāra of seven hundred Jaina Munis from the persecutions of a vindictive minister called Bali. It will be seen that this correspondsto the story of the subjugation of king Bali at the hands of Lord Viṣṇu.

The Dewali is also a memorial ceremony which refers to the Uuiversal jubilation attending on the attainment of Nirvāṇa by Lord Mahāvīra. Nirvāṇa Lakṣmī is worshipped on this occasion by the Jainas as worship is offered to Lakṣmī by Brahmanical Hindus in certain parts of India. It may be noted in passing that in Bengali it is believed by the Hindus that the illumination held on this day helps the forefathers to see their paths of their journey back to the heavens from the homes of their descendants where they had come to receive oblations on that day. Thus among Bengali Hindus also it is in some respects a festival in honour of the dead.

According to the Jaina tradition the festival is a very old one going back to the sixth century before the birth of Chirst when Mahāvīra attained Nirvāṇa. It is recorded in old works like the Kalpasūtra and Jaina Harivaṃśa.

The six daily duties of the Jainas corresponding to the five Mahāyajñas of the Brahminical Hindus include Devapūjā or worship of the deities. An attempt is made through the details of the worship to impress on the worshipper the sumum bonum of life (e.g. Salvation) and the means leading thereto. So there is no prayer for any mundane object but the worshipper prays for the cessation of life and death, annihilation of worldly sufferings, the attainment of the indestrucxible, the dispelling of cupidity, hunger and the darkness of ignorance. The Jaina worship has also other peculiarities both in the materials offered and the Mantras uttered.

1. These descriptions may be traced to the Padmapurana of Ravisenacarya (7th century) which is a Sanskritised version of the Prakrit Paumacariyam of Vimalacarya (1st century). Differences between the Jaina and Hindu versions of stories of Rama and Krsna have been noted in the Bengali summaries of the Jaina versions made by the present writer and published in the now defunct Bengali monthly, the Jinavani. The summary of the Padmapurana was subsequently issued also in the form of a booklet.

2. Vide Jaina Harivamsa (8th century) and Uttara Purana (9th century).

The Sociological Approach of the Jaina Ritualistic Study.......

By
L. K. Bharateeya, *M. A.*

The rituals generally represent Human anxiety for the expression of the religious and non-religious sentiments, ideas, assumptions etc. in the symbolic forms and translate them into the social and individual behaviours. The long journey of the rituals starts bafore the birth of a human being and ends after his death. Several rites take place in this period; and the religion, either primitive or modern, is a main base of it, on which the ritualism builds its castle. It is, therefore, Durkhiem and others had searched the origin of the religion in the rituals on one hand and on the other, Jane Harrission viewed that the art too had its origin in the rituals. But it may be said that it is a form of prescribed and elaborated behaviour and occurs both as spontaneous invention of the individual and cultural trait[1], whereas, in the cultural grade, the ritualism reflects and sustains social organisation with the moral approach, because the morality itself finds its most cogent support in the ritual emphasis.[2] The ritual makes for morality; and morality finds its origin and sanction in the religion.[3] But vital religion must create and sustain a social relationship,[4] which can be strengthened through the Ritualism. The influence of the religion, socialogically speaking, is two[5] fold: as positive-integrating and as negative-disintegrating. The religion-based rituals always play the role of integrating the groups, as the group-conciousness is emerged from it. In Malinowski's words, 'The creative elements in the rites of the religious nature serve to integrate the groups'. They (rites) contribute in no small measure in shaping and determining the organisation and the spirit of the groups.[6] Specially, the family possesses such integrating force, which derives from common religious rites, as the performance of them is always more efficious and significant and the ritual acts connec-

1. Seligman Edvin : The encyclopaedia of S Science, 396-97
2. Hastings James : The Encyclo. of Religion & Ethics (worship) 754
3. Willis Cook : The social evo'ution of religion, 145
4. Wach Joachim : Sociology of religion, 27, 29
5. Ibid 33
6. Ibid, 40

ted with the worship etc. meticulously regulated and observed.[7] The rituals relate various parts of the group to each other by use of symbols that create an unified whole,[8] which represents the process of the socialization of a man. It is, therefore, the earlier manifestations of the religion were those of the groups and the individual too recognised himself only in his communal relations. As the primitive religious rituals were under the dramatic representation of the doings of the spirits and gods[9], the people of the primitive age were anxious to find out the answers of the problems like how to keep the sun and moon doing their duty etc, because they were the nature-born people. The individual problems like how to meet the needs of the life too were before them and in the magical rites they got their answers. The origin of such rituals lies thus in the attempt to control the unpredictable elements in human expreience; and magic took birth from this attempt. The efficacy of the rite, whether for good or for the evil, is due to the magic, which resides in the rites [11]. The magic is made up of beliefs and rites [12], but the magical rites do not have any social element, despite its impact on the society. With the growth of the religion under the ritualistic and priestly influence, symbolism, other than magical rites, bacame the important feature of it as it belongs to the age of rituals. The symbols represent the God in the outward form, as well as He comes, when needed[13], but there are rites without God and Gods also derived from them. The rites without Gods may be dependent on the ethical conduct, which prescribe how a man should comfort himself in the presence of the sacred objects.[14]

The Jainism too does not recognise God, (as generally understood) but it observes such religious rites, which are based on their ethical conduct. The social and individual behaviour plays important role through such rites. In their public performance, they also touch the sociological ground, as the public rites always belong to the religion,[15] which is society oriented. The rites are related with the social organisation, like family, class etc; and the ritual techniques too have been devised to establish efficious relations with the source of the life, well-being, stability and equilibrium in the society. The means like dances, dramas rites etc. always utilised for this purpose as the tensions and the strains were relieved; and human energies were directed in the new hopes and confidence. Their functions is to pro-

mote the social intercourse and security, which are needed in the society.[16] In such devices, rituals express most deeply rooted hopes, fears and the emotions of the community. They belong to the same order of reality, as poetry, art and music, and express the inner quality of the life.[17] It is, therefore, the art and rituals were closely linked in Greece and Egypt, as they had social urges. The rite in greek is called a 'thing done' which involves imitation too.[18] In Indian tradition also, art is linked with the rituals, as changed story of vikramorvasiya reflects the transition from rituals to the drama.[19]

All such performances, which represent age of the collective life, can be developed into the scientific social life, processed by the socialization, not harming to the individuality. A ritualist, to a modern mind, is a man concerned perhaps unduly with fixed forms and ceremonies with carrying out the rigidly prescribed ordinances of a church or sect[20], but a scientific approach can create new life in it if the 'form' is not allowed to bypass its 'contents.'

The rites are variously classified as magical religious, positive-negative, attractive- avertive, participative-ascatic etc.[21]. The Jainism too has all sorts of such rites and even might occupies an important place in the Jaina literature. Some of the Jainas of Rajasthan were considered as magicians![22] Every sect of Jains has its own peculiar rites, just as the Svetāmbaras have sixteen main marriage rites as well as Digambaras have twenty[23], apart from other rites. From the birth to death of a Jaina, several types of rites take place individually or socially. For instance, to bind a thread round the neck of a little mite, Chhatipooja, naming-hair-cutting and other ceremonies, Wedding, Rakṣā-bandhana etc.; and, at last, the death ceremonies are common in them, like Hindus. All the rites are not necessarily religious. Apart from these rites, the conduct-based rites such as the vows, vratas, Pratimās etc. are usually observed with the strict ritualistic technique and, in fact, they are the essence of the Jainism. Just as thirty five rules of conduct are considered Golden way to uplifting a layman, Thus, very minute detail of every ritualistic conduct was given in the code books of them. It is expected that they should follow them according to the status of each part of the organisation.

Other rituals like idol-worship or customs also must be observed according to the traditional ritualistic system. They

16. James E. O : Myths and Ritual in ancient India 23, 234
17. Reik Theodor : Ritual Psycoanalytic studies, 305 309
18. Harission Jain : Ancient art and ritual, 9, 21, 25, 26, 35
19. Kosambi D. D. : Myth and Reality, 42
20. Harission : Ibid, 9
21. Hostings : Ibid, Worship 754
22 Sangve V. A. : Jain community : A Social Survey, 257
23 Ibid, 165

ted with the worship etc. meticulously regulated and observed.[7] The rituals relate various parts of the group to each other by use of symbols that create an unified whole,[8] which represents the process of the socialization of a man. It is, therefore, the earlier manifestations of the religion were those of the groups and the individual too recognised himself only in his communal relations. As the primitive religious rituals were under the dramatic representation of the doings of the spirits and gods[9], the people of the primitive age were anxious to find out the answers of the problems like how to keep the sun and moon doing their duty etc., because they were the nature-born people. The individual problems like how to meet the needs of the life too were before them and in the magical rites they got their answers. The origin of such rituals lies thus in the attempt to control the unpredictable elements in human expreience; and magic took birth from this attempt. The efficacy of the rite, whether for good or for the evil, is due to the magic, which resides in the rites [11]. The magic is made up of beliefs and rites [12], but the magical rites do not have any social element, despite its impact on the society. With the growth of the religion under the ritualistic and priestly influence, symbolism, other than magical rites, bacame the important feature of it as it belongs to the age of rituals. The symbols represent the God in the outward form, as well as He comes. when needed[13], but there are rites without God and Gods also derived from them. The rites without Gods may be dependent on the ethical conduct, which prescribe how a man should comfort himself in the presence of the sacred objects.[14]

The Jainism too does not recognise God, (as generally understood) but it observes such religious rites, which are based on their ethical conduct. The social and individual behaviour plays important role through such rites. In their public performance, they also touch the sociological ground, as the public rites always belong to the religion,[15] which is society oriented. The rites are related with the social organisation, like family, class etc; and the ritual techniques too have been devised to establish efficious relations with the source of the life, well-being, stability and equilibrium in the society. The means like dances, dramas rites etc. always utilised for this purpose as the tensions and the strains were relieved; and human energies were directed in the new hopes and confidence. Their functions is to pro-

7. Ibid, 60, 61
8. Ibid, 220
9. Willis cook, Ibid, XVI, XVII, 141
10. Blackman A M : Myth and ritual, 2, 8
11. Barth A : The religions of India, 48
12. Durkhem Emil : Elementary form of religion life, 42
13. Willis Cook : Ibid, 143 and further pages.
14. Durkiem : Ibid, 35, 41
15. Yust Walter : The Encyclo. of Britanica, 324

Jaina Tradition Regarding Yasovarman's Lineage

By
D. S. Sircar, Calcutta, University.

While some scholars are generally cautious about accepting the Jaina version of a historical tradition without corroboration from any other sources, other writers are full of praise of the Jaina evidence and its reliable nature. A writer of the first category thus expresses his appreciation of a section of Merutunga's Prabandha-cintāmani in the following words: "Many of the tales belong to the great mass of edifying anecdote that seems to have been at the disposal of the Jaina community, consisting principally of old Indian legends, skilfully adopted by Jaina teachers for the moral improvement of the faithful, Jaina chroniclers deliberately manipulated history, with the object of putting Jaina Kings and Jaina ministers in a favourable light...[1]. On the other hand, some writers of the second group have [illegible]d that, among the Indians, the Jainas, [illegible] have preserved a complete and [illegible] chronology for the two and [illegible] after Mahāvīra's death, [illegible]ks form one of the primary sources of our knowledge of Indian history from the seventh century B. C. down to the rise of the Mauryas, and that the historical information contained in the Jaina literature is more reliable than that offered by the literature of the Buddhists.[2]

Although we are generally inclined to disagree with the views of the later group of scholars, it has to be admitted that there are a few cases in which the Jaina legend, viewed at first with suspicion, has received some support from later studies and discoveries. One such case is discussed in the following lines. It relates to the ancestry of king Yaśovarman who had his capital at the city of *Kānyakubja (Kanauj) and ruled* in the period circa 728-53/A. D.

In the Prākrit poem Gaūdavaho, its author Vākapati, a court poet of Yasovarman, represents his patron as an ornament of the lunar race to which he belonged.[3] This has been rightly taken to mean that Yasovarman was the scion

[illegible] trans) p. xix
pp. 12-13

include from the idol-washing rite to the Āratī-pūjana in the temples, different ways of arranging the rice in Akstapuja, Fruit offering, according to the traditions of the sects, reciting of Navakāra-mantra ritually, mediatition, Samvatsari, bathing of Gomateśovara with special rites etc.* According to the Ādipurāṇa, Jainism has enjoined upon a person to perform about fifty three such rites (kriyās) and some of them have social outlook like the change of the caste (varṇa-lābha)**

But the most important element in Jainism is to observe the rules of the conduct; and all the action of a Jaina are weighed through his conduct. Jainism, therefore, may be fairly regarded as a system of ethics, rather than a religion, because the ethical conduct of a Jaina through the ritual procedure is considered to be a source of efficacy.[25]

Even the emphasis on some ritualistic conduct had changed the structure of Jaina society, as nearly all the Jainas became the traders, due to purely ritualistic reason; and their special manner of trading too was determined by the rituals.[26] Some of the Jainas, were in the warrior-Class, but only the traders, and not the soldiers could so consistantly observe the religious precepts of Jainism, as its requirements for ritually correct life could be met only in certain professions.[27] The Jainism is atheistic (in the sense that the Jaina Gold is not a creator) and one of their fundamental principles would seem to have been that there is no power higher than man, though in practice, it proved perhaps unworkable.[28] Still the attitude, derived from such beliefs, has changed whole outlook and stress was given consistently on the right conduct, guided by the ethical procedure. Jaina ethics took pains to provide for welfare of both the society and the individual[29]. If the path is followed with the realization of its true meaning the height of the humanity can be achieved, as Jainism claims that its aim is to reach to the highest stage of the humanity. But in the attempt to reach such humanity, human society cannot be everlooked.

The Jainism lays utmost stress on the personal conduct and his ultimate goal of life can be achieved by observing the ethical code, which contains the religious rites like six daily duties, six daily Āvasyakas etc.[30] In one of these Āvaśyakas, Sāmāyika has a special theoritical status as its aim is to lead a man towards

*The details of such ceremenies, pujana etc. are given in The Heart of Jainism, written by Mrs. Stevenson Sinclair, pages 193 to 239.

**Noted by Sangve V. A. in his Jain Community Social Survey, p p. 60

24. Dr Foolchand : Lord Mahavira, 73
25 Yust Walter, Ibid, 322 B, 323
26. Weiber Max : The religion of India, 200
27. Wac, Ibid, 201
28 Mrs. Stevenson Sinclair : The heart of Jainism, XIV
29. Sangve, Ibid, 229
30 Ibid, 351, 52, 221 to 224

samya, the equity, and to discard the worldly passions. The pledge like Karami Chamte Sāmāiyam, is, though ritual, significant; and the sence of equity with all the creatures cannot exclude the man and the society in which he exists. If it excludes them, it denies the principle of equity and social significance cannot be attached to it. The ritualistic, abstract sense of equity has no meaning if the human society is not approached. This pledge binds the worshiper with the human society, if the negative attitude does not prevent the way. The process of the socialization of a human being is similar to the attempt to reach the highest humanity, as it can not be achieved without the socialization. In the age of science, no other interpretation could be practical. If God-worship is not there, the transformation of the individual into the society should occur under such pledge with highest stage of the spirituality. The ritual form must not prevent the way of the exploration of its true contents. Other Avasyaka Kriyas too suppor it. If the Jaina system has no room for the Bhakti (of God)[31] , the Bhakti of a human society can not be avoided. Otherwise, the ritualistic conduct would become merely mechanical.

Ahimsā too is a way of life for a Jaina, but it can be developed in the midst of the society of human beings and the other creatures have no cause to clash with the interests of a man or a society. In fact, man has no envy of other creatures. Why then men is so neglected before them ? The simple reason lies in the attempt to reach an imaginary stage, by-passing the human society, which makes the man a social animal. The Jaina rituals supported by Sāmāyika or Ahimsā can play a role of integrating the moral force or the human society, if they will be seen in such perspective. The equity and non-violence in the society can create two fold dynamism in the Jainism and through it, the ethical conduct of the ritualist will strengthen the true Sramanic culture, which has a urge for the society. The Jainas believe in the sacrifice of their own through the ritualistic fast etc. and two most essential elements of rituals are prayer and sacrifice.[32] But the sacrifice of others for the self is not permitted in any way in Jainism, though the Jaina rituals are closely connected with the Hindu-rituals***. But they differ fundamentally in above mentioned respect, as Jainism had never compromised with it, as happened in the case of castism. After denouncing it too, Jaina society practised it. But it is beyond doubt that Ahimsā become a life-Source for the Jainas, though it is often criticised as a negative doctrine.[33]

31. Hastings, Ibid, (Prayer) 188
32. Ibid (Worship) 787
33. Mrs Stevenson, Ibid 293. ("The ideal. teeir religion offers them, is a ritual rather than a personal holiness. A Jain magistrate once said (to the author) 'I call Jainism a dummy religion. Even I took bribes and give false judgements, I should still be considered a holy man, so long as I was careful never to eat after dark.")

***Pandit Sukhalalji believes that the 'Posaha' has impact of 'Yajna'—Darsana aura Chintana, page, 107. Such many similarities can be seen in every field.

The ritualistic behaviour may lead them to integrate their-group life under the sectism, and the devotional traditions also could be perserved through the ritualistic conduct, but the creative force of equity and non-violence will not be sustained, if it is not practised in the human society. The ritualistic conduct may lead them toward the body-religion, but the heavy load of the ritualistic structure break the life-line of Jainism, as ritual is after all a form and not the contents.

Whatever those thinkest, men,
That too become thou must,
God, if you thinkest God;
Dust, if thou thinkest dust"

—Unknown

Jaina Tradition Regarding Yasovarman's Lineage

By

D. S. Sircar, Calcutta, University.

While some scholars are generally cautious about accepting the Jaina version of a historical tradition without corroboration from any other sources, other writers are full of praise of the Jaina evidence and its reliable nature. A writer of the first category thus expresses his appreciation of a section of Merutunga's Prabandha-cintāmani in the following words: "Many of the tales belong to the great mass of edifying anecdote that seems to have been at the disposal of the Jaina community, consisting principally of old Indian legends, skilfully adopted by Jaina teachers for the moral improvement of the faithful, Jaina chroniclers deliberately manipulated history, with the object of putting Jaina Kings and Jaina ministers in a favourable light...[1]. On the other hand, some writers of the second group have said that, among the Indians, the Jainas, alone have preserved a complete and admirable chronology for the two and half millennia after Mahāvīra's death, that the Jaina works form one of the primary sources of our knowledge of Indian history from the seventh century B. C. down to the rise of the Mauryas, and that the historical information contained in the Jaina literature is more reliable than that offered by the literature of the Buddhists.[2]

Although we are generally inclined to disagree with the views of the later group of scholars, it has to be admitted that there are a few cases in which the Jaina legend, viewed at first with suspicion, has received some support from later studies and discoveries. One such case is discussed in the following lines. It relates to the ancestry of king Yaśovarman who had his capital at the city of Kānyakubja (Kanauj) and ruled in the period circa 728-53/A. D.

In the Prākrit poem Gaūdavaho, its author Vākapati, a court poet of Yasovarman, represents his patron as an ornament of the lunar race to which he belonged.[3] This has been rightly taken to mean that Yasovarman was the scion

1. C. H. Tawney: Prabandha Chintamani (trans) p. xix
Cf. Acharya Bhiksu Smrtigrantha, Part III, pp. 12-13
3. S. P. Pandit's ed. verses 1054-65

of an illustrious Ksatriya family.[4] According to Cunningham, the said king probably belonged to the Maukhari dynasty of Kanauj, the Maukharis, like him, having names ending in the word varman.[5] This view has been accepted by some other writers.[6]

But the late Jaina work Bappabhṭṭa-sūricarita represents Yasovarman as a king of Kānyakubja and as the crest-jewel of the dynasty of Candragupta who made the Maurya dynasty illustrious.[7] The same tradition receives support from the Prabhāvakacarita of the thirteenth or fourteenth century, according to which Yasovarman descended from Candragupta and was an ornament of the latter's family.[8]

As regards the Maurya ancestry of Yasovarman referred to in the Jaina tradition cited above, it has been pointed out that the Mauryas did not take names ending in varman and that we have no corroboration of the Jaina statement from any other source, so that "in the absence of any positive proof, it is better not to credit Yasovarman with any well-known ancestry, and for the present to let him stand isolated and unconnected.[9] A recently discovered inscription, however, suggests that Yasovarman may have after all been a scion of the ancient Maurya dynasty of Magadha founded by Candragupta in the fourth century B. C.

The early Mauryas of Magadha ruled over the major parts of India and Afghanistan in the fourth and third centuries before Christ, and many of the provinces and districts of their empire were governed by the princes of the Imperial house. The descendants of some of these governors continued to flourish as small chieftains in certain parts of the country long after the fall of the Maurya empire.[10] In the sixth and seventh centuries A. D., two such families rose into prominence, one in the Goa region of the Southern Konkan and the other in the U. P.—Rajasthan area. In an inscription of 1069 A. D a fendatory of the Yādava ruler Seunacandra II claims to have been a scion of the Maurya house of Valabhi in Kathiyawar aud the twentyfirst descendant of the Maurya ruler named Kikata.[11]

There are two records from Rajasthan, one from Kanaswa dated 738 A. D. and another from Dabok dated 644 A. D. The former mentions an Imperial Maurya ruler named Dhavalātman (Dhaualappa)[12] while the latter repre-

4. Tripathi : History of Kanauj, p. 193
5. Archaeological Survey Reports, Vol. xv, p. 164
6. Tripathi : loc. cit
7. Journal of the Bombay Branch of the Royal Asiatic Society, New Series, vol III, 1928, pp. 103, 324.
8. H. M. Sharma's ed, p. 131 (XI. 46-47)
9. Tripathi : op. cit, p. 194
10. D. C. Sircar : the Guhilas of Kiskindha (Our Heritage, vol. XI, part i, 1963), p. 50
11. Epigraphia Indica, vol. II, p. 221 ff.
12. Bhandarkar's List of Inscriptions, No 18

sents king Dhavalappa (Dhavalātman) as enjoying Imperial titles.[13] The ruler mentioned in the inscription of 644 A. D. may have been the grandfather of his Maurya namesake known from the epigraph of 738 A. D.[14] A recently discovered inscription shows that these Mauryas ruled not only over Rajasthan, but also over the Western districts of U. P.

A fragmentary inscription of the Maurya dynasty of the U. P.--Rajasthan region was found at Mathura.[15] It is written in characters of about the close of the seventh century A. D. and speaks of a King named Krshnarāja belonging to the Maurya lineage. Three of the said king's descendants were Candragupta, his son Āryarāja and the latter's son Karka alias Dindirāja who burnt the city of Kānyakubja. The name Karka or Kakka was popular in the Kannada-speaking area and, if considered along with the similar name Dhavalappa would suggest some relationship of the Mauryas of the U. P.-Rajasthan area with those of the Southern Konkan.

The Mathura inscription offers us two interesting informations. In the first place the name of Candragupta among the successors of Maurya Krsnarāja would suggest that the tradition of the great founder of the ancient Maurya dynasty of Magadha was not forgotten by the family even in the early medieval period. Secondly, Karka's achievement shows that the relations of these Mauryas with the Kings of Kanauj were not friendly. Now, if it can be supposed that these Mauryas conquered Kanauj about the close of the seventh century and established there a viceroy of their own family, Yasovarman may have been a descendant of that vieregal ruler. If such was the case, the Maurya viceroy of Kanauj assumed independence before the occession of Yasovarman about 728 A. D. This would then explain Yasovarman's descent from Candragupta of the Maurya dynasty whether the latter is identified with the founder of the ancient Maurya dynasty or with his namesake belonging to Maurya house of the U. P. Rajasthan region.

Yasovarman's descent from the Maurya dynasty is not quite irreconcilable with the Varman ending of his name. In the first place, it is not a dynastic trait since the names of his son, grandson and great-grandson were respectively Āma, Dunduka and Bhoja, none of which ends in varman.[16] Secondly, such peculiarties are also found in other families. Thus the name of Ādityasena ending in sena is peculiar to the Later Guptas family since they had names ending in the word gupta.

---

13. Epigraphia Indica, vol. XX, pp. 122 ff, Sircar, op. cit. pp. 32-33.
14. Sircar, op. cit., pp. 51-52.
15. Epigraphia Indica, Vol. XXXII, pp. 207 ff.
16. Tripathi, op. cit. p. 211.

GOVERNMENT HOUSE
CUTTACK
The 8th May, 1948

I have visited the Udayagiri and Khandagiri caves during the last 24 years many times and every visit has proved of abiding and fascinating interest. These caves are famous throughout India and to archeologists abroad for their wonderful beauty, artistry and sculpure. But to a student of history, apart from their sanctity, they bring to the mind's eye a procession of events during the course of the last two thousand years when the ancient Kalinga-the present Utakal-rose and fell again and again in splendour and in decay. The long inscription, chronicling the annals of the reign of King Kharavela, is of outstanding importance for a historian of India. These caves have attracted during all these centuries millions of devoted pilgrims, and I have no doubt that now that India has achieved independence their fame will spread still more far and wide into every corner of India and these caves shall shed lustre on the new capital of Utkal, which we fondly hope shall rise resplendent near about so close to these caves and temples of Bhubaneswar.

Kailash Nath Katju
Governor of Orissa.

Simapati Plates of Chahamana Prince Jaytasiha-Smvt. 1238

By

K. V. Soundara Rajan, *M. A*,

Superintendent, Archaeological Survey of India,
Temple Survey Project, (Southern Region) Madras-9.

The two copper plates under publication were in private custody of the Sarpanch in the village of Nadol (now in Pali District of Rajasthan), about 10 miles north of Desuri. The author has to acknowledge the assistance of the Collector of Pali in getting the copper plates for his examination and study. The record is spread over the two plates (of one side each) which are 5" x 3" in dimensions, with a minimum margin left around the plate. The presence of the two holes, one at the bottom centre of the first plate and the other at the top centre go to suggest that they might have been originally fastened by a ring, possibly carrying the royal seal also, attached to the plates. But these are not now forthcoming. The first plate has eleven lines and the second twelve lines of writing.

The plates belong to the reign of Chāhamāna Kelhana of Marwar, of the Nadol branch of the Chāhamānas of Śakambhari and refers to Saturday, Vaiśākha 7 of Samvat 1238, which is correctly equivalent to the 25th April 1181 A.D. It refers to money gift for the conduct of certain festivals of Pārśvanātha temple, the location of which is merely indicated by Analapura, whose identification is at present not feasible, enjoining the administration of the gift, made to the leader of the Shradvadati gaccha, by four local persons, whose names are given, and ends with a of imprecatory verses[1] on those who do not continue the behest as ordered. The scribe is mentioned in the last line as Paṇḍita Vidyādhara, son of Paṇḍita Sīlana.

The characters of the inscription are Nāgarī of the early mediaeval times, ja, dha, bha, etc., showing typical forms of that period; and it is partly in verse

1. These imprecating verses may be compared with 1.555 of Sevadi copper plates of Chahamana Ratnapala V.S. 1176 (Epigraphia Indica. Vol. VI, p. 313; as also the forged grant ascribed to Satyasraya from Khandesh LXXX—of Indian Antiquary. Vol. IX, pl. C. XIII p. 295-96 and Jodhpur plates of the time of Durlabharaja, Vikrama 1069—Epigraphia Indica, Vol. XXXVI—Pt. III July, 1965.

plausibility, as already noted, is in favour of its being *located within the* revenue Jurisdiction of Sevadi village.

The lexicography of the record would now call for some comments. Apart from the word "Dramma" standing for a silver coinage, (drachma of the classical west) which is quite common in many of these records, we have the Kalyānika Mahotsava of the Jaina religion, which refers to the five auspicious days corresponding to the five important events in the lives of the Tīrthaṇkaras, namely conception (chyavana), birth (janma), initiation (dīkṣā), enlightenment (kevalajnana) and final beautitude (nirvāna). Here, it is interesting to note that one of these Kalyānikas of Pārsvanātha fell in the month of Paus, as specified by the plates, Mahājanas were the important Baniya bankers of the village. Rānaka is apparently a local subordinate ruler under the Chāhamānas. It is also clear from the local Jaina Gaccha's name having been mentioned, that there was a different gaccha in each village almost, or even more than one gaccha in the same village. Some of the gacchas from Marwar derived their name from the place itself - where it was sufficiently old and important - as for instance, the Sanderaka gaccha from Sanderao, as mentioned in Nadol plates of Alhanadeva, as well as in No. IV of Bhandarkar.

The record begins with the invocation to the glory in battle of the house of the Chāhamānas, and mentions thereafter *Anahilla*, *Jendarāja*, *Asorāja*, Alhana and Kelhana and finally Jayatasiha, the son of Kalhana. Then it goes into prose and narrates how and when Jayasiha became Prince royal (Kumāra), in Samvat 1238 on the 7th day of the Vaisākha month, on a Saturday, 8 drammas were gifted, under royal orders, from the village of Sīmapāti, then the crown property under the prince, towards the bali offerings on the annual *Pausa Kalyānika Mahotsava of Parsvanatha in the Anala Vihāra* at Analapura, in favour of the local leaders of the Sradvadati gaccha of Jainas, and these 8 drammas were to be received every year, perennially. The administration of this gift was entrusted to the Mahājanas or bankers of Sīmapāti, and the execution of this order itself was placed in the hands of the four yeomen-traders of the place, by name Rālha, son of *Bhībhatā, Tīlhana, son of Alhana, Vanja* deva, son of Desala, and Alhana, son of Seḍhā, in co-ordination with the Rānaka or the local royal subordinate. Then follows the imprecatory verses stating how the grant is to be kept in force even by the succeeding rulers, and how misappropriating the gift is a great sin and unheard of in the Kula of Rāma, and how such a sinner shall be accursed and shall become a black cobra.[6] *Lastly* the scribe's name is mentioned as Pandita Vidyādhara, son of Pandita Sīlana.

It is relevant to point out that the Sevadi plates of Ratnapāla (V. S. 1176)

6 This is a commonly used imprecation or curse found in many early mediaeval inscriptions.

deal with the grant of a village of Gundakurcha (modern Gundoch) to the local Brahmins and the king is mentioned as reigning from Nadol. As we know from Mandore records, this King Ratnapāla had a son Rayapāla and the latter was succeeded by Sahjapāla and this last king was apparently reigning from Mandore. As shown by Bhandarkar, while we have a record of Rayapāla ruling from Nadol as late as 1202 V. S., we have another of Kaṭuka deva, as ruling also from Padol, upto Simha S. 71=V. S. 1200. Thus the period from V. S. 1203 upto the V. S. 1218—the date of Nadol copper plate of Alhana, represents a break in the main line of Jeṇḍarāja, Asvarāja, and Kaṭukarāja and Alhana, and has perhaps been caused by these princes, particularly the third, having lost favour with the southern Chālukyas of Anahilvad, with whom the relationship of the Nadol Chāhamānas was constantly fluctuating between a semi-independent and faithful ally, to an enterprising adversary asserting his sovereignty in Marwar. Our record pertains to V.S. 1238, and a year later in V. S. 1239, we have Samarasimha ruling from Jalor in the Sonigara branch started by Kirtipala (Kiṭu of Sonigara records). The only date of Jayatasimha as king that we know is of V. S. 1251 (as shown by Sirohi record) we may think that Jayatasimha had a rather short rule which was rudely disturbed by the invasion in V. S. 1254 (1197 A. D.) of Qutbuddin Aibak into Marwar which resulted in Nadol, amidst other places being in Muslim subjugation for some years.[7] The copper plate (under reference) issued by Jayatasiha in V. S. 1238 when he just became crown prince, possibly stationed at Sevadi, would dire in directly pertain to Kelhana's reign from Nadol, specified as such and the locality in which Pārsvarātha temple stood stated to be as Analapura might be at Sevadi itself. The fact that Kelhana himself has been called at Nripa with only Srīmat as the general title would indicate that the Nadol rulers were then fendatories to the Chālukyas of Gujarat. Our record is the only one of its kind, after the separation of the Nadol and Jalor branches.

Of the persons mentioned in the character, it may be seen that Soḍhā, was the same as the son of the Pālna who is mentioned in XVII of Bhandarkar, of V. S. 1236, while Bhībhaṭā may be apparently the tadbhava of Bhīvadā who is found mentioned in No XVI of Bhandarkar dated in V. S. 1233.

It is interesting, in passing, to note that the name of the village which was Samipāti during the time of Asvarāja in V. S. 1167-1172 has evolved or got corrupted into Simopāṭi in our record, within a period of seventy years.

7 Briggs' Firishtah Vol. 1, p 196: also Elliots' History of India, Vol. II, pp. 229-30. The fact that Achalesvara record of—Mt. Abu (Bhavanagar Prakrit Sanskrit Inscriptions, p. 93) mentions a Jaitasimha of the Gubila dynasty destroying Nadula and defeating a Turushka army would show that in this disturbed period, the Guhilas of Nadol managed to engulf Nadol Chahamanas and drive away Turushkas and add Nadol to their territory.

TEXT

I

1\. 1. Om[1] Nyastapadah samastesu[2] masakesu[3] mahibhrtam cahama
1\. 2. nabhidhah Sriman Vansah[4] Praspurihastyaho ? Srimatanahilsva[5]
1\. 3, minnabhut samapatih krini[6] Raja Sri Jemdaraja (a) pravasurasya
—canubhana
1\. 4. h......Asarajanripastasmadasmadalhanabhupatih Srimatkalhana
1\. 5. devastaddehastoruda bhunnrpah Yujojjinirjjitasesa viseso
1\. 6. drdhasadtatah Srimajjayatasiho (a) sya putrah sobhadya[7] bhurabhun[8] [9]
1\. 7. sri saramamanamalotyatena[10] kramarapapesthena[11] Samvat 1238
1\. 8. varse Vaisakha Sudigsanau Sri m suradvadati[12] gaccha prativahaya[13] Sri
1\. 9. analapure Sri Analavihara Parsvamatha[14] devaya Vausa[15] ma
1\. 10. sina kalyanika mahotsave prativasam[16] balihetoh ku-
1\. 11. marapada bhujyamana Simapati grama satkadanbu[17] dtra[18]

---

1. Shown in symbol.
2. Read samaresu.
3. Read mastakesu.
4. Read Vamsa.
5. Read sphuritasyaho or sasturihastyaho.
6. Read Kriti.
7. Read sobha.
8. Read bhurabhut.
9. Only single strock given instead of double stroke.
10. Sense not clear; possibly Sriya Mahibalodbhutena, referring to the queen mother, Mahibala Devi, queen of Kalhana.
11. Read Kumara.
12. Read Sri Sradvadati.
13. Read-vahaya.
14. Read-natha.
15. Read pausa.
16. Read prativarsam.
17. Sandhi shown without need.
18. Read grahakam.

II

l. 12. nakamadhyatavarsa[19] pratidrammah[20] 8 Astodramma A
l. 13. candrarakkam[21] Sasanena pradattah Amidrammah Simapati
l. 14. ya mahajanenatra tranakamadhye[22-23] devaya detavyah E-
l. 15. tat sasanam devasyarthe vanika bhibhatasuta Ralha A-
l. 16. lhanasuta Tilhana Desalasuta Vajudeva Sodha Suta
l. 17. Alalna ityetaischatu[24] bhirmaukyikai ranakanam[25] Parsve (a)
l. 18. nu palaniyam[26] Asmadvamse Vyatikrante yo (a) nyah ko (a) pi
l. 19. bhavisyati Aham[27] tasya kare lagnanaloyam mama sasana (m)
l. 20. Rama Raghava Rajendra Sapta-kalpansmaramyaham Na sruto na mayadr-
l. 21. stah svayam-dattapaharakah Vimdhyatavisva[28]—toyasu suska ko—
l. 22. tara vasinah krsna sarppah prajoyanti[29] devadaye haranti ye
l. 23. Likhitamidam Pam[30]. Silanaputra Pam. Vidyadharena

---

19. Anusvara misplaced; read varsam.
20. Numeral in addition to figure shown in words.
21. Read achandrarkkam.
22. Read tranakam.
23. Sense not clear
24. Read chaturbhi.
25. Read-kair-ranakanam.
26. The double line shows the end of main text and the beginning of the imprecatory part.
27. Need of this word not clear.
28. Reed Vindhya.
29. Read Prajayanti.
30. Stands for pandita.

GOVERNMENT HOUSE

THE VICEROY'S HOUSE,
NEW DELHI.

My wife and I were so glad to have had the opportunity of seeing the famous caves at Udayagiri and Khandagiri during our recent visit to Orissa.

We were most struck by the simplicity combined with the wonderful sculpture, architecture and antiquity of the caves, and I only wish it had been possible for us to have spent more time studying the fascinating details.

Mountbatten of Burma

Jainism in Bengal

By

Srimati Bandana Saraswati, *M. A.*

A few of the Vedic texts refer to the people of different parts of ancient Bengal with a certain amount of contempt. The regions into which Bengal was divided in those days were considered to be outside the pale of Aryan culture. Sir Ramakrisna Gopal Bhandarkar, the doyen of Indian Indologists, was of the opinion that Bengal was brought within the Aryan fold as a result of the proselytising activites of Mahāvira, the last Tirthankara of Jainism, and other Jaina teachers. Available evidences tend to support this reasonable view.

If we are to believe in the traditions recorded in the Achā ṅga Sutra (2. 8. 3; S. B. E., XXII, p. 82), Mahāvira was very unhospitably received when he travelled in the "pathless country" of the Lāḍhas (Rādhas) in Vajjabhumi and Subbabhumi. The topography indicated by the tradition corresponds to that Bhāgirathi. The people of the country are said to have attacked him with sticks and made dogs bite him.

If the Tirthankara of Jainism might have an unceremonious reception when he travelled through the Rāḍha country, in the following centuries the doctrine preached by him is known to have been accepted in different parts of Bengal with a certain amount of zeal and fervour. The earlier name of the doctrine was Nirgrantha (the name of the religion promalgaled by Mahāvīra, meaning 'free from fetters' and this name continued to be in use till at least the seventh century A. D. A tradition recorded in the Divyāvadāna (ed. by Cowell and Neil, xxviii, p. 427) states that during the time of Asoka the Nirgranthas in Pundravardhana (Mahasthan, Bogra district, North Bengal) had represented the Buddha as falling to the feet of the Nirgrantha (apparently Mahāvīra who was known as Nirgrantha Jñātrputrah. The news being conveyed to Asoka, the emperor is said to have adopted retaliatory measures on the Nirgrant aputras (i. e. followers of the Nirgrantha) in Pāṭaliputra. Whatever may be the authenticity of the tradition, particularly with regard to the latter part, there seems to be little doubt that the Nirgrantha faith had been firmly established in North Bengal by the time of Asoka, i.e. by the third century B.C. The Kathākosa tradition regarding the Jaina patriarch Bhadrabāhu, the spiritual preceptor of Asoka's grandfather Chandragupta Maurya, being born in a city in North Bengal, now identified with Devkot Bangarh (Dinajpur district), may

indicate the prevalence of the faith in this region as the fourth century B.C.

In the early history of doctrine, particularly in Eastern India, Bengal also seems to have played a significant role. According to the Kalpasutra (S.B.E., XXII, p. 283), a work containing very old traditions, after Bhadrabāhu there was a split in the Jaina church leading to the emergence of a number of schools all having a general affiliation to the main church. Godāsa, a disciple of Bhadrabāhu, is said to have been instrumental in founding a school, called Godāsa-gana after him, which in course of time developed four branches (Sākhās) known respectively as Tāmraliptika, Dāsī Kharvatika, Pundravardhanīya and Kotivarshiva. These names are known to have been derived from those of four well-known places in Bengal: the first from Tāmralipta, the ancient sea port city in lower Bengal; the second possibly from Kharvaṭa in West Bengal; and the last two from Pundravardhana and Kotivarsha, two ancient cities in North Bengal. As inscriptions of the first century B. C. and first century A. D. (Guerinot, Epigraphic Jaina, pp. 36 ff, 71 ff, etc.) are found to contain names of a large number of schools may be believed in the Kalpasutra, these traditional schools may be believed to have been well established by that time. Bengal in those days is known to have contributed not a little to the development of the various schools and branches of early Jaina thought.

Though our materials are scanty and of a stray and isolated nature, the Nirgrantha religion seems to have held the imagination of the people of Bengal in the subsequent centuries for a copper-plate inscription dated (Gupta) year 159, corresponding to A. D. 478–79. It records the purchase of fallow state lands with a view to eventual gift by a Brāhmana couple (Nāthasarmā and his wife Rāmī) for the maintenance of worship with sandal, incense, flowers, lamps, etc. of the divine arhats (Bhagavatām-arhatām...) at the Vihāra of Vatagohāli which was presided over by the Panca-stupa-sraman-ācārya) Guhanandin who belonged to the Panca-stupa section (nikāya) of Banaras (E. I., XX, pp. 59 ff.). The document is interesting in more ways than one. First, it supplies us with a testament of religious catholicity that prevailed in ancient India. Of this catholicity we have a fair number of records mostly testifying to the amicable relations and understanding existing among the different religious systems, especially Buddhism and Brahmanism. The patronage of a Brāhmana couple towards the worship of the Jinas is, however, a rare event and testifies to the hold that the Nirgrantha religion had over the Bengali people of that period. Secondly, Guhanandin, his disciples and disciples of disciples are described to have belonged to the Pañca-stūpā-nikāya of Banaras. This may indicate some impact on the Nirgantha religion in Bengal of certain ideas and views from outside, though the nature and significance of such external impact cannot be ascertained at present. Thirdly, the Jaina vihara of Vatagohali, to which the inscription refers, appears to have stood at the site of the great Buddhist

vira, the twenty-fourth—on four sides of a solid square block. The outlying area of West Bengal, bordering on the Chotanagpur plateau, has yielded majority of images of the Jaina pantheon, though such images are by no means scarce in the deltaic region of the Sundarbans. Of the images found in the latter Area particular reference may be made to a fine metal image of the Jaina goddess Ambika (c. 10th century), formerly in the collection of Sri Kalidas Datta of Majilpur. These images, no doubt, indicate the survival of the Nirgrantha religion in North as well as West Bengal in the period of the Pālas and the Senas. A few of the early temples in West Bengal might have originally belonged to the Jaina faith, but were later on converted to Brahmnical worship. It is in this manner that the Nirgrantha religion was submerged by the rising tide of Brahmanism. The creed remained forgotten till the late Mughal period when the mercantile communities from Western India came and settled in Bengal and ushered in again a new phase of activity in Jaina religion and thought.

Knowledge by itself can not bring liberation nor can mere conduct do so. Knowledge alone is lame, conduct alone is blind

---

Cultural Heritage of Bengal in relation to Jainism

By

Dr. S. C. Mukherji

Jainism, which was preached by Pārsvanātha and Mahāvira in pre-Mauryan times, is still a living faith in India. It has considerably moulded the cultural progress in India. It is one of the earliest religious faiths of India—the history of the growth and development of which have been elaborately delineated in various religious texts and commentaries of the sect both in Prākrta and Sanskrit besides various other vernacular languages of India. The influences which this religious faith once exerted upon the populace of India, specially the *Vaisya* and Kṣatriya communities, including royal personages are evidenced by the existence of numerous temples, rock-cut caves, votive shrines, illustrated manuscripts, images and reliefs of the Tīrthaṇkaras and their attending deities in bronze and stone in various places of the eastern, western and southern zones of India. Mathura and other places of northern India were also other important Jaina strongholds.

Jainism like Buddhism had its origin in eastern India-Vāśalī in Bihar, but it had its influence felt in the neighbouring states of Bihar, viz. Bengal and Orissa. Places like Vaiśali, Rājgir, Pareshnāth hill (Sameta-śikhara) and Pāvāpuri in Bihar are hallowed with the memory of the principal Jaina Tīrthaṅkaras of which special mention may be made of Pārsvanātha and Mahāvīra.

There are evidences to show that some of the royal personages of the Shaiśunāga dynasty like Bimbisāra and Kunika—Ajātasatru were adherents of Jainism. On the evidence of the Hā higumphā inscription of Khāravela, the Kalinga-rāja, it is clear that at least one king of the Nandas was a staunch supporter of Jainism, who carried a Jina figure to his capital, while conquerring Orissia, only to be brought by the great Kalinga king, mentioned above. The founder of the Maurya dynasty, king Chandragupta also embraced Jainism in the later years of his life and died as a member of the Jaina laity at Sravanabelgolā in Mysore. Celebrated Bhadrabahu was the spiritual 'Guru' of this great monarch.

While Buddhist preachers including the Buddha selected Kośala and Magadha as the respective *regions* for propagation of their religious views, Vaisaiī and Bengal were chosen by Mahāvīra and his followers for the aforesaid purpose.

Mahāvīra, who was born at Kunda-grāma in the vicinity of Vaiśālīnagara, spent earlier part of his life in the towns and villages as well as in monastic re-cluses in hilly regions. We have it from some Jaina cononical texts, corroborated by Buddhist texts as well, that Mahāvīra personally visited the Rādha desa and possibly also Suhma-desa to its south in connection with his religious preachings. According to some sceptic scholars, the great Jaina preacher did not actually travel in Bengal. Now, let us examine the correctness of the latter view in the following paragraph.

According to the Jaina traditions, recorded in their canonical texts like the Āyāraṃga Sutta, Kappa Sutta and Bhagavaī Sutta, Mahāvira came to Angadesa, Rādha-desa and Suhmādesa and spent as many as 18 years in preaching his religious ideas. In Lesson 3, Lecture 8 of Book I of the Āyāraṃga Sutta (ed. Jacobi, Trans,) it is said that while travelling in the pathless country of the Lādhas (Rādhas) in Vajjabhūmi* and Subbhabhūmi, Mahāvīra was encountered with various difficulties and oppressions for the people of the said tracts attacked him with sticks, made the dogs bite him and used abusive languages against him. Sometimes it was difficult for him in reaching a village. In the long run, however, Mahāvīra became victorious and brought many people of the Lādha country to his fold. It has further been recorded in the aforesaid text that the mendicants (Nirgranthas or Jainas used to take rough food in Vajjabhūmi and used to move about with long and strong poles in order to drive away the dogs so attacking. As to the presence of the Jaina medicants in that part of country in circa 3rd century B. C. (the date of the Sūtra) we may construe that either Jainism existed there before the arrival of Mahāvīra and he only increased the number of his followers, or the description had nothing to do with Mahāvīra's travel in that land and probably related to the treatment meted only to some Jaina monks at a subsequent period. While the former conclusion cannot be well-substantiated at the present stage of our knowledge, the latter view is unwarranted: To my mind it appears that the Jaina monks came to the Rādha country even before the travel of Mahāvīra in Bengal, and he went there in order to strengthen the number of his adherents. Were the Jaina mendicants, mentioned above, the followers of 'Cāturjāma' observance as preached and practised by Pārsvanātha, for some Jaina followers of parts of the districts of Hāzāribāgh, Rānchi and Mānbhūm were said to have practised the same even at the end of the 19th century A. D. The Bhagavatī-sūtra mentions that Mahāvīra once spent a rainy season at Paniya-bhūmi. The Jaina Kalpasūtra, too records that the rainny season was spent by the great Jaina leader at Paṇiyabhumi (var. of Paniyabhūmi—'anārya-deśa-visesā'). This place was possibly inhabited by the merchant community

*The Ain-i-Akbari refers to a diamond mine in the 'Sarkar' Madaran. Vajrabhumi means 'land of diamond' also Vajrabhumi-Radha-Suhma.

(panya-panita-panitya) place has been located by commentators in Vajrabhūmi ('terrible indegenes') within Rādha country. But, the point is where actually this region was located. According to some, it was equivalent to Bīrbhūm, while according to others it may conveniently located either in Mānbhūm or in Dhalbhūm or in Bānkurā, But it seems to me that the land comprised of stony or lateritic sterile and hard regions of West Bengal and the eastern escarpments of the Chotenagpur plateau bordering the former state, for the word Vajra means hard or sterile. It has perhaps nothing to do with Vracha or Vrajabhūmi or Bājiraghara, as suggested by some. The district of Mānbhūm however, derives its name from the Manavarjakas' or 'Mānavarttikas', mentioned the Mbh. (IX. 357). and the Mārk. Purāna (LVII, 43). It may incidentally be mentioned that Mānbhūm, which lies to the east of the Chotanagpur Division of Bihar comprised a portion of the Jhārkhaṇd region- an indefinitely extensive area, coterminous with the 'Jungle Mahal' tracks. In the opinion of Col. Dalton, the great Anthropologist, the Jungle Mahals district of the 19th century was the land of the 'Bhumijas' and comprised of the district of Burdwan as well as parts of the districts of Bīrbhūm, Bānkurā, Midnāpur, Sāntāl Parganās and the eastern districts of the Chotanagpur Division. As to the sterile character of Rādha, comprising this Vajrabhūmi, we have the evidence of epigraphic records and literature. The northern Rādha, according to the Bhuvanesvara-Prasasti of Bhatta Bhavadeva (cir. 11th cent. A. D.) and the Prabodha-chandrodaya-nātaka of Kṛṣṇa Misra, also of the same date, was a sterile or barren region, lacking in water and consisting of pathless tracks in jungles etc. Subbhabhūmi has been identified by some with Singhbhūm, but the consensus of opinions would equate with ancient Suhma-desa comprising south-western part of Bengal.

Regarding Mahāvīra's travel in Rādha it is further said in the Jaina Kalpasūtra that Vardhamāna-Mahāvīra spent the first rainy season at Asthika-grāma (Lec. V., Sec. 122), which according to its commentator was formerly known as Vardhamāna. But, to my mind it appears that the commentary of the relevant passage in it has not been rightly interpreted, for it was the intention of the commentator to explain that the name of Asthikagrāma was changed to Varddhamāna, after the visit of Mahāvīra in that region. Whatever that may be, the Jaina Kalpasutra, in question, refers to a legend amounting for the change of the name, viz. one Yaksa Śūlapāni collected an enormous heap bones of people on which was built a temple by the people afterwards. The place may be identified with modern of Burdwan. There is a temple called Sāt Deuliyā at the village of Devliyā, a Jaina settlement, not far away from Burdwan Town. It may incidentally be mentioned here that there are places called Hādāipur and 'Yakher Dāngā in the district of Bīrbhūm. It is related in the Kathāsaritsāgara (a work of circa 11th cent A. D.) that once a traveller from the town of Vardhamāna reached the great forest of the Vindhyan system through the southern quarter perhaps

via Bānkurā and puruliā. There was a Vardhamānavihāra (a stūpa) at Tulākṣetra, mentioned in one illustrated Buddhist manuscript of the Pāla epoch. But it was located in Vareṇḍrī, i. e, north Bengal, Vardhamāna as a place-name was very familiar in Bengal (in Rādha, Vareṇḍri and Samataṭa–Chittagong regions) and other states of India in ancient and medieval times.

It is held by scholars that before the coming of the Aryans, the Rādhadesa was inhabited by the non-Aryan people, who spoke an unintelligible speach, i.e. not in an Indo- Aryan language. Major parts of eastern India was considered as 'Vrātyadeśa'. Though aryanization of Bengal began in circa 7th century B. C., there are scholars who think that the land was aryanized by the jaina preachers. As to the time and manner of the spread of Aryanism in Bengal scholars differ, but it seems true that Rādha was aryanized later than Puṇḍrabhūmi. According to the Ceylonese Mahāvaṁśa, reclamation of Rādha was achieved by the semi-legendary king Vijaya of Vanga. This text has described Rādha as being covered in jungles, infested by wild animals and inhabited by peoples with totemistic beliefs. Thus, we see that though the suggestion of the aryanization of Bengal by the Jainas cannot be accepted as true, it is certain that both Aryans and non-Aryan monks often visited Rādha or Suhma country in the 5th century and onwards.

From a critical analysis of the Jaina and Buddhist chronicles and canonical texts, it seems certain that Bengal (Puṇdravardhana, Rādha and Suhma) was the sweet home of Jainism in the 4th—3rd Cent B. C. onwards untill it was checked by the tide of the resurgent Buddhistic and Brahmanical faiths in 8th cent. A. D., though it continued to remain as a living faith even few centuries after, not to be wiped out even in the present era.

The history of Jainism, which begins with the travels of Mahāvīra and other Nirgranthas (Jainas), culminated in the 3rd cent., B. C., when the illustrious disciple of the famous Jaina religious leader Bhadravāhu (a contemporary and religious guru of Chandragupta Maurya), a native of Bengal born at Devīkota Godāsa (who seemed to have born in east Bengal) formed a sect of his own (Godāsagana) in eastern India with four sub-sections or branches, viz. a) Puṇdravardhanīya, (b) Koṭivarsiya, c)Tāmraliptīya and d) Dāsī-Kharvatika. Each of these sects except the last one was associated with the well-known regions of Bengal. Dāsi-Kharvatika was possibly situated somewhere in the highly tracts or lateritic terrains of West Bengal in Mānbhūm—Midnapore—Bānkurā zone. But, the influence which the 'Godāsa-gana' exerted upon the Jaina community cannot be assessed at present (cf. existance of Gowdas in Mysore), nor it is possible on our part to determine the importance of the Pāncastupa-

*Can it be equated with Karvata, mention in Mbh. II. 30 (Bhima's digvijaya)? Hunter's description of the Kharwars of Midnapur may answer to this question.

nikāya of the Vaṭagohāli in Rajashahi apparently in the Koṭivarṣa region in Bengal, of the Gupta times.

On the evidence of a tradition, recorded in the Buddhist Divyādāna the Nigantha (=Nirgrantha or Jaina) sect was well established in Puṇḍravardhana town, the members of which were massacred by the order of Asoka, the Maurya for allegedly having despoiled the pictures of the Buddha. The Puṇḍravardhanīya monks of the Nigaṇṭha order were also mentioned in the Buddhist Vinaya texts and in one of the descriptive lables of the Bharhut railings. One of the Jaina monks or Rāḍha (Rāṛā) caused the erection of Jaina image at Mathurā (inscribed in the 2nd c. A. D.). There was perhaps a dearth of Jaina inscriptions etc. in Bengal in the few centuries before and after Christ, due to the great massacre of the Jainas at the behest of Asoka. But a revival of Jainism can be noticed in the 5th century A D , when a Brahmin couple donated land grants and made offerings at Vaṭagohāli (Goālbhiṭā) for the maintenance of a Jaina vihāra founded by Ācārya Guhanandin of the 'Panca-stūpa-nikāya' of Kāśī or Navyāvakāśikā. This information has been derived from the Pāhārpur c. p. inscription dated in the G. E. 159, i. e. 478-79 A. D. The said 'vihāra' is now occupied by the great Buddhist temple monastery at Pāhārpur. The plan of the Pāhārpur temple is of 'Sarvatobhadra' type. It is suggested that the 'Sarvatobhadra, type of architecture has been evolved by the Jainas, for the 'caturmukha' or 'caumukha' votive shrines or the Jainas tally well with the former type. K. N Dikshit also has suggested as to the existence of an earlier 'caturmukha' shrine in situ. One monastic recluse of the Jainas is said to have been found at Mainămatī, now in east Pakistan. Few Jaina images, mostly fragmentary and appertaining to the Gupta and the post-Gupta times have also found in Bengal.

We have it from Hiuen-Tsang that Jainism was in a flourishing condition in Bengal when he visited parts of the east, north and south Bengal.He also noticed some Jaina temples and establishments therein, Even in the time of this great chinese traveller, the Digambara Jainas outnumbered their rival sect.

With the revival of Brahmanical faiths and the royal patronage to Buddhism, Jainism went on waning in Bengal from 8th century onwords. But most of the images and temples, as found in Bengal, belong to 9th -10th century A. D. though some of them may belong to 11th - 12th century A.D. Some Jaina shrines, mostly in a ruinous condition, have been noticed in the westernmost districts of west-Bengal and the border-districts of Bihara. During the Pāla Sena times the Jainas in Bengal were mostly assimilated in the 'avadhuta' sect-only to be revived after few centuries-chiefly due to religious zeal or the Jaina imigrants from western-India, some of whom, however, embreaced Hinduism afterwards. The bulk of the Jaina religionists may now be found at Āzimganj (Kāyahas), Jāiganj, Berhampur, Rangpur, Rājshāhī, Rāmpur Boālia - Lohārdāgā, Mānbhūm, Bāli, Hooghly, Uttarpārā and Culcuttā. Most of them belonged to Mārwār and Bikāner, who

came to the aforesaid places for business purpose in or about the 18th cent. A. D. Most of the temples at Mānbhūm and Bānkurā were erected in the 9th-10th centuries. Dalton has attributed the erection of the temples to the Śrāvakas or Śarāks (Jaina) of manbhūm, who came to mānbhūm in connection with the working of the copper mines in the adjacent areas in Singhbhum. Like all colonists they fellowed the river courses and the remains of their temples may be on the banks of the Dāmodara, Kansāvati and Suvarnarekhā. These temples, according to Dalton, belong to circa 14th century A. D. But after a detailed survey of the temples in the area, it has been seen that a bulk of them belonged to 9th-10th cent. A. D., while the other to 11th cent. A. D. and after. There is an inscribed image, belonging to the 'Nāhār Collections' Calcutta, which is datable in the 15th century A. D. However, some of these temples were repaired or renovated by Akbar's General, Mān Singh in the 17th century A. D. Majority of the Jainas of Bengal belonged to the Digambara sect.

Most of the Jaina temples, as noticed in Bengal, have been found in the districts of Bānkurā and Mānbhum. As regards temples in Bānkurā, mention may be made of those at Hārmāshrā, Bāhulārā, Kenduā, Barkolā, Paresnāth, Ambikānagar, Chitgiri, Dharāpāt, Bihārināth Hill & Deulbhirā which were evidently centres of Jainism. Temples of Sāreśvara and Sallesvara in the said district belong to the Jaina group. Architecturally, they belong to circa 10th century A. D. the District of Mānbhūm is also rich in Jaina antiquities, Large ruins of Jaina establishments and temples exist there in places like Charā. Sānkā, Senerā, Borām, Balarāmpur, Pālmā, Ārsā, Deoli, Pākbirā, Lathondungri and Dulmi. The temple at Rājpāra-Orgāndā, dt. Midnapore, belonging to the medieval times, is also of Jaina character. There were perhaps more temples in Manbhūm than in the rest of Bengal put together. The development of Jainism possibly centered round the valleys of Dāmodar, Kansāvatī and Suvarnarekhā, which abounds in scores of Jaina Shrines and 'chaityas' as well as images in stone of the Tīrthankaras and Śāsanadevatās, appertaining to Jaina hierarchy. In the following paragraphs the temples in the districts of Puruliā (part of the Mānbhūm which has come to West Bengal and has become a separate district), Bānkurā and Burdwan are being described briefly locality-wise.

Deoli (Puruliā)—This place, which is several miles to the south-west of Puruliā town, was once a stronghold of the Jainas. The vestiges of the same consists of four stone temples in the four corners with a larger temple in the centre. In one of this 'pancāyatana' group is found the life-size image of Tīrthankara Aruānātha-over the trefoil area round the head of which, was noticed the carved out images of three Tīrthankaras in each side of the two rows. From Jorāpukur, a place adjacent to Deoli, was found several images of Jaina hierarchy.

Pākbira (Purulia)—Several temples in brick and stone as also stone images

of the Tirthankaras were fouud from this place, which is only few miles to the south-east of Puruliā town. Images include those of Mahāvira, Parshvanāth Kunthunatha, Nemirātha, Śāntirātha and Rsabharātha. Most of these images are now being housed in a shed, which possibly occupied the site of a stone temple. Particular mention may be made of one colossal stone image of Mahāvīra, locally known as 'Bhiram' There is an inscription in the pedestal of the image written in the characters of the 9th-10th century A.D., i.e. the time of Pāla suzerainty over Bengal. Some have characterised it as an image of Chandraprabha. The name 'Bhiram' was probably derived from the second part of the name 'Mahā vīra'. The place—name Pakbira was also possibly derived from 'Mahā-vīra' (Pākbirā meaning the place of Bīra, i. e. Mahā-vira). Some of the temples at Pākbirā face to the west and south. The temple, which covers the shed, was once a stupendous temple and faced to the west.

Charā (Purulia)—This stronghold of Jainism once contained as many as seven temples of which two round temples now exist. Stone images and votive 'chaumukha' shrines representing the 24 Tīrthankaras, have also been found from this place, which is only six miles to the north of Purilīā.

Besides the aforesaid places there were other places of Jaina interest in the district of Puruliā, viz. Śānkā. Senerā, [illegible] and Ārsā and Balarāmpur,

In the district of Bānkurā also there were many Jaina temples, of which mention may be made of Bāhulatā, Ambikānagar, Chitgiri, Dhārāpāt and Deulbhirā, Barkolā and, Paresnāth, Śaresvar and Śallesvara.

Jaina temples have also been found at Deuliyā in Burdwan. The Sundarbans area was possibly once an important centre of Jainism, as images of Tīrthankaras have been from places like Nalgorā, Chatrabhoga and Rāipur. It is possible that 'Jatār Deul' in that region might have originally been a Jaina temple. Most of the aforesaid temples in Puruliā were made of stone and consisted of a cella, vestibule portico, maṇḍapa and ardha-maṇḍapa. Stylistically, most of them belong to 9th-10th century A. D. Temple-building activities of the Jainas in Bengal were revived again in the 17th-18th century by the immigrant Jainas from Bīkāner and Mārwār, who built marvellous temples-chiefly in marble-in places like Berhampur, Āzimganj and Calcutta, after a pull of about three centuries due to the inroads of Islam.

The sectarian rancour and animosity played not an insignificant part in converting Jaina establishments or shrines into corresponding Brahmanical and Buddhist norms and forms in subsequent year when Jainism became a spent force in Bengal.

As to the images* in stone and bronze of the Jaina Tīrthankaras and other

*For a detailed description of the images of Jaina Church, please consult B. C. Bhattacharya's Jaina Iconography.

accessory deities, special mention may be made of the images of Rsabhanā'ha from Bhadrakālī in Hooguly, Māndoil in Rajshāhī' Surohār in Dīnājpur, Jhāldā-Patāmdā-Sānkā - Bhrābhūm - Pakbirā in Purul ā, Ambikā, Ambikānagar-Barkolā in Bānkurā, Rājpārā in Midnapur, Ādinā in Māldāh (inscribed in Arabic characters of the 14th century A.D., image being a product of the 10th century A. D., name Ādinā has been derived from Ādināṭha); Śāntinātha from Rājpara in Midnapur; Ujani in Burdwan. Pākbirā in Puruliā, Chiāda and Chitagiri in Bānkurā; Pārsvanātha from Deulbhirā, Bihārirāth hill, 'Dhā·āpat, Bāhulāṛā Bārkolā and Chiādā in Bānkurā, Pākbirā, Barām and Lāthondungri in Puruliā, Kānabēn and Nalgorā in 24 Parganas, inscribed image (date Sam. 1110) from Azimganj in Murshidabad; inscribed Vāsupūjya image in Rajasthāni script from Sāgardīghi; Candraprabha from Pākbirā, in Puruliā; Aruānātha from Deoli in Purulia; Neminā ha from Malpah, Murshidabād and Pakbira; Ajitanātha from Barkola in Bankura & Pakbira in Purulia.

Images of Mahāvīra and the Shāsanadevatas like Ambikā or Amrā or Kuśmandini and Padmāvatī (Jaina Prototype of Brahmanical Manasa and Buddhist Jagulī) have been from several places in West Bengal. Of these, Ambikā of Ambikanagara and Bankurā, one such image in bronze from Nalgora in 24 Parganas, Padmāvati from the same district (preserved in the State Arch. Gallery. West Bengal) as well as seated images of two Sasanadevatas (in one slab), probably identifiable Cakreśvarī with bab the four Tirthanka blems carved in Natai in Midnapur c. 9th cent. A. D. (al State Arch. Gallery) a and unique of their k image of Rsabhanāt 10th cent.-11th cent A. gift of a certain lay J (Shrāvaka) has recent from the district of Pur

The Tīrthankara imag Bengal, are mostly in t tsarga' pose, and they g to 10th—11th cent. A. century Jaina images h found here. In the 'Nah there is Jaina image, whic the 15th century A. D. W these images are still to Jaina centres in West Benga now being preserved in the the Indian Museum, Va Soc. Mus., Vangīya Sahi Museum, Archaeological Di West Bengal and the Asutosl Besides Museums. there are vate collections in West Bengal rich in Jaina antiquities.

For the Jaina images preser State Archaeological Gallery Bengal readers are requested through the scholarly and inf article, written by my colleague S Chakraverty, M. A., and publi Souvenir on the 'Mahavīra Jayant pp. 27-33.

Select Bibliography

1. *Ayaranga Sutta* (S. B. E. Ser., Vol. 22), ed. H. Jacobi.
2. Bagchi, P. C. '*Vangades Jaina Dharmer Praramoha*', *V. S. P. P*, 1346 B. S. (in Bengali)
3. Bandopadhyay, A. K. *Bankurar Mandir* (in Bengali) 1964.
4. Banerji, R. D. : *Eastern Indian School of Mediaeval Sculpture (Mem., A.S.I.) 1933*
5. Chakraverty, D. K. : 'A Survey of Jaina Antiquarian Remains in West Bengal' in the Souvenir on the '*Mahavira Jayanti 1965*'.
6. Dasgupta, P. C. : Archaeological Discoveries in West Bengal—*Bulletin of the Direct. Arch., West Bengal, No. 1.*
7. Ganguly, K. K. : '*Jaina Images in Bengal*', *I. C.*, Vol. 6, 1939.
8. " " '*Jaina Art in Bengal*'-Souvenir, '*Mahavira Jayanti Week*', *1964.*
9. Ghosh, D. P. '*Trace of Jainism in Bengal*', *Mahavira Jayanti Souv., 1965.*
10. *Jain, C.H.—Jaina Bibliography. 1945.*
11. Majumdar, R.C. *History of Bengal*, Vol. I, (ed), Dacca University. 1943.
12. Manbhum, *District Gazetteer*, 1908.
13. Mitra, D. : 'Some Jaina Antiquities from Bonkura, West Bengal' in *Jour. As. Soc.*, Vol. XXIY, 1958 No. 2.
14. Nahar, P.C. : *Jaina Inscriptions.*
15. Sen, B.C. *Some Historical Aspects of the Inscriptions of Bengal. 1942.*

"Amongst the noblest in the land,
Though he may count himself the least,
That man I honour and revere,
Who without favour, without fear
In a great city dares to stand
The friend of every friendless beast."

—**Longfellow**

Social and Cultural Glimpses from the Kuvalayamala

By

Prof. Dr. A. N. Upadhye, Kolhapur.

Lately the Kuvalayamālā of Uddyotan-sūri has been edited by me (Singhi Jain Series, No. 45, Bhartiya Vidya Bhavana, Bombay, 1959). It is a unique Campū in Prakrit. Though it is Dharma-kathā, it is saṃkīrṇa in character, with the result that its contents are not only didactic but replete with details pertaining to various walks of life. There is a stylistic Digest of it in Sanskrit by Ratnaprabhasūri (lately edited by me as a supplement to the above); but the varied details are conspicuously absent in the Sanskrit Digest the primary object of which is to narrate the tales in a classical Sanskrit style so usual in the works of Daṇḍin, Bāṇa and others.

The Kuvalayamālā (in prākrit) bristles with striking social and cultural touches of great interest. The author draws his chief characters from the different well-known layers of the society. By birth Caṇḍasoma was a Brahmin; Mānabhaṭa, a Kṣatriya; Māyāditya, a Vaiśya; Lobhadeva, a Sūdra; and Mohadatta, a prince. The pilgrimage to Gangā and other holy Tīrthas was prescribed by the priest as a prāyaśitta against various sins (48 f., 63 f., 72 f.), though not approved of by the author. A typical Tīrthayātrika is described with reference to his dress and equipments (58.1 f., see also 48.24 f.). A famine or draught of twelve years often led people to migrate for food and prosperity (§ 202). The author supplies a list of respectable ways of earning wealth (57.22 f., also 191.1 f.) and also of benevolent channels of spending it (65.8 f.) Though Vārānasi had many good and bad openings for earning wealth (57.16 f.) it was Dakṣiṇapatha, with Pratiśṭhāna as an important town therein, that was looked upon as a prosperous territory by the traders (57. 27 f.), whose preparations for a trade-trip and onward travel from camp to camp (65.13 f., 135.21 f., 198.23 f.) are noteworthy. We get a good sketch of the preparation of a trader's fleet; the rituals are interesting; and the various items in the boat deserve special attention (61.1 f.). Often the trade-routes pass through perilous forests (§ 118). In the vicinity of the Sahya mountain, there were parties of Bhillas who often robbed the caravans (135.27 f.). Their Pallis (for instance, the Cintamani, p. 139) seem to be pretty

"Amongst the noblest in the land,
Though he may count himself the least,
That man I honour and revere,
Who without favour, without fear
In a great city dares to stand
The friend of every friendless beast."

—Longfellow

Social and Cultural Glimpses from the Kuvalayamala

By

Prof. Dr. A. N. Upadhye, Kolhapur.

Lately the Kuvalayamā'ā of Uddyotansūri has been edited by me (Singhi Jain Series, No. 45, Bhartiya Vidya Bhavana, Bombay, 1959). It is a unique Campū in Prakrit. Though it is Dharmakathā, it is saṃkīrṇa in character, with the result that its contents are not only didactic but replete with details pertaining to various walks of life. There is a stylistic Digest of it in Sanskrit by Ratnaprabhasūri (lately edited by me as a supplement to the above); but the varied details are conspicuously absent in the Sanskrit Digest the primary object of which is to narrate the tales in a classical Sanskrit style so usual in the works of Daṇḍin, Bāṇa and others.

The Kuvalayamālā (in prākrit) bristles with striking social and cultural touches of great interest. The author draws his chief characters from the different well-known layers of the society. By birth Caṇḍasoma was a Brahmin; Mānabhaṭa, a Kṣatriya; Māyāditya, a Vaiśya; Lobhadeva, a Sūdra; and Mohadatta, a prince. The pilgrimage to Gangā and other holy Tīrthas was prescribed by the priest as a prāyaśitta against various sins (48 f., 63 f., 72 f.), though not approved of by the author. A typical Tīrthayātrika is described with reference to his dress and equipments (58.1 f., see also 48.24 f.). A famine or draught of twelve years often led people to migrate for food and prosperity (ह 202). The author supplies a list of respectable ways of earning wealth (57.22 f., also 191.1 f.) and also of benevolent channels of spending it (65.8 f.) Though Vārāṇasi had many good and bad openings for earning wealth (57.16 f.) it was Dakṣiṇapatha, with Pratiṣṭhāna as an important town therein, that was looked upon as a prosperous territory by the traders (57. 27 f.), whose preparations for a trade-trip and onward travel from camp to camp (65.13 f., 135.21 f., 198.23 f.) are noteworthy. We get a good sketch of the preparation of a trader's fleet; the rituals are interesting; and the various items in the boat deserve special attention (61.1 f.). Often the trade-routes pass through perilous forests (ह 118). In the vicinity of the Sahya mountain, there were parties of Bhillas who often robbed the caravans (135.27 f.). Their Pallis (for instance, the Cintamani, p. 139) seem to be pretty

prosperous saṃniveśas (227). The Bhillas are Mlecchas; but now and then, despite their wild habits (112.21 f.) in contrast to the respectable, they too have their code of behaviour (146 13–6). Traders had their clubs; and the custom at such a Club in Soppāraya (i.e., Sopara near Bombay) was that the foreign traders narrated their experiences and adventures and were honoured there with Gandha, Tambula and Malya (65.22 f.). These traders exchanged their information as to what commodities were available in different places and where they could be sold with greater profit. Horses were sold in Kośala in return for elephants; betel nuts were exported to Uttarapatha in exchange for horses; and pearls were exported to Eastern country (pūrvadeśa) in exchange for Camaras. Conchs were available in Dvārakā. From the Barabarakū'a tusks and pearls were brought in exchange for clothes. Palasa flowers could fetch gold in Suvarṇa-dvīpa. Buffaloes and cows fetched netra-paṭṭa in Cīna and Mahacīna. Neem leaves could buy jewels in Ratnadvīpa. Men were in great demand in the kingdom of ladies etc. Some of these details cannot be accepted on their face value : they may be just exaggeration (इ 129). In the busy market places, men from the different parts of the country came and had conversations in different languages (इ 246) which are interesting specimens of contamporary spoken idioms as the author could catch them. Their business conversations are quite lively and give some ideas about the weights and measures (153.16 f.). Greedy merchants took risks of travelling on land and by sea of the dangers of which they were quite aware (65.15 f., 66 6 f.). Now and then there were ship-wrecks (इ 166). Traders went on long journeys, some time for more than twelve years, leaving their young wives behind (74.12 f.) Various good and bad omens were attended to while going on a journey (for the preparation etc. (see इ 285), and they are explained in short (इ 289).

The birth of a prince and the subsequent activities and festivities are elaborated in a stylistic manner. Likewise the wedding is described in all the details : the prelimineries of the marriage, the wedding function along with the rituals and concluding rites, the bed-ceremony, the couple enjoying the sea-sight from the palace terrace and various pastimes such prahelikā etc. (इइ 273-80). A good description of the coronation of Yuvaraja is available (200.8 f.). There is a scene of the royal āpāna-bhumi at which various sweet drinks are served (इ 50).

Very interesting are the gossips of the village ladies bringing water and of the boys in residential scools (149.30 f., 151.18 f.). The parade of conveyances (इ 57) in the royal courtyard and the scene of the Jayavāraṇa running amuck (इ 248) reflect events in the contemporary capitals.

Playing on the swing was an important sport of the spring (51 f.) during which was celebrated Madanamahotsava giving an occasion for youths to meet in the festive gardens (77 f., see the reference to Madanatrayodaśī in line 15). During the autumn, parties of dancers,

actors etc. moved from village to village; and how a programme was enacted at a village is graphically described (46.5 f). There was a festival on the day of the Sharat-paurnima (103.32). While describing the scenes and activities in the city, late in the evening, the author presents a picturesque sketch of the movements of the *Kāminī* (ह 156-58). There may be some exaggeration; still there are available some glimpses of the fashinable and luxury-loving section of the society. Festivities like the Indramaha, Mahānavamī, Dīpāvali and Baladevotsava appear to follow in succession after the rainy season (148.11 f.).

There is a pretty good number of beliefs reflected in the Kuvalayamālā here and there. Blood and flesh were taken from a living body and used for alchemical purpose (69.24 f.) A robber possessed a miraculous sword and a pill, the latter being always placed by him in his own mouth (251.25, 253.18). More than once a miraculous movement, jumping up a like flash of lightening (vijjukkhittaṃ karaṇaṃ) is mentioned (73.24, 87.13).

'Give freely and receive, but take from none, by greed, or force or fraud, what is his own.'

—Bhagwan Buddha

"I am a puny part of the great whole,
Yes, but all animals condemned to live
All sentient things, born by the same stern law
Suffer like me and like me also die."

—Voltaire

Jainism in Kongunadu

By

V. N. Srinivasa Desikan, *M. A., B. A., (Hons.)*

The history of Coimbatore which formed part of the Kongu region has been greatly influenced by that of kingdoms surrounding it. Though the Kongunadu was practically a separate entity throughout her recorded history, its different parts were subjected to the rule of such varied powers has the Raṭṭas. Gangas, Choḷas, Pāṇḍyas, Hoysaḷas, Vijayanagara rulers etc. A study of the history of Kongunādu from the earliest times, speaks of the important role that she has played in the fields of Political history, civilisation, religion and culture. The reported occurence of neolithic implements, from Sircar Sāmakkulam and Pushpathur, deserve special mention in the light of explorations conducted by the author in recent years in Coimbator District.[1] Megalithic monuments of various kinds also abound in this District and M. J. Walhouse is of opinion that they are most numerous here.

Kongu had a flourishing transmarine commerce with Rome and this is proved by the largest finds of Roman coins in Coimbatore District.[2] Shaivite Nāyanārs and Jain scholars were associated with religious movements in the region. Temples dedicated to Vaishnavite and Shaivite deities and bastis dedicated to Jaina Tirthankaras go show the religious tolerations of the Kongu Cholas in their domains. The recent discovery of Brāhmī inscriptions in Arachchalur, near Erode is a landmark in the early history of Kongu[3].

Bavanandi, author of Nannūl, a Tamil grammar, seems to have lived in Sināpuram, a village north of Vijayamangalam. Kongumaṇḍalaśatakam refers to the place of birth and education of Bavanandi as Shanākapuram, in Kurumbanadu, which is identified with Sinapuram, referred to above. The authors of *Perunkathai* and *Kongumandalasatakam* hailed from the Kongunadu. Adiyarku dallar, the commentator of *Silappadikaram* was from a village in *Kurumbanadu*. Gunavīra Panditar, author of *Neminatham*, a treatise on grammar and Vachanandimuni hailed from Kongu Country.

1. Indian Archaeology—A Review 1957-58, P. 38 and 1960-61, P. 18.
2. Madras District Gazetteers Coimbatore District Vol. II, P. 260.
3 Transactions of the Archaeological Society of South I.dia, Silver Jubilee Volum:. P. 125.

As regards the Jaina migration to the South India, Rājāvalikathe, a compendium of Jaina tradition legends, and chronology compiled in the 19th Century, shows that the Jains had colonised the extreme South even before the death of Bhadrabahu (i.e before 297 B.C.). On the inscriptional side, we have Brāhmī inscriptions on the slopes of Nāgamalai range of Arachchalur forest, in Erode taluk. The inscriptions are in Brāhmī characters of about the 2nd century A.D. and in archaic Tamil language[4]. These records are Jaina in character, for not far off from Arachchalur, we have ruins of Jaina temples. The works published during the periods of Saiva Nāyanmars and Vaishnava Aḷwārs, throw a considerable light on the life and activities of the Jainas in the Tamil Kingdoms,

The "Kongudesa Rajākkal" refers to seven rulers of Raṭṭas, in Koṅgunaḍu and many of them have supported and patronised Jaina religion. For example Govindarāya II granted certain lands to Jaina priets Arisṭanna, for the upkeep of the temple called "Congani-varman-basta-Jainya-Devatarcani". Nāganandi, a great Jain theologician was patronised by Kannaradeva. The last ruler of the dynasty, Trivikrama, embraced Shaivism and that was the cause of the downfall of Raṭṭas.

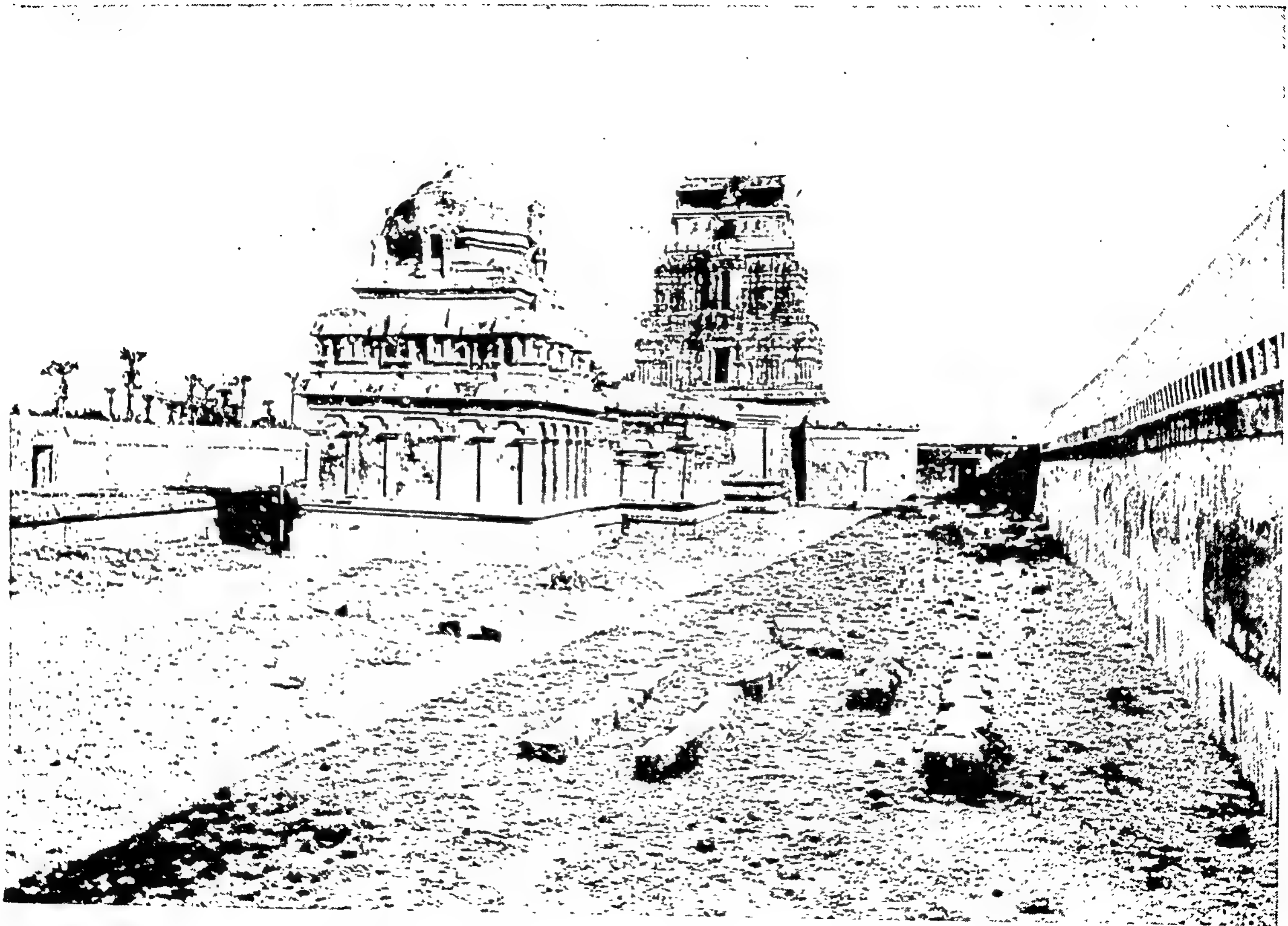
Coming down to the Gangas, we are told that the Gaṅga kingdom was established by Simhanandin, the Jaina Acarya. The story is narrated at length in the Shimoga inscriptions. It is said that king Padmanabha of the Ganga dynasty sent his two sons, Dadiga and Mādhava, to the South on the eve of being attacked by Mahipala of Ujjain. The two sons met Simhanandin at "Perur". The opinion is divided among scholars regarding the identificatiou of 'Perur'. Some identified 'Perur' of the inscriptions with Gangaperur of Cuddapah,[5] while others with Perur of Coimbatore District.[6] The Udayendiram plates of Pṛthvīpati II and Kudalūr inscription of Mārasimha clearly prove that "Simhanandin gave them (Gangas) a kingdom and that he was a reputed Jaina teacher". The Sāntāra inscription on the Humcha stone confirms that the Jaina Acharya Simhanandi was the "promoter of Gangas in Kongu". All these prove that 'Perur' of the inscriptions refer to the one in Coimbatore and not the one in Cuddapah District as the later has no Jaina relics. Gangas made Jainism as their state religion. It may be said that "Jainism found a congenial soil for its growth in Kongu, though the kings did not give any discriminatory treatment to the men of other religions." It is further considered that "It was not a personal transaction that took place between the āchārya and the two Gaṅga princes, but it was actually a contact between the Princes and Jainism as a religion".

Kongu next came under the Chōḷās. It was in 894 A. D., that the Chōḷās invaded Kongu and annexed it to their empire. We learn from Kongudesarajakkal that Āditya I (871-907 A.D.) led

4 "Tamil Inscriptions in Brahmi Script, Hindu Weekly Magazine, dated 20-5-62

5 Studies in South Indian Jainism P. 109.

6 "The Kongu Country." Dr. M. Arokiaswami, p 105.



Mellupudur, Coimbatore Dt. Jain Temple from North West.

As regards the Jaina migration to the South India, Rājāvalikathe, a compendium of Jaina tradition legends, and chronology compiled in the 19th Century, shows that the Jains had colonised the extreme South even before the death of Bhadrabahu (i.e before 297 B.C.). On the inscriptional side, we have Brāhmī inscriptions on the slopes of Nāgamalai range of Arachchalur forest, in Erode taluk. The inscriptions are in Brāhmī characters of about the 2nd century A.D. and in archaic Tamil language[4]. These records are Jaina in character, for not far off from Arachchalur, we have ruins of Jaina temples. The works published during the periods of Saiva Nāyanmars and Vaishnava Aḻwārs, throw a considerable light on the life and activities of the Jainas in the Tamil Kingdoms,

The "Kongudesa Rajākkal" refers to seven rulers of Raṭṭas, in Koṇgunaḍu and many of them have supported and patronised Jaina religion. For example Govindarāya II granted certain lands to Jaina priets Ariṣṭanna, for the upkeep of the temple called "Congani-varman-basta-Jainya-Devatarcani". Nāganandi, a great Jain theologician was patronised by Kannaradeva. The last ruler of the dynasty, Trivikrama, embraced Shaivism and that was the cause of the downfall of Raṭṭas.

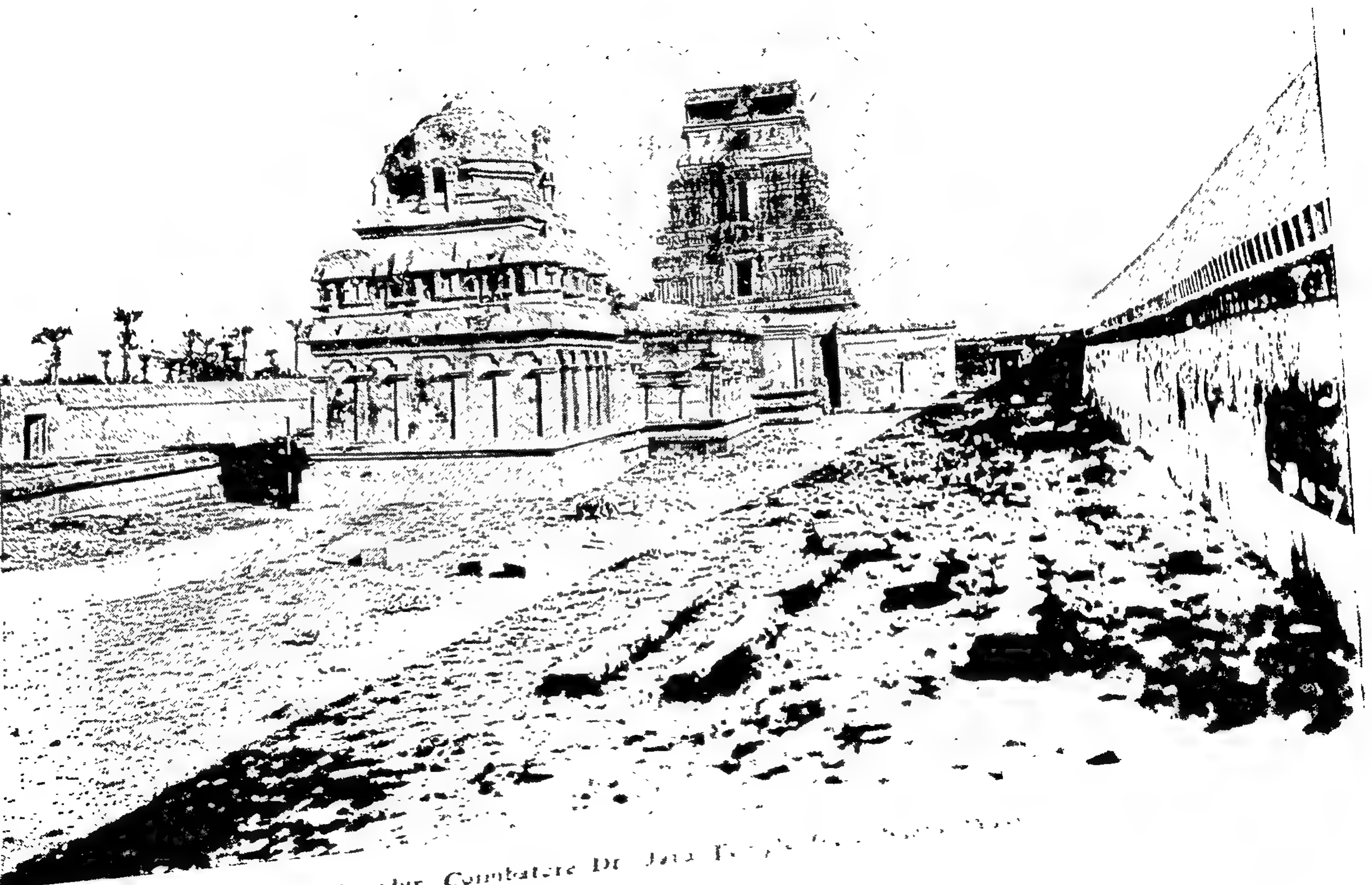
Coming down to the Gangas, we are told that the Gaṅga kingdom was established by Simhanandin, the Jaina Acarya. The story is narrated at length in the Shimoga inscriptions. It is said that king Padmanabha of the Ganga dynasty sent his two sons, Dadiga and Mādhava, to the South on the eve of being attacked by Mahipala of Ujjain. The two sons met Simhanandin at "Perur". The opinion is divided among scholars regarding the identificatiou of 'Perur'. Some identified 'Perur' of the inscriptions with Gangaperur of Cuddapah,[5] while others with Perur of Coimbatore District.[6] The Udayendiram plates of Pṛthvīpati II and Kudalūr inscription of Mārasimha clearly prove that "Simhanandin gave them (Gangas) a kingdom and that he was a reputed Jaina teacher". The Sāntāra inscription on the Humcha stone confirms that the Jaina Acharya Simhanandi was the "promoter of Gangas in Kongu". All these prove that 'Perur' of the inscriptions refer to the one in Coimbatore and not the one in Cuddapah District as the later has no Jaina relics. Gangas made Jainism as their state religion. It may be said that "Jainism found a congenial soil for its growth in Kongu, though the kings did not give any discriminatory treatment to the men of other religions." It is further considered that "It was not a personal transaction that took place between the āchārya and the two Gaṅga princes, but it was actually a contact between the Princes and Jainism as a religion".

Kongu next came under the Chōḷās. It was in 894 A. D., that the Chōḷās invaded Kongu and annexed it to their empire. We learn from Kongudesarajakkal that Āditya I (871-907 A.D.) led

4 "Tamil Inscriptions in Brahmi Script, Hindu Weekly Magazine, dated 20-5 62

5 Studies in South Indian Jainism P. 109.

6 "The Kongu Country." Dr. M. Arokiaswami, p. 105.



Mellupudur, Coimbatore Dt. Jain Temple

the the invasion on Kongu.[7] This is confirmed by an inscription on stone, of Parāntāka I, Aditya's successor, in the Kongu region. Further it is said that a general of Parāntāka I was a native of Kongu and a road was laid from the Chōḷā Country to Kongu to facilitate the communication between the two[8]. When Rajendrachola conquered Talakad and overthrew the Ganga dynasty, the independent Kongunadu became a provincial satrapy of Choḷa empire which later on gave rise to the semi independent dyansty known as Kongu Choḷas. Epigraphical records, refer to the practice of appointing members of their family, by Imperial Cholas, as viceroys of the Paṇdya, Kongu and other conquered territories. The earliest known Kongu Chḷoa was King Vikrama Choḷa I (1004-1045). Kongu Choḷas ruled over Kongu from 1004 to 1303 A.D.

Shaivism was the prevailing religion of Kongu under Kongu Choḷas, which can be proved by the numerous inscriptions referring to the erection of Shaivite temples and endowments for their maintenance. Vaishnavism. did not make much progress during this regime. But Jainism made some progress in the country; it was a living faith in the days of Kongu Cholas. "It has been more often supposed that the Chola kings persecuted the Jains". But that was not the case. On the other hand, Kongu Cholas were tolerant of other religions in their domains, and made endowments to the Jaina temples at Tiŋgalūr and Vijayamangalam.[9] "The decline of Kongu Cholas synchronised with the fall of the Imperial Cholas and this was due to the rise of the Pandyas of Madura and of the Hoysalas of the north".

Of the Hoysalas who ruled over Kongu, after Cholas, some were staunch Jainas. Vinayaditya, the first ruler was indebted for his rise to the Jaina asectic Shāntideva. Vishnuvardhanas' operations were confined to a portion of Kongu.[10] His wife Sāntalādevī was a student of a Jaina teacher Prabhācandra, Vishṇuvardhana was also a fervent militant Jaina, till he was converted to Vaishnavism. It is alleged that he persecuted Jainas, under the instigation of Ramanujacarya. But this is contradicted by the fact that his wife remained Jaina and his general Gangaraja is said to have enjoyed the King's favour. In fact this general, who is considered as one of the three pre-eminent promoters of Jainism endowed and repaired Jain temples and protected priests and images. An inscription of the 12th Century refers to the Hoysala conquest of Kongu under Vishṇuvardhana, and speaks of his general, Gangarajah of great fame, as "a devout Jaina. In fact his was a reign of great toleration" and this was continued during the reign of his successors.

Vijayanagara kings were the political successors of Hoysalas and acquired

7. Madras Journal of "Literature and Science", Vol XIV, p. 14. (Taylor's translation).
8. Madras District Gazetteers, Coimbatore District Vol. II, p 267.
9. Madras Epigraphy Reports No. 614 of 1905 and No. 598 of 1905.
10. Madras District Gazetteers, Coimbatore District Vol. II, p. 275.

Kongu country. They were noted for their religious toleration and hence they were patrons of Jainism. Bukka I is said to have settled a dispute between Vaishnavites and Jainas by issuing a decree. The concluding portion of the decree reads thus: "For as long as the Sun and the moon endure, the Vaishnavas will continue to protect the Jaina-darsana. The Vaishnavas and the Jainas are one (body), they must not be viewed as different." It is clear that the decree is favourable to Jainas. The queen of Devarāya I was a disciple of a Jain āchārya, and she installed an image of Santideva at Sravanbelgola[11] Vīra Harihara Rāya Udayar, son of Devarāya Udayar I, made endowments to the God in the Jaina temple at Vijayamangalam[12] Down to Rāmarāya, all rulers made grants to Jaina temples. The son of a general of Harihara II and a prince named Uga embraced Jainism. It is quite evident, thus that the ruling families of Vijayanagara dynasty patronised Jainism. Even Rajas of Mysore patronised it.

We may now have a short account of the most important Jaina monuments in Kongu region.

Tingalur—The Jaina temple is situated on the main road in Tingalur, which is 17 miles west of Erode, on the metalled road from Erode to Sathiamangalam. The main shrine is dedicated to Puspanatha Tīrthankara and is built of granite slabs, while the rest of the temple is of brick and mortar. There are no inscriptions in the temple. But it is said that there were a few inscriptions in the main temple and they are lost now. An inscription, which is said to have been copied from the main shrine, refers to the grant of the Village Ariganinallūr by Vīra Vallala Deva. The inscription on the door post of kitchen, which is south of the temple, is dated Shaka 967 corresponding to 1045-1046 A.D. and the grant is issued in the 40th year of the Kongu King Vikramachola. This King had the title of Konāṭṭan and the inscription records the construction of a new mukha-maṇḍapa in the temple Sandira-vasadi. The mukhamaṇḍapa is called Singalāṇtakan-pudumukhmaṇḍapa. The free standing pillar, which is a feature of Jaina temple, is said to have collapsed some time back. Tingalūr is famous for its temples dedicated to Vaishnaivite and Saivite deities besides the above Jaina temple, which shows the tolerant attitude of the kings.

Vijayamangalam—The Jaina temple dedicated to Chandraprabha (8th Tīrthankara) at Vijayamangalam is known as Nettaikopura, Koil. The village is situated about 19 miles south west of Erode and is on the mettalled road from Erode to Avinashi. Even in the inscription, the village is known as Vijayamangalam. Besides this temple, there are temples dedicated to Vishnu and Siva.

Facing South and having an imposing gopura, the temple has Jain carvings on the beams in the centre of the

11. Journal of the University of Bombay, p. 181.
12. South Indian Temple Inscriptions. Vol. I, p. 251.



General View of The Jain Temple, Tingalur, Coimbatore District.



General View of the Cavern, Containing Inscriptions in Brahmi, Archchalur, Coimbatore District.

gopuram at the entrance. An image seated on elephant with four hands is unique. The beams on the two sides of ardhamaṇḍapa have Jain carvings in various forms and also Vishnu and Lakshmī."[13] In the Mahamaṇḍapa, there are good sculptures of Rsabhadeva and Pancapāṇḍavas. The niches over the Vimana have plaster Jaina figures. There is a dilapidated Maṇḍapa within the temple on the right side,

There are inscriptions in this Jaina temple belonging to Vijayanagara ruler Vīra Harihararaya Udaiyar, son of (Chikka) Devaray Uḍaiyar and few others which are fragmentary. The Vijayanagara inscription refers to the gift of land and tank in the village of Sengalappalli may be identified with Chengappalli which is about 5 miles from Vijayamangalam on the Erode-Coimbatore road, The inscription is dated Saka 1334 i.e. 1412 A. D. The two damaged inscriptions refer to the gift of land tax free (iraiyili) to the God Ālvār of the Vīra Sangadapperumpalli as Pallichchandam. The record is that of Kongu Chola king Kulottnuṅga Chola, in Sāka 1085 i.e. 1163 A.D.

On the doorpost at the entrance, from east, is a mutilated inscription recording the setting up of certain images and the gift of gold, for providing the expenses of offerings, probably on the days of Vishu ayana Sankranti and the asterism of Karttigai. Another inscription on the other doorpost refers to the gift of the doorpost by a leader of the Vel Jalan regiment stationed at Vijayamangalam. It is dated in Shaka 1189 i. e. 1267 A. D.

Arachchalor—The Nāgamalai range of Arachchalur village in Erode Taluk, has a natural cavern at a height of about 50 feet. The Cavern is locally called Andippārai and this contains three beds with inscriptions. Of the above three, one is badly damaged and the second one consists five lines only. The third one in Brahmī characters is well preserved and this is similar to those in Alagarmalai Anaimalai etc. The inseription is in Ṭamil language. On palaeographical grounds, "the inscription is dated to the first two centuries of the Christian Era".[14] These sloping beds were used by Jaina ascetics who resorted to these beds for completing the vow of Sallekhana. The ascetics who performed Sallekhana would have used the slopes as their beds. It appears that the "ascetic-inhabitant of the cavern was a painter, an accountant, and also a teacher". The inscriptions in the beds are interesting and important from the point of view of Paleaeography.

Trimurti temple—The Trimurti hills, 12 miles from Udumalpet, have a huge boulder about 40′ high, containing "a low relief of a seated Jaina image with two attendents standing on either side". The sculpture is carved high upon the boulder and this can be seen from beneath.

An inscription from the vicinity of the hills to the Jain image as Amanesvara Svāmi, while the region is referred to

13. Annual Report of the Archaeological Dept., Madras, 1910-11, p. 29.
14. "Tamil Inscriptions in Brahmi Script." Hindu Weekly Magazine dated 20-5-62.

Amanasamudram. Amana means a Jaina, derived from Sanskrit "Shramaṇa".

According to the local tradition, the boulder had rolled down from the top of the adjacent hill. This is corroborated by the horizontal position of the image, "because if it was chiselled on the present spot itself, it would have been cut perpendicularly instead of horizontally with the head pointing to the east".

Amanesvara with his two attendants has been identified with a three headed Hindu image TRIMURTI, whence the present name for the hill and the temple. This Trimurti temple bears resemblence with the remarkable hypatheral temples in Orissa.[15]

Poondurai—There is a Jaina temple dedicated to Parsvanatha in the village of Avalpoondurai in Erode taluk. The temple is facing east, and is built of granite stones. There are inscriptions in Tamil in modern characters and they are obliterated due to withering clemencies.

Besides the above, other places like, Vellodu, Kongampalayam and Namittipalayam (all in Erode Taluk) have Jaina relics which stand even today.

To sum up, "the region of modern Coimbatore was a central heart of Jainism in the south at least three centuries before Christian Era" and it continued to be so far a long time. It received good support from all dynasties who had sway over the Kongu region at different times.

A Note on Jainism in Orissa

By

Shri K. S. Behera,

Lecturer, Post Graduate Department of History

UTKAL UNIVERSITY

The history of Jainism in Orissa goes back to the days of Parśvanātha while legendary accounts push back the date still further to the time of the 18th Tīrthaṇkara Lord Aranātha, who is believed to have received his first alms in the metropolis of Rayapur[1]. Rayapur is probably the same as Rajpura described in Mahabharata as the capital of Kalinga. The association of Parsvanath, the historical founder of Jainism, with Kalinga is alluded to in many Jaina literary texts. According to Jaina work 'Kṣetra-Samāsa, Parsvanāth in course of his preaching visited Tāmralipta and Kopakaṭaka which correspond with the modern Tamluk in West Bengal and Koparī in the Balasore district of Orissa respectively.[2] The Parsvanatha-charita of Shri Bhāvadeva Suri gives the story of the marriage of Parsvanāth with Prabhavati after her rescue from the clutches of Kaliṇga Yavana. An abduction scene in the Rani Gumpha is taken to have represented this episode of marriage.[3] There is reference to the kingdom of Kalinga in the Jaina literature. In Jaina work 'Chitrasena Padmāvati Charita, prince Chitrasena is mentioned as the son of king Virasena of Vasantapura, a pattana in country of Kaling[4] while the Jaina Upanga, Prajnapana refers to Kanchanapura[5] as the metropolis of Kalinga. The Jaina Karkandu-chariu[6] mentions the miraculous enthronement of Karakandu in Kaling, while the Kumbhakara Jataka[7] and the Uttaradhyayana Sutra[8] describe him as ruling over Kalinga contemporaneously with Naggaiī (Nagnajita) of Gandhara Divimukha) Durmukh of Pancāla and Nami of Videha. The Uttara-dhyayana

1. Avasyaka Niryukti, 325, Vide A. C. Mittal : An Early History of Orissa, p. 117.
2. N. N. Vasu : Archaeological Survey of Mayurbhanj P XLIII.
3. Bengal District Gazetteers, Puri p. 256.
4. वनुधातमो विख्यातो डेशो नाम्ना कलिङ्ग कण्ठ, ...तत्रास्ति क्षितिश्रृङ्गारण वसन्तपुरपत्तनम् ।
   Vide J. A. Vol. XII, No. 1, p. 36.
5. I. A , Vol. XX. p 375.
6. Vide—Karakandu Cariu, Koranja series, ; Abhidhana Rajendra, III, Karandu.
7. Jataka, III, p.p. 376 f.
8. Hermann Jacobi; Jaina Sutras, Part II, p. 87.

Sutra significantly points out that 'these bulls of kings have adopted the faith of the Jainas, after having placed their sons on the throne, they exerted themselves as Sramanas.'[9] All these indicate that possibly Jainism was introduced into Orissa by the 23rd Tīrthankara and it exercised a considerable influence in the spiritual life of the country. The prevalence of atheistic Jainism in some portion of Kalinga in the early days is indirectly hinted by the Mahābhārata[10] which instructs that the irreligious people of Kalinga should be avoided as they are without the Vedas, without sacrifice and even the gods do not accept any offerings from their hands. The Baudhayana Dharma Sutra[11] also regards Kaliṅga as an impure country.

In the sixth century B. C. Mahāvīra by the amplification of Caturyama dharma gave a decided stamp and distinct status to Jaina ethics; and in this respect he is a great systematiser of that religion. In literary traditions, he too, is associated with the ancient Orissa. According to Jaina Hari-bhadrīya Vrtti[12] the ruler of Kalinga was a friend of Mahāvīra's father; and he invited Mahāvīra to preach his religion. The visit of Mahāvīra to Kaliṅga is also confirmed by Harivamsa[13]; and the Avasyaka Sutra refers to his preaching in Tosali and Mosali[14]. It is significant to note that in ancient times Tosali according to Jaina texts attracted many Jaina preachers and had a Jaina image guarded by the king Tosalika[15]. The Uttarādhyayana Sūtra mentions a merchant of Campa named Palita who was a disciple of the noble and venerable Mahāvīra'. The text further points out that 'as a Srāvaka he was well versed in the doctrines of the Nirgranthas. Once he went by boat to the town of Pithunda on business'. Pithuṇda was undoubtedly a metropolis of Kaliṅga and is mentioned as such in the Hathīgumpha inscription of Kharavela. Dr. Jayaswal on the basis of the line 14 of the Hāthīgumpha inscription[16] also holds that Mahāvīra personally preached his religion in the Kumārī hill of Kaliṅga[17]. The representation of lion in the sculptures of various caves and on the several columns further strengthens his view that the two hills were sacred to the memory of Mahāvīra.[18]

Under the Nandas Kaliṅga evidently formed a part of the Magadhan empire

9 Ibid

10. P C Ray (Trans.): Mahabharata, Karan Parva, Ch 44, pp. 155-56.

11. Baudhayana Dharma Sutra I, i, 29-31; Vide A C. Mittal Op-cit, p.p. 103-04.

12. Haribhadriya Vrtti—Agamodaya Samiti, pp 218-20; Vide J.B.O.R.S. Vol. VIII p. 2[illegible].

13. Jaina Harivamsa III, 4.

14. Avasyaka Niryukti 508, 509.

15. Vyavahara Bhashya 6, 115 f.: Vide A. C. Mittal, op-cit. p. 121.

16. सुपवत विजयचक्रे कुमारी पवते ।

In the Kumari hill (Udayagiri near Bhubaneswar) where the wheel of victory had been well turned.

17. J B O R. S. Vol VIII, p 245.

18. J B O R S Vol. IV, p 336.

and in the line 6 and 12 of the Hāthīgumpha inscription a Nandaraja is mentioned twice. The identification of this Nanda king is a subject of controversy[19] and possibly he was the famous Sarva Kshetrāntaka Mahāpadma Nanda who is credited by the Purānas with the conquest of Kalinga. After defeating Kalinga the Nanda king took away the image of Kalinga Jina as a trophy of his victory. It is difficult to determine the correct identity of Kalinga Jina, while K. P. Jayaswal and R. D. Banerjee identify it with Sītalanātha[20] and Dr. A. C. Mittal with Mahāvīra; Dr. N. K. Sahu suggests that it was no other than Rīshabhanatha who had a great hold in the religious as well as in the Jaina art tradition of Orissa.[21] The Nandas appear to have been followers of Jainism[22] and they did not destroy the Kalinga Jina image which was preserved till the time of Khāravela.

The far flung empire of Chandragupta did not include Kalinga probably due to the fact that it was a land of Jainism and Chandragupta did not like to wage war on a country which professed his own religion. Kalinga was conquered during the time of his grandson Ashoka and the collosal nature of this war has been vividly narrated in the R.E. XIII. It is known from this Edict that during that time Kalinga was inhabited by the Brahmanas and Sramanas and it was for their miseries that Ashoka who certainly professed Jainism at a certain stage of his life'[23] expressed his profound sorrow. Ashoka's grandson Samprati was an eminent patron of Jainism[24] and he did for Janism what Asoka did for Buddhism. During his time Kalinga is casually mentioned in the Jaina work Jambudīva-pannatti,[25] as one of the 25½ kingdoms made suitable for the wandering of the Jaina preachers.

The golden age of Jainism prevailed in Kalinga under illustrious Khāravela of the Mahamegha Vahana dynasty. The Hāthīgumpha inscription first discovered by Stirling[26] and later on edited by a number of scholars like James Prinsep[27], Cunningham[28], R. L. Mitra[29], Bhagwanlal Indraji, Barua[30], Jayeswal and R. D. Banerjee[31] etc., presents a systematic account of the career and achievements of Kharavela till his 13th regnal year. There is no unanimity among the scholars

19. J. B O R, S Vol. IV, p. 91; R. D. Banerjee Vol. I, p. 60; J. A. S. Vol. XIX, pp. 25 f; N. K Sahu, Utkal University – History of Orissa, Vol. I, Chap. IV, pp. 215–263.
20. I. A., Vol. II, p. 136.
21. N. K. Sahu, Utkal University : History of Orrissa, Vol. I, p. 228
22. V. Smith : Early History of India, p. 44.
23. J. A., Vol. II, No. 1, p. 21.
24 V. Smith, op. cit., p. 202 and 458.
25. Jambudiva Pannatti, XX, p. 107, vide A. C. Mittal op. cit, p. 119.
26. Asiatic Researches Vol. XV, p. 313 ff
27. J. A. S. B. O. S Vol., XI.
28. C. I. I., Vol I, p. 27, Pl. XVIII,
29. R. L. Mitra : Antiquities of Orissa, Vol. II, p. 16 f.
30. Barua : Old Brahmi Inscriptions in the Udayagiri and Khandagiri caves.
31. E. I, Vol. XX, p. 72 ff.

regarding the date of Khāravela and he has been variously placed in the fourth[32], third[33], second[34] and first century B.C.,[35] on the conflicting interpretation of the word 'Tivasasata' and the alleged reading of the worn 'Muriya Kala' in inscription. But it would not be wide out of the mark to place him in the first century B. C. on the basis of palaeography, language and art.

The inscription makes it absolutely clear that jainism was the personal religion of Khāravela and it made tremendous progress during his reign. The inscription begins with salutes to Arhatas Sidhas[36]. They are no other than the Arhat (or Tīrthankara) Paramesthin and Siddha Paramesthin, who along with Ācharya Paramesthin and upadhyaya Paramesthin and Sadhu Paramesthin constitute the venerable Panca Paramesthin of Jainism. Althoughh a Jaina Kharavela never hesited to wage wars and in the 8th regnal year he did a single service for Jainism by pursuing a retreating Yavana king in Mathura which was then popular centre of Northern India. In a triumphant procession he brought a sappling of Kalpa tree to Kalinga. The reclamation of Pithunda in the 11th regnal year by ploughs drawn by asses[37] in stead of by bulls unmistakably points out his reverence for Risabhanatha who is associated with the bull. His 12th regnal year gave an added impetus to the cause of Jainism when he brought back from Magadha the image of Kalinga Jina which had been taken away by a Nandaraja[38] three hundred years before him. It is significant to note that a scene in the Manchapuri cave is taken to represent the worship of Kalinga Jina image by Khāravela and his queen[39]. It appears that as a Jaina Khāravela observed the principles of Jainism in a less rigorous befitting a house-holder where concessions are granted in the observance of the vows of ahiṁsa, digvrata and desavrata. Therefore the wars, the collection of precious jewels as booty during his campaigns, the stately grandeur, his marriage of two queens[40] and his love for music and dance etc, though offer a contrast to the puritanic principles of Jainism are in keeping with the 5 anuvratas, 3 guṇa-vratas and

32 R. L. Mitra, op cit, p. 16 f.

33 J. R. A. S., 1910, pp. 242 f, E. I., Vol. X, p 161.

34. J. B. O. R. S., III, p. 425, Vol. IV, p. 364 f; Vol. XIII, p. 221 f.

35 H. C. Raychaudhuri: Political History of Ancient India, p. 377 f; Barua op. cit., p. 268 f; N. N. Ghose: Early History of India, p. 189-197; D. C. Sircar: Select inscriptions, p. 206

36. नमो अरहंतानं [।] नमो सवसिधानं ।

37. पिथुडं गदभ-नङ्गलेन कासयति

38. नन्दराजनीतं का(लि)ङ—जिनं

39. I. H. Q., Vol. XXVII, pp. 103-04; K. C. Panigrahi: Archaeological remains at Bhubaneswar, pp 226-27; N. K. Sahu, op. cit., p. 359-363.

40 The polygamy was not unknown in Jaina texts as revealed from the careers of the kings Bharata, Vikramayasa, Saniya and that of Gahaval Mahasaya; vide—V. A. Sangva—Jaina Community p. [illegible]

4 siksha-vratas prescribed for a householder. But as years rolled by his spiritual vision expanded and in the 13th regnal year we find Kharavela as the Jaina monarch par excellence—a truely Bhiksuraja and Dharmaraja of the inscription. This remarkable spiritual transformation of his mind might have b en due to his association with Mathura and it is probable that in the later life he became a mendicant and observed the sacred five vows of ahimsa, satya, Asteya brahmacharya and aparigraha as Mahavratas and not as Anuvratas like a householder. His patronage attached the learned Jaina saints and sramanas from all over India; and they assembled in a conference (Sanghayanam) to compile (upadayati) the Amgas from various lost or incoherent religious texts. The monks appear to have belonged to the Svetambara order as they wore pieces of white cloths (vasā sitāni) and the robes (china vatani). The love and the high esteem for the Arhatas prompted him to construct as many as 117 caves for the resting of their bodies.[41] He also constructed a magnificant building at the request of the queen of Simhapatha.

But inspite of his sincere devotion for Jainism he set a rare example of religious toleration by honouring all religious denominations. He is described in the inscriptions as the worshipper of all religions (Sava pasanda pujaka) and repairer of all temples of gods (sava Devayatana Samkara Karaka). The internal evidence of the Hathigumpa inscription s well as the sculptures of the earlier caves of Khandagiri throw light on the different aspects of Jainism as it prevailed in Kalinga during that period. It shows that the worship of various sacred symbols like Vaddamangala, Svastika, Nandipada and Vrksa Caitya have entered into the pantheon of Jainism. The worship of Lakshmī flanked by two elephants is also noticed as an auspicious motif. Jainism also made considerable headway in Kalinga under Maharaja Kudepasī[42] and Kumara Vadukha[43] who as successors of Kharavela constructed the main wing of the lower storey and a side chamber of the Manchapuri cave respectively.

After Kharavela the history of Orissa enters into an obscure phase for some centuries and it is difficult to determine the condition of Jainism during that period. A gold coin of the Maharaja Rajadhiraja Dharmadhara of the 3rd century A.D. has been found from Sisupalgarh in course of the excavation and according to Dr. A.S. Altekar[44] he was probably a Jaina king of the Murunda family who controlled Orissa in the post Kharavela period. The Murundas were said to have been the followers of Jainism.[45] But gradually after Kharavela Buddhism became popular among the people. We know from

41. कुमारी पवते ग्ररहते परिनिविसतो हि काय निसीडियाय,
42. E. I., Vol. XIII, p. 160.
43 Ibid.
44. Ancient India, No. 5, pp. 100-01
45 N K Sahu, Op. cit., p. 421.

the Dāthā Vamsha that Guhashiva (C.400 A. D.) the king of Kalinga, was converted to Buddhism from Jainism and all the Nirgrantha Jainas, being driven out from Kalinga took shelter in the court of king Pandu of Pataliputra.[46] This story indicates the rivalry between the two sects for supremacy. With the gradual popularity of Saivism and devotional Vaisnavism the influence of Jainism further declined yet it never altogether died but was silently supported by a mass of humble people who kept burning the torch of Jaina culture. The ratna trayī of Jainism with its high deals of right faith (samyag darsana) right knowledge (samyag-jnana) and right conduct (samyak-caritra) never failed to inspire people to attain their salvation.

In the 7th century A.D. Hiuen Tsang testified to the prevalence of Jainism in Kalinga. He says that in Kalinga 'among the unbelievers the most numerous are the Nirgranthas'.[47] The austere life of the Jainas in India attracted his attention and he mentions that the Nirgranthas and their followers go without clothing and so attract notice, making it a meritorious act to pull out their hair by violence, their skin dried up and their feet hard and in appearance like the decayed wood on the river bank'[48] The Banpur plate[49] of the Sailodbhava king Dharmaraja (C. 6th-7th century A. D) mentions that his queen Kalyana Devī gave a gift of land to a Jaina monk named Ekasata Prabudha Chandra for religious purposes. He was a disciple of Arhadacarya Nasi Candra and the phrase ekasata possibly indicates that he had taken a row to wear only one cloth. This donation not only shows the religious toleration of the Sailodbhavas but so it indicates that Jaina Acaryas were respected in the then society.

Inspite of dynastic changes in Kandagiri and Udayagiri continued to command popularity as cultural centres of Jainism, an inscription[50] of Udyota Kesari (11th Century A D.) in the Navamuni caves mentions Khalla Subhachandra as the disciple of Kulchandra, who belonged to the Grha Kula of the Arya congregation and belonged to Desigana. Subhacandra and Kulacandra are mentioned as Jaina gurus in the inscriptions of the Kalyani Chalukyas and that of the Yadavas of Devagiri[51] although they were not the same Jaina teachers of the Navamuni cave. Another inscription of Udyota Kesari in the Lalatendu Kesari cave[52] says that 'In the year five of the victorious reign of illustrious Udyota Kesari and on the illustrious Kumara mountain decayed tanks and decayed temples were caused to shine and at that place the images of the 24 Tirthankaras were set

46. Datha Vamsa Chap II, Verses 72-91.
47. Beal : Buddhist records of the Western World, Vol. II, p. 208.
48. Beal : Life of Hiuen Tsang, p. 162.
49. E. I., Vol. XXIX, pp. 38-43; S. N. Rajguru : Inscriptions of Orissa, Vol. I, Part II, p. 223-228
50. E. I., Vol. XIII, pp. 159-167.
51. I. A., Vol. IX, p. 65 and 68.
52. E. I., Vol. XIII, pp. 159-167.

up'. The ecclectic religious outlook of the Soma Vamsi rules finds expressions by the carving of Jaina Tirthankaras in the niches of the outer surface of the low compound wall of the Mukteswar temple[53] which was built during their supermacy. Further an inscription from Balasore[54] mentions one Kumara Sena who seems to have been a Jaina teacher of the 10th-11th century A.D. The Kalyana Karaka[55] in Sanskrit verse by Ugraditya, disciple of Sri Nanda composed in a Jaina temple on Ranagiri in Trikalinga country, mentions one Kumara sena along with Virasena, Siddhasena, Dasaratha Guru and Patraswami etc. The revival of Jainism with elaborate image worship in Orissa in the 8th and 11th century is testified by the discovery of fine images of Tirthankaras from many parts of Orissa and very probably the revival was conducted with the influence of the Rashtrakutas who were great patrons of Jainism. The Rashtrakuta king Govinda III claims to have conquered Kosala, Kalinga, Vanga and odraka.[56] But the glory and power of Jainism did not last long and the subsequent decline of Jainism in Orissa and very probably due to the increasing hold of Vaisnavism in general and of Jagannath worship in particular. The persecution of Jaina Siddhas and the Budhists in the hills of Dhauli, Vanibakresvara etc. by the Ganga king Madan Mahadeva in the close of the 12th century A.D. is revealed by the Madala Panji[57], the chronicle of the Jagannath temple. But the decline of Jainism is primarily due to its rigid orthodoxy, the fragmentation of the Jaina brotherhood into numerous sects and sub-sects not only in the religious sphere and the lack of royal patronage which was sin qua non for the progress of a religion in ancient India. Although as a temple cult it declined due to the lack of royal patronage, as a religious culture it outlived and "survived the down fall of its monasteries" and continued in the hearts of men. The Sarak weavers of Tigiria Bādāmbā and Bānki subdivisions of Cuttack are the Hinduised Jainas of the earlier times.

The Jainas played a vital part in the linguistic development of the country; and the Jaina principle of Ahimsa found expression in the Oriya folk story of Baula Carita and in the different episodes of the Oriya literature. The discourses of Ṛśabhadeva to his hundred sons in the Oriya Bhagwata echoes the noble ideals of Jainism while the Jānughaṇṭa episode narrated in the Oriya Mahabharata of Sārala Das (C. 14-15th Century A.D.), where the king Jānughaṇṭa goes nacked and begs his daily food shows unmistakable Jaina influence. The Jain influence is visible in the Citra Cāṇḍāla episode of Prachi Mahatmya (C. 18th century A.D.)[59]

53. K. C. Panigrahi, op. cit.. p. 93, fig. 60.
54. O. H. R. J., Vol. II, No. 2, pp. 21-22.
55. J. A. Vol. XIII, No 1, P. 5.
56. Sanjan Plates of Amogha Varse 24, E. I., Vol. XVIII, p. 253.
57. Madala Panji (Oriya) Prachi Edition, p. 25.
58. L. N. Sahu, Jainism in Orissa (Oriya), pp. 114-128.
59. J. B. O. R S, Vol. XVI, pp. 194-195; J. A., Vol. No. 1, pp. 33-39.

the Dāthā Vamsha that Guhashiva (C.400 A. D.) the king of Kalinga, was converted to Buddhism from Jainism and all the Nirgrantha Jainas, being driven out from Kalinga took shelter in the court of king Pandu of Pataliputra.[46] This story indicates the rivalry between the two sects for supremacy. With the gradual popularity of Saivism and devotional Vaisnavism the influence of Jainism further declined yet it never altogether died but was silently supported by a mass of humble people who kept burning the torch of Jaina culture. The ratna trayī of Jainism with its high deals of right faith (samyag-darsana) right knowledge (samyag-jnana) and right conduct (samyak-caritra) never failed to inspire people to attain their salvation.

In the 7th century A.D. Hiuen Tsang testified to the prevalence of Jainism in Kalinga. He says that in Kalinga 'among the unbelievers the most numerous are the Nirgranthas'.[47] The austere life of the Jainas in India attracted his attention and he mentions that the Nirgranthas and their followers go without clothing and so attract notice, making it a meritorious act to pull out their hair by violence, their skin dried up and their feet hard and in appearance like the decayed wood on the river bank'[48] The Banpur plate[49] of the Sailodbhava king Dharmaraja (C. 6th-7th century A. D) mentions that his queen Kalyana Devī gave a gift of land to a Jaina monk named Ekasata Prabudha Chandra for religious purposes. He was a disciple of Arhadacarya Nasi Candra and the phrase ekasata possibly indicates that he had taken a row to wear only one cloth. This donation not only shows the religious toleration of the Sailodbhavas but so it indicates that Jaina Acaryas were respected in the then society.

Inspite of dynastic changes in Kandagiri and Udayagiri continued to command popularity as cultural centres of Jainism. an inscription[50] of Udyota Kesari (11th Century A D.) in the Navamuni caves mentions Khalla Subhachandra as the disciple of Kulchandra, who belonged to the Grha Kula of the Arya congregation and belonged to Desigana. Subhacandra and Kulacandra are mentioned as Jaina gurus in the inscriptions of the Kalyani Chalukyas and that of the Yadavas of Devagiri[51] although they were not the same Jaina teachers of the Navamuni cave. Another inscription of Udyota Kesari in the Lalatendu Kesari cave[52] says that 'In the year five of the victorious reign of illustrious Udyota Kesari and on the illustrious Kumara mountain decayed tanks and decayed temples were caused to shine and at that place the images of the 24 Tirthankaras were set

46. Datha Vamsa. Chap. II, Verses 72-91.
47. Beal : Buddhist records of the Western World, Vol. II, p. 208.
48. Beal : Life of Hiuen Tsang, p. 162.
49. E. I., Vol. XXIX, pp. 38-43; S. N. Rajguru : Inscriptions of Orissa, Vol. I, Part II, p. 223-228
50. E. I., Vol. XIII, pp. 159-167.
51. J. A., Vol. IX, p. 65 and 68.
52. E. I., Vol. XIII, pp. 159-167.

Vasudeva in a temple at Narayan Chhak of the town. The image of Santinatha (32″ × 16½″) of the Matrika temple with trilinear umbrella over head is in the Kāyotsarga Mudrā. The image is flanked by 24 miniature Tirthankaras on its side and 2 Chauri bearers, while at the top we find the usual lanchana, two Kalasas on one side and another Kalasa and a devotee on the other side. Made out of chlorite the image is a remarkable piece of Jaina art. The image of Santinatha (45″ × 22½″) inside the compound of the Akhandaleswar temple is equally beautiful. The standing image is surrounded by 8 planets carved four each on the two sides, the 9th planet Ketu being absent. The image is attended upon by two Chauri bearers and overhead there are two flying vidyadharas. In the pedestal not only we find the usual Lanchana but on the left side we find Laxmī flanked by elephants standing on two lotuses, while on the right side we find one standing male figure and three seated female figures holding offerings. These Jaina antiquties clearly confirm the idea that apart from being a sakhta ksetra, once it was a place of Jaina influence. Prachi valley was also a popular centre of Jainism in early medieval period.[69]

Although the sramana culture is now confined to a small community[70] Jainism prevailed in Orissa from at least 8th century B. C. and thought chequered by ups and downs, continued as a living and popular faith for many centuries and made remarkable contributions in the sphere of religion, art, architecture, language and literature.

---

69. G. S Das : Exploration of the Prachi Valley Report pp. 28-29 and Plate 14.

70 According to 1951 Census it was only 1248—Males 742 and females [illegible].

The Jaina influence in the religious culture of Orissa can also be noticed. In the religious life of Orissa Jagannath plays an important part and in this composition and composite cult of Jagannath the Jaina infuence is clearly visible[60]. The worship of the Trident as a sacred symbol and the 'all pervading conception of three into one' according to some scholars, essentially and originally belonged to Jainism.[61] The very title 'Natha' of Lord Jagannath is a characteristic title of Jainism and the figure of Jagannath is only a combination of the Jaina Vaddhamangala and Nandipada.[62] The Jñāna Siddhi of Indrabhuti describes Lord Jagannath as being worshipped by all the Jinas.[63]

The Jaina art treasures of Orissa form an important branch of Indian religious art. The Jaina art and architcture of Khandagiri and Udayagiri have been elaborately discussed by various scholars and these monuments mark the hight of glory of Kharavela's dynasty, when freedom had been won, the defeat from Magadha avenged, the sacred seat of Jaina recovered and the revival of Jainism was in full force'.[65] The Jaina Tīrthankaras are found in Jeypore, Nandanpur and in Vairabsinhapur of Koraput district. Images of Pārsvanātha, Rsabhanatha and Mahavira survive in many places of Keonjhar and Mayurbhanj district [65] as symbols of their contributions in the realm of art. The Orissa State Museum possesses four images of Jaina Tirthankaras fromt he village Charampa in the Balasore district and some of these images have a number of double concave marks on their bodies.[67] The Jaina temple at Cuttack has many rare specimens of Tirthankaras of medieval period as objects of devotion. Among them the representation of Rsabhanath and Mahavira on a single slab and a wonderful slab containing Rsabbanath in the Padmasana pose being attended by Bharata and Bahubali along with more than hundred miniature standing figures, are of great iconographical interest. The two miniature Caityas containing Tirthankaras in its sides resemble the Chaitya described by N.N. Vasu from Bada Sahi in Mayurbhanj.[68] In Jajpur (Cuttack District) also we notice Jaina images in the Akhandaleshvara temple and inside the Matrīka group of temple, while a very beautiful image of Parsvanath is being worshipped as Ananta

---

60. I. H. Q. Vol XIII, pp. 600-09.
61. J. A. Vol. XI, No. 1, p. 11.
62. B. M. Padhi—Daru Devata (Oriya) Chap. VI.
63. प्रणिपत्य जगन्नाथं सर्वजिनवरार्च्चितम् ।
    सर्वबुद्धमयं सिद्धि व्यापिनं गगनोपमम् ॥
    Vide Two Vajra Yana Works—G. O. S., Chap. I, Verse I.
64. Devala Mitra—Udayagiri and Khandagiri; N. K. Sahu, op. cit, pp. 377-395; A. C. Mittal op. cit, pp. 370-394.
65. K. C. Panigrah, op. cit., p. 206.
66. N. N. Vasu, op. cit., pp XLII to XLVI.
67. O. H. R. J., Vol. XI, No 1. pp. 50-53; O. H. R. J., Vol. I, No. 3, pp. 254-64.
68. N. N. Vasu, op. cit., p. XCVI, Plate 53.

The Electro-Magnetic Field in Man

By

Gyan Chand Jain, *M. A.*

A modern discovery discussed and correlated with Jaina Theory of Karman and Taijas Bodies.

The fact of electro-magnetic field in every living being and man is a very important discovery, or, rather rediscovery of modern science. It was also known, in west, in past. Galen advised electric shock from torpedo fish as a cure for headache.[2] The spiritualists of various sorts have been using it and creating effects on persons and things. Now these phenomena are electricity and magnetism. The electricity in a human body can be known through electroencephalograph, ossilograph etc. In fact, our every action, voluntary and involuntary, such as muscular contraction and glandular secration involve the use of electricity.[2] A Russian scientist Dr. Arkadieve has calculated 10 9 watt electricity in a human body. This is of a very weak type but it is possible to develop it through concentration and other practices of yoga.[3] Dr. R. M. K[illegible] has interpreted Sankhya co[illegible] Prakrti and Purusha in electro-m[illegible] erms in [illegible] cent articles.[4] He [illegible] t every[illegible] has a unit magnetic body in association with a electric body, giving rise to electro-magnetic field. The magnetic body is Purusha while the electric one is Prakrti together giving rise to the human personality. Dr. Kasliwal calls the electro-magnetic field as "self consciousness", unit magnetic field as "cosmic consciousness". Cosmic consciousness may be taken as "Kevala Jnana" of Jainism but it may better be interpreted as "Brahnra" of Vedanta as he talks of merging of unit magnetic field into Cosmic field and presently existing as part of the "whole". It may be remembered that Sankhya (or Yoga) system does not conceive its purushas as merging into any cosmic entity.

Though Dr. Kasliwal has drawn parallels with Sankhya-yoga system but his whole cocept is a physicalistic one. He conceives consciousness as energy, 'energy' as convertible into matter or 'mass'. To conceive consciousness as energy or force has not been uncommon

"Whatever thou thinkest, man,
That too become thou must,
God, if you thinkest God;
Dust, if thou thinkest dust."

—Unknown

and yogis it may become very powerful to ef.ect any disired benefit or destruction to oneself and others. Both these bodies karman and Taijas are permanetly attached to the Jiva in Samsarika stage. They are made better or worse but they always stay. It is only in the case of the self-realised souls, completely detached from anything other-than-their-souls that these bodies are totally shed away. These souls then become Parmataman.

Thus we see that the magnetic and electric bodies are really the paraphernelia of the soul through all its transmigrations. To call the magnetic body the soul of man is, according to Jainism, absurd. It is a physicists bais for physical monism that he wants to reduce every phenomenon to materialistic terms. The Western minds, minds educated in their lines, and unsophisticated minds too, often get accustomed to one sort of reality and find it difficult to conceive any other sort. The word is either wholly material for them or wholly non-material. They can not conceive 'ghost in the machine'. But there are some, and their number is fast increasing, in the field of psychology, parapsychology particularly, in the west who feel convinced of duality of matter and mind, essential to account for the phenomena of the freedom of will- and to explain the distinct types of sensory and extra-sensory perceptions.[7] Even the Biologist of Julian Huxlay's eminence has coined the term 'psychometabolism' as contrasted to the phenomena of biological metabolism which is evidently a material process. Indeed, there is quite an evident rift in the west and materialistic monists are openly challanged and fleuted today when they have the audacity to try to explain the non-material conscious phenomena in purely physical terms.[8]

In fact, the theories of the modern scientist have been mostly illicit generalisations which on later discoveries are proved false. To take an example, in some detail, the Darwinion theory of Evolution, which, in west, became basic to all bio-social thinking about man, provides a perfect frame of refrence but it also prejudices man against the facts which are not included in it. This theory supposes the rise of one species from another. As circumstances changed those who could adopt survived and those who could not got destroyed. That is all true and can work as a very good hypothesis in discovering the process of social and political history of man. Still there are facts coming before the scientists, in huge number, showing incompleteness of the theory and calling for important changes in its conception. The theory conceived the individual merely as a sperm in the father's body starting his life's journey in the mother's womb, perishing completely at death having procreated sometimes some sperms from his body as man during his life-span. He has himself no pre-natal and post-mortem existence. He is merely a link in the evolution of species. The facts of rebirth, survival and transmigration have redeliverd man from this object state. He can now no more

7. J. B. Rhine, New World of the Mind; Page 225

8. Ibid.

even in the spiritualist thinkers. Sri Aurvindo talked of 'conscious force.' Jainism maintains Anant-Shakti as one of the Anant-Chatustayas which charactrise Jiva in pure State. We do feel "will" as force and talk of strong and weak will. But we should distinguish spiritual and material force or energy as Julian Huxley distinguishes the former as "poychergy".[5]

To proceed further with the field, the physicists are not in a position to doubt the fact of rebirth and survival of human soul. The famous Shanti Bai case of rebirth and host of cases of survival as 'spirits' have disabled the physicists and biologists to assert their old Charvaka convictions of death as a total nigation of human personality. According to Dr. C.D Broad the survival of a poychic factor must be admitted. To Dr. Kasliwal, and probably to other physicists, the electromagnetic field is that 'factor' which transmigrates and takes rebirth somewhere, or otherwise survive. Indeed it has been discovered a fact that on death the gross body gets devoid of the electro-magnetic field;it may very well be said to have transmigrated though we wonder how the physicist can indentify the "field" as the same taking rebirth keeping it in the view that it must be a constantly changing phenomena.[6]

In fact, to call the unit magnetic field as the soul of man is a very weak hypothesis. With the constantly changing particle, the indentity of the 'field' can only be a matter of form. The individual that remembers himself always the same through the biological and psychometabolic changes would not like himself reduced to mere 'form' which with every new grouping of the particles is to be lost for ever. such a concept does tell a lie to the feeling of oneself as definite, unitory or simple, substantial conscious being.

Except for the theory part, we find in the discovery of the 'field' a further confirmation of Jain beliefs from the studies of science. According to Jainism every man, animal and vegetable life has two other bodies apart from the one gross or Audarika body. They are Karman and Taijas bodies. Karaman may be called the magnetic body while Taijas the electric body. With our every action of physical, vocal or mental sort the Karman body–is stirred and attracts–Karmic molecules to incorporate in itself. The incoming molecules are incorporated with a particular effectivity and duration according to the nature of the action and the accompanying emotions (राग द्वेष). This Karman body is the root cause of all the other bodies viz. for our purpose, the electric and the gross. They are auspicious or inauspicious as is the nature of karman body in operation. Further, on death it is according to the nature of this Karman body that a Jiva transmigrates to some other birth to start his life a–fresh. The Job of Taijas (Electric) body is generally said to provide lustre. In case of ascetics

5 Essays of Humanists—Page 64.

6. Gardner Murphy, Field Theory and Survival", Indian Journal of Parapsychology, Vol 1 No. 3, 1959, Page 167

left here to be burnt or buried. Modern science has brought this fact to over clearer perception in the scientific study of the cases of rebirth and survival. It is now foolish to hoodwink the facts and live the life of mere flash and blood. What prosperity in relation to the gross body but adversity in relation to the 'field' i.e., weakness and corrupts it is really adversity to man. He can not then keep even his gross body healthy for long. On the other hand, the ascetic who neglects much of external comforts and pleasures of senses but concentrates on self-knowledge and self-realisation, on his own inner conscious life may very well now be taken as directly furthering his spiritual peace and satisfaction, indirectly energising his electromagnetic field and further indirectly having healthy effects on his gross body, for which the unintelligent so much thinks, and on others in his environment.

In short the discovery of the 'field' brings forward the value of the inner spiritual life of man. The surest way to become happy is to make that pure, deep and guiltless.

3. **The discovery reinstates the Karma Theory** :—The electro-magnatic field transmigrates with the soul to some other birth or life is a very important discovery. The effects created in our gross body will be left on death but the effects created in the field will accompany us wherever we go. It must convince us of the truth of Karma Theory that nothing of what we do, or better do spiritually, is ever lost but bears its fruits if not in this life than in next life or lives.

III
REVALUATION OF VALUES.

To my mind the discovery of the 'field' should be a turning point where we should rejudge over values in its light. Whatever morality we hold is either determined with the view to the welfare of the gross-body personality in society or the traditional supernaturalistic morality taken as commanded by God or by some super-human agency. The former could not be sufficiently developed while the latter could not satisfy our reason. Now we can rationally build quite a developed morality which would satisfy our being more than ever. We attempt here to discuss some bases which naturally can be drawn as value conclusions from the discovery of the field as we above understood it.

1. **Spirituality is the core of morality** :—As Plato said that the highest man is contemplative, we should become less physicalistic, extrovert and more spiritual, introvert. It is reaffirmed by the fact that the inner spiritual life of man can only have any effect on his electro-magnetic field. We have seen that better the field the greater the interests of even the gross body are safeguarded and vice versa, the worse the 'field' the greater the possibility of injury to the interests of the gross body though we are putting our utmost caution and efforts to safe guard and prosper it. In fact, we should not conceive the amenities, of the gross body any greater riches than the rich electro magnetic field. The external riches-wealth, social position etc. are to be taken more as a reflection of the

be said a growth of paternal sparm which only is a factor in his gross body formation. He is himself an immigrant in to the mother's womb with all his characteristics developed through his past lives and registered in his magnatic and electric bodies. As he grows and lives his life the principal job he does, knowingly or unknowingly, physically to bring certain changes in his magnetic and electric bodies, psychometabolically to evolve or devolve himself to a certain spiritual level. This is no imaginary picture that we put, no reverie that we indulge but the inexhorable facts which the scientists must not hoodwink and must change their theory of evolution of life accordingly.

With this example we may well conclude that the important in modern science is not its theory aspect but its discoveries of facts. Unfortunately, the scientists are giving more importance to their theories than to the facts to explain which the theories are framed. They sometimes even talk of not acknowledging those facts which do not fit their general physicalistic framework. It is evidently a very dangerous talk.

II
SIGNIFICANCE OF THE FIELD

It is easy to understand from the foregoing discussion that the place or electro magnetic field in man's life should be immence. We may try to understand its significance briefly as follows:-

1. Its effect on the health of the gross body:- Our body is healthy or diseased as is this field in us auspicious or inauspicious, powerful or otherwise. We have seen that in all our bodily fuctions it is involved as an essential factor. It has not only direct effect on our own bodies but also on those who come in our contact.[9] We can effect cure in others by our sight and touch with its help and unconsciously we are always shedding desirable or undesirable influance on them.[10]. In fact, our over actions are not so important to our own well being and to that of others for whom we care as is the working of this electromagnetic field.

2. The discovery brings forward the importance of the inner spiritual life of man: This 'field' is in intimate relation what we feel, think and will, the inside of us. In yogis who always hold themselves in concentration and contemplation of self this field is supposed to become of a very effective type.[11] It means that much of overt actions and physical comforts which are deemed of value to the gross body are of no value to these minute bodies. Rather it may be well said, the reckless life led to pamper the gross body and its senses will produce negative effect on the 'field'.

The electric and magnetic bodies are in nearer and more permanent relation with the self or soul as they leave the gross body on man's death and transmigrate[12] with the soul. The gross body is

9. Dr. Michael Ash, Health, Radiation and Healing.
10. Ibid.
11. R M, Kasliwal, Spiritualism and Science, Parapsychology Vol IV No. 4, 1962-63.
12 Ibid

and deaths, we find that an individual has its own history passing from one birth to another sowing seeds of either good or bad sorts in the 'field' and reaping their fruits in the same or the next births. The individual must be told this great truth about himself-that how from unicellular (निगोदिया ?) stage he has come to evolve to the stage of man and what can be his future prospects, with respect to the changes brought in the 'field' and the possible 'field less' stage, that of Parmataman. To yoke oneself to the service of state, society and the gross body and remain negligent of what may be deemed as sheer individual is a great blashphamy to the Truth. Truth must be studied naked as it is. Then only, we can hope to become exact and faultless in deciding the gradation of human ends without which we are no better than a blind or a mad man.

The world is a mystry to a great extent because life is a mystry and we do not know how we came to be man all of a sudden from the parental protoplasm and we can perceive nothing but total darkness beyond the little days or years of life. The existential auguish of death so much corrodes on man's mental and physical health that if he comes to know the assurance of the Jet attacker peter[13] that it is not necessarily so worse after death, and further by our actions we can earn a good lot and get assured like Socrates that in next life we would get better friends, we will become more happy and courageous. The ignorance about our 'being' beyond birth and death has made of us an absolute slave of this gross body We can think in no terms but that of this body and its amenities. The conflicts in society-religious, social, political, economic, international-all centre round the body and its more or less imaginary needs. It is of vast importance to day that man be made well aware of his 'being' which is deathless. It will not only act as a very good diversion but will give him great spiritural satisfaction and in turn will remove much of the trouble in his life which is nothing but the reflection of his psychological spiritual discomfiture.

The American philosopher Dewey has said that a labourer who does a particular labour in a factory but does not know how the finished product ultimatly comes out, what is the whole functioning and organisation of factory is an ignorant slave and not the master of his present labour. He can not enjoy his labour. Is it not a good analogy for a man who does not know how he is reaping particular fruits, what future effects he is ignorantly sowing, how he has come about to be the man he is and how he is to process through the future beyond death ? Most men are ignorant slaves in this respect and modern scientists, mostly, are unfortunately reluctant to recognise the facts which uncover the mystry beyond death and make man aware of his true 'being'.

Let us hope that the modern scientists will give due cognizance to the fact of transmigrating 'psyche' or soul and he as such quite distinguishable from the gross body and from the constantly changing

13. Geralding cummins, Mind in Life and Death.

richness of the 'field' than merely as the results of one's external efforts.

Further on the conative and affective side, to ensure a better 'field' we must ensure our spiritual peace and satisfaction otherwise the 'field' must remain of a distracted, lower, and even of malignant sort. The unauspicious kasayas, as enumerated in Jain Shastras and with some variation in other Indian systems, must have unauspicious effect on the 'field' because the motives, then, are either to harm other living creatures, to give them pain or merely to identify oneself with his insentient gross body. The mal-intentions may not directly harm our gross bodies but they must invariably create unauspicious effects in the fine electro-magnetic field. We may check the harm to the gross body with the help of men and medicine, even with the help of mantra-tantra, if we have acquired that efficacy but we can never hope to check the definite reactions of our motives and thoughts in the electric and magnetic bodies by any external efforts. Theirs medicine is spiritual only, the purification of the mind of all the evil thoughts, harbaring auspicious ones instead or absorbing oneself in the 'supreme consciousness', to use the phrase of Dr. Kasliwal.

2. (a) **External actions not to be neglected :**—The importance given to the inner spiritual life of man by the discovery of the 'field' does not mean the neglect of man's external actions. Those actions that are quite necessary for the healthy existence of the gross body we must do. But those which are not so necessary must be done as symbolising the inner auspiciousness of one's motives and thoughts giving them concreteness. They must not be done unspiritually in a blind conventional manner. They may be intended with wider effects on society, but it is good to know, the surest effects can be expected in one's 'field' and one's psycho-metabolic process only and on no one other in the world. One will feel consoled if he is aware of this fact even though his actions have gone defanct of the intended external effects.

With such an ethics when man has learnt to give primary importance to his inner spiritual life, identifies himself with his pure conscious being; if he can not stay on this level comes down to the level of auspicious thoughts and knowledge of things and does external actions not primarily to 'move' others but that they 'move' oneself and beliving in the chain of automatic reactions-thoughts reacting on the 'field' and the 'field' reacting on the gross body and the environment, the individual is probably but on sound rational ethical footing. He does not require to be mystefied with the intervention of God in giving the fruits of his good or bad actions in a distance of time. If there is any such 'God' and electric bodies and which Jainism has been calling Karman and Taijas bodies.

(b) **Individual is an evolving immortal entity:**–Further, to combine the discovery of the 'field' with the authentic case of reincaranation and the theory of evolution, as interpreted above through births

Growth and Development of Urban Life in Rajasthan

By

Kailash Chand Jain, *M.A., Ph.D., D. Litt.*
Vikram University, Ujjain.

Urbanization, which was actually a great revolutionary change in the whole pattern of social and economic life of the people in history, was brought about both by the physical and cultural factors. Its first appearance is noticed on the banks of the rivers Sarasvatī and Dṛṣadvatī. Anyhow these early cities went into eclipse, and it was not until the fourth century B. C., that urban centers again started to become significant. Even at this time, the process of urbanization was very slow. Only a few towns were in existance and their size and population was small. It was only after the seventh century A.D. when the Rajput dynasties built vast empire and established peace and order for the development of trade and commerce, that the number of towns and cities became more numerous and the degree of urbanization greater. At this time, there was a great expansion of the human habitation and a marked growth of population because the full potentialities to support the towns were realised. In course of time, the town became big in size consisting of several buildings, markets and streets.

A large number of ancient cities and towns came into existence from the earliest times to the twelfth century A.D. Some of them have existed continuously on the sites of their origin. However there are sites upon which several cities have been successively built and destroyed as old cultures died and newer cultures replaced them. There are ancient like Mṛittikavatī and Upaplavya, which were once in existence as known to us from the Mahābhārata[1] but their exact sites are uncertain.

1. Mbh., III, 116, 11076, VII, 70, 2436 Mirittikavati was the copital of the Salvas. Its indentification with Merta as suggested by Dr, V. S. Agrawal does not seem to be correct because Merta was made capital in the seventh century A. D. by Nagabhata, the Pratihara ruler of Mandor. Its old name was Medantaka. See. EI, XVIII, p. 198 Upaplavya is another city of Matsya kingdom where the Pandavas transferred themselves from Virtata on completion of their exile (Mbh.. IV, 72, 14). It was hither that Sanjaya, the messenger of the Kurus, was sent by Dhritarashtra '(Mbh. V. 22, 1) Upaplaya does not appear to have been a capitalof the Matsyas as asserted in the Cambridge History of India (p. 316) but only one of the towns in the Matsya country,

electro-magnetic field too. However, we fear, that 'field' the being material in nature could be detected in the physicists laboratory but the concious processes of mind have always escaped his grasp as a physicist and we can never hope any illumination in that respect untill he becomes ready to recognise extra physical as extraphysical. This I express with all the due regard for the facts he has discovered.



"Let us trust to ourselves, see all with our own eyes;
Let these be our oracles, our tripods and our Gods."

—OEdipe Act II 5.

bricks for the construction purpose. The old system of pictographic writing ceased to exist. The earlier highly developed urban civilization was succeeded by the rural culture of the tribal people and this change was probably brought about by several factors. The foreign barbarious invaders might have destroyed these cities. Fire, diseases and famines may do harm to them. Their fall may be due to the change of climate which brought the conditions of dessication and forced the inhabitants to migrate to other area. The agravation of aridity in this area was probably due to deforestation by cutting woodlands for fuel and other purposes.

The people representing Black and Red ware culture lived in south-eastern Rajasthan comprising the districts of Udaipur, Chitor and Bhilwara from about 2000 B.C. From the study of their material as discovered in excavations, it seems that they were culturally backward and poor. In the begining of the first millenium B.C., people representing a new type of culture known as the Painted Grey Ware settled in the Sarasvatī and Drishadvatī valleys. B.B. Lal associated them with the Aryans on the literary and archaeological sources. Gradually, these people migrated to the other parts of Rajasthan such as Chosala, Gondi, Bairāt, Kāmāh, Noha and Bhagwanpura as known to us from the archaeological excavations.

Urbanization in Early Historic Period :—The period from the fifth century B.C. onwards is very important as urbanization restrated. Several small republican and monarchial States such as *the Mālavas, the Yaudheyas,* the Sibis, the Arjunāyanas, the Maukharis etc. came into existence and from time to time, they fought gallantly against the foreign invaders. There started the revival of vedic religion and as a consequence, sacrifices were performed and the Yūpas were erected. People gave up nomadic habits and began to settle permanently. Peace and order were established and all these resulted in the growth of towns.

There were also other factors responsible for the growth of towns at this time. The discovery of iron brought about the revolution in the economic sphere. Different kinds of tools, implements and weapons were made of iron and they all increased agricultural production and facilitated transport and communication. As a consequence, different kinds of crafts and industries came into existence and flourished. Another noteworthy feature of this period was the introduction of coiange which stimulated trade and commerce. Some towns developed as mint centres. The system of writing began to spread knowledge among the people. For constructing houses, burnt bricks were now used on a fairly large scale and at the same time, monolithic architecture started. A considerable progress was also reflected in the art of pottery and clay modelling. As a consequence, different urban sites such as Bairāt, Naliāsar near Sambhar, Rairh, Nāgar, Nagarī, Pushkara, Rang Mahal grew and came into existence.

Urbanization in Pre-Historic and Proto-Historic Times—The first urban revolution took place in the area on the banks of the rivers Sarasvatī and Drsadvati in about three thousand B.C. It was accompanied by great advancement in human knowledge and technical equipment, Noteworthy among these were a greatly entended use of metals, the invention of sail, the application of the wheel to transport, the making of pottery, the invention of plough and the domestication of animals. These developments made a great increase in agricultural production and it was enough to support the town. In this area, the agriculture seems to have depended not so much upon the rainfall but on the irrigation projects. It is possible that hydraulic agricultural methods for irrigation as suggested by Wittfogel[2] in other ancient river valley civilization might have been employed at this place. At this time, there were only a few cities in this area and their size was also small. The reason was that agriculture was or cumbersome, static and labour extensive that it took many cultivators to support one man in the city. Like agriculture, there was also the difficulty of transport and communication. These early towns seem to be the products of the local increment of concentrated and intensive agricultural activity.

Besides the fertile soil of this area, the nodality or route position is also responsible for the growth of towns. It was colonized first by the pre-Harappans, later by the Harappans and afterwards by several rural communities coming from the North-west. The archaeological excavations conducted at Kalibangan, one of the principal sites of this area, brougt to light pre-Harappan deposits fine structural phases and distrinctive pottery on the lower levels, It is possible that the pre-Harappan people of Kalibangan possessed a highly developed culture and the Harappans, borrowed town planning, fortification etc. from them.

On the upper level, there are traces of Harappan culture at Kalibanga. A systematic town planning with roads, drains and buildings is visible. Among the typical house objects, pottery is notworthy, Typical food dishes and goblets with narrow dishes have been found. The objects of typical Harappan culture are terracotta figurines of animals, birds and human beings. Besides there are different kinds of seals, beads, bangles, weights etc. The Harappan script with pictographical writing is also found on some Potsherds seals. Such uniform features of Harappan culture are also noticed in other ancient contemporary metropolitan centres and they prove that mutual contacts had developed among them and they were possibly controlled by one authority.

The period after the Harappan age up to the fifth century B.C, may be considered the dark period in Indian history because people lost urban traditions. Generally no traces of systematic town planning are noticed anywhere and people forgot even the use of baked

2 Oriental Despotism, p. 19.

became extensive by fresh conquests, Nāgabhata II shifted it to Kanauj in the eighth century A. D. Mandor and Mertā were made capitals by the pratiharas of Maṇdor and Nīlakanṭha (Rājor) was the capital of the Bada Gurjaras. Jālor, Dīdwānā and Sānchor flourished as the district headquarters of the pratīhāra kingdom Kakkuka, the pratīhāra ruler of Mandor, who ruled in the eighth century A. D., made Ghatiyāā also as a place of residence. He established a haṭṭa or market which was adorned with streets and shops and he built many houses. He invited the people to settle there and provided them with all the means of livelihood. similarly, the pratīhāra ruler of Osiā is said to have granted certain previleges to attract settlers from Bhinmal for habitation. Nāgdā, Āhār, Kalyānpur, Chitor and Chatsu flourished as the capitals of the Guhila principalities. Dholpur, Nagaur and Sambhar rose as the capitals of the Chauhanas. Hathundi was the capital of the Rāshṭrakūṭas.

In course of time, these capital towns became multi-functional in character. They became commercial centres by the prosperity of trade and commerce and as a result of it, the merchants and craftsmen settled there. Some of them turned to be the holy places where magnificent temples and monastaries were built. By the royal patronage to scholers, thess cities became the seats of learning. As there were several officers to manage the affairs of kingdom, these capital cities also became administrative centres.

The appearence of so many urban centres in desert area at this time is a striking feature in history. Some of them might have served as caravan cities, they were just like the ports of the desert, served by its ships, the camel caravans. Nagaur, Jalor, Sanchor, Didwana, Bhinmal etc. seem to be such caravan cities of the desert flourished through the canalization of trade along particular route in ancient times. After the ordeal of difficult crossing, caravans found rest and safety in some of these towns situated on the edge of the desert. Merchants settled at these places because of safety and security granted by the ruling chiefs. The rulers chose these places for defence purpose. Most of the holy places, where magnificient temples were erected, are situated in the heart of the desert. The motive behind it was to safeguard them from the destruction of the muslim invasions which were very frequent.

How these large number of ancient towns were maintained in the arid area of Rajasthan is very surprising. The Pratīhāra and the Chauhāna rulers established vast unified empires and they must have enriched themselves as well as their towns with the booty captured during their numerous raids and conquests. They constructed places, forts roads etc. in cities. Just as the efforts are being made for the urbanization of arid lands in different countries in recent times[1],

There were certain particular factors in the growth of these ancient cities and towns. Religion is one of them. Bairāṭ was a Buddhist centre in the third century B. C. and therefore a monastery and a circular temple were built. Pushkara developed as holy place and the pilgrims from distant places used to come for bath in the sacred lake and granted charities. Nagarī and Nāgar were mainly the capital towns of the Śibies and the Mālavas respectively. Rairh flourished as a great commercial and metallurgical centre and tools and implements of iron, bronze, copper etc. were made at this place. Rairh, Nāfar and Nagarī also developed as mint towns on account of the manufacture of coins. Rang Mahal Hanumāngarh grew as route towns for the people coming from the North-west from time to time. Naliāsar and Rang-Mahal became well-known for the industry of pottery and clay modelling. Bayānā grew to be the administrative centre in the third century A. D. under the Yaudheyas. Jhālrāpatan and Gangdhar prospered as they were planted on the banks of the rivers.

Urbanization in the Post-Gupta period: The Hūṇa and the Ābhīra invasions brought about the destructions of the early cities but still the period from the seventh century onwards is remarkable in the history of Rajasthan. New Rajput clans such as the Pratihāras, the Paramāras, the Chauhānas, the Guhilas and Chalukyas came into existence and they founded their kingdoms with new capitals. For security purpose, they also built forts, around which in course of time, towns grew up. From the eighth century onwards, the appearence of the Muslim conquerors undoubtedly caused the people of the neighbouring provinces to migrate as refugees under the protection of Rajput rulers to this region where they could pursue their vocations freely. The ruling chiefs also granted several previleges to these people for the habitation of the new colonies which they founded. The emergence of the new mercantile community is important in the social and economic history of Rajasthan. Trade and commerce developed and it naturally brought prosperity to the towns. The establishment of several urban centres in the arid region of Rajasthan is the remarkable feature of this period. Both Jainism and Śaivism made progress and as a consequence, towns also sprang up around religious establishments. The towns became so much prosperous at this time that they assumed multi-functional charactor.

Some towns became the capitals of the ruling chiefs and there must be some special considerations in the selection of such places as capitals. The ruling clans might have chosen these capitals at the very place of their origin. They perhaps thought of such a place from where, they could hold the population of their empire in control. Toynbee[1] is the advocate of the law that capitals tend to migrate to the central sites of empires. Bhinmal became famous as the capital of Gurjaradesa which included Western Rajasthan in early times. It seems that originally Bhinmal was also the capital of the pratīhāras but when their empire

1. A Study of History, VII, pp. 193-238.

with new capitals. Sometimes quite new capitals were founded abandoning the old ones when they were founded to be inconvenient for controlling the empire. Ajmer. Ranthambhor, Nādol and Jalor became the capitals of the Chauhanas. Because of its centrally situation, Ajmer was preffered even by the subsequent ruling dynasties to control the region of Rajasthan. Chandrāvāti Arthūnā, Bārmer and Barodā flourished as the capitals of the Paramāras. Some times the ruling chiefs associated their sons, queens and other relatives in the task of administration by granting them towns and villages in Jagir and by appointing them governors of the Provinces. In course of time, the seats of feudal lords and Provincial Governers assumed the form of capitals. Such towns became cultural centres on account of the royal patronage given to scholars in their courts. They became administrative centres when the headquarters of different offices were established. Merchants also settled at these places in large number under the protection of the ruling chiefs.

The Chauhana rulers and others constructed a large number of forts at strategic places of their empire in order to keep the masses under control and at the same time to check the foreign invaders. The towns frequently grew up adjacent to these castles. some fortress towns were situated on hill tops and their sites were selected for reasons of defence rather than trade. Ranthambhor. Narainā, Māndalgarh and Jālor were the famous castle towns of the time of the Chauhānas. Tahangarh was the well-known fortress built by the Sūrasena rulers. Some fort towns were built in the heart of the desert. The frontier fort town of Hanumāngarh was built for the purpose of defence against the foreign invasions. Some feudal lords also set up independent forts around which in course of time, towns grew up.

A large number of both Brāhmanical and Jaina holy places came into existence and generally, they are situated on the spots of naturāl beauty. Bijauliā, Harshanātha, Menāl, Revāsā, Ghotārsi etc. were the main Brāhmanical sites while the principal Jaina holy places were Nanā, Mungthatā, Phalodhī Ābū, Madāra, Jīrāvala etc. At some places, both Brahmanism and Jainism flourished side by side. These holy places originated in various ways a hill, the memorial of saint, the site of an apparition, a place of burial etc. The ruling chiefs, who were līberal in the matters of religion, favoured both Jainism and Brahmanism without observing any distinction. The merchants also adorned these places with magnificient temples and granted charities. These places not only served the purpose of worship but they also became the seats of learning. They ministered the needs of the poor and orphans. They owned land which was the source of income. A large number of pilgrims from outside used to visit these places, and several buildings were built for their stay. Markets and shops also started to meet the needs of these people. In this way, a town gradually sprung up around the religious edifice of the holy place.

similarly in ancient times, arid lands were improved by various irrigation projects. As agricultural possibilities from the spot rain water are not possible in the arid region of Rajasthan in early times, hydraulic methods of agriculture seem to have been employed by the ruling authorities. Big stepwells, tanks, dams and lakes were constructed for irrigational purposes. All these required mass labour which could be only coordinated and disciplined under one directing authority of the despotic rulers. All these methods easily augmented agriculture to sustain the population of the towns. The mineral products such as copper, iron, precious stones and stones for building purposes available in the arid region were fully exploited. The products of the arid regions such as animal products, milk, milk products, wood and leather were fully developed. The merchant earned the immense wealth by their trade and commerce; and they utilised it for the improvement of the towns by constructing temples, tanks and wells.

Religious building and market formed the nucleus of the settlement and gradually towns grew around them. Dhamnar was originally a Buddhist establishment in the sixth or seventh century A. D. and there were several monasteries and temples. In course of time, a town after the name of this establishment grew up near it. Similarly, markets situated on the cross-ways and on the banks of the rivers became the flourishing towns. Shergarh, whose ancient name was Kosavarddhana, (the increaser of treasury) became an important thriving centre of trade, industry and agriculture. Āhar also became a commercial town because traders from distant corners came to this place for trade and commerce. Sāmbhar and Dīdwāṇā became important towns on account of salt industry. Some towns were founded after clearing out the forests. The old name of Kāmāh as Kāmyakavana proves that it was originally a forest. The name of Vasantagarh as Vaṭanagara was called on account of the banian trees which are found in abundance.

Urbanization in early medieval period: The great town building era started in early medieval period and as a consequence, overwhelming majority of towns grew up around forts, religious edifices and markets. Some of them became capital cities. As this was the period of opening new lands and new routes, towns sprang up at the convenient route places. The enclosed wall became the essential feature of the town planning at this time. This was done for protection from outside dangers and at the same time to demarcate it clearly from its rural environs. The organization of crafts and industries in different guilds became the noteworthy feature of economic life of the town, and sometimes the streets were named after them. The extension of the town by adding different parts is also noticed and the population also increased.

A large number ef capital towns were founded at this time because new kingdoms came into existence. The ambitions and adventerous scions of the ruling chief carved out separate principalities

Salient Common Features between Jainism and Buddhism

By

Dr. B. H. Kapadia

Reader in Sanskrit, Sardar Vallabhbhai Vidyapeeth

Jainism and Buddism are two great religions which are considered as Heterodox religions of Ancient India. In the initial days of the study of Jainism and Buddhism it was generally believed by Western scholars that Jainism is an offshoot of Buddhism, that it is a branch of Buddhism. Some Indian scholars followed the foot-steps of the Western scholars, but as a result of patient research and a proper study of these two religions which was solely based on the study of original literature of these religions this myth has been now thoroughly exploded and it is thrown to the wind.

These two powerful religions considered as Heterodox by the school of Indian philosophy do not believe in the authority of the Vedas i.e. they consider the Vedas as composed by human authors like the works of Kālidāsa, Bhavabhūti, Shakespeare, Milton, Shelly, Goetne, Schiller etc. They also do not believe in a god who is responsible for the creation of the universe though they believe in god and gods. The promulgation of these two religions, Mahāvīra and Buddha were Kastriyas, both hailed from a royal family, both preached in the language of the people with a view to appeal to their heart, both lived the worldly life for a definite period of time and on suitable opportunity both renounced the world full of misery with the intention to find the highest and the ultimate truth. Both lived and enjoyed the married life (there are two traditions in the case of Mahāvīra), both were fathers, both were full of detachment towards the wordly life which goaded them to renounce it. Mahāvīra preached in Māgadhī or Ardbamāgadhī and Buddha in Pāli. Both these are the dialects of the same province, viz. east and west of Magadha. Both were contemporaries. Buddha lived a life of 80 years and Mahāvīra lived upto 72 years. Eastern India, to begin with, was the main seat of their religious activities. Now it has come to light that both belonged to the

1. Mahavira was born in 598 B. C and died in 526 B. C.

When commerce and trade prospered under Rajput rulers, new commercial towns became prominent. Originally such towns started as warehouses at good nodal points on route ways and on the banks of rivers. Some of them developed into towns when the proper protection was provided to them by the ruling authority, Craftsmen and merchants from the surrounding countryside flocked to these places for their livelihood. Pālī, Chandrāvatī, Narhad, Jālor etc. were the prosperous towns of the early medieval period. In these towns, there were guilds of craftsmen and merchants. The merchants controlled the affairs of the town through the town council because of the influence of their wealth. So much was the influence of these merchants that even kings took their advice in the affairs of the State and they were given high rank and position.

Thus various ancient cities and towns came into exitence and they were named in various ways. As some of the old towns such as Chitor, Visalapur, Ajmer and Jaisalmer were founded by rulers, they, became well-known after them. Some of the old towns sprang up around deities and they were named as phalavardhikā, Śākambharī, Āmber etc. The old names of such towns such as Māndavyapur (Mandor) and Vaṣishthapura (Vasantagarh) show that they were originally hermitages of saints.

Towns were also named after the tribes such as Bhillamāla after the Bhills, Nāgaur after the Nāgas and Takshakagadhu (Todā-rāisingh) after the Takshakas a branch of the Nāgas. The towns like Jāngalakūpa, Rohiṃsakūpa and Kirātakūpa were named probably after the deep wells, which are found in this desert area. The names of some ancient towns were originally in Apabhraṁsa Langūage but sanskrit scholars sanskritised their names such as Mahārāshtra from Mahārotha, Jabālipura from Jālor and Satyapura from Sāṇchor. Sometimes synonymous names were used for old towns in inscriptions and literary works such as Ahipura, Nāgapura and Bhujanagara for Nāgaur, Padmavati for Pushkara and Giripura for Dūngarpur. Some towns changed their names under different ruling dynasties. Under the Muslim rule, Chitor was called Khizrabada after Khizrkhāṇ, son of Alāuddīn Khilji, who placed him as the governor of this place. During the Muslim period, Sultānkota was the Muhammadan name of the new city of Bayānā.

Salient Common Features between Jainism and Buddhism

By

Dr. B. H. Kapadia

Reader in Sanskrit, Sardar Vallabhbhai Vidyapeeth

Jainism and Buddism are two great religions which are considered as Heterodox religions of Ancient India. In the initial days of the study of Jainism and Buddhism it was generally believed by Western scholars that Jainism is an offshoot of Buddhism, that it is a branch of Buddhism. Some Indian scholars followed the foot-steps of the Western scholars, but as a result of patient research and a proper study of these two religions which was solely based on the study of original literature of these religions this myth has been now thoroughly exploded and it is thrown to the wind.

These two powerful religions considered as Heterodox by the school of Indian philosophy do not believe in the authority of the Vedas i.e. they consider the Vedas as composed by human authors like the works of Kālidāsa, Bhavabhūti, Shakespeare, Milton, Shelly, Goetne, Schiller etc. They also do not believe in a god who is responsible for the creation of the universe though they believe in god and gods. The promulgation of these two religions, Mahāvīra and Buddha were Kastriyas, both hailed from a royal family, both preached in the language of the people with a view to appeal to their heart, both lived the worldly life for a definite period of time and on suitable opportunity both renounced the world full of misery with the intention to find the highest and the ultimate truth. Both lived and enjoyed the married life (there are two traditions in the case of Mahāvīra), both were fathers, both were full of detachment towards the wordly life which goaded them to renounce it. Mahāvīra preached in Māgadhī or Ardhamāgadhī and Buddha in Pāli. Both these are the dialects of the same province, viz. east and west of Magadha. Both were contemporaries. Buddha lived a life of 80 years and Mahāvīra lived upto 72 years. Eastern India, to begin with, was the main seat of their religious activities. Now it has come to light that both belonged to the

1. Mahavira was born in 598 B. C and died in 526 B. C.

When commerce and trade prospered under Rajput rulers, new commercial towns became prominent. Originally such towns started as warehouses at good nodal points on route ways and on the banks of rivers. Some of them developed into towns when the proper protection was provided to them by the ruling authority, Craftsmen and merchants from the surrounding countryside flocked to these places for their livelihood. Pālī, Chandrāvatī, Narhad, Jālor etc. were the prosperous towns of the early medieval period. In these towns, there were guilds of craftsmen and merchants. The merchants controlled the affairs of the town through the town council because of the influence of their wealth. So much was the influence of these merchants that even kings took their advice in the affairs of the State and they were given high rank and position.

Thus various ancient cities and towns came into exitence and they were named in various ways. As some of the old towns such as Chitor, Visalapur, Ajmer and Jaisalmer were founded by rulers, they, became well-known after them. Some of the old towns sprang up around deities and they were named as phalavardhikā, Śākambharī, Āmber etc. The old names of such towns such as Māndavyapur (Mandor) and Vaṣishthapura (Vasantagarh) show that they were originally hermitages of saints.

Towns were also named after the tribes such as Bhillamāla after the Bhills, Nāgaur after the Nāgas and Takshakagadhu (Todā-rāisingh) after the Takshakas a branch of the Nāgas. The towns like Jāngalakūpa, Rohiṃsakūpa and Kirātakūpa were named probably after the deep wells, which are found in this desert area. The names of some ancient towns were originally in Apabhraṁsa Language but sanskrit scholars sanskritised their names such as Mahārāshtra from Mahārotha, Jabālipura from Jālor and Satyapura from Sāṇchor. Sometimes synonymous names were used for old towns in inscriptions and literary works such as Ahipura, Nāgapura and Bhujanagara for Nāgaur, Padmavati for Pushkara and Giripura for Dūngarpur. Some towns changed their names under different ruling dynasties. Under the Muslim rule, Chitor was called Khizrabada after Khizrkhāṇ, son of Alāuddīn Khilji, who placed him as the governor of this place. During the Muslim period, Sultānkota was the Muhammadan name of the new city of Bayānā.

Salient Common Features between Jainism and Buddhism

By
Dr. B. H. Kapadia
Reader in Sanskrit, Sardar Vallabhbhai Vidyapeeth

Jainism and Buddism are two great religions which are considered as Heterodox religions of Ancient India. In the initial days of the study of Jainism and Buddhism it was generally believed by Western scholars that Jainism is an offshoot of Buddhism, that it is a branch of Buddhism. Some Indian scholars followed the foot-steps of the Western scholars, but as a result of patient research and a proper study of these two religions which was solely based on the study of original literature of these religions this myth has been now thoroughly exploded and it is thrown to the wind.

These two powerful religions considered as Heterodox by the school of Indian philosophy do not believe in the authority of the Vedas i.e. they consider the Vedas as composed by human authors like the works of Kālidāsa, Bhavabhūti, Shakespeare, Milton, Shelly, Goetne, Schiller etc. They also do not believe in a god who is responsible for the creation of the universe though they believe in god and gods. The promulgation of these two religions, Mahāvīra and Buddha were Kaṣtriyas, both hailed from a royal family, both preached in the language of the people with a view to appeal to their heart, both lived the worldly life for a definite period of time and on suitable opportunity both renounced the world full of misery with the intention to find the highest and the ultimate truth. Both lived and enjoyed the married life (there are two traditions in the case of Mahāvīra), both were fathers, both were full of detachment towards the wordly life which goaded them to renounce it. Mahāvīra preached in Māgadhī or Ardhamāgadhī and Buddha in Pāli. Both these are the dialects of the same province, viz. east and west of Magadha. Both were contemporaries. Buddha lived a life of 80 years and Mahāvīra lived upto 72 years. Eastern India, to begin with, was the main seat of their religious activities. Now it has co to light that both belonged to

1. Mahavira was born in 598 B. C and died in 526 B. C.

Śramana Sampradāya. Buddha was the eminent leader of the Bauddha Sampradāya and Jnataputra Mahāvīra was the Tirthankara of the Nirgantha Sampradāya. Not only were they contemporaries but they lived in the same region, the same province, their region of activity was not only one territory but one and the same town, may even one locality. They were of the same family. The followers of each met one another, discussed knotty problems of religion and philosophy, and disputed over doctrines and customs of their religions. Many followers were such that some of them even though were followers of Buddha became the followers of Mahāvīra and vice versa. The followers of the two organisers were like neighbours or like a closely knit family and inspite of this were holding opposite views. (Cf. Upāsaka Daśānga Adh. 8 etc)

Western scholars like Rhys Davids, Mrs Rhys Davids, Pischel, Koppen, Jacobi, Hermann Oldenberg, Burnouf, dela Vallee Poussin, Grunwedel etc. and among Indian scholars to name a few are Dr. B.C. Law, Rahula Sankrtyayan, Prof. Bhagavat, etc. zealously studied Buddhism and scholars like Rhys Davids, eatablished in London in 1881 "The Pāli Text Society." Similarly in 1899 "The Mahabodhi Society" was established in Colombo, "Buddha Sāsana Samāgama" was established in Rangoon in 1903, so also scholars like Hermann Jacobi, Leumann, Schrader, Hultzsch, Pertold, Charpentier, Winternitz, Būhler, Kielhorn, Lüders, Wackernagel, Walther Schubring, Otto Stein, Alsdorf, Glasenapp, Guerionot, de la Vallee, Poussin, Stevenson, Weber, etc. studied Jainism; and among Indian scholars we can count Muni Shree Punyavijayji, Pandit Sukhalalji Sanghavi, Malavania, Prof. H.R. Kapadia, B C. Law, Kamta Prasad Jain, Dr. P.L Vaidya, Dr. A.N. Upadhye etc. are great students of Jainism. "Prakrit Text Society" is established for the furtherence of Jainism and the "Voice of Ahimsā" is rendering excellent service for spread of Jainism abroad. Forreigners like Miss Krause have embraced Jainism. The study of Jainism was first undertaken by Western scholars as early as 1807. A host of Jaina Munis has contributed their earnest might in the propaganda of Jainism. We can thus safely surmise that both the Western and the Eastern scholars have given themselves to the study of Jainism and Buddhism.

As the last organisers of Jainism and Buddhism Mahāvīra belonged to the Jnatru sect and Buddha to the Sākya clan. Before their birth their mothers see auspicious dreams. The mother of Mahāvīra sees forteen dreams.[2] Both are brought up and live quite royally before they become monks. Both go to the teacher for study but both know more than what their teacher can teach, both marry Ksatriya girls. Buddha married earlier than Mahāvīra. Buddha had a son known as Rāhula while Mahāvira had a daughter named Priyadarsanā (according to one tradition) whose hus-

2. According to the Digambaras 16 dreams.

band became antagonistic to Mahāvīra while Rāhula is accepted by Buddha himself much against the wish of his father as a disciple. Thus both relinquish the world after the birth of an issue. Mahāvīra evinces a desire to become the monk at the end of 28 years that is after the death of the father but waits for two more years in honour of the request of his elder brother Nandivardhana. Buddha turns a recluse and goes out for his Mahābhiniskramaṇa after seeing the face of his newly born son. The father of Buddha was against his son becoming a monk while Mahāvīra turns a recluse only after the death of his father. Buddha with a view to get the full enlightenment meet various teachers of different schools who do not satisfy him while Mahāvīra finds out the path for hiu own salvation on his own. Both lead a wandering life and carry to completion the ideal life of a Śramana and a Bhikkhu. Buddha does not reform any previous existing religion like Mahāvīra who reforms the religion of his predecessor Pārsvanātha but innovates a new religion in terms of his own findings and discoveries. Therefore he is required to quote and fight against old doctrines while Mahāvīra does not do so. Before Mahavira there was already in existence the Cāturyāma[3] religion of the Pārsvanātha. Only in view of the new and changed times he remodels the Vrata of Aparigraha, expands its concept and gives birth to a new Vrata known as Brahmacaryavrata (which was implical in the earlier). Mahāvīra lays down five Mahāvratas for the monks and the nuns, five Anuvratas for the laymen and laywomen whereas Buddha prescribes Pañcasīlas of which the fifth one is little different as it includes Madyapāna etc. In the beginning both were against the entry of nuns into the order. Both condemn women in severe terms. Prior to Mahāvīra, in the Jaina religion women had free entry and so nuns were there in the Samgha of the Jainas; while Buddha had to ultimately yield as his step mother Mahāprajāpati was not able to endure the death of her husband. Buddha thrice rejected the request of his mother but on the intervention and the plea of Ānanda he had to ultimately give way and allow an entry to women in the Sangh. Both the religions consider a nun inferior to the monk. Even a nun of hundred year standing has to obey, respect and not to enter into verbal discussion with a monk of a day's initiation.

The circumstances which make Buddha turn a monk are quite different from those of Mahāvīra. At the birth of Buddha it was predicted that he would become a recluse and so his father took every possible precaution to make his life as comfortable as possible. But through the intervention of divine agency he sees ugly sights which make him renounce the world while Mahāvīra becomes a monk at the ripe time.[4] Buddha is out to search a teacher who can satisfy his longings but finds none

3 This referred to in the 2nd Sutta of Shamannaphala-Sutta of Digha-nikaya and in Jain Sutras

For six long years he goes from place to place but finds no one who can satisfy his inward urge. He observes standards of life as laid down by other religions such as fasts, regorous austerity etc. but all this does not satisfy him, Even he follows the dictates of Jainism but he condemns the austerity of fasts in severe terms. He realises truth under the Bodhi tree. He does not follow any system of religion or he has no ancient religion before him in view. For he says his findings are his own e. g. the four noble truths, the three Saraṇas, the eight limbed path etc. Mahāvīra on the other hand is no innovator or a discoverer of truth. He has only organised a religion which was already in existence. The followers of Pārsva come in his contact and he instructs them properly, Buddha was way laid by Māra, the Satan, and his followers but not so Mahāvīra, No doubt Lord Mahāvīra had to undergo hardships during his wandering routine. Just as Ānanda, Maudgalyāyana, Kāsyapa etc. were the chief disciples of Buddha, Mahāvīra had Gautama, the elevan Ganadharas as his chief disciples. Both got support from kings and rich laity.

As a member of the clan of Jnātr Mahāvira belonged to the Kāsyapa gotra. From the Nāya clan, Mahāvīra is known Jnātrputra (Viv, 323). because of his Kāsyapa gotra he is known as Kāsava (Utt. 2, Dasav, 4), after the state of Vaiśāli he is known as Vesāliya (Su. 1. 2, 3, Utt. 6), after the home land he is known as Videha-dinna (Āyar. 2. 15, 17, Jinac. 110). as a result of all round propsperity in the kingdom cropping up after his birth he is called Vardhamāna and as a result of severe asceticm and endurance he is called Mahāvīra. He is called Jina beeause of his command over the five senses. As he has established the church he is known as Tirthagara Tīrthaṃkara like the other Tirthaṃkaras. So also Buddha is known as Budbha, Saṃbuddha, Tathāgata etc.

Just as the Tīrthaṃkara appears in a definite period of cycles known as the Avasarpiṇī and the Utsarpinī so also Buddha appears only in empty Kalpas i.e. only in Buddbakalpa. The highest number of Buddhas who can appear is only five, whereas in the time of Lord Ajitanātha, the second Tīrthanṃkara of the Jainas 170 Tīrthamkaras appeared in the land where a Tīrthaṃkara can be born Just as there are infinite Kalpas so there are infinite Buddhas. Like the 24 Tīrthṃakaras there are twenty-fuor Buddhas. Both the Tīrthaṃkara and the Buddha have each a number of monks, nuns, lay-men, lay-women and the tree of knowledge under which they get the glimpse of the highest truth. Just as a Tīrthakṃara is born after the Āradhanā of 20 Sthānakas, so a Buddha is born after propitiating 10 Paramitas. Jaina Tīrthaṃkara have a a Lānchana by means of which one can identify the image of Tīrthaṃkara from a host of other Tīrthaṃkaras. It is said that in the spread of Buddhism the personality of Buddha had played an important role, so we can observes that every Jaina Tīrthṃkara is endowed with certain number of Atiśayas.

The sermons of the founders of Buddhism and Jainism were listened

to with rapt attention by their immediate followers and were later on codified for the good of the large mass of people. The original canons of both were written in Prākits, i.e. Pāli and Ardhamāgadhī respectively but later on Sanskrit was adopted with a view to compete with the language in which the Hindus wrote their scriptures. But, it is to be noted that both Buddha and Mahāvīra appeals to the large mass of their followers only by preaching in a language which was known to them and which appealed to their heart the most. This is naturally the language of the masses, i. e. the Prākrits. The sacred scriptures of the Baddhas are known as the Tripiṭakas, those of the Jainas are known as the Gaṇipiṭaka or Agamas which are 45 in number. To explain these Tīkās, cūrnis, Tabbās, avacūris, bhāsya, bālāvabodha etc. were composed. The immediate disciples of the Tīrthaṃkaras known as the Ganadharas are each responsible for the composition of the Dvadasāngas. With the help of Upāli and Ānanda Kāsyapa settled the Vinayapiṭaka and the Dhammapiṭaka. According to later tradition Kasyapa himself composed the Abhidharmapitaka but this is not historical and is even contradicted by the contents of Abhidharma itself. To settle and codify the sermons of both the teachers various councils were held at dfferent times. The Buddhists had four councils or Sangītis and the Jainas had three councils. These were convened at different times under the presidentship of different persons of strong and powerful personality in order to give a form to the canonical literature. In the case of Lord Buddha there were decensions right during his life period. After his death there were two main splits known as the Mahāyāna and the Hīnayāna. Likewise Jainism too had two main divisions known as the Svetāmbaras and the Digambaras. The first Buddhist council was convened at Rājgrha under the patronage of King Ajātasatru and Kāsyapa was the guiding destiny. The second council was convened after 100 years in Vaisāli. The third council was called in 245 B. C. in the 18 th year of the reign of King Asoka Priyadarsin. Maudgaliputra was at the helm of affairs, the council was held at Pātaliputra and Maudgaliputra composed a work known as kathovatthu which is contained in the Abhidharmapitaka according to the Southern Canon. The fourth council was convened during the time of the Anglo-Saxon King Kaniska in Ist Cent. B. C. It was held at jalandhara in Kashmere under the leadership of Pārsvika and Vasumitra. The Jainas had their councils as follows: The first council was held at Pātaliputra; the second council was convened at Mathurā under the headship of Skandila and the third at Valabhī in Kathiawar 980 years after Mahāvīra,

In both the religions there is great deal of similarity as regards the Ācāra or the conduct of the clergy as well as of the laity. The code of conduct for the Buddhists is laid down in the Vinayapitaka, that of the Jainas in the Ācārāngasūtra. one of the eleven Angas. Both the systems were open hearted and large minded. Both do not believe and advocate

Mount Abu, Sametsikhara, Kesariyājī, Girnār, Setrunjaya, Sravaṇa Belgola, Pālitāna, Rāṇakpur etc. are sacred places of pilgrimage. A branch of the Mahābodhi tree was transplanted in Ceylon by Mahendra, the son of Asoka; and therefore it is considered as a holy place. The Buddhists Stūpas found in India, Burma, Rangoon, China, Japan etc. are equally well known as objects of pilgrimage. In the case of Buddhsim the Chinese pilgrims Fa Hian and Huan Thsang who had embraced Buddhism visited these places and wrote chronicles about Buddhism.

Various religions have their own peculiar festivals. This holds good in the case of Jainism and Buddhism too. The common festival though celebrated in a different manner is the festival of lights (Dipavali). This festival is celebrated in honour of the achievement of absolution by the founders of the two religion : Material lamps are lighted in place of spiritual lamps. The Amāvāsyā of the month of Asvin is the day on which the Lord achieved the final knowledge i. e. the Kevalajnana. To suggest that the lord has attained spiritual light of knowledge devotees celebrate this fact by observance of certain Vratas. In Buddhism this is celebrated by illumination. The number of Buddhist religious festivals later on went on increasing like those of the Jainas; and they are celebrated in different places in diverse manners. Three festivals of the Buddhists are common to all. They are : The festival of the lamps, the festival at the commencement of the spring and the festival of the birth day of Lord Buddha.

Buddhism was a state religion and thus it got support from kings of ancient India. The most prominent among them are Devānāmpriya King Asoka, Ajātastru, etc. The Jainas too got support from kings like Srenika Bimbisara, Kunika, Khāravela, Kalingarāja, Kings of the Northern and Southern dynasties of the middle ages, King Akbar, Siddharāja, Kumarapāla etc. The credit of winning over the favour of certain kings like Akbar and Kumarapāla goes to the credit of Hīravijayajī and Kali-Kālasurvajna Hemacandra. Ahimsā in Gujarat atleast is due to the efforts of Hemchandra.

The organisers so to say of both the religions wandered on foot over the vast tract of land with a view to preach their religion. Buddha during the Course of his wandering tours moved over cities like Rājagrha, Kausāmbī, Pāṭaliputra, Magadha, Kāsi, Kosala, Aṅga, Srāvasti Vaisāli (which was too much loved by Buddha).[11] Similarly Lord Mahāvīra wandered over cities mentioned below for the same purpose. They are : Magadha, Aṅga, Kāsi, Vaisāli, Kośalā Rājagrha, Srāvastī, Apāpā, Videha, Vatsa, Sāketa etc. It may be observed that out of 42 Cāturmasas Mahāvīra spent 12 Caturmasas in Vaisāli. Thus this ancient city was highly liked by the two contemporary organisers of religions. It appears that both the teachers mostly wandered over the same tracts of lands at different periods with a view to

okitam Vesaliyam apalokitva.

known as the four Ārya satyas. Both believe in Tṛṣṇa and Ajnāna as the cause of Metempsychosis. Both have condemned in severest possible terms the Himsā of the Vedic Hindus. Both are also harsh on the Hindu caste system. In the Sūtrakrtānga the views of the Buddhas are criticised and in the Majjhimanikāya there is the criticism of Jaina Ahimsā. Even in the Niryuktis and the Abhidharmakosa etc. the old criticism appears in new light, in a new garb. Inspite of this both condemn in severe terms the Vaidic Himsā. It is as a result of these two religions that animal sacrifices have gone to the state of oblivion. We can add that their mutual criticism of each other is as a result of want of proper mutual understanding which can be shown from Upālisutta of Majjhimanikāya and Sūtrakṛtānga (I.I. 2, 24-32, 2. 6. 16-28).

Both the religions believe in the Mantras and both have a rich Mantrasāstra of their own. Buddhism later on turned to Tantrsāstra and carried this to its extremity. The Jains also believe in Tantra. The oft repeated and the highly celebrated Mantra of the Buddhists is Aum Maṇi Padme Hūṃ which is engraved on every possible thing and object. Like this with the Jains the sacred Mantra is the Namaskāramahāmantra. These Mantras are repeated by the respective devotees with great faith and earnestness. The Mantra of the Jainas is said to be the essence of the 14 Pūrvas. By certain repetition[8] of this Mahāmantra[9] one can get the puṇya of Tīrthaṃkara nāma and gotra.

It is said that the personality of Buddha contributed to a large extent in the spread of Buddhism which was a missionary religion. Not so of Jainism. Through the missionary spirit Buddhism spread all throughout India and outside while Jainism was confined to India where it still survives while Buddhism disappeared since long. Bubdhism gained footing in Tibet, Nepal, Bhutan, Mangolia, China, Japan, Korea, Indian Archepelego, Java, Sumatra, Borneo, Ceylon etc. Now through the cultural activity of "Voice of Ahimsa" Jainism is being made known to the Western and Eastern countries. It is very sad that Buddhism which was a state religion and had enjoyed the patronage of Kings like Asoka completely disappeared[10] from India, while Jainism has many devotees in India even to this day. At the end of the third Buddhist council missionaries were sent to Kashmere, Kabulistan, Bactria, countries at the foot of the Himalayas and lower India and Ceylon.

Gayā or the Bodhigayā is considered by the Buddhist as a sacred place in virtue of the fact that it was under the bodhi vṛksa that Buddha got full enlightenment. For the Jainas Pāvāpurī is considered as the holy place because here Lord Mahāvīra attained Moksa. Thousands of pilgrims in both the religions pay a visit to these sacred places. They have become the place of pilgrimage for the devoute devotees. For the Jainas

8. It is repeated for 10,00,000 times.
9. Aum, hrim etc. are mantras in both religions.
10. Now attempts are made to revive it India.

Mount Abu, Sametsikhara, Kesariyājī, Girnār, Setrunjaya, Sravaṇa Belgola, Pālitāna, Rāṇakpur etc. are sacred places of pilgrimage. A branch of the Mahābodhi tree was transplanted in Ceylon by Mahendra, the son of Asoka; and therefore it is considered as a holy place. The Buddhists Stūpas found in India, Burma, Rangoon, China, Japan etc. are equally well known as objects of pilgrimage. In the case of Buddhsim the Chinese pilgrims Fa Hian and Huan Thsang who had embraced Buddhism visited these places and wrote chronicles about Buddhism.

Various religions have their own peculiar festivals. This holds good in the case of Jainism and Buddhism too. The common festival though celebrated in a different manner is the festival of lights (Dipavali). This festival is celebrated in honour of the achievement of absolution by the founders of the two religion : Material lamps are lighted in place of spiritual lamps. The Amāvāsyā of the month of Asvin is the day on which the Lord achieved the final knowledge i. e. the Kevalajnana. To suggest that the lord has attained spiritual light of knowledge devotees celebrate this fact by observance of certain Vratas. In Buddhism this is celebrated by illumination. The number of Buddbist religious festivals later on went on increasing like those of the Jainas; and they are celebrated in different places in diverse manners. Three festivals of the Buddhists are common to all. They are : The festival of the lamps, the festival at the commencement of the spring and the festival of the birth day of Lord Buddha.

Buddhism was a state religion and thus it got support from kings of ancient India. The most prominent among them are Devānāmpriya King Asoka, Ajātastru, etc. The Jainas too got support from kings like Srenika Bimbisara, Kunika, Khāravela, Kalingarāja, Kings of the Northern and Southern dynasties of the middle ages, King Akbar, Siddharāja, Kumarapāla etc. The credit of winning over the favour of certain kings like Akbar and Kumarapāla goes to the credit of Hīravijayajī and Kali-Kālasurvajna Hemacandra. Ahimsā in Gujarat atleast is due to the efforts of Hemchandra.

The organisers so to say of both the religions wandered on foot over the vast tract of land with a view to preach their religion. Buddha during the Course of his wandering tours moved over cities like Rājagrha, Kausāmbī, Pāṭaliputra, Magadha, Kāsi, Kosala, Aṇga, Srāvasti Vaisāli (which was too much loved by Buddha).[11] Similarly Lord Mahāvīra wandered over cities mentioned below for the same purpose. They are: Magadha, Aṇga, Kāsi, Vaisāli, Kośalā Rājagrha, Srāvastī, Apāpā, Videha, Vatsa, Sāketa etc. It may be observed that out of 42 Cāturmasas Mahāvīra spent 12 Caturmasas in Vaisāli. Thus this ancient city was highly liked by the two contemporary organisers of religions. It appears that both the teachers mostly wandered over the same tracts of lands at different periods with a view to

11. See Mahaparinibbanasutta : Nagapalokitam Vesaliyam apalokitva.

preach. This reminds us of our modern election campaigns. But there was no bitterness. People were absolutely free to follow what they liked and preferred. There was freedom of thought in the highest degree.

Out of the three Pitakas the Abhidharmapitaka deals with metaphysics, the Vinayapitaka deals with the code of behaviour for the monks and the nuns and the Suttapitaka deals with the doctrines. In the case of the Jaina scriptures the Acarangasutra deals with the code of behaviour for the monks and the nuns, the Uttaradhayana and the Tattvarthasutra deal with metaphysics and philosophy, and a few of the other Jaina canonical works deal with doctrines. In general the code of behaviour for the monks and the nuns in both the religions is (in general principles) agreeing with one another. The Buddhists monks put on a yellow garment while the Svetambara Jainas put on a white garment and hence the name those who clad in white garments. The Buddhists monks lived in Viharas, the Jaina monks live in upasrayas. Formerly both had to stay in forests or in a place out side the city so that they may be away from the worldly life. The Nuns too lived in both the religions separately with special rules of conduct meant for them. The Buddhists had a peculiar bowl so also the Jainas. Both the religions enjoined upon the ascetics to carry a big staff[12] so that with this they can caution a small animal or protect themself in case of any impending danger. (Here tradions differ in different Jaina schools.) Both had to obey and observe the Vratā of Aparigraha. Both passed the rainy season by staying for four months of the rainy season in a place either in a Vihāra or in an upasrya. Both used water after filtration. The Jaina monks and nuns specially use boiled water. Their necessary equipment is broadly the same. The Jaina monks eat twice (There are differing practices), the Buddhists had to eat the mid-day meal only. The evening meal of the Jainas was to be finished before the setting of the Sun. Both have to lop off the hair of the head and the beard etc. at stipulated period. The Jainas never touch fish and flesh while with the Buddhists it was not a taboo. Both never touch liquor. Celibacy is strictly observed by both. Sages like Sthūlabhadra, Bhadrabāhu, Hīravijaya, Hemacandra adorn the history of Jaina monachism, so Ānanda, Kāśyapa, Maudagalyāyana, etc. adorn the Church of Buddhism. Both the religions have a host of nuns[13] who have illumined the history of their religions. Both can entre the order after Dīkṣā (initiation). Both observe ascetic life very scrupulously and rigorously. Life of a Jaina monk is much more severe and stricter than that of a Buddhist monk or a nun. The duty of both the types of ascetics is very grave as they are expected to properly enlighten the laity. Though the general customs of

12. The Jaina Shramanas carry this even to this day.
13. Srimati, Ambapali, with the Buddhists and Kosa, Jainas are an instance in point.

both the monks and nuns in both the religions agree still if one were to go into minute details there are important differences owing to different type of religions they profess. Both passed the rainy season or "the four month" stay at a place. in a somewhat similar manner. Rules regarding their behaviour with nuns also was similar and strict. Initiation ceremony had points of agreements. In the Jaina Tīrtha, even prior to Mahāvīra, nuns were a constutient element in the Church in a very large number. It is quite probable that Jainism might have exercised influence on Buddhism and thus allowed the nuns to enter the order, for Buddha himself was much against the entry of nuns in the order. He had to yield before his own step mother, Mahāprajāpatī.

Just as, in Buddhism, Dhamma, Samgha and Buddha are cousidered as three jewels so also in Jainism Jnāna, Darśana and Cāritra are considered as the three Ratnas, (three Jewels). Both consider tṛṣṇā as the root of all evils. In both the religions bhūtānukampā (Love of every creature) is highly praised. The outstanding two qualities of Jainism are Ahiṃ ā and Anekantavāda. Buddhism is also equally tolerant and respects the views of others.

From the brief kaleidescopic review both these important religions of ancient India we can surmise with reason that they have gone a long way in contributing to the development of Indian religions and philosophical thought. Both have done their utmost in the preservation of ancient valuable books in their Vihāras and Bhāṇdāras. The Jainas have preserved every possible book or Manuscript pertaining to any religion in their Bhāṇdāras. A flood of light can be thrown on ancient Indian culture and civilization from the study of this ancient monuments. Both these religions which are Nivṛttiparāyaṇa silently contributed their mite in these sphere. Both the religions had the same aim. Social condition were also the same for the both. As regards either doctrines and religions notions both were holding similar views. Like the Buddhistic Stūpas the Jainas too had their Stūpas as for example the Stūpa of Mathurā. Both have beautiful art of Mūrtividhānā. Both contributed much to the ancient art and architecture. Thus, the two sister religions had much that was common between the two. Both vehemently attacked the Vedic religion and their revolutionary attitudes brought about a healthy change in the outlook of the Vedic Hindu religion.

Jainism anḍ Buddhism have 24 Saviors. The Jainas call them Tīrthakṃaras and the Bauddhas call them as Buddhas. Both had two main splits in their religion at an early date. Jainism enjoyed patronage from kings Cetake, Satānika of Kausāmbī, Srenika, Konika, Maurya kings like Samprati, Ksatrapa kings, was enjoying glory during the maitraka period and the Gupta reign. Buddhism also enjoyed royal patronage. Both religions contibuted to the establishment of great seats of learning like Nālanda, Taksasilā, Valbhī, Oddāntapuri, Jāgadala, Benaras etc. In Vihāras and Bhāndāras they preserved ancient books a Mss. Both

developed and oriented fine art like music painting, sculpture, architecture, temple building, etc. Jaina authors wrote in Sanskrit, Ardhamāgadhi, Apabhramsa, Jūnī Gujarati, Gujarati, Marathi, Kanada etc. while Buddhist authors wrote in Sanskrit, Pāli, Apabhramsa[14] etc. In mahayana there was Mūrtīpūjā, the conception of Devas and Devīs, Tantra and Mantra, so too in Jainism. Both contributed to Tarkaśāstra, metempsychosis, rebirth and the doctrine of Karma. The outstanding contribution of Jainism is the five Mahāvratas and that of Buddhism the Pancaśīlas. Among the 24 Tīrthankaras, Mahāvīra the last prophet, who was born in 599 B. C. was a contemporary of Lord Buddha who was born in 563 B. C. and thus they were contemporaries of Gośālaka Mankhaliputra the advocate of the Ājīvaka sect Ahimsā, love towards all living creatures, doing good to others, tolerance, universal brotherhood, humanitarian attitude to all, morality of high order, karma etc. are contributions of these two religions. In developing and moulding Indian culture both have played an important role. Both had almost similar attitude towards the caste system. Both these religious are tributaries in great river of Ancient Indian Religion. These salient common features were to an extent responsible in creating an illusion that Jainism was a branch of Buddhism, a myth that is now long since exploded.

Happiness lies not in learning or wealth. If one wants to be truly happy, let him cast away his desires.

14. Cf. the Dohakosas of Saraha and Kanha.

'Take no thought for the morrow !
The kingdom of heaven is within you !'

—Christ

"Dost thou to others as thou wouldst have others to do unto thee."

– Jesus Christ

Gujarati Society and The Jainas

By

Dr. M. R. Majumdar *M.A., Ph.D., LL.B.*

(General Editor, Cultural Chronology of Gujrat,
M. S. University, Baroda)

Coastal People:—It is true that the Gujarati society has come into being through synthesis of many castes, Varṇas and cultural influences. It is held, that out of two groups of the Āryans, one settled down in the Sapta-Sindhu region, while the other, (which included the Haihaya, Sharyāta, Bhṛgu and other groups) settled down in the west in various parts of Gujarat. In those times Gujarat was the home of the Anāryas like Dasyus, Asuras and Nāgas. These tribes established marital relations with Āryans of Gujarat. The tendency of the Paṇis (foreign traders) to build cities and vessels, and go abroad to carry on comercial activities has entered the Gujarāti society along with their coastal life.

Able Businessmen—This was followed by a mixture of many peoples like the Bactrians, Greeks, Hūṇas and Dravids in the land of Gujarat. As a result, the Gujarāti society came to acquire the characteristics of all these communities. The migrations of peoples and the resultant synthesis have entered the temperament of the Gujarāti, as a result of which he has become an able businessman and courteous. At the same time, these reasons have adversely affected his special pride for his own province.

A Mercenary Society:—The Gujaratis, who have evolved in this fashion, have been charged with being a mercenary or 'money-minded people. But if this is partially a disqualification, it is also a good point to some extent. If the mercenary spirit of Gujarat has been responsible for foreign rule over the ports of Gujarat, it has at the same time helped to save the society from internal oppressive rule.

Leaders in Currency Exchange:—It must not be forgotten that the financial attitude of Gujarat has largely influenced contemporary polity. As in modern times, in the Gujarat of those times too, affairs of State were dependent upon the transactions of big money-lending and banking concerns and multi-millionaires. These activities have been referred to in rock-edicts as 'Mudrā-Vyāpāra'

In the Middle Ages:—In the middle ages, great services in the financial field have been rendered by Vastupāla and Tejahpāla and Pethadshāh, Shāntidās Jhaveri, Durllabhaji Sheth, who started

the first mint in Poona in the times of the Peshwas, and the money-lending firms of Atmārām Bhūkhaṇ and others, who shifted from Surat to Bombay during the period of the East India Company.

Merchant Kings of the folk-tales : The folk literature of Gujarat refers to traders as 'kings'-'Shah Sodagara.' When their sons returned from abraad with vessels filled with riches earned in foreign trade, they were publicly honoured even by the king. Many times a royal princess was married to the son of the Minister, the who would be a Vaisya. The famous religious story of "Satya Narayana-vrata" tells of the Sadhu Vanik and his son-in-law, who had become porsperous through everseas' trade.

Attitude towards foreign Traders: Gujarat and Saurashtra are the regions of a commercial people. Foreigners professing other religions, who came to the parts in this region for the purpose of trade, were allowed to observe their own rites and rituals and follow their own faith. Records are available stating that mosques were built for the benefit of Muslims living in the parts of Mangrol and Cambay.

Religious Tolerance: Reliable historic evidence is available testifying to the religious tolerance of Gujarat from the Solanki period. There are some references to there being strifes among the Vaishnava and Shaiva kings of the south in the 11 th and 12 th centuries. But no such thing happened in Gujarat. Of course, there were hot debates between the Svetambara and Digambara Jainas, as also between the Jainas and the Brahmanas; but they never deteriorated into serious fights. The kings and the ministers had equal respect for all religions. When the Parsis fled from their homeland because of religious persecution, they were given shelter by the Shilahara king of Konkan in the neighbourhood of Gujarat. And from that date onwards, the Pārsīs have been staying as Gujarātis for the last 1100 years. During the reign of Siddharāja these fire-worshippers incited some Hindus to burn down the mosque at Cambay. 80 Muslims were killed in the riots that followed. A complaint was lodged with king Siddharāja, who, when he found it to be valid, fined the leaders of those groups responsible for the incident.

Religious Equality : Temples and Mosques: During the Vāghela rule, Vastupāla and Tejpala had built shrines for Jaina and Brahmana religions. Their biographers state that they had also built mosques. Jagadu Shah of Kaccha-Bhadreshvara had also built mosques, but the greatest example of religious equality is in evidence in an edict at veraval, dated Samvat 1320. During the time of Arjundeva, a Parsi by name Feroz had bought from the leading citizens of Somnāth a piece of land, along with all rights to build a mospue. He built a mosque on that plot and, buying a big piece of land belonging to Dhavaleshvara, handed it over to the management of the mosque for its maintenance and for the recitation of the Qurān. He also alloted a sum for the festivals of Shiyā Muslims, which he handed over to the

Muslims of Prabhāsa Pātan, and directed that if there was a balance, it may be sent to Macca and Medina. This incident is a clear proof of the excellent relations between Muslim residents and the Hindu religious leaders at this port in Saurāshtra.

The influence of the 'Mahajan' :— Gujarat has another arresting characteristic. According to the Arthaśāstra of Kautilya, the people of Saurāshtra mainly lived on arms and trade. From the times of the Vrishni and Andhaka families of Yādavas, there were three States existing in Western India. Gradually colonialism began to spread and the small 'republics' disappeared in the times of the Mauryas, the Kshatrapas and the Guptas. Still they retained their ability to live as 'Ganas', well-knit communities. As a result, the internal hierarchy of the Mahājans based on Varna (colour and caste), religion, region, and vocation continued without break. Even to this date the power of the Mahajans or Panca can be compared to the power of the State. Thus these Mahājans were the most influential, organised and efficient units in contemporary society of Gujarat.

The Landlord and the Poor :—The society in other provinces of India is generally seen to be divided into two different groups or classes. One of them is that of the influential landlords, chieftains and officials and the other of the Shūdras or servant class. On one side were the rich-the Haves, and on the other the poor-the Have-nots, while the middle class was at the mercy of both. This state of affairs is particularly to be seen in the regions of Bengal, Rājasthān and Māhārāshtra.

The Middle Class of Gujarat : But the middle class of Gujarat is virtually independent of the State, and earns its own living. It is poor but self-respecting. There were many political revolutions in Gujarat, but after a short while, the Middle class would continue with its normal life. It cared little as to who was in power. In their view, that Government was most benevolent which allowed their commercial activities to continue uninterrupted. The influence of these communities was so considerable that in case of serious differences of opinion; the king was threatened with an exodus of the whole Mahājana community, and the king would have to bow before them,

The Place of King in Gujarat :—Thus, though the king was in one sense the protector of the people and worthy of all honour, in another and more real sense, he was their active servant. The genesis of democraey is thus to be observed in the social structure of Gujrat. As a result, in the political, social and cultural life of Gujarat and Saurāshtra the Mahājans and the Nagarasheths have a very important place.

Middle Class : The Patron of Literature :—It is, therefore, natural that this class which was well off, cultured, happy, and used to the restrained enjoyment of the pleasures of life, should be the patron, creater and supporter of Literature, Music, Art and Religion. In Gujarāti literature, no author seems to have received royal patronage, except, the poet Bhatti, who composed the 'Rāvana.Vadha' in the times of

Maitraka king Dharasena of Valabhi, the Shrīmāli poet Māghā, who composed the 'Śhisupāla-Vadha' in Srīmāli, poet Māgha, who composed the 'Shiśupāla-Vadha' in Srīmāla, poet Rajasekhara, who was honoured by the Pratihāra kings Mahendrapāla and Mahīpāla. Acārya Hemacandra, honoured by Gurjaresvara Kumārapāla and the author of many poems and plays like Purohita Someshvara. Ministers like Vastupāla and Tejahpāla, Shreshthis, Commanders of the army, municipal officers etc. had shouldered the responsibility of spreading cultural influences to the lowest strat of the society. Desāi Mehtā Shankaradāsa, a prominent citizen of Nandarbār had given generous financial assistance to the poet Premānand. Similarly a not very rich landlord had rewarded the metrical story-writer Shāmala Bhata by making him his life-long companion.

The middle Class : A Lover of the Art of Painting :—Like literature, the art of painting and other fine arts in general, received liberal encouragement from the middle class in Gujarat. In other words; the Gujarātī art of painting was supported not by kings but by devout Jainas and Hindus of the middle and upper classes. Similarly Vastupāla and Tejahpāla who gave the inspiration and their best for the world-famous Dilwārā temple, belonged to the upper classes. It is therefore important, not to confuse the folk-art of Gujrat with an art developed under royal patronage in other parts of India.

Popular Music of Gujarat :—The indigenous music of Gujrat mainly consists of such items enjoyed and supported by the people as Rāsa, Garabā, Garabī, Bhajana; Pada etc. However many-classical Rāgas in the classical Mārgī music style are named after various places and cities of Gujarat, for example Khambhāvatī, Bilāval, Māru, Gurjarī etc, Still, the music of Gujarat is largely a folk-music, 'Deshī' as it is called.

Apathy for Education :—The pursuit of knowledge may have been popular in the times of the scholarly Solankī and Vāghelā kings. But after them, education does not seem to have developed. Knowledge for its own sake has not been pursued much in Gujarat, Though the Brāhmanas performing sacrifices and Jaina monks in service of their religion, admittedly kept the torch of knowledge burning, their efforts do not seem to have reached a high scholastic level.

Sanskrit in Gujarat ;—Gujarat began to contribute Sanskrit literature from very early times. The first long composition in Sanskrit that is available is the rock-edict near Mt. Girnar, which contains an order of king Rudradamana A. D. 150). This writing refers to Grammar and other Linguistic Sciences. This was followed by Sanskrit poets like Bhatti and Magha. In the 12th century A. D., Hemacandra and his disciple Ramachandra Suri and in the 13th century poets like Someswara. Arisimha, Nanaka etc. living under the patronage of Vastupala and Tejahpala, made a rich contribution to the Sanskrit literature. Though not of the first order, they may be considered to belong to the second and third qualities, after this period, the study of Sanskrit lore

decreased very much, though Sanskrit compositions continued to be written till the last century, even if in a very small measure.

Gujarat Lagged behind in the Pursuit of Knowledge :—Still it has to be admitted that in comparison with the Maharashtrian Bengali or Dravid scholars, the Gujaratis lag behind in the pursuit of pure knowledge is observed in its 'Madhukari' system, by which the people supported poor young boys who wanted to acquire education. On the other hand, there are very few Brāhmaṇas in Gujarat who know more Sanskrit than to manage reading of the Purāṇas. They contented themselves with reading a couple of epics and going through a little grammar like 'Kaumudī' and the 'Sārasvata'. Mahārāshṭrian and Bengāli scholars have gone to Kāshi and attained fame as highly qualified Teachers of Sanskrit, while Gujarātis going to Kāshi for Sanskrit education were rare. Naturally, no Gujarāti had made a name in Kāshi.

Religious Tolerance in Gujarat : But if the Brāhamaṇas of Gujarat are not very learned, the people of Gujarat are at the same time comparatively free of religious bigotry. Gujarat has been above the Brāhamaṇa–non–Brāhamaṇa quarrels, and has always given evidence of religious tolerance. In 1181, a debate took place in the court of Siddharāja, in which the Digambara Jainas were defeated in a debate by the Śvetāmbara Jainas. At the same time the Jaina Āchārayas, patronised by the Shaiva rulers, adopted a policy of moderation and friendship with the Shaiva and Vaishṇava sects. As a result, even after this period, the Jainas, the Shaivas and the Vaishṇavas continued to live in peace in Gujarat.

In the middle ages, Shaiva kings have been served by Jaina Ministers, and charities have been impartially given to Jaina as well as Brāhamaṇa institutions, scholars and poets. Emperor Ashoka went a step ahead of religious tolerance, and adopted the principle of religous equality. This tradition was continued in the middle ages by the kings, and the Jaina as well as the Brāhamaṇa ministers of Gujarat.

Contribution of Jainism in the Development of Gujarat : Jainism has made a valuable contribution to the culture of Gujarat. Jaina scholars have rendered valuable service to the Sanskrit Apabhraṁsha and the old Gujarāti literature of Gujarat. They have also made efforts to preserve learning by establishing libraries, which contained incomparable collections–"Bhaṇḍāras"–of books on Jaina as well as other religious systems. They have also encouraged the art of Painting, mostly book-illustrations to a great extent, by building temples with walls bearing pictures, and also by introducing books with miniature-pictures.

The Non-Violence and Humanitarianism role of the Jainas in spreading the principles of non-violence and humanitarianism is invaluable. Religious festivals, worships, pilgrimages and such other rites and rituals were very important in both the Jaina and Vaishnava religions; and thus they have created an attitude of religious equality among the masses. In fact, there are even Vaishnava

and Jaina families within a single community, and they think of nothing while entering into inter-marital relations. Charity to maimed cattle and birds is a common feature in Hindu-Jaina Society of Gujarat.

Synthesis of Jaina and Vaishnava Practices : In short, the Jaina and the Vaishnava religions have made equal contributions in giving a Gujarātī personality to the cultural influences of ancient India, and this synthesis colours the life of the whole Hindu community of Gujarat. Non-violence, absence of bigotry and charity have been developed in this community, not only by its commercial instincts, but also because of these two religions.

Characteristics of a Gujarati : The special characteristics of a Gujarāti are financial acumen, a liberal attitude with money, generosity of heart, politeness and the power to mix with the surrounding world : that is why, the civilisation of Gujarat is neither provincial, nor local, nor limited, in any other way. It contains the characteristics of the Brāhamaṇa, the Kshatrīya, as also of the Vaishya. It is Indian, and yet contains the quality of universal friendship.

As a result of linguistic reorganisation of provinces in Bhārat, Gujarat has come under a Gujarāti-speaking administration from May 1, 1960, for the first time in its political history. It takes pride in being a limb of Mother India. Gujarat has never been provincial in spirit, and yet believes that "wherever there is a single Gujarāti, there is Gujarat for him".

'Reading maketh a man'.

—Bacon

Some Forms of The Obligatory Participle in Prakrit

By

L. A. Schwrizschild, Australia

The days are long over when students could think of Prākrit as a language that was just used in sections of the Sanskrit dramas and then only by the lesser characters, a language that could readily be ignored if one looked at the Sanskrit *chaya* at the bottom of the page. In a volume dedicated to Sri Chhotelal Jain it is hardly necessary to point out that the great advance of Jaina studies over the last century has changed this attitude completely. Prākrit simply cannot be ignored now, but there is still a tendency in linguistic works to treat it as an intermediary, and to regard it merely as a transitional stage between Vedic and Classical Sanskrit on the one hand, and Apabhraṃśa and the modern languages on the other. There are many features of the Prākrit dialects that are of intrinsic interest, and not just survivals of modern developments. Some of the peculiarities of the obligatory participles in Prākrit illustrate this.

The general outline of the development of the obligatory participle in Middle Indo-Aryan is very clear; of the three Old Indo-Aryan morphemes only one, (*i*) *tavya* > Pkt.—(*i*) *avva* > Apa. -*evva* has survived into the modern languages, whereas the other two, -*anīya* and -*ya* subsist only in fixed forms. There are a number of historical problems that still need more explanation, in particular the origin of the aberrant Pali morphemes -*taya*, -*tayya*, and -*teyya* and the reasons for the development of -(*iy*) *avva* to -*evva* in Apabhraṃśa.[1] But it is the distribution of the different forms of the obligatory or potential participle in Prākrit that is of special interest, and helps indirectly towards the elucidation of some of these historical problems.

The examination of literary texts in the Prākrit dialects and a comparison with the inscriptional usage shows a remarkable uniformity prevailing in the form and use of the obligatory participle. There is less regional differentiation than in the case of most other morphemes. In all areas derivatives of (*i*)-*tavya* are by far the most frequent, those based on -*anīya* are less so, while derivatives of older forms in -*ya* are clearly restricted

1. This is to be discussed elsewhere. For one explanation see A. Master : A Grammar of Old Marathi (Oxford, 1964), 244.

to certain verbs. It is significant that the verbs concerned are in very common usage, e. g., *-kajja*, Mg. *kayya*, √*kr-*, and *bhavva*, √*bhu-*. There are two main groups of such derivatives of former obligatory participles ending in *-ya*, those in which *-y-* has become assimilated to the final consonant of the verbal root, and those in which *-y-* remained. Both these groups show by their development that the *-ya-* participles were still strongly associated with the verbal system in the formative period of Middle Indo-Aryan. The forms of the present tense of the passive have exerted an important influence on both groups of obligatory participles in *-ya*. The group which preserved the ending *-ya*, i. e., particularly the vocalic roots, have new analogical forms based on the present tense of the passive alongside the traditional forms: thus *deya* 'to be given', occurs as *dijja* in the Amg. of the *Vivāgasuya* (cf. Pāli *deyya*), *dheya* 'to be placed' is found to have a paralled form *dhijja* (cf. Pāli *dheyya*), which has penetrated even into the standard locution *namadhijja* (JM) for *namadheya* 'name-giving', *pijja* 'something that is to be drunk' (Pāli *peyya*) appears for *peya*, *sankhijja* alternates with *sankheya* 'to be calculated' particularly in JS and JM. In all these cases the new forms in *-ijja* are due directly to the influence of the present tense of the passive, *-dijjai* 'it is given', *dhijjai* 'it is placed' *pijjai* and *sankhijjai*. *Hejja*, *hijja* 'to be carried away' (√hr-) is analogical to this group, but *sejja*, *sijja* 'for resting on'<*sayya* is probably at least partially a phonetic development. The only exception to this group is *neya*< Skt. *jneya* 'to be known' which has no parallel form in *ijja* : the reason for this is that the present passive of this verb was different from the rest of the group, *najjai* 'it is known' has therefore not influenced the obligatory participle, which has remained as *neya*. There can thus be no doubt of the link between obligatory participles of this group and the verbal system in Middle Indo-Aryan.

In some obligatory participles of the second group (i. e., the consonantal roots), the double consonant *-jj* is due to regular phonetic development, e. g , JM *chejja*<*chedya* 'to be cut', and *bhejja* <*bhedya* 'to be split'. But even here the influence of the present tense of the passive has made itself felt and the alternative forms *chijja* and *bhijja* based on the present passive *chijjai* and *bhijjai* are frequent.

In the present tense of the passive the final consonant of verbal roots of second group was often doubled as a result of the presence of the passive *-ya*, and sometimes further modified, and the same influences were operative in the obligatory participle. Some of these modifications are due to complex analogies, e. g., in the case of the type *stuyate* 'is praised', Pkt. *thuvvai*. There is much discussion as to the origin of these double consonants and their modifications. Whatever view[2] one adopts, it remains certain that the same analogies were operative in the obligatory parti-

2. R. Pischel : Grammatik der Prakrit-Sprachen (Strassburg, 1900), p 375, was opposed to the views on analogy held by Goldsmith, Johanson and others, and uncertainty has prevailed ever since.

ciple, thus a new form *thuvva* 'someone who is to be praised' was made from √*stu-* 'to praise'. This type of obligatory participle was very much part of the verbal system and for a while at least in Middle Indo-Aryan it formed a living contrast with the past participle of some very frequent verbs. In the past participle the double consonants that were favoured and often spread by analogy[3] were *-kk-*, *-tt-*, *-ddh-*, *-nn-*, and *-gg-*, whereas in the obligatory participles the groups that were formed by the influence of the passive *ya* and were generally favoured were *-cc-*, *-jj-*. *-jjh-*, *-bb-*, *-pp-* and *-vv-*, in agreement with the present passive. Examples of such complex analogical forms are : *jicca* 'to be conquered', √ji-, found alongside the present participle passive *jiccamaṇe* in the Amg. of the *uttaradhyanasutra* pali *kicca* 'to be done'. √*kr-*, Niya *kica* Aśokan (Girnar) *kacam; pibba* 'something that is to be drunk', present passive *pibbai* is found alongside *pijja*, *pijjai* (see above), which itself had been 'wrongly' introduced in Mahārāstri, Mg. and S according to Pischel[4]. *bhavva* and *havve* (Māhārāstrī), √*bhu-*; *gejjha*, √*grh-*; *lejjha*, √*lih-*; *vijjha*, √*vyad-*; *bhujja*, *bhojja*, √*bhunj-*; *jappa*, *japay*, *guppa*, √*gup-*; *savva*, √*sru-* are all examples of such obligatory participles. In some cases the double consonants correspond to the Old Indo-Aryan etymology, in others they are of recent analogical introduction. This contrast between the double consonants of the past participle and the obligatory participle was probably short-lived, but as it faded, the feeling that any double consonant, not necessarily one of those listed as characteristic, could mark a form as an obligatory participle. In late Apabhraṃsa one can therefore still find completely new formations that can only be explained in this way : *bhogga* 'to be enjoyed' (*Bhavisattakaha*), and *buddha* 'to be understood' (*Prakrta paingalam*).

The *-iya*, *-ijja*, forms, particularly those of the first group, *dijja*, etc. which were extended by analogy, took even longer to fade from the linguistic consciousness :—*iya*. *-ijja* were added to completely new present tense bases, e.g. *dekhiya* (widespread in Asokan Inscriptions); similar obligatory participles figure even in a late Apabhraṃsa text like the *Sandesarasaka* in verbs of speaking, *kahiya*, *jampiya* and *pabhanijja*, with the same variation between *iya* and ijja that is found in the present tense of the passive.

It is therefore clear that the kind of obligatory participle or gerundive that was formed with the morpheme *ya* in Old Indo-Aryan remained very much alive in Middle Indo-Aryan, at least in its formative period, and continued to be closely linked with the verbal system. The derivatives of this morpheme were distinctive, they formed a contrast with the past participle, but they were often modified by various analogies. Whereas Old Indo-Aryan had the three different

3. See H. C. Bhayani : 'Analogical replacement in MIA Past Passive Participle Bases', Bhartiya Vidya XIX, pp. 111-115.

4. R. Pischel : op cit. p. 372.

morphemes for the one usage of the obligatory participle, in Middle Indo-Aryan the derivatives of these morphemes were separated in usage and meaning. They all still maintained the basic sense of 'something that should be done'. But in the case of the *ya* forms that sense of obligation showed signs of weakening in Sanskrit[5] to indicate something that was vaguely suitable or possible rather than obligatory : i.e., the alternative name of 'potential participle' was more strictly applicable. This is noticeable especially in negative sentence. In Middle Indo-Aryan this weakened meaning has become general. e.g., *gejjha* means 'something that can be taken', *neya* means more generally 'something that can be known' rather than 'something that should be known', *jampiya* 'something that can be told' etc. The participles based on *-ya*, despite their continuing association with the passive of the verb, are no longer used with the instrumental in lieu of an active verb. This truly gerundive usage was restricted to the forms in -(iy) *avva*; an exception is the fixed locution *kim kajjam* which is found occasionally in JM alternating with the more usual *kim kayavvam* 'what is to be done ?'. From the evidence of Middle Indo-Aryan usage it would be more accurate to describe the derivatives of the *ya* participles as verbal nouns expressing possibility; they can certainly no longer be described as true gerundives. The most usual expressions in which they appear are lists of such verbal nouns e.g. in JM (*Cauppannamahapurisacariyam*) : *na kajjakajjam, na bhakkhabhakkham, na pariharaniyam na gejjham.*

The fact that the morpheme *ya* of the potential participle, and its derivatives were still part of the verbal system in the early and formative period of Midble Indo-Aryan may help towards explaining the old Pali forms in *tayya, -teyya, -teya*. The standard explanation is that these forms have arisen by an unusual phonetic process from *-tavya*, alongside the more regular *-tabba*.[7] This explanation is not altogether convincing, and it would seem quite possible that the Pāli morphemes *-tayya, -teyya, -teya* arose from a contamination between *-tabba, -tavya* on the one hand, and *-eya, -eyya* (as found in such very usual words as *deyya* 'to be given'), on the other. The fact that these forms in *-tayya, -teyya, -teya* belong mainly to the older Pāli texts would tend to corroborate this explanation. There are two words in the Asokan inscriptions that could be explained by a similar contamination between *tavya* and *ya* : these are *ichitaye* (*Jagnada*)[8] and *pujetaya* (Girnar). The general use of the other obligatory morpheme a*neyya*, alongside -a*niya* in

5. J Wackernagel : Altindische Grammatik III, p. 209 shows that in the case of anyia this weaker meaning may more justly be regardedas an archaism that was continued in Middle Indo-Aryan, and not as an innovation.
6. H Hendriksen : Syntax of the Infinite Verb-forms of Pali (Copenhagen, 1944), pp. 11 ff.
7 See M. Mayrhofer : Handbuch des Pali (Heidelberg, 1951), I. p. 175.
8 This is perhaps a scribal error for ichitaviye. See L. Alsdorf; Ashokas Separatedikte von Dhauli und Jaugada (Mainz, 1962), p 13.

Pāli shows that there has probably been some widespread influence of the *deyya*, *peyya*, *dheyya* type of form, and this would make the above analogical explanation of the Pāli *-tayya*, *-teyya*, *-teya* appear very probable.

In Middle Indo-Aryan the obligatory participle in *aniya* is much more freely used than that in *ya* and its derivatives but in form it is much more limited: there are only three variants of it: *aniya* (Pali *aniya*), *anijja* and Pali *aneyya*. It has often been pointed out that this morpheme stays linked with the verbal system to such a degree that whenever the present passive was formed in *ia* (that is in S and Mg in particular) and in *iyya* (Pali). the obligatory participle followed suit and became *aina*, *aniya*, while elsewhere it became *anijja* to correspond to the present passive in *ijja*. But just as the dependence of the obligatory participle in *ya* on the verbal system had been minimised, the relationship of *aniya* with the present passive seems to have been exaggerated. An examination of a variety of Middle Indo-Aryan texts reveals that the forms of the passive and of the obligatory participle in *aniya* by no means go hand in hand: Pischel has already pointed out such 'mistakes' as *anijja* used in S and *aniya* appearing occasionally in Amg. The Pali forms are significant from that point of view: both *aniya* and *-aneyya* are used, whereas the present passive is formed with *iya*. On the whole, *ani (y) a* is almost the rule in Mg and S, but *anijja* is preferred in M, JM: and JŚ, even though there is an occasional passive in *-iya*: e. g., in the *Manipaticarita* of Haribhadra *gahiyanti* 'they are seized' (v. 545) but *acintanijja* 'unthinkable' (v. 283). In some of the popular JM texts, both early and late, there is simply open hesitation between *aniya* and *anijja* forms: e. g., in the *Vasudevahindi*, *pariharanio* 'to be avoided' and *garahanijjo* 'to be blamed' occur in the same sentence, though the former is in reported speech (p. 263. 13). There is no apparent distinction in meaning or use, but the forms in *anijja* are more frequent. In both the prose and the verse sections of the *Samaraiccakaha* *anijja* forms prevail, but in the *Kuvalayamala* there is apparently free interchange is even more noticeable and the *aniya* forms are not quite so heavily outnumbered (e. g., in the *Caupannamahapurisacariyam*). These later texts are however only of indirect importance for the formative period of Middle Indo-Aryan. A similar hesitation, again with preference being given to the *anijja* forms, can be noted from Jaina Śaurasenī (e. g., the *Bhagavati Aradhana* and *Kattigeyanupekkha*. There was obviously no real need felt to make obligatory participles correspond exactly to the passive, and the forms enjoyed a certain amount of independence.

While the descendants of the *-ya* forms were mainly used as nouns denoting 'obligation' or more generally 'possibility', the *-aniya* form seems to have had a more definite adjectival function. The sense of obligation was on the whole still prevalent in Prakrit except in the negative. -aniyā, anijja is only rarely used with instrumental in

9. R. Pischel: op. cit. p. 388.

'To pray together, in whatever tongue or
the most tender brotherhood of hope and
that man can contract in this life'.

—Madam

Jaina Arungalam in Tamil Literature

By

K. G. Krishanan, *M. A.*,

Superintendent for Epigraphy, Octacamund.

The contribution of the Jainas to the Tamil Language is generally well-known among all the scholars. Here it is proposed to deal with one of the little known or forgotten chapters regarding the organisation of scholars of the Jaina faith who were responsible for such contributions. Jaina monks had spread over several places in the Tamil country through a net-work of their Saṃgas about which we get very little information from Tamil inscriptions. Kannaḍa and Tamil inscriptions in Karnāṭaka throw some light on the organisations of these monks. Numerous references are available to Drāvida-saṃgha, which is referred to also as Drāvida-gaṇa. The absence of the uniform use of the nomenclatures such as gaṇa, samgha, anvaya in describing the organisation, makes the heierarchy often confusing. However, in this mess of a mass of material the name Arungal-ānvaya[1] stands out prominently. Other *anvayas* known to us are Chitrakūṭa-anvaya and Sen-ānvaya. Vain becomes our search when try to trace out references in Tamil inscriptions to such names of anvayas in an inscription in Sanskrit and Tamil in Grantha and Tamil characters of about 13th-14th centuries, not studied so far, is revealing. The inscription[2] on a boulder about two furlongs to the northwest of the Stambhēsvara (Tūṇāṇdār) temple at Sīyamaṅgalam in Wandiwash Taluk in North Arcot District in Madras State reads :

1. Svasti [1*] Śrīmad-Draviḷa-samgh=esmin
2 Nandi-samgh=esty=aruṅkaḷaḥ [1*] Anvayo bhāti
3. niś=sesha-saśtra-varasi-paragaiḥ
4. Sri Arunkal-ānvayattu Mandalacharyar
5. Guṇavīradevar sishyar Vajranandi-Yogindrar
6. cheyvitta tiruppadanam [1*] Eta [d]=vad-ibha-simhasya
7. sasanam=jayach=chi ram [1*] yasya syad-vada-vajrena nirbhinnaḥ ku [ma] t-adrayah

The inscription opens with a Sanskrit verse of *anushtubh* metre containg a

1. Dr. B. A. Saletore's rendering this name as Irungala is misleading. Medieval Jaiaism, p. 236.
2. S. I. I, Vol. VII, No. 441.

simple statement that the Arunkala (written as Arunkala and pronounced as Arungala in Tamil) anvaya in Nandi-samgha in Dravilā-samgha was adorned by scholars very wellversed in numerous sastras. The next passage in Tamil prose says that this padanam (raised platform) was caused to de done by Vajranandi-yogindra, the disciple of Gunaviradevar, a mandalacharya of Sri Arunkalanvaya. This Vajranandi-yogindrar is then enlogtsed in another anushṭubh verse as the defender of the faith breaking away all the mountains of heretical faiths (ku-mata) with his thunderbolt of Syad-vada, The findspot of this record, i. e. Siyamangalam in Wandiwash Taluk was only one of the many other centres of Jaina faith such as Vilappakkam in the adjoining Walajapet Taluk, where a nunnery is stated to have been established in the 10 th century.[3] Pundi in Arñi Taluk where a Vīravīra-Jinālaya was constructed by a Siyan Sambhuvarāya in the 13th century.[4]

The name, Arungalam, of the anvaya reminds us immediately, of its association with the names of at least two works in Tamil which are well-known to be the compositions of Jaina scholar. At the outset, it should be however noted that this word arungalam could only be taken as a Tamil word meaning 'the precious ornament'. Teachers teaching these works tradionally interpret their names Yapparungalam and Yapparungalakkari-kai as (the work which is) the precious ornament (made of) yāppu, i. e. prosody and a memorial work of a woman (adorned by the precious ornament (made of) yappu. respectively. This traditional interpretation is at best imaginative and is not based on sound facts when compared with the names of other pieces of Tamil Literature. In the light of the foregoing discussion on the Jaina organisations in the Tamil country, I venture to surmise that Amitasagarar, the author of these two works, who is stated in the introductory verse to the former of the two works, to be the disciple of Gunasagarar belonged to this anvaya (school ?). It is not improbable that the author Amitasagarar and his preceptor Gunasagarar were the monks of this school-monks because they are described to have performed penance and the above-mentioned works were the products of this school and hence named Yapparungalam, and Yapparungalakari-kai. Arungalachcheppu, and the work is also stated to have been composed by the Arungalanvattar of Dipangudi near Tiruvarūr in Tanjaur District in Madras State,

Jaina Philosophy of Non-absolutism and Omniscience

By

Professor Ram Jee Singh,

Department of Philosophy, Bhagalpur University, Bhagalpur (Bihar)

1. Is Non-absolutism absolute ? : Is non-absolutism is absolute, it is not universal since there is one real which is absolute and if non-absolutism is itself non-absolute, it is not an absolute and universal fact. "Tossed between the two horns of the dilemma non-absolutism thus simply evaporates.[1] But there are also the following points :—

(a) Every proposition of the dialectical sevenfold judgment is either Complete or Incomplete.[2] In complete judgment, we use only one word that describes one characteristic of that object and hold the remaining charactors to be identical with it. On the other hand, in Incomplete Judgment, we speak of truth as relaltive to our standpoint [3]. In short, Complete Judgment is the object of valid knowledge (pramāna) and Incomplete Judgment is the object of aspectal knowledge (Naya).[4] Hence the "non-absolute is constituted of the absolute as its elements and as such would not be possible if there were no absolutes".[5]

(b) The unconditionality in the statement "All statements are conditional" is quite different from the normal meaning of unconditionality. This is like the idea contained in the passage"- I do not know myself," where there is no contradiction between 'knowledge' and Ignorance' or in the sentence. "I am undicided," where there is at least one decision that I am undicided. Similarly, the categoricality behind a disjunctive

---

1. Mookerjee, S : The Jaina Philosophy of Non-absolutism, Bharti Mahavidyalaya, Calcutta, 1944, P. 169.
2. Umasvami : Tattvarthadhigamasuttra, Central Jaina Publishing House, Arrah, T. 6. Vidyananda : Tattvarthaslokavartikam, I. 6. 3
   (Ed) Manoharlal : Nirnaya Sagar Press, Bombay, 1918, P. 113. IV. 43.
   Vadidevasuri : Pramana-naya-tattvalokalankara IV. 43, Kashi Editor—Himansu Vijaya Vira Samvat, 2437
3. Tattvarthaslokavartika, p. 118. Pramana-naya-tattvaloka, IV-45.
4. Pujyapada ; Sarvartha Siddhi, Bhartiya Jnana Pitha, Kashi, 1955, p. 20.
5. Mookerjee, S : Ibid, p. 171.

simple statement that the Arunkala (written as Arunkala and pronounced as Arungala in Tamil) anvaya in Nandi-samgha in Dravilā-samgha was adorned by scholars very wellversed in numerous sastras. The next passage in Tamil prose says that this padanam (raised platform) was caused to de done by Vajranandi-yogindra, the disciple of Gunaviradevar, a mandalacharya of Sri Arunkalanvaya. This Vajranandi-yogindrar is then enlogtsed in another anushṭubh verse as the defender of the faith breaking away all the mountains of heretical faiths (ku-mata) with his thunderbolt of Syad-vada, The findspot of this record, i. e. Siyamangalam in Wandiwash Taluk was only one of the many other centres of Jaina faith such as Vilappakkam in the adjoining Walajapet Taluk, where a nunnery is stated to have been established in the 10 th century.[3] Puṇdi in Arñi Taluk where a Vīravīra-Jinālaya was constructed by a Siyan Sambhuvarāya in the 13th century.[4]

The name, Arungalam, of the anvaya reminds us immediately, of its association with the names of at least two works in Tamil which are well-known to be the compositions of Jaina scholar. At the outset, it should be however noted that this word arungalam could only be taken as a Tamil word meaning 'the precious ornament'. Teachers teaching these works tradionally interpret their names Yapparungalam and Yapparungalakkari-kai as (the work which is) the precious ornament (made of) yāppu, i. e. prosody and a memorial work of a woman (adorned by the precious ornament (made of) yappu. respectively. This traditional interpretation is at best imaginative and is not based on sound facts when compared with the names of other pieces of Tamil Literature. In the light of the foregoing discussion on the Jaina organisations in the Tamil country, I venture to surmise that Amitasagarar, the author of these two works, who is stated in the introductory verse to the former of the two works, to be the disciple of Gunasagarar belonged to this anvaya (school ?). It is not improbable that the author Amitasagarar and his preceptor Gunasagarar were the monks of this school-monks because they are described to have performed penance and the above-mentioned works were the products of this school and hence named Yapparungalam, and Yapparungalakari-kai. Arungalachcheppu, and the work is also stated to have been composed by the Arungalanvattar of Dipangudi near Tiruvarūr in Tanjaur District in Madras State,

eternality, definability and non-definability[12] etc., which apperently seem to be contradictory characteristics of reality or abject, are interpreted to co-existent in the same object from different points of view without any offence to logic. All cognition be it of identity of diversity-or after all are valid. They seem to be contradictory of each other simply because one of them is mistaken to be the whole truth.[13] In fact, "the integrity of truth consists in this very variety of its aspects, whithin the rational unity of an all comprehensive and ramifying principle."[14] The charge of contradiction against the co-presence of being and non-being in the real is a figment of a priori logic. [15]

2. **Is Knowledge absolute ? :** Since absoluteness is unknown to Jaina Metaphysics, so it is in its metaphysic of knowledge. The Jaina division of knowledge into immediate and mediate[16] is not only free from the fallacy of overlapping division but it is also based on common experience[17] and point out to the initial non-absolutism.

However, the professed non-absolutism becomes more explicit, when knowledge is classified into Pramaṇe (knowledge of a thing in its relation)[18] This aspect of knowledge existing in relation to a number of things and being liable to be influenced by others is a fundamental feature of Jaina epistemology. Pramaṇa is complete knowledge (sākaladese) and Naya is Incomplete knowledge(vikalādesā.[19] Other controversies between the two traditions of Jaina Āgamic and the Logical, regarding the classification of knowledge are referred to elsewhere.[20]

For clarification, it may be said that the terms "immediacy and mediacy" are used in different sense than the common meaning and understanding. Jainas deny the immediate character of the ordinary perceptual knowledge like the western representationalists but

judgment (A man is either good or bad etc.)[6], the categoricality is not like the categoricality of an ordinary categorical judgment. "The horse is red". The question of "why" has been discussed elsewhere[7] in detail.

(c) Samantabhadra, an early Jaina logician, in one of his worship-songs, clarifies this position in the light of the doctrine of manifoldness of truth. He says "even to the doctrine of non-absolutism can be interpreted either as absolute or non absolute according to the pramāna or Naya respectively. This means that even the doctrine of non-absolutism is not absolute unconditionally.[8]

(d) However, to avoid the fallacy of infinite regress, the Jainas distinguish between Valid non-absolutism (Samyaka anekanta) and invalid non-absolutism Mithya Anekanta[9] Like an invalid absolute Judgment an invalid non absolute judgment, too is invalid. To be valid, Anekānta must not be absolute but always relative. In short, the doctrine of non-absolutism is an "opposite (theory) or Ekāntavāda, a one- sided exposition irrespective of other view points[10]. Anekāntavāda literally means not, one, as ide, exposition many sided exposition taking into account all possible angles of vision ragarding any object or idea.

Now, if we consider the above points, we can not say that "the theory of relativity cannot be logically sustained without the hypothesis of an absolute.[11] Thought is not mere distinction but also relation. Everything is possible only in relation to and as distinct from others and the Law of contradiction is the negative aspect of the Law of identity. Under these circumstances, it is not legitimate to hold that the hypothesis of an absolute cannnot be logically sustained without the hypothesis of a relative. Absolute to be absolute presupposes a relative somewhere and in some forms, even the relative of its non-existence.

Jaina Logic of Anekānta is based not on abstraet intellcetualism but on experience and realism leading to a non-abslutistic attitude of mind. Multiplicity and unity particularity and the Ubiversality, eternality and non-

---

6 Bradly, F H. : The Principles of Logic, Oxford. 2nd Ed. Vol. 1, p. 130.

7 Jaina Antiquary, Arrah, Vol. 22 No. 1 article of the author entitled "The nature of the Unconditionality in Syadvada" pp. 20-24.

8 Svayambhu Stotra, K. 103, Vira Seva Mandir, Sarsawa, 1951, p. 67. and Nyayadipika of Abhinadharma Bhusana, Ed. Darbari Lal Kothia, Viva Seva Mandir, Sarsawa, 1945, pp. 128-129

9. Samanta Bhadra : Apta Mimamsa, K. 103, Sanatan Jaina Grantha Mala, Kasi, 1914. Astasahasri L. Vidyanand, p. 290 Nirnaya Sagar Press, Bombay, Asta Sahasri : Vidyananda, Nirnaya Sagar Press, Bombay, P. 290 Nyadadipika, p. 130-31.

10. Kapadia (T. R., (Ed), Anekanta-jaya-pataka of Haribhadra, Vol I, p. IX (Intro), Gackawada oriental Institute, Baroda, 1940.

11. Radha Krishanan, S. : Indian Philosophy, George Allen & Unwin, London. 1929, Vol. 1, p. 305-6. (cf. Hanumanta Rao's article on "Jaina Instrumental Theory of Knowledge". Indian Philosophical Congress, 1926. (Proceedings.)

So far we know or can know, the making of truth and making of reality is one. Reality like truth is therefore definite-indefinite (anekānta). Its indefinitness follows from the inexhaustible reserve of objective reality and its definiteness comes from the fact that it grows up into the reality of our own knowing which we make.

So we can fairly conclude that in Jainism, non-absolutism is not only a meta-physical but also an epistemological concept. There is no absolute reality, so there is no absolute truth.

Jainas believe that "when there is isolation and obstruction, there is everywhere, so far as the abstraction forgots itself unreality and error."[30]

3. Distinction between Syadvada and Sarvagnata.—Syādvāda is not the final truth. It is merely an attitude of knowledge,. In fact, it simply helps us in arriving at the ultimate truth. Syādvāda works or can work only in our practical life and it is therefore th t the Jainas regard it as practical truth (Vyavahāra Satya). Sidhasena Divakara points out this fact very clearly in the following verses:—

i.e., without the help of Syādvāda, we cannot execute our business in our practical life.

But there is another realm of truth which is not in anyway partial or relative but absolute and which is the subject matter of omniscience or perfact knowledge.

Let us illustrate the point of difference between these two types of knowledge-Syādvāda and Sarvajnata (a) The Immediate effect of valid knowledge (Pramaa) is the removal of ignorance, the mediate effect of the absolute knowledge or Kevala Jnana, is bliss and equanimity, which the mediate effect of practical knowledge or Syādvāda is the facility to select or reject[31] what is conductive or not, for self realisation., Pramana or Jnana[32] is the right knowledge.[33] The development of omni-

30. Bradley, F. H. Essays on Truth & Reality, Oxford Univ. Press, 1914, p. 487. Bradley F. H. Appcorace & Reality, Oxford Univ. Press, 2nd ed. 9th imp. 1951. "There is truth in every idea howsoever false......Reality is now this, now that; in this sense it is full of negative, contradictions, and oppsitions."
Holmes, E: The Quest of Ideal, p 21. "It would be nonsense to say that every movement is either swift or slow. It would be nearer the truth to say that every movement is both swift und slow......"
Hegal, G.W.F.: A History of Philosophy p. 465. Contradiction is the root of all life and movement, that everything is contradiction......"

31. Nyayavatara-V. 28; Minamsa, p. 104.

unlike the Realists. "The knowledge is direct or indirect according as it is born without or with the help of an external instrument different from the self."[21]

However, to avoid sophistication and also to bring their theory in line with others a distinction is made between really immediate and relatively immediate.[22] The latter is empirically direct and immediate[23] knowledge produced by the sense organs and the mind.[24]

Pramaṇa and Naya represent roughly the absolute and the relative characters of knowledge respectively, and taken together, as knowedge is constituent, it becomes non-absolutistic. A closer study of the theory of Pramaṇa is defined as the knowledge of an object in all its aspects and since an object has innumerable characteristics[25] it implies that if we know all.[26] The universe is an interrelated whole. Nothing is an isolated phenomenon. Hence, right knowledge of even one object will lead to the knowledge of the entire universe. This shows that our knowledge has got a relative character. This relativism is realistic. It not only asserts a plurality of determinate truths but also takes each truth to be an indetermination of alternative truths."[27] These so many truths are really alternate truths, so it is a mistake of finding one absolute truth or even one cognition of the plurality of truths.

"If knowing is a unity, known is a plurality, the objective category being distinction or togetherness. If finally, knowledge is the object, refers to the known, the known must present an equivalent of this of relation or reference, a relation and its content.[28]" Intellectualistic abstractionism has to be given up and we should try to dehumanise the ideal and realise the real. The reality is not a rounded ready made whole or an abstract unity of many definite or determinate aspect but that "the so-called unity is after all a manifold being only a name for fundamentally different aspects of truth which do not make an unity in any sense of the term.[29]"

21 Tatia, M. M.: Studies in Jainism Philosophy, Jain Cultural Research Society, Banaras, 1951, p. 28.

22 Pramanayatattva lokalankara, II, 45; Pramana-mimansa, 1. 1.15: Nyaya-dipika, p. 31, Prameya-ratna-mala of Ananta kirti, Com. on Pariksa Mukha (Ibid), p. 14.

23. Pariksa mukha II 5; Pramana-mimansa, I. 1 21; Prameyaratna-mala, p. 14

24. Pramana-naya-tattvalokalankara, II. 4.5; Nyaya-dipika p. 33; Tattvarth-raja Varitika of Akalanka, Jnana Pitha, Kasi, 1915, Com on T. S. 1.14; Sthanaya Surta II 1 71; Nandi Sutra 4

25 Nyayavatara-V. 29. Sad-darsana-samuccaya, of Haribhadra, 55 (with Gunaratna's Comm) Royal Asiatic Society, Calcutta, 1905.

26 Acharanga Sutra, 1 3 4 122. Pravacana sara of Kunda-kundaed. tr A-Chakravarti, Raichandra Jaina Sastra Mala, Bombay, 1935. 1.43-49.

27 Bhattacharya K. C. His article on "The Jaina Theory of Anekanta" in Jaina Antiquery Vol IX, No. 2.

28 Ibid, pp. 12-21.

29 Bhattacharya, H. M.: His article on 'The Jaina concept of Truth and Reality" in the [illegible] Quarterly. Calcutta, Vol. III, No. 3, October 1927, p. 215.

So far we know or can know, the making of truth and making of reality is one. Reality like truth is therefore definite-indefinite (anekānta). Its indefinitness follows from the inexhaustible reserve of objective reality and its definiteness comes from the fact that it grows up into the reality of our own knowing which we make.

So we can fairly conclude that in Jainism, non-absolutism is not only a meta-physical but also an epistemological concept. There is no absolute reality, so there is no absolute truth.

Jainas believe that "when there is isolation and obstruction, there is everywhere, so far as the abstraction forgots itself unreality and error."[30]

3. **Distinction between Syadvada and Sarvagnata.**—Syādvāda is not the final truth. It is merely an attitude of knowledge,. In fact, it simply helps us in arriving at the ultimate truth. Syādvāda works or can work only in our practical life and it is therefore th t the Jainas regard it as practical truth (Vyavahāra Satya). Sidhasena Divakara points out this fact very clearly in the following verses:—

i.e., without the help of Syādvāda, we cannot execute our business in our practical life.

But there is another realm of truth which is not in anyway partial or relative but absolute and which is the subject matter of omniscience or perfact knowledge.

Let us illustrate the point of difference between these two types of knowledge-Syādvāda and Sarvajnata (a) The Immediate effect of valid knowledge (Pramaa) is the removal of ignorance, the mediate effect of the absolute knowledge or Kevala Jnana, is bliss and equanimity, which the mediate effect of practical knowledge or Syādvāda is the facility to select or reject[31] what is conductive or not, for self realisation., Pramana or Jnana[32] is the right knowledge.[33] The development of omni-

30. Bradley, F. H. Essays on Truth & Reality, Oxford Univ. Press, 1914, p. 487; Bradley F. H. Appcorace & Reality, Oxford Univ. Press, 2nd ed. 9th imp. 1951. "There is truth in every idea howsoever false......Reality is now this, now that; in this sense it is full of negative, contradictions, and oppsitions."
Holmes. E: The Quest of Ideal. p 21. "It would be nonsense to say that every movement is either swift or slow. It would be nearer the truth to say that every movement is both swift und slow......"
Hegal, G.W.F.: A History of Philosophy p. 465. Contradiction is the root of all life and movement, that everything is contradiction......"
31. Nyayavatara-V. 28; Minamsa, p. 104.
32. There seems to be difference between the categories of (Jnana) and the means of valid knowledge (Pramana). —(T. S. I. 9-10); however Manikyanandi says, that a particular type of Jnana is Pramana which has the determination of itself as well as of the objects not known before. (Pariksa-mukha I 1-2) so says Aklanka (Astasati, Astasahasri- p. 175) and Vidyanandi (Tattvartha Slokavartika—I. 1078 p. 174) According to Hemchandra, a means of knowledge is the authentic definite cognition of an object. (Pramana Mimansa I. 1.2), so is the view of Vadideva (Praman-naya-tattvaloka, I. 2,3).
33. Nyaya-Dipika, p 9; Pramana Mimansa, I. 1, 2.

cience is necessarily accompanied by that of perfact or absolute happiness,[34] being free from destructive Karmas.[35] This happiness is independent of everything, and hence eternal it is not physical but spiritual,[36] It is not the pleasures of those senses which are in fact miseries, the cause of bondage and dangerous.[37]

(b) Syādvāda is so fundational to the Jaina Philosophy that it has been assigned a very high place in Jain metaphysic of knowledge. It is said to be flawless, [38] perhaps because it is associated with the great Mahavira. True "both Syadvada and Kevala Jnana (omniscient knowledge) illumine the whole reality, but the difference between them is that while the former illumines the objects indirectly, the latter does it directly".[39] Vidyananda further explaining the point stresses the fact that there is no contradiction between the two kinds of knowledge, since by "illumining the whole reality," it means revolution of all the seven categories of self, not self etc.[40] This attitude shows the spirit of Syādvāda is so much ingrained in Jain culture that it finds it difficult to assign Syādvāda an inferior place than omniscience.

(c) A vital point of difference between Syadvada and omniscient khowledge is that while in the case of the former, one knows of all the objects of the world in succession, in the case of Kevala Jnana, the knowledge is simultaneous.[41] By its every definition, omniscience means "an actual direct nonsensous knowledge the subject matter of which is all the substances in all their modifications at all the places and in all the times.[42] The omniscient knowledge is regarded as simultaneous rather than successive, perhaps because if it is successive, there can be no omniscience. Since the objects of the world in shape of past, present and future can never be exhausted, consequently knowlenge will always remain incomplete.[43]

But there might be difficulties even if we regard omniscient knowledge as simultaneous, such as the following:-

(1) The omniscient Person comprehend contradictory things like heat and cold by a simple cognition which seems

34. Pravacanasara of Kunda-kunda, ed & trans. A. N. Upadhye, Rai Chandra Jain Sastra Mala, Bombay, 1935, I 19; I. 59; I. 68.

35 Ibid, I 60

36. Ibid, I 65

37 Ibid, I 63-64, I 75 (F. Parmatma Prakasa of Yogindu, Ed. A. N. Upadhye, Param Sruta Prabhavaka Mandal, Bombay, 1937, V. 201.

38 Svayambhu Stotra, V 138.

39 Apta Mimamsa, V 105.

40 Asta sahasri, p 288.

41 Apta Mimamsa—[illegible] Asta Sahasri—pp 231-2.

42 Tattvartha-sloka-vartika, I 29-23, p. 253.

43 [illegible] of Prabhachandra. Nirnaya Sagar Press, Bombay, 1941, p 261; [illegible] of Prabhachandra, M.D.J G. Bombay, 1938, V. I, p. 8[illegible]

absurd.[44] To this objection, it may be replied that contradictory things like heat and cold do exist at the same time, for example, where there is flash of lightning in the midst of darkness, there occurs a simultaneous perception of the two contradictory things.[45]

(2) Then, if the whole world is known to the omniscient person all at once, he has nothing to know any further, and so he will turn to be quite unconscious having nothing to know.[45] To this, it may be said on behalf of the Jainas that the objection would have been valid if the perception of the omniscient person and the whole world were annihilated in the following instant. But both are everlasting, hence there is no absurdity in the Jaina position regarding the simultaneity of omniscient perception.

(D) The most fundamental difference between Syādvāda and Sarvajnata or Kevala Jnana is that while the former "leads us to relative and partial truth whereas omniscience to absolute truth"[48] It comes within its own range. After all, Syadvada is an application of scriptural knowledge[49] which determines the meaning of an object through the emloyment of one-sided Nayas,[53] and the scriptural knowledge is a kind of mediate or indirect knowledge.

True, unlike Naya (knowledge of an aspect of a thing), Syadvada in its sweep all the different nayas; but even then it never assert that it is the absolute truth. In fact, Syadvada is merely an attitude of philosophising which tells us that on account of infinite complexities of nature and limited capacity of our knowledge, what is presented is only a relative truth. Now, one can point out that if we combine the result of the seven-fold nayas into one, cannot we get as the absolute truth ? Is not the absolute truth a sum of relative truths ? The answer is in the negative. Firstly, the knowledge arrived at through the alternative Nayas do not and cannot take place simultaneously but in succession[51] leading to the fallacy of infinite regress[52] since an object possesses innumerable character. Secondly, to regard Syadavada as absolute is to violate its very fundamental character of non-absolutism. Samantabhadra has very explicitly said that" even Anekanta (non-absolutism) is non-absolute (Anekanta)[53] in respect of Pramana and Naya. Further, the distinction is made between Samyak Anekanta and Mithya Anekanta[54] (i.e. Real and

44. Prameyakamala-Martanda, p. 254.
45 Prameyakamla-Martanda, p. 260.
46. Ibid, p. 254.
47. Ibid. p. 260.
48. Anekanta jaya pataka of Anantakirti, Intro. Vol. II, p. CXX.
49. Laghiyastraya of Akalanka (Akalanka Grantha Trayam, Ed. Mahendra Kumar, Singhi Jain Granthamala, Calcutta, H. 1139, K. 62 p. 21.
50. Nyayavatara—K. 30.
51. Apta mimansa—K 101.
52. Nyaya kumud chandra—p. 89.
53. Syambhu Stotra, K. 102; Sammati Tarka—III, 27-8.
54 Apta Mimansa, 103.

False non-absolutism) and it is held that the real Anekanta is never absolute but always relative to something else.[55] However, this is not the case with omniscience. It is the knowledge of the absolute truth.

(E) There is one more minor point of difference between Syadvada knowledge and omniscience. Syadvada like ordinary knowledge rests on sense-perception i e., it is limited to our sense organs only. But Kevala Jnana has no dependence on any sense and arises after destruction of obstructions.[56] Ordinary indivuals do not have this knowledge but only the Arhats,[57] whose deluding (Mohniya) Karmas are destroyed and the knowledge and Belief obscuring (*Jnanavarniya* + *Darsanavaraniya*) Karmas are removed and the obstructive Karmas (Antarayas) are also destroyed.[58]

Here, knowledge is acquired by the soul direct without the intervention of senses or signs,[59] for in that case it would not have cognated all objects, for the senses can only stimulate knowlege of object which can be percieved by them. Here we find a complete absence of dependence upon anything except the soul. Jainas like the westrn Realists and Representationalists held that the ordinary sense-perception is really mediate in character and hence according to the Jainas, the trancendental perception (Kevala Jnana) is immediate along with Avadhi and Manah paryaya, all of which do not require the help of the senses.[60]

This attempt to free perception from the limitations of senses accords it a very high status and hence it is regarded as supreme knowledge characteristic of supreme state of self-realisation and bliss.[61]

CONCLUSION

The following points have immerged out of the foregoing discussions :-

(a) **Importance of Anekanta Logic :** Anekanta logic is as important as the absolute wisdom or omniscience. The loss caused by Anekanta or Syadvada by its being mediate is fully made up by its capacity to demonstrate the truth of the absolute wisdom to mankind. It is why it has been regarded as indispensable for common practical life.[62] Not only this, it has been accorded a special religious status. Even Lord Mahavīra'a sermons are delivered though the technique of Syadvada,[63] which is a very much perfect technique of expressing the manifold nature of reality. This is

55 Asta Sahasri, p. 29[illegible]
56 Pariksamukham, II 11.
57 Pramana-naya-tattvaloka-lankara II. 14.
58 Pramana Mimamsa, I. 1 15 Tattvartha Sutra X. 1.
59 Pramana-naya-tattvaloka-lankara, II. 18.
60 Pravacana-Sara I 54.
61 [illegible]
62 Sanmati-tarka III [illegible]
63 Bhagavati Sutra VII. 2-273 VII. 2-273; XIII. 7-495—Bhagavati sutra, VII,2, 273; XIII, 7 495. [illegible] Lord Mahavira had always a prefix of Syat for other-[illegible] C. F Apta Mimansa, 105.

the technique of the Victor and the perfect.[64]

(b) The dual nature of Anekanta-Anekanta & Ekanta :- Anekantavada is both Anekanta and Ekanta. It is ekanta in as much as it is an independent view point, it is anekanta because it is the sum total of view points. Anekanta may also become to Ekanta if it does not go against the right view of things.[66]

As the doctrine of Anekanta shows all possible sides of a thing and thus does not postulate about a thing in any fixed way, in the same way Anekanta itself is also subject to this possibility and other side-that is to say, it also sometimes assumes the form of omesidedness.[65] However, the Jainas do not have any objection even if his doctrines recalls on itself. On the contrary, it strengthens his position and shows the unlimited extent of the range.[67]

(c) Beyond Anekanta : True, absolute wisdom is baseless without the Anekanta logic but to suppose that there is nothing beyond Syadvada in Jaina theory of knowledge, is wrong. The importance of Syādvāda lies more in its analytical enquiry than in concrete results. It is a way of philosophising rather than a readymade metaphysics. The demand of higher spiritual life is the life of a Yogin, who realises the comlete unity of existence in his consciousness, transcending the sphere of the phenomenah. He can view things sub-specis aternitatis, through his pure insight and intuition. "He is in possession of absolute truth transcends the realm of provisional truths."[68] This is the state of supreme knowledge, free from all limitations, where "the soul vibrates at its natural rhythemand exercises its function of unlimiting knowledge."[69] This is another name of pure perception or infinition in epistemology and mysticism in religion. This is an attitude of mind which involves a direct, immediate and first hand intutive apprehension of the reality. Some Jaina teachers and another like Acarya Kunda Kunda, and Yogindu are outspoken mystics. Their mystecism turns round two concepts - Atman and Paramatma (God but not creator[1]). Parmatmana in Jainism is nearer that of a Parsonal Absolute and the different states of spiritual development are merely meditational stages being caused by sickmindedness of the soul for its final diliverance.

(d) From Anekanta to Advaikvia Omniscience: So far Jainism puts the highest value on the mystical experience of a Kevalin who transcends the realm of the phenomenal and reaches at the absolute truth, "it approaches very near

---

64. Svayambhustotra, 45 and 41.
65 Sanmati tark III 28.
66. Sanmati-Tarka III 27
67. Anekanta-Jaya-Pataka, Vol. II (Intro) P. C. vii.
68. Shastri P. : His article on "The Jain Doctrine of Syadvada with a New pragmatic Backgrouud" in Sidda Bharatj, Vol. II. 93.
69. Radhakrishnan, S : Indian Philosophy, Vol. I, p. 298.
70. Pravacana Sare I.35; I.60; I 61; I-29; II-106:

Advaita [2]Vedanta." Yogindu's identification between the spirit and the super spirit is a triumph of monism in the history of Indian religious thoughs. As the Vedantins distinguish between the higher and the lower knowledge, so here also we find a distinction between omniscience and Syādvāda. However, inspite of many other similarities, there is one vital difference, in the Vedantic conception the objectivity is not outside the knower, while for Jaina omniscience, there is a complex external objectivity infinitely over both time and place and the individual self retains it indivduality even in the search of omniscience and bliss.



"*To be weak is miserable doing or suffering.*"

—Milton

An Analysis of the contents of The Kalakacharya Kathanaka

By

Dr. B. N. Mukherjee

The *Kalakacharya-Kathanaka:*—is a well-known cycle of legends found in Jaina scriptures and texts. One of its episodes deals with the quarrel between Kālakāchārya and Gardabhilla, the king of Ujjayini. The important features of this episode, found in different long and short versions, may be enumerated as follows.[1]

Kālaka, according to most of the earliest versions[2], was a son of Vairasimha (variants-Vairasiha, Vajrasimha, Versimha, Vayarasiha[3], etc.), the king of Dharāvāsa. He became a Jaina monk and went to Ujjayini where his sister Sarasvati (called Silamai in one version[4]) also resided in a Jaina convent.

King Gardabhilla (also called Dappana in one edition[5]) of Ujjayini was fascinated by the beauty of Sarasvati and ravished her. The enraged Kālaka left the city and, according to the Long Anonymous Version, travelling "steadily came to the bank called the Scythian bank" (*anavarayam cha gachchhanto patto Sagakulam nama kulam*[6]). In the version of Bhāvadevasuri it is stated that Kalaka "went to the Scythian bank situated on the other side of the Sindhu" (*Sindhu-parakulammi sagakulam gao muni*[7]) whereas, according to the *[illegible]-anumatam* recension, Kālaka "went to the western bank of the Sindhu river" *surir gata eva Sindhu nadyastatam*

Paschimaparsvakulam[8]). The *Nisitha-churni*[9], and the *Kathavali* of Bhadresvara[10] refer to the destination of Kalaka as the Persian bank (*Parasa-kulam*).[11]

In the land in question lived the Sāhi, whose overlord was the Sāhānusāhi (i.e. the king of Kings). Kālaka stayed with the former. To this Sāhi there came a messenger from the Sāhānusāhi, demanding his death as well as that of ninety-five other Shāhis. In order to escape the wrath of their master the Sāhis were advised by Kālaka to go to Hindukadeśa (Mālavadeśa) in one (?) version[12] and the kingdom of Gardabhilla in another.[13] According to the Long Anonymous Version, the Hindukadesa could be reached by crossing the Sindhu or the Indus.[14]

The Sāhis crossed the Indus and came to the land of Surāshtra. There they settled for some time and then proceeded to Ujjayinī. The city was besieged and Gardabhilla was ousted. Sarasvatī was re-established in the discipline.

The Sāhis began to rule the conquered land with that Sāhi, to whom Kālaka had resorted, as their overlord. Thus arose the family of the Sagas or Sakas.[15]

According to some recensions the Sakas were uprooted by one Vikramāditya.[16] The Long Anonymous Version states that this Vikramāditya, who had become the king of Mālava by exterminating the Saka family, established his own era, and that his family was later destroyed by another Saka king, who started his own reckoning when 135 years of the Vikrama had already lapsed.[17]

The earliest manuscript of the Long Anonymous Version, the most elaborate of all recensions, is dated in the year 1335 of the Vikrama Samvat,[18] i.e. A.D. 1277/78or 1278/79. Again, another manuscript of same recension, dated in the following year,[19] contains many copyists'

8. N. Brown, Op. cit., p. 99, V. 34.
9. Nisithachurnni, 10 Uddesa.
10. Bhadresvara, Kathavali (N. Brown, op. cit., p. 102, S. M. Nawab, Op. cit. pt. II, p. 41)
11. N. Brown, Op. cit., p. 102.
12. Haya-Padma-Payavo version (N. Brown, Op. cit., p. 974, V. 52; see also S. N. Nawab, Op. cit., pt. II p. 205, V. 52.
13. Bhadresvara's Kathavali; (N. Brown, Op. cit., p. 103; S. M. Nawab, Op. cit, 37).
14. N. Brown, Op. cit., p. 41. See also the version of Vinayachandrasuri (S. M. Nawab, Op. cit., pt. II, p. 57, v. 22).
15. According to the Nisitha-churnni the Sagakula or the Saka family was established in [illegible] Surashtra) during the sojourn of Kalaka and the Shahis in that region.
16. N. Brown, Op. cit., p. 43, v. 65, p. 93, v. 63, p. 95, v. 32. See also the version of Vinaya-[illegible] (S. M. Nawab, Op. cit., pt. II, p. 57, v. 23).
17. [illegible] Some versions refer to the establishing of the Saka rule 135 [illegible] (N. Brown, Op. cit., p. 93, v. 64, p. 95, v. 32), but not [illegible] Vikrama Era.
18. [illegible]
19. [illegible]

errors,[20] and hence indicates that between the date of the original manuscript of this version and that of the present one should be allotted time enough for the accumulation of a number of bad readings, possibly as a result of inaccuracies of succeeding generations of the copyists. It may be noted in this connection that Bhāvadevasūri, who wrote a brief version of the Kālaka story, is known to have flourished about the middle of the 13th century, A.D.[21]

Thus by this time the Kālaka legend had already become well known in Jaina literary circles. On the other hand, it has been pointed out[22] that we should recognise in the name of Vairasimha of Dharāvāsa-discriibed in most of the versions as the father of Kālaka-one of the Vairasimhas of the Paramara family of Dhārā or Dhar.[23] Thus the full development of the story cannot have taken place prior to the second quarter of the 9th century A. D., when Vairasimha I began to rule.[24]

The connotation of the term *Hinduk-desa*, as used in the above form of the story, also indicates a late origin for the present state of that legend. Here Hindukadesa is placed to the east of the Indus—one version even replaces it by Mālavadeśa and another by the kingdom of Gardabhilla, Thus the Hindukadeśa of our story cannot be identified with Sindhuka or Sindhudesa, meaning in-pre Christian and early Christian centuries a land to the west of the Indus. [25] The term *Hindukadeṣa* may be more favourably compared with the name *Hind*, by which the Muslim chroniclers and geographers of early mediaeval times

---

20. Ibid, p. 25.

21. Ibid, pp. 2 and 87. Brown notes in one place that Bhavadevasuri flourished in A D. 1250 (ibid, p 2). And again he states in another place (ibid, p. 87) that the latter lived in samvat 1312 of the Vikrama Era (?)—A. D. 1254-55 or 1255-56.

22. Ibid, p. 2.

23. Brown considers the Vairasimha in question to be Vairasimha II of the Paramara family (ibid, p. 2). However, there is no reason why he should not be identified with Vairasimha I. Brown is probably wrong in thinking that Dhara became the capital of the Paramaras in the time of Vairasimha II It may have been so from an earlier period (B. C. Ganguly, History of the Paramara Dynesty, p. 27)

24. Ibid, p. 30. Vairasimha I ruled from c A.D 836-37 to c. A.D, 863.

Paschimaparsvakulam[8]). The *Nisitha-churni*[9], and the *Kathavali* of Bhadresvara[10] refer to the destination of Kalaka as the Persian bank (*Parasa-kulam*).[11]

In the land in question lived the Sāhi, whose overlord was the Sāhānusāhi (i.e. the king of Kings). Kālaka stayed with the former. To this Sāhi there came a messenger from the Sāhānusāhi, demanding his death as well as that of ninety-five other Shāhis. In order to escape the wrath of their master the Sāhis were advised by Kālaka to go to Hindukadeśa (Mālavadeśa) in one (?) version[12] and the kingdom of Gardabhilla in another.[13] According to the Long Anonymous Version, the Hindukadesa could be reached by crossing the Sindhu or the Indus.[14]

The Sāhis crossed the Indus and came to the land of Surāshtra. There they settled for some time and then proceeded to Ujjayinī. The city was besieged and Gardabhilla was ousted. Sarasvatī was re-established in the discipline.

The Sāhis began to rule the conquered land with that Sāhi, to whom Kālaka had resorted, as their overlord. Thus arose the family of the Sagas or Sakas.[15]

According to some recensions the Sakas were uprooted by one Vikramāditya.[16] The Long Anonymous Version states that this Vikramāditya, who had become the king of Mālava by exterminating the Saka family, established his own era, and that his family was later destroyed by another Saka king, who started his own reckoning when 135 years of the Vikrama had already lapsed.[17]

The earliest manuscript of the Long Anonymous Version, the most elaborate of all recensions, is dated in the year 1335 of the Vikrama Samvat,[18] i.e· A.D. 1277/78or 1278/79. Again, another manuscript of same recension, dated in the following year,[19] contains many copyists'

8. N. Brown, Op. cit., p. 99, V. 34.
9. Nisithachurnni, 10 Uddesa.
10. Bhadresvara, Kathavali (N. Brown, op. cit., p. 102, S. M. Nawab, Op. cit. pt. II, p. 41)
11. N. Brown, Op. cit., p. 102.
12. Haya-Padmava-Payavo version (N. Brown, Op. cit., p. 974, V. 52; see also S. N. Nawab, Op cit., pt II p. 205, V. 52.
13. Bhadresvara's Kathavali; (N. Brown, Op cit., p 103; S. M. Nawab, Op. cit, 37).
14. N. Brown, Op. cit., p. 41. See also the version of Vinayachandrasuri (S. M. Nawab, Op. cit., pt II, p 97, v. 25).
15. According to the Nisitha-churnni the Sagakula or the Saka family was established in Surattha (i.e. Surashtra) during the sojourn of Kalaka and the Shahis in that region.
16. N. Brown, Op. cit., p 43, v. 65; p. 93, v. 63; p. 95, v. 31 See also the version of Vinayachandrasuri. (S. M. Nawab, Op cit., pt. II, p. 97, v. 25).
17. Ibid, p. 43 v. [illegible] and 68-72. Some versions refer to the establishing of the Saka rule 135 years after the time of Vikramaditya (N. Brown, Op. cit., p. 93, v. 64- p. 95, v. 32), but not to the institution of the Vikram Era.
18. Ibid., p. 2
19. Ibid. p

errors,[20] and hence indicates that between the date of the original manuscript of this version and that of the present one should be allotted time enough for the accumulation of a number of bad readings, possibly as a result of inaccuracies of succeeding generations of the copyists. It may be noted in this connection that Bhāvadevasūri, who wrote a brief version of the Kālaka story, is known to have flourished about the middle of the 13th century, A.D.[21]

Thus by this time the Kālaka legend had already become well known in Jaina literary circles. On the other hand, it has been pointed out[22] that we should recognise in the name of Vairasimha of Dhatāvāsa-discriibed in most of the versions as the father of Kālaka-one of the Vairasimhas of the Paramara family of Dhārā or Dhar.[23] Thus the full development of the story cannot have taken place prior to the second quarter of the 9th century A. D., when Vairasimha I began to rule.[24]

The connotation of the term *Hinduk.desa*, as used in the above form of the story, also indicates a late origin for the present state of that legend. Here Hindukadesa is placed to the east of the Indus—one version even replaces it by Mālavadeśa and another by the kingdom of Gardabhilla, Thus the Hindukadeśa of our story cannot be identified with Sindhuka or Sindhudesa, meaning in-pre Christian and early Christian centuries a land to the west of the Indus. [25] The term *Hindukadeşa* may be more favcurably compared with the name *Hind*, by which the Muslim chroniclers and geographers of early mediaeval times

---

20. Ibid, p. 25·

21. Ibid, pp. 2 and 87. Brown notes in one place that Bhavadevasuri flourished in A.D. 1250 (ibid, p 2). And again he states in another place (ibid, p. 87) that the latter lived in samvat 1312 of the Vikrama Era (?)—A. D. 1254-55 or 1255-56.

22. Ibid, p. 2.

23. Brown considers the Vairasimha in question to be Vairasimha II of the Paramara family (ibid, p. 2). However, there is no reason why he should not be identified with Vairasimha I. Brown is probably wrong in thinking that Dhara became the capital of the Paramaras in the time of Vairasimha II It may have been so from an earlier period (B. C. Ganguly, History of the Paramara Dynesty, p. 27).

24. Ibid, p. 30. Vairasimha I ruled from c. A.D. 836-37 to c. A.D, 863.

25. The Hou Han-shu indicates that Shen-tu was situated between Kao-fu (on the north-west ?), sea (on the south-west or south ?) and P'an-ch'i (on the east). It lay on a big river. (Hou Han-shu, ch 118, pp. 9-10). Kao-fu was the Kabul area, and the sea was obviously the Arabian Sea Hence the river was probably the Sindhu or the Indus. Sindhu and Sauvira, mentioned in the Junagarh inscription of Rudradaman, (Epigraphia Indica, Vol VIII, p 44) were probably situated respectively on the west and east of the Indus. See also B N. Mukherjee, The Lower Indus Country, book I, Ch II.

meant the Indian subcontinent or parts of it to the east of the Indus.[26]

On the other hand, there are certain factors which suggest high antiquity for at least some portions of the Kālaka story. The name *Kalaka* is a celebrated one in Jaina hagiology, It may be pointed out, without entering into the question of plurality of Kālakas,[27] that all relevant texts indicate that a Jaina monk of that name was alive in the year 453 of the Vira Era. [28] In a stanza appended to three manuscripts of Dhrmaprabhasuri 's version it is stated that in the same year Kālaka "took (*gahiya*) Sarasvati."[29] This evidence, even though appearing in a comparatively late version,[30] may be accepted – on the ground of its not being contradicted by any other source – at least as a working hypothesis. The Kālaka associated with Sarasvati should be the same as the brother of the Sarasvati of our story. In fact, Merutuṅga, though another late authority, [31] explicitly

26. Ibn Khurdadba, who died in 300 A.H. or A.D. 912, distinguished between Sind and Hind and took Baker as the first place on the border of Hind. It is clear from the context that this author located Bakar to the east of at least the main channel of the Mihran, i.e. the Indus. He also included the kingdom of Balhara (—of a Rashtrakuta king having the title Vallabha), of Kamrun (Kamarupa), etc. within India, (H. M. Elliot and J Dowson, The History of India as told by its Own Historians. vol. I, pp. 12–14) which probably means Hind. (For the identification of Bakar, see J. Abbot, Sind—a reinterpretation of the unhappy valley, pp. 60-64).

    Ibn Khurdadba probably included in Hind only lands lying to the east of the Indus. One is left with same impression after reading the Kitabu-l Akaiim of Abu Ishak Al Istakhari, written about the middle of the 10th century A.D. (Elliot and Dowson, op. cit pp 26-27; see also the map accompanying the Ashkalu-l Bilad, written in A.H. 589 or A 1193, ibid, p 32)

    The Chaah-nama, the original Arabic version of which was written probably before 136 A H. (A.D. 753). also distinguished between Sind and Hind, but made Alor capital of both This indicates that Hind or a part of it was situated near Sind of the Chach-nama. Only a little more than a century prior to the date of the original Chah-nama, Sin-tu was taken by Hsuan-tsang as including a land immediately to the west of the Indus (T. Watters, On Yuan Chwang's Travels in India, Vol. II, p. 252). The word Sind may well be a corruption of the name Sindhu (i e. Shen-tu). Hind within which Ibn Khur dadba includes lands lying to the east of the Indus, may also denote in the Chach-nama at least some of the same territory. (Elliot and Dowson, op. cit. pp 136 and 138).

27. N Brown thinks that the Jaina traditions testify to the existence of the three Kalakas—one dying in the year 376 of the Vira Era, the second flourishing (perhaps becoming a Suri) in the year 453 of that era, and the third living in the year 933 of the same reckoning (Brown op. cit., p 7). U. P. Shah, on the other hand, support the existence of only one Kalaka living in the 1st century B C.

28. Brown op. cit., p. 6.

29. Ibid.

30. The earliest known manuscript of the version of Dharmaprabhasuri is dated in samvat [illegible] (Ibid. p. [illegible])

31. Merutunga composed the Prabandha Chintamani in samvat 13[illegible]. (Journal of the Bombay Branch of the Royal Asiatic Society, os. vol. IX, p. 147).

states that in the year 453 after Vīra's *nirvana*, Kāikāchārya (i.e.' Kālakāchārya), the uprooter of Gardabhilla, was honoured with the title of *Suri.*[32] Hence it is possible that our Kālika lived in 452 of the Vīra Era. Although there is a controversy about the epoch of this era, no existing theory would place the year 453 of that reckoning after the 1st century B. C.[33] or much before it.

Traditional chronology, however should never be accepted as an independent evidence. Hence the testimony of Ptolemy confirming a part of our story is much more important for our purpose. It states that after crossing the Sindhu or the Indus Sāhis or the Shāhis entered into Surāshtra (the widest possible geographical limits of which included, as the cumulative evidence of certain sources should indicate, the whole of the Kathiawad peninsula and the adjacent lands to its north as well as a part of the littoral lower Indus area to the east of the Indus[34]). Hence it can be assumed that within the land of the Sāhis or Shāhis, called Sagakula, was incorporated the coastal portions of modern Sind to the west of the Indus. Again, since these Shāhis crossed the Indus only once, they should have forded its main easters arm flowing near the Saurāshtra area. In other words, the

32. Ibid, p. 148.

33. For different theories about the epoch of the Vira, Era, see H. C. Ray Choudhuri, Political History of Ancient India (5th edition) p. 213, n. 3. See also JBBRAS, os, vol. IX, p. 147.

34. The Junagadh inscription of c. A. D. 150 refers to Rudradaman I as the lord of inter alia Anartta and Surashtra (Epigraphia Indica, Vol. VIII, p. 44) and speaks of Suvisakha as ruling on his behalf the whole of these territories (ibid, p. 45). Since this epigarh also states that Suvisakha repaired the dam of the Lake Sudarshana (ibid.), apparently in the vicinity of Junagadh (JBBRAS, os, vol. XVIII, pp. 47-55; IA, vol. VII, p 257), this lake must have been either in Anartta or in Surashtra. It also appears from the same source that they were contigeous territories.

The term Surashtra seems to have survived id Sorath, the name of an area in Southern Kathiawad (Bombay Gazetteer, Vol I, dt. 1, p. 6). This may indicate that at least South Kathiawad was known in some earlier ages as Surashtra (ibid) Anarttapura, referred to in the records of the Maitrakas of Valabhi and identified Vad agar in the Mehsana district, is considered to be connected with Anartta (Ibid.). So the latter may have included in some earlier periods certain regions to the east of the Little Runn of Cutch and immediately above Khatiawad (Ibid) It has also been suggested that Anartta may have also incorporated Northern Kathiawad (Ibid, Bhagwanlal Indraji observed that certain Puranic passages should indicate the inclusion of the whole of Kathiawad within Anartta).

meant the Indian subcontinent or parts of it to the east of the Indus.[26]

On the other hand, there are certain factors which suggest high antiquity for at least some portions of the Kālaka story. The name *Kalaka* is a celebrated one in Jaina hagiology, It may be pointed out, without entering into the question of plurality of Kālakas,[27] that all relevant texts indicate that a Jaina monk of that name was alive in the year 453 of the Vira Era.[28] In a stanza appended to three manuscripts of Dhrmaprabhasu version it is stated that in the same y Kālaka "took (*gahiya*) Sarasvati. This evidence, even though appearing a comparatively late version,[30] may accepted – on the ground of its not bei contradicted by any other source – least as a working hypothesis. Th Kālaka associated with Sarasvati shoul be the same as the brother of the Sarasvati of our story. In fact, Merutuṅga, though another late authority,[31] explicitly

26. Ibn Khurdadba, who died in 300 A.H. or A.D. 912, distinguished between Sind and Hind and took Baker as the first place on the border of Hind. It is clear from the context that this author located Bakar to the east of at least the main channel of the Mihran, i e. the Indus. He also included the kingdom of Balhara (—of a Rashtrakuta king having the title Vallabha), of Kamrun (Kamarupa), etc. within India, (H, M. Elliot and J. Dowson, The History of India as told by its Own Historians. vol. I, pp. 12–14) which probably means Hind. (For the identification of Bakar, see J. Abbot, Sind—a reinterpretation of the unhappy valley, pp. 60–64).

Ibn Khurdadba probably included in Hind only lands lying to the east of the Indus. One is left with same impression after reading the Kitabu-l Akaiim of Abu Ishak Al Istakhari, written about the middle of the 10th century A.D. (Elliot and Dowson, op. cit. pp. 26-27; see also the map accompanying the Ashkalu-l Bilad, written in A.H. 589 or A. 1193, ibid, p 32)

The Chach-nama, the original Arabic version of which was written probably before 136 A H. (A.D. 753), also distinguished between Sind and Hind, but made Alor capital of both. This indicates that Hind or a part of it was situated near Sind of the Chach-nama. Only a little more than a century prior to the date of the original Chah-nama, Sin-tu was taken by Hsuan-tsang as including a land immediately to the west of the Indus (T. Watters, On Yuan Chwang's Travels in India, Vol. II, p. 252). The word Sind may well be a corruption of the name Sindhu (i e. Shen-tu). Hind within which Ibn Khur dadba includes lands lying to the east of the Indus, may also denote in the Chach-nama at least some of the same territory. (Elliot and Dowson, op cit.. pp. 136 and 138).

27. N. Brown thinks that the Jaina traditions testify to the existence of the three Kalakas—one dying in the year 376 of the Vira Era, the second flourishing (perhaps becoming a Suri) in the year 453 of that era, and the third living in the year 933 of the same reckoning (Brown op. cit,, p 7).—U. P. Shah, on the other hand, support the existence of only one Kalaka living in the 1st century B.C.

28. Brown. op cit., p. 6.

29. Ibid.

30. The earliest known manuscript of the version of Dhamprabhasuri is dated in samvat 1502 (Ibid, p. 93).

31. Merutunga composed the Prabandha Chintamani in samvat 1367. (Journal of the Bombay Branch of the Royal Asiatic Society, os. vol. IX p. 147).

states that in the year 453 after Vīra's *nirvana*, Kāikāchārya (i.e.' Kālakāchārya), the uprooter of Gardabhilla, was honoured with the title of *Suri*.[32] Hence it is possible that our Kālika lived in 452 of the Vīra Era. Although there is a controversy about the epoch of this era, no existing theory would place the year 453 of that reckoning after the 1st century B. C.[33] or much before it.

Traditional chronology, however should never be accepted as an independent evidence. Hence the testimony of Ptolemy confirming a part of our story is much more important for our purpose. It states that after crossing the Sindhu or the Indus Sāhis or the Shāhis entered into Surāshtra (the widest possible geographical limits of which included, as the cumulative evidence of certain sources should indicate, the whole of the Kathiawad peninsula and the adjacent lands to its north as well as a part of the littoral lower Indus area to the east of the Indus[34]). Hence it can be assumed that within the land of the Sāhis or Shāhis, called Sagakula, was incorporated the coastal portions of modern Sind to the west of the Indus. Again, since these Shāhis crossed the Indus only once, they should have forded its main easters arm flowing near the Saurāshtra area. In other words, the

32. Ibid, p. 148.

33. For different theories about the epoch of the Vira, Era, see H. C. Ray Choudhuri, Political History of Ancient India (5th edition) p. 213, n. 3. See also JBBRAS, os, vol. IX, p. 147.

34. The Junagadh inscription of c. A. D, 150 refers to Rudradaman I as the lord of inter alia Anartta and Surashtra (Epigraphia Indica, Vol. VIII, p. 44) and speaks of Suvisakha as ruling on his behalf the whole of these territories (ibid, p. 45). Since this epigarh also states that Suvisakha repaired the dam of the Lake Sudarshana (ibid.), apparently in the vicinity of Junagadh (JBBRAS, os, vol. XVIII, pp. 47-55; IA, vol. VII, p. 257), this lake must have been either in Anartta or in Surashtra. It also appears from the same source that they were contigeous territories.

The term Surashtra seems to have survived id Sorath, the name of an area in Southern Kathiawad (Bombay Gazetteer, Vol I, dt. 1, p. 6). This may indicate that at least South Kathiawad was known in some earlier ages as Surashtra (ibid) Anarttapura, referred to in the records of the Maitrakas of Valabhi and identified Vadnagar in the Mehsana district, is considered to be connected with Anartta (Ibid,). So the latter may have included in some earlier periods certain regions to the east of the Little Runn of Cutch and immediately above Khatiawad (Ibid) It has also been suggested that Anartta may have also incorporated Northern Kathiawad. (Ibid, Bhagwanlal Indraji observed that certain Puranic passages should indicate the inclusion of the whole of Kathiawad within Anartta).

Surastra or Saurashtra seems to have been referred to in classical sources as Syrastrene (Ptolemy, Op. cit. VII, I, 55-61; McCrindle, Ptolemy, p. 140). It appears from a section of the Periplus Maris Erythraei (sec 41) that Syrastrene included the territory now covered by the whole of the Kathiawad peninsula and the adjacent lands to its north as well as a part of the littoral Lower Indus Country to the east of the Indus. Syrastrene, the name of a province of Ptolemy's Indo-Scythia, may also have the wider connotation (Ptolemy, op. cit. VII, 1 35 61).

Indus delta: known to the classical writers as patalene,[35] was included in Sagakūla. This interpretation compels us to reject the theories of Konow and Jayaswal, who placed Sagakūla respectively in Sauvīra[36] and Seistan.[37]

In the second or the third quarter of the 2nd century A.D.[38] Ptolemy enumerated patalene, Syrastrene and Aberia or Saberia as the provinces of Indo-Scythia several towns situated outside the possible natural limits of any of those three regions.[40] It appears that Ptolemy extended the ethno-geographical name of Indo-Scythia (i.e. land of the Indian Scythians or Scythians in India) to a larger political division. The latter incorporated the land denoted by the geographical connotation of the term *Indu-Scythia* and also some tracts politically annexed to the territory of some power ruling Indo-Scythia at the time to which Ptolemy's source of information should be dated.

As a tract is not likely to be called after a people until some time after their first settlement in it, Ptolemy's evidence which implies that Aberia or Saberia, Patalene and Syrastrene were known as the lands of the Scythians, should indicate that the Scythian colonisation of these provinces probably started long before the date of his *Geography* or rather that of the source of his information. In fact, the *Periplus Maris Erythraei*, a text probably of the 1st century A.D.,[41] locates Scythia in the lower Indus area.[42] We have also convincing data to suggest that some of the sources of Ptolemy's information may be dated to periods earlier than the beginning of the Christian era.[43]

The evidenee of Ptolemy thus shows that Patalene and Syrastrene began to be inhabited by the Scythians long—even centuries—before the date of his *Geography*, i.e. 2nd or 3rd quarter of the 2nd century A. D. There are precisely two of the three territories indicated in the *Kalaka* story to have been colonised by the Sagas or Sakas by the time of Kālaka whom the Jaina hagiology dates not later than the 1st century B. C. And as

35. Strabo, Op. cit., XV, 1, 33; Ptolemy op. cit. VII, 1, 35.
36 Journal of the Asiatic Society, Vol XII, p. 18.
37. Journal of the Behar & Orissa Research Society, Vol. XVIII, p. 233. Brown's equation of Hindukadesa with the Lower Indus Country (op cit. p. 57) is wrong; for the latter includes inter alia territories lying even to the west of the Indus.

Konow was a'so wrong when he suggested that Hindukadesa was the Shen-tu of the Hou Han-shu. (S. Konow Corpus Inscriptionum Indicarum, vol. II, pt. I, pp. LXVII and LXVIII). Hindukadesa was situated on the east of the Indus, whereas Shen-tu incorporated some regions to the west of that river.
38. E H. Bunbury, A History of Ancient Geography, Vol, II pp. 545-547.
39. Ptolemy Geographika Huphegesis, VII, 1, 55-61.
40. B. N. Mukherjee, The Lower Indus Country c,A. D. 1-150 (in press), book II, ch. I; see also W W. Tarn, The Greeks in Bacteria and India (2nd edn.).
41, B. N. Mukherjee, op. cite. book I, ch. I; W. H Schoff. Periplus, p.
42. Periplus, etc. see 38.
43 W. W. Tarn, Op. cit , p.

Sakas were certainly Scythians,[44] the testimony of Ptolemy should land conviction to at least a part of the Kālaka story.

The *Kalakacharya–Kathanaka* indicates that Sagakūla or Śakakūla (including the area called Patalene (in classical sources) was colonised by the Sakas before their settlement in Surāshṭra. We have noted above that in two versions there appear the name *Paraskula* in place of *Sagakula*. If the relevant portions of these two recensions, like the corresponding sections of other editions, echo events of a period very much earlier than the date of Ptolemy's *Geography* of the 2nd or 3rd quarter of the 2nd century A.D., then the terms *Sagakula* and *Parasakula* are not nacessarily contradictory. For the "Scythian bank" might also be called the "Persian bank" if it was included within the dominions of an Iranian overlord, We have produced elsewhere sources suggesting hegemony of the Imperial Parthians over the west bank of the Indus in a period of the 2nd and again in the 1st century B.C.[45] And from its situation, the Parthian empire may well have been referred to by an indian author as a persian empire. It is also to be noted that the overlord of the Saka Shahis is called a Sahansahi or Shahanushāhi, an Iranian version-probably familiar among the inhabitants of the Indo-Iranian border lands–of the title *Basileos Basileon* appearing on the coins of the Imperial Parthians.[46]

If one accepts the evidence of the Long Anonymous Version as correct in stating that the Vikrama Era was established after the overthrow of Śaka rule in Ujjayinī, the *Kalakacharya-Kathanaka's* references to the Sagakūla and probably to the Parthian hegemony over Sagakūla may be dated well within the first half of the 1st century B.C.[47] However, it must be noted that neither are the earliest examples of the use of the era of 58 B.C. found in the region of Ujjayinī, nor does the name *Vikrama* appear in such instances.[48] Moreover the story of the Śaka occupation of Ujjayinī before the beginning of the Christian Era is not corroborated by any reliable independent evidence.

No doubt, as Konow[49] and Jayaswal[50] contended, some Jaina treatises including the *Pattavalis*[51] and the *Theravali* of Merutuṅga[52] put the rule of the Śakas in Ujjayinī before the beginning of the

44. Sakai or Sacae referred to Strabo and described by him as Scythians (XI, 8, 2), were obviously Sakas. See Monthly Bulletin of the Asiatic Society, Calcutta, Vol. I, No. 2, July, 1966, p. 5.
45. B. N. Mukherjee, The Imperial Parthians in the Lower Indus Country (in press), ch. II.
46. W. Wroth, Catalogue of Parthian Coins in the British Museum.
47. See also Konow's remarks in CII, vol. II. pt. I.
48. Ibid.
49. JBBRAS, vol. XVI, pp. 234 f.
50. Indian Antiquary, Vol II, pp. 362-363; JBORS, Vol. XVI, p. 234.
51. JBBRAS, os, vol. IX, p. 148.
52. See also Cunningham, Numismatic Chronicle, 1888, p. 232.

Vikrama Era.[53] However, they also place Nabhovāhana and Gardabhilla before the Sakas,[54] and think that Nabhovāhana was the same as Nahapāna of coins and inscriptions. The identification is made virtually certain by the facts that another Jaina work describes the protracted struggle between a Sā avāhana king and Nahavāhana[55], that the latter name may be variant of the name *Nabhovahann*, and that the only ruler known to have been involved in such a war and to have borne a name almost similar to that of Nabhovāhana was Nahapāna. But this Nahapāna cannot have ruled before the 1st century A.D.[56] This at once reveals the weakness of the relevant portions of the works on which Konow and Jayaswal depended. Hence it must be admitted that no reliable source testifies to Saka rule in Ujjayinī in the 1st century B.C.

It appears that, of the different features of the Kālaka story, only those concerning with or alluding to the existence of Śaka colony on the western bank of the lower Indus, the Parthian hegemony over the same region, and the activities of the Śakas in Surāshṭra (in the 1st century B.C.?), can be taken as his historical facts. It is doubtful whether any Jaina teacher called Kālaka was in any way associated with the Śake activities in Surāshṭra. We can only admit that such an association was believed in by the time the story had grown up around the core of hard facts. When it was given literary form it was evidently altered, expanded and historically vitiated, and thus later characters[57], such as Vairisimha, etc, were incorporated in it.

Thus the cumulative effect of the testimonies of the Kalkacharya Kathanak and Ptolemy indicates the presence of a Śaka colony including Patalene probably under the hegemony of the Imperial Parthians; and the activities of the Sakas or Scythians in Surāshṭra.

---

53. See IA, Vol II, pp. 362-363, wheir Prakrit gathas from the works of Merutunga, Dharma Sagar and Jaivijagani are quoted.

54. Srimad-Bhadravahusvami-pranita-Nityuktiyukth-bhashyakalita-Srimad-Haribhadrasuri-Suttritavritt-parivaritam Srimad-Avasyakasutra-syottarardham, parvabhagai (edited by the Agamodaya Samiti) folios 712-713,

55. The name Nahapana itself could easily be corupted in the Indian sources into Nahavana, Nahavana etc

56. See B N. Mukherjee, op. cit., book III, ch. I. In this connection see also the Proceedings of the Indian History Congress, 1953, pp. 30–40.

57. This critical appraisal of the contents of the Kalaka story indicates that Dr S K. Chattopadhyay is wrong in thinking that the legend is wholly unhistorical (S. Chattopadhyay, Early History of Northern India, p. 56).

58. We must add here that there is no evidence suggesting the activities of the Saka-Scythians from the Lower Indus region, where Sagakula was situated, in the Punjab area in the 1st century B. C. There is no proper foundation for the theory of Rapson (Cambridge History of India, vol. 1, p 568), Kodow (CII, vol. II, pt. I, pp XXXI-XXXII). Tarn (Op. cit., p. 232), Marshall (Taxila, vol. I, pp. 44-45), etc. advocating such activities and connecting the Scytho-Parthian Mause with them.

The Conception of Dravyas in Jaina Philosophy

By

Dr. Kamal Chand Sogani,

Lect. in Philosophy, Uni. of Udaipur, (Raj).

Jainism takes experience as its guide and resolves the whole of the universe of being into two everlasting, uncreated, co-existing, but independent categories of Jīva and Ajīva. The Ajīva is further classified into pudgala (matter), Dharma (principle of motion), Adharma (principle of rest), Ākāśa (space) and Kāla (time). Hence reality is dualistic as well as pluralistic. But according to the Jaina plurality, though an ontological fact, entails unity also, if it is considered from the synthetic and objeective point of view of one existence. According to Kundakunda, in spite of the unique characteristics possessed by the different subtsances (Dravyas) existence has been regarded as an all-comprising characteristics of reality which ends all distinctions.[1] The Karttikeyanupreksa recognises that all substances are one from the stand-point of substance, while they are distinct and separate from their characteristic differences.[2] Samantabhadra also endorses this view by affirming that in view of the conception of one universal existence all are one, but from the point of view of substances distinctions arise.[3] Padmaprabhamaladharīdeva pronounces that a 'Mahasatta' pervades all the things in their entirety, but it is always associated with 'Avantarasatta' which pervades only the particular objects.[4] In a similar vein, Amrtacandra speaks of the two types of Satta, namely, 'Svarupasatta' and 'Sadrasyasatta.' The latter is the same as 'Samanyasatta;[5] In his Saptabhangitarangini Vimaladasa discusses the problem of unity and plurality of existence in detail, and concludes that both the postulation of existential identity and the articulation of differences from the stand-point of different substance are logically justifiable.[6] Thus Jainism gives credence to the recognition of existential oneness

1. Prava. Comm. Amrta. 11-5
2. Kartti. 236

Vikrama Era.[53] However, they also place Nabhovāhana and Gardabhilla before the Sakas,[54] and think that Nabhovāhana was the same as Nahapāna of coins and inscriptions. The identification is made virtually certain by the facts that another Jaina work describes the protracted struggle between a Sā avāhana king and Nahavāhana[55], that the latter name may be variant of the name *Nabhovahann*, and that the only ruler known to have been involved in such a war and to have borne a name almost similar to that of Nabhovāhana was Nahapāna. But this Nahapāna cannot have ruled before the 1st century A.D.[56] This at once reveals the weakness of the relevant portions of the works on which Konow and Jayaswal depended. Hence it must be admitted that no reliable source testifies to Saka rule in Ujjayinī in the 1st century B.C.

It appears that, of the different features of the Kālaka story, only those concerning with or alluding to the existence of Śaka colony on the western bank of the lower Indus, the Parthian hegemony over the same region, and the activities of the Śakas in Surāshṭra (in the 1st century B.C.?), can be taken as his historical facts. It is doubtful whether any Jaina teacher called Kālaka was in any way associated with the Śake activities in Surāshṭra. We can only admit that such an association was believed in by the time the story had grown up around the core of hard facts. When it was given literary form it was evidently altered, expanded and historically vitiated, and thus later characters[57], such as Vairisimha, etc, were incorporated in it.

Thus the cumulative effect of the testimonies of the Kalkacharya Kathanak and Ptolemy indicates the presence of a Śaka colony including Patalene probably under the hegemony of the Imperial Parthians; and the activities of the Sakas or Scythians in Surāshṭra.

---

53. See IA, Vol II, pp. 362-363, where Prakrit gathas from the works of Merutunga, Dharma Sagar and Jaivijagani are quoted.

54. Srimad-Bhadravahusvami-pranita-Nityuktiyukth-bhashyakalita-Srimad-Haribhadrasuri-Suttritavritt-parivaritam Srimad-Avasyakasutra-syottarardham, parvabhagai (edited by the Agamodaya Samiti) folios 712-713,

55. The name Nahapana itself could easily be co rupted in the Indian sources into Nahavana, Nahavana etc.

56. See B N. Mukherjee, op. cit., book III, ch. I. In this connection see also the Proceedings of the Indian History Congress, 1953, pp. 30-40.

57. This critical appraisal of the contents of the Kalaka story indicates that Dr S K. Chattopadhyay is wrong in thinking that the legend is wholly unhistorical (S. Chattopadhyay, Early History of Northern India, p. 56).

58. We must add here that there is no evidence suggesting the activities of the Saka-Scythians from the Lower Indus region, where Sagakula was situated, in the Punjab area in the 1st century B. C. There is no proper foundation for the theory of Rapson (Cambridge History of India, vol. 1, p 568), Kodow (CII, vol. II, pt. I, pp XXXI-XXXII). Tarn (Op. cit., p. 232), Marshall (Taxila, vol. I, pp. 44-45), etc. advocating such activities and connecting the Scytho-Parthian Mause with them.

The Conception of Dravyas in Jaina Philosophy

By

Dr. Kamal Chand Sogani,

Lect. in Philosophy, Uni. of Udaipur, (Raj.).

Jainism takes experience as its guide and resolves the whole of the universe of being into two everlasting, uncreated, co-existing, but independent categories of Jīva and Ajīva. The Ajīva is further classified into pudgala (matter), Dharma (principle of motion), Adharma (principle of rest), Ākāśa (space) and Kāla (time). Hence reality is dualistic as well as pluralistic. But according to the Jaina plurality, though an ontological fact, entails unity also, if it is considered from the synthetic and objective point of view of one existence. According to Kundakunda, in spite of the unique characteristics possessed by the different subtsances (Dravyas) existence has been regarded as an all-comprising characteristics of reality which ends all distinctions.[1] The **Karttikeyanupreksa** recognises that all substances are one from the stand-point of substance, while they are distinct and separate from their characteristic differences.[2] Samantabhadra also endorses this view by affirming that in view of the conception of one universal existence all are one, but from the point of view of substances distinctions arise.[3] Padmaprabhamaladharīdeva pronounces that a 'Mahasatta' pervades all the things in their entirety, but it is always associated with 'Avantarasatta' which pervades only the particular objects.[4] In a similar vein, Amrtacandra speaks of the two types of Satta, namely, 'Svarupasatta' and 'Sadrasyasatta.' The latter is the same as 'Samanyasatta;[5] In his Saptabhangitarangnini Vimaladasa discusses the problem of unity and plurality of existence in detail, and concludes that both the postulation of existential identity and the articulation of differences from the stand-point of different substance are logically justifiable.[6] Thus Jainism gives credence to the recognition of existential oneness

1. Prava. Comm. Amrta. 11-5
2. Kartti. 235
3. Aptamimansa - 34
4. Niyama. Comm Padmaprabha. 34
5. Prava Comm Amrta. II, 3, 5,
6. Saptabhangitarangini p 78

but not exclusively, since it is always bound up with plurality. This is quite consistent with the Anekāntātmaka view of reality propounded by the Jaina philosopher. The sole warrant for the existence of one and many, unity and diversity, is experience which vouches for such a character of reality. Thus, Mahāsattā will be associated with its opposite, namely, Avāntarasattā.[7] It may again be pointed out that this Mahāsattā is not an a independent something as may be conceived, but is invariably accompanied by its opposite.[8] Kundakunda holds the nature of existence as one, immanent in the totality of substances constituting the universe, comprehending and summarizing the universe, having infinite modifications, indicative of the triple characteristics of origination, destruction, and persistence and in the last as associated with the charateristics opposite to those mentioned above.[9] Hence unity, duality, and plurality-all are inseparably and inevitably involved in the structure of reality.

By recognising both Jiva and pudgala as substances Jainism steers clear of the two extremes of materialism and idealism which are radically opposed to each other. Materialism considers the universe as rooted in matter, while idealism imagines the mind or spirit to be fundamental and primary. The former lays stress on the recognition of the reality of matter and considers the mind to be an incident or accompaiment; the latter affirms that mind or spirit is to be reckoned as real and matter just an appearance. But according to Jainism, both matter and spirit are only partially true, and neither is warrantable unless experience is allowed to be robbed of its significance.

Notwithstanding the mutual inter-penetration of the six Dravyas and the accomodative nature of each, they never part with their original nature.[10] This statement is indicative of the fact that these Dravyas are incapable of trans-gressing their fixed number which is six. Therefore, this reduction or multiplication is an impossibility.[11] With the solitary exception of Kala Dravya, the remaining five are termed as Pancastikaya for the simple reason of possessing many Pradesas,[12] The word 'Kaya' should be understood only to cannote 'many Prādesas.[13] Jiva, Dharma and Adharma separately owns innumerable Pradesas; Akasa possesses infinite ones; Kala, one; but Pudgala possesses numerable, and infinite Pradesas.[14] All the Dravyas except Pudgala are pronounced to be bereft of material qualities of touch, taste, smell and colour, and only

7. Panca. Comm. Amrata. 8
8. Pancadhyayi. 1.15
9. Panca. 8
10. Ibid 7
11. Sarvartha V. 4
12. Panca. Comm. Amrta. 22. Panca 102; Parva II. 43; Niyama. 34.
13. Sarvartha, V 1.
14. Dravya 25; Tsu. V. 8, 9, 10; Niyama 35, 36

*The Space occupied by an atom is called a Pradesa.

Jiva is believed to have possessed consciousness. Hence Dharma, Adharma, Kala and Akasa are destitute of consciousness, as also of material qualities. Thus they should not be misapprehended as being comprised under the category of matter, but under a different category of non-sentiency-cum-non-materiality. As for Dharma, Adharma and Akasa, each of them is considered to be one, while Jiva and Pudgala are infinite; and Kala is innumerable.[15] Besides Dharma, Adharma, Akasa and Kala are by nature non-active and the remaining two are active.[16]

Nature of self:—Having discussed the general nature of the six substances, we now proceed to deal with their specific nature. We start with Jiva (self).

The problem of self is the most fundamental in the domain of philosophy. Since the drawn of philosophical speculation down to the present time it has vexed, great philosophers and led them to formulate different conceptions consistent with the metaphysical outlook upheld by them. With Jainism though the probing into the nature of self is not a new enterprise, the special point of the Jaina view consists in substantiating the notion of self without blinking the loftiest mystical heights on the one hand and without condemning the unabstracted experience as sheer illusion on the other. The self, as an Ontologically underived fact, is one of the six substances subsisting independently of anything else. The experience of knowing[17] feeling[18] and willing undeniably proves the existence of self. The Karitikeyaanupreksa recognised that the self is to be regarded as possessing supreme significance among the substances and as having the highest value among the Tattvas.[20] It is the repository of excellent characteristics.[21] It is the internal Tattva. It is to be distinguished from the other substances which are merely external since they are without any knowledge of things to be renounced and accepted,[22] Kundakunda in the Pravacanasara calls it Mahartha (a great objectivity[23]). It is neither merely an immutable principle as advocated by the Vedānta, the Samkhya-Yoga and the Nyāy-Vaisesika, not merely a momentarily transmutable series of psychical states as recognised by the Buddhist. But, according to the Jaina, it is synthesis of permanence and change. Consciousness, according to him, is its essential and distinguishing feature. The Jaina, therefore. differs from the Nyāya-Vaisesika and the Pūrva-Mīmāmsā which regard consciousness as an adventitions attribute, as also from the Cārvākā which

---

15. Gomma. Ji 587 ; Tsu. V. 6.
16. Sarvartha. V. 7 ; Panca. 98.
17. Acaranga 1 1.5 p. 50
18. Kartti. 183.
19. Kartti. 184.
20. Kartti. 204.
21. Ibid...
22 Kartti. 205.
23. Prava II. 150,

but not exclusively, since it is always bound up with plurality. This is quite consistent with the Anekāntātmaka view of reality propounded by the Jaina philosopher. The sole warrant for the existence of one and many, unity and diversity, is experience which vouches for such a character of reality. Thus, Mahāsattā will be associated with its opposite, namely, Avāntarasattā.[7] It may again be pointed out that this Mahāsattā is not an a independent something as may be conceived, but is invariably accompanied by its opposite.[8] Kundakunda holds the nature of existence as one, immanent in the totality of substances constituting the universe, comprehending and summarizing the universe, having infinite modifications, indicative of the triple characteristics of origination, destruction, and persistence and in the last as associated with the charateristics opposite to those mentioned above.[9] Hence unity, duality, and plurality-all are inseparably and inevitably involved in the structure of reality.

By recognising both Jiva and pudgala as substances Jainism steers clear of the two extremes of materialism and idealism which are radically opposed to each other. Materialism considers the universe as rooted in matter, while idealism imagines the mind or spirit to be fundamental and primary. The former lays stress on the recognition of the reality of matter and considers the mind to be an incident or accompaiment; the latter affirms that mind or spirit is to be reckoned as real and matter just an appearance. But according to Jainism, both matter and spirit are only partially true, and neither is warrantable unless experience is allowed to be robbed of its significance.

Notwithstanding the mutual interpenetration of the six Dravyas and the accomodative nature of each, they never part with their original nature.[10] This statement is indicative of the fact that these Dravyas are incapable of transgressing their fixed number which is six. Therefore, this reduction or multiplication is an impossibility.[11] With the solitary exception of Kala Dravya, the remaining five are termed as Pancastikaya for the simple reason of possessing many Pradesas,[12] The word 'Kaya' should be understood only to cannote 'many Prādesas.[13] Jiva, Dharma and Adharma separately owns innumerable Pradesas; Akasa possesses infinite ones; Kala, one; but Pudgala possesses numerable, and infinite Pradesas.[14] All the Dravyas except Pudgala are pronounced to be bereft of material qualities of touch, taste, smell and colour, and only

7. Panca. Comm. Amrata. 8
8. Pancadhyayi. 1.15
9. Panca 8
10. Ibid 7
11. Sarvartha V. 4
12. Panca. Comm. Amrta. 22 Panca 102; Parva II. 43; Niyama. 34
13. Sarvartha, V I.
14. Dravya 25; Tsu. V. 8, 9, 10; Niyama 35, 36
*The Space occupied by an atom is called a Pradesa.

envisages consciousness as an epiphenomenon of matter, something like the inebriating power emerged from the mixing of certain ingredients. The systems of thought like the Sāmkhya-Yoga and the Vedānta of Samkara and Rāāmnuja betray a fair resemblance to the consideration of the Jaina that consciousness is intrinsically associated with the self.

Nature of Empirical self:—First the empirical self has been in a state of transmigration since an indeterminable past. It is on this account contended that the self originates and decays. But this is valid only from the Pāryāyārthika point of view and not from the Dravyārthika one which lays down indestructibility and Unproductivity of the self[24]. Secondly the empirical self is in possession of non-essential Vyañjanaparyāya and non-essential Arthaparyāya. It illumines the whole of the body by pervading in it, just as the lotus-hued ruby illumines the cup of milk[25]. Thirdly, the empirical self is considered by the Jaina as the doer of evil and good actions. Fourthly, it is also the enjoyer. To sum up the empirical self is bound by Karmas from an indefinite past, is the enjoyer of the self-performed good and bad actions, is the knower and the seer, and is associated with the triple nature of origination, descrution and continuance. Besides, it possesses the narrowing and dilating characteristics, extends up to the limit of bodily dimentions and owns its specific characteristics of knowledge, bliss etc[25]. It may be noted here that Jainism recognises the metaphysical reality of infinite selves. We may point out in passing that the relation between the empirical self and transcendental one is one of identity-cum-difference, i.e, there is metaphysical identity between the two states (empirical and superempirical) of the same self, but the difference is also undeniable in respect of the Upādhis which have been persisting since an infinite past. The empirical self is potentially transcendental, though this nominal state of existence is not actualised at present hence the distinction is incontrovertible.

One sensed empirical Selves :—The empirical self is recognised by the Prānas it owns. The minimum number of Prānas possessed by the empirical self is four (one-sense. one Bala, life-limit and breathing), and the maximum number is ten, (five senses, three Balas, Life-limit, and breathing). However, encumbered by the cruel matter self may be, it cannot obstruct the manifestation of consciousness to the full, just as even the most dense cloud cannot interrupt the light of the sun to its farthest extreme. The lowest in the grade of existence are the one-sensed Jīvas. They possess four Prānas. To make it clear, of the five senses namely the sense of touch, taste, smell, colour and sound, the one-sensed Jīvas possess only the sence of touch; and of the three Balas namely, Bala of Mind,

24 Prava. II-20-22. Panca 17, 18 and Comm. Jayasena.
25 Panca. 33
26. Siddha Bhakti. 2
27. Panca 30, Prava II, 54, 55 and Comm. Amrta.

body and speech, they have only Bala of body, and besides they hold life-limit and breathing. These one-sensed Jīvas admit of five fold classification[28], namely earth bodied, water-bodied, fire-bodied, air bodied and lastly, vegetable-bodied souls. The recognition of these one-sensed souls is fraught with great difficulty since the four Prānas are not explicitly manifested, just as the Prānas of a man in the State of numbness, or just as the Prānas of a growing soul in the egg of a bird or in the embryonic state cannot be recognised owing to the lack of their explicit manifestation[29].

Two-Sensed to five Sensed empirical Souls :— Having pointed out the various forms of existence of one- sensed Jīvas and the number of *Pranas* upheld by them, we now proceed to the higher grades of existence. The *two-sensed* Jīvas possess six Prāṇans, i.e. in addition to the four Prāṇas of one-sensed souls, they have two Prāṇas more, namely, sense of taste, and Bala of speech; the three-sensed souls have the sense of smell additionally; the four-sensed souls have the sense of colour besides the above; and lastly the *five sensed souls* which are mindless are endowed with the sense of hearing in addition; and those with mind possess all the ten Prāṇas[30]. Thus the number of Prāṇas, possessed by one-sensed to five-sensed souls are four, six, seven, eight, nine and ten respectively. The illustrations of the two-sensed souls are, sea-snail. cowrie-shell-fish, conch-shell-fish, earth-worm etc.,[31] of the three-sensed souls are louce, bug, ant[32], of the four-sensed souls are mosquito, fly and butter fly[33] of the five-sensed souls with ten Pranas are celestial. hellish, and human beings and some subhuman souls[34]; and of the five-sensed souls with nine-pranas are only some sub-human souls[35]. All the the diverse mundane souls right upto four-sensed ones are designated as *non-rational* or mindless (Asaṃjni), whereas the five-sensed sub-human beings may be rational and non-rational, but the celestial hellish and human beings are necessarily rational[36]. The rational souls may be recognised by the capability of being preached, of receiving instruction, and of voluntary action.[37]

Spiritual Classification of selves :— Apart from the empirical classification of selves, Jainism gives us a different classification of Selves from the spiritual point of view. If the former classification refers to the scientif attitude of Jain,

28. Panca 110, Sarvartha II-13.
29. Panca. 113.
30. Sarvartha II-14
31. Panca. 114.
32. Ibid. 115.
33, Ibid. 116.
34. Panca. 117 and Comm. Amrta.
35. Ibid (In all these references from 4 to 5 translation borrowed from Chakravartis Pancastikaya)
36. Panca Comm. Amrta. 117.
37. Gomm. Ji. 660.

Kinds of Pudgala :- The principal forms in which Pudgala (matter) exists are Aṇu (atom) and Skhandha (aggregate)[61] Binary to infinite aggregates are included in Skhandha.[62] An atom consists of only one Pradesa, is the terminus of divisibility of matter, is by itself without begining, end or middle, is destitute of sound and is coupled with the qualities of taste, touch, smell and colour.[63] Besides it is indestructible and eternal, is responsible for the disruption of Skhandhas by virtue of its segregation from them, is also the substantial cause of them and is the measure of time.[64] Again it is devoid of sound, but is the cause of sound i.e, the combination of atoms may produce sound when they strike against other aggregates of atoms.[65] It possesses any one colour, any one taste, any one smell, but a pair of such touches as are not of cotradictory nature, namely, cold and viscous, or cold and dry, or hot and viscous or hot and dry.[66] The remaining touches, namely, soft and hard, light and heavy and only manifested in the Skhandha State of matter, and thus are not present in its atomic states. The qualities of viscousness (snigdhatā) and dryness (rūkṣatā) very in degrees of intensity extending from the lowest limit to the highest, from one point to infinity.[67] The variations in the degrees of intensity may be ordinarily witnessed in the milk of she-goat, cow, buffalo, and she-camel in point of viscousness, and in dust (pāṃsu), gross-sand (kaṇikā), and sand (sarkarā) in respect of dryness.[68] Hence atoms are capable of existing with infinite variability in these two characteristics. These are responsible for atomic linking.[69] Thus, for explaining the combination of atoms this assumption excludes God or Adraṣṭa as recognised by the Nyāya-Vaisesika school of thought, as also the primordial motion of atoms as advocated by Democritus. Though according to the Jaina atom is active,[70] activity is not the cause of combination. It will not be amiss to say that those atoms which are at the lowest in the scale of viscousness and dryness are not given in combination either with one another or with other intensifications.[71] Besides, atoms which have equal degrees of viscousness and dryness also refuse to combine with one another.[72] But atoms which hold two degrees of viscousness and dryness in excess are given to interlinking; i. e. atoms which hold two degrees of viscousness and dryness are interlinkable with four

61 Tsu V 25 : Niyama. 29.
62. Sarvartha V. 26
63. Panca 77,
64 Panca 80
65. Panca. 78, 79; 81.
66. Ibid. 81., Niyama, 27. Comm. Amrata.
67. Sarvartha V 33,
68. Ibid. 33.
69. Gomm Ji 608
70. Panca. Comm Amrta. 98
71. Sarvartha V. 34
72 Ibid. V. 35

degrees of the same in all respects. Similarly, this law holds good for other interlinkings.[73] Besides, the atoms which possess four degrees of viscousness or dryness are capable of transforming atoms having two degrees of viscousness or dryness into their own nature.[74] Similarly, this holds good for all these atoms which have a difference of two degrees of viscousness or dryness. This theory thus avoids mere conjunction of atoms, but propounds their synthetic identification.[75]

We now proceed to Skhandha. The aggregates of atoms exist in six different forms, nemely- (1) Gross-gross, (2) Gross, (3) Gross-fine, (4) Fine-Gross (5) fine and lastly (6) Fine fine [76] (1) The class of matter which, when divided, cannot restore its original state without any extraneous help is termed as gross-gross. The examples of which are wood, stone, and the like. (2) That which can be reunited on being divided without the intervention of a third something is called gross, as for example, water, oil, etc. (3) Shadow, Sunshine, etc. which are incapable of distintegration and grasp are subsumed under gross-fine. (4) The object of touch, taste, smell and hearing are called fine gross. (5) The Kārmic matter etc. which are imperceptible by the senses are included into the category of fine. (6) The binary aggregates and the Skandhas smaller than the Karmic matter come under the next category of fine-fine. As we have said, the generation of sound is effected by the striking of Skandhas against one another. Thus Jainism takes exception to the view of Nyaya Vaisesika which calls sound the quality of Akasa, inasmuch as it is capable of being sensed which would not have been possible had it been the quality of Akasa.

Next comes the reality of Dharma, Adharma, Ākāsa and Kāla. None of the philosophical systems originated in the east and the west postulated the independent existence of the principle of motion (Dharma) and the principle of rest (Adarma). Besides, the idealistic thinkers have unhesitatingly brushed aside the reality even of space and time, since they find themselves in the meshes of irreconcilable contradictions. Kant regarded them as the forms of perceptions which are imposed by sensibility upon things. Hence on account of the glasses of space and time attached to sensibility,. the noumenal reality escapes our grip and its attainment becomes a wild goose-chase. But the Jaina who relies upon the findings of experience absolves us from the creations of a priori logic by positing the reality of Dharma, Adharma, Ākāsa and Kāla answering to the experienced moton, rest, allowance of room. and change respectively.

We shall now throw some light on the nature of motion. All the idealists are one in rejecting the reality of motion and in designating it as mere appearance,

73. Ibid. V. 36.
74. Ibid. V 37.
75. Sarvatha. V. 37.
76. Niyama. 21 to 24

Kinds of Pudgala :- The principal forms in which Pudgala (matter) exists are Aṇu (atom) and Skhandha (aggregate) [61] Binary to infinite aggregates are included in Skhandha.[62] An atom consists of only one Pradesa, is the terminus of divisibility of matter, is by itself without begining, end or middle, is destitute of sound and is coupled with the qualities of taste, touch, smell and colour.[63] Besides it is indestructible and eternal, is responsible for the disruption of Skhandhas by virtue of its segregation from them, is also the substantial cause of them and is the measure of time.[64] Again it is devoid of sound, but is the cause of sound i.e , the combination of atoms may produce sound when they strike against other aggregates of atoms.[65] It possesses any one colour, any one taste, any one smell, but a pair of such touches as are not of cotradictory nature, namely, cold and viscous, or cold and dry, or hot and viscous or hot and dry.[66] The remaining touches, namely, soft and hard, light and heavy and only manifested in the Skhandha State of matter, and thus are not present in its atomic states. The qualities of viscousness (snigdhatā) and dryness (rūkṣatā) very in degrees of intensity extending from the lowest limit to the highest, from one point to infinity.[67] The variations in the degrees of intensity may be ordinarily witnessed in the milk of she-goat, cow, buffalo, and she-camel in point of viscousness, and in dust (pāṃśu), gross-sand (kaṇikā), and sand (sarkarā) in respect of dryness.[68] Hence atoms are capable of existing with infinite variability in these two characteristics. These are responsible for atomic linking.[69] Thus, for explaining the combination of atoms this assumption excludes God or Adraṣṭa as recognised by the Nyāya-Vaisesika school of thought, as also the primordial motion of atoms as advocated by Democritus. Though according to the Jaina atom is active,[70] activity is not the cause of combination. It will not be amiss to say that those atoms which are at the lowest in the scale of viscousness and dryness are not given in combination either with one another or with other intensifications.[71] Besides, atoms which have equal degrees of viscousness and dryness also refuse to combine with one another.[72] But atoms which hold two degrees of viscousness and dryness in excess are given to interlinking; i. e. atoms which hold two degrees of viscousness and dryness are interlinkable with four

61 Tsu V 25 : Niyama. 29.
62 Sarvartha V. 26
63. Panca 77.
64 Panca 80
65. Panca 78, 79, 81
66 Ibid. 81 , Niyama, 27 Comm. Amtata.
67. Sarvartha V 33,
68. Ibid. 33.
69. Gemm Ji 608
70. Panca. Comm Amrta. 98
71. Sarvartha V. 34
72 Ibid. V 35

degrees of the same in all respects. Similarly, this law holds good for other interlinkings.[73] Besides, the atoms which possess four degrees of viscousness or dryness are capable of transforming atoms having two degrees of viscousness or dryness into their own nature.[74] Similarly, this holds good for all those atoms which have a difference of two degrees of viscousness or dryness. This theory thus avoids mere conjunction of atoms, but propounds their synthetic identification.[75]

We now proceed to Skhandha. The aggregates of atoms exist in six different forms, nemely– (1) Gross-gross, (2) Gross, (3) Gross-fine, (4) Fine-Gross (5) fine and lastly (6) Fine fine[76] (1) The class of matter which, when divided, cannot restore its original state without any extraneous help is termed as gross-gross. The examples of which are wood, stone, and the like. (2) That which can be reunited on being divided without the intervention of a third something is called gross, as for example, water, oil, etc. (3) Shadow, Sunshine, etc. which are incapable of distintegration and grasp are subsumed under gross-fine. (4) The object of touch, taste, smell and hearing are called fine gross. (5) The Kārmic matter etc. which are imperceptible by the senses are included into the category of fine. (6) The binary aggregates and the Skandhas smaller than the Karmic matter come under the next category of fine-fine. As we have said, the generation of sound is effected by the striking of Skandhas against one another. Thus Jainism takes exception to the view of Nyaya-Vaisesika which calls sound the quality of Akasa, inasmuch as it is capable of being sensed which would not have been possible had it been the quality of Akasa.

Next comes the reality of Dharma, Adharma, Ākāsa and Kāla. None of the philosophical systems originated in the east and the west postulated the independent existence of the principle of motion (Dharma) and the principle of rest (Adarma). Besides, the idealistic thinkers have unhesitatingly brushed aside the reality even of space and time, since they find themselves in the meshes of irreconcilable contradictions. Kant regarded them as the forms of perceptions which are imposed by sensibility upon things. Hence on account of the glasses of space and time attached to sensibility, the noumenal reality escapes our grip and its attainment becomes a wild goose-chase. But the Jaina who relies upon the findings of experience absolves us from the creation of a priori logic by positing the reality of Dharma, Adharma, Akasa and Kala answering to the experienced moton, rest, allowance of room, and change respectively.

We shall now throw some light on the nature of motion. All the idealists are one in rejecting the reality of motion and in designating it as mere appearance,

73. Ibid. V. 36.
74. Ibid. V 37.
75. Sarvatha. V. 37.
76. Niyama. 21 to 24

phenomenal, and unworthy of being intelligibly applied to thing-in itself. The Eleatic philosopher Zeno was the first to raise the voice against the possibility of motion. But Jainism recognises the reality of motion. It is defined as the modification originating from the external and internal inducements which make possible the traversing from one point of space to another.[77] The substances like Dharma, Adharma, Ākāśa and Kāla are non-active and motionless in this sense, but Jīva and Pudgala are said to be the authors of motion; that is, these, two Dravyas are capable of being active to the exclusion of others.[78] Activity is not a different, independent category but a special modification of these two substances due to the external and internal causes.[79] Besides, it should be distinguished from the Arthaparayāya which means motionless change possessed by all the six Dravyas. The activity of Jīva is due to the external causal agency of Karman. Thus Siddhas are non-active on account of the absense of Karman.[80] The activity of Pudgala is due to the external agency of Kāla. It will remain perpetual, since unlike Karmic particles Kāla can never be absent at any time. Thus the Pudgala unlike the Siddhas cannot be non-active.[81]

Akasa:—That extent of space which is replete with matter, souls, time, principle of motion, and principle of rest is labelled as Lokākāsa, or world space. This distinguishes it from Alokākāsa or empty space wherein none of the five substances abides.[82] Thus the former is recognised as being capable of providing accommodation to Jīvas, Pudgala and to the rest of the Dravyas. That space is its own base and support and does not call for any other substance to accommodate it is evident from the fact that there is no other substance of more vastness than this which may provide room to it. And even if it is conceded, it will implicitly lead us to the fallacy of regress and infinitum.[83] Besides, it is imperative to note that, considered from the point of view of the thing-in-itself, all substances, exist in themselves. It is only regarded from the commonplace point of view that all substances are subsisting in space.[84] The principles of motion and rest are immanent in the entire universe (Lokākāsa) like the permeation of oil in the seed.[85] Despite the omnipresence of Dharma and Adharma in the Lokākāsa and the existence of Jīva, Pudgala, and Kāla therein they never forfeit their respective specific nature.[86]

---

77. Sarvartha. V. 7 ; Panca Comm. Amrta. 98
78. Sarvartha. V. 7.
79. Rajava. V. 7,1, 2.
80. Panca. Comm Amrta 98; Rajava V. 7/14 to 16.
81. Panca Comm. Amrta 98.
82. Dravya. 20; Sarvartha V. 12 Panca. 90, 91
83. Rajava. V 12/2 to 4.
84. Rajava. V. 12/5 to 6.
85. Sarvartha V. 13.
86. Rajava V. 16/10.

substances constituting the universe. Kāla may be classified into real time (Parn ārtha Kāla) and conditioned time (*Vyavahara Kala*)[94]. The former is the substance proper[95] and Samaya, Āvalī are conditioned time[96]. The function of Parmārthakāla is Vartanā; i.e, it passively helps the self-changing substances; and the functions of conditioned time are change, motion and the feeling of being young and old[97]. As has already been pointed out, Kāla Dravya is deprived of the designation 'Kāya' inasmuch as it has only one Pradesa in the form of Kala Aṇu. These Kāla anus are innumerable and separtely exist on each Pradesa of Lokākāsa without being mixed with one another[98]. The unit of conditioned time is called "Samaya" which may be defined as the period required by the primary material atom to traverse with slow pace from one Pradesa of Ākāsa to the immediately next[99]. It is practically inconceivable in life. It should be borne in mind that the innumberable 'Samayas' lapse in the opening of an eyelid.

---

94 Sarvartha. V. 22.
95. Tsu V. 39
96. Niyama. 31
97. Sarvartha. V-22,
98 Dravya. 22 ; Niyama. 32.
99. Prava II 47.

List of Abbreviations

Ācārānga—Ācārānga-Sūtra (Sacred books of the East, Vol. XXII.)
Āptamīmānsā—Āptamīmānsā of Samantabhadra (Anantakirti Granthmala, Bombay).
Dravya—Dravyasangraha (Sarale Jain Grantha Bhandāra, Jabalepur).
Gomma Jī—Gommatsāra-Jīvakāṇḍa of Nemicandra (Rāyacandra Jaina Śāstramālā)
History of Philosophy by Jhilly (Allahabad Central Book Depot 1949).
Jñānā—Jñānārnava of Subhacandra (Rāyacandra Jaina Sāstramālā, Bombay).
Kārtti—Kārttikeyānupreksā (Rāyacandra Jaina Śāstramālā, Bombay).
Mo. Pā.—Mokṣa-Pāhuda of Kundakunda (Pātani Digambara Jaina Granthmālā, Mārotha).

"He that hath pity upon the poor lendeth unto the Lord; and that which he hath given will He (The Lord) pay him again."

\+ \+ \+

"If thou wilt be perfect, go and sell that thou hast; and give to the poor and thou shalt have treasure in heaven."

—**Christ**

The Nasal's Influence upon the Neighbouring syllables

By
S. N. Ghosal,
Lecturer, Calcutta University.

In his introduction to the Bhavisattakahā Jacobi has stated that in the ms. of the text, which he edits, the final syllables like i, hi, u, hu etc. develop nasalization when the preceding syllable contains any of the sounds like ṇ, ṇṇ, nn, m or mm.(1) According to him it is almost like a mechanical development and the consideration of meaning does not in any way affect the change. He quotes many examples, from which we reproduce only a few as evidence: in the 3rd pers, sg: suṇaī, mannaī, gammaī, etc. in the loc. sg. navamaī; in the 2nd pers, sg: āṇahī, mannahī; ramahī etc. in the acc. sg. nihī, in the nom acc. sg. ṇāū; rāṇaū, manniū, khamiū etc. in the nom. pl fem. sunnaū, paripunnaū; in the 2nd pers. pl. nisuṇahū and in the nom. sg. samuhū, parammuhū etc. (Bhavisattakahāī ξ 7). In allt hese cases if jacobi's proposition stands correct and represents really a phonetic peculiarity we may assume that there has happened an assimilation of the nasal element, the probability of which is being considered in the present paper.

Jacobi notices the similar change in another place also. The sound p of api, which becomes vi occasionally in pkt, becomes modified to m (i.e. vi becomes transformed into mi) when it comes after a nasalized final syllable; as for cxample vihī mi-dvayor ani (but binni vi, vevi), kahī mi, kāī mi etc.(2) It is almost an invariable phenomenon and Jacobi believes that the preceding nasal-the anunāsika is solely responsible for the modification of the enclitic vi to mi here. As the preceding ones this too is to be considered as a case of assimilation, for which the nasal of the preceding syllable is to be held responsible. It may be pointed out here that the phenomenon appears so regular to Jacobi that any form contradicting the rule was considered as a scribal error to him.

Now Jacobi has pointed out another phenomenon also. In the first mentioned cases, where the succeeding syllables develop nasalization due to the occurrence of the nasal sound in the preceding (i.e.

1. See Bhavisattakha ξ 7 p. 26.
2. Ibid ξ 9. Anm. 3 p. 27.

The Nasal's Influence upon the Neighbouring syllables

By

S. N. Ghosal,

Lecturer, Calcutta University.

In his introduction to the Bhavisattakahā Jacobi has stated that in the ms. of the text, which he edits, the final syllables like i, hi, u, hu etc. develop nasalization when the preceding syllable contains any of the sounds like ṇ, ṇṇ, nn, m or mm.[1] According to him it is almost like a mechanical development and the consideration of meaning does not in any way affect the change. He quotes many examples, from which we reproduce only a few as evidence: in the 3rd pers, sg: suṇaī, mannaī, gammaī, etc. in the loc. sg. navamaī; in the 2nd pers, sg: āṇahī, mannahī; ramahī etc. in the acc. sg. nihī, in the nom acc. sg. ṇāū; rāṇaū, manniū, khamiū etc. in the nom. pl fem. sunnaū, paripunnaū; in the 2nd pers. pl. nisuṇahū and in the nom. sg. samuhū, parammuhū etc. (Bhavisattakahāī ह 7). In allt hese cases if jacobi's proposition stands correct and represents really a phonetic peculiarity we may assume that there has happened an assimilation of the nasal element, the probability of which is being considered in the present paper.

Jacobi notices the similar change in another place also. The sound p of api, which becomes vi occasionally in pkt, becomes modified to m (i.e. vi becomes transformed into mi) when it comes after a nasalized final syllable; as for example vihī mi-dvayor ani (but binni vi, vevi), kahī mi, kāī mi etc.[2] It is almost an invariable phenomenon and Jacobi believes that the preceding nasal-the anunāsika is solely responsible for the modification of the enclitic vi to mi here. As the preceding ones this too is to be considered as a case of assimilation, for which the nasal of the preceding syllable is to be held responsible. It may be pointed out here that the phenomenon appears so regular to Jacobi that any form contradicting the rule was considered as a scribal error to him.

Now Jacobi has pointed out another phenomenon also. In the first mentioned cases, where the succeeding syllables develop nasalization due to the occurrence of the nasal sound in the preceding (i.e.

1. See Bhavisattakha ह 7 p. 26.
2. Ibid ह 9. Anm. 3 p. 27.

Here we like to point out that although Alsdorf claims that the same phenomenon, which Jacobi describes-namely the transformation of the sound v to m as a consequence to the occurrence of the nasal in the preceding syllable also recurs in his text with all its peculiarities, the same does not appear to stand scrutiny and prove true. Here, as a little investigation would show, two entirely different phonetic processes seem to have produced the apparently identical forms, which has been a source of confusion to all. In fact the expression kahĩmi, which Jacobi explains, shows a course of phonetic transformation that is absolutely different from the one, which has brought forth the form kahimi of Alsdorf from its source- the preceding kahĩvi. In other words Alsdorf's assertion, that his form is phonologically one step more abvanced than that of Jacobi, does not seem to be conforming to facts. As such his acceptance of Jacobi's proposition on the evidence of a form of the Harivaṁsa purāṇa appears to stand on a very unstable foundation:

The correctness of our propostion will be best understood by a glance over the stages of development form, which Alsdorf has assumed. According to him kahĩvi develops at first to kahĩvi, which appears finally as kahimi. Here one does not find any kind of influence of the nasal of the preceding syllable upon the succeeding, but the transference of the same very element from the former to latter- a fact which is not an uncommon feature in Prākrit. In Alsdorf's form there happens the absorption of the nasal element in the contiguous sound v, which is responsidle for the modification of the latter to m. Alsdorf seems to have been actuated to consider the phenomenon as same as what Jacobi suggests on the evidence of certain forms, which during the transformation of v to m retain the nasal mark (i e. the anunāsika) upon the latter (i.e. m) and cause assumption of the same (anunāsika) as an independent nasal entity producing nasalization of the contiguous v (v>m) without itself being absorbed into it. So he surmises such a course of development like kahĩvī > kahĩvi > kahimi>kahimi.

Now this course of successive modifications-particularly retaining the anunāsika before m might generate in one's mind some such belief that mere close existence of the nasal element beside v brought about the change-namely the transformation of v to m without its own integration to the former. But there does not occur any scope for it as such forms are very few and far between and the same stand as exceptions to the general rule, that preserves m without the nasal indication. Again as we learn from Alsdorf himself there is hardly any agreement between mss. regarding the preservation of the nasalization before the later developed m (i e. ṃ) a fact which should not be lost sight of in the present context.[6] On the above evidences we are constrained to accept the forms with the nasalized m (i.e. ṃ) as scribal mistake and not those with a distinct phonetic

6. Ibid.

tendency. This seems to stand against the theory of Alsdorf.

From the above we can make an estimate of what Alsdorf thought of Jacobi's proposition. So far as the latter's first proposition is concerned i.e. regarding the nasalization of the final syllables- i, hi, - u, - hu consequent on the influence of the preceding nasals i.e. ṇ, ṇṇ, nn, m or mm he considers the phenomenon well-nigh improbable and the same a product of confusion. But with regard to the other i. e. transformation of vi (=api) to mi as a result of transformation of the preceding syllable he assumes the tendency as based on actual facts. This apparent contradiction calls forth a thorough investigation, which might alone lead to the ascertainment of the real state of affairs.

Let us begin with the grammer of Hemacandra. In the sūtra I. 178. Hemacandra prescribes the loss of the inter vocalic m in a group of words like kāmuka, cāmuṇḍā and atimuktaka. The sound m disappears as a result of such prescription but as an indication of its previous existence it leaves behind the anunāsika. Thus in Pkt. the words appear as kāūa, cāūṇḍā, aṁūtayaṃ respectively. In the last word it is to be noted that the anunāsika, which is assumed to be the remnant of the elided m, seems to nasalize the preceding dental surd (i.e. t) as a result of which the same becomes reduced to ṇ. Though the phonological change does not escape the notice of Hemacandra, which he records in the sūtra, in any case, the same cannot be explained in any other way save and except by the assumption of the influence of the anunāsika, which it self is a product of transformation of the intervocalic m. Again in pkt, the word kabandha becomes changed to kamandha with the modification of b to m according to Hemacandra I. 239. It may be suggested that the dental nasal in a member of the following conjunct might have caused at least accelerated the transformation of the preceding labial b.

Again as we learn from Hemacandra the word nīpa becomes nīma (I. 234) nīvī becomes nīmī (I. 259) and svapna becomes simiṇa or sumiṇa (I. 259) in pkt. Here in all these cases we note the change of the sound p or v to m. The change of the sound p to b or of b to v is quite understandable, as the reduction of the surd (p) to sonant (b) or the further modification of the latter to the semi-vowel v is a common feature in pkt, which is actuated by an urge for securing the easiness of pronunciation. But the further cpange of v to m is not a very common development in other pkts except Ap, in which it remains as a distinctive feature. (Pischel, Grammatik § 260). So it is possible to imagine that in the words nīmī etc. which are quite normal for the Maharastri pkt, the Apabhraṃsa influence has caused the transformation of p or b to m. But inspite of this explanation it is still possible for us to surmise that the dental sound n, which occurs in each word has accelerated the move for nasalization and might have had something to do with this phonetic transformation. we may hold the same view with regard to the modification of the sound v to m in the words Puṇgama for Puṇgava and kāla-

jāmana for kālavāvana, which Alsdorf notes in his Harivaṃsapurāṇa (Hp. 18)

In the sūtra I. 190 Hemacandra suggests that the word punnāga becomes punnāma and bhāginī becomes bhāminī in pkt. one must be sceptical about this modification as the transformation of a guttural sound to a labial nasal is absolutely unusual, which is not ordinarily permitted by the science of language. In fact the word punnāma is found in the same sense as punnāga in Sanskrit and the word bhāminī (signifying a high-souled lady, which is likewise found in Sanskrit) may approach very close to the word bhāginī from the standpoint of meaning. So these skt. word punnāma and bhāminī may be better considered as the sources of the pkt vocables (i.e. punnāma and bhāmiṇī). But inspite of all these if there is still insistence for assumption of the change of g to m in these word in pkt, then it is possible for us to suggest that the same has happened most probably due to the occurrence of the nasal sound in the word i.e. nn in one case and n in the other.

In the sūtra 3.28 Kramadīśvara suggests that in the nom. acc. neut. pl. besides the usual forms dhaṇāiṃ, vaṇāiṃ according to some the forms dhaṇāṁiṁ and vaṇāṃiṃ may also occur in Pkt. (prāganusvāro vā ityeke dhaṇāṁiṃ, vaṇāṃiṃ). It may be stated here that Pischel has also taken notice of these forms in his Grammatik (§§ 182, 367). He suggests that as the statement of the grammarian stands the proper forms ought to have been dhaṇaṃim and vaṇaṃiṃ, which should preserve the short final sound of the stems. It may be stated that the grammarian has spoken nothing about the lengthening of the final vowel of the stem when in these cases the anusvāra sprouts spontaneously before the termination. Be that as it may one thing is clear here. Here the nasal element of the termination has caused the develoment of the nasal sound-the anusvāra in the present case after the final vowel of the stems, It probably suggests that some people were accostomed to nasalize a syllable that stood in the close proximity of a nasalized vowel, though the phenomenon is not always shown in transcription and does not seem to have found a wide approval from the grammarians. In any case there is hardly any objection to the occurence of the phenomenon.

As we learn from the introduction of the Saṃdeṣa-rāsaka the language of the latter show the peculiarity of the development of the nasal sound in a syllable, which is immediately preceded by a nasal. We note the following words, which the learned editor has quoted: tammāla (=tamāla), gammijjaī (=ga°), gammiyāi (=gami°), gammiyaū, (=gami°), sammāṅiya (=samā°), kimmāi (=kima-i) dumma (druma). Here in all these cases the nasalization in the preceding syllable, for which there is apparently no reason except the exigency of metre. This feature, it may be incidentally stated is not unknown in Hemacandra for in the sūtra I. 26 he has quoted the word devamnāga-suvaṇṇa, where we get the same phenomenon. Again, as we gather from the introduction of the Samdeśa-rāsaka the word samdesa has developed into samneha into the speech. If the

etymology is correct it surely points out that the preceding nasal has brought about the transformation of the dental sound into nasal one (Intr. ६ 35).

Among the mss. of the Prākṛta-paingla there were two, which we procure from Poona and which are characterised by this phenomenon.[7] We have designated them as D_2 and D_5 respectively and we quote here some of their forms to show that the tendency is prevalent in them:

Mātrā verse 12 — D_2 aṭhṭhāmim (for aṭṭhāī); D5 aṭhṭhāmī
M. 27 — D_2.5 damtāī (for dantāāī)
M. 31. — D_2ettāmī (for ettāī); D5 ettāmim; D_2 5 asesemhī (for asesehī)
M. 49 — D_2.5 sahassāī (for sahassāī)
M. 52 — D_2.5 Vīsāī (for vīsāi)
M. 54 — D_2.5 aṭṭhārāebī (for aṭṭhāraehī); D5 aṭhṭhārāehī
M. 59 — D_2.5 ṇāmāī (for nāmāī)
M. 67 — D_2.5 mattāī (for mattāī); dhaṇūī (for dhaṇūī)
M. 71 — D_2 5 hammmīro (hammīro)
M. 100 — D_2.5 aṭhṭhāī (for aṭṭhāī); mattāī (for mattāī)
M. 115 — D_2.5 Pacatā ī āhā (for pacatā īahā)
M. 125 — D_2.5 ṭhāī (for ṭhāī); D5 ṭhāa.ī
M. 12[illegible] — D_2 5. Jāhī (for jahī)
M. 130 — $D_2$5. hāū (for hāū)
M. 133 — $D_2$5. ṭhāī (for ṭhāī); D2 eggārahābī (for iggārahaī); D5. igārahāhī
M. 141 — D_2.5 dahapamcāī (for dahapamcāī)
M. 164 — D_2.5 ekamṇṇo (for ekkaṇṇo)

It is unnecessary to quote any more of these forms though they occur abundantly in the mss. Here it is quite apparent that the nasalization in the following syllable has caused the nasalization in the preceding one. It is a clear case of assimilation, which should be further corroborated by the evidences, that are being adduced below. This tendency, it may be incidentally stated, is sporadically found in some other mss. too of the Prākrta- pangala, which we procured from Poona, but as the latter betray the tendency quite occasionally and not as a regular feature these are not being taken into consideration.

We believe that the tendency became probably more prominent in the New Ino-Aryans. At least the traces of the same have been found in some early NIA texts. It is found very conspicuously in the Uktivyakti-prakaraṇa, a very old text of Awadhī, whose date, according to prof. S K. Chatterjee, goes back to the first half of the 12th century. As we learn from him here a vowel contiguous to a nasal or a nasalized vowel appears to have been nasalized in pronunciation-a

7. [illegible] resemble each other very closely and they are believed to be transcribed from the [illegible]. They bear the following numbers.
[illegible]
[illegible]
[illegible] have already been described in the reports.

feature which is known in Bengali also. This proximity of nasalization or contiguous nasalization is indicated by the transcription of the anusvāra. Some of the examples, which Chatterjee quotes, are bihāṇahī for bihāṅahi, kāhe for kāhe, mājhā for mājhā, lāje for lāje, kā kīhakā kīha, dūjañe-dūjane, mūhā-muha etc. (§ 21). It should be noted that the anunāsika is represented by the anusvāra in all the above cases, as the same sign dot (bindu) was invented as a devise for indication both the anusvāra and the anunāsika-of which the former caused the metrical lengthening, while the latter did not. (Tessitori § 20). It should be mentioned that Baburam Saksena has recorded this feature in his Awadhi grammar. According to him a nasal preceding a vowel seems to have nasalized it, which is evidenced from the form like māi, that later apears without the nasal indication (§ 124 p. 79)

The feature, we like to point out in this concern, was detected also in the speech of the Varña-ratnākara, an early Maithilī text, which belonged to the 14th century. Prof. Chatterji, who has reconstructed the grammer of the text, informs us about the occurrence of the phenomenon in the work. According to him there are some cases of nasalization through contact with a nasal in the word, which is testified to by the following examples: māñusi māusī, bāndhala bandhala, kāna kāna karra, mānthā ie. mathā (i.e. mastaka), kānti, kānti, agañuṇgi agra aṅga, pachanungi pascāt anga etc. Here too prof. Chatterjee asserts that this habit of nasalizing contiguous vowels due to the occurrence of a nasal sound in the word was not an isolated phenomenon, peculiar to the speech of the Varṇaratnakara, but a trait common to the Bengali language as well varna (§ 9).

This phenomenon is found to have appeared in the old western Rājasthāni, which is a speech of the west. According to L.P. Tessitori when the medial a is followed by the nasals like ṇ, n, m etc. the euphonic anunāsika is added to it e g. nāma etc (§20, C). It is quite evident that here we notice the same phenomenon of the nasal assimilation, about whose occurence in the eastern speech like Awadhī and Maithilī, we have discussed above.

It may be stated here that Turner has noted this feature in Gujarāti, which is closely related to the old Western Rājasthāni. As he suggests, the Skt. word aṅgana, which comes aṅgnu in Gujarāti shows the following successive stages in the case of transformation in the latter: angana āṅgnu ānnu ; again the word anga becomes ān in Gujarāti through the intermediate stage āg. Here in both cases it should be noticed that a nasal sound occurring close by has caused the transformation of the Guttural sound g to ṇ. Further he surmises that here the change is analogous to that of mb to m; e.g. āmra amba āb ām. Whether the two courses of transformation are alike in nature, which Turner claims, is still a matter to be precisely settled.

Here we intend to suggest that the phenomenon is a very common feature in the Western Hindi too. Siddheswar

for us to disregard the phenomenon or its occurrence in the ms. of the Bhavisattakaha. So we are to accept the proposition of Jakobi and assume that the final syllables like i, hi, u, hu etc. can be nasalized when they come after the nasal sound like n, nn, m or mm ; The same conclusion stands valid with regard to to the other proposition also, according to which the enclitic vi, from api, becomes transformed into mi, when the same comes immediately after a nasalized vowel.

Now, here a fact should be taken into consideration. We have noted before the sporadic appearances of the phenomenon of nasal assimilation. Though some of the texts, e.g. the Prakrit grammar of Hemacandra and the Bhavisattakahā were composed sometimes about the 11th or the 12th centuries, none of the mss. of these works was transcribed any time before the 16th or the 17th century. The mss. of the Prakrita-paingala too, which have showed this tendency, do not date later than the 17th century, The very lateness of these mss., upon which the above-referred pkt. texts have been based, make us surmise that the phenomenon is probably an exclusive peculiarity of New Indo-Aryans and not of the Prakrit speeches. As the mss of the Prakrit texts contacted the tendency from the vernacular speeches the same intruded into the respective Prakrit works. The Bhavisattakahā might have contacted the phenomenon from some modern speech in this way-a fact, which explains its retaining the tendency that is strikingly lacking in some contemporary works.

"Tomorrow is a period nowhere to be found, Unless, perchance, in the fool's Calendar : Wisdom disclaims the word, nor holds society with those who hold it."

—An unknown poet.

The Spirit of Jaina Prayaschitta

By

Colette Caillat, Paris.

It is commonly assumed that the Jainas have been mostly intent on expelling bad karman and avoiding evil, rather than on a positive way of life.

This view, expressed by various scholars[1], has mostly resulted from the theoretical consideration of the tenets of Jainism. But it might as well be challenged. In any case, it needs reappraisal, and this conviction can be gained by anyone studying the system of expiations which has been set up for the Jaina monk.

They are listed in well-known mnemonical gāthā. The sveṭāmbara namely the :

āloyaṇa, padikamaṇe, mīsa, vivege, tahā, viussagge, tava, cheya, mūla, aṇavaṭṭhayā, ya pārancie c'eva

The Digambara's lists show small discrepancies which need not be mentioned here; the Mūlācāra's culminates in the saddahanā, "faith", which, properly speaking, is not an "expiation", but a thorough renewal of one's religious life:

āloyaṇa padikamaṇam ubhaya vivego tahā viussaggo tava chedo mūlam vi ya parihāro c'eva saddahaṇā (Mūlācāra 5, 164 sq)

For the present purpose, it will suffice to retain the above svetāmbara sequence, and to take into account the older form of the sixth prāyascitta (infra).

My main sources are the bhāsa and ṭikā of the Vavahāra-sutta, eventually the bhāsa and cuṇṇi of the Nisīha-sutta, that is, the commentaries of treatises relating to the suya-kappa (or Regulation according to Tradition). The Vav Bh. and T give many details concerning the āloyaṇā "confession", and about the parihāra "eviction". The latter is mentioned in the Kappa-, Vavahara, Nisīha-sutta; but, having become too difficult, it has been replaced, in the course of time, by the tava, as in the Jīya-kappa. The two last pāyacchitta of the svetāmbara list, the "destitution" and "exclusion", are closely connected with the parihāra.

1. Cf. H. Zimmer : Philosophies of India, 254 sq. ; B. C. Law : The concept of morality in Buddhism and Jainism, JASB 34-35, 1956-60 p 1-21 ; Pettazzoni : La confessione dei peccati, 270 ss.
2. Vav Pith Bh 53 ; cf Uvavaiya 30, T ; Jiyakappa 4.

Let us first briefly consider the āloyaṇā (ālocanā). The Jaina texts often stress the necessity to extract the "dart" (salla) resulting from any unconfessed offence, and warn against the dangers resulting from concealing it (cf. Sūyagaḍamga 2,2,20). The Uvavāiya contrasts the destiny of those who die āloiya-paḍikkanta (इह 88; 100; 75; 117; 120 ss.) According to Vav T. II 16 ā 2, if dying unconfessed, one will remain a long time in the saṃsāra: anālocite ca yadi mriyate, tato dīrgha-saṃsārī bhavati.

The saving virtue of āloyaṇā, combined with that of tava, favours the acquisition of the highest knowledge, kevala-jnāṇa, and the final delivery, mokkha (Mahānisīha 1,13). The elimination of darts, the unbinding of fetters through āloyaṇā are summarized in Uttarjjhāyā 29, 5 (āloyaṇāe ṇaṃ bhante jīve kiṃ janayai?); but the text states more precisely : ujju-bhāvam ca jaṇayai; ujju-bhāva-padiannev ya nam jīve amāī...na bandhai: the purificatory process is not simply mechanical; it results from the "rectitude" (ujju-bhāva) created by the confession, and from the ensuing truthfulness (cf amāi) that pervades the living being.

The positive character of the āloyanā (eventually called sohi) is fully emphasized in this gāthā of the Vavahara Bhasa:

lahuyā lhāci-jaṇaṇam appa-para-niya-tti ajjavam sohī dukkara-karaṇam viṇao nissallattam va sohi-guṇā[1], "alleviation, glee, the end of one's own and other people's (faults), rectitude, purity, the accomplishment of a difficult deed, good conduct, absence of thorns, (those are) the virtues of purification (=confession)".[2]

It is one of the distinctive features of Mahāvīra's doctrine that it has promoted padikkamana, his law being known as panca-mahavvaiya sapadikkamana dhamma.[1] This padikkamana, or repentance, is closely linked with the confession.[2] The above lists expressly mention their possible mingling in the mīsa (misra), or ubhaya. The padikkamana is defined as the going back to the right place, that had been abandoned due to carelessness : sva-sthānād yat paraṃ sthānaṃ pramadasya vaśād gataḥ, tatraiva kramaṇaṃ bhūyaḥ pratikramaṇam ucyate, (Pravacanasāra 39 a). It is expressed by the formula tassa micchāmi (mi) ukkaḍaṃ, "this my offence (has been due) to error".

The Vav T specifies that the guru should always note the feelings expressed by the defaulter after he confessed. The latter should not be stubborn, but should blame his deed (nindana), and experience remorse (anutāpa): "hā duṭṭhu kayaṃ, hā duṭṭhu kāriyaṃ, duṭṭhu aṇumayaṃ cety anutāpa-karaṇataḥ...(Vav T II 57 b, etc.)

In fact, after his āloyaṇā and paḍikkamaṇa, and before the actual pāyacchitta

2 Vav Bh. I 134 = Nis Bh. 6 391.

the monk, according to the oldest treatises, is prescribed to behave thus: he should[1] blame his deed (a) nindittae, (b) garahittae),[1] 2) turn away (viuttittae) and purify himself from his fault (visohittae), 3) firmly resolve not to repeat it again (akaraṇayāe abbhuṭṭhittae)[2].

Thus, he should recognize the fault as such, loathe it, set himself free from its grip, and, last but not the least, energetically exert himself. Then only he will be ready to perform the appropriate prāyacchitta.

I have given elsewhere the reasons that lead me to believe that the parihāra, at one time, had been the Jaina expiation par excellence[3].

It certainly aims at washing off the stains that were left by bad conduct. But, if we turn to the actual penance, it should be stressed that, while "redeeming" (nivvisamāna) his fault, the parihāriya is engaged in a prominently positive experience.

It starts when the Guru has proclaimed it, in front of the gaṇa, by stating its two essential disposals: 1. the parihāriya should have no communication, no exchanges of any sort (especially no exchange of food) with the monks of his gaṇa. Thus, he is not disturbed by the tasks that usually are incumbent on those who live in and partly for the community; consequently, he should be able to concentrate on himself and his own improvement: esa tavaṃ paḍivajjai na kiṃci ālavati mā ya ālavaha att'aṭṭhacintagassā, vāghāto bhe na kāyavvo[1]: "this one is observing tava (scil. parihāra): he does not speak to any one, nor should you speak to him; no hindrance should be raised, friends, against him who is considering the benefit of his self (or who is meditating for his own benefit).

2. Nevertheless, the penitent is allowed to eventually receive material help from a competent monk (who is specially selected for that prurpose), the aṇupparihāriya; moreover he is normally given spiritual as well as material help by the āyariya. The latter's task consists in:

...aṇusiṭṭhi uvālambhe uvaggahe...[2]:
a) he praises or exhorts the parihāriya,
b) criticizes him with the utmost benevolence c) supplies him with moral and physical support[3].

Thus, although the parihāra was a very difficult expiation, the penitent's life was never endangered, thanks to the presence of the aṇuparihāriya.

On the other hand, due to the fact that he was prevented from all intercourse with the ordinary monks, and to the fact

---

7. a) atma-saksikam; b) guru-sakskam, Vav T, ad Vav. 1, 34.
8. Cf. Vavahara-sutta 1, 34; 6, 10 sq; 7, 1; Kappa-sutta 4, 25; Uttarajjhaya 29, 5 ss.
9. Colette Caillat; Les expiations dans lerituel ancien des religieux jaina, p. 118.
10. Vav Bh. 1, 363=Nis Bh. 6 595.
11. Vav Bh. 1, 374=Nis Bh. 6 605,
12. Those two disposals are signified in the Vavahara-sutta by the formulas thavanijjam thavitta and Karanijjam by the yeyavadiyam "having disposed the disposals," and "the service is to be done" (1, 17 ss, etc.).

that the āyariya took special care to forward his training, the parihāriya was bound to progress intellectually, morally, spiritually, even in a very short time.

Furthermore, it will be noted that his status is related to that of the jiṇakappiya, both of them being niravekkha, "not concerned with the gaṇa" Various dispositions show that his behaviour must be much more circumspect than that of the ordinary bhikkhu. Finally, it is stated that the maximum duration of the parihāra is six months, the alleged reason being that this has been the maximum length of the penances carried on by the last Jaina.[14]

It appears that, while submitting to the parihāra, the monk is made to imitate the Lord Mahāvīra, and to lead the ideal life.

From the previous remarks, whether they concern the āloyaṇā, the padikkamaṇa, or the parihāra, it is clear that the Jaina community, even from its beginnings, cared for more than eliminating the fault and karman: it was eager to help the bhikkhu acquire positive religious virtues, and consciously act according to the highest standards.

'Defer not till to-morrow to be wise,
To-morrow's sun to thee may never rise.'

—Shakespear

---

13. Cf. Caillat, Ibid 45, 52

14. Prayascitta-manam Jinais Tirthakrdbhis trividham sodhi-karam bhanitam, tad yatha: prathama-tirthakarasya dvadasa masah, madhyama-tirthakrtam astau masah, Vardhamana-svaminah satkam san masah: ito 'dhikam na diyate, Vav T. II 79 b).

On the Jaina School of Mathematics

By

L. C. Jain

1. INTRODUCTION

At present, there are only a few articles and works[1] in which one could find an exposition of the mathematical pursuits in the Jaina School of Mathematics. This school appears to have originated soon after Vardhamāna Mahāvīra[2] who was either contemporary to or predecessor of Pythagoras.[3] The school formed mainly of some Nigganṭha ascetics who left a few records of their knowledge, out of which the Ṣaṭkhaṇḍāgama and Mahābandha[4] texts, composed probably during the first two centuries of the Christian era[5], have been recently brought to light by Dr. H. L. Jain and other orientalists. These texts reveal an extra-ordinary measure of achievement in mathematical abstraction. The Dhavalā series of texts[6], a life-work of Vīrasena Ācārya, professedly a commentary on the Saṭkhandāgama" has been regarded a work of first rate importance for the historians of Indian Mathematics[7]. It was this source from which Nemicandrācārya prepared, in the tenth century, an essential work, namely the "Gommaṭasāra", for the study of layman, a review of a part of mathematics of which appeared in 'Mathematics of Nemicandra'.[8] Nemicandra composed the Tiloya-sāra as well, which appears to have been based on an earlier work, the Tiloya-paṇṇatti.[9]

For a survey of development of symbolism in the Jaina school of mathematics, one may find the three types of phases (rhetorical, syncopated and symbolic) respectively in Dhavalā, Tiloya-paṇṇattī and the Gāndhī Hari Bhaī Devakaraṇa publication of Nemicandra's Gommaṭasāra. The last work contains roughly 2800 pages out of which 300 pages of Artha-saṃdṛiṣhṭī[10] is an original work of Pt. Todaramala* of Jaipur. The source of the above type of mathematical achievement appears to be in Kundakundācārya's Parikarma (Circa 2nd century A.D.) which is said to have been a commentary on the first three Parts of Śatkhaṇdagama which has been venerated from its inception.[11] (cf, K.C. Jaina: Kundakunda Prābhṛta Saṃgraha, Sholapur, 1960). In later works there clearly appears a marked diversity in handling of records, resulting in controversies, a modicum of which seem to have been discussed and settled by Vīrasena.[12]

So far, in the history of mathematics, only Mahāvīracarya (A.D. 850) of this

School occupies a place amongst the five great Indian mathematicians of the medieval period. There has not been available any other mathematical work anterior to his, though names of such works are quoted in books on Philosophy[13] and in fathoming the achievements and unravelling the mysterious mathods, one has to depend on the texts in which mathematics lies embedded in Philosophy.

The present article is not a complete account of the achievements of the Jaina School in mathematical abstraction, but rather a presage of what could possibly be done by the mathematical antiquarian who has mainly concentrated upon the works introduced above and said to have been composed by some Teachers of the Digambara School. The mathematics invblved in the exposition of Karmic bondage, for most of its part, has remained untouched in the present treatment because of its intangible extensiveness and profundity. One may confer Kasāya Pāhuda Sutta, Calcutta, 1955, in this connection apart from the above quoted texts.

2. FUNDAMENTALS

Non Universal Mathematics: Looking into the contents of Śaṭkhaṇḍāgama,[14] one finds that the school had invented a novel branch of mathematics, quite apart from what we call the medieval mathematics. In this branch, called as non-universal (lokottarī) mathematics, analysis and calculus of sets (rāśis) appear to have been developed to express and illustrate the abstruse philosophical part of the religious sermons.[15] This may incidentally be compared with

'ἀριθμητική'

(the theory of numbers) which is thought to have been originated in the school of Pythagoras.[16] Akalanka (circa 8th century A.D.)* distinguishes lokottari from the universal (laukika)[17] mathematics which he describes to be of six kinds. The latter is in some respects analogous to the Greek λογιστική (the art of calculation).

Measure:—Lokottari appears to have been woven round the fundamental concept of measure (pramana)[18] which seems to be propounded, particularly in relation to being (sat), number (saṁkheya), quarter (kṣhetra), contact (sparśa), relative or extra-deduction time (vyavahāra kāla), interval (antara), becoming (bhava), and comparability (alpa-bahutva).[19] In the Satkhandamaga, the measure is stated relative to fluent (dravya), quarter (2Ksetra), relative time (vyavahāra kāla) and becoming (bhava).[20] All of these could be correlated and so unified under the scheme of the Number and Simile (upama) measures.[21]

The classification of number with the help of postulated transfinite sets whose cardinals[22] are introduced through comparability methods, forms the subject of number measure.[23] Rasi seems to have been used undefined.

Number measure:—Clearly analogous to the Pythagorean doctrine,[24] the Jaina school held that 'one' denotes the existence of a thing and is not a calculation

number.[25] It is also said to be a voice of the word numeration. Actual numeration is thought to start with the number two, the least numerable (Sj).[26] The bondage between two particles is said to be possible when there is a difference of 'two' indivisible-corresponding sections (avibhagi-praticcheda)[27] of energy. 'Two' also plays a fundamental role as the base of logarithms.[28]

One finds in the Satkhaṅḍāgama that number had been classified into three broad categories : the numerable or the summable (samkheya), the innumerable or the assumable (asamkhyeya), and the endless (ananta).[29] In subsequent works, out of eleven kinds of asamkhyeya, the mathematical asamkhyeya is devided into three classes: the perdu (parita), the yoked (yukta), and the innumerable or the assumable (asamkhyeya).[30] Each of these is further subdivided into the least or the junior most (jaghanya), the medium (madhyama), and the greatest or the uppermost (utkrista).[31] Similar is the treatment of ananta.[32]

In order to treat the finite and transfinite sets used for formal demarcation of the above domains of number, the school used the operation known as spread, give and multiply '(viralana, deya and gunana or vargana-samvargana).[33] It will be convenient to denote the third vargita-samvargita[34] of 2, in the following notation: .

$$\overline{2}|^{3} = (256)^{256} \quad \ldots \quad \ldots \quad (2{\cdot}01)^{53}$$

It will require a long process to acquaint the readers with the number measure, for which we have preferred to follow the following symbolism:—

Sj, Sm, Su, Apj, Apm, Apu; Ayj, Aym, Ayu; Aaj, Aam, Aau; Ipj, Ipm, Ipu; Iyj, Iym, Iyu; Iij, Iim, Iiu. .... (2.02).[36]

The classification is unique and seems to have been devised for the exposition of *Jaina Philosophy*.[37]

While commenting upon the Cūrṇi Sūtras of Yati Vṛṣabha, Vīrasena defines the saṃkhyeya pramaṇa (number measure as the dharma (nature) which exists in the dravyas (fluents) and their guṇas (qualities or Controls) in the form of numbers, eg. *100*, *1000* etc.[38] He adds, 'That with which measure is done is called quantity or number.,[39] He further quotes a Sūtra, "Relative to guṇas and paryayas (events), that dravya is one without leaving the variousness; and is various without leaving its oneness".[40] The Sūtra seems to stress the necessity of introducing saṃkhya pramaṇa.

The senee in which the word, 'infinite qualified a set is clear from the definition quoted by Vīrasena, The set which cannot become a void set, by being exhausted for unending[41] time, has been called ananta (infinite) by the great saints.'[42]

Simile Measure:—The simile measure (upama pramāṇa) is quoted to be of eight kinds[43] and is used to correlate the ultimate fraction of space and relative time. The ultimate fraction of space is a pradeśa, or a spacepoint.[44] It is defined as the quantity of space occupied by an

ultimate particle of matter, the pudgala paramāṇu.[45] The ultimate particle is postulated to be indivisible and endowed with one taste, one colour, one odour as well as two nuances of touch.[46]

An instant (samaya)[47] corresponds to an instantaneous occurrence (vikāra) in a guṇa of a dravya, and is related to displacement of a paramāṇu along space-points. The instant has also been described to be indivisible.[48]

The simile measure establishes a unique relation between the ultimate units of time and distance through the following equation—

$$[\log_2 \text{प}]^2 = \log_2 \text{श्र}' \quad ,\ldots\ldots (2.03)^{49}$$

where प is the set of instants contained in the interval addhā-palya[50], श्र' denotes the set of space-points contained in a specified fingure width. It may be found that $\frac{2880}{3773}$ th part of a second contains Asj instants.[51] The set प may be calculated to have the following value :

$$\text{प} = (\text{Apj})^2 \left[\frac{19}{24}(4)^3(2000)^3(4)^3(24)^3(500)^3(8)^{21}(10)^2(10)^{14}\right] \times \left[2^5.15^2(38\tfrac{1}{2})^2.7^2.\text{Sm}\right]^3 \quad \ldots\ldots(2.04)^{52}$$

A kalpa contains two equal ascending and descending types of periods of time, the utsarpiṇī and avasarpiṇī, each of which contains 10^{15} प instants.[53] The equations (2.03) and (2.04) clearly express that the set श्र' is not an infinite set. We shall discuss this fact ahead in details.

Time and quarter Measures:—We find that the fluent measure (the measure of the number of souls in a certain posture) is further illustrated through time and quarter measures.[54] The fluent measure of the set of the souls having mythic or false outlook (mithya-dṛṣṭi-jīva-rāśi) is expounded to be Ii.[55] The time measure of this set is expounded in the following way.

"Relative to time measure, the set of souls having mythic or false outlook cannot be exhausted by Ii (number of) Avasarpiṇīs and Utsarpiṇīs.[56] Virasena exposes it, in his Dhavala commentary, while using the method of one to one correspondence* between instants and the souls. He supports the anthenticity by stating the fact that, although the set of instants in the past (atīta kāla) has exhausted, the set of the souls still exists non-null.[57]

Now, the fluent measure is to be discriminated from the quarter and the time measures. Vīrasena is found refuting the suggestion as to what is the necessity of the quarter measure, when the quarter with the fluent measure. He argues being a fluent in itself, could be infused that in the fluent measure, the word fluent designates soul and pudgala (Germ., Materie) the only fluents which become the cause of formal change in the rest of the fluents. Further, though inert space (Germ , Raum) cannot be a cause of action for making a change in other fluents, it functions cooperationally as an immersion-causality-continuum (Germ., Platzgewahren) by virtue of accomodating other fluents,

and hence is denominated as a separate (quarter) measure.[58]

The quarter measure of the above set appears as follows :

(The total number of) living beings in hells having mythic or false outlook, relative to field is

$$\text{श्रे} \,.\, (\text{घं})^{\frac{1}{2}} \,.\, (\text{घं})^{\frac{1}{4}} , \qquad \ldots\ldots(2.05)^{59}$$

where, श्रे denotes the set of points contained in a world line (śreṇī), seven rājūs in length. Here the total volume of the bounded universe, loka (Germ,, welt,) containing six fluents (including the space itself and the souls), situated in the very centre of an infinite, unbounded pure space is stated to be $(7)^3$ cubic rājūs [60]

Definition of A Point :- In the above equations, (2.03), and (2.04), the symbols श्रे and घं represent number of space-points in a finite stretch, which may be innumerable and not infinite, consequent upon the way in which the space-point has been defined in the Jaina School. The present day mathematical thougt has, however, decided not to bother with clear and sharp definitions of a number and a point. The 'undefined point' led Georg Cantor and others to prove that the numder of points contained in a finite segment is the power (cardinal) of the set of the non-denumerable continuum, $2^{\aleph_0}$ (two raised to aleph nought) which is found to be the same as the number of points in space, (or instants in any interval) consequent upon the existence of one to one correspondence which sets up equivalence between all such types of sets.[61] The track led to the formation of various schools of thought.[62] as well as to additional concepts of projective and analytic sets.[62A]

An infinite class is defined by Cantor to be that which is equivalent to a part of itself (a distinction, postulated by B. Bolzano, 1781-1848, of prague.)[63] Without this definition of the set, the theory of set of points fundamental in modern analysis would not exist. Thus the theory of defining and treating the above sets in the Jaina school stands face to face with Cantor's geometrical concept. The school appears to conclude that the magnitude of an ultimate particle is that it is of the smallest possible dimension in the form of an ultimate part of matter, (though such particles, infinite[64] low number, have capacity to coexist in a single space-point)[65] and the size of the space-point is simply associated with that of the ultimate particle playing a sensible role in the physical and chemical events. The measure of this in a single direction seems to form a science-like,[66] indivisible unit of measure; their continuous stretch would form a magnitude of relative measure, On such a basis, the number of points contained in a limited segment being at most innumerable and not infinite, Zeno's first and second arguments are disposed of not only in when and how, but also seem to establish that in the abstraction of a modifying universe, the concept of infinite parts of a bounded space is inadmissible. So far as the last two arguments of Zeno are concerned, it appears as if they establish the populational

ultimate particle of matter, the pudgala paramāṇu.[45] The ultimate particle is postulated to be indivisible and endowed with one taste, one colour, one odour as well as two nuances of touch.[46]

An instant (samaya)[47] corresponds to an instantaneous occurrence (vikāra) in a guṇa of a dravya, and is related to displacement of a paramāṇu along space-points. The instant has also been described to be indivisible.[48]

The simile measure establishes a unique relation between the ultimate units of time and distance through the following equation—

$$[\log_2 प]^2 = \log_2 अ' \quad ,\ldots\ldots (2.03)^{49}$$

where प is the set of instants contained in the interval addhā-palya[50], अ' denotes the set of space-points contained in a specified fingure width. It may be found that $\frac{2880}{3773}$ th part of a second contains Ayj instants.[51] The set प may be calculated to have the following value :

$$प = (Apj)^2 \left[\frac{19}{24}(4)^3 (2000)^3 (4)^3 (24)^3 (500)^3 (8)^{21} (10)^2 (10)^{14}\right] \times \left[2^5 . 15^2 (38\tfrac{1}{2})^2 . 7^2 . Sm\right]^3 \quad \ldots\ldots(2.04)^{52}$$

A kalpa contains two equal ascending and descending types of periods of time, the utsarpiṇī and avasarpiṇī, each of which contains $10^{[illegible]}$ प instants.[53] The equations (2.03) and (2.04) clearly express that the set अ' is not an infinite set. We shall discuss this fact ahead in details.

Time and quarter Measures:—We find that the fluent measure (the measure of the number of souls in a certain posture) is further illustrated through time and quarter measures.[54] The fluent measure of the set of the souls having mythic or false outlook (mithya-dṛṣṭi-jīva-rāśi) is expounded to be Ii.[55] The time measure of this set is expounded in the following way.

"Relative to time measure, the set of souls having mythic or false outlook cannot be exhausted by Ii (number of) Avasarpiṇīs and Utsarpiṇīs.[56] Virasena exposes it, in his Dhavala commentary, while using the method of one to one correspondence* between instants and the souls. He supports the anthenticity by stating the fact that, although the set of instants in the past (atīta kāla) has exhausted, the set of the souls still exists non-null.[57]

Now, the fluent measure is to be discriminated from the quarter and the time measures. Vīrasena is found refuting the suggestion as to what is the necessity of the quarter measure, when the quarter with the fluent measure. He argues being a fluent in itself, could be infused that in the fluent measure, the word fluent designates soul and pudgala (Germ., Materie) the only fluents which become the cause of formal change in the rest of the fluents. Further, though inert space (Germ , Raum) cannot be a cause of action for making a change in other fluents, it functions cooperationally as an immersion-causality-continuum (Germ., Platzgewahren) by virtue of accomodating other fluents,

inventing methods for facilitating the stupendous task.

Singh has remarked[76] how Vīrasena quotes verses representing various styles apart from place value for expressing big numbers.[77] It is interesting to see how words and numbers signified a number, 61, 97, 08, 46, 66, 81, 64, 16, 20, 00, 00, 000, in the form of a verse quoted from some older work by Vīrasena.[78]

In the Tiloyapaṇṇatti, the author while describing denominated time units stops for a while at "acalātma" which denotes $(84)^{31}(10)^{90}$ years. This number has been expressed as 84/31/90

Here 31 stands for the product of 84 to be done 31 times into itself, and 90 stands for 90 zeros to be placed after the term as place values.[29]

After this, the auther guides the readers to carry on to Su.[80]

Place Value Notation for Subtraction:– The school is found to use a place value notation for subtraction from factors of numerical or algebraic quantities. This notation has been used in the Tiloyapaṇṇatti[81] and profusely in the commentary of the Gommaṭasara by Todaramala.[82] Todaramala has exposed the use in the following way.

Let ल | ५ | ४ | ३ denote the product ल×५×४×३. If ल or one lac is subtracted from this, then the remaining quantity is written as

१ —Ω—
ल ५ | ४ | ३

The quantity less 5 lacs is denoted as

१ —Ω
ल ५ | ४ | ३

The quantity less 20 lacs is denoted as

१ Ω
ल ५ | ४ | ३

The quantity less 3 lacs is denoted as

३ Ω
ल ५ | ४ | ३

The quantity less 12 lacs is denoted as

१ Ω
ल ५ | ४ | ३

The quantity less 15 lacs is denoted as

१ Ω
ल ५ | ४ | ३

The quantity less 30 lacs is denoted as

२ Ω
ल ५ | ४ | ३

ल ४ | ३ less 12 is denoted as

१ Ω
ल ४ | ३ [83]

The place value notation for subtraction has also been used for fractional and other types of complicated quantities. Thus one can safely conclude that the Jaina School needed the place value notation, not as a fantasy but as a tool to facilitate presentation of their philosophy of numbers used to represent

basis of the concept of the indivisible (*samaya*). However, one may note that in the method of application of areas in Jaina school, illustrated ahead, transfinite numbers are scaled through areas' diagrams.

3. ZERO AND PLACE VALUE NOTATION

Zero as a Circle:— First we see how the symbol for zero, i.e., a small circle[67] was used, for various purposes by the Jaina School.

1) It stands for a negative sign. Todaramala quotes its use in the following form.[68] The expressioin for one crore less one is

०
१
को

The expression for Koṭi less two is

को ०
२

2) It stands for one-sensed soul, two-sensed soul etc., denoted by 0,00, etc. respectively. This has been depicted in a diagramatically symbolic representation in the Dhavala of Vīrasena.[69]

3) It stands for the agṛhīta stage in which a soul does not assimilate karma during a material change (pudgala parivartana)[70] Here the symbol stands for a void.

4) It stands for filling up gaps. This appears in the writing of Mahābandha Sutras[71] where zero has been placed after every incomplete sutra implying bridging. This tendency also appears to have been observed by Todaramala who notes that zero in the intervening spaces stands for bridging. If the last niṣeka is 9 and the beginning one is Karma-sthiti, then all the inter denoted as follows:[72]

९
०
०
०
५१२

5) It stands for a place value following instances :

(a) In the Tiloyapaṇṇatti, So l a product stands for the expression three zeros may be placed after the duct which may denote a product by thousand.[73]

(b) Todaramala expresses the fol wing way in which terms like 65000 we written by his predecessors in the Jain School.[74]

०
६५ ३

Zero in the Place Value System :-The use of zero as a place value, might have preceded or followed the use of other numerals as place values. In the Saṭkhaṇdagama[75], the number of a particular type of human beings is stated as greater than koḍā-koḍā-kodī, $(10^7)^3$, and less than koḍā-koḍā-koḍā-kodī, $(10^7)^4$. The same is simultaneously quoted to be between $(2)^{2^6}$ and $(2)^{2^7}$, which appears to be Neo-Pythagorean. It appears that the Jaina School had a great treasure of knowledge about different types of sets of souls in various types of States. In order to give expression to them for imparting the knowledge to the successors, they might have felt the necessity of

inventing methods for facilitating the stupendous task.

Singh has remarked[76] how Vīrasena quotes verses representing various styles apart from place value for expressing big numbers.[77] It is interesting to see how words and numbers signified a number, 61, 97, 08, 46, 66, 81, 64, 16, 20, 00, 00, 000, in the form of a verse quoted from some older work by Vīrasena.[78]

In the Tiloyapaṇṇatti, the author while describing *denominated time units* stops for a while at "acalātma" which denotes $(84)^{31}(10)^{90}$ years. This number has been expressed as 84/31/90 Here 31 stands for the product of 84 to be done 31 times into itself, and 90 stands for 90 zeros to be placed after the term as place values.[29]

After this, the auther guides the readers to carry on to Su.[80]

Place Value Notation for Subtraction:– The school is found to use a place value notation for subtraction from factors of numerical or algebraic quantities. This notation has been used in the Tiloyapaṇṇatti[81] and profusely in the commentary of the Gommaṭasara by Todaramala.[82] Todaramala has exposed the use in the following way.

Let ल।५।४।३ denote the product ल×५×४×३. If ल or one lac is subtracted from this, then the remaining quantity is written as

१ Ω
ल ५।४।३

The quantity less 5 lacs is denoted as

१ Ω
ल ५।४।३

The quantity less 20 lacs is denoted as

१ Ω
ल ५।४।३

The quantity less 3 lacs is denoted as

३ Ω
ल ५।४।३

The quantity less 12 lacs is denoted as

१ Ω
ल ५।४।३

The quantity less 15 lacs is denoted as

१ Ω
ल ५। ४।३

The quantity less 30 lacs is denoted as

२ Ω
ल ५। ४।३

ल ४। ३ less 12 is denoted as

१ Ω
ल ४।३[83]

The place value notation for subtraction has also been used for fractional and other types of complicated quantities. Thus one can safely conclude that the Jaina School needed the place value notation, not as a fantasy but as a tool to facilitate presentation of their philosophy of numbers used to represent

various types of sets of souls, and mathematics of the Karmic bond as well as that of emancipation of souls from the Karmic bond. There is little doubt that they might have been first to adopt the system immediately after it was invented either by them or by their predecessors in the world.

4. ALGEBRA AND SYMBOLISM

It is worth tracing, how in the Jaina school the science of analysis gave final shapes to the development of algebra and subsequent symbolism. Todaramala's work and those of his predecessors on the exposition of symbolism need to be studied in great details than what it has been possible to sketch here, only its bare outlines observed from the general introduction of the work.

Analysis :-A few elements of analysis have already been traced in the Gaṇita-Sara-Saṃgraha of Mahaviracarya. Division[84] by zero is explained on the basis of distribution.[85] When, out of a number of things, nothing is to be distributed, the question of distribution does not arise and consequently the number remain unaffected. This is analogous to the argument that the null class which has no terms is a fiction, though there are null class concepts.[86] One may find another instance, where he is found to recognize clearly the imaginaries, by arguing that in the nature of things, a negative number has no square root.[87]

One can trace many such instances in the Dhavala commentary. What the Greeks called the method of *reductio-ad-absurdum*, has been used by Virasena, to explain a doubt, in a manner similiar to the dialogues between Simplicius and Salviatus :

Doubt, "How can the measure of the past[89] be established when it is without beginning (anādi)?"

Explanation, "If its measure is not established, its non-existence will be in question and if there happens to be the knowledge of its non-beginning (anāditva), it will be called, 'having beginning' (sādi), but it is not so being contrary to hypothesis."[90]

Logarithms :—The school used the operation of logarithms to the base two in particular and any number in general.[91] The purpose was to explain the distinction between various domains of quarter, simile and number measures. The tendency to give simple expressions of the Neopythagorean type can be traced back to the period of the Saṭkhaṇḍagama, as we have already sketched,[92]

Virasena applies this operation for giving an analytical proof of the following statement :

"The third vargita-saṃvargita of the jaghanya anantānanta, $(\overline{\text{lij}}|^{3})$, is infinite times less than the number of living beings in the universe.[93]" One finds in the treatment of its explanation an extensive use of functions of logarithms to the base two, showing that the school was cenversant with practically all the laws of logarithms.[94] We give here only the following representations ;

$$\log_2 \log_2 \, (\overline{\text{Iij}}|^3 \,) < [\overline{\text{Iij}}|^1 \,]^2 \quad , \dots \dots \dots (4.01)^{95}$$

$$\log_2 \log_2 \log_2 \log_2 (\, \overline{\text{Iij}}|^3 \,) - \log_2 \log_2 \text{Iij} = \text{A.Ipj} \; , \dots \dots \dots (4.02)^{96}$$

It is not possible at present to say whether the above contribution is solely that of Vīrasena. It is just possible that it might have been his predecessors' work, for Vīrasena has not claimed the treament to be his own. It is traced that some of his original contribution is found to be parallel to that in the Tiloya-paṇṇatti, and it seems as if the later scribes who had before them the Dhavala, added the unique findings to the records of the traditional knowledge.[97]

There is one commendable instance, where Vīrasena uses the method of the logarithms to interpret correctly the expression $\log_2 (\frac{\text{श्र}}{7})$ stated in the Parikarma[98], on the basis of the traditional knowledge about the quoted number of all the heavenly bodies.[99] It appears that the definition of a space-point had given the school an advantage in calculating the logarithms of finite widths. Thus, for $\log_2 2 = 1$, $\log_2 4 = 2$, $\log_2 8 = 3$, but for the number between 1 and 4 or 4 and 8 the logarithm to the base 2 was a rough approximation; becuase, in the nature of things a space-point was considered indivisible.*

Other Analytical Methods:-Besides the above, Vīrasena uses eight logical methods to illustrate and explain the hereditary statements. The methods are expressions through measure (pramāṇa), reason (karaṇa), explanation (nirukti), extra-creation (vikalpa), cut (khaṇḍita), division (bhājita), spread (viralana), and removal or subtraction (apahṛta).[100]

The method of vikalpa shows that the school was conversant with the laws of indices and exponentiation for finite and transfinite sets. For example, the set of mithyādriṣṭi (having mythic or false outlook) souls in hell is illustrated through lower vikalpa of 2-form sequence :[101]

$$\text{श्र}(\text{श्र}')^{\frac{3}{4}} = \text{श्र}(\text{श्र})^{\frac{1}{2}} (\text{श्र})^{\frac{1}{4}} \dots \dots \dots$$

$$\dots \dots (\text{श्र})^{\frac{1}{A}} \left[(\text{श्र})^{\frac{1}{A}} \div \frac{\text{श्र}}{(\text{श्र}')^{\frac{3}{4}}} \right] \dots (4.03)$$

At another instance, one finds the following illustration :

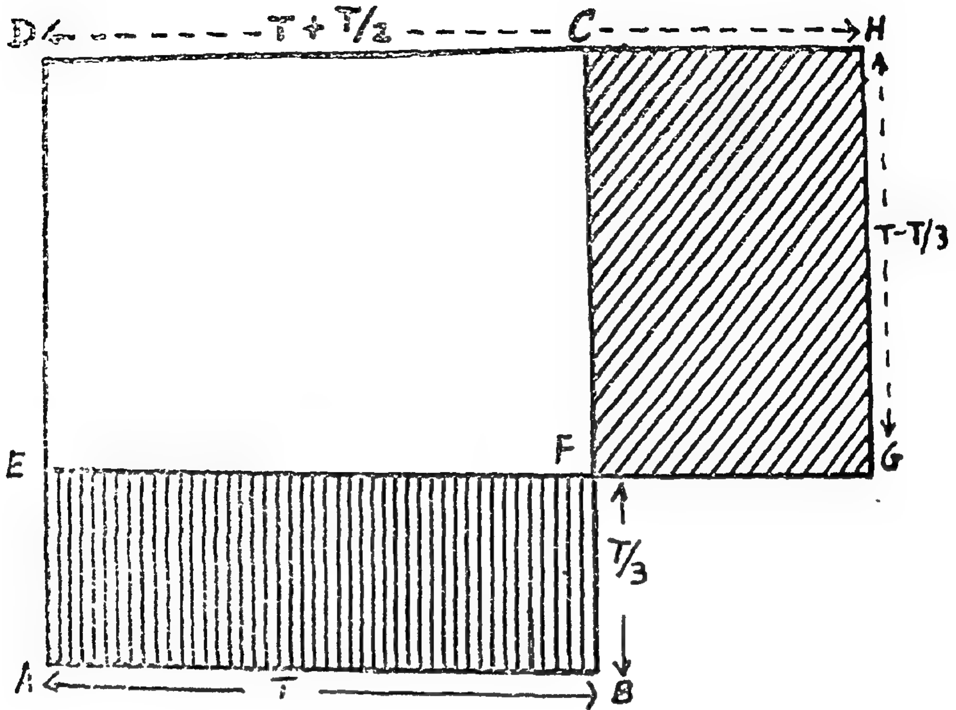
$$(T)^2 \div (n)^{\left\{ \log_n \left[\frac{(T)^2}{g} \right] \right\}} = g \; , \dots \; (4.04)$$

where T is the set of total number of souls g is the set of total number of souls having mythic or false outlook, n and A are innumerable or assumable (asaṃkheya).[102]

The method of kāraṇa at a place, leads one ultimately to the justification for division of infinite sets. It is given as a geometrical representation of an algebraic equation, similar in style to the Greek's method of application of areas.

$$(T)^2 \div \left[T + \frac{T}{2} \right] = \tfrac{2}{3} \, T = \left[T - \frac{T}{3} \right]$$

$$\dots \dots (4.05)^{103}$$



Here, ABCD represents $(T)^2$, the square of the sets of the total number of living beings equal in number to the space points on AB, as scale. The rest is obvious from the figure.

The above is continued by application of subsequent parts of T in the following form :

$$(T)^2 - \left[T \div \frac{T}{3}\right] = \frac{3}{4}\,T = T - \frac{T}{4}, \qquad \text{... ... (4.06)}$$ [104]

$$(T)^2 \div \left[T \div \frac{T}{4}\right] = \frac{4}{5}\,T = T - \frac{T}{5}, \qquad \text{... ... (4.07)}$$

$$(T)^2 \div \left[T \div \frac{T}{Su}\right] = \frac{Su\,.\,T}{Apj} = T - \frac{T}{Apj}, \qquad \text{... ... (4.08)}$$

This is carried on to infinity :

$$(T)^2 \div \left[T \div \frac{T}{1}\right] = T - \frac{T}{1}, \qquad \text{... ... (4.09)}$$ [105]

The above result is then applied in subsequent abstraction reduced in the following form :

$$(T) - [T - (G \div [illegible] \div R)] = T - [T \div ([illegible] \div R)], \qquad \text{... ... (4.10)}$$

Where [illegible] is the transfinite set of emancipated souls and R is the set (T — G — [illegible]) T [illegible] set [illegible] innumerable and not infinite.[illegible] The sets G, [illegible], and R [illegible] subsets of [illegible] T.

Now the above equation is correct only when the L.H.S. is written as

$$(T)^2 \div [T + \{T \div (\text{कि} + R - 1)\}]$$

The author, however, gives the following explanation (nirukti) for its justification, reduced as follows :

$$(T)^2 \div [T + \{T \div (\text{कि} + R - 1)\}]$$

$$= T^2 \div \left[T + \frac{G + R + \text{कि}}{R + \text{कि} - 1}\right]$$

$$= T^2 \div \left[T + \left\{\frac{G}{R + \text{कि} - 1} + \frac{1}{R + G - 1} + 1\right\}\right]$$

Thus, as G>कि, both being proper infinities,

कि + R − 1 in the limit is कि + R,

$\frac{1}{\text{कि} + R - 1}$ is negligible,

and 1 is negligible as compared to T, we have mentioned result.

The method of application of areas arrests our attention here. It is thought by Heath to have originated with the Pythagoreans.[107] From Babylonion records, however, it seems that there might have been a diffusion of such knowledge from the Near East to Greece in a period close to the eve of the Macedonian offensive against the Persian empire.[108]

Now, application of geometric algebra is also found at a few places in Todaramala's Artha-Saṃdṛṣṭi, where the space-points of an area or a volume represent the number of indivisible corresponding sections (avibhāga praticcheda) of knowledge, karmic bond (in its nature, quantity, duration and intensity of fruition), etc.[109] At present one is unable to speculate as to what were the sources of this type of knowledge. It seems as if it stands unique and aloof, though the basis appears to be Babylonian and Greek.

Comparability:—The method of comparability (alpa-bahutva) is used to make one sure about the location of a set among sets, finite and transfinite.[110] In the depiction of quality postures or control stations (guṇa-sthanas) of souls, comparability is defined as the nature (dharma) of number. According to its nature, comparability is said to be of three types: sacitta, acitta and miśra. That which pertains to souls is of sacitta type and that which pertains to remaining fluents or substances is acitta. When the states of knowledge, perception, yoga and intensity of karmic rendering is depicted, the comparability is of noagāma type. All such types of comparability are in general treated in three ways in its own place (svasthāna), in other place (parasthāna) and in general (sarva-parasthāna). For the mixed type of comparability, the comparability of sixteen sets (solaha rāśigata alpabahutva) is worth mentioning.[111]

For comparability of transfinite sets, the symbol ख appears to be used in the Tiloyapaṇṇatti[112] as well as in Arthasa-

ṃdṛiṣṭi[113], either as a multiplier or as a divisor, simply to show that either set contains memders infinite times greater or less in number than those contained in the other. Thus, १६ (numerical symbol or anka saṃdṛishṭi) denotes the transfinite set of all living beings, (the transfinite set of emancipated souls being denoted by ३ and that of remaining souls being denoted by १३. The set of all ultimate particles of matter is denoted as १६ ख. The set of instants (samayas) in total time; (past, present and future), is denoted by १६ खख. Further, the set of space-points (Pradesas) in the whole of space is denoted as १६ खखख. It may be noted that the interpretation of the last symbol given by Jain is not correct.[115]

The set of instants (samayas) in the past forms a series without a beginning, (.. ...... ,4, 3, 2, 1) and its order type is denoted by ω^*. Similarly, the set of instants in the future forms an unending series, (1, 2, 3, 4, ...) whose order-type is denoted by ω (Omega). Vīrasena quotes that ω is infinite times greater than $-\omega$.

In the above description, we have dealt with only few out of several instances of comparability which is unparalleled in historical records.[117]

Progressions, Permutations & Combinations—Yati Vṛṣabha treats comparability of various kinds of magnitudes regarding innumerable or assumable [illegible] islands and oceans on the basis of [illegible] extra-creations [illegible]. He has also given various types of treatment of progressions in [illegible] of Tiloya-Paṇṇatti.[119] This subject has also found its application in the theory of karmic bond.[120]

Datta has already observed, how this school seem to have great liking for the subject of permutations and combinations.[121] Actually, it seems that it was demanded of their philosophy and its teaching that these methods found full scope for extension. Vīrasena quotes a Prakrit verse where the total number of syllables contained in Sruta-jṇana is 1, 84, 46, 74, 40, 73, 70, 95, 51, 615.[122] This is based on the fact that there are 34 vowels and 33 consonants from which total number of syllables which could be formed is 2^{64}-1.[123]

Symbolism:—Traces of tentative development of symbolism may be found in the Tiloya-Paṇṇatti and Artha-saṃdṛishṭi, It is also évident from the treatment of Vīrasena that operational symbolism seem to have been developed by the school much earlier than what is the date of the earliest records, because, without the perfect knowledge of operations, the Śhatkaṇdagama or its Dhavala commentary could not be composed in such a compact form.[124]

We shall now give a sketch of the symbolism exposed by Todaramala, in his introduction of Artha-saṃdṛishṭi. In spite of the admirable attempts of the school, certain defects seem to have crept up in the development of symbolism, One of the defects is quite apparent. The same symbols (sahanānī) has been used to denote different operations, words or numerals, although the same symbol has been used to denote a single representation throughout a particular

topic. Thus one has to be careful to interpret correctly the symbolic representations. The reason for such discrepancy is that the symbolism might have been developed in different parts of India, and by the time of Todaramala, variant records might have been compiled. Todaramala appears to be the last compiler of the available records.

Thus, one finds in Artha-saṃdṛiṣṭi, the following symbols representing more than one meaning :

(1) A single horizontal bar, (—), stands for

(a) a universe-line (jaga-śreṇī) or a distance of seven rajūs,[125]

(b) a positive sign , as in
१—
व २
which denotes
[$\log_2 \log_2$ (अ) + 1],[126]

(c) a negative sign, as in
ल—२ which denotes a lac less two,[127]

and (d) the term, "slightly less" , as in ख—, which means slightly less than (a particular?) infinite.

(2) A set of two horizontal bars = stands for

(a) "filling up gaps" or "etc." for instance, [illegible] = is written for [illegible]
= denotes [illegible]

(c) the āvali , a period of time in which the number of instants is the least yoked innumerable or jaghanya-yukta-asaṃkhyeya. (Ayā),[132]

(d) Sūchī-aṅgula, which we have denoted by अ[133]

(4) A vertical bar (|) stands for

(a) product, for instance, [illegible] २ denotes the product of [illegible] (which stands for Apj) and two,[134]

(b) denoting a "slightly less quantity that what its actual value is", say
1
ख means slightly less than (a particular ? type) of infinite,[135]

(c) denoting addition (particularly in case of fractions) , say, [illegible] means 3/2.[136]

(5) [illegible] stands for

(a) Apj, which is greater than [illegible] by unity,[137]

(b) [illegible] the total number of [illegible]

(6) [illegible] stands for

(a) [illegible] of the [illegible]

[illegible]

which stands for the product ($\log_2$ प) ($\log_2$ प)

For the negative sign, the following symbols appear in the texts :—

(a) ॰·, for instance, ½ ॰ stands for (Ayj—1) or Apu.[141]

(b) — , for instance, ल—२ stands for a lac less two.[142]

(c) ∼, for instance, को ∼ २ stands for a crore less two.[143]

(d) ॰ , for instance, को ॰ २ stands for a crore less two. Another way, ॰ २ ≡ denoted the universe-line-cube (ghana-loka) less two. Similarly ल ॰ १ denoted a lac less one.[144]

(e) ⌣ or), for instance, ल ⌣ ५ or (ल ५) stands for a lac less five.[145]

(f) ÷ sign has been used by Virasena. It also occurs in the Bakhshālī manuscript.[146]

(g) रि or रिण, for instance, [illegible] These symbols have been used throughout, but for the case (a), in the Tiloya-paṇṇatti.[147]

It can be noted that the symbols expressed in (a, [illegible]) and (g) appear to be of older origin. This variety in the writing of symbols is evident because of the spread and propagation of the knowledge in various parts of India. However, the [illegible] seems to be [illegible] meaning [illegible] [illegible] ting. The expression in (e) are also not difficult to correlate.* The Diophantine negative sign and Bakhshalī cross can be correlated on the basis of रिण or रि through palaeographic studies on the basis of the development in the writing of रि in Brahmi or later scripts.[148] It is important to note that a horizontal bar (–) stood for a unit of length of a world-line (jaga-sreṇī), two horizontal bars (=) for a square area with a universe-line as one of the sides, & three horizontal bars (≡) stood for the volume derived from a cube having each side a world-line. Now, this gives us to presume that this symbol may be thought to belong to the period of Nanaghata inscriptions or still later in case we suppose that it stood for unity.*

For the positive sign, the following symbols occur in the texts :

(a) A horizontal bar, –, which we have already mentioned.

(b) The word धण, meaning plus, has been used throughout in the Tiloya-paṇṇatti.[149]

A horizontal bar has also been used for the positive sign in Tiloya-paṇṇatti in the later part of the exposition. This, along with the symbol σ‾, could not be interpreted by Jain, who speculated the possibility of the symbol to be correlated with Greek alpbhabet.[150] Actually the symbol σ‾ — means, "one plus". Similarly, the symbol ≏ has been speculated by Jain to be correlated with the Greek alphabet ∼–, which is actually a negative sign.[151]

There are a few other symbols which are common in Tiloya-paṇṇatti and

Artha-saṃdṛṣṭi. For instance, मू, प, a, १, १६, etc. मू stands for spuare root as an operational symbol which also occurs in the Bakhshali manuscript.[152] Todaramala introduces that केमू१ stands for the first square root of the set of indivisible corresponding-sections of omniscience whereas केमू२ stands for the second squareroot of the same.[153]

5. MENSURATION

Datta has already discussed about the use of various mensuration formulae (especially those regarding a circle) in various Jaina texts belonging to the Svetambara school.[154] The problem, again is regarding the discovery of the dates and the places of origin. No doubt, the Jaina school needed formulae to give details of the cosmography (derived as a heritage) which they propounded mostly through mathematical details. Analytical reasoning may be marked in the formulae used in the Tiloyapaṇṇatti and Dhavala texts.[155] The insight appears both in Vīrasena and Mahavirācārya. Virasena discovers a unique method of finding volume of the frustrum of a cone (a section of conical universe) by exhaustion.[156] It appears, as if, Virasena also contributed to finding the volumes of various layers of atmosphere, surrounding the finite universe (Loka).[157] Here one comes across with a formula of the Babylonian origin (appearing in cuneiform texts, dated somewhere around 2600 B. C.)[158] The formula appears in rather an analysed form :

$$\text{Chord} = \sqrt{\left[4\left\{\left(\frac{\text{diameter}}{2}\right)^2 - \left(\frac{\text{diameter}}{2} - \text{arrow}\right)^2\right\}\right]} \quad \ldots\ldots (5.01)$$ [159]

Similar is the case with that of an arc :

$$\text{arc} = \sqrt{\{2[(\text{arrow} + \text{diameter})^2 - (\text{diameter})^2]\}} \quad \ldots\ldots (5.02)$$ [160]

Regarding the area of a segment one finds in the Tiloyapaṇṇattī.

$$\text{area} = \sqrt{\{\tfrac{1}{4} \,.\, \text{arrow} \,.\, \text{chord})^2 \times 10\}} \quad \ldots\ldots (5.03)$$ [161]

Mahāvīrācārya quotes this as a find value.

The gross value quoted by him appears to be of Chinese origin.[162]

There is also a link, in the formula for finding the volume of the lower universe [163], in the shape of a wedge (vetrāsana)

Then, apart from the values 3 and $\sqrt{10}$ so frequently used in Jaina texts,[165] we find Vīrasena quoting what he calls a still finer value which is

$$3 + \frac{16}{113} + \frac{16}{113(d)} = , \ldots (5.04)$$ [166]

where d is diameter.

The limit $d \to \infty$ makes this similar to the value given by Tsu — Chung-Chih (somewhere around A. D. 476);[167] whereas if d is taken to be unity, it (3.28···) resembles the Egyptian value (other than those given in Moscow and Rhind papyrus [168]. This variable value is surprising. It may be that although Virasena was aware of the two values of π, 3 and $\sqrt{10}$). the latter being also known to the Egyptians); still he used the inaccurate value of $\pi = \frac{371}{113}$, (quoting it to be still finer value) while evaluating the volume of the frustrum of a cone by method of

which stands for the product ($\log_2$ प) ($\log_2$ प)

For the negative sign, the following symbols appear in the texts :—

(a) ⌒, for instance, ½⌒ stands for (Ayj—1) or Apu.[141]

(b) — , for instance, ल—२ stands for a lac less two.[142]

(c) ∼ , for instance, को ∼ २ stands for a crore less two.[143]

(d) ० , for instance, को ० २ stands for a crore less two. Another way, ० २ ≡ denoted the universe-line-cube (ghana-loka) less two. Similarly ल ० १ denoted a lac less one.[144]

(e) ⌣ or), for instance, ल⌣५ or ल ५) stands for a lac less five.[145]

(f) + sign has been used by Vīrasena. It also occurs in the Bakhśā ī manuscript.[146]

(g) रि or रिण, for instance, १४ ३ | रि . चो. १००००० | ३ These symbols have been used throughout, but for the case (a), in the Tiloya-paṇṇatti.[147]

It can be noted that the symbols expressed in (a), (f) and (g) appear to be of older origin. This variety in the writing of symbols is evident because of the spread and propagation of the knowledge in various parts of India. However, the origin seems to be in रिण (meaning minus). Zero denotes absence or wanting. The expression in (e) are also not difficult to correlate.* The Diophantine negative sign and Bakhshalī cross can be correlated on the basis of रिण or रि through palaeographic studies on the basis of the development in the writing of रि in Brahmi or later scripts.[148] It is important to note that a horizontal bar (−) stood for a unit of length of a world-line (jaga-sreṇī), two horizontal bars (=) for a square area with a universe-line as one of the sides, & three horizontal bars (≡) stood for the volume derived from a cube having each side a world-line. Now, this gives us to presume that this symbol may be thought to belong to the period of Nanaghata inscriptions or still later in case we suppose that it stood for unity.*

For the positive sign, the following symbols occur in the texts :

(a) A horizontal bar, -, which we have already mentioned.

(b) The word धण, meaning plus, has been used throughout in the Tiloya-paṇṇatti.[149]

A horizontal bar has also been used for the positive sign in Tiloya-paṇṇatti in the later part of the exposition. This, along with the symbol σ, could not be interpreted by Jain, who speculated the possibility of the symbol to be correlated with Greek alpbhabet.[150] Actually the symbol σ — means, "one plus". Similarly, the symbol ⌒ has been speculated by Jain to be correlated with the Greek alphabet ∼, which is actually a negative sign.[151]

There are a few other symbols which are common in Tiloya-paṇṇatti and

11. L. C. Jain : Tiloya Paṇṇattī ka Gaṇita Reprinted from introduction to *Jambudiva-pannatti Samgaho*; (Sholapur) (1958), 1-109.

12. Vīrasena : Dhavala Tīka—Saman vītaḥ Saṭkhaṇḍagama

(a) Book 1, (1939),
(b) Book 3, (1941),
(c) Book 4, (1942),
(d) Book 10, (1959),

edited by Hiralal Jain (Amaraoti).

13. Virasena : Jaya-Dhavala Sahitama *Kashaya-pahudam*,

(a) Bhaga 1, (1944),
(b) Bhaga 2, (1948),

edited by Phula Chandra & others (Chawrasi Muttra).

14. Bhutabali : *Mahabandho*, (1947), Bhartiya Jnan Pitha, (Kashi)

15. Yati Vṛsabha : *Tiloya-pannatti* ;

(a) Bhaga 1 (1943),
(b) Bhaga 2 (1951),

edited by A. N. Upadhye and H. L. Jain, (Sholapur).

16. Akalanka : *Tatvartha-Vartikam*,
Part I, (1953), Part II (1957), Bhartiya Jnana Pitha, (Kashi).

17. T. Heath : *A History of Greek Mathematics*,

(a) Vol. 1 (1921),
(b) Vol. 2 (1921),

18. J. L. Coolidge : *A History of Geometrical Methods*, (1940), Oxford.

19. E T. Bell : *The development of Mathematics*, (1945), Newyork.

20. B. B. Datta & A. N. Singh : *History of Hindu Mathematics*,

(a) Part I (1935),
(b) Part II (1938), Lohore.
(c) Part I (Hindi translation), 1956, Lucknow.

21. B. Russell : *The Principles of Mathematics*, (1937), New York.

22. E. A. Mazi Arz : *The Philosophy of Mathematics* (1950), New York.

23. S. C. Kleene : *Introduction to Metamathematics* (1952), Amsterdam.

24. A. A. Fraenkel : *Abstract Set Theory*, (1953), Amsterdam.

25. J. F. Kohl : *Das Physikalische und biologische Weltbild der undischen Jain-Sekte*, (1956). The Jain Academy Publications, Aliganj.

26. Joseph Needham : *Science and Civilisation in China*, (1954), Cambridge.

27. L. C. Jain : "Mahavīracarya's *Ganitasara-Samgraha*" 1963 (Sholapur).

exhaustion. [169] It is just possible that he could not stipulate that a finer value would lie between $\sqrt{10}$ and 3, But the above formula (5.04) has some deeper significance, as the Chinese value was used much earlier. My contention is that the variable value of π has something to do with the measure based on the dimensions of ultimate particles, which along the stretch of a finger width are innumerable (2.3). When one takes such a big set of numbers as a measure of a fingerwidth (plethos monadan aoriston), one gets the value correct to a much closer approximation. This contention is rendered reasonable when one finds Virasena stating the thickness of the edge to be one space-point (pradeśa) ane asking to continue the process of cutting the figure innumerable times (and not infinite infinite as Singh[170] puts it) till the indivisible-corresponding section (avibhāga paliccheda) is attained.[171]

Thus it is only these few places where Indian originality stands distinct and correlated with the West and the East.[172]

I should like to acknowledge my gratitude to Pujya Ksh., Sri 105 Manoharji Varni, 'Sahajananda'.

REFERENCES

1. Bibhuti Bhushan Datta : The Bakhshali mathematics, pp. 1–60; The Jain School of Mathematics pp. 115-145; *Bulletin of the Calcutta Mathematical Society*, Vol. XXI (1929).
2. Bibhuti Bhushan Datta : Mathematics of Nemichandra; *The Jain Antiquary*, Vol. I, No. II, Arrah, (1935), 25-44.
3. Bibhuti Bhushan Datta : A lost Jain trealise on Arithmetic ; *The Jain Antiquary*, Vol. II, No. II, (1936), 38-41.
4. G. R. Jain : *Cosmology Old and new* : Central Jain Publishing House, Lucknow (1942).
5. A. N. Singh : Mathematics of Dhavala I; *Shatakhandagama*, Vol. IV, Amaraoti, (1942), V-XXI.
6. A. N. Singh : History of Mathematics in India from Jain sources; *The Jain Antiquary*, Vol. XV, No. II (1949), 46-53.
7. A. N. Singh : History of Mathematics from Jain Sources; *The Jain Antiquary*, Vol. XVI, No. II, (1950), 54-69.
8. Todaramala : Artha-saṃdṛṣṭi; Gandhi Hari Bhai Deo Karana Jain Granthamala, Calcutta.
9. R. D. Mishra : Positive integral kinds of numbers according to the Jain Concept; *The Jain Antiquary*, Vol. XV, No. 1, (1949), 32-40.
10. R. D. Mishra : Mansuration in Jain texts I (Hindi); *Jaina Siddhanta Bhaskara* Bhaga 17, Kirana 1, (1950), 17-23.

*Cf. Jain Sahitya aura Itihasa, (Bombay), (1956), p. 111 [To be precise, the date has been traced to lie between Vikrama Samvat 797 to 837].

17. यथा संख्यामभि संबन्धः ।१। प्रमाणं द्विविधं लौकिक लोकोत्तर भेदात् ।२। लौकिकं षोढा मानोन्मानावमान गणना-प्रतिमान-तत्प्रमाण भेदात् ।३।

Cf. (16), Sutra 3–38/1–3, p. 205.

18. प्रमीयन्ते अनेन अर्था इति प्रमाणं ।

For precise exposition of pramana, refer [12(b)], p. 4 et seq.; [13(a)], pp 10,13 et seq , p 57 et seq.

19. प्रमाण नयैरधिगमः ।।६।। निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानतः ।।७।। सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्प-बहुत्वैश्च ।।८।।

Cf. (16), Sutra 6–8.

20. Akalanka defines measure as follows :

भाव कर्तृ करणत्वोपपत्तेः प्रमाण शब्दस्येच्छातोऽर्थाध्यवसाय : ।।१।।

Cf. (16), 1–10–1, p 49, According to him the fluent measure is defined in terms of an ultimate particle to the great skandha (a type of matter); the quarter measure in terms of a space-point to the whole of universe (loka); the time measure in terms of an instant (samaya), Zeit-atom or now of Zeno) to the infinite (sum total of the past, present and future) time. In Trilokasara, however, the greatest fluent measure is the set of all fluents the least fluent measure being a paramanu Cf. verse 11.

The time measure is of least, medium and greatest kinds. The bhava measure is the knowledge which is least for a suksma-nigoda, greatest for an omniscient and medium for other souls.

21. Yati Vrsabha has differentiated between number and fluent measures, whereas it appears from Akalanka Sutras, that the number and simile measures are comprised in the fluent measure.

तत्र द्रव्य प्रमाणं द्वेधा संख्योपमा भेदात् ।।५।।

Cf (16), 3-38-5, p. 206.

The same is also implied in the following sutra of the Shatkhandagama :

ओघेण मिच्छाइट्ठी दव्व पमाणेण केवडिया, अणंता ।।२।।

Cf [12(b)], 1, 2, 2. p 10. Again, in the field and time measures, the number measure has been used.

22. For comprehensive details of cardinals and ordinals, refer (24) p. 80 et seq., p. 171 et seq. and p. 190 et seq. The definition of the cardinal of a set is open to controversy, due to the results it leads to. However, we way, for our present treatment, understand the cardinal of a set as the measure of the set itself conveying to us the conception of the number of elements it contains–finite or transfinite. The order-type of a well-ordered set is called its ordinal number. I feel that Cantor's definition of cardinals and ordinals could also be interpreted thus : Let us understand the act of first abstraction (through the active faculty of our thought) of the nature of elements to be the types of souls dealt with in control-station (Guna-sthana) and rummage-station (Margana-sthana). Further in case of a set of instants of time, the first abstraction would be about the nature of the element i e its indivisibility & c. So far as order of a set of souls (say soul in hells) is concerned, we may abstract what order it occupies in the comparability (alpa-bahutva) of different sets with which its magnitude is compared. In case of ordered sets, one may

FOOT NOTES

1. See (1)-(11)

2. At present, the prevalent Vira Nirvana Samvat among the Jainas is 2485 which places the Nirvana of Vardhamana Mahavira in 526 B.C. Recently an article appeared in Sanm ti-Sandesa, Jabalpur (March, 1958, year 4th, vol. 3, et seq.) There, the author, Kulbhushana Maharaja, established the Nirvana-Samvat to be 2622, i. e. 663 B. C.

3. According to some sources Pythagoras was born 600 B. C., according to others circa 570 B, C.

4. For details, see introductions of (12)-(14)

5. Cf. [12(b)] intro p. 21, et seq.

6. Dr. H. L. Jain has fixed the date of the completion of this work as 8th October, A. D. 816, on the basis of the interpretation of certain verses related by Virasena, about the positions of the Sun, the Moon and certain planets on the day. cf. [12 (a), intro., p. 39, et seq. Jyoti Prasad Jain has, however, fixed this date to be 16th October, A. D. 780, cf. Anekanta (Saharanapura), Yr. 7, vols. 11, 12; (1945), pp.207-214.

7. Cf. (5), p. iv.

8. Cf (2) for his date and other relevant matter.

9. See (15 (a), (b)) and (11) The author Yati-Vrishabha and his Tiloya-pannatti are to be assigned to some period between A. D. 473 and A. D. 609 Cf; [15) (b)], intro. p. 7 for reference to other works on cosmography in this school, see intro. of Jambudiva-pannatti Sangaho, Sholapur 1958. Cf, also. (25).

10. "Artha-samdrishti" means "The Symbolism for Art or measure". For the date of its author, Todaramala of Jaipur. refer (8). He is said to have completed the work in Vikrama samvat 1818 i, e, A. D. 1761.

*Todaramala has frankly stated that he had to understand the symbolism himself as there was no teacher in his time to explain the symbolism. For this, he went through various readings. available to him at his time. Consequently he has remarked that the exposition he has given may not be taken as finally authentic, but rather may be corrected through research. Cf, (8), (Artha-samdrishti), P. 1.

11 Cf. [12 (a)], intro pp. 20,21. Cf also (6), p 46 et seq.

ज्येष्ठसित पक्ष पञ्चम्यां चातुर्वर्ण्यसंघसमवेतः ।
तत्पुस्तकोपकरणैर्व्यधात् क्रियापूर्वकं पूजाम् ॥१४३॥
श्रुतपञ्चमीति तेन प्रख्याति तिथिरियं परामाप ।
अद्यापि येन तस्यां श्रुतपूजां कुर्वते जैनाः ॥१४४॥

Indranandi-Srutavatara.

12. Ref. [12 (b)], p. 34; [12 (c)], p. 156.; [15 (b)] intro. p. 16 et seq.

13. Cf., Jain Antiquary, Vol. 8, No 2, pp. 110-11.

14. Refer [12, (b) and (c)].

15. The main theme appears to illustrate the measures relating to postures of mundane souls In this connection, comparability of transfinite sets deserves special mention.

16. Cf [17(a)], p. 66 Several Pythagorean schools existed from 550 B. C. to A. D. 250. (Private communication with Dr. B. L. Van der Waerden).

*Cf. Jain Sahitya aura Itihasa, (Bombay), (1956), p. 111 [To be precise, the date has been traced to lie between Vikrama Samvat 797 to 837].

17. यथा संख्यामभि संबन्धः ।१। प्रमाणं द्विविधं लौकिक लोकोत्तर भेदात् ।२। लौकिकं षोढा मानोन्मानावमान गणना-प्रतिमान-तत्प्रमाण भेदात् ।३।

Cf. (16), Sutra 3–38/1–3, p. 205.

18. प्रमीयन्ते अनेन अर्था इति प्रमाणं ।

For precise exposition of pramana, refer [12(b)], p. 4 et seq.; [13(a)], pp 10,13 et seq., p 57 et seq.

19. प्रमाण नयैरधिगमः ॥६॥ निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानतः ॥७॥ सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्प-बहुत्वैश्च ॥८॥

Cf. (16), Sutra 6–8.

20. Akalanka defines measure as follows :

भाव कर्तृ करणत्वोपपत्तेः प्रमाण शब्दस्येच्छातोऽर्थाध्यवसाय : ॥१॥

Cf. (16), 1–10–1, p 49, According to him the fluent measure is defined in terms of an ultimate particle to the great skandha (a type of matter); the quarter measure in terms of a space-point to the whole of universe (loka); the time measure in terms of an instant (samaya), Zeit-atom or now of Zeno) to the infinite (sum total of the past, present and future) time. In Trilokasara, however, the greatest fluent measure is the set of all fluents the least fluent measure being a paramanu Cf. verse 11.

The time measure is of least, medium and greatest kinds. The bhava measure is the knowledge which is least for a suksma-nigoda, greatest for an omniscient and medium for other souls.

21. Yati Vrsabha has differentiated between number and fluent measures, whereas it appears from Akalanka Sutras, that the number and simile measures are comprised in the fluent measure.

तत्र द्रव्य प्रमाणं द्वेधा संख्योपमा भेदात् ॥५॥

Cf (16), 3-38-5, p. 206.

The same is also implied in the following sutra of the Shatkhandagama :

ओघेण मिच्छाइट्ठी दव्व पमाणेण केवडिया, अणंता ॥२॥

Cf [12(b)], 1, 2, 2. p. 10. Again, in the field and time measures, the number measure has been used.

22. For comprehensive details of cardinals and ordinals, refer (24) p. 80 et seq., p. 171 et seq. and p. 190 et seq. The definition of the cardinal of a set is open to controversy, due to the results it leads to. However, we way, for our present treatment, understand the cardinal of a set as the measure of the set itself conveying to us the conception of the number of elements it contains–finite or transfinite. The order-type of a well-ordered set is called its ordinal number. I feel that Cantor's definition of cardinals and ordinals could also be interpreted thus : Let us understand the act of first abstraction (through the active faculty of our thought) of the nature of elements to be the types of souls dealt with in control-station (Guna-sthana) and rummage-station (Margana-sthana). Further in case of a set of instants of time, the first abstraction would be about the nature of the element i e its indivisibility & c. So far as order of a set of souls (say soul in hells) is concerned, we may abstract what order it occupies in the comparability (alpa-bahutva) of different sets with which its magnitude is compared. In case of ordered sets, one may

neglect the first act of abstraction and be particular about their order-types. Then we shall be led to their comparability.

23. संख्यायन्ते परिच्छिद्यन्ते जीवादयः पदार्थाः येन तज्ज्ञानं संख्या ……।

Rajendra Abhidhana Kosa (Ratlam), Vol. vii, p. 67.

24. Cf. [17(a)], p. 69.

25. Cf. (1), p 140. Regarding calculation-creation (ganana kriti) cf. Triloka-sara, v. 16:

एयादीया गणणा वीयादीया हवंति संखेज्जा ।
तीयादीणं णियमा कदित्ति सण्णा मुणेदव्वा ॥१६॥

26. Dr. A. N. Singh has developed this symbolism which I have slightly modified as shown ahead. Cf. (5), pp. XV, XX.

27. Cf. (4), p. 217. The ultimate indivisible part of matter is paramanu which is a fluent associated with infinite types of properties or controls (gunas). each of which has infinite indivisible-corresponding-sections. So is the case with every fluent. Here infinite is used in the sense of a proper infinity.

28. Cf. (5), pp. vii–viii.

29. We denote these, respectively by symbols S, A, and I. The German equivalents for asamkhveya and ananta are Unzahlbarviele and unendlichviele respectively. In my subsequent publications I would like to use X in place of I for ananta.

30. We denote these, respectively by subscripts p, y and a.

31. We denote these respectively by subscripts j, m and u.

32. Cf. [15 (a)], p. 179 et seq.

33 It is important to note the process emp'oyed and results obtained, for getting the yukta variry of asamkhyeya and ananta. The processes differ with the authors viz. Virasena and Yati-vrishabha. The latter, in his Tiloya-pannatti has gievn a very long process, resulting in a far greater amount. His method appears to be older than that given by virasena Cf, (11), p. 57 et seq.

34 Th s word has been used by Akalanka.

यज्जघन्याऽसंख्येयासंख्येयं तद्विरलीकृत्य पूर्वविधिना त्रीन्वारान् वर्गित-संवर्गित उत्कृष्टासंख्येयासंख्येयं प्राप्नोति ।

Cf. (16), 3-38-6, p. 207

35 Cf. (5), p. xi.

36. Singh uses a and A, for A and I respectively, used here. For a detailed exposition, refer (5), pp. xv-xx; (11), pp 55-62; and (4), pp. 103-110; Refer also (1), p. 140 et seq.

37. This fact can be marked well in [12(b)].

38. सयं सहस्समिदि दव्वगुणाणं संखाणं धम्मो संखा पमाणं ।

Cf [13(a)], p. 38.

39. हृ ६. मीयतेऽनयेति मात्रा संख्या ।

Cf. [13(b)], p. 6.

40. "नानात्मतामप्रजहत्तदेकमेकात्मतामप्रजहच्च नाना ।
अंगांगि भावात्तव वस्तु यत्तत् क्रमेण वाग्वाच्यमनन्तरूपम्" ॥४॥

Cf. [13(a)]. 1, 2, 1, p 6.

For comparison with Greek and modern concepts of number, Cf. [17(a)], p. 69; (21), p. 116; (18). p. 27.

41 The word, unending" would be clear, after we have introduced comparability regarding certain transfinite sets. We shall give their description in brief in the later part of this article,

42. "संते वए ण णिट्ठादि कालेणांतएण वि ।
जो रासी सो अणंतो ति विणिद्दिट्ठो महेसिणा ।।३०।।

Cf [12(c)], 1,5,4, p. 338.

43. एत्तो सेढिस्स घणप्पमाणाण णिण्णयरं परिभासा उच्चदेपल्लसमुद्दे उवमं अंगुलयं सूइपदरघणणामं । जग सेढिलोयपदरो अलोओ अट्ठप्पमाणाणि ।।९३।।

Cf. [1r(a)], p 11.

उपमाप्रमाणमष्टविधं पल्यसागरसूचीप्रत्तरघनांगुल जगच्छ्रेणीलोकप्रतरलोक भेदात् । ६ ।

Cf, (16), 3-38-6, p. 207. Cf also [12(b)], 1, 2, 17, p. 132, verse 65.

44, Germ, Raumatome. For the details of distribution of space-points in space, see (25), p. 20 et. seq.
Cf. also (16, 8/1-22/.

45, प्रदिश्यन्त इति प्रदेशाः । ३ । परमाण्वस्थान परिच्छेदात् । ४ । एक द्रव्यस्य प्रदेश कल्पनोपचारे इति चेत्; न; मुख्य क्षेत्र विभागात् । ५ । निरवयवत्वानुपपत्तिरिति चेत्; न; द्रव्य विभागाभावात् । ६ ।

Cf. (16), 5-8-3/4/5/6, pp. 449, 450.

Germ, stoffatome.

46. अन्तादिमध्यहीनः अविभागोऽतीन्द्रियः एकरसवर्णगन्धः द्विस्पर्शः परमाणुः ।

Cf (16). 3-38-6, p. 207.

Cf. also (25), p. 31 et seq. Cf. also (4), p. 157 et seq.

47. The instant (Samaya) may be said to analogous to the "now" of Zeno for the way it has been used by the Jaina school. Germ., Zeit atome.

48. अणोरण्वंतरव्यतिक्रम कालः समयः ।

Cf. [(12(c)], 1, 5, 1, p. 318.

समयावलिउस्सासा पाणा थोवा य आदिया भेदा[1] ।
ववहारकालणामा णिद्दिट्ठा वीयराएहिं ।। २८४ ।।
परमाणुस्स णियट्ठिदगयण पदेसस्सदिक्कमणमेत्तो[2] ।
जो कालो अविभागी होदि पुढं समयणामा सो ।। २८५ ।।

Cf. [15(a)]. p. 176.

जलानलादिभिर्नाशं यो न याति स पुद्गलः ।
परमाणुरनन्तैस्तैरणुःसोऽत्रादि रुच्यते ।। २५ ।।

Cf. (27), 1, 2, 5, p. 4.

49. अद्धारपल्लछेदो तस्सासंखेय भागमेत्ते य ।
पल्लघणंगुलवग्गिद संवग्गिदयम्हि सूइजगसेढी ।। १३१ ।।

Cf. [15(a)], 1·137, p. 16.

50. ववहारुद्धारद्धा तियपल्ला पढयम्मि संखाओ । विदिए दीवसमुद्दा तदिए मिज्जेदि कम्मठिदी ।।

Cf. [15(a), 1·94, p. 11.

51. [Cf. 12(b)], intro p 34.

52. Cf. (11), p. 21 & p. 104. Cf. also [12 (a)] p. 33 et. seq.

53. Cf. [12 (b)], intro. p. 35.

54 The knowledge of the three types of measure is stated to be the "becoming measure" (bhava pramana).

55. ओघेण मिच्छाइट्ठी दव्व पमाणेण केवडिया, अणंता¹ ॥ २ ॥

Cf. [12(b)], 1, 2, 2, p. 10.

56. 'अणंताणंताहि ओसप्पिणि उस्सप्पिणिहि ण अवहिरंति कालेण' त्ति ज्ञापकाद्-वसीयते यथा अनन्तानन्ता मिथ्यादृष्टय इति, व्याख्यानतो विशेष प्रतिपत्तिरिति न्यायाद्वा ।

Cf. [12(b)], 1, 2, 2, pp. 18-19.

57. तेण कारणेण मिच्छाइट्ठि रासी ण अवहिरिज्जदि, सव्वे समया अवहिरिज्जंति ।

Cf. [12(b)], 1, 2, 3, p. 20.

* This method is found to be used by Galileo and later by Cantor, cf. (19), p. 273.

58 Cf. [13 (a)], p. 39, et seq.

59. खेत्तेण असंखेज्जाओ सेढीओ जगपदरस्स असंखेज्जदिभाग मेत्ताओ । तासि सेढीणं विक्खंभ सूची¹ अंगुलवग्गमूलं विदियवग्गमूलगुणिदेण² ॥ १७ ॥

Cf. [12(b)] 1, 2, 17, p. 131.

*Such attempts for expressing numders through geometry was not uncommon with the Pythagoreans.

60. Cf. (4), pp. 116-17, Cf. also (11), pp. 18-40.

61. Cf. (24), p. 70, et seq.

62. See (22)-(24).

62A W. Sierpinski, "PROJECTIVE AND ANALYTIC SETS", Scripta Mathematica, vol. Xxvi, no. 3, 1963, pp. 187-195.

63. Cf. (19), p. 273.

64. Proper infinity.

65 "..............अणंताणंतपरमाणुसमुदयसमागमेण विणा एविकस्से ओसण्णासण्णियए¹ वि संभवाभावा ।"

Cf. (12(c), 1, 3, 2, p. 23.

"अनन्तानन्तपरमाणुसंघातपरिमाणादाविर्भूता उत्संज्ञासंज्ञैका ।"

Cf. (16), 3-33-6, p. 207.

66. वस्तु प्रतिविज्ञप्तिर्विज्ञान²मिति ।

Cf. (16), 1-1-45, p. 13.

67 Todarmala notes that Zero was also represented by the letters ऋकार अकार and नकार Cf. (5), p. 2. See [40(c)] p. 70 et seq. for other applications regarding use of this type of notation.

68. cf. (8), p. 9

69. cf [12 (d)], p. 421 et seq. In Bakhsali manuscript, o stands for an unknown term. cf. (1), p. 23 et seq.

70. cf. (8), p. 23.

71. See (14)

72. Cf. (8), p 3. It will appear later that the school made a frequent use of $\sqrt{10}$ as the value for π, writing of which demands filling up a gap after 9, Cf. (8), p. 57 also [15 (a)], chapter 4, sutras 1287-1291, p. 314

73 Cf. (11), p 21.

74. Cf. (8) p. 3.

75. मणुसपज्जत्तेपु मिच्छाइट्ठी दव्वपमाणेण केवडिया, कोडाकोडाकोडीए उवरि कोडाकोडाकोडाकोडीए हेट्ठदो[1] छण्हं वग्गाणमुवरि सत्तण्हं वग्गाण हेट्ठदो[2] ॥ ४५ ॥

Cf. [12(b), 1, 2, 45, p. 253.

76. Singh has made special mention about the use of the following style regarding depiction of 79999998, which he felt belonging to some Jaina work written in the early centuries of the christian era and certainly before A. D. 500.

"सत्तादी अट्ठंता छण्णव मज्झा य संजदा सव्वे ।
तिगभजिदा विगगुणिदापमत्तरासी पमत्ता दु[1] ॥ ५१ ॥

Cf. [12(b)], 1, 2, 14, 51, p 98.

77. Cf. (12 (c)), intro , pp. iv. v.Cf also (6), p. 48, Cf. also (2), p. 27 et seq. This topic deserves a special study.

78, गयणट्ठ-णय-कसाया चउसट्ठि-मियंक-वसु-खरा-दव्वा ।
छायाल-वसु-णभाचल-पयत्थ चंदो रिदू कमसो ॥ ७१ ॥

Cf. [12(b)]. 1,2, 45, 71, p. 255.

For other styles see [12(b)], pp. 99, 256; and appendix, p. 10.

79. एक्कत्तीसट्ठाणे चउसीदिं पुह पुह ठुवेदूणं ।
अण्णोण्णहदे लद्धं अचलप्पं होदि णउदि[6]सुण्णंगं ॥ ३०८ ॥

८४।३१।६०, Cf. [15(a)], Chapter 4, sutra, 308, p. 178.

80. "एवं एसो[7] कालो संखेज्जो वच्छराण गणणाए ।
उक्कस्सं संखेज्जं जावं[8] तावं पवत्तेग्रो[9] ॥ ३०९ ॥

Cf. [15(a)], Chapter 4 Sutra, 309, p. 178.

Here the word जावं तावं is Yavattavat. Hindu mathematicians used this word as a symbol for the unknown which is inconsistent with its meaning. Cf. (1), p. 26 et seq. The Jaina school appears to use the word in its correct sense. Cf. (1), p. 119 et seq. B. Datta remarks, "It has been suggested that it is connected with the definition of the unknown quantity given by the Greek Diophantus (C. 75 A. D.) as "containing an indeterminate or undefined multitudes of units." (ple'thos monadɩn aoriston)[1]." In this connection one may note that Su=Apj—1, and hence जावं तावं appears to have been used in the sense of the Greek expression also.

81. Cf [15 (b)], p. 609.

82 See (8)

83. Cf (8), pp. 20-21.

84, Cf (27), Chap. 1, sutra 49.

85. The details of such methods prevalent in this school are given ahead,

86. Cf. (21), p 81.
87. Cf. (19), p. 175.
88 This method was probably used by the Pythagoreans. Cf. [17(a)] p. 168.
89. The past is a set of the order type denoted as $^*\omega$. This contains elements in the order given by (.........4, 3, 2, 1) Actually the set is understood to contain indivisible instants, which lapse in the order given above. The set has no first member.

90, अण्णाइस्स अदीदकालस्स कधं पमाणं ठविज्जदि ? et seq.

Cf. [12(b)], 1, 2, 3, p. 30.

91. Singh is first to recognize this fact. Cf. [12(c)] p. vii, et. seq. Cf. also [12(b), p. 56 et seq.
92. Cf. [20(a)], p. 12.
93. एसो सव्वजीवरासीदो किंचूणमिच्छादिट्ठिरासीदो, य अणंतगुणहीणो त्ति कधं जाणिज्जदि ?वुच्चदे–

Cf. [12(b)], 1, 2, 3, p. 21 et seq.

We have to mark the following points here. When two proper infinities are compared, they may either be equivalent, or either of them contain members which are infinitely great in number than those in the other set. The definition of equivalence between two sets lies on the basis of one to one correspondence.

94 For the rules in Prakrit verses, Cf. Trilokasara, verses 105—108.

95. Cf [12(b)], p. 24

96 Cf. [12(b)], p 25 Here A stands for Aam.

97. See [15(b)], intro., p. 16 et seq.

98 Parikarma literally means, "fundamental operations." It has been traced that another commentary on the first three parts of Shatkhandagama was written by some ascetic Padmanandi of Kundkundapur just after (?) Yati Vrsabha. This is said to consist of twelve thousand stanzas, and is not available at present.

Cf. Jaina Sahitya aur Itihasa, Bombay. (1942), p. 10.

99. एसा तप्पाओग्गसंखेज्ज–रूवाहियजंबूदीव छेदणयसहिददीवसायररूवभेत्तरज्जुच्छेदपमाणपरिक्खाविही ण अण्णाइरिओवदेसपरंपराणुसारिणी, केवलं तु तिलोयपण्णत्तिसुत्ताणुसारी जोदिसियदेवभागहारपदुप्पाइयसुत्तावलंविजुत्तिवलेण पयदगच्छसाहणट्ठमम्मेहि परूविदा, प्रतिनियतसूत्रावष्टम्भवल-विजृंभितगुणप्रतिपन्नप्रतिवद्धासंख्येयावलिकावहारकालोपदेशवत् आयतचतुरस्रलोकसंस्थानोपदेशवद्वा ।

Cf. [12(c)], 1, 4, 4, p. 156 et seq. Cf. also [15(b)], pp. 764-67. Cf. also (11), pp. 99-102 * Cf. [12(b)], pp. 34 et seq.

100. मिच्छाइट्ठिरासिस्स पमाणविसए सोदाराणं णिच्छउप्पायणट्ठं मिच्छाइट्ठिरासिस्स पमाणपरूवणं वग्गट्ठाणे खंडिद-भाजिद-विरलिद-अवहिद-पमाण-कारण-णिरुत्ति-वियप्पेहि वत्तइस्सामो ।

Cf. [12(b)], I, 2, 5, p. 40

101. अहवा अवहारकालेण सेडितदियवग्गमूलमवहरिय लद्धेण तं चेव गुणिय तेण सेडिविदियवग्गमूलं गुणिय तेण पढमवग्गमूलं गुणिय तेण गुणिदरासिणा सेडिम्हि गुणिदे मिच्छाइट्ठिरासी होदि । एवं हेट्ठा वि जाणिऊण वत्तव्वं ।

Cf. [12(b)], 1, 2, 17, p 152.

102. एवं भागहारस्स तिगच्छेदणाए सलागा काऊण तीहि तीहि सरूवेहि रासिम्मि भागे हिदे वि मिच्छाइट्ठिरासी आगच्छदि । एवं चउक्कादिछेदणयसलागाहि वि रासिम्हि छिज्जमाणे मिच्छाइट्ठिरासी आगच्छदि त्ति परूवेदव्वं । एवं संखेज्जासंखेज्जाणंतेसु वग्गट्ठाणेसु उवरि वत्तव्वं ।
Cf [2(b)] 1, 2, 5, p 56. The process could be continued to infinity i. e. till n and A are each infi .ite

103. सव्वजीवरासि वग्गक्खेत्तं पुव्वावरायामेण तिण्णि खंडाणि करिय तत्थेगखंडं घेत्तूण खंडं करिय संधिदे सव्वजीवरासिदुभागवित्थारं वेंति । भागायामखेत्तं होदि । एदं अधियविरलणाए दिण्णे एक्केक्कस्स रूवस्स तिभागहीणसव्वजीवरासी पावेदि ।
Cf. [12(b)], 1, 2, 5 p. 44.

104 तिभागब्भहियसव्वजीवरासिणा सव्वजीवरासिउवरिमवग्गे भागे हिदे किमागच्छदि ? चउब्भागहीणसव्वजीवरासी आगच्छदि ।
Cf.[12(b)], 1, 2, 5, pp. 44, 45.

105. अणंतभागब्भहियसव्वजीवरासिणा तदुवरिमवग्गे भागे हिदे किमागच्छदि ? अणंतभागहीणसव्वजीवरासी आगच्छदि ।
Cf [12(b)], 1, 2, 5, p. 46.

106 Cf. [12(b)], intro.

107. Cf. [17(a)], pp. 150 and 354.

108 Cf. O. Neugebauer : The exact sciences in antiquity, Providence (1957), p. 149 et seq.

109. Cf. (8), pp. 24, 137, 210, 213, 214, 236. In this connection, the method of illustrating measure according to field or area which we have already mentioned comes under the same catagory. We may also quote a verse where there is a mention of the eight root of a measure of width of an area used for further illustration of fluent measure of a type of souls :

खेत्तेण असंखेज्जाओ सेढीओ जगपदरस्स असंखेज्जदिभागमेत्ताओ ।
तासिं सेढीणं विक्खंभसूची[1] अंगुलवग्गमूलं विदियवग्गमूलगुणिदेण[2] ॥१७॥
Cf. [12(b), 1, 2, 17, p. 131. Cf. also ibid, verses : 52, 59, 6· etc

110. संख्याताद्यन्यतमनिश्चयेऽपि अन्योन्यविशेषप्रतिपत्त्यर्थमल्प बहुत्ववचनम् ।१०।
Cf (16), 1-8-10, p. 42.

111. Cf. [12(b)], pp. 30, 31.

112. Cf. [15(a)], Verses 1-91, 4-55, 56.

113. Cf. (8), p. 5 et seq. The following description is based on Todarmala's Arthasamdrshti.

114. Cf [12(b)], intro. p. 37 et seq.

115 Cf. (11), p. 18 The interpretation of $\frac{23213}{105409}$
(Cf ibid, pp. 49,50) should also be considered in the above light.
Cf. [15(a)], 4-57, p. 148.

खवपदरसंसस[6] पुढं गुणगारा होदि तस्स परिमाणं ।
जाण अणंताणंता परिभासकमेण उप्पण्णा ॥ ५७[7] ॥
Cf. [12(b) 1, 2, 3, pp. 30, 31.

116 अदीदकालो विसेसाहिओ । केत्तियमेत्तेण ? सिद्धकालमेत्तेण । ....
....सव्वपोग्गलदव्वादो अणंतगुणो । । सव्वद्धा विसेसाहिया । केत्तियमेत्तेण ?
वट्टमाणातीदकालमेत्तेण । अलोगागासमणंतगुणं । को गुणगारो ? सव्वकालादो अणंतगुणो ।
Cf. [12(b)] 1, 2, 3, pp. 30, 31.

117. According to Kamke, these order types are not comparable. Cf. E. Kamke : Theory of Sets, (1950), p 58, (New york). (The negative integers and the positive integers have the same cardinality No (aleph nought) Cf. F. Hausdorff: Set Theory, (1962), p 41, (New York).

Sets seem to be analysed through eight methods out of which the method of extra creation (vikalpa) consists in the analysis of fourteen types of sequences (dharas) formed from the greatest set of indivisible-corresponding-sections of omniscience. Here seems to be an implicit use of the axiom of choice. In the above process various types of finite and transfinite subsets of omniscience are located. Cf Trilokasara, verses 53-91.

118 एत्तो दीवरयणायराणं एऊणवीसवियप्पं अप्पाबहुअं वत्तइस्सामो ।
Cf [15(b)], 5.244, p 563.

119. Cf (11), pp. 41–45. Cf. also pp. 69-75.

120 See (8),

121. Cf. (1), pp 133 136. Cf. also (2), pp. 38-44.

122. पंचक्क छक्क एक्क य दु-पंच णव सुण्ण सत्त तिय सत्त ।
सुण्ण दु-चउक्क सत्त छ चदु चदु अट्ठेक्क सुद वण्णा[६] ।। ३३ ।।
Cf. [13(a)], pp. 89 et seq.

123. चउसट्ठिपदं विरलिय दुगं च दाउण संगुणं किच्चा ।
स ऊणं च कए पुण सुदणाणस्सक्खरा होंति ॥
Cf. also [17(a)], p. 319.

* Todaramala defines Artha as the measure (pramana) of fluent (dravya), quarter (kshetra) time (kala), and becoming (bhava); Samdrishti means symbolism or notation.

124 See [12(b)]. Due to absence of earlier records, it is doubtful to ascribe the date of development of symbolism earlier than the period of Nanaghata inscriptions. It will be better if the date is studied by palaeographists.

125. Cf (S), p. 8 Cf. also [15(a)], chap. 1—verse 91.

126. Cf (S), pp. 6, 7, S 15, 18, 20, 21.

127. Cf. (S), p 9.

128. Cf. (S), pp. 9, 23.

129. Cf. (S), p 2, Cf. also (2), p. 29.

130. Cf. (S), p 5, Cf. also [15(a)], Chapt. 1, verse 91 and at several other places. Cf. also (11), pp. 18, 85. Cf. also [15(b)], chap. 7, verses 5-6.

131. Cf (S), p 3.

132. Cf. (S), p 4 Ghanavali (Cubic trail) is denoted by 8. Cf. also (11), p. 79 et seq.

133. Cf (S), p 5, Ghanangula (cubicfinger) is denoted by 6. Cf. also (11), p. 23,

134 Cf (S) p. 6 Cf also (11), p 21.

135. Cf. (S), p 8

136. Cf. (8), p. 11 Cf. also [15(b)], p. 771 et seq.
137. Cf. (8), p. 4.
138. Cf. (8), p. 4.
139. Cf. (8), p. 5.
140. Cf. (8) p. 5.
141. Cf. (8), p. 4. Cf also [15(b)], p. 609.
142. Cf. (8), p 9.
143. Cf. (8), p. 9
144. Cf (8), p. 9.
145 Cf. (8), p. 9.
146. Cf. [12(d)], 4, 2, 4, 32, P. 151. The sign is found in the following statement.

"............... सोज्झमाणादो एदिस्से रिणसण्णा ।"

147. Cf [15(a)], p. 20. Cf. also [15(b)], p. 769 where the following statement occur :

−७ रिण १००६१ रिण दंड ४२५ रि वा १ ।
७

*They seem to be correlated to the symbol for ई used prior to Ashok [vide भारतीय प्राची लिपिमाला (1959), p 47]. The symbols expressed in (b) and (c) may be seen to be of 3r century B. C. [Ibid, plate 1]

148. For other opinions, see [20(b)], p 14. See also [17(b)], p. 459. As per recores of Tiloya pannatti it seems as if the writing of the symbol in (a) might have followed the writ of the symbol in (g). If the use of the symbolism in [15(b)] is as old as the work itsel one could say that it is as old as the tradition vide the writer's version (cf. [15(b)], 597). The tradition, then may date back to the time of the earliest records or to time when such lessons, were imparted to the posterlority.
149. See [15(a)] and [15(b)]. In Bakhsali manuscript, the letter यु derived from (yuta) h been used for the plus sign. Cf. (4), p. 28, 39, 41.
150 Cf. (11), 11, 12, pp. 80, 81, 83.
151. Cf. (11) pp. 11, 12, 83.
152 Cf. (1), p. 24 et. seq.
153. Cf. (8), p 5. It is in itself a difficult task to explain the meaning of the set of indivisib corresponding—sections of omniscience. It can be best understood after a study of few works on Dravyanuyoga. Every instant (Samaya), an omniscient is said to kn all the events (paryayas) of all types of controls (gunas) of all fluents (dravyas) of a instants (past, present and future)
154. Cf. (1), pp. 124—132.
155. Refer (11), (7) and (12).
156. Cf. (7), p. 54 et seq. Singh has formed, herein, the use of various principles of defo... tion. For Greek's contribution, cf. (17-a), p. 222.
157. Cf. (12 c), pp. 51, 56. Cf. also (15a), pp. 41-50 and (11), p. 36 et. seq.
158. Cf. (18), p. 7.
159. रुंदद्धं इसुहीणं वग्गिय अवणिज्ज रुंददलवग्गे ।

सेसं चउगुणमूलं जीवाए होदि परिमाणं ॥१८०॥

Cf. (15-d), 4.180, p. 163.

Arrow is the height of the segment.

160. बाणजुदरुंदवग्गे रुंदकदी सोधिइण दुगुणकदो ।

जं लद्धं तं होदि हु करणीचावस्स परिमाणं ॥ १८१ ॥

Cf. (15-1), 4.181, p. 163.

Trust Fund or Estate either by public auction or by private treaty at such price or prices and on such terms and conditions relating to title or otherwise in all respects as is reasonable and to buy in, rescind or vary any contract for the sale thereof and to re-sell the same, and for that purpose to execute all necessary conveyances, transfers or other assurances and to pass valid and effectual receipts and discharges for all moneys.

7. The Trustees may raise or borrow money required for the purpose of the Trust on a mortgage or pledge of the Trust properties or any part thereof with or without any security and at such rate of interest and on such terms as they may in their absolute discretion think fit.

8. The Trustees may from time to time purchase, take in, exchange or otherwise acquire for the benefit of the Trust any movable and/or immovable property and any rights therein at such price or for such consideration and on such terms and conditions as they may think proper.

9. The Trustees shall maintain regular accounts of the receipts and expenditure in respect of or in course of management of Trust properties or in relation to the carrying out of the objects and purposes of the Trust as well as of all the assets, credits and effects of the Trust properties.

10. Unless otherwise decided by the Trustees; the accounts of the Trust shall be made up annually to 31st March each year and the same shall be audited by a person qualified to act as an auditor of a company.

11. The Trustees may invest the Trust Fund either in the purchase or mortgage of immovable property on in such investments authorised by the Indian Trust Act, 1892, or in shares and debentures of a company or companies whose such shares or debentures are quoted in any Stock Exchange of India with power to the Trustees to alter, vary or transpose such investments from time to time in such manner as they may in their absolute discretion think fit.

12. The Trustees may from time to time open and maintain in their own name or in the name of the Trust a banking account or accounts in a scheduled bank or banks and such account will be operated by two Trustees jointly or by any one of the Trustees jointly with any other person authorised to act on this behalf,

13. The Trustees may pay all charges and outgoings payable in respect of any immovable property for the time being forming part of the Trust Fund and may carry out repairs required to be done to the same and keep the same insured against loss or damage by fire and may incur all other costs, charges and expenses of and incidental to the administration and management of the Trust Estate and

NOW THIS DEED WITNESSETH AS FOLLOWS :

1. In pursuance of the said desire of the Settlor, the Settlor doth hereby transfer, assign and made over to the Trustees the sum of Rs. 1001/- (Rupees One Thousand One) only to TO HOLD the said sum and the investments for the time being representing the same and all other properties and/or sums of money that may for the time being form part of the Trust Fund upon the Trust and to the uses subject to the powers, provisions and declarations hereinafter declared of and concerning the same.

It is also provided herein that after the death of the Settlor the net assests failing in his share in the firm of Chhotelal Sarawgee & Co. will be given to this Jain Trust irrevocably by the other Partner of the Firm of Chhotelal Sarawgee & Co. after realising the same.

2. The Trust shall be named and called JAIN TRUST having its office situated at 24 Netaji Subhas Road, Calcutta or such place or places as the Trustees may decide from time to time.

3. The object of the Trust shall be to hold the property under trust wholly for charitable purposes and the income derived from such property shall be applied to and/or accumulated for application to charitable purposes in India. The words "Charitable purposes" shall include relies of the poor, education, medical relief, hospital, literature, culture, scholarships and the advancement of any other object of general public utility irrespective of caste, creed, community, sect, etc. not involving the carrying on of any activity for profit and will also include establishment of a Charitable Dispensary or Hospital at Khandgiri-Udaygiri near Bhubaneswar (orissa) to be named Kharavela Jain Chikitsslaya or Hospital.

4. The Trustees shall be entitled out of the income of the Trust to make any grant or donations for the furtherance of any of the objects of the Trust aforesaid.

5. The Trustees may accept any donation or contribution in cash or in kind from the Settlor or any other person or persons, Trust, Fund, Firm or Campany for the furtherance of the objects of the Trust or for any one or more of them upon such terms and conditions as they may in their absolute discretion think fit, not inconsistent with the objects of the Trust. The Trustees may also take over the management of any public charitable institution or funds on such terms as they think fit any may manage such institution.

6. The Trustees may sell in the furtherance of the objects of the Trust such portion or portions of the movable or immovable properties forming part of the

Trust Fund or Estate either by public auction or by private treaty at such price or prices and on such terms and conditions relating to title or otherwise in all respects as is reasonable and to buy in, rescind or vary any contract for the sale thereof and to re-sell the same, and for that purpose to execute all necessary conveyances, transfers or other assurances and to pass valid and effectual receipts and discharges for all moneys.

7. The Trustees may raise or borrow money required for the purpose of the Trust on a mortgage or pledge of the Trust properties or any part thereof with or without any security and at such rate of interest and on such terms as they may in their absolute discretion think fit.

8. The Trustees may from time to time purchase, take in, exchange or otherwise acquire for the benefit of the Trust any movable and/or immovable property and any rights therein at such price or for such consideration and on such terms and conditions as they may think proper.

9. The Trustees shall maintain regular accounts of the receipts and expenditure in respect of or in course of management of Trust properties or in relation to the carrying out of the objects and purposes of the Trust as well as of all the assets, credits and effects of the Trust properties.

10. Unless otherwise decided by the Trustees; the accounts of the Trust shall be made up annually to 31st March each year and the same shall be audited by a person qualified to act as an auditor of a company.

11. The Trustees may invest the Trust Fund either in the purchase or mortgage of immovable property on in such investments authorised by the Indian Trust Act, 1892, or in shares and debentures of a company or companies whose such shares or debentures are quoted in any Stock Exchange of India with power to the Trustees to alter, vary or transpose such investments from time to time in such manner as they may in their absolute discretion think fit.

12. The Trustees may from time to time open and maintain in their own name or in the name of the Trust a banking account or accounts in a scheduled bank or banks and such account will be operated by two Trustees jointly or by any one of the Trustees jointly with any other person authorised to act on this behalf,

13. The Trustees may pay all charges and outgoings payable in respect of any immovable property for the time being forming part of the Trust Fund and may carry out repairs required to be done to the same and keep the same insured against loss or damage by fire and may incur all other costs, charges and expenses of and incidental to the administration and management of the Trust Estate and

the properties for the time being belonging to the Trust as they may in their absolute discretion think fit.

14. The Trustees may demise the immovable property or properties for the time being and from time to time belonging to the Trust either from year to year for any less term or for any term of years or on monthly tenancies at such rent and subject to such covenants and conditions as they may think proper and also accept surrenders of leases and tenancies and generally manage the same in such manner as they think proper.

15. The Trustees shall have full power to compromise or compound all actions, suits and other proceedings and differences and disputes touching the Trust Estate and/or the Trust Properties and to refer any such differences or disputes to arbitration and to adjust and settle all accounts relating to the Trust Estate and/or the Trust Properties without being liable or answerable personally for any loss occasioned thereby.

16, The Trustees may join, co-operate and amalgamate the Trusts of these presents or any portion thereof with any public trust or institution having allied or kindred objects or any one of the objects upon such terms as they in their absolute discretion think fit.

17. The Trustees may transfer the Trust Estate or any portion thereof to any public trust or institution having allied or kindred objects or any one of the objects upon such terms as they shall in their absolute discretion think fit.

18. The receipts granted by the Trustees or any one or more of them for any moneys, stocks, funds, shares, securities or investments paid delivered or transfered to them in exercise of the trusts or powers hereof shall effectually release and discharge the person or persons paying, delivering or transfering the same therefrom and from seeing or from being bound to the application thereof or being answerable for the loss or misapplication thereof,

19. The Trustees shall be entitled to their discretion from time to time start, discontinue, abolish and re-start any public charity or public charitable institution, to impose any condition or conditions to any subscriptions or donation made by them and to earmark any portion of the Trust property or income for any particular object or objects as aforesaid.

20. The Trustees shall be respectively chargeable only for subh moneys, stocks, funds and securities as they shall actually receive notwithstanding their respectively signing a receipt jointly with others, for the sake of conformity and shall be answerable and accountable for their own acts, receipts, neglects and defaults respectively and shall not be answerable one for the other or others of them, nor

om or into whose hands any trust
or given nor for the insufficiency
other securities nor any other loss
ul default or negligence.

and pay and discharge out of the
the execution of the trusts or any
reasonable travelling expenses, but

ontinue to be the Trustees during the
them voluntarily resigns or is called

te one of them as their Chairman for
ees and such Chairman shall continue
elected in his place provided however
be the settlor of the fund so long he is

int any person who is approved by the
g his absence of not less than three
ive and substituted Trustees shall ipso
urns.

less than three and not more than five.
always include atleast one member from
gee, one member from the family of
ber from the Managing Committee of
hettra.

number from time to time, so however,
ceed the maximum fixed by the preceding

istees or Trustee may act notwithstanding
IOWEVER that if the number of Trustees
fill up the vacancy in a meeting called

form a quorum for any meeting of the

n is not present within fifteen minutes
the Trustees present shall choose one of
meeting.

the properties for the time being belonging to the Trust as they may in their absolute discretion think fit.

14. The Trustees may demise the immovable property or properties for the time being and from time to time belonging to the Trust either from year to year for any less term or for any term of years or on monthly tenancies at such rent and subject to such covenants and conditions as they may think proper and also accept surrenders of leases and tenancies and generally manage the same in such manner as they think proper.

15. The Trustees shall have full power to compromise or compound all actions, suits and other proceedings and differences and disputes touching the Trust Estate and/or the Trust Properties and to refer any such differences or disputes to arbitration and to adjust and settle all accounts relating to the Trust Estate and/or the Trust Properties without being liable or answerable personally for any loss occasioned thereby.

16, The Trustees may join, co-operate and amalgamate the Trusts of these presents or any portion thereof with any public trust or institution having allied or kindred objects or any one of the objects upon such terms as they in their absolute discretion think fit.

17. The Trustees may transfer the Trust Estate or any portion thereof to any public trust or institutlon having allied or kindred objects or any one of the objects upon such terms as they shall in their absolute discretion think fit.

18. The receipts granted by the Trustees or any one or more of them for any moneys, stocks, funds, shares, securities or investments paid delivered or transfered to them in exercise of the trusts or powers hereof shall effectually release and discharge the person or persons paying, delivering or transfering the same therefrom and from seeing or from being bound to the application thereof or being answerable for the loss or misapplication thereof,

19. The Trustees shall be entitled to their discretion from time to time start, discontinue, abolish and re-start any public charity or public charitable institution, to impose any condition or conditions to any subscriptions or donation made by them and to earmark any portion of the Trust property or income for any particular object or objects as aforesaid.

20. The Trustees shall be respectively chargeable only for subh moneys, stocks, funds and securities as they shall actually receive notwithstanding their respectively signing a receipt jointly with others, for the sake of conformity and shall be answerable and accountable for their own acts, receipts, neglects and defaults respectively and shall not be answerable one for the other or others of them, nor

for any bankers, broker or other person with whom or into whose hands any trust moneys or securities may come or be deposited or given nor for the insufficiency or deficiency in any stocks, shares, funds or other securities nor any other loss unless the same shall happen through their wilful default or negligence.

21. The Trustees may reimburse themselves and pay and discharge out of the Trust Fund all expenses incurred in or about the execution of the trusts or any of their duties under these presents including reasonable travelling expenses, but will not be entitled to any remuneration.

22. The Trustees for the time being shall continue to be the Trustees during the terms of their natural lives, unless any of them voluntarily resigns or is called upon by all the remaining trustees to resign.

23. The Trustees may appoint and nominate one of them as their Chairman for such time as may be determined by the Taustees and such Chairman shall continue to act as such until another Chairman is elected in his place provided however that the first Chairman of the Trust will be the settlor of the fund so long he is willing to act as such.

24. Any Trustee may at any time appoint any person who is approved by the remaining Trustees to act for him during his absence of not less than three months provided always that such alternative and substituted Trustees shall ipso facto vacate office when the appointer returns.

25. The number of Trustees shall be not less than three and not more than five. Provided that the Board of Trustees must always include atleast one member from the family of Late Ramjeevundas Sarawgee, one member from the family of Shri Narsingdas Bhawsinghka and onehember from the Managing Committee of Udaygiri-Khandgiri Digambar Jain exh Kshettra.

26. The Trustees may increase their number from time to time, so however, that their number shall not at any time exceed the maximum fixed by the preceding clause.

27. The surviving or continuing Trustees or Trustee may act notwithstanding any vacancy in their body PROVIDED HOWEVER that if the number of Trustees shall fall below three, the Trustees shall fill up the vacancy in a meeting called for the purpose.

28. Two Trustees at a meeting shall form a quorum for any meeting of the Trustees.

29. If at any meeting, the Chairman is not present within fifteen minutes of the time appointed for the meeting, the Trustees present shall choose one of themselves to be the Chairman of such meeting.

30. All questions arising at the meeting of the Trustees shall be decided by a majority of votes and in case of equality of votes, the Chairman shall have a second or casting vote PROVIDED HOWVER that notwithstanding anything therein stated, no question dealing with the disposal, transfer or mortgage or the corpus of any of the Trust properties will be decided and disposed of except with the consent of all the Trustees for the time being,

31. A resolution in writing circulated amongst all the Trustees and passed by a majority of the Trustees shall be as valid and effectual as if it had been passed at a meeting of the Trustees duly called and convened.

32, All Meetings of the Trustees shall be held at such place as the Chairman and failing him the Trustees for the time being may from time to time decide.

33. The minutes of the proceedings of every meeting of the Trustees shall be entered in a book to be kept for that purpose and signed by the Chairman of such meeting or of the following meeting when they are read over and shall, when so entered and signed, be conclusive evidence of the business and other matters transacted at such meeting.

34. If and so often as, any of the Trustees hereby appointed or any future Trustee or Trustees hereof, shall reside out of India for more than twelve months or becomes bankrupt or is convicted of any offence involving moral turpititude shall or desire to retire from or become unfit or incapable to act as a trustee of these presents, then the continuing or surviving Trustee or Trustees for the time being of these presents or if there shall be no surviving or continuing Trustee or Trustees, then the retiring Trustee or Trustees if willing to act (and for this purpose every retiring Trustee shall if willing to act in the execution of the Trusts of these presents be considered as a continuing Trustee) and failing him or them the heirs, executors, or administrators of the last mentioned Trustee shall be entitled to appoint a Trustee or Trustees in place of the Trustee or Trustees so dying or going to reside out of India or becoming bankrupt or convicted of any offence involving moral turpitude or desiring to retire or refusing or becoming unfit or incapable to act as aforesaid.

35 On a new Trustee being appointed the property shall vest in him or in her as trustee and he or she will be entitled to carry out all the duties and functions of a Trustee and it shall not be necessary to make or execute any formal transfer or assets in his or her favour and the property shall be deemed automatically to have been transferred in favour of the incoming Trustee, the intention being that the property and the assets of the Trust shall vest and remain vested in the Trustees for the time being of the Trust without the necessity of a formal transfer in favour of any new Trustee who may be appointed.

IN WITNESS WHEREOF the parties have hereunto set and subscribed their respective hands and seals the day month and year first above written.

Sd/- Chhotelal Sarawgee.
Sd/- G. S. Jain.
Sd/- N. K. Sarawgee.
Sd/- S. K. Bhawsinka
Sd/- A. Jain.

SIGNED SEALED AND DELIVERED
at Calcutta in the presence of:--
Sd/- S. R. Jhunjhunuwalla.
Solicitor
&
Supreme Court Advocate,
1/B, Old post Office Street,
Calcutta.

Stamp Rs. 25/-
Admissible Stamped under the Indian Stamp Act 1899 and also as amended by W. Bengal Stamp Amendment Act 1962 and '64. Schedule 1A No. 58 A.

Sd/-

Registrar of Assurance, Calcutta.

Fee Paid as under
A 13.50
N 3.50
17.00

Presented for registration at 11-45 A. M. at the Calcutta Registration Office on the 24th day of April, 1965 by Chhotelal Sarawgee one of the executants.

Sd/- Chhotelal Sarawgee

Execution is admitted by Chhotelal Sarawgee S/o Late Seth Ramjeevandas Sarawgee of 27A Indra Biswas Road, Calcutta Hindu money lender and by 2) Gouri Sankar Jain S/o Late Shri Lal Chand Jain of 14/S, Block A New Alipore Calcutta and by 3) N. K. Sarawgee S/o Nandlal Sarawgee of 29 Indra Biswas Road Calcutta and by 4) A. Jain S/o Jaganmohan Lal Shastri of 8 Amratola Lane, Calcutta Hindu Traders.

Sd/- Chhotelal Sarawgee
Sd/- Gouri Sankar Jain
Sd/- N. K. Sarawgee
Sd/- A. Jain

Identified by Bhabani Prosad Hazra S/o Late Shadu Charan Hazra of 1B, Old Post Office St., Calcutta Hindu service.

Sd/- Bhabani Prosad Hazra.
1B, Old Post Office Street,
Calcutta.

Thumb impression of the executant dispensed with.
Sd/-
24-4-65
Registrar of Assurance
Calcutta.

Execution is admitted by S. K. Bhawsinghka S/o Narsinghdas Bhawsinghka of Buxi Bazar Cuttack (Orissa) Hindu Merchant.

Sd/- S. K. Bhawsinghka

Identified by Bhabani Prosad Hazra S/o Late Shadu Charan Hazra of 1 B, Old Post Office St., Calcutta, Hindu Service.

Sd/- Bhabani Prosad Hazra

Thumb impression of the executant dispensed with.
Sd/-
27-4-65
Registrar of Assurance
Calcutta.

DATED this 1st day of February 196
8462
BETWEEN
CHHOTELAL SARAWGEE
AND
CHHOTELAL SARAWGEE & OTHERS.

Presented on 24 4 65.

DEED OF TRUST

(True Copy)

Registered in
Book No. IV
Volume No. 37
Pages 176 to 186
Bearing No. 2093
For the year 1965

N–1/-

SD/-
Registrar of Assurance
Calcutta.
29-4-65